

प्रज्ञा के आयाम

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ अभिनन्दन–ग्रन्थ





सम्पादक मण्डल

विजय कुमार

दिलीप चारण

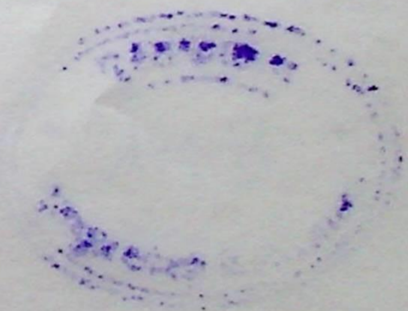
किस्मत कुमार सिंह

आयोजक



अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

स्व. मातुश्री चम्पादेवी स्व. पिताश्री
मुलतानमलजी एवं उनके सुपुत्र
स्व. चंदनमलजी की स्मृति में उनके
सुपुत्रों ताराचन्द, ओमप्रकाश, नैनमल,
अशोककुमार (पौत्र) तातेड़ (कोठारी)
परिवार, जसोल (मदुराई) द्वारा







प्रज्ञा के आयाम

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ अभिनन्दन-ग्रन्थ







सम्पादक मण्डल

विजय कुमार

दिलीप चारण

किस्मत कुमार सिंह



आयोजक



अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

प्रज्ञा के आयाम

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ अभिनन्दन-ग्रन्थ

आयोजक

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा
महामंत्री-अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

प्रकाशक

राजस्थानी ग्रन्थागार
सोजती गेट, जोधपुर (राज.)

प्रथम संस्करण
2013

ISBN
81-86103-21-10

मूल्य :
1500.00 रुपये

मुद्रक

हिंगलाज ऑफसेट प्रिण्टर्स, जोधपुर (राज.)
फोन : 0291-2543198, 94144-11466

विषयानुक्रमणिका

४. समाज एवं संस्कृति : सामाजिक समता का विकास

***

सम्पादकीय

संसार का प्रत्येक मनुष्य दिगम्बर पैदा होता है। वह न तो किसी परम्परा को जानता है और न ही किसी इतिहास को। न उसे समाज की नियमावली का ज्ञान होता है और न ही धर्म की बंदिशों का भान। न तो वह हिन्दू होता है न मुसलमान; न जैन होता है न बौद्ध; वह होता है तो केवल मानव, जो सभी धर्मों से ऊपर है। क्योंकि वह राग, द्वेष, आसक्ति, विरक्ति की परिधि से बाहर होता है, जिसके लिए सम्पूर्ण सृष्टि एक समान होती है। लेकिन व्यावहारिकता उसे किसी न किसी परम्परा या धर्म के खेमे में लाकर खड़ी कर देती है। मजबूरन उसे हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम में से किसी एक का अनुगामी बनना पड़ता है। जबकि हमारी भारतीय परम्परा यह नहीं रही है। सदियों से हमारी परम्परा समन्वयमूलक रही है और कर्म जिसका आधार रहा है। कर्म ही पूजा है जिसका उद्घोष है– 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन', 'लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा', 'छन्दे सति पियाप्पियं होति।'

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में विभिन्न विचारधाराएं एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई विकसित हुई हैं। उनमें स्वस्थ प्रतिस्पर्धा थी तथा वैचारिक कटुता का अभाव था। लेकिन वर्तमान संक्रमण काल में जब हम अपने पुराने ग्रन्थों का आलोडन करते हैं तो हमें सुखद आश्चर्य की अनुभूति होती है। जहाँ त्याग, तपस्या एवं सर्वलोकहित की भावना के कारण भारत की प्राय: सभी परम्पराओं में वैदिक ऋषिगण को श्रद्धा के साथ स्मरण किया गया, दूसरी ओर श्रमण परम्परा की दोनों मुख्य शाखाओं– जैन एवं बौद्ध में सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठापित किया गया, वहाँ फिर मतभेद कैसा? जहाँ तक आचार्यों की बात है तो जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं के आचार्य उदात्त विचारधारा से अनुप्राणित हैं, अत: श्रेयमार्ग के पथिक वैदिक ऋषियों को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और अपने-अपने ग्रन्थों में सम्मानजनक स्थान प्रदान किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं तो दोनों परम्पराएं एक-दूसरे को प्रभावित करती नजर आती हैं, इस बात से इनकार नहीं कर सकते। ऋग्वेद जिसे वैदिक परम्परा का प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, में एक ओर जहाँ वैदिक क्रियाकाण्डों का उल्लेख है वहीं दूसरी ओर व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हतों के साथ-साथ ऋषभ (१०/९१/१४), अरिष्टनेमि आदि तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख भी मिलता है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को भगवान के अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है (५/५/२८/३१)। जहाँ तक जैन परम्परा का प्रश्न है, हमें उनके प्राचीनतम अंग-उपांग साहित्य में ही वैदिक ऋषियों के सम्मानजनक सन्दर्भ मिलते हैं। आश्चर्य तो यह है जैनाचार्यों ने उन वैदिक ऋषियों के नामों को भी सम्मानपूर्वक स्थान दिया जिनके आचार-विचार से वे सहमत नहीं थे। जैन ग्रंथ सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध (१/३/४/१) में कुछ वैदिक ऋषियों को महापुरिसा (महापुरुष), महारिसी (महान ऋषि) एवं तवोधणा (तप रूपी धन से सम्पन्न) कह कर सिद्धि प्राप्त करने वाला बताया गया है। इसी ग्रन्थ में यह भी उद्धरण मिलता है कि विदेह नरेश नमि ने आहार छोड़कर तथा रामपुत्र ने आहार का उपभोग करके, बाहुक एवं तारायण (नारायण) ने शीतल जल का सेवन करके; असित देवल, द्वैपायन एवं परासर ने शीतल जल, बीज तथा हरी वनस्पतियों का उपभोग करके मोक्ष को प्राप्त किया था। जैन धर्म के ही उपांग साहित्य औपपातिकसूत्र में कापिल अर्थात् महर्षि कपिल की परम्परा वाले, भार्गव अर्थात् भृगु ऋषि

की परम्परा वाले, हंस, परमहंस, बहूदक एवं कृषक परिव्राजकों के उल्लेख हैं। तदुपरान्त आठ ब्राह्मण परिव्राजकों (कण्ण यानी कर्ण, करकण्डु, अम्बड़, परासर, कृष्ण, द्वैपायन, देवगुप्त या देवपुत्र और नारद) एवं आठ क्षत्रिय परिव्राजकों (शीलधी, शशिधर, नग्नक, भग्नक, विदेह, राजराज, राजराम तथा बल)का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि दोनों परम्पराओं में एक-दूसरे के प्रति सम्मान की भावना थी। वैदिक परम्परा के ये परिव्राजक चारों वेदों, इतिहास एवं निघण्टु के ज्ञाता थे। इन्हें चारों वेंदों का सारक (सम्प्रवर्तक), पारग(पारगामी) तथा धारक (ज्ञाता) कहा गया है। इनके आचरण की विस्तारपूर्वक प्रशंसा की गई है। ऋषिभाषित में वैदिक ऋषियों में देव नारद, वात्सीपुत्र, असित देवल, अंगिरस, याज्ञवल्क्य आदि का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध परम्परा के अन्तर्गत जातकों एवं अट्ठकथाओं में वैदिक ऋषियों को ससम्मान उल्लेखित किया गया है। बुद्धवंश अट्ठकथा में नवें बुद्ध के रूप में नारद का उल्लेख है जिनके उपदेश महाभारत में वर्णित नारद के समतुल्य हैं। जातकों में इन्हें ब्राह्मण ऋषि नारद देव या नारद देवल भी कहा गया है। असित देवल का नारद को उपदेश देते हुए जातकों में वर्णन है। मज्झिमनिकाय में अंगिरस भारद्वाज नामक प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख है। इसी प्रकार जातकों की एक कहानी में ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले ११ संन्यासियों में एक अंगिरस भारद्वाज भी हैं।

वैदिक ऋषि ही नहीं, वैदिक विचारधारा और श्रमण विचारधारा भी एक-दूसरे में समावेशित हैं। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति, अहिंसा आदि की अवधारणाएं जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थीं वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में, विशेषतया उपनिषदों में अस्तित्व में आ गईं। ईशावास्योपनिषद् और गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के समन्वय का स्तुत्य प्रयास कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार श्रमण परम्परा में वैदिक परम्परा के पूजा विधान और तांत्रिक साधनाएं जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में प्रविष्ट हुई हैं। दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में उद्धृत तथ्यों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे गीता के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं-

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ती स्थिताः।। गीता, ५/१८-१९

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वान नपरिधित्तव्वा,
न परिवेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे। आचारांगसूत्र, १/४/१

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न धायते।। धम्मपद, दण्डवग्गो।

पं. फूलचन्द जी ने अपनी पुस्तक 'ज्ञानपीठ पूजांजलि' में जैन मंत्र और ब्राह्मण मंत्र में समानता दिखाने का प्रयास किया है जहाँ तथ्य की समानता के साथ-साथ भाषा की भी समानता दृष्टिगोचर होती है।

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वक्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर।।२।। (जैनमंत्र)

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्ण तदस्तु मे।।२।। (ब्राह्मणमंत्र)

इसी प्रकार जैन परम्परा के ऋषिभाषित एवं वैदिक परम्परा के बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य की चर्चा है। भिन्न परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों में न केवल भाव की समानता है अपितु भाषा की भी अद्भुत संगति देखने को मिलती है। इस प्रकरण में साधक को वित्तेषणा, पुत्रैषणा एवं लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या का उपदेश दिया गया है-

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा,जाव ताव वित्तेसणा ताव ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं च परिन्नाए गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा। ऋषिभाषित, १२वाँ अध्ययन

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। बृहदारण्यकोपनिषद्, ३/५/१

यहाँ हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में वित्तैषणा एवं लोकैषणा का परित्याग करके साधना-पथ पर अग्रसर होने का उपदेश दिया गया है। ऋषिभाषित में गोपथ से जाने की सलाह दी गई है, महापथ से नहीं: ठीक इसी प्रकार वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में श्रेय और प्रेय मार्ग की चर्चा करते हुए श्रेय मार्ग को श्रेयस्कर बताया गया है।

यह एक बृहद् शोध का विषय है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रेय और श्रेय परस्पर भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के अंग हैं उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति धारा भी भारतीय संस्कृति के अंग हैं। जिस प्रकार मानव व्यक्तित्व द्विआयामी है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी द्विआयामी है। ऐकान्तिक निवृत्ति या ऐकान्तिक प्रवृत्ति न तो मानवीय स्वभावान्तर्गत है और न सामाजिक। मानव स्वभाव से समन्वयमूलक है। देश, काल, परिस्थितियाँ उसे विभेदमूलक बनाती हैं। संत कबीर ने कहा है-

कबीरा कुआँ एक है, पनहारियाँ अनेक।
भेदभाव बर्तन बसे, पर नीर एक का एक।।

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ भी इसी समन्वयमूलक संस्कृति के उपासक हैं। निस्संदेह उन्होंने व्यावहारिक स्तर पर जैनधर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय के अनुयायी कुल में जन्म धारण किया है, लेकिन उन्होंने इस सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर अपने आपको भारतपुत्र के रूप में समर्पित कर दिया है। किसी कुल में जन्म लेने मात्र से कोई धार्मिक नहीं बन जाता। धार्मिक वह आचरण से बनता है। चाहे वह आचरण हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई या इस्लाम से सम्बद्ध क्यों न हो। वस्तुतः धर्म अपने आप में न हिन्दू है, न जैन, न बौद्ध। वह तो कबीर के घड़े में रखे उस पानी की तरह है जिसे जिस आकार में डालो वह उसी रूप का हो जाता है। डॉ. तातेड. का व्यक्तित्व भी कुछ ऐसा है। वे जहाँ भी रहते हैं अपनी शालीनता के साथ वहीं के होकर रह जाते हैं।

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ दर्शन, योग और शिक्षा तीनों आयामों के गहन अध्येता हैं। परिस्थितियों को बदलना और पुरुषार्थ के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना इनके व्यक्तित्व की विलक्षणता है। तात्त्विकता और सात्त्विकता का समन्वय दुर्लभ है। लेकिन आपके व्यक्तित्व में तात्त्विकता सात्त्विकता से महिमामंडित है। हृदय की उदारता, विशालता और विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय की भावना तो आपके रोम-रोम में समाई हुई है।

हमारी गौरवमय संस्कृति की आधारशिला यह रही है कि हम गुणीजनों के गुणों को सराहते हैं, उन्हें महिमामण्डित करते हैं और अपने सामर्थ्य के अनुसार उन गुणों का अनुकरण भी करते हैं। गुणग्राह्यता की अक्षुण्ण परम्परा के कारण ही हमारी संस्कृति मूलगुणों से सम्पन्न रही है। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता का यही रहस्य है। अपनी सांस्कृतिक परम्परा का निर्वहन करते हुए दर्शन-परिषद् की कार्यकारिणी (पारनेर में आयोजित ५७वें अधिवेशन के अवसर पर) ने 'प्रो.(डॉ.) सोहन राज तातेड़ अभिनन्दन-ग्रन्थ' प्रज्ञा के आयाम नाम से प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य तीन व्यक्तियों को सौंपा गया जिसे हम तीनों ने सहर्ष स्वीकार किया। हम तीन यानी डॉ. विजय कुमार (स्वयं), डॉ. दिलीप चारण और डॉ. किस्मत कुमार सिंह। आज वह महती कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है, ऐसे अवसर पर प्रोफेसर श्रीप्रकाश दुबे अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् जो अब हमारे बीच नहीं रहे और परिषद् के महामंत्री प्रोफेसर अम्बिकादत्त शर्मा जी के प्रति हम सम्पादकत्रय आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने हम तीनों की कार्यक्षमता पर अपने विश्वास की मुहर लगायी। डॉ. तातेड़ द्वारा दर्शन जगत् विशेषकर अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रति उनके समर्पण को देखते हुए प्रोफेसरद्वय के इस निर्णय की लोगों ने सराहना की।

अब हम उन सभी विद्वत्जनों के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहेंगे जिन्होंने इस ज्ञानयज्ञ रूपी उपक्रम में अपनी लेखनी से दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों पर अपने आलेख उपलब्ध कराए। अन्त में इस अभिनन्दन ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के लिए प्रकाशक साइंटिफिक पब्लिशर, जोधपुर एवं मुद्रक हिंगलाज ऑफसेट, जोधपुर को धन्यवाद देना चाहेंगे जिन्होंने इस ग्रन्थ का सुन्दर और सत्वर मुद्रण किया।

विजय कुमार
निदेशक
रवीन्द्र शान्ति शोध संस्थान
वाराणसी

श्रावण पूर्णिमा, २०१४
वाराणसी

***



प्रोफेसर (डॉ.) सोहन राज तातेड़

प्रो.(डॉ.) सोहन राज तातेड़ : व्यक्तित्व और कृतित्व

सोहन राज तातेड़ का जन्म स्वतन्त्रता पूर्व राजस्थान राज्य के रेगिस्तानी बाड़मेर जिले के एक छोटे से गाँव कानोड़ में एक मध्यमवर्गीय जैन परिवार में ५ जुलाई १९४७ को हुआ था। बाड़मेर पाकिस्तान की सीमा से सटा हुआ है और वहाँ का जीवन बहुत कठिन है। गर्मियों के दिनों में रेतीले तूफान वहाँ की रोजमर्रा की घटना है। मध्यमवर्गीय परिवारों में जन्म लेने वालों के लिये ऐसे विषम स्थान पर जीवन-यापन करना आसान काम नहीं है। उन्हें जीवन में कुछ उपलब्धि के लिये कठिन संघर्ष करना पड़ता है। एक प्रसिद्ध कहावत है कि 'एक दृढ़-निश्चयी व्यक्ति न केवल अपना, बल्कि अपने परिवार और समुदाय का भाग्य भी बदल सकता है।' यह कहावत सोहन राज तातेड़ पर शत-प्रतिशत सटीक बैठती है।

आपके पिता श्री मुल्तान मल घरेलू उपयोग की वस्तुयें बेचने वाले दूकानदार थे और कानोड़ में उनकी स्वयं की एक दूकान थी। आपकी माता श्रीमती चम्पा देवी एक सरल-हृदय गृहिणी थी और वे अपने परिवार के प्रति पूर्णतया समर्पित थी। श्री मुल्तान मल और श्रीमती चम्पा देवी दोनों को ही शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि उन दिनों कानोड़ गाँव में कोई विद्यालय ही नहीं था। गाँव में बिजली और सड़कें जैसी मूलभूत सुविधायें भी नहीं थी और पीने के पानी की बड़ी भारी कमी थी। वहाँ के लोग परम्परागत तरीकों से वर्षाजल को संरक्षित करते थे और पूरे वर्ष भर तक पीने और अन्य कार्यों के लिये उसी जल का प्रयोग करते थे।

आपके माता-पिता अत्यन्त सीधे-सादे, सरल हृदय, ईमानदार और धार्मिक प्रवृत्ति के थे। आपके पिता श्री मुल्तान मल ने ये गुण अपने पिता श्री हेमराज और अपनी माता से विरासत में प्राप्त किये थे। सोहन राज तातेड़ के माता-पिता नम्रता और सादगी की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे और वे अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति अत्यन्त सचेष्ट और जागरूक थे। आपके माता-पिता जैन धर्म की श्वेताम्बर शाखा के तेरापन्थ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जो लगभग दो सौ पचास वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु द्वारा प्रारम्भ किया गया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी धर्मसंघ में अगाध श्रद्धा रखते हैं और आचार्य इस सम्प्रदाय के प्रमुख होते हैं। इसके वर्तमान आचार्य श्री महाश्रमण हैं। सोहन राज तातेड़ पाँच भाइयों और चार बहनों में तीसरे नम्बर की सन्तान हैं।

धार्मिकता, सहजता, विनम्रता और बुद्धिमत्ता आपकी विशेषता है जो आपको अपने माता-पिता से विरासत में मिली है। आप बचपन से ही अपने सभी भाई-बहनों से अधिक बुद्धिमान और अध्ययनशील रहे। दूसरी कक्षा तक की प्रारम्भिक शिक्षा आपने कानोड़ गाँव के ही विद्यालय में प्राप्त की। वह विद्यालय केवल दूसरी कक्षा तक ही था। इसलिए आपको किसी दूसरे विद्यालय में जाना पड़ा। आपके माता-पिता ने आपको अपने दूसरे निवास स्थान बाड़मेर जिले के जसोल गाँव में भेज दिया, जहाँ आपको राजकीय माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश मिला। इस विद्यालय में आपने ८वीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। यह विद्यालय उस क्षेत्र के अच्छे माध्यमिक विद्यालयों में से एक था। आपके माता-पिता आपकी शिक्षा के प्रति इतने सजग थे कि आपके साथ-साथ वे भी जसोल पधार गए। कहा गया है कि पूत के पाँव पालन में नजर आ जाते हैं। आपने बाल्यकाल में ही इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिखाया। प्रारम्भ से ही आपमें नेतृत्व क्षमता विद्यमान थी, अतः जसोल के माध्यमिक विद्यालय में आपने विद्यार्थी संघ के अध्यक्ष/सचिव पद को भी सुशोभित किया। वहाँ से वर्ष १९६१ में पूरे विद्यालय में प्रथम स्थान से ८वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् उच्च

अध्ययन के लिये आपने जोधपुर को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया। जोधपुर सम्भागीय मुख्यालय था और अच्छी शैक्षणिक सुविधाओं के लिये जाना जाता था।

जोधपुर में आपने महेश उच्च माध्यमिक विद्यालय में प्रवेश लिया जहाँ पर आपने कक्षा ९ से ११ तक की शिक्षा प्राप्त की। यहाँ भी आप वर्ष १९६१ से १९६४ तक छात्र संघ के अध्यक्ष/सचिव रहे। आप हमेशा से एक मेधावी और सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले (topper) विद्यार्थी रहे हैं। महेश उच्च माध्यमिक विद्यालय में अध्ययन करते हुए आपने कक्षा ९, १०, और ११ में प्रथम स्थान प्राप्त किया और वर्ष १९६४ में उच्च माध्यमिक (Higher Secondary) परीक्षा में सम्पूर्ण राजस्थान में शीर्ष स्थान प्राप्त कर अपना और अपने परिवार के साथ अपने गाँव और समाज को भी ख्याति दिलाई। उच्च माध्यमिक परीक्षा में सम्पूर्ण राजस्थान में शीर्षस्थ स्थान पर रहने के कारण आपको वर्ष १९६४ में एम. बी. एम. इंजीनियरिंग कॉलेज, जोधपुर में प्रवेश मिल गया और आपने अपने लिये मैकेनिकल इंजीनियरिंग शाखा का चयन किया।

वर्ष १९६५ में आपका विवाह लक्ष्मी नाम क एक १० वीं कक्षा उत्तीर्ण लड़की से हो गया। श्रीमती लक्ष्मी देवी आपके लिये सर्वाधिक आदर्श जीवन-संगिनी साबित हुईं। उन्हें भी बचपन से ही सादगीपूर्ण जीवन पसन्द था। संभवत: यही कारण था कि आप दोनों ने अपने विवाह के पहले ही दिन से स्वेच्छा से दो वर्ष तक (१९६५ से १९६७ तक) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा कर ली। एक नव-विवाहित जोड़े के लिये ऐसी कठिन प्रतिज्ञा का पालन करना आसान नहीं था। लेकिन आप दोनों ने अपनी प्रतिज्ञा का बखूबी पालन किया।

एक प्रसिद्ध कहावत है 'जहाँ चाह वहाँ राह।' सोहन राज तातेड़ और उनकी पत्नी वर्ष १९६५ से १९६७ तक तेरापंथ सम्प्रदाय के मुनि श्री सम्पतमल जी स्वामी के निकट सम्पर्क में रहे, जिन्होंने सोहन राज तातेड़ को प्राकृत एवं संस्कृत में लिखित प्रतिक्रमण, २५ बोल, 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'मनोनुशासनम्' नामक ग्रन्थों को कण्ठस्थ करवाया। उन्होंने श्री सोहन राज तातेड़ और श्रीमती लक्ष्मी देवी को एक जोड़े (Pair) के रूप में जैन मुनि दीक्षा लेने के लिये भी प्रेरित किया। आप दम्पतिद्वय दीक्षित होने के लिये बहुत उत्सुक थे, परन्तु ऐसा हो नहीं सका, क्योंकि अभी तक आपके चारित्रमोहनीय कर्म का पूरा क्षयोपशयम नहीं हुआ था।

वर्ष १९६५ से १९६९ तक श्री सोहन राज अपना अध्ययन जारी रखने और अपने चार भाई-बहनों के अध्ययन का खर्च वहन करने के लिये अपने साथी विद्यार्थियों को प्राइवेट ट्यूशन पढ़ाया करते थे। इस अवधि के दौरान आपने अपने सैकड़ों साथी विद्यार्थियों को उच्च गुणवत्ता वाली स्कूली शिक्षा प्राप्त करने और उसे जारी रखने के लिये प्रेरित किया। स्वयं आपके मन में सीखने और ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा थी। अत: आपने वर्ष १९६९ में बी. ई. (मैकेनिकल) डिग्री ऑनर्स से प्राप्त कर ली। यहाँ भी आपने अपना पिछला रिकार्ड कायम रखते हुए आप न केवल प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए बल्कि एम. बी. एम. इंजीनियरिंग कॉलेज, जोधपुर की बी.ई. (मैकेनिकल) परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया और इस प्रकार आप पूर्णतया प्रशिक्षित इंजीनियर बन गये।

आप तेरापन्थ धर्मसंघ के प्रति सम्पूर्ण हृदय से समर्पित हैं और आपके मन में आचार्य श्री महाश्रमणजी के प्रति अगाध श्रद्धा है। आपने हमेशा गुरुदेव तुलसी और आचार्य श्री महाप्रज्ञ के दिखाये पथ का अनुसरण किया। आप बहुत कम आयु में ही (वर्ष १९६५ से १९७० तक) सरदारपुरा, जोधपुर की जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा के सचिव पद को सुशोभित करते हुए धर्म एवं समाज की प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

वर्ष १९७० आपके जीवन का दूसरा निर्णायक वर्ष साबित हुआ। इस वर्ष आप राजस्थान राज्य सेवा आयोग द्वारा चयनित किए गए और जन स्वास्थ्य अभियान्त्रिकी विभाग (Public Helath Engineering Department) में सहायक

इंजीनियर के पद पर आसीन हुए। राज्य सेवा में रहते हुए भी आपने एम. ई. (जन स्वास्थ्य अभियान्त्रिकी) की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसमें भी प्रथम स्थान प्राप्त किया। चूँकि आप अपने कार्यों में बहुत मुस्तैद, प्रामाणिक और सच्चे रहे, अत: राजस्थान सरकार के द्वारा चार बार आपको सम्मानित किया गया, जिसका विवरण निम्न प्रकार है :

१. वर्ष १९७० में मात्र ९० दिनों में मथानिया से जोधपुर तक पानी लाने के लिये।

२. वर्ष १९७६ में नहर का पानी बीकानेर शहर तक लाने के लिये।

३. वर्ष १९८४ में चूरू जिले की ३५३ गाँवों में एशिया की सबसे बड़ी ग्रामीण जलापूर्ति परियोजना को क्रियान्वित करने के लिये।

४. वर्ष १९९० में बालोतरा में भयंकर बाढ़ के दौरान अत्यन्त मुस्तैदी से जलापूर्ति कायम रखने के लिये।

आप हमेशा तेरापन्थ धर्मसंघ से जुड़े रहे हैं। संघ की सेवा और विकास के लिये आपने अनवरत अथक रूप से कार्य किया है। धर्मसंघ के प्रति अपार श्रद्धा एवं समर्पण, उसमें पूर्ण आस्था तथा सभी साधुओं और साध्वियों के प्रति आदरभाव रखने के कारण आप कई बार सम्मानित और पुरस्कृत किए गए हैं। वर्ष १९८७ में आपको अखिल भारतीय तेरापन्थ युवक परिषद् द्वारा 'युवक रत्न' अलंकरण प्रदान किया गया। ऐसा सम्मान और सौभाग्य बिरलों को ही मिलता है। वर्ष २०१० में आपको दिगम्बर जैन समाज द्वारा 'समाज भूषण' की उपाधि प्रदान की गई। आपको वर्ष २००८ में सिवाकासी (पूर्वी तमिलनाडु) के द्वारा तेरापन्थ समाज का 'समाज सेवा पुरस्कार', वर्ष २००९ में जसोल जैन विकास मंच, सूरत द्वारा 'जसोल गौरव', वर्ष २००९ में राष्ट्रीय स्वतन्त्र समता मंच द्वारा 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार', वर्ष २००९ में दिगम्बर जैन समाज द्वारा 'जैन ज्ञान-विज्ञान मनीषी' पुरस्कार, वर्ष २००९ में लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) के द्वारा 'योग रत्न' (Gem of Yoga) पुरस्कार, वर्ष २०१० में राष्ट्रीय स्वतन्त्र समता मंच द्वारा 'समरसता उत्कृष्टता पुरस्कार,' प्रदान किया गया।

वर्ष २०१० में आपको वैकल्पिक चिकित्सा, भारत एवं मलेशिया के रोहिणी संस्थान के द्वारा 'विशेष पुरस्कार' तथा भारत-नेपाल समरसता अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान द्वारा 'भारत-नेपाल मैत्री' (Indo-Nepal Harmony) पुरस्कार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश) की भारतीय योग एकेडमी द्वारा 'फेलो पुरस्कार' (Fellow Award), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) के द्वारा 'प्राकृतिक चिकित्सा रत्न' पुरस्कार, भारत-भूटान समरसता अन्तर्राष्ट्रीय द्वारा 'भारत-भूटान मैत्री' पुरस्कार'; वर्ष २०११ में फ्रेण्डशिप फोरम ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली द्वारा 'भारत सर्वोत्कृष्टता पुरस्कार, होलिस्टिक मेडिसिन, सेलम (तमिलनाडु) द्वारा 'श्री पतंजलि महर्षि अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार' प्रदान किया गया।

दिनांक ०६.०२.२०१२ को शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने के लिये आपको सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, वेरावल (गुजरात) के दीक्षान्त समारोह में राज्यपाल गुजरात सरकार द्वारा सम्मानित किया गया। दिनांक ०२.०३.२०१२ को योग के क्षेत्र में अनुसंधान करने के लिये उत्तर प्रदेश सरकार की संस्था RIMS & R, सैफई, इटावा द्वारा भी सम्मानित किया गया। २० मार्च २०१३ को इण्डियन बोर्ड ऑफ आल्टरनेटिव मेडिसिन, कोलकता संस्था द्वारा योग के क्षेत्र में विशिष्ट सेवाओं के लिए आपको 'योग पद्मभूषण' अलंकरण एवं १६ मई २०१३ को श्वेताम्बर जैन समाज द्वारा 'समाज रत्न' अलंकरण से नवाजा गया।

जैन विश्व भारती, तेरापन्थ धर्मसंघ के लिये एक अत्यन्त पवित्र स्थान है, के विकास लिये आपके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है। जब आप अधिशासी अभियन्ता के पद पर १९७९ से १९८५ चुरू में नियुक्त थे तब जैन विश्व भारती, लाडनूँ के परिसर में अनेक उल्लेखनीय निर्माण कार्य करवाने में आपकी अहम् भूमिका रही। आपने वहाँ



प्रोफेसर (डॉ.) सोहन राज तातेड़

Pankaj Pachauri
Communications Adviser
Tel. : 2301 6920



I/3523044/2012

प्रधान मंत्री कार्यालय
नई दिल्ली - 110 011
PRIME MINISTER'S OFFICE
New Delhi - 110 011

MESSAGE

The Prime Minister is glad to know that a Felicitation Volume is being brought out in honour of Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater by prominent persons. His area of academic work has been an inspiration to several students and teachers in India and abroad.

The Prime Minister extends his warm greetings and good wishes for a successful publication of Felicitation Volume which will be useful for younger generations.



P. Pachauri
(Pankaj Panchauri)

October 22, 2012

D.No. I/3523044/2012 Dated 23.10.2012

Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater
G-8, Multan Kunj,
Bhagat Ki Kothi Extension,
Jodhpur - 342 003
(Rajasthan)





CHIEF MINISTER
RAJASTHAN

Date : 28 Sep., 2012

MESSAGE

I am happy to know that a Felicitation Volume in being brought out in honour of Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater by reputed Philosophers, Research Scholars, Social Workers and other prominent persons.

Prof. Tater, an academician par excellence has been working in the field of academics for the last forty five years. Bringing out a Felicitation Volume in honour of a person who has significantly contributed to Philosophy, Yoga and Education is, indeed, a matter of appreciation. I am sure that the Volume will inspire young and budding academicians also.

I hope that the research articles being published in the Felicitation Volume will prove to be reference material for students of Philosophy, Yoga and Education.

I send my good wishes for the success of the endeavour.

(Ashok Gehlot)



Sohan Raj Tater's
Mother, Smt. Champa Devi Tater.



Sohan Raj Tater's
Father, Shri Multan Mal Tater.



Young Sohan Raj Tater with his Parents



Sohan Raj Tater with his wife

एक कुआँ खुदवाने, एक भूमिगत पानी का टैंक बनवाने, एक ऊपर की पानी की टंकी बनवाने, पाइप-लाइनें बिछवाने, बिजली का वितरण करवाने और एक बिजली का जेनरेटर लगवाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अमृतायन और कला-दीर्घा जैसी अनेक सुन्दर ईमारतों की डिजाइन बनवाने और उन कार्यों की देखभाल करने में भी आपका सक्रिय योगदान रहा।

वर्ष १९८९ में आपने अपना अधिकतम समय 'युवा-वाहिनी' के स्वतन्त्र संचालन में लगाया। 'युवा-वाहिनी' युवाओं के विकास के लिये प्रतिबद्ध एक संगठन है और वर्ष १९८९ को 'योगक्षेम वर्ष' घोषित किया गया था। आपने यह महत्त्वपूर्ण कार्य तब किया जब आप अखिल भारतीय युवक परिषद् के उपाध्यक्ष के रूप में अपनी मानद सेवायें दे रहे थे।

आचार्य महाप्रज्ञ की 'अहिंसा-यात्रा' (अहिंसा को प्रोत्साहित करने के लिये की गई यात्रा) के दौरान आपने, आचार्य श्री महाप्रज्ञ की प्रेरणा से और उनके आशीर्वाद और अपने परिवार की अनुमति से तेरापंथ धर्मसंघ की सेवा के लिए सरकारी नौकरी से स्वेछापूर्वक अवकाश ले लिया। उस समय आप राजस्थान सरकार के जलदाय विभाग में सुपरिन्टेंडेन्ट इंजीनियर पद पर कार्यरत थे।

आपने अपने परिवार की करोड़ो रुपयों की सीमेंट की सुस्थापित फैक्टरी का भी परित्याग कर दिया और आजीवन स्वयंसेवक के रूप में अपना शेष जीवन तेरापंथ धर्मसंघ की निःस्वार्थ भाव से सेवा करने में बिताने का निर्णय ले लिया। आपने जनवरी २००२ में अपने निर्णय की आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सान्निध्य में औपचारिक रूप से घोषणा कर दी। २६ जनवरी, २००२ को आचार्यश्री और युवाचार्यश्री ने बोरानाड़ा (जोधपुर) स्थित उनकी सीमेंट फैक्टरी में बिराज कर अपनी पवित्र उपस्थिति से उनका मान बढ़ाया। उसी दिन, प्रातःकाल के शुभ समय में उन्होंने आचार्यश्री से आशीर्वाद प्राप्त कर और उनसे मंगल-पाठ श्रवण कर पारमार्थिक शिक्षण संस्था, लाड़नूँ को अपनी मानद सेवायें देनी प्रारम्भ कर दी। १८ फरवरी २००२ को श्री सोहन राज तातेड़ को पचपदरा में आयोजित मर्यादा महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री की दिव्य उपस्थिति में पारमार्थिक शिक्षण संस्था के ट्रस्ट बोर्ड द्वारा औपचारिक रूप से इस संस्था का ट्रस्टी और संयोजक मनोनीत किया गया।

श्रद्धा, समर्पण, आचार्यश्री एवं समस्त बड़ों के प्रति आदर, साधना, लगन और धर्मसंघ की सेवा - ये समस्त गुण आपके जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। आपने आचार्यश्री तुलसी के सूत्र, 'निज पर शासन, फिर अनुशासन' को पूरी तरह से अपने जीवन में उतारा है। 'सादा जीवन और उच्च विचार' आपके जीवन का मूलमंत्र रहा है।

अपने आध्यात्मिक गुरु आचार्य महाप्रज्ञजी की प्रेरणा से जन-स्वास्थ्य अभियान्त्रिकी विभाग से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेने के बाद डॉ. तातेड़ ने जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (जि. नागौर, राजस्थान) में विजिटिंग प्रोफेसर और शोध पर्यवेक्षक के रूप में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस विश्वविद्यालय में डॉ. तातेड़ ने प्रोफेसर, बोर्ड ऑफ मैनेजमेंट के सदस्य, एकेडेमिक काउंसिल के सदस्य, विश्वविद्यालय के परामर्शक और सीनेट के सदस्य आदि विभिन्न रूपों में अपनी मानद सेवायें दी। इतना ही नहीं, डॉ. तातेड़ ने हजारों स्नातकोत्तर छात्रों को अपने विषयों-शिक्षा, दर्शन, योग पढ़ाने और शोध सुपरवाइजर के रूप में कार्य करने के लिये भी अवैतनिक सेवायें दी।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था में मानद संयोजक के रूप में कार्य करते हुए डॉ. तातेड़ ने १०० से अधिक विरक्त युवकों और युवतियों को पढ़ाने का कार्य किया, जो कालान्तर में अपने परिवार और समस्त धन-सम्पत्ति का परित्याग कर आचार्य महाप्रज्ञजी से दीक्षा प्राप्त कर संन्यासी बने। ये सभी १०० संन्यासी सम्पूर्ण भारत वर्ष और विदेशों में भी लाखों व्यक्तियों को, उनमें मानवीय, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य विकसित करने का उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार डॉ. तातेड़

ने आधुनिक समाज में गिरते हुए मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन १०० संन्यासियों के चरित्र-निर्माण को डॉ. तातेड़ अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ और पवित्रतम कार्यों में से एक कार्य मानते हैं।

समग्र व्यक्तित्व के धनी डॉ. तातेड़ बेजोड़ सामाजिक कार्यकर्ता हैं जो अथक रूप से समाज को अपनी सेवायें दे रहे हैं। आप निम्नलिखित २७ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठनों से जुड़कर संरक्षक, मुख्य संरक्षक, आजीवन सदस्य, परामर्शक और एसोसियेट सदस्य के रूप में करोड़ो भारतीयों की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनके उत्थान, लाभ और विकास के लिये सेवाएं प्रदान कर रहे हैं। जिन संस्थाओं के साथ आप संलग्न हैं उनका विवरण निम्नानुसार है :-

१. एसोसिएट सदस्य - काउंसिल फॉर रिसर्च एण्ड फिलॉसॉफी, वाशिंगटन D.C., २००६४ (यू.एस.ए.)।

२. सदस्य - पीस नैक्स्ट, विश्व धर्म संसद, मेलबार्न, आस्ट्रेलिया।

३. परामर्शक - द ओपन इन्टरनेशनल यूनिवर्सिटी फॉर कम्प्लीमेंट्री मेडिसिन्स, कोलम्बो (श्रीलंका)।

४. परामर्शक एवं आजीवन सदस्य - इंडियन होलिस्टिक मेडिकल ऐकेडमी, चैन्नई (तमिलनाडु)।

५. संरक्षक - राष्ट्रीय समता स्वतन्त्र मंच एवं समता इन्टरनेशनल, जयपुर (राज.)।

६. परामर्शक - नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ऑल्टरनेटिव मेडिसिन्स सिस्टम, बैंगलोर (कर्ना.)।

७. विशिष्ट सदस्य - भारत स्वाभिमान ट्रस्ट, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)।

८. मुख्य संरक्षक एवं आजीवन सदस्य - उत्तर प्रदेश प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग शिक्षक तथा चिकित्सक एसोसियेशन, लखनऊ (उ.प्र.)।

९. संरक्षक एवं आजीवन सदस्य - अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (म.प्र.)।

१०. संरक्षक - धर्म दर्शन सेवा संस्थान, उदयपुर (राजस्थान)।

११. संस्थापक सदस्य - ज्ञान सागर साइंस फाउण्डेशन, नई दिल्ली।

१२. सदस्य - इन्टरनेशनल एसोसिएशन ऑफ लॉयन्स क्लब, जोधपुर पश्चिम।

१३. आजीवन सदस्य - इंडियन फिलॉसोफिकल कांग्रेस, नई दिल्ली।

१४. आजीवन सदस्य - इंडियन सोसाइटी ऑफ गाँधीयन स्टडीज, चंडीगढ़ (पंजाब)।

१५ आजीवन सदस्य - इंडियन ऐकेडमी ऑफ योग, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)।

१६. आजीवन सदस्य - एम.बी.एम. इंजीनियरिंग कॉलेज, एलुमनाई एसोसियेशन, जोधपुर (राज.)।

१७. परामर्शक एवं संरक्षक - सिवांची मालाणी रीजनल तेरापंथ संस्थान, बालोतरा (राज.)।

१८. प्रेक्षक - दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)।

१९. आजीवन सदस्य - जैन विश्व भारती, लाड़नूँ (राजस्थान)।

२०. आजीवन सदस्य - अणुव्रत विश्व भारती, राजसमंद (राजस्थान)।

२१. आजीवन सदस्य - ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फरेंस, पुणे (महाराष्ट्र)।

२२. आजीवन सदस्य - इंटरनेशनल कॉंग्रेस ऑफ योग एण्ड स्पिरिचुअल साइंस, धारवाड़ (कर्ना.)।

२३. आजीवन सदस्य - आचार्य तुलसी शान्ति प्रतिष्ठान, गंगाशहर (राजस्थान)।

२४. आजीवन सदस्य - जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता (पश्चिम बंगाल)।

२५. आजीवन सदस्य एवं परामर्शक - इंडियन सोसाइटी ऑफ यू.थ्री.ए. (U3A)

२६. आजीवन सदस्य – राजस्थान पेंशनर्स एसोसियेशन।

२७. आजीवन सदस्य एवं परामर्शक – इंटरनेशनल काँग्रेस ऑफ सोशल फिलॉसोफी, धारवाड़।

डॉ. तातेड़ स्वयं भी साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित गैर सरकारी संगठनों द्वारा जीवन पर्यन्त चलाई जाने वाली निम्नलिखित गतिविधियों के प्रायोजक हैं :

डॉ. तातेड़ वर्ष की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृति और शोध-पत्र के लिये पुरस्कार और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के लिये स्थायी कोष अपने एवं अपनी धर्मपत्नी लक्ष्मी देवी के नाम से प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त आप अपने माता-पिता की स्मृति में, निरन्तर गिरते हुए नैतिक, मानवीय, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिये प्रवचन श्रृंखलायें भी संचालित करते हैं, जैसे-अखिल भारतीय दर्शन परिषद, जबलपुर (मध्यप्रदेश) के अंतर्गत आजीवन चलने वाली जैन प्रवचन श्रृंखला। यह प्रवचन श्रृंखला उनके माता-पिता 'स्वर्गीय श्रीमती चम्पा देवी एवं स्वर्गीय श्री मुल्तान मल, जसोल (राजस्थान) स्मृति जैन प्रवचन श्रृंखला' नाम से चलती है।

डॉ. सोहन राज लक्ष्मी देवी तातेड़, जोधपुर (राजस्थान), के नाम से प्रदान किये जाने वाले पुरस्कार एवं स्थायी कोष निम्नानुसार हैं :-

१. अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (मध्यप्रदेश) में दर्शनशास्त्र में शोध ग्रन्थ (हिन्दी में) पुरस्कार।

२. अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (मध्यप्रदेश) में शोध-पत्र पुरस्कार।

३. इंडियन फिलॉसॉफिकल काँग्रेस, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) में दर्शनशास्त्र शोध ग्रन्थ (अंग्रेजी में) पुरस्कार।

४. इंडियन फिलॉसॉफिकल काँग्रेस, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) में शोध-पत्र पुरस्कार।

५. यू.पी. नेचुरोपैथी एण्ड योग टीचर्स एण्ड फिजीशियन्स एसोसियेशन, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) में योग शोध-ग्रन्थ पुरस्कार।

६. यू.पी. नेचुरोपैथी एण्ड योग टीचर्स एण्ड फिजीशियन्स एसोसियेशन, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) में योग शोध-पत्र पुरस्कार।

७. अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (मध्यप्रदेश) में पत्रिका प्रकाशन स्थायी कोष।

८. इंडियन फिलोसोफिकल काँग्रेस, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) में पत्रिका प्रकाशन स्थायी कोष।

साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में डॉ. तातेड़ का कार्य राष्ट्रव्यापी, अति उच्चस्तरीय, समस्यामूलक और आवश्यकता-आधारित है। डॉ. तातेड़ ने अपने जीवन के ४३ वर्ष यानी जीवन का आधे से अधिक समय मानवता की सेवा में समर्पित किया है। परन्तु आपके जीवन के विगत १५ वर्ष उपलब्धियों और शोध सहित उच्च शिक्षा के विशेष विषयों पर परिणामोन्मुखता से भरे हुए रहे हैं। इन वर्षों में आपने १०० संन्यासी चरित्रों का निर्माण किया है। गैर-सरकारी संगठनों, विद्यालयों, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जन-साधारण की नकारात्मक सोच जैसे- घृणा, अहंकार, असंवेदनशीलता, क्रोध और हिंसा आदि को नियन्त्रित करने के लिये योग के कैम्प लगाये हैं। पी-एच.डी., स्तर के शोध ग्रन्थ लिखे और प्रकाशित करवाकर तथा विद्यार्थियों के पढ़ने हेतु उसे आपने भारत के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में उपलब्ध करवाए।

आपने शिक्षा के अपेक्षाकृत नए और नवप्रवर्तनकारी क्षेत्रों जैसे- भावनाओं पर नियंत्रण के लिए योग, एक सुसंस्कृत व्यक्तित्व के निर्माण के लिए व्यावहारिक शिक्षा और मानवीय, नैतिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए दर्शन जैसे गूढ़ विषयों पर आपने विशेष कार्य किया है। आपका यह कार्य नई स्वस्थ पीढ़ी का निर्माण करेगी जिसमें संस्कृति, साहस और शिष्टाचार जैसे गुण होंगे। डॉ. तातेड़ ने अपने विषयों- शिक्षा, योग और

दर्शन पर ६० पी-एच.डी. स्तर के शोधग्रन्थों की रचना की और प्रकाशित करवाया जिन्हें भारत की सौ प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। इसके अतिरिक्त ४० और शोध-ग्रन्थों को लिखने और प्रकाशित करवाने का कार्य चल रहा है।

हमारे देश में डॉ. तातेड़ जैसे बहुत कम विद्वान् होंगे जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की इस प्रकार सेवा कर रहे हों। इस दृष्टि से देखा जाए तो डॉ. तातेड़ का व्यक्तित्व समाज के लिए अनुकरणीय है। डॉ. तातेड़ ने शिक्षा जगत् की सेवा के लिए अपने विषय में अधिक से अधिक उच्च स्तरीय ग्रन्थों के लेखन का लक्ष्य बनाया है, जिससे शिक्षा जगत् उनके विशेषज्ञत्व का लाभ ले सके।

डॉ. तातेड़ ने सम्पूर्ण श्रद्धा और समर्पण के साथ जिन कॉलेजों, विश्वविद्यालयों और गैर सरकारी संगठनों में मानद कार्य किया है और अभी भी कर रहे हैं, उनकी सूची बहुत लम्बी है। उनमें से कुछ के विवरण निम्नानुसार हैं :-

१. वाइस-चांसलर - सिंघानिया विश्वविद्यालय, पचेरी बड़ी, जि. झुँझुनूँ (राजस्थान)।

२. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के पैनल सदस्य हैं।

३. न्यू एज इंटरनेशनल यूनीवर्सिटी, कैलीफॉर्निया (संयुक्त राज्य अमेरिका) और ट्रिनीट्री वर्ल्ड यूनीवर्सिटी (यूनाइटेड किंगडम) के रिसर्च सुपरवाइजर हैं।

४. जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (जि. नागौर राजस्थान) के बोर्ड ऑफ मैनेजमेंट के अवैतनिक सदस्य के रूप में कार्य किया है।

५. NAIU (U.S.A), TWU (U.K.), जोधपुर नेशनल यूनिवर्सिटी, जोधपुर (राजस्थान), JJTU और सिंघानिया यूनिवर्सिटी, झुँझुनूँ (राजस्थान) के संरक्षक प्रोफेसर (Emeritus Professor) हैं।

६. जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान) में अवैतनिक परामर्शक एवं प्रोफसर के रूप में सेवाऐं दी।

११. अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जबलपुर (म.प्र.) में उपाध्यक्ष के रूप में अवैतनिक सेवायें दी।

१२. वैशाली (बिहार) से निकलने वाली संप्रज्ञा शोध-पत्रिका और विशाखापटनम (आँध्र प्रदेश) से निकलने वाली IJMER इंटरनेशनल जर्नल के सम्पादक मण्डल के मानद सदस्य के रूप में सेवा दे रहे हैं।

१३. लाड़नूँ (राज.) से प्रसारित होने वाली पत्रिका 'प्रेक्षा ध्यान योग' के मानद सम्पादक के रूप मे लम्बी सेवाऐं दी।

१४. समाज के लिये नैतिक शिक्षा, दर्शन, योग और धार्मिक शिक्षा पर प्रवचन देने के लिये प्रशिक्षित वरिष्ठ उपासक के रूप में मानद सेवारत हैं।

१५. ब्राह्मी विद्यापीठ कॉलेज, लाड़नूँ (राजस्थान) के मानद डायरेक्टर के रूप में कार्य किया।

१६. डॉ. तातेड़ ने जैन विश्वभारती, लाड़नूँ (राजस्थान) की विद्वत् परिषद् में मानद सदस्य के रूप में कार्य किया।

१७. कोलकाता (पश्चिम बंगाल) की संस्था 'पीस सोसाइटी वर्ल्डवाइड' के अवैतनिक परामर्शक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

१८. कोलकाता (पश्चिम बंगाल) की संस्था 'इंस्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन, रिसर्च एवं डैवलपमैंट' के अवैतनिक परामर्शक के रूप में सेवारत हैं।

१९. कोलकाता (पश्चिम बंगाल) के 'इंडियन बोर्ड ऑफ आल्टरनेटिव मेडिसिन्स' के अवैतनिक परामर्शक के रूप में सेवारत हैं।

२०. ज्ञान सागर साइंस फाउण्डेशन, नई दिल्ली के संस्थापक सदस्य के रूप में मानद सेवारत हैं।

२१. जैन विश्व भारती, लाड़नूँ (राजस्थान) के अवैतनिक उप-मंत्री के रूप में कार्य किया है।

आपकी रचनाओं की शिक्षा जगत् में व्यापक प्रशंसा हुई है। आपने शिक्षा, योग और दर्शनशास्त्र जैसे कठिन विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। आपके द्वारा लिखित ग्रन्थ निम्नानुसार हैं-

१. Jain doctrine of Karma & the Science of Geretics.

२. Enlightened Knowledge.

३. जैन आगमों और उपनिषदों की आचार-मीमांसा

४. भारतीय भौतिकवाद और मार्क्सवाद

५. चार्वाक और ह्यूम

६. ज्ञान-मीमांसा की समीक्षात्मक विवेचना (प्राच्य और पाश्चात्य)

७. कबीर और महाप्रज्ञ का समाज-कल्याण दर्शन।

८. Quotes of Mahatma Gandhi

९. जैन कर्म-मीमांसा शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अध्ययन

१०. ज्ञान-रश्मियाँ

११. भारतीय दर्शन की मौलिक अवधारणायें

१२. Medical application of Yoga

१३. Women & Jainism

१४. Women & Christiniry

१५. प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों की मौलिक अवधारणायें

१६. बैच फ्लॉवर रेमेडिज एक चमत्कारी उपचार पद्धत्ति

१७. Women & Judaism

१८. Women & Sikhism

१९. भारतीय दर्शनों में तत्त्व एवं आचार-मीमांसा

२०. योग एवं समग्र स्वास्थ्य

२१. योग किरण

२२. जैन कर्म विज्ञान और मनोविज्ञान

२३. Women & Islam

२४. Geeta & Gandhi

२५. Revisiting Gandhi

२६. Yoga Spectrum





२७. Positive Thinking by Bach Flower Remedies

२८. Naxalism : Myth & Realily

२९. Ethics Burning Issues

३०. सन्त तुलसी साहित्य में उदात्त तत्त्व

३१. मेघ प्रदीप

३२. कंचनपुर की सोना

३३. अभिषेक

३४. Thundering speeches of Mahatma Gandhi

३५. Chronological Biography of Mahatma Gandhi

३६. Total Health by Yoga

३७-३८. धर्म एक : स्वरूप अनेक (भाग - १,२)

३९. Ethics & Social Responsibility

४०. भारतीय आधुनिक और प्राचीन शिक्षा प्रणाली

४१-४२. आधुनिक भारतीय चिंतक (भाग-१,२)

४३. वैदिक संस्कृत साहित्य का इतिहास

४४. सुखी एवं स्वस्थ परिवार के सूत्र

४५. Gurukul & Modern Education

४६. संस्कृत साहित्य का मौलिक इतिहास

४७-४८. भारतीय दर्शनों के विभिन्न स्वरूप (भाग-१,२)

४९-५१. Autobiography of Mahatma Gandhi (volumes-3)

५२. तत्त्व एवं आचार-मीमांसा

५३. Historical Speeches of M.K. Gandhi

शिक्षा, योग एवं दर्शनशास्त्र विषयों में आप द्वारा लिखी हुई ३२ पुस्तकें प्रकाशनाधीन हैं। प्रकाशनाधीन पुस्तकों की सूची निम्नानुसार है :-

१. Total Health by Meditation

२. Yoga for Deaf & Dumb person

३-४. भारतीय जागरण एवं राष्ट्रीय आंदोलन (भाग-१,२)

५-६. समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक (भाग-१,२)

७. आचार्य महाश्रमण की जीवनी

८. आचार्य महाश्रमण के प्रेरणास्पद विचार

९-१०. पाश्चात्य दर्शनों की ऐतिहासिक विवेचना (भाग-१,२)

११. Science of Human Body

१२. मानव शरीर का विज्ञान

१३-३०. Women who influenced Mahatma Gandhi (Vol. 1-18)

३१. पुंगलगढ री पदमणी (नाटक)

३२. प्राचीन भारत का आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक इतिहास

डॉ. तातेड़ ने मुख्य अतिथि, विशिष्ट अतिथि, अध्यक्ष, मुख्य वक्ता, और विभागीय अध्यक्ष के रूप में ५३ अन्तर्राष्ट्रीय/राष्ट्रीय सभाओं, सम्मेलनों और सेमिनारों में भाग लिया है। इस भागीदारी के दौरान आपने उन लाखों सहभागियों से शोध शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार साझा किये जिन्होंने इन सम्मेलनों और सेमिनारों में भाग लिया। साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय और विदेशी समाज के लिये यह आपका बहुत बड़ा योगदान है।

डॉ. सोहन राज तातेड़ के www. herenow4u.net, International online magazine, Berlin (Germany) में निम्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन है -

1. Thesis on the subject "The Jaina doctrine of Karma and the science of Genetics".
2. The Role of Jaina ethics in peace and harmony of Global civilization.
3. Evolution of the living being in Jaina philosophy and science.
4. Promoting the culture of peace in the world.
5. The Role of Jainism in evolving Global ethics.
6. Solution of Problems in the light of Acharya Mahaprajna's literature.
7. Role of Yoga in total health.
8. Commentary on thesis-The Jaina doctrine of karma and the Science of Genetics.
9. Karmic Theory in Jain Philosophy.
10. Utility of Science of Living in Life Building.
11. Vow of Voluntary Death in the Context of Victory Over Afflictions and Calamity.
12. A Devotee Votary: Yuvak Ratna Sohan Raj Tater.
13. Concept of Soul Substance in Indian Philosophies.
14. Reality in Western and Indian Philosophies-Jain View.
15. Idealism and Realism in Western and Indian Philosophies.
16. Jain Karmic Theory and Genetic Science.
17. Acharya Tulsi: An Incarnation.
18. Problem Solving-In the Light of Acharya Mahapragya's Literature.
19. The First Step to Initiation-Parmarthik Shikshan Sanstha.
20. Highly Esteemed and Popular-Acharya Mahapragya.
21. Joy giving Mantra: Namo Arhantanam.

22. Formation of Sacraments in Girls : First Priority of Modern Age.
23. The Concept of Non-violence in Indian Philosophies.
24. Mitigation of violence against women around the globe.
25. Health management through Yoga and Naturopathy.
26. My study for the growth of Singhania University.
27. Relative Economics of Human life span.
28. Economics of Non-violence: Theory to action.
29. Necessity of Research in Yoga and Naturopathy.
30. Global water scarcity: problems and solutions.
31. Jainism - History, Philosophy and Traditions.
32. Concept of Prama in Jain Philosophy.
33. Life style management through Immunity, Yoga and Naturopathy.
34. Nari Sashktikaran ki Prasangikta.
35. Spiritual Understanding of Mahatma Gandhi.
36. Bio Ethics and Social Responsibility.
37. Naturopathic and Yogic cure of Blood Pressure.
38. Self Interaction of Karma & Genes in the light of Jain Philosophy.
39. Role of Yoga & Naturopathy in the development of Ideal life Style.
40. Value Education: The need of hour.
41. Interdiscipline of Vedanta and Jainism.
42. Caste Identity: In relation to tradition and modernity.
43. Peace Education & Value Education Vis-a-Vis sustainable development.

डॉ. तातेड़ की विशेषता यह है कि अपनी प्रकृति-दत्त बुद्धिमता, माता-पिता द्वारा दिये गये संस्कारों, अथक परिश्रम और परोपकार की भावना के कारण एक सामान्य व्यक्ति से इतने ऊँचे स्तर तक पहुँचे हैं कि वे न केवल स्थानीय समाज, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के लिये एक समृद्ध विरासत छोड़ जायेंगे।

डॉ. तातेड़ के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी ईमानदारी, सादगी, नम्रता, समर्पण, साहस, स्वाभिमान और विद्धता उल्लेखनीय हैं। आप न केवल समाज बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के बहुमूल्य रत्न हैं।



१. दर्शन :
अव्यक्त की अभिव्यक्ति

मीमांसा दर्शन में कर्म की अवधारणा

सोमनाथ नेने

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में वैदिक वाक्यों की कर्मपरक व्याख्या के माध्यम से अर्थनिर्धारण की परम्परा में मीमांसाशास्त्र ने पदार्थों का आनुषंगिक विवेचन करते हुए दार्शनिकता के स्वरूप को भी प्राप्त किया है। धर्म के रूप में अभिमत यागात्मक कर्म की संगति के लिए मीमांसा को अपूर्व पदार्थ स्वीकार करना पड़ा है। इस अपूर्व स्वरूप कर्मजन्य संस्कार की संगति के लिए आत्मतत्त्व को स्वीकार करना ही इस वाक्यार्थ शास्त्र का दार्शनिकता को प्राप्त करना है। इस मीमांसाशास्त्र या दर्शन की सम्पूर्ण पदार्थ-मीमांसा, कर्म पदार्थ के चतुर्दिक् परिव्याप्त है तथा किसी न किसी रूप में अपनी कर्मोपयोगिता का ही प्रकाशन करती है।

मीमांसाशास्त्र में प्रथम पदार्थ द्रव्य, द्वितीय पदार्थ गुण, तृतीय पदार्थ स्वयं कर्म, चतुर्थ पदार्थ सामान्य तथा पाँचवें पदार्थ के रूप में शक्ति, इन पाँच भाव पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है।

मीमांसा दर्शन में मुख्य रूप से वेदार्थ के रूप में अभिमत कर्म, क्रियारूप[1] होने से अन्य सभी पदार्थ, साक्षात् या परम्परया इस कर्म के साथ समन्वित होकर ही अपनी उपादेयता का प्रकाशन करते हैं। 'अग्निहोत्रं जुहोति'[2] दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्[3] जैसे वाक्यों द्वारा स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति के लिए याग क्रिया रूपी कर्म की प्रधानता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई है। इसी प्रधानभूत कर्म में समन्विति के माध्यम से मीमांसा की पदार्थमीमांसा में अभिमत १, द्रव्य, २. गुण, ३. सामान्य तथा ४. शक्ति, इन चारों भाव-पदार्थों के साथ अभाव पदार्थ की भी चरितार्थता स्वीकार की गई है।

१. 'व्रीहीभिर्यजेत'[4], इस वाक्य द्वारा व्रीही रूप द्रव्य की २. अरुणया पिङ्गाक्षैकहायन्या सोमं क्रीणाति'[5] के द्वारा आरुण्य रूप गुण की ३. यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति'[6], इस वाक्य द्वारा पर्णता रूप जाति की तथा ४. 'व्रीहीन्प्रोक्षति'[7] इस वाक्य द्वारा अपूर्वात्मिका शक्ति रूप दार्थ की भी कर्म में समन्विति के माध्यम से चरितार्थता मानी गई है।

इन विवेचित पदार्थों के समान आचार्य कुमारिल भट्ट ने १. प्राग्भाव, २. ध्वंस, ३. अन्योन्याभाव तथा ४. अत्यन्ताभाव, इन चारों भेदों सहित अभाव का भी प्रतिपादन किया है।[8] इनमें निषिद्ध आचरण न करने से पाप का हमेशा प्रागभाव रहने से तथा कथञ्चित् निषिद्धाचरण रूप पाप हो जाने पर प्रायश्चित्त कर्म द्वारा उसके क्षालन रूप ध्वंस के माध्यम से कर्म में होने वाले वैगुण्य से यजमान की रक्षा करने से कर्म में समन्वित रूप से अभाव पदार्थ की भी सार्थकता मानी जाती है।

वेद के सम्पूर्ण अर्थ को कर्मानुष्ठान के रूप में प्रतिपादित करना ही मीमांसा दर्शन का एक मात्र लक्ष्य है। सारा वेद, (साक्षात् या परम्परा या किसी न किसी रूप से) कर्म का प्रतिपादक है। यह कर्म ही सम्पूर्ण वेदार्थ के रूप में महर्षि जैमिनि द्वारा 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

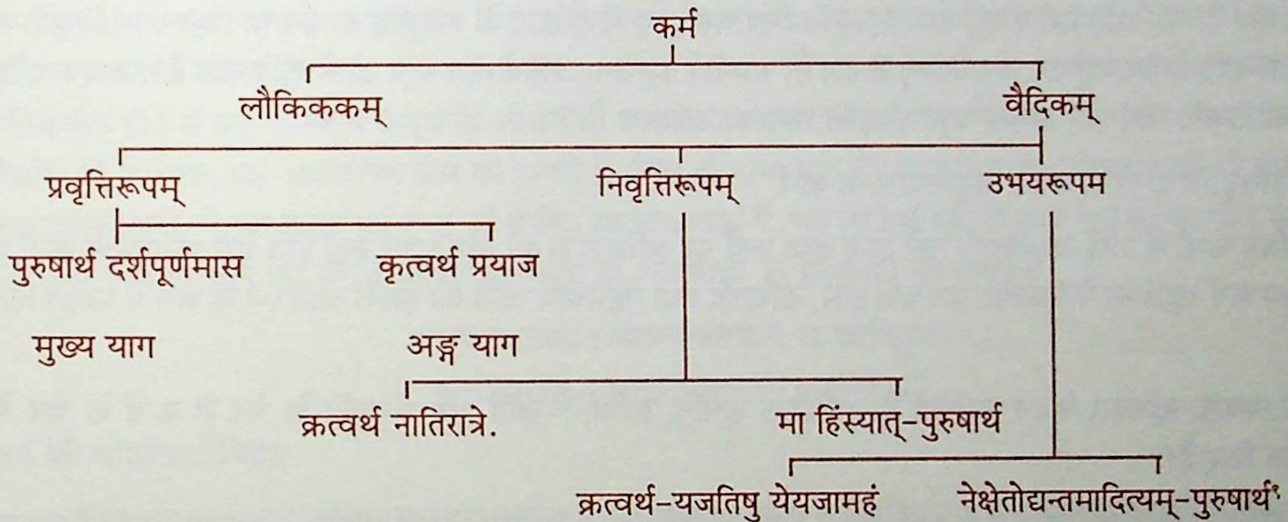
कर्मभेद-प्रतिपादन

यद्यपि मीमांसा बालप्रकाशकार भट्टशंकर ने सर्वप्रथम कर्म के लौकिक तथा वैदिक कर्म, ये दो भेद किए हैं तथापि, वेदार्थ के रूप में अभिमत वैदिक कर्म का प्रतिपादन ही मीमांसा का लक्ष्य होने से लौकिक कर्मों पर विचार न करके

शास्त्राभीप्सित वैदिक कर्म के १. प्रवृत्तिरूप कर्म, २. निवृत्तिरूप कर्म तथा ३. उभयरूप कर्म, ये तीन भेद किए हैं। इनमें से तीनों कर्म कृत्वर्थ तथा पुरुषार्थ, इन दो भेदों में व्यवस्थापित किए गए हैं। जो कर्म, क्रतु, यज्ञ की निष्पत्ति में सहायक होते हैं उन्हें, क्रत्वर्थ कर्म कहा जाता है। जो कर्म, पुरुषार्थ के निष्पादक होते हैं उन्हें पुरुषार्थ कर्म कहा जाता है। इसके अनन्तर भट्टशंकर ने निवृत्तिरूप कर्म के भी कृत्वर्थ तथा पुरुषार्थ रूप दोनों भेदों का उल्लेख कर 'अतिरात्र' सत्र में षोडशिन् पात्र के निषेधपरक 'नातिरात्रे' इस नञर्थ-समन्वित वेदवाक्य को निवृत्तिरूप कृत्वर्थ कर्म के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। निवृत्तिरूप पुरुषार्थ कर्म के रूपमें पुरुषार्थ के विनाशक हिंसारूपी निषिद्ध कर्म से निवृत्तिपरक 'मा हिन्स्यात्' इस उदाहरण का प्रकाशन किया है।

प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप दोनों वैदिक कर्मों की उदाहरण-संगति प्रदर्शित करने के अनन्तर मीमांसाबालप्रकाशकार भट्टशंकर ने कर्म के तृतीय उभयरूप वैदिक कर्म के क्रत्वर्थ कर्म के उदाहरण के रूप में 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इस वाक्य को प्रदर्शित किया है। यहां पर नञर्थ पर्युदास माना जाता है। पर्युदास नञर्थ का भावना के साथ समन्वय न होकर पूर्व पदार्थ अनुयाज के साथ होने पर अनुयाजभिन्न यागों में 'येयजामह' के पाठ के विधान द्वारा यह निवृत्तिपरक वाक्य, क्रतूपकारकत्व रूपी अपने क्रत्वर्थ स्वरूप को व्यक्त कर देता है। उभयरूप निवृत्तिपरक उभयरूपकर्म के उदाहरण के रूप में ब्रह्मचारी पुरुष के कर्तव्य के रूप में 'तस्य व्रतम्' इस उपक्रम द्वारा प्रतिपादित व्रतों में नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस उदाहरण वाक्य की ग्रन्थकार ने योजना की है। अन्य व्रतों के साथ 'आदित्यानीक्षणसङ्कल्प पुरुषार्थ में उपयोगी होने से इसकी पुरुषार्थता स्पष्ट है।

इसे तालिका द्वारा निम्न रूप में भी समझा जा सकता है-



ग्रन्थकार ने प्रवृत्तिरूप वैदिक कर्मों के कृत्वर्थ तथा पुरुषार्थ कर्मों के उदाहरण, इन्हें प्रसिद्ध मानकर संभवत: प्रदर्शित नहीं किए हैं। इनमें '**व्रीहीनप्रोक्षति**' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्राप्त प्रोक्षण क्रतूपकारक होने से इसे प्रवृत्तिरूप वैदिक कर्म के क्रत्वर्थ भेद का उदाहरण माना जा सकता है। म. म. गङ्गानाथ झा महोदय ने इनके उदाहरणों के रूप में क्रमश: दर्शादि याग तथा प्रयाजादि की योजना की है।[१०]

द्वितीय कर्मविभाग

त्रिविध रूप से प्रतिपादित वैदिक कर्म को शंकरभट्ट ने १. प्रकृति, २. विकृति, ३. उभयात्मक तथा ४. अनुभयात्मक, इन भागों में विभक्ति कर इनके निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं-

१. प्रकृति याग रूप कर्म

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासादि कर्मों को प्रकृति याग रूप कर्म के उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है। अर्थसंग्रहकार लौगाक्षिभास्कर के अनुसार जहाँ समग्र अंगों का उपदेश किया जाता है, उसे प्रकृतियाग कहते हैं– 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः' इस प्रकार प्रकृति का लक्षण किया गया है।[११] यही लक्षण मी. न्या. प. में भी प्राप्त है।[१२] दर्शपूर्णमास याग की विकृति है, गृहमेधीय इष्टि, इस में प्रकृति से कोई भी कर्म नहीं लिए जाते हैं अतः 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस सामान्य विधि से पर्णता की इस याग में संगति हो सके, इस लिए इसे प्रकृति माना गया है। यद्यपि इसे प्रकृति मान लिया गया है, तथापि इसमें समग्र अङ्गोपदेश न होने से प्रकृति का उक्त लक्षण घटित नहीं हो पाता तथा सामान्य विधि की समन्विति केवल प्रकृति में ही मान्य होने के कारण इसे प्रकृति बनाने के लिए "जिसमें अतिदेश से अंगप्राप्ति नहीं होती, वह कर्म–"प्रकृति के रूप में अभीष्ट है, ऐसा प्रकृति के लक्षण का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है।[१३]

विकृति याग रूप कर्म

विकृति कर्म के उदाहरण के रूप में भट्टशंकर ने मासाग्निहोत्रादि का प्रतिपादन किया है। यह मासाग्निहोत्र कर्म अग्निहोत्र याग का विकृति कर्म है।[१४]

प्रकृति विकृति रूप कर्म के उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने 'अग्नीषोमीय, सवनीय, इन पशु यागों का उल्लेख किया है।[१५]

इनकी उभयरूपता को स्पष्ट करते हुए मी. न्या. प्र. कार श्री आपदेव का कहना है कि दैक्ष–अग्निषोमीय पशुयाग, सारे पशुयागों का प्रकृतियाग है। इसमें सभी उपाकरण, पर्यग्निकरण तथा नियोजन रूप अंगात्मक पशुधर्मों के अनुष्ठान का विधान किया गया है। यह अग्निषोमीय पशुयाग पशुप्रकृतिप्रभवत्वसादृश्य से दर्शयाग के अन्तर्गत सान्नाय याग का स्वयं विकृतियाग है, अतः अग्निषोमीय पशुयाग, प्रकृतिविकृतियाग है। सवनीय पशुयाग, अग्निषोमीय याग की विकृति याग है तथा एकादशिनी याग की प्रकृति याग होने से यह प्रकृतिविकृति याग का उदाहरण है।[१६]

प्रकृतिविकृति दोनों से रहित अनुभयात्मक कर्म

जिन कर्मों में अंगों का विधान नहीं होता तथा जहाँ पर अतिदेश से भी अंग प्राप्त नहीं होते ऐसे यागात्मक कर्मों को अनुभय कर्म भट्टशंकर ने निरूपित कर दर्वी होम, नारिष्ठादि तथा गृहमेधीय यागों को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[१७]

ग्रन्थकार भट्टशंकर ने इन कर्मभेदों के अतिरिक्त उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृति तथा संस्कृति के भेद से कर्मों के चार भेद प्रदर्शित किए हैं।[१८]

वैदिक यागानुष्ठानात्मक कर्म के भट्टशंकर ने गुण कर्म तथा प्रधान कर्मरूप भेद प्रतिपादित कर अग्न्याधान को गुणकर्म तथा अग्निहोत्र को प्रधान कर्म निरूपित किया है।[१९]

मीमांसा–भाष्यकार शबरस्वामी तथा वार्तिकाकार ने नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य ये विहित कर्म के तीन भेद निरूपित किए हैं। ये विहित कर्म कहे जाते हैं।[२०] इनमें अग्निहोत्रादि नित्य कर्म हैं।[२१] आपदेव ने आहिताग्नि का घर जल जाने के निमित्त से किए जाने वाले अष्टादश पुराडाश के निर्वाप कर्म को नैमत्तिक कर्म के रूप में प्रतिपादित किया है।[२२] सम्पूर्ण अङ्गोसहित कामना विशेष से किए जाने वाले आग्रहोत्रादि कर्म काम्य कर्म माने गए हैं। इन तीनों कर्मों में काम्य कर्म को सबसे प्रबल माना गया है।[२३]

वैदिक कर्मों के इसके अतिरिक्त भी अनेक विभाग किए गए हैं जिन्हें शोध–पत्र के संक्षिप्त कलेवर में समाविष्ट कर पाना असंभव होने से स्थालीपुलाकन्याय से प्रमुख कर्मभेदों का ही उल्लेख किया गया है।

१. कर्म तथा अपूर्व

वैदिक काम्य कर्म, दर्शपूर्ण मास, अग्निहोत्रादि सभी कर्म, क्रिया रूप तथा क्षणिक होने से यागादिकर्म द्वारा फलप्राप्ति की संगति के लिए इन यागादि कर्मों से जन्य तथा फलाप्तिपर्यन्त रहने वाले (अदृष्ट) 'अपूर्व' रूपी शक्ति का अस्तित्व माना गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुमारिल भट्ट का कहना है कि मृत्यु के अनन्तर चिरकाल के बाद मिलने वाले स्वर्गादि फलों के लिए विहित दर्शपूर्णमासादि कर्म क्रियारूप होने से क्षणिक हैं, इसलिए इनमें फल की निष्पत्ति 'अपूर्व' रूपी अदृष्ट को माने बिना संभव नहीं है अतः अपूर्व की यह अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति, अपूर्व के अस्तित्व को सिद्ध कर देती है।

फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।।[२४]

जिस प्रकार राजा के मरने के बाद उसकी प्रभुत्वशक्ति उसके पुत्र में चली जाती है, उसी प्रकार याग के क्रियारूप होने से अनुष्ठान के बाद याग के नष्ट हो जाने पर उसमें रहने वाली यह अपूर्वरूपी शक्ति भी जीवात्मा में चली जाती है तथा यागजन्य फलप्राप्ति पर्यन्त विद्यमान रहती है- यथा प्रभुत्वं राजनि मृते तत्पुत्रे तिष्ठति तथेषा शक्तिरपि तदाश्रये यागे विनष्टे आत्मानि तिष्ठति।[२५]

यद्यपि दर्शादि कर्मों को एक तथा नित्य माना गया है। तथापि यह नित्यता भौतिक क्रियाओं की नहीं अपितु यागजन्य अपूर्व की दृष्टि से ही समझी जानी चाहिए। लौकिक कर्मों से कोई अपूर्व न होने से ही इन्हें अनित्य कहा गया है।

आत्मा का कर्मसम्बन्ध

यागजन्य अपूर्व, याग के अङ्गानुष्ठान के द्वारा अङ्गापूर्वों के रूप में व्रीहि आदि में विद्यमान रहता है।याग में विनियुक्त होने पर याग के उत्पत्यपूर्व तथा एक फलजनक परमापूर्व के रूप में इसकी विद्यमानता के लिए एक अधिकरण की अनिवार्यता होने से इस कर्मजन्य अपूर्व के आश्रय के रूप में आत्मा का भी अस्तित्व मीमांसा में स्वीकार करना पड़ा है। मीमांसा में अभिमत यह आत्मतत्त्व कर्म की संगति के लिए ही माना गया है। आत्मतत्त्व के प्रतिपादन की भी कर्मार्थता स्वयं कुमारिलभट्ट ने यह कहत हुए स्पष्ट की है कि 'आत्मा ज्ञातव्य है, यह जो उपनिषद् में कहा गया है, वह मोक्ष के लिए नहीं कहा गया है। कर्म की संगति प्रतिपादित करना ही आत्मतत्त्व के प्रतिपादन का लक्ष्य है-

आत्म ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षाय न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वादात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।।[२६]

कर्म की मोक्षोपयोगिता

कर्म के आश्रय के रूप में यजमानरूप आत्मा के सांसारिक स्वरूप को वार्तिककार मुकारिलभट्ट का विवेचित वार्तिक प्रकाशित करता है। इस वार्तिक की प्रकारान्तर से व्याख्या करते हुए भट्ट सोमेश्वर ने आत्मा की क्रत्वर्थता के साथ इसकी मोक्षरूपता का भी प्रतिपादन किया है। इनका कहना है कि वार्तिक में 'आत्मा ज्ञातव्य इत्येतत्' यहाँ पर प्रयुक्त एतत् शब्द से यही सूचित होता है कि संसारी आत्मा का ही उपदेश कर्म की प्रवृत्ति की संगति के लिए माना जाना चाहिए। उससे भिन्न असंसारी आत्मा के उपदेश का प्रयोजन, पुरुषार्थ मोक्ष, मानना ही समीचीन है- 'अत एवाऽऽत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितमित्यत्रैतच्छब्दप्रयोगेण संसारिरूपात्मज्ञानस्यैव कर्मप्रवृत्तिहेतुतोक्ता। असंसारिरूपात्मज्ञानस्य तु कर्मप्रवृत्त्यर्थत्वायोगात्पुरुषार्थतैव युक्तेत्याशयः। न्यायसुधा, पृ. ३२६[२७]

आत्मा के प्रतिपादन की मोक्षार्थता के साथ 'मोक्ष' रूपी परम पुरुषार्थ की निष्पत्ति में भी कर्म की उपादेयता मीमांसा में मानी गई है। भट्ट सोमेश्वर ने 'ननु निःश्रेयसं ज्ञानाबन्धनहेतोः नकर्मणः' इस प्रथम पंक्ति में 'ननु' शब्द से शंका उत्थापित कर 'तत्किन्नैकस्मादपि तु ज्ञानकर्मसमुच्चयात्' इस द्वितीय पंक्ति में ज्ञानकर्म दोनों के समुच्चय को मोक्ष के साधन के रूप

में प्रतिपादित किया है।[२८]

मीमांसा कुतूहल में कमलाकर भट्ट ने ज्ञानकर्मसमुच्चय में समुच्चय अंगांगिभावरूप से होगा या समप्रधान रूप से। यह प्रश्न उठाकर यह समाधान परस्तुत किया है कि 'ब्रह्मविदाप्रोति परम्' तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुतिवाक्य जिस प्रकार तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाते हैं, उसी तरह, 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' 'सत्येन लक्ष्यस्तपसा ह्येष आत्मा' इत्यादि श्रुतिवचन, कर्म की मोक्षसाधनता का प्रतिपादन करते हैं। श्रुति के ही समान हारित स्मृति में यह कहा गया है कि जैसे 'आकाश में दोनों पंखों द्वारा ही पक्षी गति को प्राप्त करता है उसी प्रकार ज्ञान तथा कर्म ये दोनों ही शाश्वत ब्रह्म-प्राप्ति के साधन हैं-

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।।[२९]

इस प्रकार कमलाकर भट्ट की दृष्टि में ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय की मोक्षसाधनता श्रुति तथा स्मृति दोनों द्वारा सिद्ध है।

विमर्श

समस्त भारतीय दर्शनों में मीमांसा दर्शन मुख्य रूप में वेदार्थ निर्णय के लिए प्रवृत्ति हुआ है। इस दर्शन में वेद के वक्यों का कर्मपरक अर्थ निर्धारण किया गया है। वेदार्थ के रूप में अभिमत कर्म के प्रतिपादन की प्रक्रिया में ही आत्मतत्त्व के निरूपण द्वारा इस शास्त्र का दार्शनिक स्वरूप भी प्रकाशित हुआ है। आत्मतत्त्व सहित समस्त पदार्थों में कर्म पदार्थ ही मीमांसा का प्रधान प्रतिपाद्य तत्त्व है। जिन पदार्थों की कर्म की दृष्टि से उपादेयता है उन्हें ही मीमांसा की पदार्थ मीमांसा में स्थान प्रदान किया गया है। मीमांसा द्वारा अभिमत द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति तथा अभाव, इनमें तृतीय 'कर्म', प्रधान पदार्थ होने तथा बाकी सबकी सार्थकता इस कर्म में समन्वय के माध्यम से ही अभिव्यक्त होने के कारण, 'कर्मेति मीमांसकाः' यह उक्ति, अपनी चरितार्थता को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करती है।

सन्दर्भः

१. *आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्, तस्मादनित्यमुच्यते, जैमिनिसूत्र, १/२/११*

२. *अग्निहोत्रं जुहोति, तैत्तिरीयसंहिता, १/५/८९*

३. *दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्, शतपथब्राह्मण, १/६/४*

४. *व्रीहीभिर्यजेत, आप. श्रौ. सूत्र, ६/३१/१४*

५. *अरुणया, तैत्तिरीयसंहिता, ६/६/७*

६. *यस्य पर्णमयी, वही, ३/५/७/२*

७. *व्रीहीन्प्रोक्षति, तैत्तिरीयब्राह्मण, ३/२/५*

८. *प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।*
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।।
क्षीरे दध्यादियन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते।
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव उच्यते।।
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽयन्ताभाव उच्यते।। मीमांसाश्लोकवार्तिकम्, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, १९७९, पृ. ५७२

९. *मीमांसा-बालप्रकाश, पृ. ८१-८६*

१०. पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६४, पृ. २५८
११. यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, अर्थसंग्रह, चौखम्बा सं. सीरीज, वाराणसी, पुनर्मुद्रित २००८, पृ. ५३
१२. मीमांसान्यायप्रकाश, न्याबोधिनी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००३, पृ. २२२
१३. किन्तु चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिस्तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्। मी. न्या. प्र. न्यायबोधिनी, पृ. १९५
१४. द्वितीयं यथा मासाग्निहोत्रादि, मीमांसा-बालप्रकाश, पृ. ८५
१५. तृतीयं यथाऽग्नीषोमीयसवनीयपश्वादि, वही, पृ. ८५
१६. प्रयोगविधिना हि, दैक्षे ... सवनीयाच्चैकादशिनेषु प्राप्तम्, मी. न्या. प्र. न्या. प्र. पृ. ३२४
१७. चतुर्थं यथा दर्विहोमा नारिष्टादयः। तेषां ह्यपूर्वत्वमष्टमान्त्ये उक्तम्। एवं गृहमेधीयाद्यपीति। मीमांसा-बालप्रकाश, पृ. ८५
१८. पुनरपि वैदिकं कर्म चतुर्विधम्। उत्पत्तिप्राप्तिविकृतिसंस्कृत्यर्थत्वेन। वही, पृ. ८५
१९. पुनरपि वैदिकं कर्म द्विविधं गुणकर्म प्रधानकर्म चार्थकर्मापरपर्यायम्। तत्राद्यं यथाऽधानम्। द्वितीयं यथाग्निहोत्रादि। वही, पृ. ८१
२०. नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन कर्मणां त्रिविधता व्यवतिष्ठते। एतानि विहितकर्माणि भवन्ति। भारतीयदर्शनेषु कर्मवादः कालिदास-अकादमी, उज्जैन, मार्च १९८८
२१. नित्यान्यग्निहोत्रादीनि। मी. शा. भा. १/१/१
२२. यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत। मी. न्या. प्र. न्यायबोधिनी, पृ. ३२८
२३. 'तच्च त्रिषु कर्मसु बलवत्तरम्' इत्याहुः भारतीयदर्शनेषुः कर्मवादः, कालिदास-अकादमी, उज्जैन, मार्च १९८८, पृ. २७
२४. तन्त्रवार्त्तिक, (अजिता), द्वितीय भाग, श्री गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, १९९०, पृ. ३६
२५. यथा प्रभुत्वं राजनि सुदर्शनाचार्य-विरचित शास्त्रदीपिका-प्रकाश, पृ. ३०९
२६. आत्म ज्ञातव्य, मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ८१६
२७. अत एवाऽऽत्मा, प्रकरणपञ्चिका, आत्मवादपरिशिष्ट, पृ. ३५२
२८. द्रष्टव्य, वही, पृ. ३५२
२९. मीमांसाकुतूहलम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८७, पृ. ३६१

***

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में निष्काम कर्मयोग

बशिष्ठ नारायण सिन्हा

रामायण एवं महाभारत वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध और प्रचलित महाकाव्य हैं। श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का एक अंश है। गीता की रचना युद्धक्षेत्र में हुई, यह अपने आप में एक विचित्र बात है। अर्जुन जैसे महायोद्धा को युद्ध के प्रति उन्मुख करने के लिए कृष्ण ने जो उन्हें उपदेश दिया उसे गीता नाम से संज्ञित किया गया। विषम परिस्थिति में सृजित होने के बावजूद भी गीता में उपनिषदों का सार गर्भित है। कहा गया है कि श्रीकृष्ण रूपी गोप ने उपनिषद् रूपी गायों से दूध निकालकर अर्जुन रूपी बछड़ा को पिलाया। गीता की तुलना जैन परम्परा के 'तत्त्वार्थसूत्र' तथा बौद्ध परम्परा के 'धम्मपद' से की जा सकती है। इसकी महत्ता को देखते हुए अनेक लोगों ने इस पर टीकाएं लिखी हैं जिनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखित टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं। उनलोगों ने गीता को क्रमशः ज्ञान, भक्ति एवं कर्मप्रधान बताया है। किन्तु वास्तव में ये तीनों समान हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं तथा इन तीनों के मिलने से ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है।

हमारे पूर्वजों ने ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, परन्तु सम्पर्कसूत्र के अभाव के कारण हम उन्हें समझ नहीं पाते हैं। यदि किसी अंश में समझते भी हैं तो उन्हें हम सिर्फ मोक्ष का मार्ग या स्वर्ग की सीढ़ी मान बैठते हैं। प्राचीन सिद्धान्तों को हमलोग सामान्य धरातल पर लाते ही नहीं है। किन्तु मानव जीवन का सम्बन्ध तो लोक और परलोक दोनों से ही है और हमारे जो भी प्राचीन सिद्धान्त हैं वे लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही उपलब्धियों से सम्बन्धित हैं। लोक और परलोक भी बिल्कुल भिन्न है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति जब तक स्व की सीमा में रहता है वह लोक में बंधा होता है और जब समाज, राष्ट्र को अपने में समाहित करता हुआ सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेट लेता है तो वह परलोकवासी हो जाता है, मुक्त हो जाता है, ब्रह्मलीन और आत्मलीन हो जाता है। अतः हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को आज के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए और उनकी प्रासंगिकता को प्रमाणित करना चाहिए। इसी उद्देश्य से मैंने निष्काम कर्म योग को मनोवैज्ञानिक, प्रजातान्त्रिक, साम्यवादी तथा समाजवादी दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया है।

निष्काम कर्मयोग

निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है-

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। श्रीमद्भगवद्गीता, २/४७

अर्थात् तेरा कर्म करने में अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु न हो एवं तेरी आसक्ति भी उसमें न हो। तात्पर्य है कि व्यक्ति को कामनारहित होकर कर्म करना चाहिए। उसे कर्मफल की आशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कर्ता का अधिकार मात्र कर्म पर होता है, कर्मफल पर नहीं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिए हुआ है अर्जुन को युद्ध के परिणाम की चिन्ता थी और वे युद्ध से विमुख हो गए थे। अतः कृष्ण ने कहा कि तुम युद्ध करो, युद्ध के परिणाम से तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। सिर्फ कर्म तुम्हारा अधिकार है, उसके फल पर नहीं। इस सिद्धान्त को कुछ लोग

निष्क्रियता मानते हैं। क्योंकि उनके अनुसार कामना के बिना कर्म नहीं हो सकता और कर्म से वंचित होना तो निष्क्रियता ही है। उनलोगों के अनुसार निष्काम का अर्थ है काम या कर्म नहीं। किन्तु निष्काम को निष्क्रियता नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अर्जुन को कर्मपथ पर अग्रसर करने के लिए गीता का उपदेश दिया गया है। साथ ही कृष्ण ने यह भी कहा है कि मनुष्य का स्वभाव है कि वह क्षण भर भी बिना कर्म किए हुए नहीं रह सकता है। अतः निष्काम कर्म को निष्क्रियता कहना उचित नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार मानव की मानसिकता ऐसी होती है कि वह बिना फल की कामना किए हुए कोई कार्य नहीं करता है। वह जो कुछ करता है, फल की उपलब्धि को ध्यान में रखते हुए करता है। इस मत का समर्थन सुखवादी दर्शन करता है। भारतीय दर्शन की चार्वाक शाखा में कहा गया है- 'जब तक जीवित रहो सुखपूर्वक जीवित रहो।' सुख तो कर्म का ही फल होता है। फिर तो फल का त्याग करके किस प्रकार कोई सुखी रह सकता है। पाश्चात्य सुखवादी चिन्तकों- बेंथम, मिल, सिजविक आदि ने तो स्पष्टतः कहा है कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसमें उसका उद्देश्य निहित होता है सुख की प्राप्ति तथा दुःख का निवारण। अतः उनलोगों के अनुसार भी कर्मफल का त्याग मुश्किल है। अर्थक्रियावाद का तो एक नाम ही 'फलवाद' है। इसके समर्थकों- पियर्स, जेम्स, डिवी, शिलर आदि ने तो कर्म की सत्यता-असत्यता को उसके फल पर ही आधारित माना है। ऐसी स्थिति में फल के बिना कर्म करना तो एक बहुत जटिल समस्या है। इस समस्या के समाधान के लिए जो तरीका बताया गया है उसे हम शास्त्रीय समाधान कह सकते हैं। उसके अनुसार निष्काम का पालन वही कर सकता है जिसमें समता या समर्पण के भाव हों या दोनों ही भाव हों। समता का भाव ज्ञानी में होता है। उपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञानी अपने को दूसरों में तथा दूसरों को अपने में देखता है। अर्थात् वह सबको सामान्य रूप में देखता है। ऐसी स्थिति में उसे फल की कोई चिन्ता नहीं होती है। फल किसी को मिले, बात एक ही है। समर्पण का भाव भक्त में होता है। वह पूर्णतः अपने को भगवान के प्रति समर्पित कर देता है। वह समझता है कि सबकुछ भगवान के द्वारा होता है। फल अच्छा हो या बुरा, मिले न मिले उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान जैसा चाहता है वैसा करता है। अतः भक्त को भी कर्मफल की कोई चिन्ता नहीं होती है। किन्तु ज्ञानी और भक्त होना कोई आसान बात नहीं है। अतः यह समाधान निष्काम कर्म को मोक्ष का मार्ग बतलाकर ही रह जाता है। समाधान तो वह चाहिए जिसे साधारण व्यक्ति अपना सके।

प्रजातांत्रिक विश्लेषण

हमलोग एक बड़े प्रजातांत्रिक देश के वासी हैं और इसके लिए हम गर्व भी करते हैं। किन्तु हमारा प्रजातन्त्र राजतन्त्र से भी खराब स्थिति में है और बहुत कमजोर है। राजतन्त्र में राजा के मरने पर यदि उसका उत्तराधिकारी अयोग्य होता था, नाबालिग होता था तो उसके योग्य और बालिग होने तक कोई दूसरा योग्य व्यक्ति राज-काज चलाता था और उत्तराधिकारी जब योग्य हो जाता था तब राजगद्दी पर बैठता था। किन्तु हमारे प्रजातंत्र में किसी पद से मां हटती है तो उसका बेटा पदासीन होता है और पति हटता है तो पत्नी सुशोभित हो जाती है। इतना ही नहीं बल्कि प्रजातंत्र के दो आधार या पैर होते हैं- कर्तव्य और अधिकार। हमलोगों ने अपने प्रजातंत्र का एक पैर तोड़ डाला है और यह लंगड़ा हो गया है। क्योंकि हमलोग केवल अधिकार की बातें करते हैं, कर्तव्य की नहीं। हमलोग रोज हड़ताल करते हैं, भूख हड़ताल करते हैं, चक्का जाम करते हैं, कार्यालयों में ताले लगाते हैं, कभी-कभी आग भी लगाते हैं, पर क्यों? सिर्फ अधिकार के लिए। ऐसा कहीं भी और कभी भी नहीं देखा गया कि लोग यह मांग करते हों कि हमारा अमुक कर्तव्य है, इसे करने दिया जाए, हमें कर्तव्य से वंचित न रखा जाए। इसके फलस्वरूप स्वतंत्रता के ६६ वर्षों के बाद भी हम गरीब हैं, हमारी समस्याएं उसी तरह हैं जैसी पहले थीं। क्योकि निष्काम कर्म का सिद्धान्त तो बिल्कुल उलट गया है। कृष्ण का कथन है - कर्म करो, फल की चिन्ता मत करो। हमलोग कहते हैं कि फल ही पर तो हमारा अधिकार है, कर्म हमारे लिए अर्थहीन है। बिना कर्म किए ही फल के अधिकारी हैं। यहाँ पर मार्क्स की बात याद आती है। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद (वाद, प्रतिवाद, संवाद) के सिद्धान्त को अपने भौतिकवाद में लागू किया और कहा कि हेगेल का सिद्धान्त (द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद) सिर के बल खड़ा था, मैंने उसे पैरों

के बल खड़ा कर दिया है। तात्पर्य यह है कि अब वह चल सकता है। उसमें गति हो सकती है। परन्तु दुःख की बात यह है कि हमलोगों ने कृष्ण के निष्काम कर्मयोग को जो पैरों के बल खड़ा था उसे सिर के बल खड़ा कर दिया है। वह गतिहीन हो गया है। इस प्रकार हमारे प्रजातंत्र में निष्काम कर्मयोग असफल है।

साम्यवादी दृष्टिकोण

साम्यवादी विचारकों का मानना है कि निष्काम कर्मयोग से पूँजीवाद को समर्थन मिलता है। पूँजीवाद में पूँजीपति मजदूरों से कहता है कि तुम काम करो, तुम्हें सिर्फ काम ही करना है, अतिरिक्त मूल्य या मुनाफा पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। उसी तरह निष्काम कर्म का सिद्धान्त कहता है कि कर्तव्य करो, फल पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि मजदूरों की सहायता करते हुए मार्क्स ने यह कहा है कि अतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपति तथा मजदूर के बराबर के अधिकार हैं। क्योंकि श्रम से ही मूल्य उत्पन्न होता है। लेकिन हमारे यहाँ तो कोई मानने को तैयार नहीं है कि कर्तव्य से अधिकार उत्पन्न होता है। अतएव हमारे यहाँ निष्काम कर्मयोग असफल है।

समाजवादी दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण हमें कुछ आशाजनक लगता है। इसकी जानकारी हमें न किसी समाजवाद के ग्रन्थ से और न किसी समाजवादी नेता के भाषण से हुई, बल्कि प्रख्यात जैन सन्त आचार्य तुलसी के वक्तव्य से हुई। उन्होंने निष्काम कर्म का विश्लेषण करते हुए कहा कि फल पर तेरा अधिकार नहीं है से तात्पर्य है कि फल पर सिर्फ तेरा ही अधिकार नहीं है, बल्कि सबका है, पूरे समाज का अधिकार है। उन्होंने अपने कथन का समाजवादी दृष्टिकोण नामकरण नहीं किया किन्तु मुझे ऐसा लगा कि उनके विचार को समाजवादी दृष्टिकोण कहना उचित होगा और तब से मैं इस विश्लेषण को प्रस्तुत नाम से सम्बोधित करता आ रहा हूँ। आचार्य तुलसी के विचार से यद्यपि मैं सहमत हूँ फिर भी इस पर मैंने स्वतः तर्क-वितर्क किया है जो इस प्रकार है-

श्रीकृष्ण सर्वज्ञ माने जाते हैं। उन्हें मानव स्वभाव का बोध नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसका मतलब है कि मानव स्वभाव को समझते हुए उन्होंने निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन किया है। महाभारत में ही कहा गया है कि कर्मफल अपने कर्ता को उस तरह पहचानता है जिस तरह एक बछड़ा अपनी मां को पहचानता है। कर्म सिद्धान्त यह मानता है कि कर्मफल कर्ता को देर या जल्द, वर्तमान जन्म में या भविष्य जन्म में अवश्य मिलता है। ऐसी हालत में कर्ता को कर्मफल से अलग कैसे किया जा सकता है। महाभारत काल भारतीय संस्कृति का सबसे विकसित काल माना जाता है। उस समय के लोग हमलोगों से ज्यादा समझदार थे। अतएव कृष्ण ने सूत्र रूप में कह दिया कि कर्मफल पर तुम्हारा अधिकार नहीं है और उन्होंने ऐसा माना कि इस सूत्र में जो सन्निहित अर्थ है उसे लोग अवश्य समझ लेंगे। अर्थात् व्यक्ति के कर्मफल पर सबका अधिकार है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं- सुखद और दुःखद। सुखद फल को लेने के लिए तो सभी तैयार होंगे, लेकिन क्या दुःखद फल के भागीदार भी सभी लोग होंगे? हाँ! इसमें कोई शक नहीं कि सुखदफल के साथ दुःखदफल का भागीदार भी सबको बनना होगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि विनोबा भावे के ग्रामदान से होती है। ग्रामदान में ग्राम की सारी सम्पत्तियाँ ग्राम संगठन को दान कर दी जाती हैं। व्यक्ति को उसकी पारिवारिक संख्या के अनुसार अस्थायी ढ़ंग से जमीन दी जाती है जिसमें से वह ईमानदारी के साथ काम करता है और अपने भोजन के लिए वह अन्न प्राप्त करता है और सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। लेकिन किसी विशेष परिस्थिति में ग्राम संगठन उसकी सहायता करता है। कोई बीमार है, बेटे-बेटी की शादी है, बच्चों की पढ़ाई है, इन सब की व्यवस्था ग्राम संगठन करता है। इतना ही नहीं बल्कि व्यक्ति से समाज बनता है यानी व्यक्ति समाज का अंग होता है। इसलिए व्यक्ति का अच्छा-बुरा जो कुछ है वह समाज का है और समाज का जो कुछ भी है वह व्यक्ति का है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी क्षमता के अनुसार ईमानदारी से काम करें और समाज उसे यथोचित फल देगा। इस तरह फल के प्रति व्यक्ति को मोह नहीं होगा और निष्काम कर्म सिद्धान्त का पालन होगा।

***

ओशो मत में नया मानव

विजय कान्त दुबे

ओशो एक रहस्यवादी संत हैं, जो महावीर, बुद्ध आदि की परम्परा में आते हैं। अपने जीवन काल में वे विवादों से घिरे रहे, परन्तु अब वर्तमान में उनके प्रति लोगों में रूचि बढ़ती जा रही है तथा भारत एवं पश्चिमी देशों में अनेक कम्यून (Commune) कार्यरत हैं जो उनकी देशनाओं के अनुरूप कार्य कर रहे हैं। एक शिक्षक के रूप में अपने जीवन को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने भारत में तथा उसके बाहर विभिन्न स्थानों पर साधना-शिविरों के माध्यम से अपने व्याख्यान देकर लोगों को आकर्षित किया। उनका मूल कार्य व्यक्ति की उसकी निजता में चेतना के शिखर पर पहुँचने हेतु मार्गदर्शन देना रहा है। उन्होंने समाज के विभिन्न पहलुओं- सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि पर अपने प्रवचन दिए हैं जिसका अपना विपुल साहित्य है और जिसका अनुवाद विश्व की कई भाषाओं में हुआ है। जिसके कारण विश्व में अनेक राष्ट्रों में इनका प्रचार-प्रसार काफी तीव्र गति से हुआ।

ओशो स्वयं को असामाजिक कहते हैं। उनका कथन है कि समाज एक सम्मिलित षण्यंत्र की व्यवस्था है जो व्यक्ति को अपने अनुरूप चलने को मजबूर करती है। समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता गौण है और ऐसा व्यक्ति जो समाज के विचारों को मानकर नहीं चलता उसे वहिष्कृत कर दिया जाता है। उनका मत है कि समाज की अपनी कोई चेतना नहीं होती, वह भीड़ की मानसिकता से कार्य करती है, जिसमें व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं रह जाता। मनुष्य एक चेतना की भाँति पैदा होता है न कि किसी धार्मिक या सामाजिक संस्था के सदस्य- हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई अथवा किसी विशेषण के साथ। ओशो कहते हैं कि आदमी को केवल आदमी बनाओ न कि किसी संस्था का सदस्य। वस्तुतः व्यक्ति जैसा कि ओशो कहते हैं- 'धर्म प्राण होते हैं, देश नहीं, जातियाँ नहीं, समूह नहीं, संगठन नहीं, सिर्फ व्यक्ति। यह तो व्यक्ति की गरिमा है। तुमको कभी विचार नहीं हुआ कि पहले प्राण तो हो, धार्मिक हों, अधार्मिक हों मगर प्राण तो हो।'[१]

समाज व्यक्ति को एक ढांचा देता है, जहाँ उसकी स्वतंत्रता का हनन होता है अर्थात् व्यक्ति को अपनी सीमा में अवरुद्ध करता है। जीसस को इसलिए शूली दी जाती है, क्योंकि वे समाज की मान्यताओं के अनुकूल नहीं चले। समाज निपुणता (Efficiency) चाहता है। उसमें व्यक्ति को मशीन बना दिया जाता है। जबकि वह स्वयं साध्य होता है उसके विभिन्न उद्देश्यों, अभिलाषाओं, इच्छाओं, मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु समुदाय, समाज आदि का निर्माण होता है, क्योंकि ये सब उसके साधन हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वास्तविक सत्ता तो व्यक्ति की सत्ता होती है, परन्तु समाज, जो स्वयं एक संघ है, संगठन है, जिसमें भले ही सहयोग देने वाले व्यक्ति, जैसा कि समाज दार्शनिक गिडिंग्स मानता है, परस्पर सम्बन्धित हैं, परन्तु यह कहीं न कहीं मानव स्वातंत्र्य बाधित करता है और व्यक्ति के स्वतंत्र चिन्तन एवं स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करता है।

प्रश्न उठता है कि क्या इस स्थिति में समाज को नकार दिया जाए? ओशो ऐसा नहीं मानते कि व्यक्ति समाज को नकार दे अथवा उसका विरोध करे, क्योंकि ऐसा करना प्रतिक्रियात्मक हो सकता है। अमेरिका का हिप्पी सम्प्रदाय समाज का विरोधी है। सामाजिक परम्पराओं का अनुपालन न करना उनका कर्तव्य है। ओशो इसका समर्थन नहीं करते, परन्तु कोई समाज व्यक्ति की आत्मा, उसके स्वातंत्र्य का हनन करे, वे इसके भी समर्थक नहीं हैं। यदि समाज की व्यवस्था व्यापक

दृष्टि रखे तो एक हिन्दू कुरान तथा बाइबिल को स्वतंत्र रूप से पढ़ सकता है। परन्तु समाज और धर्म तथा सामाजिक संस्थाएं हमें संकीर्ण शिकंजों में बाँध देते हैं और संस्कारगत व्यक्ति उस चौखटे के बाहर नहीं आ पाता। ओशो का मत है कि अब मनुष्य इसके बाहर आना चाहता है। वे इसके पक्षधर हैं कि व्यक्ति को समाज के पक्ष या विपक्ष में नहीं जाना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर वह समाज के पक्ष में रह सकता है और विपक्ष में भी। इसमें उसे अपनी बौद्धिक क्षमता को उपयोग में लाना चाहिए। कभी समाज बुद्ध एवं ईसा जैसे व्यक्तियों के साथ नहीं होता, क्योंकि समाज उन्हें उपादेय नहीं मानता। एक व्यक्ति जो आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, जिसका धन में, पद में, प्रतिष्ठा में कोई रूचि नहीं है, जैसा कि बुद्ध, महावीर, ईसा को इससे कोई मतलब ही नहीं था, ऐसे व्यक्ति समाज के लिए अनुपयोगी हैं। यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि क्या ओशो ऐसे समाज को नकार देना चाहते हैं अथवा इसके सुधार हेतु कोई उपाय देते हैं? क्या वस्तुतः उनके पास इस समस्या का समुचित समाधान है? क्या समाज के सुधारवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य विकल्प भी हैं? इस प्रकार क्या समाज में कोई क्रांतिकारी कदम उठाकर इसे दूर किया जा सकता है अथवा इसके प्रति विद्रोह के रूप में कोई समाधान हो सकता है? यदि विद्रोह ही हो तो उसका क्या स्वरूप होगा? क्या समाज में कोई ऐसा मानव उत्पन्न होगा जो समाज का मार्गदर्शक बने, तो उसका क्या स्वरूप होगा? प्रस्तुत शोध-पत्र में मैं ओशों की दृष्टि में इस समस्या का समाधान देने का प्रयत्न करना चाहूँगा। क्या ओशो इसमें समाज सुधारक (Reformer) क्रांतिकारी (Revolutionist) अथवा विद्रोही (Rebellion) का समर्थन करते हैं अथवा समाज के पथ-प्रदर्शक के रूप में किसी नव-मानव (New Man) को भी स्वीकार करते हैं।

ओशो ने सदा ही समाज की तुलना में व्यक्ति को प्राथमिकता दी है। वस्तुतः समाज अपने आप में अस्तित्व ही नहीं रखता, क्योंकि जिसे हम समाज कहते हैं वह मनुष्यों की भीड़ मात्र है। यह समूह का नाम है। इसका मूल अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समाज की कोई आत्मा नहीं होती। ओशो का दृष्टिकोण वैयक्तिक है, क्योंकि इन्हीं व्यक्तियों में ही आत्मा है। उन्हीं में विकास, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन संभव है। यदि समाज में परिवर्तन या सुधार करना है, तो व्यक्ति में ही यह बदलाव कर लें। ओशो द्वारा इस दृष्टिकोण की प्रस्तुति का लक्ष्य मानव-स्वातंत्र्य है। मनुष्य को अपनी चेतना का विकास करना है। इसके लिए उन्होंने मानव चेतना के तीन स्तरों की विवेचना की है- सुधारवादी, क्रांतिकारी एवं विद्रोही। सुधारवादी नए विचार प्रदान करता है, क्रांतिकारी नया ढांचा देता है और विद्रोही नयी चेतना, एक नया मानव, एक नई सत्ता प्रदान करता है। अब प्रश्न है कि इन तीनों कर्मों में किसे उत्कृष्ट माना जा सकता है और हम ओशो को किस वर्ग में रख सकते हैं? इनकी उचित व्याख्या के माध्यम से ही इन प्रश्नों के दिए जा सकते हैं।

ओशो का लक्ष्य है नव मानव का सृजन, जो प्राजिक मानव और वैचारिक रूप से उसके भद्देपन को नष्ट करने से ही संभव है। इसके लिए उसके सड़े-गले आदर्शों (Rotten Ideologies), संकीर्ण या भेदात्मक दृष्टिकोण एवं जड़वत् अन्धविश्वासों के बन्धन से मुक्त कर उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के नव मानव का सृजन आवश्यक है। परन्तु यह केवल बाह्य सुधारवादी प्रक्रिया से सम्भव नहीं है, क्योंकि सुधार केवल एक प्रकार का ऐसा रूपान्तरण है, जिसमें केवल बाहरी दीवार की ही लिपाई-पुताई कर दी जाती है अथवा कुछ खिड़कियों एवं दरवाजों को सुधार दिया जाता है। ओशो कहते हैं कि सुधार प्राचीन समाज को नए रंग रंगने का प्रयास मात्र है। परन्तु इसका प्राचीन ढांचा जर्जर ही बना रहता है। तात्पर्य है कि यह नितान्त अस्थायी व्यवस्था है और चेतना के विकास का अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण। सुधारवादियों का यह दावा कि समाज को बदल दिया गया है, मात्र दिखावटी है। क्या मात्र बाह्य सभ्यता के परिवर्तन या उसके बाह्य आवरण में सुधार के माध्यम से व्यक्तित्व का सम्पूर्ण सुधार सम्भव है? यह तो मात्र छलावा है। इससे व्यक्ति या समाज का अन्तःकरण परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि बाह्य ढांचे को चमकाकर उसके विकृतिहीन रूप को चिकना तो बनाया जा सकता है, परन्तु यह मात्र अस्थायी विकल्प है। जहाँ तक ओशो का प्रश्न है, वे इस प्रकार के अस्थायी सुधारक नहीं हैं, क्योंकि यह तो केवल छद्म स्वरूप का सृजन है, वास्तविक नहीं।[3] इस प्रकार के सुधारकों की संख्या काफी अधिक है, किन्तु

वास्तविक सार्थकता अत्यन्त अल्प।

ओशो मानते हैं कि इस प्रकार का व्यक्ति अत्यन्त सरल, सहज एवं विनम्र रूप में समाज सुधारना चाहता है। भारत में समय-समय पर विभिन्न समाज-सुधारकों ने ऐसा प्रयास किया है। अन्य सुधारकों के साथ ओशो इस श्रेणी में महात्मा गाँधी, आचार्य मनु एवं मूसा को रखते हैं।[४] यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि ये सभी समाज के ऐसे स्तम्भ रहे हैं, जिन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था को अपने-अपने मताग्रहों से सदैव ही एक उचित दिशा दी है। इन्होंने कभी भी किसी का सामान्य रूप में विरोध नहीं किया। परन्तु ओशो इससे सहमत नहीं हैं। उन्होंने इन्हें समाज का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति स्वीकार तो किया है, क्योंकि उनके आदर्श चाहे वे अहिंसा सम्बन्धी हों, जो गाँधी का मत है, नवीन सामाजिक ढांचा दिया हो जो तत्कालीन समाज के लिए एक आदर्श रहा हो, जो आचार्य मनु की देन थी अथवा वे दस आदर्श जो सामाजिक संचालन में परमादेश के रूप में मूसा द्वारा माने गए थे, परन्तु तटस्थ रूप से यह कहा जा सकता है कि इनके आदर्श स्थायी रूप से सार्थक नहीं हो सके। ओशो ने इन्हें केवल तात्कालिक अर्थात् भूतकाल का आदर्श माना। वे कहते हैं कि गाँधी का अहिंसावादी मत तो उनके जीवन काल तक ही सीमित रहा। भारत के विभाजन के समय लाखों की संख्या में हत्यायें हुईं और उन्हीं के आदर्शों के विरोध में उनकी स्वयं की हत्या हुई। वर्तमान समय में मनु के आदर्शों का भरपूर विरोध उसके अस्थायीपन को दिग्दर्शित करता है। एतदर्थ सुधारवादी दृष्टिकोण मात्र यत्र-तत्र किया गया जोड़ मात्र (Patchwork) है, बल्कि यह कहा जाए कि यह एक औपचारिकता मात्र है तो अनुचित नहीं होगा। ओशो स्वयं कहते हैं, 'यह समाज को झूठा आश्वासन देता है, न कि मौलिक ढाँचों का निर्माण।'[५] परन्तु यह अवश्य है कि यह एक क्रांतिकारी मार्ग प्रशस्त करता है।

मानव चेतना के इतिहास में दूसरा क्रांतिकारी वर्ग है- प्रतिक्रियावादियों का। जिस चेतना से सुधारवादियों ने समाज के बाह्य ढाँचे को सुधारने का प्रयास किया था, क्रांतिकारी विचार के समर्थकों ने उसका निषेध किया और प्रतिक्रिया स्वरूप सुधारवादियों के बाह्य ढाँचे को ही बदल दिया। क्योंकि वे समाज के आन्तरिक स्वरूप को न तो सुधार पाए और न उनमें कोई परिवर्तन हो पाया। मानव जहाँ था, वहीं रह गया। समाज या राष्ट्र का कानून, आर्थिक व्यवस्था और राजनीति का बाह्य स्वरूप तो बदल गया, परन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप अपरिवर्तनीय ही रह गया। बाह्य रूप में यह केवल राजनैतिक परिवर्तन था, जिसके लिए हिंसा का माध्यम चुना गया। यहाँ इस रूप में मनुष्य की स्वतंत्रता भी बाधित हुई, क्योंकि राज्य के तानाशाही स्वरूप का यही परिणाम होता है। यह स्वाभाविक है कि कोई भी क्रांति अपने प्राचीन धरोहर को नष्ट करती है, तथापि उसमें कहीं न कहीं विश्वास की भावना रहती है, भले ही यह विश्वास पवित्र बाइबिल या कुरान के प्रति न होकर 'दास कैपिटल' के प्रति हो। इसका मुख्य लक्ष्य समाज या राज्य पर नियंत्रण करना है, चाहे इसके लिए हिंसा का रास्ता अपनाएं अथवा अत्यन्त चतुराई, निर्दयी, अनुदार एवं धूर्तता का मार्ग ही क्यों न हो, क्योंकि इसके अभाव में उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। इतिहास गवाह है कि चाहे किसी प्रकार की क्रांति क्यों न हो- रूसी, चीनी या अन्य, उसका प्रतिफल यही होता है। ओशो ने इस वर्ग में मार्क्स, एंजिल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ आदि को सम्मिलित किया है। इस प्रकार यहाँ यह माना जा सकता है, जैसा कि ओशो का अभिमत है कि क्रांति का समर्थक कभी भी सकारात्मक नहीं होता। वह समाज के वर्तमान आर्थिक ढाँचे को अथवा अपने पूर्व के राजनैतिक स्वरूप को स्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं कि यह अन्यान्य मतों का विरोधी है, उसका सम्पूर्ण जीवन निषेधात्मक है वह धर्म, ईश्वर व आत्मा का निषेध करता है।

इस रूप में केवल क्रोध, ईर्ष्या, घृणा और विध्वंस का रास्ता ही दिखता है। इसलिए वे इसके-उसके सबके विरोध व निषेध में हैं। ओशो कहते हैं- 'आप हजारों निषेधों के मध्य न तो सुख, शांति तथा आनन्द भाव से रह सकते हैं और न ही शुभ और सुखी जीवन के आकांक्षा ही कर सकते हैं। मात्र एक स्वीकार हजारों निषेध से ज्यादा शक्तिशाली है।'[६]

ओशो क्रांतिकारी पक्ष का समर्थन इसलिए भी नहीं करते कि क्रांतिकारी अपने विचारों को ही अन्य जनों पर थोपना चाहते हैं। क्रांतिकारियों का अन्य किसी पर विश्वास नहीं होता। वे कट्टरवादी धर्म समर्थकों की तरह केवल अपने ही विचार या धर्म को सर्वोपरि एवं स्वीकार करने योग्य मानते हैं तथा अन्यों को वे एक विरोधी की तरह देखते हैं। संकीर्णता के

कारण ओशो इन दोनों को स्वीकार्य योग्य नहीं मानते और न ही इनका किसी भी रूप में समर्थन ही करते हैं। क्रांति का समर्थक मत साम्यवाद भी एक प्रकार का ऐसा ही धर्म है जो वास्तविक धर्म और ईश्वर का विरोधी है। ओशो मानते हैं कि क्रांतिकारी विचारों के समर्थक इसलिए भी सफल नहीं हो पाते कि वे अकेले नहीं रहते और न वे मानव स्वातंत्र्य को ही स्वीकार करते हैं। वे सदा एक संगठन में विश्वास रखते हैं। वे भीड़ चाहते हैं, राजनैतिक वर्चस्व चाहते हैं, अपनी सरकार चाहते हैं और इन सबके पीछे उनका लक्ष्य है- सत्ता (या शक्ति) की प्राप्ति। इस तथ्य से, जैसा कि ओशो भी मानते हैं, हम सभी परिचित हैं कि सत्ता भ्रष्ट बनाती है और पूर्ण सत्ता पूरे तरह से भ्रष्ट करती है। (Power corrupts and absolute power corrupts absolutely)।[७] इन सब विचारों से यह स्पष्ट होता है कि इस रूप में न तो समाज का ढाँचा ही बदलता है और न तो व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता ही मिल पाती है। समाज का ढाँचा वही रहता है, वही पुराना ढाँचा जो नए ढाँचे के पीछे छिपा रहता है।

ओशो का मत है कि यह विश्व अब कोई क्रांति नहीं चाहता। विश्व का भविष्य एक नई आशा लिए हुए है, और वह है एक नवीन एवं व्यापक दृष्टि का एक नया मानव। वह विद्रोही है, परन्तु उस विद्रोही को जीवन और जगत् से विद्रोह करने वाला नहीं मानना चाहिए। वह सकारात्मक व्यक्तित्व है, वह इस जगत् की नई सुबह तथा प्रकाश है, एक नया प्रकाश। इसका तात्पर्य पूर्व की मृत्यु और नवीन की उत्पत्ति अर्थात् विद्रोही की उत्पत्ति पूर्व मान्यताओं की समाप्ति पर ही है। ओशो ने कहा है कि 'विद्रोही सभी के परिवर्द्धन का बीज है।'[८] विद्रोही का अर्थ है, मानव की पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण प्रेम और पूर्ण सर्जनात्मकता जिसको कुछ साहित्यकारों, दार्शनिकों और रहस्यवादियों ने कल्पना कहा है। लेकिन यह मात्र कल्पनात्मक आदर्श नहीं है, वास्तविकता है जो मानव में निहित है। परन्तु वह सामान्य मानव से भिन्न एक नयी दृष्टि, नए मूल्य का मानव है जो अपना अलग वर्ग स्थापित करता है। यह मानव की पूर्ण स्वतंत्रता लिए हुए होता है, अर्थात् किसी भी समाज एवं सम्प्रदाय से बंधा हुआ नहीं होता। वह न हिन्दू है, न मुसलमान, न बौद्ध, जैन या ईसाई ही। वह नैतिकता के नए नियम स्थापित करता है। उसके लिए धर्म कोई विश्वास नहीं, अपितु जीवन का एक मार्ग होता है। वह प्रेम सद्भाव एवं मैत्रीपूर्ण भाव से सुसज्जित है, जो बिना किसी सीमा का एक नया जगत् है, वह क्रिया में तो विश्वास करता है, परन्तु प्रतिक्रिया में नहीं।[९]

एतदर्थ, विद्रोही किसी आस्था विशेष, चाहे ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी में सीमित नहीं किया जा सकता। उसे स्वयं अपने अनुभव पर विश्वास है, न कि किसी अवतारी पुरुष, मसीहा, मार्गदर्शक अथवा धर्मग्रन्थ पर। यही तो उसकी स्वतंत्रता एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। किसी का अनुयायी बनना या नकल करना तो मात्र संकीर्णता है। विद्रोह इनसे परे है। नवीन दृष्टिकोण ही उसका दर्शन है और जागरूकता ही उसका जीवन-दर्शन।[१०] वह न तो किसी के जीवन में हस्तक्षेप करता है और न स्वयं में हस्तक्षेप चाहता है। वह ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी या अज्ञेयवादी भी नहीं बनना चाहता है। वह एक नई दृष्टि देता है। इसलिए उसे एक अबोध (Innocent) व्यक्ति मानना उचित होगा।

ओशो के चिन्तन का आधार है- मनुष्य का बंधन से पूर्ण मुक्ति (Total freedom)। यहाँ तक कि धर्म, धार्मिक परम्परा एवं धार्मिक विश्वास के बन्धन या दासता से मुक्ति, क्योंकि इसे वे दासता की श्रेणी में रखते हैं। वे इसे आध्यात्मिक दासता कहते हैं। इसलिए वह अपनी तथा दूसरे किसी की भी परतंत्रता के पक्षधर नहीं हैं। नया मानव तो वर्तमान में सक्रिय चेतना के साथ जीवन बिताता है। उसका न तो भूतकाल के जीवन से कोई मतलब है, क्योंकि वह बीत चुका है और न तो भविष्य से जिसका अभी आधार ही नहीं है। वर्तमान जागृति ही उसका धर्म है, यही दर्शन है और जीवन की राह है। पुनः सत्ता की लालसा या भूख न होने के कारण उसमें किसी प्रकार का विरोध, प्रतियोगिता, ईर्ष्या, द्वेष आदि की भावना भी नहीं है, क्योंकि सत्ता की भूख ही इन्हें जन्म देती हैं। यही कारण है कि विद्रोही का स्वभाव शांतिप्रिय, निर्मल एवं आनन्द की पूर्ण स्थिति है। इस आनन्द की स्थिति में ही अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के लिए वह आकाश में निर्विघ्न उड़ते हुए एक पक्षी की भाँति है जो स्वयं अपनी राह चुनता व बनाता है।

यहाँ एक और प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सभी विद्रोही मनुष्य एक समान ही होते हैं? ओशो ने इस प्रश्न का दोनों- स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक उत्तर दिया है जिससे स्वयं एक अन्य प्रश्न उठ जाता है- समानता की स्थिति जगत् की अनेकता को देखते हुए संभव नहीं दिखती एवं निषेधात्मक अर्थात् असमान मानने पर विद्रोही के दो वर्ग स्वीकार करने होंगे। इसीलिए ओशो ने उसे समान अवसर देने की बात तो कही परन्तु इन्हें असमान या बेजोड़ रहना भी स्वीकारा। विद्रोही स्वयं अपने स्वभाव के अनुसार अपने को विलक्षण बना सकता है। असमानता की स्थिति में वे किसी बागवानी में अन्यायन्य रंग-बिरंगे खिलते हुए फूलों की तरह रहेंगे और जगत् को सुगन्धित करते रहेंगे।[११]

एतदर्थ, विद्रोही ही वास्तविक आध्यात्मिक सत्ता है जो किसी भी समुदाय, संघ, मजहब, जाति, पंथ, संगठन का नहीं होता। वह किसी पारम्परिक दर्शन से भी सम्बन्धित नहीं होता। उसका स्वयं अपना जीवन दर्शन होता है। उसका शरीर उसका स्वयं का अपना मंदिर है जो अत्यन्त पवित्र है। यह देवत्व से परिपूर्ण मानव ही नया मानव है, विद्रोही है, जो नवीन दृष्टि, एक नयी दिशा एवं नए मूल्य का वाहक है। इससे ही उसका देवत्व चमकता है जो सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् है।[१२]

ओशो ने बुद्ध, महावीर, जीसस, जरथूस्त्र, अरस्तू, हेरेक्लिटस, जे. कृष्णमूर्ति को विद्रोही की श्रेणी में रखा है। इतना ही नहीं वे स्वयं भी विद्रोही बनना चाहते हैं और कहते हैं कि मैं विद्रोही की शिक्षा देता हूँ, क्योंकि पूर्ण पवित्रता में ही आध्यात्मिकता है।[१३]

ओशो ने विद्रोही को भी भविष्य की आशा कहा है, क्योंकि यही नया मनुष्य है। यह नया मनुष्य, जो सत्य का अन्वेषी है, स्वतंत्र रूप से बन्धन रहित होकर नया आदर्श, नयी सोच व नयी दृष्टि रखता है, शांति व प्रेम रखता हुआ बढ़ता है। वह किसी व्यक्ति अथवा समाज का विरोधी नहीं अपितु सब में प्रेम रखता हुआ नयी मानवता का निर्माण करता है जो मनुष्य को प्रेम, लगनशीलता, श्रम, समझदारी और करुणा आदि गुणों से पूर्ण कर देगा।

प्रश्न है कि ऐसा भविष्य जो सुख, शांति, प्रेम, सद्भाव, व्यापक दृष्टिकोण से युक्त होगा तो उसका स्वरूप क्या होगा? ओशो का मत है कि 'वह नया मनुष्य' Zorba The Buddha है। उन्होंने कहा कि यह विद्रोही ही 'Zorba The Buddha' है।[१४] ('Zorba The Buddha is the new man, is the Rebel') वह मनुष्य के उस विरोध को समाप्त कर देता है, जो भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के मध्य देखा जाता है, क्योंकि मानव केवल भौतिक या आध्यात्मिक तत्त्व बनकर नहीं रह सकता। भौतिकता चेतना का बाह्य रूप है और चेतना भौतिकता का आंतरिक रूप इनमें से कोई भी अवास्तविक और दूसरा वास्तविक नहीं हो सकता। ये दोनों ही वास्तविक हैं और दोनों मिलकर पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। यह पूर्णता ही ऐसी ऊर्जा है जिसमें भौतिकता एवं आध्यात्मिकता दो दृष्टियाँ हैं। वह ऊर्जा शुद्ध या पवित्र होकर सूक्ष्म रूप में अपने को चेतना या आध्यात्मिकता के रूप में व्यक्त करती है और स्थूल, अशुद्ध एवं घने रूप में यही जड़ कहलाती है। इस विश्व को इन दोनों की आवश्यकता है। यही पूर्ण अस्तित्व एवं पूर्ण संयुक्त शक्ति है। एतदर्थ इन दोनों का समन्वय आवश्यक है। तभी वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर समस्त फूलों में, सभी खूबियों में, तारों से भरे आसमान में दिखाई देगा। यह नया मनुष्य 'Zorba The Buddha' विश्व के सम्पूर्ण अस्तित्व को अपने घर की तरह देखेगा, जिसमें कोई विरोध नहीं, कोई संघर्ष नहीं और कोई ईर्ष्या नहीं होगी। पृथ्वी पर प्रत्येक स्थान पर खुशियाँ एवं आनन्द ही होगा। इसमें भारत का उच्चादर्श वसुधैवकुटुम्बकम् का भाव प्रतिबिम्बित होता है।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या Zorba अर्थात् भौतिकवादी दृष्टि और Buddha अर्थात् अध्यात्मवादी दृष्टि का समन्वय सम्भव है, जैसा कि ओशो ने किया है? वैसे तो ओशो इसे कोई दर्शन नहीं मानते हैं। इसलिए इसे गम्भीर तार्किक स्वरूप नहीं प्रदान करते हैं, यह तो उनका अनुभव है। उन्होंने अँधे-लँगड़े के उदाहरण के माध्यम से इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्होंने Zorba की खुशी, उसका गाना, उसका आनन्द माना है तो Buddha का बुद्धत्व उसकी पवित्रता एवं उच्च आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा भाव का समन्वय है। वे मानते हैं 'Zorba The Buddha' के समन्वय में ही सम्पूर्ण मानवता की रक्षा हो सकती है। यह समन्वय ही भविष्य की आशा, भविष्य का धर्म है। जहाँ तक

भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के समन्वय का प्रश्न है, भले ही ओशो किसी चिन्तक, सन्त या रहस्यवादी को इसके समन्वयक के रूप में स्वीकार न करते हों परन्तु समकालीन भारतीय चिन्तक श्री अरविन्द ने भी इस समन्वय को स्वीकार किया है। परन्तु उनकी दृष्टि तात्त्विक एवं तार्किक रही है। इसके समन्वय में भी उन्होंने सच्चा अद्वैत स्थापित किया है। उनके मत में भौतिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्व में से किसी का भी नकारा नहीं जा सकता है। उनका अद्वैतवाद न तो जगत् की यथार्थता का निषेध करता है और न तो व्यक्ति या चेतना की यथार्थता का ही। वे सत्ता के दोनों पक्षों- नित्य सत्ता और नित्य मिथ्यात्व, ब्रह्म और अब्रह्म, आत्मा और अनात्मा (जड़) को अपने सर्वग्राही एकता में समाविष्ट करते हैं,[१५] परन्तु जहाँ तक ओशो की भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के समन्वय से युक्त 'नव मानव' के स्वरूप का प्रश्न है, इसकी तुलना कुछ सन्दर्भों में, श्री अरविन्द के अतिमानव 'Superman' जिसे उन्होंने भी 'The hope of man' कहा है, से की जा सकती है। यद्यपि श्री अरविन्द का अतिमानव ओशो के नव मानव से काफी भिन्न है, क्योंकि जहाँ श्री अरविन्द अतिमानसिक चेतन प्राणी को अतिमानव कहते हैं, वहीं ओशो दूसरी तरफ नव मानव में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के व्यावहारिक समन्वय में विश्वास करते हैं। परन्तु यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दोनों चिन्तकों की दृष्टि में भले ही समानता प्रतीत होती है, किन्तु दोनों के दार्शनिक सन्दर्भों में काफी अन्तर है, जिसकी व्याख्या इस आलेख की अपनी सीमा के कारण यहाँ सम्भव नहीं है।

यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि इस प्रकार नव मानव की ओशो की दृष्टि स्वयं ओशो में देखी जा सकती है। उनका स्वतंत्र चिन्तन, एक नई दृष्टि, नया आदर्श, मानव एवं भविष्य की नई अवधारणा लिए हुए है। इसलिए वे किसी धर्म या दर्शन से बँधे हुए नहीं हैं और न तो वे किसी के अनुयायी ही हैं। वे स्वयं विद्रोही हैं, जिन्होंने स्वयं अपने प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने का प्रयास किया है। यही जीवन की एक नई दृष्टि है और नई आशा भी। इन दृष्टियों से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ओशो समाज सुधारक या क्रान्तिकारी नहीं है, वे विद्रोही हैं, नया मानव के रूप एक नये दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जगत् में सर्वत्र एक नवचेतना का प्रकाश भरने में सक्षम हैं।

सन्दर्भ:

१. *अनन्त की पुकार (पत्रिका), दीपक बारानाम से उद्धृत, ७ मई २०१०, पृ. १२*

2. *Osho, The Rebel, chap. 1 (The very Essence of Religion), p. 3*

3. *Osho, I say unto you, vol. 2, (man is an empty temple), p. 3*

4. *Ibid, p. 124*

5. *Ibid, p. 127*

6. *Osho, From Bondage to Freedom, chap. 37 (Doubt is absolutely), p. 430*

7. *Osho, The Rebel, chap. 1 (The very Essence of Religion), p. 3*

8. *Osho, The Rebel, chap. 6 (Herald a new dawn), p. 54*

9. *Ibid, 56*

10. *Osho, The Rebel, chap. 4 (The Rebel is utterly innocent), p. 37*

11. *Osho, The Rebel, chap. 20 (The Rebel has no path), p. 196*

12. *Ibid*

13. *Osho, From Baodage to Freedom, chap. 37 (Doubt is absolutely okay), p. 428*

14. *Osho, The Rebel, ch 8 (Zobra the Buddha- man of the future), p. 74*

15. *Sri Aurobindo, The life Divine, p. 70*

***

विज्ञान, धर्म एवं मानवमुक्ति का सवाल

सुधा चौधरी

प्रबोधनकाल की घोषणा मानव सभ्यता एवं उसकी वैचारिक दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण परिघटना थी जिसका प्रखर स्वर विज्ञान था। विज्ञानसम्मत ज्ञानमीमांसा ही मानव की संज्ञानात्मक दुनिया की अधिकारिक उपागम बनी। इसके प्रणेता रेने देकार्त, मालब्रांश, स्पिनोजा, दिदेरो, हॉलबाक, लाइबनित्ज जैसे बुद्धिवादी चिंतकों ने प्रकृति, समाज एवं विचार को देखने-समझने के लिए वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा को आधार बनाया। बुद्धिवाद ने वैज्ञानिक प्रकृति का रास्ता खोला। वस्तुनिष्ठता, सार्वभौमिकता, निश्चितता एवं तार्किकता को यथार्थ के मापदण्ड के रूप में देखा गया। इन चिंतकों ने घोषणा की कि विज्ञान सैद्धान्तिक ज्ञान का उच्चतम रूप है और बुद्धि उच्चतम वैज्ञानिक प्रमाण। जो विश्वास, मान्यताएँ, परम्पराएँ तर्कबुद्धि से मेल नहीं खाती हैं, वे त्यागने योग्य हैं। बुद्धिवादियों की 'यथार्थ' के प्रति यह दृष्टि एक तरह से पांडित्यवाद, आस्थावाद व रहस्यवाद के खिलाफ संघर्ष का आह्वान थी। कांट ने 'शुद्धबुद्धि की मीमांसा' पुस्तक के माध्यम से वैज्ञानिक तर्कवाद को और अधिक विकसित कर मनुष्य के वयस्क होने की घोषणा कर डाली।[1] जो 'ज्ञान' को 'साहस' का पर्याय मानते हुए एक विशेष प्रकार का समाज, विशेष ढंग से मनुष्य बनने की परिकल्पना भी थी। यह विज्ञान द्वारा अज्ञान का अंधेरा दूर करने और इस दुनिया को बेहतर बनाने की विजय भाववाली दृष्टि भी थी जिसने वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रौद्योगिकी उपलब्धियों के आधार पर एक नई वैचारिक दुनिया खड़ी कर दी।

इस बुद्धिपरक तर्काधारित 'ज्ञानोदय' की संकल्पना के गर्भ से जो विश्वदृष्टि जन्म ले रही थी वह अपने मूल चरित्र में धर्म एवं उसकी तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं पर निर्मम चोट करने वाली थी। मानवता ने यह उम्मीद लगायी कि विवेक एवं विज्ञान के जरिए समाज सकारात्मक दिशा में बदलेगा। आलोचनात्मक दर्शन के माध्यम से वह न केवल धर्म के कुहासे से बाहर निकलकर धर्माधारित परम्पराओं के वर्चस्व पर निर्णायक प्रश्न खड़े करने में सक्षम होगा, अपितु सामन्ती संस्कृति के पोषक स्थितियों के जनविरोधी चरित्र का उद्घाटन भी करेगा। मानव को यह लगने लगा कि तर्काधारित वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा ब्रह्माण्ड, जीवन, अस्तित्व, परिवर्तन, देश-काल सम्बन्धी अवधारणाओं के मर्म का उद्घाटन करने के साथ-साथ उसकी धर्मनिरपेक्ष दृष्टि वैचारिक जीवन में भी उसे वर्ग, जाति, धर्म लिंगाधारित सामाजिक विषमताओं से मुक्त कर देगी और विज्ञान प्रदत्त वैचारिक खुलेपन से तमाम तरह की वंचनाओं, वर्जनाओं की डरावनी स्थितियां खत्म होंगी। इस प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान एक बेहतर, सुरक्षित व समतामूलक समाज का निर्माण करने के माध्यम के रूप में देखा गया। फ्रांस की क्रांति के स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों में यह प्रतिध्वनि सुनाई दी। जीवविज्ञान व भौतिक विज्ञान में डार्विन, गैलीलियो, लाप्लास, आइन्स्टीन जैसे वैज्ञानिकों ने जीव की उत्पत्ति व संरचना और ब्रह्माण्ड की गतिविधियों सम्बन्धी अनेक पहलुओं का उद्घाटन कर मनुष्य के लिए 'ज्ञेय' बना दिया। वाल्तेयर, दिदेरो, रूसो इत्यादि चिंतकों ने मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, परिवर्तन, विकास जैसी अवधारणाओं की भौतिक जगत् के सन्दर्भों में व्याख्या की। वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा को मनुष्य की सामाजिक मुक्ति का वैचारिक अस्त्र माना गया। चिन्तकों ने यह अपेक्षा की कि व्यक्ति वैज्ञानिक विश्वदृष्टिकोण के आधार पर अपनी सामाजिक दासता, पराधीनता एवं गुलामी के वास्तविक कारणों को देखने की वस्तुनिष्ठ दृष्टि से लैस होगा। सामाजिक मुक्ति हेतु सत्ता संघर्ष से जिरह करने के लिए जिस यथार्थवादी दृष्टि की दरकार है वह विज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

किंतु आज जब इन वैज्ञानिक अपेक्षाओं एवं समतामूलक समाज स्थापना की घोषणाओं ने एक लम्बा सफर तय कर लिया है, और जब हम सामाजिक मनोविज्ञान व व्यवहार में उपस्थिति का आंकलन करते हैं तो स्थिति विपरीत दिखाई देती है। धर्म का प्रभाव हमारे व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक फलक में कम नहीं हुआ है बल्कि सच्चाई तो यह है कि उसका प्रभाव बढ़ा है। जीवन के स्थूल व सूक्ष्म आयामों में धार्मिक चेतना की जकड़न और उसकी आक्रमकता और अधिक सघन व संगठित हुई है।

इस सन्दर्भ में 'धर्म और उसका मानव से रिश्ता' सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं। मसलन क्या कारण है कि विज्ञान की उपलब्धियों का भरपूर उपयोग करने वाला समाज अपने अन्त:करण में विज्ञान को झांकनें की स्वीकृति नहीं देता है? शरीर से जेट की यात्रा करने वाला व्यक्ति मन की गाड़ी को मध्ययुगीन बैलगाड़ी से खींचने में ही अपनी सुरक्षा क्यों देखता है? प्रौद्यौगिक उपलब्धियाँ हमारे जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओं के उपयोग तक ही सीमाबद्ध क्यों हो गईं? वैज्ञानिक चेतना के विकास की सम्भावनाएं क्यों क्षीण पड़ गईं? हमारे आधुनिक जीवन, सोच व व्यवहार में इस विडम्बना व विरोधाभासी स्थितियों के वस्तुनिष्ठ आधार व कारण क्या है? क्या कारण है कि हमारे युग में जब विज्ञान तथा तकनीकी के विकास ने भौतिकवाद की सत्यता की अनगिनत अकाट्य पुष्टियां कर दी हैं, तब भी धर्म का वर्चस्व बना हुआ है?

इन कारणों की सही समझ व दृष्टि जानने के लिए धर्म की तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं को पुन:परिभाषित किया जाए या उसे और अधिक मानवतापरक बनाया जाए, जैसे यूटोपिया पर जोर देने के अपेक्षा उन सामाजिक दशाओं की खोज करने की आवश्यकता है जिनमें धर्म को अपरिहार्य बनाकर पोषित व संरक्षित किया जाता है। इस सन्दर्भ में भारतीय वैज्ञानिक इतिहास के चिंतक प्रफुल्लचन्द राय की दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि 'यदि धर्म के बने रहने का आधार समझना है तो स्वयं को धर्म में तलाश करने की बजाय उसे सामाजिक ढाँचे में खोजने की दृष्टि होनी चाहिए जिसमें विज्ञान द्वारा धर्म के उसके समस्त ज्ञानमीमांसीय दायित्व से मुक्त कर देने पर भी जीवन में उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा है।'[२] 'मानवीय विकास की सबसे प्रारम्भिक अवस्थाओं में धार्मिक विश्वास की उत्पत्ति जहाँ प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्ष में मानव की असहाय स्थिति के गर्भ से हुई थी, वहीं एक अन्तर्विरोधी वर्ग समाज के अन्तर्गत उसकी उत्पत्ति श्रमजीवी जनता के सामाजिक उत्पीड़न तथा शोषकों के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में उसकी प्रत्यक्ष असहायता के गर्भ से होती है।'[३] इस दौर में धर्म की भूमिका में भी एक गुणात्मक परिवर्तन आया। अब धर्म 'व्यक्ति' की आवश्यकता से 'सत्ता' की विचारधारात्मक आवश्यकता बन गया और उसके बने रहने का कारण 'प्राकृतिक' से 'सामाजिक' हो गया। इतिहास बताता है कि भौतिक परिस्थितियों के दबाव में जब सामाजिक सम्बन्धों में बदलाव होता है तो उस देश के धर्म का रूप और स्वरूप भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाता है। भारतीय रसायनशास्त्री प्रफुल्लचन्द राय ने विस्तार स प्रमाणित किया है कि 'किस प्रकार ब्राह्मणवादी वर्णाश्रम व्यवस्था एवं उसके सामन्ती स्वरूप को बनाये रखने में धर्माचार्यों, स्मृतिकारों एवं दार्शनिकों ने आयुर्विज्ञान के विकास को न केवल हतोत्साहित किया अपितु आयुर्वेदाचार्यों को समाज से बहिष्कृत कर उनके निष्कर्ष को विकृत रूप में प्रस्तुत करने का पूरा 'तन्त्र' रचा।'[४] अत: विज्ञान की उपलब्धियों का भरपूर उपयोग करने वाली सामाजिक चेतना की गैर-वैज्ञानिक व्यवस्था की वाहक उन शक्तियों के जनविरोधी चरित्र का पर्दाफाश करने की जरूरत है जो जनगण की वैज्ञानिक चेतना को विकसित न होने देने के लिए लगातार सचेतन संघर्ष कर रही हैं।

वस्तुत: वर्ग, लिंग, जाति, नस्ल की भिन्नताओं पर विभाजित एवं खण्डित सामाजिक यथार्थ में 'सत्तावर्ग' को वैचारिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर एक ऐसी विचारधारा व चेतना की आवश्यकता रहती है जहाँ उसकी सामाजिक श्रेष्ठता, सर्वोच्चता, प्रभुता व विशेषाधिकारों को ब्रह्माण्ड में स्थायी स्थान दिया जा सके और जो सीढ़ीनुमा श्रेणीबद्ध समाज-व्यवस्था को मनुष्य की शाश्वत स्थिति बना दे। 'सत्तावर्ग विचार की इस शक्ति को जानता है कि एक स्तर पर जाकर वैचारिक शक्ति भौतिक शक्ति बन जाती है और जब तक सांस्कृतिक नियन्त्रण यानी वैचारिक नियन्त्रण न किया जाए, आर्थिक और राजनैतिक नियन्त्रण अधूरा रहता है।'[४] सत्तावर्ग की इस विचारधारात्मक आवश्यकता की पूर्ति चेतनाप्रधान धर्माधारित जीवन-दृष्टि ही कर सकती है। 'प्रकृति, समाज, इतिहास, संस्कृति एवं विचार को किसी चैतन्य की ही स्थूल

अभिव्यक्ति माननेवाली अध्यात्मवादी जीवन-दृष्टि वस्तुओं, घटनाओं एवं प्रक्रियाओं को परस्पर अन्तर्सम्बन्धित न मानकर उन्हें अलग-थलग एकांगी दृष्टि से देखने का नजरिया समझती है।'[५] ऐसी खण्डित मनोगत दृष्टि प्राकृतिक, सामाजिक एवं वैचारिक स्थितियों में बदलाव के कारण उनके द्वन्द्वात्मक चरित्र में ढूंढने की दृष्टि को तिरोहित कर किसी आत्मिक शक्ति को बाह्य प्रकटीकरण के रूप में पेश करती है। पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्ताओं के रूप में मनुष्य का यह तत्त्वमीमांसीय विश्व-दृष्टिकोण सत्तावर्ग के लिए संजीवनी का काम करता है। ऐसी आत्मवादी अन्तर्दृष्टि के कारण जनगण अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उत्पीड़न, अन्याय, गैर-बराबरी व शोषण के 'सवाल' व्यवस्था के समक्ष उठाने की दृष्टि विकसित नहीं कर पाता है। आदर्शवाद में विषमतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था के बुनियादी कारणों को वस्तुनिष्ठ आधारों पर खोज करने की क्षमता नहीं होती है। वह या तो ऐसे प्रश्नों को उठाता ही नहीं या फिर जब उठाता है तो उनके उत्तर मनुष्य के वैचारिक जगत् के भीतर तलाश करता है। जैसा कि फ्रॉम कहते हैं- 'धर्म सामाजिक अन्तर्विरोधों के वस्तुगत भौतिक आधारों एवं कारणों को गौण तथा मनुष्य की आत्मनिष्ठ भावनाओं को 'प्रधान' शक्ति के रूप में पेश करता है।'[६]

वर्तमान प्रौद्योगिक युग में धर्म के बढ़ते प्रभाव को जानने हेतु धर्म के स्वरूप एवं उसके सामाजिक चरित्र की गहराई से पड़ताल करने की जरूरत है, ताकि हम देख सकें कि प्रबोधनकाल से लेकर उत्तर-आधुनिक काल तक धर्म की आलोचना एवं विज्ञान का पक्षपोषण करने वाली शक्तियों का लक्ष्य मानवता को वैज्ञानिक चेतना से लैस करना कभी नहीं था। वस्तुतः इनका लक्ष्य विज्ञान के विकास के प्रति सम्मोहन जो इनकी अस्तित्वगत आवश्यकता थी और ऐतिहासिक नियति दोनों था। इस सम्बन्ध में सही समझ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रबोधनकाल में विज्ञान की पोषक बुर्जुआ शक्तियों की उन भौतिक एवं वैचारिक बाध्यताओं को चिह्नित किया जाये जिनके कारण इनका धर्म की निर्मम आलोचना करना और विज्ञान के विकास का समर्थन करना अपरिहार्य बन गया।

धर्म से मुक्ति की ऐतिहासिक घोषणा का यथार्थ

धर्म की निर्मम आलोचना और तर्काधारित वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि बुर्जुआ पूंजीवाद की घोषणा थी। 'प्रबोधनकाल का उदय उस समय हुआ जब सामन्ती अभिजात वर्ग की शक्ति टूट रही थी और यूरोप के पूंजीवादी बुर्जुआ राष्ट्रों का निर्माण हो रहा था।'[७] इस संक्रमण के गर्भ से जो व्यवस्था जन्म ले रही थी उसके अपने होने की सार्थकता के लिए धर्म और उसके सामाजिक स्वरूप- सामन्तवाद से संघर्ष करना अपरिहार्य बन गया था। प्रगति व विकास पूँजीवाद का मूलमंत्र था। इसके लिए वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा का विकास करना आवश्यक पूर्व शर्त थी। वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं विज्ञान को नये दृष्टिकोण से पोषित कर आगे बढ़ाना उभरती पूंजीवादी व्यवस्था की आर्थिक और वैचारिक आवश्यकता एवं बाध्यता दोनों थी।

आर्थिक स्तर पर कृषि से उद्योग और छोटे पैमाने के उत्पादन को विशाल पैमाने के सामाजिक उत्पाद में बदलने के लिए जिन उत्पादन साधनों की आवश्यकता थी उसमें विज्ञान एवं उस पर संरचित ज्ञान पद्धत्ति ही सहायक हो सकती थी। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए प्राकृतिक प्रक्रियाओं के रहस्यों को भेदने की आवश्यकता रहती है। इसलिए पूंजीवाद बिजली, ऊर्जा, मशीनों के निर्माण एवं उपयोग से लेकर संचार उद्योग के संबंध में परी कथाएं नहीं सुनना चाहता। वह उसके वास्तविक नियमों एवं व्यावहारिक प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है। उद्योग संस्कृति विज्ञान को श्रम से पृथक् कर उत्पादन शक्ति बनाती है और उसे पूंजी की सेवा में लगा देती है। इसके साथ ही पूंजीवाद विज्ञान को प्रमुख रूप से उन साधनों के अंग के रूप में विकसित करता है जो सामाजिक विषयों और उद्योग संस्कृति के सामान्य दिशा-निर्देशन और प्रबन्धन के लिए आवश्यक होते हैं।

वैचारिक स्तर पर सामन्ती एवं धर्मप्रधान बन्द एवं अगतिशील सांस्कृतिक ढांचे को तोड़ने और उसके स्थान पर पूंजीवादी संस्कृति को स्थापित करने के लिए तर्काधारित विश्व-दृष्टिकोण को विकसित करना एक आवश्यकता बन गई जो विज्ञान के विकास के बिना संभव नहीं था। अपनी इस सांस्कृतिक आवश्यकता के कारण वैज्ञानिक संस्कृति एवं

विश्व-दृष्टिकोण से उत्पन्न तमाम तरह के खतरों से अवगत होते हुए भी पूंजीवाद ने अपने विकास की एक खास अवस्था तक उसे विकसित किया। 'यही कारण है कि सोलहवीं शताब्दी में अपने वैज्ञानिक खोजों के कारण ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों को जिस सामन्ती व्यवस्था के हाथों जलना पड़ा था, वहीं पूंजीवादी व्यवस्था में डार्विन के जातियों के विकास-सिद्धान्त को तमाम तरह के सामन्ती अवशेषों द्वारा विरोध करने पर भी न केवल राजनैतिक समर्थन मिला, अपितु समाज एवं सरकार द्वारा हर प्रकार का संरक्षण एवं सम्मान भी मिला।'[८] इसका विशिष्ट सामंतवाद विरोधी स्वरूप इस बुद्धिसंगत विश्वास में प्रकट होता है कि 'बुद्धि का प्राकृतिक प्रकाश' प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है, चाहे उसकी बौद्धिक प्रतिभा और शिक्षा कुछ भी हो। यह स्थापना मात्र सैद्धान्तिक विश्वास नहीं, बल्कि सामंतवाद-विरोधी बुर्जुआ क्रांतिकारी आन्दोलन की विचाराधारित घोषणा थी। 'सामन्ती व्यवस्था समतामूलक समाज की दुश्मन है', को दिखाने के लिए न केवल समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व जैसे मानवतावादी नारे लगाये, बल्कि वैज्ञानिक अनुसंधानों को योजनाबद्ध ढंग से आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक तरह की शोध परियोजनाएं, अकादमियां एवं संस्थानों की स्थापना की। १७वीं एवं १८वीं शताब्दी में अकादमी एवं अनुसंधान जैसी प्रगतिशील संस्थाओं का उद्‌भव एवं विकास इसी परियोजना की अभिव्यक्ति थी। इन अकादमियों के माध्यम से पूंजीवाद ने धर्म प्रतिष्ठानों से संगठित लड़ाई लड़ने के साथ-साथ वैज्ञानिक मुद्दों पर जनतांत्रिक बहस भी चलायी। सत्ता के इस विज्ञान पक्षीय व्यवहार से उत्साहित वैज्ञानिकों में यह आत्मविश्वास आया कि विज्ञान में मनुष्यता की सेवा करने की अपार संभावनाएं हैं। विज्ञान से लोगों की जिंदगी को बेहतर और ज्यादा खुशहाल बनाया जा सकता है। प्रकृति, समाज, विचार, जीवन, व्यवहार संबंधी कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसका समाधान विज्ञान में नहीं है। विज्ञान ही समस्त मानवीय समस्याओं को हल करने की कुंजी है। विज्ञानपक्षीय इस वातावरण में विज्ञान ने दर्शन एवं संस्कृति के क्षेत्र में एक क्रान्ति कर दी। धर्म एवं ईश्वरप्रदत रहस्यवाद और अलौकिकता से संबंधित विचारों पर न केवल तार्किक हमले हुए अपितु विज्ञान को एक प्रतिष्ठित ज्ञानात्मक अनुशासन के रूप में मान्यता मिली।

किन्तु पूंजीवाद का यह विज्ञानपक्षीय क्रांतिकारी जनतांत्रिक व्यवहार सामन्तवाद का खात्मा कर स्वयं को स्थापित करने की मजबूरी का पर्याय ही बन सका। 'व्यक्ति से पहले मुनाफा', 'समाज से पहले बाजार,' 'आवश्यकता से पहले लाभ,' के अर्थदर्शन की बुनियाद पर संरचित पूंजीवादी व्यवस्था के लिए विज्ञान एवं तर्काधारित समाज एवं संस्कृति साधन हो सकती थी, उसका स्वरूप व साध्य नहीं। सत्तावर्ग भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण से डरता है। पूंजीवाद भी प्रारम्भ से ही समझ गया था कि यदि वैज्ञानिक भौतिकवाद समाज को वैज्ञानिक चेतना से लैस करता है तो वह सामाजिक स्तर पर उनके अस्तित्व के लिए संकट खड़ा करती है। इसलिए पूरी कोशिश रही है कि विज्ञान एवं वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण पीड़ित, शोषित एवं दमित जनता की सामाजिक प्रेरक शक्ति नहीं बने। 'सामन्ती अवशेषों का स्थायित्व न केवल सस्ती श्रम शक्ति एवं कच्चे मालों को सुलभ बनाने की गारन्टी करता है, बल्कि गैरबराबरी एवं असमान सामाजिक स्थितियों को चिरस्थायी सिद्ध करने के लिए मध्ययुगीन दकियानूसी, जातीय उन्माद, साम्प्रदायिक पागलपन और बर्बरता के मनोविज्ञान का आधार भी प्रदान करता है।'[९] अपनी इस अस्तित्वगत आवश्यकता के कारण ही जैसे ही ब्रिटेन और फ्रांस की क्रांतियों के बाद पूंजीवाद यूरोप में मजबूती से स्थापित हो गया और राजसत्ता में सामन्तवाद पर आधारित संस्कृति एवं धर्म-प्रतिष्ठानों को एक चुनौती देने वाली ताकत के रूप में प्रतिष्ठा घट गयी तो विज्ञान के साथ सम्बन्धों में एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया। ऐसा विज्ञान के स्वरूप एवं उद्देश्य दोनों ही स्तर पर हुआ। आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था के रूप में अपने-आपको स्थापित करने के पश्चात् एक तरफ विज्ञान का इस्तेमाल मुनाफा कमाने वाले उपकरण के रूप में हुआ तो दूसरी तरफ प्राकृतिक विज्ञानों पर किये जाने वाले अनुसंधानों पर अनेक सीमाएं थोप दीं। प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों के विकास में गहरा अन्तर्विरोध उत्पन्न हुआ। पूंजीवाद के विज्ञान के साथ रहे इस अन्तर्विरोधी स्वरूप पर लेनिन ने टिप्पणी की है कि 'बुर्जुआ ताकतों द्वारा यूरोप के आधुनिक इतिहास के पूरे दौर में, और विशेष रूप से १८वीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में, जहां भी हर प्रकार के मध्ययुगीन कचरे के खिलाफ, संस्थाओं तथा विचारों के क्षेत्र में अर्धदासता के खिलाफ, डटकर संघर्ष चलाया गया है वहां भौतिकवाद एकमात्र ऐसा दर्शन सिद्ध हुआ है जो सुसंगत है और प्राकृतिक विज्ञान की

सभी शिक्षाओं की कसौटी पर खरा उतरता है तथा जो अंधविश्वास, तोतारटंत इत्यादि का विरोधी है। इस प्रकार इतिहास में पहली बार विज्ञान के विकास के लिए, सामाजिक चिंतन के लिए और मुक्ति संघर्ष के लिए भौतिकवाद के अपार क्रांतिकारी महत्त्व को उभारकर सामने लाया गया। किंतु विजयी पूंजीपति वर्ग ने दार्शनिक भौतिकवाद को अपने वर्गीय हितों के चलते ठुकरा दिया और सत्ता की रक्षा के लिए धर्म तथा अलौकिक तत्त्वों में विश्वास से घनिष्ठ रूप से जुड़े आदर्शवाद का सहारा लिया।'[१०] इससे साफ-तौर पर यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार विज्ञान का विस्तार और उस विस्तार की सीमाएं दोनों समय-समय पर विशिष्ट वर्गों के अस्तित्व की दशाओं में होने वाले हितों द्वारा नियंत्रित होते हैं। पूंजीवाद की स्वाभाविक मित्रता विज्ञान के साथ ही हो सकती है, किन्तु अपने वर्ग स्वार्थ के चलते वह सदैव धर्म के लिए छिद्र छोड़ देता है जो उसे तात्कालिक संकट से निजात दिलाने में अहम भूमिका निभाता है, अपन अस्तित्व के लिए धर्म को सुरक्षा कवच के रूप में इस्तेमाल करती हैं। धर्म ही बौद्धिक स्तर पर सत्तावर्ग को हर वैचारिक चुनौती और खतरे से पूरी तरह से मुक्त और निरापद बनाता है।

अपने इस वर्ग चरित्र के कारण पूंजीवाद ने एक दौर में जिस सामन्ती संस्कृति को खत्म करने का हर सम्भव प्रयास किया उसी को बचाए व बनाए रखने के लिए सामन्ती शक्तियों से अनेक समझौते किये। इससे यह समझ सकते हैं कि किस तरह से प्रबोधनकाल की वाहक बुर्जुआ शक्तियों ने वैज्ञानिक चेतना के लिए नकारात्मक स्थितियां पैदा कर परोक्ष रूप से धर्माधारित मूल्यों का पोषण किया। वस्तुत: पूंजीवादी व्यवस्था एक चारित्रिक विरोधाभास से ग्रस्त रहती है। एक तरफ विज्ञान का विकास उसे अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्य लगता है वहीं विज्ञान की अन्तर्वस्तु उसे विष की तरह लगती है। समता विरोधी दर्शन के पोषक ब्राह्मणवाद एवं पूंजीवाद में मित्रता के सूत्र यही है।

तर्कबुद्धिवाद : धर्म के बौद्धिकीकरण की कवायद

प्रबोधनकाल जिस बुद्धिवादी दर्शन से अपनी वैचारिक ऊर्जा व दिशा ले रहा था वह अपने स्वरूप में उभरती पूंजीवादी शक्तियों की बुर्जुआ आत्म-चेतना थी। बुद्धि का प्राकृतिक प्रकाश प्रत्येक मनुष्य में जन्म से विद्यमान है। देकार्त के अनुसार 'तर्क करने और सत्य तथा मिथ्या में भेद करने की क्षमता जिसे आमतौर पर सहज बुद्धि या विवेक कहा जाता है, प्राकृतिक रूप से सभी लोगों में एक जैसी होती है। इस प्रकार अनुभवेतर ज्ञान की धारणा प्रबोधनकाल की केन्द्र-बिन्दु थी। उनकी दृष्टि में 'बुद्धि' कभी गलती नहीं करती। गलती की जड़ में इच्छा है जो इच्छाजनित विश्वासों को सत्य मानती है। स्पिनोजा और लाइबनित्ज ने गलती का कारण इन्द्रिय-अनुभूतियों में खोजा, जो उनकी राय में, स्वभावत: भ्रामक स्वरूप की होती है और गलत निष्कर्षों पर ले जाती है। अपनी इस दृष्टि के कारण बुद्धिवादी चिंतक विवेक के विकास के मूल में काम करने वाली श्रम की द्वन्द्वात्मक एवं सामाजिक प्रकृति जो उत्पादन सम्बन्धों तथा प्रकृति के साथ उसके संघर्ष से अपना स्वरूप ग्रहण करती है, को नहीं समझ पाये। बुद्धि की संरचना सम्बन्धी अवैज्ञानिक समझ के कारण बुद्धिवादी चिंतन में भी बुद्धि अपने सामाजिक चरित्र से पृथक् हो सद्य:अनुभूति एवं अन्त:प्रज्ञात्मक स्वरूपवाली बनी रही। यह दृष्टि मनुष्य के विवेक को ऐतिहासिक एवं सामाजिक सन्दर्भों से काटकर एक विशुद्ध विचार की श्रेणी में ले गयी जो अपने अन्तिम विश्लेषण में भाववादी दर्शन का आधार बनती है। जिस आधुनिक बुद्धिवाद ने तर्केत्तर के प्रतीक आस्था पर प्रहार किया, उसने अपनी खुद की आस्थाएं भी बुनीं। आस्था के नवीनीकरण का एक रूप वह भी था जहाँ चुनौती ईश्वर के अस्तित्व को नहीं, उसकी प्रचलित और सत्तापरक व्याख्याओं को दी गई।

वैज्ञानिक दर्शन के पिता माने जाने वाले देकार्त ने संदेह के माध्यम से जिस नि:संदेह सत्य की प्राप्ति की उसकी अभिव्यक्ति 'मैं चिंतन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है' की उक्ति में हुई।[११] देकार्त की इस अभिव्यक्ति के दार्शनिक निहितार्थ 'चेतना' की पदार्थ पर प्रधानता को स्थापित करना था, जो अध्यात्मवादी दर्शन की सैद्धान्तिक प्रस्थापना है। देकार्त के लिए यह स्वत:सिद्ध सत्य 'आत्मा का अस्तित्व' था जिस पर किसी भी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है। 'विचारों' को तीन रूपों में विभाजित कर बुद्धिवादी देकार्त 'ईश्वर-विचार' को नैसर्गिक विचार की श्रेणी में रखते हैं जो

जन्म के समय से ही मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है। दर्शन के इतिहास में पहली बार ईश्वर-सिद्धि हेतु सत्तामीमांसीय, ज्ञान मीमांसीय व नीतिमीमांसीय प्रमाण प्रस्तुत किए गए। देकार्त के लिए ज्ञान की वस्तुनिष्ठ प्रणाली केवल तथ्योत्मक जगत् के ज्ञान तक सीमाबद्ध है। जीवन का दूसरा बड़ा पक्ष जो उसके आत्मिक एवं नैतिक पक्ष को प्रकाशित एवं नियन्त्रित करता है, वह आत्मा-ईश्वर जैसी दैवीय सत्ताओं से ही संभव है। बुद्धिवादी स्पिनोजा के लिए 'विस्तार एवं विचार ईश्वर के दो गुण हैं जिन्हें बुद्धि द्रव्य का साररूप समझती है। बुद्धि को प्रामाणिक ज्ञान का आधार मानने वाले स्पिनोजा ने 'ईश्वर द्रव्य है' कहकर ईश्वरीय विचार को तर्कपरक बनाने के लिए द्रव्य की परिभाषा ही बदल डाली।'[१२] वैज्ञानिक शब्दावली में धार्मिक विषय-वस्तु कैसे पड़ोसी जाती है, स्पिनोजा इसके जीवंत उदाहरण हैं। बुद्धिवादी लाइबनित्ज के लिए भी नैतिकता का एकमात्र आधार तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाएं हैं। इनके दर्शन में चिदणु अन्तिम सत्ताएं हैं जो सभी घटनाओं, वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं के मूल में अस्तित्ववान हैं। किंतु ये चिद्णु क्या हैं ? लाइबनित्ज इन्हें 'ऊर्जा के रूप में परिभाषित करते हैं। किंतु यह ऊर्जा 'पदार्थ' का स्वभावबोध न होकर परमचिदृणु ईश्वर है। ईश्वर ही अपने पूर्व-स्थापित सामंजस्य के सिद्धान्तानुसार जगत् का संचालक एवं नियन्ता है।'[१३] रूसो का प्राकृतिक धर्म, वोल्टेयर का 'ईश्वरवाद' और हीगेल का 'बौद्धिक ही वास्तविक है और वास्तविक ही बौद्धिक है'[१४] की प्रस्तावना धर्म को तर्कपरक बनाने के प्रयास को ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

कांट के दर्शन में 'वस्तु निज रूप' एवं उनका इन्द्रियातीत परम 'अज्ञेय' स्वरूप का सिद्धान्त केन्द्रीय सम्प्रत्यय एवं अन्तर्विरोधी अवधारणा है जो उनका आदर्शवाद के प्रति सम्मोहन को प्रतिबिम्बित करता है। जैसा कि फ्रेडरिक जैकोबी ने कहा- 'वस्तु-निजरूप' कांट की ऐसी अवधारणा है जिसके बिना उसकी दार्शनिक दुनिया में प्रवेश नहीं किया जा सकता।'[१५] किन्तु उसके साथ वहाँ रहा भी नहीं जा सकता।' 'वस्तु-निजरूप' अर्थात् संज्ञान से स्वतन्त्र वस्तुओं के अस्तित्व की संकल्पना कांट को जहां भौतिकवादी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करती है वहीं उनका इन्द्रियातीत एवं अज्ञेय स्वरूप उन्हें आदर्शवादी श्रेणी में प्रतिस्थापित कर देता है। 'व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा' में प्रतिपादित परासत्ताओं का सिद्धान्त और उनका अनुभव से निरपेक्ष 'शुद्ध प्रत्यय' स्वरूप कांट को उस निष्कर्ष पर पहुंचा देता है जिसको आधार बनाकर उन्होंने तर्कबुद्धिवादियों द्वारा प्रतिपादित स्वत:सिद्ध अन्त:प्रज्ञावादी एवं विशुद्ध प्रागानुभविक दार्शनिक सत्यों को स्थापित करने की दृष्टि का खण्डन किया था। कांट ने 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' में 'शुद्ध तर्क बुद्धिवादी' संकल्पना को अस्वीकार करते हुए कहा- बुद्धि द्वारा अनुभव से परे मान लेने का दावा मनुष्य की मूल सैद्धान्तिक गलतियों में से एक है। अनुभव नहीं, अपितु विवेक एवं बुद्धि ही गलती के दोषी हैं। इसलिए नहीं कि वे अनुभव के आगे निष्कर्ष निकालते हैं, बल्कि इसलिए कि वे अनुभव से स्वतन्त्र निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं और इस तरह अपने को एकमात्र आधार से वंचित कर लेते हैं। किंतु कांट का 'निजरूप वस्तुओं' और 'परासत्ताओं' के बीच भेद प्रधानत: 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' के लिए लाक्षणिक है न कि 'व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा' में प्रतिपादित कांट के नैतिक सिद्धान्त के लिए, जो कुछ हद तक प्रथम का खण्डन करते हैं। 'वस्तु निजरूप' की संकल्पना की सहायता से कांट अपने दर्शन में आत्मवादी झुकावों को सीमित करने की कोशिश करते हैं। साथ ही, आत्मगत ज्ञानमीमांसा को आधार बनाकर वस्तुगत यथार्थता और उसकी असीमित ज्ञेयता की भौतिकवादी मान्यता के काल्पनिक जड़ सूत्रवाद पर काबू पाने की कोशिश करते हैं। नैतिकता के लिए 'ईश्वर का अस्तित्व व आत्मा की अमरता' के माध्यम से कांट आदर्शवादी दर्शन की उस मूल प्रस्थापना को बनाए रखने का प्रयास भी करते हैं, जिसके अनुसार प्रत्ययवादी दर्शन मानव बुद्धि की संस्कृति का शिखर है। ऐसी चिंतन दृष्टि में दर्शन बुद्धि का क्षेत्र एवं मनुष्य एक बुद्धिसंगत अधिभूतवादी सत्ता है, जो जानवर से न केवल सोचने की दृष्टि से भिन्न है, अपितु अधिभूतवादी ढंग से सोचने की क्षमता से भी भिन्न है। वस्तुत: भौतिकवाद एवं प्रत्ययवाद में समन्वयवादी प्रयास उसके द्वैतवादी दर्शन की स्वाभाविक परिणति है, जिसे कांट पाट नहीं सके। 'मुझे ज्ञान को सीमित करना था ताकि विश्वास के लिए जगह बनायी जा सके।'[१६] आदर्शवादी दृष्टिकोण के प्रति अनुराग के कारण कांट उन अन्तर्विरोधों से और अधिक ग्रस्त होते चले गए जिसके निदान का प्रयास ही उनके दर्शन का प्रस्थान बिन्दु था। किन्तु कांट का यह सूत्र कि मनुष्य प्रकृति को नियम प्रदान करता है न कि प्रकृति मनुष्य को नियम प्रदान करती है, प्रति-बुद्धिवाद का, पादरीवाद का सूत्र है। कांट मान लेते हैं कि

अन्तर्विरोध भौतिक जगत् में अन्तर्निहित नहीं थे, बल्कि उनका अस्तित्व केवल मानव की बुद्धि में था। उनकी दृष्टि में बुद्धि के ये असमाधेय अन्तर्विरोध वस्तुगत जगत् को जान सकने की मनुष्य की असमर्थता के प्रमाण हैं। कांट की यह दृष्टि मानव समाज को उनके उस वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज से प्राप्त होने वाले लाभों से वंचित कर देता है, जिसकी स्थापना कांट ने अपनी 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' लिखने से पूर्व की थी।

इस विश्लेषण से हम देख सकते हैं कि तर्कबुद्धिवादी दर्शन संक्रमणात्मक ऐतिहासिक युग की दार्शनिक अभिव्यक्ति होने के कारण द्वयर्थक तथा समझौताकारी था। इन दार्शनिकों ने यांत्रिक व्याख्या कर समाज को धर्म की मानसिक दासता से मुक्त कर वैज्ञानिक चेतना से लैस करने की क्षमता खो दी थी। आस्तिकता एवं द्वैतवाद उनकी दार्शनिक समझ की चारित्रिक अभिलक्षणाएं रही। सत्य को तर्क एवं विवेक के आधार पर जानने का दावा करते हुए भी उनकी मूल दृष्टि में प्रकृति, समाज एवं विचार को समझने की द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पद्धत्ति तिरोहित रही। जिसके कारण मनुष्य की नियति व समाज के गतिविज्ञान को समझने में परोक्ष-अपरोक्ष ढंग से आदर्शवादी परम्पराओं के पोषक बन गये। संवृत्तिशास्त्र एवं तार्किक भाववादी धाराएं भी इस अन्तर्विरोध से ग्रस्त रहीं।

उत्तर-आधुनिकता के दर्शन में धर्म का स्थान

वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा के आधार पर यथार्थ का तार्किक, वस्तुनिष्ठ एवं सार्वभौमिक स्वरूप की प्राप्ति का आत्मविश्वास प्रबोधनकालीन चिंतन दृष्टि का उद्घोष था। 'यथार्थ का वस्तुनिष्ठ स्वरूप एवं उसके तार्किक-विश्लेषण द्वारा ज्ञेयता की क्षमता' ये दो मान्यताएं अपनी मूल अभिव्यंजना में अध्यात्म की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसीय प्रस्थापनाओं के प्रति नकार भाव लिये हुए थीं। उत्तर-आधुनिकतावादियों ने प्रबोधनकाल की इन्हीं दो संकल्पनाओं को अपने आलोचनात्मक विमर्श का मुख्य आधार बनाया। 'इस धारा के चिंतकों की दृष्टि में यथार्थ का कोई निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ, शाश्वत एवं सर्वग्राही स्वरूप नहीं है।'[१६] वस्तुनिष्ठता महज एक भ्रम है, क्योंकि कोई भी सच्चाई हमारे एक खास दृष्टिकोण से देखने का मामला है। तर्क देते हैं कि सार्वभौमिकता, तर्कयुक्तता एवं वैषयिकता का दावा तानाशाही की ओर ले जाता है। केन्द्रीयता का विचार 'अन्य' का दमन करने की इच्छा पर टिका हुआ है और इसलिए वह खतरनाक विचार है। अधिकांश 'उत्तर-आधुनिक विचारक अपूर्णताओं, विखण्डनों और विभाजित चेतनाओं के उपासक हैं।'[१७] यह दृष्टि प्रबोधनकालीन दर्शन व चिंतनदृष्टि की मूल संकल्पनाओं को अपूर्ण, सतही, आंशिक एवं भ्रामक किस्म की बताकर उन्हें खारिज करती है। मीरा नंदा उत्तर-आधुनिकता की मूल ज्ञानमीमांसीय मान्यताओं एवं चिंतन-दृष्टि के बारे में ठीक ही आंकलन करती हैं कि "विज्ञान द्वारा अज्ञान का अंधेरा दूर करने और इस दुनिया को बेहतर बनाने के इस विजयी भाव वाल प्रबोधनकाल के दृष्टिकोण से उत्तर-आधुनिकतावादियों का मोहभंग हो चुका है। उनकी निराशा ने उन्हें रास्ता दिखाया कि वे ऐसे किसी सार्वभौमिक सत्य की सम्भावना तलाशें जिसे हर कोई, हर जगह स्वीकार करे। ऐसे सत्योन्मुख सार्वभौमिक 'महाख्यानों' में प्रबोधन की संकल्पना के विपरीत, उत्तर-आधुनिकतावादी स्थानीय परम्पराओं को प्राथमिकता देते हैं जो पूरी तरह तर्क और वस्तुनिष्ठ मानदण्डों से अनुशासित नहीं होते, बल्कि पवित्र, गैर-महत्त्वपूर्ण और अतार्किकता की भी गुंजाइश छोड़ते हैं। विखण्डित पहचानों और अमूर्त जीवन-स्थितियों का महिमागान करते हैं। आधुनिक विज्ञान, जिसे हम प्रकृति के बारे में निरपेक्ष सत्य की ओर उन्मुख मानते हैं, दरअसल प्रकृति को देखने का एक संस्कृति-उन्मुख तरीका मात्र है, अन्य संस्कृतियों के अन्य सभी विज्ञानों से न अच्छा, न बुरा। न केवल एजेंडा बल्कि समूची ज्ञान-सामग्री सामाजिक रूप से रचित है जिन्हें आधुनिक विज्ञान में 'तथ्य' माना जाता है, वे पश्चिम की रचनाएं हैं जिनमें पश्चिमी समाजों का प्रभाव, हित और उनके सांस्कृतिक पूर्वाग्रह प्रतिबिम्बित होते हैं। विज्ञान की सामाजिक रचनावादी विचारधाराएं विज्ञान के विरुद्ध उत्तर-आधुनिकतावादियों की चिंता को पूरा करती है।"[१८]

इस सन्दर्भ में यह महत्त्वपूर्ण है कि उत्तर आधुनिकतावादियों की यथार्थ एवं विज्ञान के प्रति सापेक्षिकतावादी समझ के सामाजिक निहितार्थ क्या हैं? और धर्म के साथ उनकी क्या स्थिति बनती है?

'यथार्थ के प्रति खण्डित एवं विभाजित दृष्टि और वैज्ञानिक ज्ञानमीमांसा की 'संस्कृति व भाव-सापेक्ष' परिभाषाएं सत्तावर्ग तथा धार्मिक ताकतों के लिए वरदान सिद्ध हुई हैं। वर्गीय सामाजिक संरचनाओं में सत्तावर्ग यथार्थ की समग्र, सम्पूर्ण, वस्तुनिष्ठ और द्वन्द्वात्मक समझ को अपने अस्तित्व के लिए चुनौतीपूर्ण स्थिति मानता है।'[२०] इसलिए उसे अपने जनविरोधी शोषणकारी चरित्र को आच्छादित करने के लिए खण्डित, विभाजित एवं भ्रामक विचारधारा के पोषण की आवश्यकता रहती है। 'उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा उसकी इस वैचारिक आवश्यकता को पूरा करती है। यह दृष्टि समग्रता, केन्द्रीयता एवं सम्पूर्णता के तत्त्वों को खारिज करती है।'[२१] इससे जो विमर्श उभरता है वह आत्मवादी सोच को बढ़ावा देता है और आत्मवादी खण्डित चेतना 'व्यवस्था' से प्रश्न पूछने की दृष्टि को तिरोहित कर देती है। 'समाज विकास का इतिहास बताता है कि सत्ता जब अपने विकास के एक खास दौर में आन्तरिक अन्तर्विरोधों एवं संकटों में फंस जाती है तब उसके लिए भ्रामक वैचारिक धुंए की जरूरत और बढ़ जाती है। इन अन्तर्विरोधों के समाजार्थिक कारणों के भौतिकवादी विश्लेषण से वह भयभीत होती है। मूल कारणों की वैज्ञानिक समझ को कुंद करने हेतु व्यवस्था के पोषक बुद्धिजीवी आकर्षक शब्दावली द्वारा बहस को असली मुद्दों से हटाकर दूसरी दिशा में मोड़ देने की कोशिश करते हैं।'[२२] बहस 'आधार' से 'अधिरचना' पर केन्द्रित कर दी जाती है। धर्म की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि वह सामाजिक सम्बन्धों और परिस्थितियों की उल्टी तस्वीर पेश करता है। वास्तविकता को समझने और बदलने के बजाय कल्पनालोक का सृजन करता है।

वस्तुतः उत्तर-आधुनिकता वित्तीय पूंजीवाद के इसी वैचारिक संकट का लोक-लुभावना शक्ल है और औद्योगिक विकास हेतु वैज्ञानिक अनुसंधान को बढ़ाना व सामाजिक घटनाओं पर गैर-वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देना उसकी ऐतिहासिक नियति है। 'वैज्ञानिक पद्धत्ति तार्किक ढंग से वस्तुओं, घटनाओं और प्रक्रियाओं का न केवल समग्रता में अध्ययन करने की दृष्टि प्रदान करती है, अपितु उनकी द्वन्द्वात्मक प्रकृति का उद्घाटन भी करती है।'[२३] विज्ञान अपने स्वरूप से ही समतामूलक समाज व संस्कृति का पोषक होती है। वैज्ञानिक खोजें जाति, धर्म, लिंग, वर्ग के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद नहां करती हैं। जबकि वर्गीय समाज अपने बुनियादी चरित्र में ही इनका पोषण करता है। सामाजिक घटनाओं पर वैज्ञानिक चिंतनदृष्टि अपने अन्तिम विश्लेषण में 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' एवं 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को पुष्ट करती है। समाज, इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन में ये प्रस्थापनाएं पूंजीवाद के मानवता विरोधी चरित्र को अनावृत कर जनगण की वास्तविक मुक्ति की शर्तों के ऐतिहासिक 'शक्ति-सम्बन्धों का उद्घाटन करती है। पूंजीवाद प्रारम्भ से ही समझ गया था कि यदि वैज्ञानिक भौतिकवाद समाज की बुनियाद और शासक वर्ग के विशेषाधिकारों को वैज्ञानिक आलोचना की कसौटी पर कसने लगेगा, और यह प्रदर्शित करेगा कि जनता वैज्ञानिक चेतना से ही अपनी मुक्ति हासिल कर सकती है, तो वह सामाजिक स्तर पर उनके लिए चुनौतीपूर्ण स्थिति बन जायेगी। इसलिए पूरी कोशिश रही है कि 'विज्ञान और वैज्ञानिक विश्व-दृष्टिकोण पीड़ित, शोषित एवं दलित जनता की सामाजिक प्रेरक शक्ति नहीं बने।'[२४] उत्तर-आधुनिकता इसी कोशिश की बुर्जुआ आत्मचेतना है। प्रकृति, समाज एवं विचार की पारस्परिक अन्तर्सम्बद्धता, गत्यात्मकता, द्वन्द्वात्मकता को संस्कृति-सापेक्ष, सामाजिक रचना, भावदृष्टि के रूप में व्याख्यायित करना वस्तुतः विज्ञान के मूल स्वरूप को विकृत करने का प्रयास है। विज्ञान की वस्तुनिष्ठता पर हमले न केवल पूंजीवादी व साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण रूप से सकारात्मक स्थितियां पैदा करती हैं, अपितु दक्षिणपंथी ताकतों को भी पोषित-संरक्षित कर धार्मिकता को फैलाने का 'स्पेस' उपलब्ध करवाती हैं। आधुनिक विज्ञान का महत्त्व इसकी वस्तुपरकता एवं सार्वभौमिकता में है। उत्तर-आधुनिकतावादियों द्वारा वैज्ञानिक पद्धत्ति को सामाजिक रचनावाद मान लेने पर धार्मिक सत्ता के लिए अब अपने आध्यात्मवादी दावों को विज्ञान के निष्कर्षों के आलोक में संशोधित करने की बाध्यता नहीं रह गयी हैं।'[२५] इस दृष्टि में 'विज्ञान के सामाजिक रचनावादी दर्शन में सत्ता के वैचारिक कर्मयोगियों के इस दावे के फलने-फूलने की पूरी गुंजाइश रहती है कि वे हिन्दू धर्म का परिचय 'शाश्वत' नियमों के रूप में दें जिन्हें पहले भारतीय ऋषियों ने खोजा और बाद में आधुनिक भौतिकी और जैविक विज्ञानों ने उनकी पुष्टि की। इसलिए वैदिक धर्मग्रन्थों को मात्र प्राचीन धार्मिक पुस्तकों के

रूप में नहीं, बल्कि ऐसी पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत किया जाये जिनमें कई वैज्ञानिक तथ्य हैं। ब्रह्माण्ड की कार्यप्रणाली के बारे में सब कुछ जो आधुनिक विज्ञान हमें सिखाता है, वेदों में पाया जा सकता है। पदार्थ, ईश्वर, इतिहास व मानव जाति के बारे में वह सब कुछ जो वेद हमें सिखाते हैं, आधुनिक विज्ञान मात्र उनकी पुष्टि करता है इसलिए वेद के सत्य और आधुनिक विज्ञान मात्र के बीच कहीं कोई अन्तर्विरोध नहीं है। आधुनिक विज्ञान और वेद एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। दावा किया जाता है कि धर्म के शाश्वत नियमों एवं विज्ञान द्वारा खोजे गये नियमों में कोई द्वन्द्व नहीं है। ऐसी दृष्टि में इस बात की पूरी सम्भावना रहती है कि 'न्यूटन के क्रिया-प्रतिक्रिया के नियमों को कर्म और पुनर्जन्म के नियमों, क्लोन को कौरव के सौ पुत्रों के जन्म, जैव-विकास को ब्रह्म की आत्माभिव्यक्ति, चेतना को ऊर्जा का पर्याय, गुण का सिद्धान्त आत्मा का ताना-बाना बनने के रूप में व्याख्यायित किया जाये। विवेकानन्द, अरविन्द, राधाकृष्णन, दयानन्द सरस्वती की रचनाएं धर्म को विज्ञान का पर्याय दिखाने की दृष्टि की पोषक हैं। इनके अनुसार अद्वैतवाद ही प्राकृतिक विज्ञान के अन्तिम लक्ष्य को पूरा कर सकता है। ज्ञान की ब्राह्मणवादी परम्पराएं तर्क और विज्ञान के स्वर्णकाल का प्रतिनिधित्व करती हैं।'[२६]

उत्तर-आधुनिकता की वाहक शक्तियां जिस तरह से संगठित आक्रमकता के साथ जनता का निर्मम शोषण, उत्पीड़न व दमन कर रही हैं, उसमें धर्म की आवश्यकता और बढ़ गयी है। हमारे देश में जहां आधुनिकता भी ठीक से नहीं आयी और सामन्तवादी उत्पीड़न अभी भी हमारे रोजमर्रे के जीवन का आभिन्न हिस्सा है, दक्षिणपंथी ताकतों के फलने-फूलने के लिए ऊर्वरा भूमि तैयार करती है। विज्ञान को दुनिया की सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं तथा उसके आर्थिक ढांचे से अलग नहीं कर सकते।

'आज के धर्म की जड़ें जनता की सामाजिक रूप से दमित अवस्था में हैं। पूंजीवादी आर्थिक विकास ने जिस तन्त्र का निर्माण किया है उसमें व्यक्ति महज साधन होकर रह गया है। पूंजीवाद प्रतिदिन और प्रतिघण्टा मेहनतकश जनता पर जो भयावह पीड़ा और बर्बर संत्रास लादता है, वह युद्ध, भूकंप जैसी असाधारण घटनाओं से उत्पादित पीड़ा और संत्रास से हजार गुना ज्यादा घातक है।'[२७] धर्म के फैलते क्षितिज का कारण जनता का धर्म के प्रति सम्मोहन की आत्मस्वीकृति नहीं है। आज वह वर्गीय उत्पीड़न की अभिव्यक्ति के रूप में जीवित है। किन्तु सत्ता पोषक बुद्धिजीवियों द्वारा इस प्रश्न को प्राय: धार्मिक प्रश्नों के साथ उलझा दिया जाता है। सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर एक ऐसे जटिल सिद्धान्त की रचना करते हैं जिसके अनुसार धर्म एक ऐसी शक्ति है जिसके सहारे मानव समाज जीवित रह सका है। यह दृष्टि इस कोशिश को बल प्रदान करती है कि यह कोई ऐसी ताकत है जो जनता को कुछ देती है या दे सकती है यह अपने साथ कोई दैवी या अलौकिक वस्तु लाती है – जिसको मानव-समाज में नहीं पाया जा सकता। यह शक्ति मानव-समाज को अपने अन्दर से नहीं वरन् बाहर से प्राप्त हुई है और इस प्रकार से यह किसी दैवी-स्रोत से जन्मी है। यह सिद्धान्त सत्ता स्वार्थों की सेवा करता है और इस सीमा तक सेवा करता है। पूंजीपति तथा उनके प्रतिनिधियों की रूढ़ियों, विचारों और विज्ञानों में यह सिद्धान्त इतना व्याप्त हो गया है कि इसके अंश सर्वत्र दिखायी देते हैं। यह बाजारी व्यवस्था न केवल व्यक्ति की कमजोरियों को अपनी जीवनशक्ति बल्कि धार्मिक-सांस्कृतिक भिन्नता को भी अपनी शक्ति प्राप्ति का स्रोत बनाती है। जब तक शोषण-उत्पीड़न से मानव मुक्त नहीं होता और उत्पादक शक्तियां सामाजिक नहीं होती, तब तक जनता के मस्तिष्क से कोई भी शैक्षणिक पुस्तक या प्रौद्यौगिकी विकास धर्म को समाप्त करने में सफल नहीं हो सकता। शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था का धर्म से कोई विरोध नहीं होता। मुक्तिकामी शक्तियों को 'धर्म एवं आध्यात्म में अंतर हैं', 'मैं आध्यात्म को मानता हूं, धर्म को नहीं', 'धर्मनिरपेक्ष समाज ही मानवतापरक समाज हैं', 'धार्मिकता से लड़ो धर्म से नहीं', 'आध्यात्म मनुष्य की पहचान है, मूल्य है' जैसे रोमानी दृष्टिकोण से मुक्ति पानी होगी।'[२८] एक बेहतर समाज निर्माण का स्वप्न देखने वाली परिवर्तनकामी शक्तियों को अपने प्रतिरोध के स्वर को मेहनतकश जनता के जनआन्दोलन के साथ मिलाना होगा ताकि धर्म के बने रहने एवं उसे पोषण करने वाली आर्थिक-राजनीतिक शक्तियों का खात्मा कर सकें। 'समाज को बदले बिना मात्र वैज्ञानिक ज्ञान से धर्म समाप्त नहीं हो सकता। वैज्ञानिक चेतना वैज्ञानिक संस्कृति की उत्पाद होती है।'[२९] जैसा कि हक्सले ने कहा 'यदि समाज की व्यवस्था मानव विरोधी है जिसमें उसका छोटा-सा तबका

बहुसंख्यक पर शासन करता है और उसे दबाता है तो प्रकृति पर प्रत्येक तरह की विजय सत्ताधारी लोगों की ताकत एवं उत्पीड़न के अवसरों को बढ़ायेगी।'[३०] वेतन की गुलामी वाले समाज में विज्ञान के निष्पक्ष होने की आशा करना वैसा ही मूर्खतापूर्ण और नादानी भरा विचार है जैसे कि मिल मालिकों से इस निष्पक्षता की आशा करना कि वह पूंजी का मुनाफा घटाकर मजदूरों का वेतन बढ़ा दें। पूरा तन्त्र यदि सामन्ती मूल्यों का पोषक है तो इस बात की पूरी सम्भावना रहती है कि चन्द्रयान के सफल परीक्षण के लिए इसरो के अध्यक्ष डॉ. जी. माधवन नायर तिरूपति मन्दिर के जाकर पुजारियों से प्रार्थना करवायें। दरअसल धर्म से मुक्ति की लड़ाई एक ऐसे समाज के निर्माण की लड़ाई है जिसे अब धर्म की आवश्यकता नहीं रह गयी है।

किन्तु पूँजीवादी विद्वानों और लेखकों ने इस प्रश्न को और भी उलझा दिया है। इसलिए जो कोई भी इस समस्या को गंभीरता से समझना चाहता है या इस विषय पर अधिकार प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह आवश्यक है कि सतत रूप से, प्रत्येक दृष्टिकोण से इसका अध्ययन और विश्लेषण करे। अगर प्रत्येक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान या अध्ययन नहीं किया जायेगा तो इसको स्पष्ट रूप से समझा नहीं जा सकता। धर्म और विज्ञान का शासनसत्ता के साथ रिश्ते का प्रश्न अपने सामाजिक चरित्र में राजनीति का बुनियादी प्रश्न है, इसलिए बौद्धिक विमर्श में इसका सामना बार-बार करना पड़ता है। वर्तमान समय के उथल-पुथल और संघर्ष के दिनों में ही नहीं वरन् शान्ति की अवस्था में भी किसी राजनीतिक या आर्थिक समस्या के संबंध में यह सवाल देखा जा सकता है।

संदर्भः

१. *कांट, शुद्धबुद्धिमीमांसा, पृ.सं. ४९.*

२. *प्रफुल्लचन्द्र राय, प्राचीन भारत के रसायनशास्त्र का इतिहास, पृ.सं. १०१*

३. *कार्ल मार्क्स और एंगेल्स, धर्म, पृ.सं. ८८*

४. *न्यूगी वाथ्योंगो, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, पृ.सं. १४४*

५. *माओत्सेतुंग, ऐतिहासिक भौतिकवाद, पृ.सं. १०९*

६. *ऐरिक फ्राम, धर्म का इतिहास, पृ.सं. ३*

७. *एंगेल्स, एण्डी-ड्यूटरिंग, पृ.सं. ३०८*

८. *जे.डी. बरनाल, विज्ञान की सामाजिक भूमिका, पृ.सं.२८*

९. *लेनिन, मार्क्सवाद के तीन स्रोत, पृ.सं. ८.*

१०. *वही*

११. *स्पिनोजा, एथिक्स, पृ.सं. ८*

१२. *लाइबनिज, विज्ञान दर्शन, पृ.सं. ४०८*

१३. *हेगेल, विज्ञान दर्शन, पृ.सं. ४०८*

१४. *फेड्रिक जेकोबी, विचारों का इतिहास, पृ. ९८*

१५. *कांट, व्यवहार बुद्धिमीमांसा, पृ. ४०८*

१६. *टेरी इगलटन, क्रिटिसिज्म एण्ड आइडियोलॉजी, पृ. ११०*

१७. *मीरा नन्दा, गॉड मार्केट, पृ. ८*

१८. *मीरा नन्दा, उत्तर आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और वैदिक विज्ञान, पृ. ११८*

१९. टेरी इगलटन, क्रिटिसिज्म एण्ड आइडियालोजी, पृ. ११३

२०. वही, पृ. ११५.

२१. एंगेल्स, प्रकृति में द्वन्द्वात्मकता, पृ. १२०

२२. मॉरिस कॉनफोर्ड, ऐतिहासिक एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, पृ. २०४.

२३. लेनिन, इन्द्रियानुभविक आलोचना और भौतिकवाद, पृ. २०४.

२४. मीरा नन्दा, उत्तर आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और वैदिक विज्ञान, पृ. १२१.

२५. वही, पृ. १२६.

२६. वही, पृ. १२६.

२७. गोरख पाण्डे, मार्क्सवादी धर्म, पृ. १००.

२८. सर देसाई, प्राचीन भारत में रूढ़ियां और परम्पराएं, पृ. ११२.

२९. जे.डी. बरनाल, विज्ञान की सामाजिक भूमिका, पृ. १२२.

३०. हक्सले, विज्ञान, स्वतंत्रता एवं शांति, पृ.

***

आचार्य विनोबा का अद्वैत में अभिनव योगदान

गीता मेहता

अद्वैतवेदान्त भारत का एक अति प्रचलित दर्शन है जो मात्र ब्रह्म को सत्य मानता है और जगत् को भ्रम या मिथ्या। प्राचीन काल से भारत में सिद्धान्त और आचरण के साथ-साथ चलने को सदैव आदर्श स्थिति के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। लोकमान्य तिलक ने भी इसका समर्थन किया कि मनुष्य को निष्काम कर्मयोग का आचरण करना चाहिए तथा कर्म करते समय हमें उसके फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। महात्मा गाँधी ने इस विचार को और ऊँचाई दी। उनके अनुसार एक आदमी को कर्म करते समय अनासक्त होना चाहिए, उसे निर्लिप्त रहना चाहिए।

ब्रह्म : आचार्य विनोबा भावे की दृष्टि में

विनोबा मानते हैं कि ब्रह्मवाणी, वर्णन एवं बोध आदि मानवीय क्षमताओं से पूर्णतः परे है। इसीलिए वे कहते हैं कि 'शुद्ध अद्वैत के वाद-विवाद में पड़ने का अर्थ ही निश्चित रूप से द्वैतवाद का प्रमाण प्रस्तुत कर देना है।'[१] 'अद्वैतवाद यानी अचूक द्वैत-सिद्धि'। आगे उनका कहना है- 'कोई कहता है- ईश्वर अज्ञेय है। यदि अज्ञेय है तो काहे परसे? यदि है तो अज्ञेय कैसे?'[२]

विनोबा ब्रह्म को तात्त्विक दृष्टि से निर्गुण और व्यावहारिक दृष्टि से सगुण दोनों एक साथ मानना उचित नहीं समझते, जैसा कि शंकर मानते हैं।[३] क्योंकि उनके अनुसार निर्गुण और सगुण एक-दूसरे के पूरक हैं, वे परस्पर विरोधी नहीं हैं।[४] ब्रह्म केवल 'नेति' नहीं है, ब्रह्म 'नेति-नेति' है, जो सगुण भी नहीं और निर्गुण भी नहीं, वही वास्तविक निर्गुण[५] इस दृष्टि से ब्रह्म का स्वरूप होगा- शून्यता=एकता=अनन्तता।[६]

विनोबा 'अज्ञ' शब्द को चार अर्थों में प्रयुक्त करते हैं-

१. ब्रह्म किसी भी अभिव्यक्ति से परे है, अ से ज्ञ तक सभी अक्षर ब्रह्म के प्रतीक हैं। परन्तु 'अ और ज्ञ' विभूतियाँ हैं।

२. ब्रह्म 'अ-ज्ञ' है। अ=अनासक्त और ज्ञ=ज्ञान। अज्ञ यानी अनासक्त ज्ञान। अनासक्त ज्ञान-स्वरूप होने के नाते ब्रह्म सामान्य और विशिष्ट- दोनों के अंतर्गत आ जाता है।

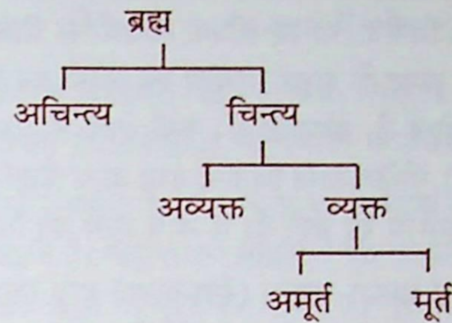
३. ब्रह्म 'अ-ज्ञ' है, वाक्य का तीसरा अर्थ 'ब्रह्म वाङ्मय मूर्ति है।' इस प्रकार ब्रह्म में केवल अक्षरों और शब्दों या वाक्यों का ही समावेश नहीं होता, बल्कि हर प्रकार का साहित्य भी इसके अंतर्गत आता है।

४. ब्रह्म 'अ-ज्ञ' है का एक अर्थ यह भी होता है कि ब्रह्म जैसा सगुण है वैसा निर्गुण- दोनों हैं।[७]

ब्रह्म को समझने के तीन दृष्टिकोण

विनोबाजी ने तीन दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया है। उनके प्रथम दृष्टिकोण को जानने के लिए निम्नलिखित तालिका उपयोगी हो सकती है-

अ.



चिन्त्य ब्रह्म अव्यक्त और व्यक्त है। व्यक्त ब्रह्म का अनुभव अमूर्त विचारों या मूर्त वस्तुओं द्वारा हो सकता है।

ब. विश्व – प्रत्यक्ष

ईश्वर – अनुमान ब्रह्मवेद – शब्द ब्रह्म

आत्मा – ब्रह्म[९]

जगत् व्यक्त है इसलिए प्रत्यक्ष ब्रह्म है, परन्तु ईश्वर का अनुमान हमें संसार के अनुभवों से होता है, इसलिए अनुमान ब्रह्म है। साक्षात्कारी आत्माओं की रचना है – वेद, इसलिए यह शब्दब्रह्म है।

स. विनोबा जी का तृतीय दृष्टिकोण संभवत: उनके प्रत्यक्ष ब्रह्म के विचार से उपजा लगता है, जब वे सत् ब्रह्म, चित् ब्रह्म और आनन्द ब्रह्म की बात करते हैं।

'सत् ब्रह्म' सिद्ध होता है। 'चित् ब्रह्म' ध्यान में आता है। 'आनन्द ब्रह्म' आँखों में भरता है। १. विश्व, २. जीव ३. सन्त।[१०]

'सत् ब्रह्म' अर्थात् अस्तित्व ब्रह्म को संसार में देखा जा सकता है। चित् ब्रह्म या चेतना को ध्यान में जाना जा सकता है। आनन्द ब्रह्म को संतों की आँखों में देखा जा सकता है।

'ब्रह्म सत्यम्' का अर्थघटन

१. ब्रह्म सत्य है, यानी अस्तित्व।

२. ब्रह्म सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ब्रह्म सत्य का स्वरूप है।

प्रथम अर्थ को विनोबा सांसारिक दृष्टिकोण से स्वीकार करते हैं। परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से यह उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार सत्य की प्रकृति केवल सत्य ही है।' सत्य की परिभाषा नहीं है। क्योंकि परिभाषा का ही आधार सत्य है।[११]

ब्रह्म का भौतिक जगत् से सम्बन्ध

ईशावास्यमिदं सर्वम्', क्या यह ईश, इदम् सर्वम् (जगत्) से पृथक् है? विनोबा का लाक्षणिक उत्तर होगा यद्यपि हमारी भाषा में 'पात्र' और 'पात्र में समाविष्ट' शब्द प्रयोग होता है। असल में पात्र और पात्र में समाविष्ट वस्तु के मध्य कोई अंतर नहीं है। पात्र में समाविष्ट वस्तु सिर्फ एक स्फूर्ति है- 'ब्रह्म का स्फूर्ति'।

आचार्य रामानुज की मान्यता है कि ईश्वर, जगत् और जीव तीनों अलग-अलग तत्त्व हैं, फिर भी वे एक साथ मिलकर ब्रह्म को संस्थापित करते हैं।

१३वीं शताब्दी के महान संत ज्ञानेश्वर, ब्रह्म का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि जगत् उस (चिद् विलास) ब्रह्म का विलास है।

ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध के विषय में प्रतिपादन करने से पूर्व विनोबा के उपरोक्त तीनों मत अवश्य उपलब्ध रहे होंगे।

गाँधी और मार्क्स की भाँति विनोबा भी सामाजिक यथार्थ पर विश्वास रखते हैं, जैसे दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदशीलता। इसीलिए ब्रह्म और जगत् के मध्य सम्बन्ध को जानने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार जगत् स्फूर्ति है। हमारी इन्द्रियों द्वारा जैसा ज्ञात होता है, ब्रह्माण्ड को उसी अर्थ में ग्रहण करने वाले उसकी आध्यात्मिक अतीन्द्रिय असलियत के मर्म को खो देते हैं। भौतिकशास्त्र विज्ञानी तथा अन्य वैज्ञानिक, जो इन्द्रिय-जगत् के उत्साही विद्यार्थी होते हैं, चरम लक्ष्य को समझने में असमर्थ रह जाते हैं। वे परम सत्य को विविध सम्पूर्ण ज्ञान का समन्वय कहते हैं।[१२]

यद्यपि ब्रह्म शाश्वत है, पर यह शाश्वत सातत्य (निरन्तरता) द्वारा स्थापित है। जहाँ सातत्य है वहीं इसमें क्षणभंगुरता का तत्त्व भी उपस्थित है, जो प्रतिक्षण अस्तित्व में आता है और प्रतिक्षण मृत्यु को प्राप्त होता है। यह क्षणभंगुरता ब्रह्म का प्रेरक रूप है। इसी के कारण जगत् प्रतिपल नया नजर आता है।

विनोबा ने एक द्विपदी सूत्रबद्ध की है जो ब्रह्म और जगत् की दार्शनिक स्थिति को व्याख्यायित करती है। परस्परिक द्विपदी 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनापरः' को उन्होंने हल्का-सा परिवर्तित करके यह सूचित किया है। विनोबा कहते हैं-

वेद-वेदांत-गीतानाम् बिनुना सार उद्धतः।
ब्रह्म सत्यम्, जगतस्फूर्तिः जीवनम् सत्यशोधनम्।।

अपने इस परिवर्तित विचारों का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि 'इससे वेदान्त की ध्वनि बदलती है ऐसा मुझे नहीं लगता, बल्कि उससे वेदान्त का विज्ञान-युग के साथ अच्छा मेल बैठता है।[१३]

ब्रह्म सत्यं - वेदान्त की उक्ति है यह हम जानते हैं। परन्तु क्या विज्ञान कहता है कि जगत् स्फूर्ति है? वैज्ञानिक इस संज्ञा का प्रयोग भले ही न करते हों लेकिन आधुनिक विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है कि पदार्थ का कोई भी तत्त्व अपनी अंतिम परिणति में विद्युत्, चुम्बक, ऊर्जा तथा तरंगों में बदल जाता है' तथा कथित ठोस पदार्थ भी ऊर्जा के क्षेत्र (शक्ति के स्रोतों) में धकेल दिए जाते हैं।[१४] यदि हम ब्रह्माण्ड को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में कल्पित करें तो वैज्ञानिकों की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व पदार्थ की प्रकृति (स्वभाव) एवं विकिरण के कारण निरन्तर परिवर्तित होता रहता है।

विज्ञान और अध्यात्म : मानव जाति के दो पंख

एक पक्षी की भाँति मानव के पास भी दो पंख हैं- विज्ञान और अध्यात्म। अपनी खुशी के लिए उसे इन दोनों की एक साथ आवश्यकता है। हर मशीन या यंत्र की परिकल्पना में दो प्रकार की शक्ति का उपयोग होता है, एक गति उत्पन्न करने की शक्ति और दूसरी उसे निर्देशित एवं नियंत्रित करने की शक्ति। एक के बिना दूसरा कार्य नहीं कर सकता। मोटरगाड़ी में एक इंजन और एक परिचालन-चक्का (स्टियरिंग व्हील) होता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी दोनों की जरूरत है। हम अपने पैरों से चलते हैं, अपनी आँखों से नहीं, परन्तु आँखे हमें राह दिखाती हैं कि हमें किस ओर जाना है। आत्मज्ञान आँखें हैं और विज्ञान पैर। इस संसार में विज्ञान के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता, परन्तु विज्ञान अध्यात्म या आत्म--ज्ञान के बिना सही दिशा की ओर नहीं जा सकता।[१५] आज आध्यात्मिकता की और अधिक आवश्यकता है, क्योंकि मानव ने विज्ञान की असीम शक्ति हासिल कर ली है। विज्ञान में और तेजी से प्रगति हो रही है, यदि इसने गलत दिशा पकड़ ली तो महान क्षति करेगी।[१६]

इस वैज्ञानिक युग में तीन प्रकार के बल कार्यरत हैं। प्रथम है 'आध्यात्मिकता' जो मानवीय जीवन को गढ़ती है। द्वितीय है 'विज्ञान' जो बाह्य बदलाव के साथ आंतरिक जीवन को भी प्रभावित करता है तथा मनुष्य को मन से ऊपर उठने का आदेश देता है। तृतीय बल जो प्रभावी प्रमाणित हो सकता है, वह है 'विश्वास'। एक व्यक्ति के द्वारा यह आश्वासन या भरोसा दिए जाने पर कि वह हमारे साथ सरल एवं ईमानदारीपूर्ण व्यवहार करेगा, हमें उसके शब्दों पर भरोसा करके उसे पूर्ण विश्वास के साथ अपनाना होगा, इस तथ्य का विरोध किए बिना कि उसका अतीत आज की इस घोषणा को झूठा सिद्ध

कर रहा है। तभी हम उसे जीत सकेंगे, उसे बदल सकेंगे और उसके हृदय में प्रवेश प्राप्त कर सकेंगे।[१७]

वेदांतो विज्ञानम् विश्वासः चेति शक्तयः तिस्त्रः।
येषाम् स्थैर्य नित्यम शांतिसमृद्धि भविष्यतो जगति।।[१८]

वेदान्त अध्यात्म है जो जीवन की एकता को सिखाता है। इस एकता का अभ्यास अहिंसा द्वारा हो सकता है। अहिंसा जीने की एक पद्धत्ति है। वेदान्त विचारने की पद्धत्ति है। वेदान्त हमें बताता है कि जीवन क्या है, अहिंसा का आचरण हमें कहता है कि क्रिया कैसे करनी चाहिए। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जीवन का मूल या नींव है वेदान्त, जिस पर अहिंसा का घर बनता है।

कार्य-कारण सम्बन्ध : विनोबा की व्याख्या

शंकर ने इसे विर्वतवाद कहा, जबकि रामानुज ने इसे परिणामवाद बताया। विनोबा दोनों का खण्डन करते हुए दोनों का समन्वय करते हैं। शंकर के रज्जु-सर्प उदाहरण का खन्डन करते हुए वे तर्क देते हैं कि 'यदि रज्जु में सर्प की प्रकृति का कुछ नहीं हो तो हम सहस्त्रों बार प्रयत्न करके भी उसमें सर्प नहीं देख सकेंगे। यदि ब्रह्म में जगत् की प्रकृति न हो और जगत् में ब्रह्म का अंश न हो तो ब्रह्म कभी भी जगत् के रूप में नहीं देखा जा सकता। अतः जगत् ब्रह्म का विर्वत नहीं, बल्कि ब्रह्म का परिणाम है।[१९]

इस प्रकार उन्होंने शंकर द्वारा 'रज्जु-सर्पवत विवर्त' के उदाहरण को 'रज्जु-सर्पवत परिणाम' में परिवर्तित कर दिया। रामानुज के उदाहरण 'कंचन कंकणवत परिणाम' का भी उन्होंने खण्डन किया। विनोबा के अनुसार एक सोनार के लिए स्वर्ण ही असल मूल्य रखता है, कंगन का उसके लिए विशेष अर्थ नहीं है। एक दृष्टिकोण से, इसी प्रकार से संसार केवल भ्रम है। ब्रह्म और जगत् दोनों में से मात्र ब्रह्म ही वास्तविक है। इसी से समझा जा सकता है कि विनोबा ने इसे 'कांचन कंकणवत् विवर्त' क्यों कहा है।[२०]

शंकर के सिद्धान्त का खण्डन करने का मतलब यह नहीं है कि विनोबा ने उनका गलत अर्थ लगाया हो। इसके विपरीत शंकर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं-

'शंकराचार्य का बहुत बड़ा विचार-ऋण मेरे सिर पर है। देहभावना से मुक्त होना ही उऋण होने का उपाय है।[२१] मेरा पोषण शंकर की शिक्षा से हुआ है। मैं उनके प्रति हार्दिक आभार महसूस करता हूँ। उन्होंने अनासक्ति और तटस्थता का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। ऐहिक संसार को भ्रम मानकर देखा, फिर भी उनके हृदय में करुणा का ऐसा स्त्रोत था कि ३२ वर्ष के अति अल्प जीवन-काल में उन्होंने तीन बार समस्त देश की (लम्बाई-चौड़ाई में) परिक्रमा की। अपने समय की सामाजिक कुरीतियों से भी उन्होंने संघर्ष किया।'[२२]

रज्जु या रस्सी का बोध होते ही सर्प भ्रम बन जाता है, यहाँ तक कि अस्तित्व विहीन हो जाता है। परन्तु 'स्वर्ण-कंगन' में स्वर्ण और कंगन का आकार, दोनों का अस्तित्व एक शुद्ध सच्चाई के रूप में रहता है। और जब आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च अनुभूति होती है, तब इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के त्रिविध वर्गीकरण ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का अंतर लुप्त हो जाता है। रह जाता है केवल 'दृश्य' या 'दृग्रूप'। फिर कैसा बंधन, कैसी मुक्ति और कहाँ भिन्नता तथा कहाँ व्यक्तिगत आत्मा?

विनोबा के लिए जगत् ब्रह्म का स्फूर्तिमय प्रकट रूप है जिसने उनकी श्रद्धास्पद मनोवृत्ति को सेवा के लिए प्रेरित किया है अथवा कहें कि उनमें सेवा की उत्कट भावना जगाई है। इस तरह ब्रह्म का स्फूर्त स्वरूप जगत् सत्य है। इस पुलकित ब्रह्म में सामाजिक यथार्थ के लिए पूरी गुंजायश है। इसलिए इसमें मानव तथा पशुओं के लिए स्थान है, मानवता की सेवा के लिए स्थान है। क्या ये स्फूर्त स्वरूप स्थायी हैं? नहीं, ये निरन्तर परिवर्तनशील हैं, और यहीं उनके तात्त्विक दृष्टिकोण में बुद्ध के क्षणिकवाद और सनातन का समावेश होता है। जगत् स्फूर्तिमय अभिव्यक्ति है। इसलिए स्फूर्ति की भाँति सब कुछ परिवर्तित होता है।

यह सिद्धान्त व्यक्ति में अपने संसार को कुछ अच्छे में बदलने की, दु:ख को सुख में परिवर्तित करने की प्रेरणा देता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि आदमी प्रतिपल कुछ न कुछ सीखता है। विनोबा यह निरूपित करना चाहते हैं कि शिक्षा के द्वारा आदमी हर पल को बदलना जारी रख सकता है। यदि यह सही है तो, अपने पूर्वाग्रहों को परे रखकर, हमें हर व्यक्ति को प्रतिदिन एक नयी हस्ती के रूप में देखना चाहिए। तब आपसी सम्बन्धों में सुधार के साथ, मानवता की प्रगति में हम एक-दूसरे का सहयोग कर सकते हैं। वेदान्त का दार्शनिक आदर्शवाद व्यर्थ सिद्ध होगा, यदि वह सिर्फ हवाई महल बनाता रहे। विनोबा का आदर्शवाद जमीन में अपनी जड़े जमाए हुए है। यह व्यावहारिक है। इसका उद्देश्य इंसानों का मात्र हृदय बदलना ही नहीं, बल्कि सामाजिक क्रिया-कलापों के माध्यम से उनकी भौतिक स्थितियों में परिवर्तन लाना भी है।

जीवन का चरम लक्ष्य - साम्य

साम्य-योग के सिद्धान्त की स्थापना करने में विनोबा को वेदान्त तत्त्वज्ञान और भगवद्गीता दोनों ने प्रेरित किया। विनोबा लिखते हैं- 'मुझे साम्य-योग का दर्शन गीता से प्राप्त हुआ। ईश्वर को सर्व प्राणियों में देखना और जीवन को एक समान मानकर, जैसा व्यवहार हम अपने प्रति करते हों वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करना मेरी दृष्टि में 'साम्य-योग' है। सम्प्रति अथवा भविष्य में विज्ञान युग में, इस मनोवृत्ति को विकसित करने पर हम पूर्ण संतुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। जीवन में वैज्ञानिक मिजाज को आत्मसात करना ही साम्य-योग की प्राप्ति है।[२३]

विनोबा के लिए जीवन का चरम लक्ष्य है साम्य अर्थात्- समता, तादात्म्य, समत्व (मानसिक), स्थिरता एवं एकता। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने 'साधना' की अवधारणा को एक नया आयाम दिया। ईश्वर के साथ एक रूप होना यानी उनके जैसा बनना है, इसके लिए जरूरी है समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि अथवा समभाव से देखना और सर्व परिस्थिति में समत्व बनाए रखना।

उन्होंने साम्य की धारणा को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अभिधान देकर उसे समावेशी और व्यापक बनाया। सामाजिक क्षेत्र में यह समानतावादी समाज को सूचित करता है। हर किसी को विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हों। आर्थिक क्षेत्र में समाज की सेवा के लिए किए गए कार्यों तथा जमीन और सामान को सामुदायिक मलकियत के रूप में बाँटे जाने के अर्थ में सामने आता है। उनका अति प्रसिद्ध 'भूदान आंदोलन' उनके इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

राजनैतिक क्षेत्र में, सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना और ग्रामीण भागों का सरकार की सत्ता में प्रत्यक्ष हिस्सेदारी होना लाजिमी है। प्रत्येक ग्राम अपने में एक विकसित राज्य हो और केन्द्र का उन पर नाममात्र का अधिकार हो। इस प्रकार से बढ़ते हुए क्रमशः हम उस मुकाम पर पहुँच जायेंगे जहाँ किसी भी प्रकार की सत्ता अनावश्यक और निस्तेज हो जाएगी और एक पूर्णत: मुक्त समाज का उदय होगा। अत: 'साम्य-योग' से सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में रूपान्तरण सर्जित होगा।

साम्य का अर्थ समत्व भी है अर्थात् किसी भी परिस्थिति में, किसी भी उत्तेजक अवस्था में, अपना धैर्य, संतुलन न खोना। युद्ध-काल में भी ईर्ष्या व घृणा जो मन को विचलित करे अब नहीं चलेगी। अणुबम गिराते समय वैज्ञानिकों को भी समत्व, मन का धैर्य तथा शांत मन रखकर गणितीय गणना करनी होती है। शांति और समत्व आज की घड़ी की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

साम्य को तादात्म्य के रूप में भी देखा जा सकता है। यह तादात्म्य दलितों, पीड़ितों, पिछड़ों और जरूरतमंदों के साथ करना है, उनकी आध्यात्मिक अभिन्नता तथा मनुष्य की आन्तरिक एकता के आधार पर। परम साम्य मनुष्य के लिए सर्वोच्च आदर्श बन जाता है, जिस ऊँचाई तक उसे पहुँचना है।

सिद्धान्त जब आचरण से जुड़ता है तब उसे संस्कृत की पारिभाषित शब्दावली में 'योग' कहा जाता है। साम्य-योग आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, नैतिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक एकता के माध्यम से चरितार्थ किया जा सकता है।

ये सभी प्रक्रियाएं बाह्य रूप से भले ही भिन्न नजर आती हों, परन्तु वे सभी एक सामान्य बिन्दु 'साम्य' की ओर अभिमुख होती हैं। साम्य-योग की उपलब्धि एक अवतरित प्रक्रिया है जो साम्य के समस्त पक्षों को स्वयं समाविष्ट किए हुए है। साम्य-योग का आधार आन्तरिक अभिन्नता के साथ उपयुक्त विवेक और न्यायपूर्ण संतुलित व्यवस्था है।

'अस्तित्व' (Being) की खोज 'विकसित' (Becoming) जगत् में करने से गाँधी और विनोबा के साथ समस्त मानवता के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुई। अतः कहा जा सकता है कि विनोबा अद्वैत द्वारा प्रतिपादित प्राणीमात्र के तादात्म्य के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं एवं उसे सामाजिक कल्याण तथा सर्वव्यापक स्नेह के साथ जोड़कर एक गतिशील मोड़ देते हैं।

विनोबा का नारा 'जय जगत्' उनकी मान्यता का सटीक प्रतिबिम्ब है जो सूचित करता है इस या उस देश मात्र की जय नहीं अपितु 'जगत् की जय'।

सन्दर्भः

१. *भावे विनोबा, विचार-पोथी, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९६१, पृ. ३१, विचार नं. १९२*

२. *वही, पृ. ३९, विचार नं. २३९*

३. *भावे विनोबा, अहिंसक शक्ति की खोज, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, वाराणसी, मई १९६३, पृ. २३-२४*

४. *भावे विनोबा, गीता प्रवचन, परमधाम प्रकाशन, वर्धा, १९६९, पृ. १८३*

५. *भावे विनोबा, विचार पोथी, पृ. ८०, विचार नं. ५५३*

६. *वही, पृ. ३२, विचार नं. १९८*

७. *वही, पृ. ४०, विचार नं. २४८*

८. *वही, पृ. ५१, विचार नं. ३३७*

९. *वही, पृ. ३९, विचार नं. २४७*

१०. *वही, पृ. ७७, विचार नं. ५२८*

११. *वही, पृ. १७, विचार नं. ८१*

१२. *भावे विनोबा, उपनिषदांचा अभ्यास (मराठी), ग्राम सेवा मंडल, वर्धा, १९५५, पृ. १८*

१३. *भावे विनोबा, गुरुबोध, परंधाम विद्यापीठ प्रकाशन, पवनार, १९५७, पृ. ४*

१४. *लिंकन बारनेट, द यूनिवर्स एण्ड डॉ. आइन्स्टाइन, ए मेंटर बुक, न्यूयॉर्क, अमेरिकी लाइब्रेरी द्वारा प्रकाशित, १९६०, पृ. ७१*

१५. *भावे विनोबा, थर्ड पावर (अंग्रेजी), सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९७२, पृ. ४२-४३*

१६. *भावे विनोबा, प्रेरणा प्रवाह, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, मई १९६२, पृ. १९*

१७. *भूदान यज्ञ, ५-९-५८*

१८. *भावे विनोबा, विनोबा साहित्य, खण्ड १५, परमधाम प्रकाशन, वर्धा १९९६, पृ. ४६२*

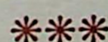
१९. *भावे विनोबा, विनोबा चिंतन, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, ६० पुस्तिकाओं में प्रकाशित, १९६६ से १९७१ तक नं. १६, पृ. २०७*

२०. *वही, पृ. २०८*

२१. *भावे विनोबा, गुरुबोध, उपरोक्त, पृ. ७*

२२. *भावे विनोबा, भूदान, अंग्रेजी (साप्ताहिक), २२-५-१९५७, पृ. २*

२३. *दत्तोबा दास्नाने, कांति शाह और प्रवीणा देसाई द्वारा सम्पादित, गीता-प्रवचन सुवर्ण महोत्सव, १९८२ में प्रकाशित, परमधाम प्रकाशन, वर्धा, पृ. १*



आचार्य मंडन मिश्र और स्फोट-सिद्धान्त

शैल कुमारी

स्फोट-सिद्धान्त को भारतीय दर्शन एवं व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अधिकांश भारतीय दार्शनिकों की मान्यता है कि यह सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और व्याकरण का प्रतिपाद्य है कि भाषा विचार की अभिव्यक्ति है अथवा अर्थ शब्द की अभिव्यक्ति है। इस तरह स्फोट-सिद्धान्त दर्शन में ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, तो व्याकरण में अर्थविज्ञान है।

आचार्यप्रवर मंडन मिश्र के स्फोट-सिद्धान्त पर विमर्श के पूर्व इनका संक्षिप्त परिचय अभिप्रेत है। अद्वैत दर्शन के प्रथम तार्किक मंडन मिश्र मीमांसा निष्णात तथा वेद रहस्य मर्मज्ञ के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने 'मीमांसानुक्रमणिका' 'भावना विवेक' 'विधिविवेक', 'विभ्रम विवेक' 'ब्रह्मसिद्धि' 'स्फोटसिद्धि' जैसे ग्रन्थों का प्रणयन किया है, साथ ही 'तन्त्रवार्तिक' पर एक टीका भी लिखी है। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को एक ही शास्त्र मानने वाले भावाद्वैत या सद्द्वैत, ब्रह्म अद्वैतवाद तथा प्रकृताद्वैतवाद प्रस्तोता मण्डन मिश्र ने घोषणा की कि 'स्फोट' को इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। फलस्वरूप स्फोट सैद्धान्तिक अवधारणा मात्रा न रहकर सत्यापनीय तथ्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। मिश्र जी पहले मीमांसक थे बाद में अद्वैत प्रतिपादक हो गए। इनका मूल नाम शिवचन्द्र मिश्र है। देश-विदेश के विद्वानों में इनके समय निर्धारण में मतैक्य न होने पर भी अधिक सहमति ६१५-६९५ ईस्वी विशेष मान्य है।

अस्तु, भारतीय दार्शनिकों, काव्यशास्त्रियों और वैयाकरणों ने सम्प्रेषण की मौलिक समस्याओं में शब्दार्थ-सम्बन्ध, शब्द-शक्ति और स्फोट-सिद्धान्त पर अपने-अपने मन्तव्यों की पुष्टि हेतु विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। स्फोट का अर्थ है 'स्फुटति विकसति अर्थोढस्मात् इति स्फोट:' अर्थात् जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है उसी को स्फोट कहते हैं। सृष्टि के मूल में शब्द मौलिक तत्त्व के रूप में विद्यमान है और शब्द का विकास ही अर्थ है। भर्तृहरि के अनुसार वैखरीकृत नाद परश्रवणगोचर होता है तथा मध्यमाकृत नाद स्फोट का व्यंजक होता है। यथा-

वैखर्या हि कृतो नाद: परश्रवणगोचर:।
मध्यमया कृतो नाद: स्फोट व्यञ्जक उच्यते।।

'ध्वनि', 'शब्द' तथा 'स्फोट' में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि ध्वनि वह गुण है जो वक्ता की वागिन्द्रिय से उत्पन्न होती है और ग्रहण श्रोता की कर्णेन्द्रिय द्वारा। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि व्यावहारिक जीवन में जिस ध्वनि के द्वारा अर्थबोध होता है, वह शब्द है। शब्द का एक ही उद्देश्य है- अर्थबोध। कहा गया है 'अर्थनिमित्तक एव शब्द: ।' शब्द के दो तत्त्व हैं- प्रथम तत्त्व के द्वारा शब्द अभिव्यक्त होता है और दूसरे तत्त्व के द्वारा वह हमारी बुद्धि में स्फुट होता है। प्रथम ध्वनि है और दूसरा स्फोट। स्फोट ही अर्थ को स्फुटित करता है तथा ध्वनि स्फोट का अभिव्यञ्जिका है। अत: दोनों का सम्बन्ध अभिव्यङ्ग्य-अभिव्यञ्जक का है। अतएव दोनों सम्मिलित होकर शब्द के स्वरूप का निर्माण करते हैं।

अर्थविज्ञान (Semantics) के अन्तर्गत अर्थ विषयक समस्त विवेचन का अध्ययन होता है। भतृहरि, व्यास,

कुमारिल भट्ट, वेंकट माधव, कैयट, नागेश, कौण्डभट्ट तथा मंडनमिश्र ने अर्थविज्ञान का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है। महामना मिश्र ने स्वकृत ग्रन्थ 'स्फोट सिद्धि' में कुमारिल भट्ट आदि की त्रुटि का उल्लेख करके प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के स्फोट-सिद्धान्त को तार्किक समर्थन दिया है। अर्थ विज्ञान की परिभाषा में ये लिखते हैं -

न चान्त्यवर्णमात्रामर्थसम्बन्धि तया प्रतिपद्यन्ते पुरस्तात्,
मा भूत् केवलादर्शविज्ञान मिति।

जहाँ अर्थविज्ञान का विषय है अर्थविषयक सभी प्रश्नों का विवेचन, वहीं स्फोटवाद का विषय है शब्द और अर्थ के सभी तात्त्विक प्रश्नों पर विचार-विमर्श। स्फोटवाद मुख्यतया निम्न समस्याओं पर विचार करता है-

शब्द और अर्थ का क्या स्वरूप है?

शब्द और अर्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है?

अर्थ का विकास कैसे होता है ?

अर्थ में नित्यता है या अनित्यता इत्यादि।

मूर्धन्य वैयाकरण पतंजलि ने 'महाभाष्य' में और भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में इस विषय का सूक्ष्म विवेचन किया है। व्याकरण का शाब्दिक अर्थ ही है-भाषा शास्त्रीय विश्लेषण, जिसके अन्तर्गत मूलतः शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध की विवेचना की जाती है और यही भाषा का मूल आधार है। यही भारतीय दार्शनिकों के लिए भाषा-दर्शन की मूल समस्या भी है।

सामान्यतः शब्द को भाषा की सार्थक इकाई माना जाता है, जिससे शब्द की महत्ता स्थापित हो जाती है, लेकिन भाषा के मूल लक्ष्य संप्रेषण का ध्यान कर भाषा शास्त्रियों ने शब्द की सीमा का भी संकेत किया है। अतएव भाषा द्वारा सम्पादित कार्य के दृष्टिकोण से शब्द को भाषा की इकाई न मानकर वाक्य को भाषा की इकाई स्थापित किया गया है। वस्तुतः, भारत के दार्शनिकों में यह विवाद भाषा-दर्शन की सूक्ष्मता का परिचायक है। निःसंदेह भाषा का सामान्य उद्देश्य शब्द और अर्थ के बिना पूरा नहीं हो सकता, परन्तु अर्थ-प्राप्ति में शब्देतर तत्त्वों की भूमिका भी है। इसलिए यहाँ के दार्शनिकों द्वारा अर्थ के बहुआयामी स्वरूप की स्थापना की गयी और इस संदर्भ में शब्द के स्वभाव की सीमा का संकेत किया गया, वाक्य पर विशेष बल दिया गया। वाक्य पर बल देने का तात्पर्य है वाक्य के माध्यम से अर्थ-प्राप्ति की समस्या का समाधन। स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार वाक्य ही अर्थ का प्रत्यायन करते हैं। वाक्य अनेक अवयवों वाला नहीं है। स्फोट सिद्धि में मंडन मिश्र कहते हैं-'नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोट-वादिनाम्।' इसमें कोई दो मत नहीं है कि स्फोट-सिद्धान्त भारतीय दार्शनिकों की अमूल्य खोज है जो विश्व में व्याकरण के क्षेत्र में प्रतिष्ठापित हुआ है।

स्फोटवाद के मौलिक सिद्धान्त का वेद और ब्राह्मण ग्रंथों में अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख है। वेदों में इसकी व्याख्या वाक् नाम से हुई है। आचार्य पाणिनि, पतञ्जलि, भर्तृहरि, भट्टोजि, कौण्डभट्ट, नागेश, जैसे वैयाकरणें ने तथा कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र आदि दार्शनिकों ने स्फोट-सिद्धान्त की सत्यता एवं प्रामाणिकता को स्वीकार कर इसे कई ढंग से समझाया है। लेकिन प्रस्तुत आलेख में मैंने मण्डन मिश्र पर अपना अध्ययन केन्द्रित किया है। स्फोट की दो व्युत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं-

१. **'स्फुटति व्यक्तीभवति अर्थोढस्मादिति स्फोटः'** अर्थात् जिससे अर्थ स्फुट होता है, वह स्फोट है।

२. **'स्फुट्यते - अभिव्यंज्यते वर्णैरिति स्फोटः'**[३] अर्थात् वह तत्त्व जो वर्णों से अभिव्यक्त होता है। उसे स्फोट कहते हैं। भर्तृहरि के स्फोट को प्राञ्जल रूप देने वाले मण्डन मिश्र ने शब्द की नित्यता स्वीकार कर स्फोट को ब्रह्म, आत्मा और प्रतिभा इन तीन भागों में विभक्त किया है। प्रतिभा के भी दो रूप हैं-स्फोट और ध्वनि। समस्त ब्रह्माण्ड में कोई भी

ज्ञान ऐसा नहीं है, जो शब्द-सम्पर्क के बिना उत्पन्न हो सके। शब्द ज्ञान से ही अर्थबोध संभव होता है। शब्दों में अर्थ-प्रकाशन क्षमता को स्फोट संज्ञा दी गयी है। भर्तृहरि ने स्वकृत ग्रन्थ वाक्यपदीय का प्रारम्भ शब्द ब्रह्म के स्वरूप वर्णन से किया है और इसका पारिभाषिक नाम 'स्फोट' दिया है। स्फोट अनादि, अनन्त और अक्षर है, अर्थ इसका ही विवर्त है। यथा-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम।
विवर्ततेढर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[४]

संसार का कारण शब्द-ब्रह्म ही भोक्तारूप पुरुष, भोक्तव्य विषय एवं विषयोपभोग जन्य सुख-दुःख आदि का अनुभव रूप भोग है। संसार के समस्त ज्ञान शब्दमूलक हैं, समस्त विद्याएँ, समस्त शिल्पशास्त्र तथा सभी कलाएँ शब्दशक्ति से सम्बद्ध हैं। समस्त सांसारिक वस्तुओं का विवेचन और विभाजन शब्दशक्ति के द्वारा किया जाता है। स्फोट से अर्थबोध-प्रक्रिया के अन्तर्गत श्रोता जब शब्द सुनता है तो पहले वह ध्वनि को श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण करता है, ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। श्रोता की बुद्धि में भी शब्द है जो ध्वनि के श्रवण से उद्‌बुद्ध होता है। यह उद्‌बुद्ध शब्द बुद्धि में क्रमरहित और स्फोट रूप में है जो अर्थ का बोध कराता है। वक्ता के हृदय में स्थित शब्द तत्त्व स्फोट ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त होता है अर्थात् ध्वनि शब्द का निमित्त है। इस तरह ध्वनि कान से सुनी जाती है और बुद्धि से स्फोट का ग्रहण होता है। वाक्यार्थ एक और अखण्ड होता है, प्रत्येक पुरुष अपनी प्रतिभा के अनुसार उसको उस रूप में देखता, समझता और जानता है। शब्द ज्ञानवान प्राणियों की प्रतिभा को ही उद्‌बुद्ध नहीं करता, अपितु बालक, पशु-पक्षी आदि को भी अर्थ का ज्ञान कराता है। अनादि वासना के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति बालकों, पशु-पक्षियों आदि को होती है। प्रत्येक जीव की प्रतिभा नियत है, उसी का प्रबोध होता है। प्रतिभा समस्त प्राणियों द्वारा अनुभव की जाती है, उसी के आधार पर जगत् का सारा व्यवहार होता है।

इस पृष्ठभूमि में मण्डन मिश्र के योगदान का आकलन भारतीय भाषा-दर्शन के क्षेत्र में मील का पत्थर है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में कुमारिल और वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में मीमांसकों के खण्डनात्मक तर्कों को अपनी भाषा में उल्लेखित किया तब फिर भर्तृहरि के स्फोट सम्बन्धी तर्कों को व्यवस्थित कर अपनी भाषा में लिखा है। इस सम्बन्ध में- Encyclopedia of Indian Philosophies की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है, "Mandan Mishra the great Advaitin and Mimamsaka, wrote an independent work, Sphotasiddhi defending Sphota against there attacks and vindicating Bhartrihari's position".[५]

भर्तृहरि ने प्रत्यक्ष और अनुमान की अपेक्षा शब्द प्रमाण को ब्रह्मप्राप्ति का आधार माना है। इस दृष्टिकोण ने व्याकरण को भी दर्शन के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जिससे 'शब्द-ब्रह्म' की अवधारणा व्यापक बनी तथा धर्म-ग्रन्थों की प्रतिष्ठा को तार्किक बल प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं शब्द प्रयोक्ता एवं श्रोता दोनों को ध्यान में रखते हुए ज्ञान के लिए शब्द की कार्यविधि और महत्ता स्थापित की गयी है। शब्द और अर्थ में परस्पर क्या सम्बन्ध है? के उत्तर में वे कहते हैं कि स्थूल व्यक्त ध्वनियों का मूल कारण सूक्ष्मतम ध्वनि है जो शब्द-ब्रह्म है[६] और शब्द-ब्रह्म तथा स्फोट एक हैं। शब्द-ब्रह्म सभी ध्वनियों का अखण्डित ऐक्य है। अर्थ एक मिथ्या बोध है, अनादि अज्ञान है। जैसे-सूर्य की प्रखर किरणों के कारण सीपी में चाँदी की मिथ्या प्रतीति हममें उत्पन्न होती है, वैसे ही अनादि अज्ञान के कारण व्यक्त ध्वनि समूहों में हम अर्थ की मिथ्या प्रतीति करते हैं। इस तरह स्पष्ट होता है कि स्फोटवाद अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद का ही वैयाकरण रूप है। स्फोटवादी परब्रह्म के स्थान पर शब्द ब्रह्म का व्यवहार कर शब्द-ब्रह्म को ज्ञान रूप कहते हैं जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों रूपों में सबका उपादान कारण है।[७]

यहाँ एक समस्या उठती है कि क्या ब्रह्म अनेक है? अथवा क्या शब्द-ब्रह्म मूल ब्रह्म से भिन्न है? भर्तृहरि स्वयं उत्तर देते हैं कि संसार की विभिन्न वस्तुओं की एकता अनुभवसिद्ध है जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते और यदि विभिन्न वस्तुओं का मूल एक ही तत्त्व है तो उस एक मूल कारण में अनेक शक्तियों की उपस्थिति कैसे तर्कसंगत हो सकती है।

इन्होंने प्रतिपादित किया कि 'ब्रह्म' है तो एक ही तत्त्व, लेकिन अनेक में भासित होने का कारण उन विभिन्न शक्तियों के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध है, जिनकी कल्पना संसार के वस्तुओं की विविधता को स्पष्ट करने के लिए की गई है। ये शक्तियाँ ब्रह्म से अभिन्न हैं। जैसे-जैसे परब्रह्म इन शक्तियों को प्रकट करता है वैसे-वैसे ये शक्तियाँ परब्रह्म को व्यक्ति का स्वरूप प्रदान करती जाती हैं, ये शक्तियाँ परब्रह्म के स्थूलीभवन के क्रमशः विभिन्न तल हैं। स्फोट सिद्धान्त के अनुसार अक्षरों की ध्वनि के अतिरिक्त सम्पूर्ण शब्द का एक अपना स्फोट होता है, जिससे शब्द अपने स्वतंत्र रूप में प्रकट होता है।

शब्दों का ऐसा महिमा मण्डन भले ही गूढ़ हो, आकर्षक हो, परन्तु सरलता से बोधगम्य नहीं होता। किसी भी विषय का ऐसा प्रतिपादन रहस्यवाद के दोष का शिकार हो जाता है। भर्तृहरि के स्फोट सिद्धान्त पर उपर्युक्त दोष लगाया गया जिसका युक्तिपूर्वक अनावरण मण्डन मिश्र ने किया है। इन्होंने अर्थप्राप्ति में ध्वनिग्राम की असमर्थता को असिद्ध करते हुए कहा कि शब्द एवं वाक्य के विश्लेषण मात्र से अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, अपितु अनुभूति एवं प्रत्यक्षीकरण की बड़ी भूमिका है। स्फोटसिद्धि की गोपालिका टीका में लिखा है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति जिस शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, उस अर्थ को समीपस्थ व्यक्ति उनके व्यवहार से समझते हैं। अतएव शब्द के अर्थज्ञान का मुख्य साधन वृद्ध-व्यवहार है, अन्य साधन गौण है। इसे ही मिश्र लोक-व्यवहार कहते हैं। जैसे-कोई वृद्ध व्यक्ति जब किसी अन्य को 'गाय लाओ' का आदेश करता है तो वह अन्य व्यक्ति गाय ले आता है, इससे समीपस्थ अर्थात् सुनने वाला व्यक्ति इस वाक्य का अर्थ समझ लेता है। इसलिए शब्दार्थ ज्ञानलोक व्यवहार से होता है, अब जो शब्द लोक-व्यवहार में नही आए हैं अथवा जिनका प्रयोग नहीं देखा गया है, ऐसे अज्ञात शब्दों को सैंकड़ों बार सुनने पर भी अर्थ ज्ञान नहीं होता।[८] यहाँ स्पष्ट होता है कि अपने विमर्श में अलौकिकता के आधिक्य को इन्होंने खारिज किया है। स्फोट की व्याख्या में मानव एवं मानवीय अनुभूति की भूमिका स्थापित की है। इनके अनुसार शब्द एवं वाक्य से परे स्फोट की कोई सत्ता नहीं है, बल्कि शब्द और वाक्य के माध्यम से ही स्फोट को सार्थकता मिलती है। भाषा की इकाई के निर्धारण में इन्होंने उन तत्त्वों को खारिज किया है, जो किसी वस्तु के बोध में सहायक नहीं हैं। किसी वस्तु के बोध में जो सहायक है, वही भाषा शास्त्रीय तत्त्व है। यह बात भर्तृहरि के स्फोट सिद्धान्त में स्पष्टता लाकर लौकिक (व्यावहारिक) लक्षण का समावेश करती है। इस तरह मिश्र ने स्फोट को व्यावहारिक धरातल प्रदान किया है।

आचार्य मंडन मिश्र जातिशक्तिवाद को मानते हुए कहते हैं कि शब्द से ही व्यक्ति का भी बोध होता है। व्यक्ति का शब्द से बोध होने में व्यक्ति में शक्ति का अभाव कोई विघ्नरूप कारण नहीं होता है, क्योंकि लक्षणा शक्ति के द्वारा व्यक्ति में भी शाब्द-बोध की सिद्धि हो जाती है। इसलिए शब्द के द्वारा जाति की सत्ता और अभाव का कोई भी बोध नहीं करना चाहता, क्योंकि जाति नित्य है। लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का बोध होता है। सत्ता और अभाव व्यक्ति के ही विशेषण होते हैं।

नित्य शब्द या स्फोट ध्वनि से युक्त होने पर सगुण रूप लेता है तो वह वाक्य स्फोट है। वाक्य स्फोट अर्थात् शब्द का अर्थ-समन्वित प्रायोगिक स्वरूप जो वाक्यरूप है। स्फोट और ध्वनि इसमें दो तत्त्व हैं। स्फोट के कारण सार्थकता है और ध्वनि के कारण व्यावहारिक उपयोगिता। अखण्ड वाक्य स्फोट को वैयाकरणों ने पारमार्थिक सत्ता, पद स्फोट को व्यावहारिक सत्ता तथा वर्ण स्फोट ध्वनि रूप वर्णों की सत्ता तथा उनकी सार्थकता को प्रातिभासिक सत्ता कहा है।

यह विश्व शब्द तत्त्व का ही परिणाम है। समस्त ब्रह्माण्ड, ज्ञान और विज्ञान केवल एक वाक्य है, जिसमें केवल एक वाक्यार्थ रहता है। पूर्ण वाक्य शब्द है और पूर्ण वाक्यार्थ अर्थ है। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। शब्द में ऐसी शक्ति है, जो इस विश्व को एक सूत्र में बाँधे हुए है। स्फोट अनादि, अनन्त और अक्षर है, अर्थ इसका विवर्त है। दोनों में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव या कार्यकारण भाव है। शब्द प्रकाशक और कारण है, जबकि अर्थ प्रकाश्य और कार्य है। यह शब्द जब तक अविद्या के वश में है, जीव रूप है और जब अविद्या से रहित होता है तब शुद्ध ब्रह्म है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में स्फोट और ध्वनि दो मौलिक तत्त्व हैं, स्फोट जहाँ नित्य है वहीं ध्वनि अनित्य है। स्फोट ध्वनि से प्रकाश्य है, स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनि के श्रवण पर निर्भर है और स्फोट से अर्थ-ज्ञान होता है। इस तरह प्रत्येक वाचक शब्द में स्फोट तथा

ध्वनि ये दो प्रकार के शब्द रहते हैं। ध्वनि स्थूल शब्द है जो अनित्य है इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होकर सूक्ष्म शब्द स्फोट को व्यक्त करता है।[९] सृष्टि का आधार स्फोट अभिव्यक्त, व्यंग्य और प्रकाशित होता है।

सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण होने वाले स्फोट को आधुनिक वैज्ञानिकों ने 'विस्फोट' कहा है। परमाणुओं में स्फोट (Radiation), परिवर्तनवृत्ति के कारण ही सृष्टि की स्थिति है। इसे वैयाकरण-शब्द-ब्रह्म, वेदान्त- ब्रह्म, योग- ईश्वर, सांख्य- पुरुष, न्याय- शब्द, वैशेषिक- विशेष, बौद्ध- ज्ञान, जैन- अणु (पुद्गल), चार्वाक- भूत तथा आधुनिक भौतिक विज्ञान प्रकृति, द्रव्य आदि नाम देते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि मण्डनमिश्र ने अपने ग्रन्थ के ३७ श्लोकों में कुमारिल भट्ट द्वारा रचित १३७ श्लोकों में स्फोटवाद के विरुद्ध प्रस्तुत आक्षेपों का उत्तर दिया है। इन्होंने कहा कि कुमारिल आदि ने जो वर्णवाद का समर्थन करके स्फोट का खंडन किया है, वह मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त को ठीक न समझने के कारण किया है।[१०] वस्तुतः, स्फोट 'वाक्य-स्फोट' के रूप में रहता है ऐसा कहने के साथ ही भर्तृहरि पद-स्फोट और वर्ण-स्फोट की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं जबकि मंडन मिश्र भर्तृहरि और मीमांसक दोनों के विपरीत पद-स्फोट को प्रमुखता देते हैं।

भर्तृहरि के शब्दार्थ सम्बन्ध के विरुद्ध आक्षेप करते हुए कुमारिल का प्रथम तर्क है कि जो अर्थप्रत्यायक हैं, वे सभी शब्द नहीं होते उदाहरण के लिए धूम अग्नि का प्रत्यायक है, लेकिन शब्द नहीं कहा जा सकता। दूसरे, श्रोत ग्राह्यता यदि शब्द हो तो सभी वर्ण शब्द हो जाएँगे। तीसरे, ज्ञान के पूर्व अर्थवान शब्द भी शब्द नहीं होगा। इसलिए स्वतंत्र शब्द या वाक्य वर्णों के समुदाय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और वर्णों के समुदाय से ही अर्थ जुड़ा रहता है।[११]

इस आक्षेप के उत्तर में आचार्य मण्डन मिश्र कहते हैं कि स्फोट अर्थ को बतलाने वाला वर्णों से भिन्न वस्तु है, वर्णों का समूह मात्र नहीं। इसलिए शब्द की एकात्मकता को वर्ण विन्यास मात्र कहना अनुचित है। वर्णों को ही अर्थवान शब्द मानना अनुभव का अपलाप है। शब्द के अलग-अलग वर्ण अर्थवान नहीं होते हैं। वर्ण समूह सहवर्ती सत्ता के बीच संभव है। वास्तव में स्फोट तत्त्व ध्वनियों और वर्णों से ऊपर तथा परे है।

दूसरा आक्षेप कुमारिल द्वारा शब्द के लक्षण में त्रुटि के कारण किया गया है। 'जो कान से सुना जाए उसे शब्द कहते हैं', उनके द्वारा शब्द का ऐसा लक्षण त्रुटिपूर्ण है। मण्डन मिश्र शब्द का लक्षण बताते हैं- अर्थज्ञान की उत्पत्ति के कारण को शब्द यानी ध्वनि के सुने जाने के बाद श्रोता की बुद्धि में जिस तत्त्व का उद्‌बोधन होता है वही शब्द है और उसी से तीसरे चरण में अर्थ की उत्पत्ति होती है, अनर्थक ध्वनि आदि की नहीं। यथा –

अर्थावसाय प्रसवनिमित्तं शब्द इष्यते।[१२]

जहाँ तक तीसरे आक्षेप के उत्तर की समस्या है, मिश्र जी ने कहा है कि शब्द में अर्थबोधित कराने का सामर्थ्य है। शब्द की हरेक ध्वनि स्फोट को व्यक्त करती है। इसलिए कुमारिल का मत है कि शब्द तभी अर्थवान होता है जब उन्हें विशेष-क्रम में व्यवस्थित और संयोजित किया जाए ऐसी कल्पना मण्डन मिश्र के मत में मात्र एक वंचना है, क्योंकि वर्ण-संयोजन के लिए संघात आवश्यक है, जबकि वर्ण उच्चरित होने पर अस्तित्ववान नहीं होते। मीमांसकों के अनुसार उच्चरित अन्तिम वर्ण पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कारों को उद्‌बुद्ध करता है, जिससे सारे वर्णों की एक साथ उपस्थिति हो जाने से अर्थ बोध होता है, क्योंकि वर्ण अपने पीछे स्थायी संस्कार छोड़ देते हैं। इसका खंडन करते हुए मिश्र कहते हैं कि संस्कारों का स्मरण होता है तो वे अर्थबोध कराते हैं, यह मत गलत है। संस्कार का जब स्मरण होगा तो वह संस्कार को ही अपने कारण को याद कराएगा न कि इससे भिन्न अर्थ का बोध कराएगा। इन्होनें संस्कार को वासना का रूपान्तर माना है। इसलिए स्मृति संस्कार उसी वस्तु का स्मरण करा सकती है, जो इसे उत्पन्न कराने का विषय हो। जैसे 'गौ' की प्रत्यक्ष स्मृति गौ का ही स्मरण करा सकती है गवय की नहीं। इसी तरह वर्णों के स्मृति संस्कार वर्ण की ही स्मृति उत्पन्न करा सकते हैं। जैसाकि मिश्र ने लिखा है-

संस्काराः खलु यद्वस्तुरूपप्रख्याप्रभाविताः। विज्ञान हेतवस्तत्रा ततोढर्थे धीर्न कल्पते।।[१३]

पूर्व में विमर्श हो चुका है कि मंडन मिश्र के अनुसार शब्द की प्रत्येक ध्वनि स्फोट को व्यक्त करती है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा है कि पहली ध्वनि स्फोट को धुंधले रूप में प्रकाशित करती है, दूसरी थोड़ा स्पष्ट करती है और अंतिम ध्वनि पूर्ववर्ती ध्वनियों के अवशिष्ट संस्कारों की सहायता से पूर्णतः स्पष्ट करती है। स्फोट सिद्धिकार का मानना है कि ध्वनियों के आनन्तर्य क्रम के समाप्त होने पर ही स्फोट अभिव्यंजित होता है। पहले स्फोट का अस्पष्ट ज्ञान उच्चरित वर्णों का अवशिष्ट संस्कार और अंतिम वर्ण का ज्ञान ये सब एक ही तत्त्व स्फोट हैं और स्फोट अविभाज्य सत्ता है। ध्वनियों की विशेषताओं को स्फोट की विशेषताएँ मान लेने पर ही हम भेद देखते हैं। अपने ग्रन्थ में इन्होंने लिखा है कि एक ही मुख मणि, कृपाण और दर्पण तीनों भिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होता है, फिर भी तीनों में प्रतिबिम्बित मुख के प्रतिबिम्ब में 'एक ही मुख है' हम क्यों पहचानते हैं, क्योंकि मुख और मुख प्रतिबिम्ब के बीच तादात्म्य शब्द संज्ञान से बोधित होता है। इस तरह इन्होंने स्फोट को केवल शास्त्रीय सिद्धान्त न कहकर व्यावहारिक दृष्टि से भी इसकी सत्ता सिद्ध की है।

इतना ही नहीं अपने स्फोट सिद्धान्त की स्थापना में ये शंकराचार्य की अपेक्षा विशुद्ध अद्वैतवादी ठहरते हैं।[१४] शंकराचार्य ने ब्रह्म से न्यून किसी एकत्व को पूर्णरूपेण नकारा है, जबकि मिश्र ने आहत् ध्वनियों एवं शब्दों के रूप में क्रमानुसार जो अर्थ प्रकट होता है, उसके मूल एकत्व को स्फोट कहा है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मण्डन मिश्र ने अद्वैत सिद्धान्त और युक्तियुक्त न्याय का शंकराचार्य की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ढंग से प्रतिपादन किया है। एक चित्र के उदाहरण से मण्डन मिश्र ने अपने भाषा-दर्शन में भर्तृहरि प्रतिपादित स्फोट सिद्धान्त को समर्थन दिया, हिमायत की तथा अनेकत्व में एकत्व की प्रतिष्ठापना कर भाषा-दर्शन एवं अद्वैत दर्शन के बीच समानता का प्रतिपादन किया। क्योंकि जातिशक्तिवादी मण्डन स्वीकारते हैं कि सामान्य के ज्ञान में यद्यपि कि व्यक्ति का स्वरूप निहित रहता है, फिर भी सामान्य अथवा जाति उससे प्रभावित नहीं होता। इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण बड़े महत्त्व का है, "For example, the awareness of a universal property, though it is mixed up with the form of the individual, still has the universal, not the individual, as its supporting object; likewise, the idea of a picture, despite its connection with the colors of its parts, is about the picture, not the parts."[१५]

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट संकेत करता है कि मिश्र ने अपने स्फोट सिद्धि के भाषा-दर्शन में संश्लेषण की प्रवृत्ति दिखायी है और तीव्र विश्लेषण के प्रति संयम बरकरार रखा है।

संदर्भः

१. *डॉ. बैद्यनाथ झा, मण्डन मिश्र-श्रद्धा-कुसुमाञ्जलि, पृ. ३२-३३ तथा पृ.-१५८ का फुटनोट*

२. *स्फोटसिद्धि, श्लोक-१३ की व्याख्या*

३. *डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ. ३२४*

४. *वाक्यपदीय ब्रह्म कांड, १.१*

५. *Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol-V, p. १८*

६. *डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतंत्र कला शास्त्र, प्रथम भाग, पृ. ६२६*

७. *वाक्यपदीय ब्रह्मकांड, १.११२*

८. *स्फोटसिद्धि, पृ. १३*

९. *डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, पृ. २२६*

१०. *स्फोटसिद्धि, पृ. २१-२२*

११. डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल, आलेख-वाचस्पति मिश्र द्वारा स्फोटवाद का खण्डन दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष ४६ जनवरी-जून २०००, अंक १-२ पृ. ४२

१२. स्फोटसिद्धि, श्लोक ३

१३. वही, ६

१४. भारतीय दर्शन, पृ. ५१४, सम्पा. डॉ. नन्दकिशोर देवराज

१५. *Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol-V, Page*-१८९

***

सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन में स्वतंत्रता

कमला कुमारी

दो विश्वयुद्धों, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दर्शन के क्षेत्र में निरपेक्ष प्रत्ययवाद शीर्षस्थ स्थान पर था। निरपेक्ष प्रत्ययवादी विचारक निरपेक्ष प्रत्यय को ही एकमात्र परम सत्ता स्वीकार करते थे तथा उनका मानना था कि समस्त जगत् की वस्तुओं की व्याख्या निरपेक्ष-प्रत्यय के द्वारा, बुद्धि के द्वारा या तर्क के द्वारा ही की जा सकती है। निरपेक्ष प्रत्ययवाद के प्रबल समर्थक हेगेल की मान्यता है कि सत्ता बौद्धिक है तथा बुद्धि सत्तात्मक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हेगेल चरम सत्ता का स्वरूप पूर्णत: बौद्धिक स्वीकार करते हैं। ऐसे विचार की स्वीकारोक्ति से ससीम सत्ताओं का खासकर मनुष्य का अपना कोई अस्तित्व नहीं रह गया था तथा वे निरपेक्ष प्रत्यय में ही अन्तर्लीन माने जाने लगे थे। ऐसी परिस्थिति में मानव-बुद्धि, मानव-भावना तथा मानवीय-संकल्पों का अपना कोई महत्त्व नहीं रह गया था तथा वे सभी निरपेक्ष प्रत्यय या चरम सत्ता में ही लीन हो चुके थे। इस तरह दर्शन के क्षेत्र में निरपेक्ष प्रत्ययवाद के सिद्धांत के समर्थन के साथ तत्कालीन विचार में अस्तित्व का महत्त्व खत्म हो चुका था। ऐसी विषम परिस्थिति में अस्तित्ववाद के विचार का उद्‌भव हुआ। विश्व की राजनैतिक स्थिति भी मूलत: दार्शनिक स्थिति की तरह ही थी। निरपेक्ष एवं निरंकुश शासन का प्रभाव राजनैतिक जीवन पर बढ़ चुका था। व्यक्ति के महत्त्व को राज्य की इच्छाओं के सामने अस्वीकार किया जाता था। साथ ही साथ विनाश के क्षेत्र में अणुबम के निर्माण एवं प्राविधिक क्षेत्र में विभिन्न खोजों के कारण स्वयं मनुष्य अपने ही द्वारा निर्मित अस्त्रों के समक्ष नगण्य हो चुका था। सर्वत्र मनुष्य में असुरता व्याप्त थी।

अत: मनुष्य और उसका अस्तित्व बड़े ही संकट के दौड़ से गुजर रहा था। ऐसी कठिन परिस्थिति में अस्तित्ववादी विचारधारा की उपस्थिति दर्शन के क्षेत्र में होती है। दर्शन के क्षेत्र में इसे लोकप्रिय प्रत्ययवाद एवं तत्कालीन विज्ञान प्रावैधिकी विकास का विरोधी विचार कहा जा सकता है। अस्तित्ववादी विचारधारा का विकास नित्शे, किर्केगार्ड, हेडेगर, मार्सल, जास्पर्स तथा सार्त्र के विचारों में उग्र रूप से अवलोकित होता है। प्रमुख ढंग से इस विचारधारा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- ईश्वरवादी अस्तित्ववाद एवं अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद।

ईश्वरवादी अस्तित्ववाद में ईश्वर के विचार के माध्यम से मानव-अस्तित्व की विवेचना की गयी है जबकि अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में ईश्वर के विचार को स्वीकार किये बिना ही अस्तित्ववाद की धारणा की व्याख्या की गई है। प्रथम के समर्थकों में किर्केगार्ड, मॉर्सल तथा जास्पर्स आते हैं, जबकि दूसरे का समर्थन नित्शे, हेडेगर तथा सार्त्र के विचारों में देखने को मिलता है। अस्तित्ववाद एक ऐसा दार्शनिक सिद्धांत है जिसमें मानव व्यक्ति का महत्त्व तथा उसकी स्वतंत्रता पर बल दिया गया है। यह ज्ञान का नहीं क्रिया का दर्शन है। यह जीवन को सैद्धांतिक कोटियों में बांधने का नहीं, अपितु उसे 'जीने' का दर्शन है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद का विचार दर्शन की पुनर्व्याख्या एवं पुर्नस्थापना के रूप में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है। अस्तित्ववादी दर्शन व्यक्ति और उसके जीवन, उसकी कठिनाईयों और संघर्ष को समझने का प्रयास है। यह व्यक्ति के अस्तित्व और उसकी स्वतंत्रता को पहचानने का प्रयास

है। अस्तित्ववाद में अस्तित्व की प्राथमिकता का भाव निहित है। सोरेन किर्केगार्ड को 'अस्तित्व' शब्द का व्यवहार अस्तित्ववादी अर्थों में करने का श्रेय प्राप्त है। रॉबिकजेक ने अपनी पुस्तक 'एक्जिस्टेन्सियलिज्म फॉर एण्ड एगेन्सट' में स्पष्ट रूप से यह बतलाने का प्रयास किया है कि किर्केगार्ड ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने 'एक्जिस्टेन्सियालिज्म' जैसे शब्दों की रचना कर ऐसे विचार को एक नई दिशा दी।

स्वतंत्रता का विचार अस्तित्ववादी दर्शन की केन्द्रीय अवधारणाओं में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अस्तित्ववाद मुख्यतः व्यक्ति की निजता तथा स्वतंत्रता का दर्शन है। किर्केगार्ड के दर्शन में मानव स्वातंत्र्य के विचार की व्यापक एवं गहन विवेचना की गई है। यही वह मौलिक अवधारणा है जिसके चारों ओर अस्तित्ववादी प्रश्न अपने समाधान के लिये गतिशील दिखाई देते हैं। इसी दृष्टि से 'स्वतंत्रता' को अस्तित्ववाद का सारतत्त्व कहा गया है। वस्तुस्थिति यह है कि किर्केगार्ड अपने अस्तित्ववाद के मौलिक आधार में मानव अस्तित्व एवं मानव-स्वातंत्र्य को सर्वोच्च स्थान देते हैं। इन्हीं विचारों के कारण ये अस्तित्ववादी दार्शनिक तो हैं ही, साथ ही साथ अपने विचार में मानव-स्वातंत्र्य विषयक विचारों के समर्थन के कारण मानववादी भी हैं। मानववादी दर्शन मनुष्य की व्यष्टिता एवं स्वातंत्र्य का दर्शन है। इनका ऐसा मानना है कि मूल्यों के प्रागानुभविक स्रोत को अपना कर मनुष्य की क्षमता, मौलिकता एवं सर्जनात्मकता पर अविश्वास करना है। इनकी यह मान्यता है कि मनुष्य को समस्त मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना है। यही कारण है कि इन्होंने अपने मानव-स्वातंत्र्य विषयक विचारों में वास्तविक मनुष्य को मानव-स्वतंत्रता के केन्द्र में स्थापित किया है। इनके दर्शन का मुख्य लक्ष्य सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय संदर्भ में प्रस्तुत करना है। अतः इनके अनुसार मानव अस्तित्व एवं मानव स्वातंत्र्य अस्तित्ववाद के मूलगत तथ्य हैं जहाँ मानव-अस्तित्व का स्वरूप मानव-स्वतंत्रता को अर्थ प्रदान करता है और मानव-स्वतंत्रता मानव-अस्तित्व को। अस्तित्ववादी विचार के समीक्षकों ने तो यह माना है कि मानव को समझने के लिए सर्वप्रथम स्वतंत्रता को समझना अनिवार्य होता है। अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों की तरह किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी विचार में स्वतंत्रता की बड़ी ही अहम् भूमिका है।

ये अपने अस्तित्ववाद के मुख्य केन्द्रीय विचारों में यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य अपने अस्तित्व की सिद्धि स्वतंत्रता के माध्यम से ही कर सकता है। जब व्यक्ति, व्यक्ति को या जब व्यक्ति अपने अस्तित्व को वस्तुगत धरातल पर जानने की चेष्टा करता है तब उसके स्वतंत्रता का सही बोध नहीं हो पाता, लेकिन आत्मपरक अनुभूति के रूप में जब उसे अपने अस्तित्व का बोध होता है तो वह स्वतंत्रता का भी पूर्ण बोध कर पाता है। इस तरह इस पृष्ठभूमि में किर्केगार्ड अस्तित्ववान होने की क्रिया को स्वतंत्रता कहते हैं। यहाँ आत्मपरक अनुभूति आभ्यन्तरिक अनुभूति है। जिस अनुभूति को हम अपने अन्दर से अनुभूत कर पाते हैं, वही अनुभूति स्वतंत्र अनुभूति है। ऐसी अनुभूति की अवस्था में ज्ञाता एवं क्षेत्र के बीच अभिन्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति अपने जीवन में प्रामाणिक एवं अप्रामाणिक अस्तित्वों के बीच निहित विकल्पों में चयन करता है। जिस स्थिति का वह सामना करता है वह स्थिति स्वतंत्रता के बोध की स्थिति है। सोरेन किर्केगार्ड स्पष्ट शब्दों में यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता में उसके अस्तित्व की अनुभूति की स्वतंत्रता निहित होती है। यही वह स्थिति होती है जहाँ वह अपने चयन में प्रतिबिम्बित स्वतंत्रता से अन्य प्राणियों में निहित चयनरहित स्वतंत्रता के बीच भेद कर पाता है। अतः मनुष्य अपने अस्तित्व का सामना चयन की स्वतंत्रता में ही कर पाता है।

किर्केगार्ड यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य ईश्वर की अनुभूति करने में स्वतंत्र है। यह अनुभूति आभ्यन्तरिक चिंतन में देखने को मिलती है। जब मनुष्य ईश्वरानुभूति के मार्ग पर चलता है तो यह कहा जा सकता है कि वह वस्तुतः स्वतंत्र है। अर्थात् स्वतंत्रता की अनुभूति ईश्वरानुभूति के साथ जुड़ी हुई है। अतः किर्केगार्ड स्वतंत्रता की व्याख्या ईश्वरीय दृष्टिकोण से करके ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के विचार का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मानव-स्वतंत्रता ईश्वर के प्रति आस्था में निहित है। ऐसी आस्था को वे मानव में निहित क्षमता का बोधक मानते हैं तथा यह स्वीकारते हैं

कि यह क्षमता ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की वचनबद्धता का बोधक है। वह अपने जीवन में ईश्वर के प्रति भक्तिभाव रखता है तथा नैतिक जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार के धर्म एवं नैतिकता का जीवन संवेद्य जीवन से पूर्णतः भिन्न होता है। निश्चित रूप से संवेद्य जीवन या सौन्दर्य की अनुभूति सुगम एवं सुखकर जीवन की प्रतीक है, जबकि नैतिक-आध्यात्मिक जीवन कठिन एवं सुखकर जीवन के बोधक हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो यह स्वतंत्रता है कि उनमें से एक का चयन करे ताकि वह ऐसे चयन के माध्यम से अपने अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को मुखरित कर सके। किर्केगार्ड यह स्वीकारते हैं कि ऐसे चयन में व्यक्ति की सम्पूर्ण सत्ता निहित हो जाती है तथा जिस अवस्था का वह चयन करता है, उसके अस्तित्व में भी उसी प्रकार का निखार आता है। वैकल्पिक स्थिति अस्तित्व के चयन की स्थिति है, स्वतंन्त्रता के प्रयोग की स्थिति है। यदि वह नैतिक-आध्यात्मिक अस्तित्व की प्राप्ति करना चाहता है तो उसे ईश्वर के प्रति आभ्यन्तरिक रूप से वचनबद्ध होना पड़ता है तथा वह महसूस करता है कि वह अस्तित्ववान व्यक्ति है, किन्तु जब वह सांसारिक सुखों में लीन हो जाता है या सांसारिक सुखों के बीच निवास करने का निर्णय लेता है तो उसे अपने वास्तविक अस्तित्व को भूल जाना पड़ता है। वस्तुतः जगत् के वस्तुओं के बीच सांसारिक सुख की प्राप्ति का चयन एवं उनसे अलग होकर नैतिक-आध्यात्मिक जीवन में निवास करने के चयन के बीच ही स्वतंत्रता के वास्तविक प्रयोग निहित हैं। ऐसे ही स्वतंत्र चयन की अनुभूति का आरम्भ नैराश्य के साथ होता है। जब व्यक्ति अप्रामाणिक अस्तित्व से प्रामाणिक अस्तित्व की ओर बढ़ने के क्रम में स्वतंत्रता का प्रयोग करता है या सांसारिक सुख से ईश्वरत्व की प्राप्ति की ओर बढ़ता है तो ऐसी प्रगति की संभावना स्वतंत्रता के सही उपयोग में ही निहित है। ऐसे उपयोग द्वारा ही प्रामाणिक अस्तित्व की प्राप्ति हो सकती है। जिसे किर्केगार्ड धार्मिक अवस्था की संज्ञा देते हैं तथा मानते हैं कि यह मनुष्य की आत्मपरकता की वचनबद्धता में ही निहित है। इसे ही ईश्वर के साथ आभ्यन्तरिक सम्बन्ध की संज्ञा दी गई है। इसे ही सर्वोच्च सत्य कहा गया है। किर्केगार्ड अस्तित्व की ऐसी अनुभूति को नैतिक-धार्मिक जीवन में अभिव्यक्त होते हुए देखते हैं तथा ऐसे जीवन को ही वास्तविक स्वतंत्रता का जीवन मानते हैं।

किर्केगार्ड मानते हैं कि मानव अस्तित्व के विकास को तीन अवस्थाओं से गुजरते हुए देखा जा सकता है। प्रथम अवस्था को वे सौंदर्यानुभूति की अवस्था कहते हैं। यह सुखानुभूति की अवस्था है, अर्थात् व्यक्ति सांसारिक सुखों की ओर आकर्षित रहता है। यह कहा जा सकता है कि सांसारिक सुखों के लिए वह लालायित रहता है। फलस्वरूप उसके क्रिया-कलापों में बाध्यताएँ देखी जाती हैं। जितना अधिक वह सांसारिक सुखों में लिप्त होना चाहता है उतना ही अधिक उसके जीवन में बाध्यताएँ आती चली जाती हैं तथा वह न तो स्वतंत्रतापूर्वक चयन ही करता है और न उसके निर्णय ही स्वतंत्र हो पाते हैं। किर्केगार्ड द्वारा समर्पित स्वतंत्रता के विचार की अभिव्यक्ति उनके द्वारा स्वीकारे गए जीवन की नैतिक अवस्था की दृष्टि से और अधिक स्पष्ट हो जाती है। जब व्यक्ति नैतिक जीवन जीने लगता है तो उसे असीम शक्ति का एहसास होने लगता है। असीम शक्ति का यह एहसास उनके स्वतंत्र निर्णयों एवं स्वतंत्र चयनों में अभिव्यक्त होते हैं। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि जीवन की नैतिक अवस्था में व्यक्ति स्वतंत्र क्रियाओं द्वारा अपना या अपने व्यक्तित्व का सृजन करता है। उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय ऐसी अवस्था में स्वतंत्र चयन का रूप ले लेते हैं तथा ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता चयन एवं निर्णय के द्वारा प्रतिबिम्बित होने लगती है। यदि नैतिक जीवन की अवस्था अस्तित्व की अनुभूति के साधन का काम करती है तो आध्यात्मिक या धार्मिक अवस्था ऐसे अस्तित्व की पूर्णता की अवस्था है। किर्केगार्ड का मानना है कि जीवन की यह अन्तिम अवस्था वस्तुतः नैतिक अवस्था की चरम परिणति है जहाँ नैतिक अवस्था के साधनों की परिणति अस्तित्व के वास्तवीकरण में देखी जाती है।

जैसा कि देखा जा चुका है कि सोरेने किर्केगार्ड सभी अस्तित्ववादी मान्यताओं की व्याख्या ईश्वर के संदर्भ में ही करते हैं। अतः इनके अनुसार स्वतंत्रता का जीवन ईश्वरानुभूति का जीवन है। ऐसी अनुभूति में व्यक्ति अपने अस्तित्व की वास्तविक अनुभूति कर पाता है तथा अस्तित्व की वास्तविक अनुभूति ही किर्केगार्ड के अनुसार ईश्वरानुभूति है। इस अर्थ में स्वतंत्रता का जीवन जीना ही ईश्वरत्व का जीवन जीना है। किर्केगार्ड के ऐसे विचार जहाँ कार्ल जास्पर्स तथा मार्शल के

विचारों से साम्य रखते हैं वहाँ इनकी भिन्नता सार्त्र एवं हेडेगर के विचारों में देखने को मिलती है।

अस्तित्ववादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य का मुख्य कर्तव्य अपने प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण रहना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य से दूसरे व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। जब कभी भी वह अपने संदर्भ में स्वतंत्रतापूर्वक चयन करता है या उत्तरदायित्वपूर्ण चयन करता है या उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय लेता है तो इसके प्रभाव से अन्य व्यक्ति भी वंचित नहीं रह पाते। ऐसे निर्णय दूसरों के लिए भी होते हैं और ऐसे निर्णयों द्वारा दूसरे के भाग्य पर भी उचित प्रभाव पड़ता है। अतः स्वतंत्रता विशेषकर वास्तविक स्वतंत्रता केवल व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रहती, बल्कि अन्य व्यक्तियों के जीवन को भी प्रभावित करती है।

अतः किर्केगार्ड के स्वतंत्रता के विचार विशिष्ट रूप से मानवीय स्वतंत्रता के विचार हैं, किन्तु ये मानते हैं कि इनकी अभिव्यक्ति नैतिक जीवन में देखने को मिलती है तथा धार्मिक जीवन में इनकी चरम परिणति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता सतत् सतर्कता द्वारा ही संभव है। ऐसी सतर्कता बाह्य एवं आंतरिक दोनों ही का संयोजन है। इस दृष्टि से इनके विचार की तुलना महात्मा बुद्ध के 'अप्पमादो अमत पदम्' से की जा सकती है। जहाँ इन्होंने भी सतर्कता को शाश्वत जीवन का धर्म माना है।

***

ओशो महागीता में साक्षी वेद्यत्व

रंजय प्रताप सिंह

आचार्य श्री रजनीश को भारतीय चिन्तन परम्परा एवं भारतीय मनीषा को वर्तमान सदी में विश्व के मानस पटल पर एक नवीन आयाम देने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने एक तरफ बुद्ध, महावीर, कृष्ण, शंकर, कबीर की चिन्तनधारा को समकालीन परिदृश्य में अपनी तर्कपूर्ण वाणी से सरल एवं सुबोधगम्य बनाया, दूसरी तरफ श्रुति एवं स्मृति परम्परा के अनेकों आर्ष ग्रंथों को स्वानुभूत तथ्यों की सोदाहरण व्याख्या से विवेचित किया है, जिसमें अष्टावक्र गीता का अद्वितीय स्थान है। प्रस्तुत शोध-पत्र में आचार्य श्री रजनीश की आध्यात्मिक सम्पदा का प्रकटीकरण 'अष्टावक्र-संहिता', जिसका नामकरण ओशो महागीता के रूप में हुआ है, के आधार पर करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य श्री रजनीश 'ओशो' नाम से लोकप्रिय हैं। कुछ लोगों का मानना है कि ओशो शब्द 'ओशनिक' से बना है, जिसका तात्पर्य है- 'समुद्र में विलीन हो जाना'। ओशनिक शब्द के द्वारा अनुभूति की व्याख्या की जाती है। अनुभूति के सागर में डूबकर ही आचार्य श्री रजनीश के प्रवचन जीवन, जगत् एवं ईश्वरत्व की अनुभूति कराने में समर्थ हैं। ओशो शब्द का प्रयोग भगवत्ता धारण करने वाले ऐसे महापुरुष के लिए होता है, जिस पर आकाश से फूलों की वर्षा होती है। ओशो का व्यक्तित्व बुद्ध पुरुषों की महान धारा में एक नया प्रारम्भ है। उनके आगमन से एक नये मनुष्य का, एक नये जगत् का, एक नये युग का सूत्रपात हुआ है। ओशो का यह नया मनुष्य 'जोरवा दि बुद्धा' एक ऐसा मनुष्य है, जो जोरवा की भाँति भौतिक जीवन का पूरा आनन्द मनाना जानता है और जो गौतम बुद्ध की भाँति मौन रहकर ध्यान में उतरने में भी सक्षम है। ऐसा मनुष्य जो भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों तरह से समृद्ध है।[१] जोरवा दि बुद्धा का व्यक्तित्व मनुष्य को अपूर्णता से पूर्णता की ओर उन्मुख करने में समर्थ है।

भौतिक जीवन का आनन्द विज्ञान की प्रगति पर निर्भर है जबकि आन्तरिक शक्ति का विकास अध्यात्म के द्वारा होता है। मन में उठने वाले जीवन और जगत् के अनसुलझे सवालों का उत्तर आचार्य रजनीश ने अष्टावक्र और जनक के संवाद को आधार बनाकर दिया है जिसे 'ओशो महागीता' कहा जाता है। यद्यपि श्री कृष्ण और अर्जुन का संवाद भी गीता के रूप में प्रचलित है, किन्तु इसमें काव्यात्मकता है तथा तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए काल्पनिकता का भी समावेश है। अष्टावक्र सत्यवादी हैं, उन्होंने सत्य के यथार्थ स्वरूप को उसी रूप में प्रस्तुत किया है, जिस रूप में वह है। इसीलिए अष्टावक्र गीता में सत्यता के साथ-साथ गणितीय सुनिश्चितता है। भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की त्रिवेणी प्रवाहमान है, जिसमें कहीं ज्ञान, कहीं पर कर्म तथा कहीं पर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध है। इसीलिए तिलक, श्री अरविन्द, गाँधी, विनोबा आदि अनेकों विद्वानों ने अपनी विचारधारा के अनुरूप टीकाएं की हैं। आज तक सर्वाधिक टीका गीता पर की गयी है, जबकि अष्टावक्र गीता पर बहुत कम टीका उपलब्ध है। आचार्य रजनीश दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'कृष्ण पर सदियाँ बीत गयी, टीकाएं चलता जाती हैं। हर सदी अपना अर्थ खोज लेती है, हर व्यक्ति अपना अर्थ खोज लेता है। कृष्ण की गीता स्याही के धब्बों जैसी है। एक कुशल राजनीतिज्ञ का वक्तव्य है। परन्तु अष्टावक्र की गीता में तुम कोई अर्थ न खोज पाओगे। तुम अपने को छोड़कर चलोगे, तो ही अष्टावक्र की गीता स्पष्ट होगी।'[२] पुनः ओशो अष्टावक्र गीता की महत्ता को बताते हैं कि 'अष्टावक्र का सुस्पष्ट संदेश है, उसमें जरा भी तुम अपनी व्याख्या न डाल सकोगे। इसीलिए

लोगो ने टीकाएं नहीं लिखी। टीका लिखने की जगह नहीं है, तोड़ने मरोड़ने का उपाय नहीं हैं, तुम्हारे मन के लिए सुविधा नहीं है कि तुम कुछ डाल दो। अष्टावक्र ने इस तरह से वक्तव्य दिया है कि सदियाँ बीत गयी, उस वक्तव्य में कोई कुछ जोड़ नहीं पाया, घटा नहीं पाया। बहुत कठिन है ऐसा वक्तव्य देना। शब्द के साथ ऐसी कुशलता बड़ी कठिन है।'[३]

इस महागीता का मूल उद्देश्य साधक के मस्तिष्क को ध्यान एवं साधना के माध्यम से विवेकयुक्त बनाना है। विवेक ही सत्य है। विवेक कहीं से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि वह सहज ही उपलब्ध है। अविवेक स्वयं की भौतिक एवं सांसारिक विचारमूढ़ता की उपज है जिसके कारण असत्य का मार्ग मनुष्य अपनाता है। विवेकशक्ति का अभाव मनुष्य को अन्तर्दृष्टि से रहित कर देता है। मनुष्य में अहंकार, मोह, लोभ, ईर्ष्या, राग आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वह संसार के भोग-वासना में लिप्त होकर विभिन्न प्रकार के क्लेशो से बंध जाता है। इन क्लेशों से मुक्ति ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए ज्ञानप्राप्ति की इच्छा वाले जनक, ज्ञान शिरोमणि अष्टावक्र से प्रश्न करते हैं-

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथम् प्राप्तमेतद ब्रूहि मम प्रभो।[४]

आचार्य रजनीश का मन्तव्य है कि ज्ञान अनन्त है और अनन्त शास्त्रों में निहित है, लेकिन उसे कंठस्थ कर लेना ज्ञान नहीं है। वस्तुतः ज्ञान वह है जो सत्य का अवबोध कराये। सत्य और संतोष ही अमृत के समान है। ईश्वरत्व की अनुभूति सत्य के माध्यम से ही हो सकती है। रजनीश कहते हैं कि 'असत्य के साथ जो जीयेगा, वह असत्य होता चला जायेगा, जो असत्य को बोलेगा, असत्य को जीयेगा, स्वभावतः असत्य से घिरता चला जायेगा। उसके जीवन से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायेंगे और जड़े टूट जायेंगी। परमात्मा से जड़े चाहते हो तो सत्य के द्वारा ही वे जड़े हो सकती है। प्रामाणिकता और सत्य के द्वारा ही तुम परमात्मा से जुड़ सकते हो, जितने तुम असत्य होते जाओगे, उतने परमात्मा से दूर होते चले जाओगे। तू न पृथ्वी है, न जल है, व वायु है, न आकाश है। मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जानो।'[५]

यहां साक्षी चैतन्यमयी दृष्टि की प्राप्ति होना समाधि की अवस्था का प्राप्त होना है। गौतम बुद्ध ने इस प्रकार मनुष्य के रूप में दुःख-निरोध मार्ग के लिए अष्टांगिक मार्ग का अन्वेषण किया, जिसमें आठवें पादान पर सम्यक्-समाधि का स्थान है। अष्टावक्र ने जनक के प्रथम प्रश्न के उत्तर में ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति की गुत्थी साक्षी वेद्यत्व की समाधिमयी अवस्था से सुलझाते हैं। साक्षी वेद्यत्व की दृष्टि ही मनुष्य को अपने स्वरूप का बोध कराती है। मनुष्य केवल एक मात्र भौतिक शरीर का संचालक है, मन, बुद्धि उसके निर्देशानुसार कार्य करते हैं। शरीर का निर्माण पांच भौतिक तत्त्वों के संयोग से हुआ है, जो अनित्य एवं नश्वर है। इसमें निवास करने वाला चैतन्य रूपी आत्मा नित्य एवं शाश्वत है। यही साक्षी चैतन्य है। ओशो कहते हैं-

'साक्षी सूत्र है। इससे महत्त्वपूर्ण सूत्र और कोई भी नहीं है। देखने वाले बनो। जो हो रहा है उसे होने दो, उसमें बाधा डालने की जरूरत नहीं है। यह देह तो जल है, मिट्टी है, अग्नि है, आकाश है। तुम इसके भीतर भी वह दिये हो जिसमें ये सब जल, अग्नि, मिट्टी आकाश, वायु प्रकाशित हो रहे हैं। तुम द्रष्टा हो। **साक्षिणां चिद्रूपं आत्मानं विद्धि।** यह इस जगत् में सर्वाधिक बहुमूल्य सूत्र है। साक्षी बनो। इसी से होगा ज्ञान, इसी से होगी मुक्ति।'[६] जनक के तीनो प्रश्नों का समाधान अष्टावक्र साक्षी के द्वारा करते हैं।

ओशो साक्षी के स्वरूप का बोध उपनिषद् के साक्ष्य के आधार पर भी कराते हैं। मुण्डक उपनिषद में कहा गया है कि एक वृक्ष की शाखा पर दो पक्षी बैठे हुए हैं। उसमें एक पक्षी फल को तोड़ता है, उसका आस्वादन करता है तथा खट्टेपन अथवा मीठेपन का अनुभव प्राप्त करता है, जबकि दूसरा पक्षी केवल उसे देखता रहता है। ओशो इन दोनो पक्षियों में प्रथम को कर्ता एवं द्वितीय को साक्षी बताते हैं। उनके अनुसार इस चराचर जगत् की उत्पत्ति कर्ता के द्वारा ही होती है और साक्षी से ब्रह्म के दर्शन होते हैं। संसार में सुख एवं दुःख दोनों का अनुभव सभी प्राणियों को होता है। दुःख, संताप एवं निराशा की स्थिति में ध्यान, भजन और भक्ति का मार्ग अपनाना इन सभी से मुक्ति का माध्यम है। ओशो का कथन है कि अगर दुःख है तो उनका भी उपयोग करो। दुःख का एक ही उपयोग किया जा सकता है- और वह है कि साक्षी बनो। जितना साक्षी

भाव बढ़ेगा, उतना दुःख क्षीण होता जायेगा। जिस दिन तुम परम साक्षी बन जाओगे, द्रष्टा मात्र, उस दिन जीवन में कोई दुःख नहीं रहेगा। उस दिन जीवन परमात्मा है।'[७]

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में साक्षी शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है, किन्तु उनकी कारिका का अभिप्राय यही है कि सभी कुछ को सर्वदा जानने वाला ईश्वर साक्षी है।'[८] आचार्य शंकर के मत में पारमार्थिक दृष्टि से तत्त्व एक ही है, जो सजातीय विजातीय, स्वगत भेदों से रहित है, सत्य चैतन्य, आनन्दमय है तथा अपनी महिमा में स्वयं स्थित है। साक्षी उस परमतत्त्व का एक रूप है। अद्वैत वेदान्त में साक्षी की आवश्यकता है, क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात, अज्ञात, यथार्थ, मिथ्या सभी वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। यही नहीं साक्षी को अज्ञात भी ज्ञात रहता है। इसी प्रकार प्रमाता द्वारा मिथ्या रूप से तिरस्कृत वस्तु भी साक्षी को आभासित होती है। अतः साक्षी सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ होते हुए भी वह निर्णायक न होकर निष्पक्ष है और इसी निष्पक्षत्व के कारण ही साक्षी को सत् और मिथ्या, ज्ञात और अज्ञात सभी भासित होते हैं। साक्षी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इन अवस्थाओं का ज्ञान हमें इनके विकारों से होता है। विकारों के कारण ही हम कहते हैं कि मेरा यह भौतिक शरीर है, मेरा यह प्राणमय कोष है, मेरा यह मनोमय कोष है। मेरा यह विज्ञानमय कोष है, मेरा यह आनन्दमय कोष है। इस प्रकार यह पंच कोषवान भी आत्मा नहीं है, अपितु इन सबों से विलक्षण इन सबों का साक्षात् द्रष्टा आत्मा है। वह शब्दहीन है, स्पर्शरहित है, उसकी कोई आकृति नहीं है, वह अविनाशी है, रसहीन है, नित्य है, गद्य रहित है, अनादि है, अनन्त है, महत् है, सर्वश्रेष्ठ है, ध्रुव है, सर्वसंग्रह है, वह मुक्त है, वह साक्षात् द्रष्टा है।'[९]

इसीलिए ओशो का साक्षी के वास्तविक, उपाधि रहित स्वरूप के सम्बन्ध में मत है कि शास्त्रीयता एवं पाण्डित्य केवल विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। इनसे साक्षी का ज्ञान नहीं हो सकता है। साक्षी को द्रष्टा की तरह देखो, विचारक की तरह नहीं। विचारक का तो अर्थ हुआ कि मन की क्रिया शुरू हो गयी। अगर अष्टावक्र को समझना है तो चैतन्य, शुद्ध चैतन्य की तरह ही समझ पाओगे। अगर सोच-विचार में पड़े तो अष्टावक्र को नहीं समझ पाओंगे। चूक जाओगे। अष्टावक्र कोई दार्शनिक नहीं है, कोई विचारक नहीं है। अष्टावक्र तो एक संदेशवाहक है- चैतन्य का, साक्षी का। शुद्ध साक्षी। सिर्फ देखो, दुःख हो दुःख को देखो सुख हो सुख को देखो। दुःख के साथ यह मत कहो कि मै दुःखी हो गया और सुख के साथ यह मत कहो कि मै सुखी हो गया। दोनो को आने दो, जाने दो। रात आये तो रात देखो, दिन दिन आये तो दिन देखो। रात में मत कहो कि मैं रात हो गया। दिन में मत कहों कि मै दिन हो गया। रहो अलग-थलग, पार अतीत, उपर दूर। एक ही बात के साथ तादात्म्य रहे कि मै द्रष्टा हूं, साक्षी हूँ।[१०]

ओशो की मान्यता है कि ध्यान से स्वयं को देखो, ध्यान एक विधि है जिसके द्वारा साक्षी की मंजिल मिल सकती है। प्रेम-मोह और विचार की अवस्था में साक्षी के रूप में स्वयं को देखने से अपनी स्थिति का पता चलेगा। आत्मा प्रत्येक दशा में विद्यमान रहेगा, किन्तु अंहकार नष्ट हो जायेगा। प्रेम पारमार्थिक सत्य है, क्योंकि प्रेम की स्थिति में अद्वैत हो जाता है। अंहकार व्यावहारिक सत्य है। अंहकार में द्वैत रहता है। अहंकार से मोह उत्पन्न होता है।

प्रेम जीवन की सामान्य आवश्यकता है, जीवन की एक शर्त है किन्तु मोह जीवन की विवशता है, मनोवैज्ञानिक विवशता है। प्रेम असीमित है, उदात्त है, उसे मापा नहीं जा सकता है। जबकि मोह का दायरा सीमित है। मोहग्रस्त व्यक्ति समाज को कुछ भी नहीं दे पाता है जबकि प्रेम का जब प्रसार होता है तो मनुष्य का बौद्धिक, आत्मिक उन्नयन होता है। प्रेम अनन्त है, वह सम्पूर्ण समाज को अपने में समाहित कर सकता है। उसमें कहीं भी भेद-भाव नहीं दिखायी पड़ता है। उसमें केवल अपनत्व की भावना नहीं रहती है बल्कि प्रेम के कारण ही मनुष्य में परोपकर की प्रवृत्ति बढ़ती है, जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख में काम आता है। दूसरों के हितो की पूर्ती के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तत्पर रहता है। प्रेम का यह गुण विश्वासपरक है। उसमें सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना निहित होती है। प्रेम सृष्टि की छोटी से छोटी रचना से लेकर विराट स्रष्टा की समीपता का माध्यम होता है। मोह इस गुण से विरत रहता है। उसकी सीमा एवं लक्ष्य केवल व्यक्तिगत संतुष्टि तक सीमित है। प्रेम ही जीवन है, परमात्मा को पाने का मार्ग है। प्रेम से जगत् को अपने वश में किया जा सकता है। प्रेम से आत्मीयता बढ़ती है। जीवन की सार्थकता प्रेम में निहित है। प्रेम से हमारे विचारों में श्रेष्ठता आती है। मानव जीवन की सबसे बड़ी पूंजी विचार है।

ओशो मानव जीवन की ओजस्विता विचारों की तपश्चर्या की उपलब्धि मानते हैं। हमारे हदय में उत्तम विचारों का उद्गम होना समस्त संशयो का शमन कर देना है। इसीलिए वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति के भीतर विचार सजग हो उठता है उसके जीवन में एक अलग ही तेजस्विता पैदा हो जाती है, उसके जीवन में एक शिथिलता, एक उदासी, एक सुस्ती समाप्त हो जाती है। विचार महान शक्ति है। मनुष्य के भीतर जो सबसे जीवन्त शक्ति है जो सबसे प्राणवान ऊर्जा है, जो सबसे महान तेजस्विता है, जो सबसे ज्वलन्त अग्नि है, वह विचार की है। इसलिए स्वभावतः जिसके प्राण जितने विचारपूर्ण होते हैं, उसके जीवन में उतनी ही ताजगी और तेज आ जाता है, वह उतना ही जागरूक और प्रबुद्ध हो जाता है और उतना ही प्रकाश से भर जाता है। विचार ऊर्जा का प्रज्वलित हो उठना है, प्रकाश है।'[११]

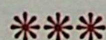
प्रायः यह देखा जाता है कि समाज में प्रेम, मोह एवं उत्तम विचारों से ही लोक-व्यवहार नियंत्रित होता है। हिन्दू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। सभी वर्णों के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास चार आश्रमों का विधान है। इस वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था में मूल संवाहक सुखी, शान्त, आत्मा साक्षी ही है। इसीलिए ओशो कहते हैं कि 'तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है, और न तू कोई आश्रम वाला है और न आँख आदि इन्द्रियों का विषय है। असंग और निराकार तू सबका, विश्व का, साक्षी है। ऐसा जानकर सुखी हो।[१२]

यहाँ पर आचार्य रजनीश सभी मनुष्यों में निहित, विश्व का साक्षी, आत्मतत्त्व को हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि धर्मों की कट्टरता का तिरस्कार कर मूल्यवान, नैतिक गुणों से परिपूर्ण मनुष्य के रूप में बोध कराते हैं, जो मूलतः अपने स्वरूप को जानकर सुखी जीवन व्यतीत करें। अष्टावक्र विश्व साक्षी को 'असंगो असि निराकारो विश्व साक्षी सुखी भव'[१३] कहकर उसे सभी धर्म एवं अधर्म की भावना से विमुक्त कर देते हैं। उस पर सुख और दुःख का भी प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि सुख और दुःख दोनों प्रवृत्तियाँ मन के द्वारा धारित हैं। कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से पूर्णतया स्वतंत्र है। वह मुक्त स्वभाव वाला है और जब वह अपने स्वरूप को जान जाता है, तो सुखी हो जाता है। साक्षी भाव का बोध मन में जगने से मन की स्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। साक्षी चेतना वाले मनुष्य को क्रोध, अंहकार की वृत्ति का दमन नहीं करना पड़ता, बल्कि उससे स्वतः छुटकारा मिल जाता है और जीवन आनन्दमय बन जाता है।

इस प्रकार ओशो ने जनक एवं अष्टावक्र के संवाद की पुनर्व्याख्या करके प्राचीन जीवन-पद्धत्ति एवं आधुनिक जीवन-पद्धत्ति के मध्य समन्वय स्थापित किया है। एक नयी वैज्ञानिक एवं तार्किक सोच के द्वारा जहाँ एक तरफ मन को पूर्ण संतुष्टी मिलती है, वहीं दूसरी तरफ मनुष्य स्वतः सहज विचार में प्रवृत्त होता है।

सन्दर्भः

१. *सत्य की पहली किरण, पृ. १४२*
२. *ओशो, अष्टावक्र महागीता, पृ. ५*
३. *वही*
४. *अष्टावक्र गीता, अध्याय १/१.*
५. *ओशो, अष्टावक्र महागीता, पृ. २०*
६. *वही*
७. *सत्य की पहली किरण (परिशिष्ट), ओशो का आध्यात्मिक चिंतन*
८. *माण्डूक्यकारिका, २/१२*
९. *आत्मतत्त्वविवेक, पृ. ४६*
१०. *ओशो, अष्टावक्र महागीता, पृ. ५३*
११. *सत्य की पहली किरण, पृ. ८४*
१२. *ओशो, अष्टावक्र महागीता, पृ. २२*
१३. *वही*



चार्वाक दर्शन का स्वभाववाद, यदृच्छवाद और विरचनावाद

चन्द्रभूषण सिंह
बच्चा प्रसाद

चार्वाक दर्शन का नाम सुनते ही हमारे सामने दर्शन के क्षेत्र में सामान्यतः किये जाने वाले अनुशीलन से भिन्न चित्र उपस्थित होता है। यह चित्र विकृति, विद्रूपता, उपहास, विरोधाभास एवं नकारात्मक प्रवृत्तियों का मिश्रित रूप होता है। चार्वाक दर्शन को लेकर इस तरह की अनुभूति का आधार भारतीय परम्परागत सोच है। भारतीय दार्शनिक परम्परा आस्तिकता की अनुचरी है। सामान्यतः आस्तिक शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता रहा है- सबसे पहले इसका 'ईश्वर में विश्वास' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है; दूसरे अर्थ में 'परलोक और पारलौकिक सत्ताओं में विश्वास'; तीसरा, 'वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास' के अर्थ में। दार्शनिक जगत् में 'आस्तिक' को इसी अर्थ में ग्रहण किया जाता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा इसी प्रकार की आस्तिकता से अनुप्राणित समझी जाती रही है। भारतीय चिन्तन परम्परा में जिस पक्ष का प्राधान्य एवं प्राबल्य है, वह यही धारा है।

यद्यपि भारतीय दार्शनिक परम्परा की मुख्यधारा आस्तिक है, लेकिन इस आधार पर समस्त भारतीय दार्शनिक अनुचिंतन को आस्तिकता का पोषक मान बैठना भारी भूल होगी। भारतीय संदर्भ में दार्शनिक प्रस्फुटन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से माना जाता है। इस सूक्त की आध्यात्मिक व्याख्या ही प्रस्तुत की जाती रही है लेकिन बारीकि से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ भी मुख्यधारा के चिन्तन को चुनौती देने वाले तत्त्व मौजूद हैं। नासदीयसूक्त में ही कहा गया है कि सृष्टि के सृजन के बाद ही देवताओं का आविर्भाव इस विश्व में हुआ। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि भौतिक संसार की अहमियत को वैदिक काल में भी नकारा नहीं गया और आगे चलकर संसार के महत्त्व को कम करने का आध्यात्मवादियों का सचेष्ट प्रयास शुरू हुआ।

सभी विचारक प्रायः इस बात को लेकर सहमत हैं कि भारत में दार्शनिक चिन्तन का उदय जीवन की व्यावहारिक कठिनाइयों के समाधान स्वरूप हुआ। मुख्यधारा की आस्तिक परम्परा ने जीवन की व्यावहारिक परेशानियों का वास्तविक समाधान ढूंढ़ने की जगह निवृत्ति की राह दिखाकर उन्हें मोक्ष के रूप में कल्पनालोक में पहुँचा दिया। बहुत-सी ऐसी समस्याएं जो सही मायने में समस्या थी ही नहीं, उन्हें छद्म समस्या के रूप में प्रस्तुत कर उनका समाधान ढूंढ़ने का प्रयास होने लगा। यह सारा प्रयास, सारा खेल जानबूझकर आध्यात्मिक विचारों की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए था। सिद्धान्तों के प्रणयन, मतों के प्रतिपादन का आधार अघोषित लक्ष्य की प्राप्ति का औजार बन गया। वादों की सार्थकता, सिद्धान्तों की उपादेयता जन सामान्य की आकांक्षाओं से बेमेल हो गयी थी। इसी तरह की पृष्ठभूमि में भारतभूमि पर विचारों का एक ऐसा प्रवाह आता है जो जनसमस्याओं और जनआकांक्षाओं के अनुरूप था, यह प्रवाह सामान्य बुद्धि को पल्लवित करने वाला तथा जीवन के प्रवृत्तिमार्ग की चुनौतियों को लेकर आशा का संचार करने वाला था। चिन्तन का यह प्रवाह चार्वाकमत या लोकायतमत के रूप में भारतीय दार्शनिक परम्परा में जाना जाता है। ऐसे प्रगतिशील विचार के प्रति घृणा और अविश्वास

के चलते कालान्तर में भारतीय चिन्तन का प्रवाह अवरुद्ध होकर ठहर-सा गया। ऐसे विश्वासों को कोसने और आध्यात्मिकता को पोषने में पीढ़ियाँ गुजर गयीं।

भारत वर्ष में दार्शनिक चिन्तन का विकास ऊर्ध्वाकार रूप में न होकर पार्श्ववर्ती ढ़ंग से हुआ है। पश्चिम में किसी सिद्धान्त को क्रमिक तरीके से परिवर्तित और परिष्कृत किया गया है, लेकिन भारत में यह स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहाँ कई बार समर्थक और प्रतिद्वन्द्वी साथ-साथ चलते मिल जाते हैं। सभी प्रकार के सिद्धान्तों के प्रणयन में एक अलिखित एवं अघोषित पद्धत्ति का निरूपण पाते हैं। इस पद्धत्ति में सर्वप्रथम प्रतिद्वन्द्वी के विचारों को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उसकी तार्किक असंगति और विरोधाभासों के सहारे उसे अपर्याप्त और कमजोर घोषित करके दार्शनिक चिन्तन के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् अपने सिद्धान्त के प्रणयन हेतु समर्थक युक्तियों को उपस्थापित किया जाता है और अन्त में इस आग्रह के साथ कि 'हमारा ही मत दार्शनिक चिंतन की कसौटी पर खरा उतरने में सक्षम है' अपने मत की सर्वग्राह्यता और संगतता की घोषणा कर दी जाती है।

चूँकि चार्वाक के तार्किक प्रयासों को शिथिल करना आसान नहीं था, इस कारण भारतीय चिन्तन परम्परा के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने इस विचारधारा को अनुपयुक्त, असंगत एवं विरोधाभासपूर्ण बतलाकर इसे निम्न कोटि का विचार बतलाने का हर संभव प्रयास किया है। चार्वाक की विचारधारा अन्य समकालीन विचारधाराओं के निर्बाध प्रवाह में आड़े आ रही थी, इस कारण इसके दार्शनिक ग्रन्थों को समूल नष्ट कर दिया गया है। तार्किक पैनापन वाली इस दार्शनिक प्रणाली की जानकारी के लिए हमें इसकी विरोधी विचारधाराओं के दार्शनिक ग्रंथों में पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित किए गए अंशों पर निर्भर रहना पड़ता है।

चार्वाक दर्शन के मौलिक स्वतंत्र ग्रन्थ के अभाव और इसकी जानकारी हेतु विरोधी चार्वाकेतर ग्रंथो पर निर्भरता वस्तुस्थिति की खोज में शोधार्थी और अन्वेषकों को एक सीमा तक पंगु बना देती है, लेकिन इस समस्या से मुक्ति पायी जा सकती है अगर हम बिना किसी पूर्वाग्रह के उपलब्ध पाठ्य सामग्रियों से सार तत्त्वों को निकालने का प्रयास करें। कोई भी लेखक अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है, इसके अतिरिक्त लेखक के स्वयं का आग्रह भी होता है। इन तमाम चीजों का समावेशन लेखन की दिशा को प्रभावित करती है। अतः एक सजग और सतर्क पाठक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह किसी पाठ (टेक्स्ट) के अध्ययन के क्रम में सिर्फ लेखक की मनोवृत्ति से प्रभावित नहीं हो क्योंकि पाठ की रचना में लेखक, पाठक और अतीत एवं वर्तमान की परिस्थितियों का घालमेल होता है। चार्वाक दर्शन का विद्रूप चित्र हमारे समझ से इस कारण उत्पन्न होता है कि हम इसके विरोधियों द्वारा इसके बारे में बताए गए तथ्यों को बिना छानबीन के स्वीकार कर लेते हैं। चार्वाक दर्शन की वास्तविक स्थिति के उद्‌भेदन के लिए ही प्रस्तुत-पत्र को इस रूप में प्रस्तुत करने की योजना है। उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी निष्कर्ष पर चार्वाकीय अध्ययन को रखकर शोध-पत्र को एक नई दिशा देने का प्रयास होगा।

उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी विचारधारा के समादृत चिंतक एवं महानायक जॉक डेरिडा की चिन्तन विधि विरचनावाद (Deconstruction) के सहारे चार्वाक की चिन्तनधारा को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने के प्रयास के पीछे यह परिकल्पना है कि 'चूँकि विरचनावाद पूर्वाग्रहों एवं स्वायत्तता को नकारता है, व्याख्या के एकांगी जकड़-जामें से बाहर निकलने का प्रयास करता है, अतः इस तरह की प्रणाली के सहारे ही भारतीय चिन्तन की मुख्यधारा के प्रभावों से इस दार्शनिक प्रणाली को निर्बंध एवं निर्मुक्त किया जा सकता है।'

शब्दाडम्बर, वाक्छल एवं वाक्चातुर्य के माध्यम से चार्वाक के चिन्तन को निम्नस्तरीय घोषित करके विपक्षी अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करते हैं। विरचनावादी प्रणाली के द्वारा चार्वाक दर्शन के प्रति विपक्षियों के इस साजिश को नाकाम किया जा सकता है। चूँकि कोई भी लेखन पढ़ा जाता है, अतः यह सत्यान्वेषण या अर्थान्वेषण का अन्तिम आश्रय नहीं हो सकता। लेखन या कोई पाठ वैसी जगह नहीं है जहाँ सत्य का आश्रय होता है; जहाँ अन्तिम अर्थ की निष्पति होती है। लेखन के संरचनात्मक एवं आलेखीय प्रकृति के चलते समस्याविहीन और सरल सम्प्रेषणीयता संभव नहीं है। इस आधार

पर हम यह कहने की स्थिति में आ जाते हैं कि चार्वाक दर्शन के विरुद्ध जो कुछ अजीब, अटपटा अथवा असंगत बातें की जाती हैं, वे अन्तिम नहीं हैं और इस प्रकार किसी पाठ की सम्प्रेषणीयता उसके लेखक की परिधि से अलग हो जाती है। चूँकि लेखक के विचार किसी अन्य स्रोत से आते हैं, स्वयं उसकी मौलिकता बार-बार दुहराई गयी होती है, अतः लेखक के विचार को एक स्रोत या एक उत्पति में नहीं खोजा जा सकता। लेखन पाठक की पढ़त-प्रक्रिया के दौरान बार-बार अनुच्चरित एवं अनूदित होता है; इस कारण लेखन अर्थसंवहन या भावनाओं के विनिमय का माध्यम नहीं हो सकता।

चार्वाक के विरुद्ध उपलब्ध पाठों (टेक्स्ट्स) की मंशा को उद्घाटित करने के लिए विरचनावादी प्रणाली के सहारे की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि यह व्यवस्था किसी भी व्याख्या, लेखन अथवा पढ़त को अन्तिम रूप से सत्य नहीं मानती, साथ ही किसी ग्रन्थ की स्वायतता की जगह औपबंधिकता को महत्त्व प्रदान करती है। विरचनावादी पढ़त के माध्यम से किसी भी टेक्स्ट के अर्थ एवं आपादान के परस्पर विरोधी तर्कों को निगमित किया जा सकता है तथा उसके द्वारा यह दिखलाया जा सकता है कि किसी भी पाठ का यथार्थतः वह अर्थ नहीं होता जो वह सामान्य तथा सतही तौर पर कहता प्रतीत होता है। विरचनावादी प्रक्रिया के द्वारा चार्वाक दर्शन की तह तक पहुँचने का प्रयास इस कारण किया गया है कि यह पद्धत्ति मात्र आलोचनात्मक प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं है, बल्कि स्वयं आलोचना ही इसकी विषयवस्तु है। डेरिडा के भावों में डिकंस्ट्रक्सन पहले या दूसरे पल हरदम आलोचना में निबद्ध विश्वासों को प्रश्नगत करता है जो निर्णायक इकाई के रूप में कार्य कर रहा होता है और प्रकारान्तर से आलोचनात्मक हठवादिता को विखंडित करता है, उसे सही परिप्रेक्ष्य में रखता है।

चार्वाक दर्शन भारतीय चिन्तनधारा के आध्यात्मिक खेमे के अमूर्त अवधारणाओं के परकोटे से बाहर खड़ा है, इस कारण यह खेमा पढ़त की नैतिकता को दरकिनार कर अपनी आध्यात्मिक-तार्किक श्रेष्ठता की दुहाई देते प्रतीत होता है। इस खेमे की सभी अवधारणात्मक अमूर्त एवं सार्वभौम पदावलियाँ वदतोव्याघात की श्रेणी में आती है जिनका स्वयं का कोई ठोस आधार नहीं है। विरचनावाद के सहारे यह यह दिखलाया जा सकता है कि इन पदावलियों में ऐसे तत्त्वों का समावेश है जिनके चलते इनके अन्तिम अर्थ अनिर्णीत रह जाते हैं। ऐसी दशा में दूसरे पर वैचारिक प्रहार का कोई मतलब नहीं रह जाता। आध्यात्मिक रहस्यवाद को अनावृत करने में हमे विरचनावाद से मदद मिल सकती है। डेरिडा का विरचनावाद इस अवबोध के सहारे आगे बढ़ता है कि किसी भी रचना/टेक्स्ट के ऊपर पाण्डित्य का दावा खोखला होता है, क्योंकि कोई भी पढ़त, कोई भी व्याख्या अन्तिम नहीं होती, आगे की व्याख्या एवं पुनर्पाठ के लिए सदैव संभावना बनी रहती है। इस तरह की प्रवृत्ति विरचनावाद को हठवादिता से बचाती है और यही काम चार्वाक दर्शन भी भारतीय संदर्भ में करता है। वस्तुतः व्याख्या अथवा पुनर्पाठ की प्रक्रिया ड्रेजिंग मशीन द्वारा सागर की तलछटी साफ करने जैसी है। डेरिडा अपनी पुस्तक ग्लास में ज्याँजीनेट को पढ़ने के क्रम में यह रूपक गढ़ता है। उसका मानना है कि किसी आलेख/पाठ को हम एक ही पढ़त में ही पढ़कर उसके आधिकारिक विद्वान् होने का दावा नहीं कर सकते। एक से अधिक पाठन/वाचन की प्रक्रिया तो अन्तहीन है और अन्त-अन्त तक कुछ समझ से परे रह ही जाता है जैसा ड्रेजिंग मशीन द्वारा सागर की तलछटी साफ करते वक्त होता है। मशीन के हर प्रयास में कुछ रोड़े, कचरे ऊपर आते हैं और ऊपर आते-आते कुछ वापस सागर में जा गिरते हैं और इस प्रकार समुद्र हरक्षण, हरदम अपने को परिवर्तित करते रहता है। यही स्थिति किसी लेखन/पाठ के साथ भी है, इसके बारे में सर्वज्ञता और आधिकारिकता का दावा हास्यास्पद है। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा की सर्वज्ञता के दावे के साथ भी यही बात लागू होता है जिसे चार्वाकीय धारा चुनौती देती प्रतीत होती है।

सामान्यतः तत्त्वमीमांसा के पश्चात् ज्ञानमीमांसा का विवेचन दार्शनिक परम्परा में किया जाता रहा है। यहाँ पर स्वभाववाद और यदृच्छवाद एक प्रकार से कारणतावाद का संकेत करते हैं। कार्य-कारण मीमांसा, ज्ञानमीमांसा का ही अंग है और इस रूप में यहाँ ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा का अतिक्रमण करती प्रतीत होती है। वस्तुतः ऐसी योजना के पीछे यह प्रयोजन काम कर रहा है कि चार्वाक के देहात्मवाद को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए यही क्रम अपनाया जाना चाहिए। विरचनावाद का भी तो यही निर्देश है कि हमें परम्परा के प्रति नतमस्तक न होकर अपनी स्वतंत्र बुद्धि के बल पर दार्शनिक गवेषणाओं को दिशा प्रदान करना चाहिए।

स्वभाववाद और यदृच्छवाद पर चर्चा के पूर्व कारणता सिद्धान्त का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है क्योंकि इस तरह की पृष्ठभूमि स्वभाववाद और यदृच्छवाद के सम्बन्ध में हमारी समझ को विस्तृत आयाम देने में महत्त्वपूर्ण साबित हो सकती है। कारण-कार्य सम्बन्ध के बारे में साधारणत: यह माना जाता है कि जब दो घटनाओं के बीच इस तरह का सम्बन्ध होता है कि एक घटना के आने के बाद दूसरी घटना हरदम घटती है तो पहले आनेवाली घटना को कारण और बाद में आनेवाली घटना को कार्य कहा जाता है। अर्थात् दो घटनाओं के बीच का सम्बन्ध तब कारण-कार्य से जुड़ा हुआ माना जाता है जब पहले की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति के लिए अनिवार्य शर्तों को लेकर साथ आती है। कांट के अनुसार वस्तुएं, तथ्य या अवस्थाएँ भी कारण-कार्य सम्बन्ध से जुड़ सकती हैं। उनके अनुसार 'कोई तोप का गोला किसी कुशन में बदलाव' के लिए पर्याप्त होता है। यहाँ कुशन की स्थिति में बदलाव भी कारण-कार्य सम्बन्धों की ओर संकेत करता है। किसी भी अवस्था में, कारण-कार्य सम्बन्ध का केन्द्रीय प्रश्न भविष्य का निर्धारण अथवा अनिवार्यता के तत्त्व के निर्धारण से जुड़ा है। ह्यूम का मानना है कि घटनाएँ स्वयं असंबद्ध एवं अलग-अलग होती हैं तो हम कैसे उस निर्णायक शक्ति की पहचान कर सकते हैं जो भविष्य की घटना को निर्धारित करती हैं। उनका मानना है कि इस तरह के सम्बन्धों का अनुभव नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुभव से हमें घटनाओं के घटने के पैटर्न का संकेत मिलता है। लेकिन साथ ही यह भी सत्य है कि हमारा प्रतिदिन का व्यवहार इन्हीं कारण-कार्य सम्बन्धों द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि हमारे सभी व्यवहार इस विश्वास पर टिके हैं कि यह कारणता शक्ति स्थिर और भरोसेमंद है लेकिन इससे कारण-कार्य सम्बन्धों की अनिवार्यता का बोध संभव नहीं हो पाता है। कारण-कार्य सम्बन्धों में विश्वास से एक अनिवार्य उपागम जुड़ा है जिसे नियतिवाद के नाम से जाना जाता है। इसकी सामान्य व्याख्या इस रूप में की जाती है कि प्रत्येक घटना की एक पूर्ववर्ती अवस्था होती है जिसकी उपस्थिति अनुवर्ती घटना को हर स्थिति में उत्पन्न करती है, अगर ऐसा नहीं होता है तो प्रकृति के नियम में बाधा उत्पन्न हो सकती है।

कारणता सिद्धान्त के समर्थन में सबसे प्रबल युक्ति प्रयोजनमूलक तर्क है। इसके अनुसार हमारे जीवन का एक उद्देश्य है और तदनुसार विश्व का भी निश्चित प्रयोजन है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि व्यक्तिगत तौर पर उद्देश्य, प्रयोजन और लक्ष्य तो साकार किए जा सकते हैं लेकिन विश्वव्यापी प्रयोजन को मूर्त रूप कैसे दिया जा सकता है? इसी के उत्तरस्वरूप ईश्वरवादियों की ओर से यह कहा जाता है कि यह विश्व पर्याप्त रूप में किसी मशीन से मिलता है। जिस प्रकार मशीन के पीछे मशीन बनानेवाली व्यक्ति की दृष्टि होती है, उसी प्रकार विश्वरूपी मशीन को बनानेवाली तथा इसमें व्याप्त व्यवस्था एवं जटिलता की व्याख्या के लिए एक महान् शिल्पकार के रूप में ईश्वर की कल्पना बुद्धिसम्मत निर्णय होगा। यह तर्क सादृश्यानुसार पर टिका है लेकिन जैसा कि हम जानते हैं कि इस तरह के अनुमान का बल महत्त्वपूर्ण बातों और निरीक्षणों की संख्या का सीधा अनुपाती होता है। इस स्थिति में हम देखते हैं कि विश्व और घड़ी (यंत्र) में समानता छिछली बातों में ही हो सकती है, क्योंकि विश्व की विशालता तथा इसकी विविधता की तुलना में घड़ी (यंत्र) का आकार अत्यंत ही छोटा है, साथ ही निरीक्षणों का दायरा भी संकुचित ही रहता है, क्योंकि विश्व की एकबारगी निरीक्षण संभव नहीं है। इन्हीं कारणों से सादृश्यानुमान पर आधारित कारणता के पक्ष में दिया गया यह तर्क प्रभावी प्रतीत नहीं होता है। फिर भी ईश्वरवादियों की ओर से कारणता के समर्थन में दिया गया यह तर्क सदैव अपनी उपस्थिति दर्ज कराता रहा है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि चूँकि विश्व तथा मशीन (घड़ी) कुछ बातों में समान है इसलिए किसी उद्देश्य का उत्पाद होने के मामलों में भी दोनों के बीच समानता कल्पित कर ली जाती है। स्टोइक विचारकों के समय से ही यह तर्क चला आ रहा है, लेकिन आधुनिक समय में कान्ट और ह्यूम जैसे विचारकों ने इसकी स्वीकृति को आघात पहुँचाया है। प्राकृतिक चयन के विकासवादी सिद्धान्त द्वारा भी इसे आघात पहुँचा है।

विचारकों का एक ऐसा भी वर्ग है जो कारणता सिद्धान्त को नहीं मानता है। घटनाओं की व्याख्या के लिए वह स्वभाववाद, यदृच्छवाद अथवा आकस्मिकता जैसे सिद्धान्तों की वकालत करता है। यदृच्छवाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि किसी घटना के बारे में पहले से भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। वस्तुओं की अन्तर्निहित प्रकृति ही ऐसी होती है कि किसी खास चीज से किसी खास वस्तु की ही उत्पति होती है। इस उत्पति के लिए किसी कारण की व्याख्या

ठीक नहीं है। पृथ्वी का यह स्वभाव ही है कि उससे घड़ा की उत्पत्ति होती है, कपड़े की नहीं। कारण-कार्य की जगह स्वभाववाद और यदृच्छा को प्रश्रय देनेवाले विचारकों में चार्वाक और ह्यूम का नाम लिया जाता रहा है।[१]

चार्वाक और ह्यूम अपनी ज्ञानमीमांसा में यह स्थापना करते हैं कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर ही हम किसी वस्तु को जान सकते हैं। अपनी इस स्थापना के आधार पर वे आगे बढ़ते हैं।

भारतीय दर्शन में चार्वाक ही एकमात्र ऐसा दर्शन है जो शुद्ध भौतिकवादी है एवं अन्य आध्यात्मिक विचार यथा, ईश्वर, शरीर से भिन्न अभौतिक, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मवाद, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मोक्ष या निर्वाण जैसे सिद्धान्तों का निषेध करता है। उपरोक्त सभी सिद्धान्तों का खंडन चार्वाक अपने प्रत्यक्षमूलक, अनुभववादी तथा यथार्थवादी ज्ञानमीमांसा के आधार पर ही करता है।

भारतीय दर्शन में ईश्वरवादियों, विशेषकर नैयायिक, योग दर्शन के प्रतिष्ठाता महर्षि पतंजलि एवं रामानुज, ने ईश्वर की सत्ता को स्थापित करने के लिए तर्क प्रस्तुत किए हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि विभिन्न ईश्वरवादियों ने ईश्वर के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनमें प्रस्तुती की भिन्नता अवश्य है, परन्तु तर्क का मूलाधार एक ही है जो निम्न है-

(i) कारणाश्रित तर्क

(ii) प्रयोजनमूलक तर्क

(iii) नैतिक तर्क

(iv) श्रुतियों की आप्तता पर आधारित तर्क

चार्वाक ने उपरोक्त सभी तर्कों का खंडन क्रमशः इस प्रकार किया है-

(i) कारणाश्रित तर्क - ईश्वर की सत्ता का प्रमाण देते हुए ईश्वरवादियों ने अनुमान प्रमाण का सहारा लेते हुए कहा है कि यह विश्व एक कार्य है, प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। अतः विश्व का कारण है और वह कारण ईश्वर है। उदयनाचार्य ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह विश्व सावयव है, क्योंकि यह असंख्य परमाणुओं से बना है। प्रत्येक सावयव पदार्थ का कोई निर्माणकर्ता होता है। अतः विश्व का भी कोई निर्माणकर्ता है और वही ईश्वर है।[२] पुनः ईश्वरवादी कहते हैं कि कारण-कार्य श्रृंखला पर विचार करते हुए एक स्थान पर हम पहुँचते हैं जहाँ यह मानना पड़ता है कि अंतिम कारण कोई है जो अकारण है, क्योंकि अगर ऐसा नहीं माना जाय तो कारणता सम्बन्ध अनवस्था दोष से ग्रसित हो जाएगा। यह अंतिम कारण ईश्वर ही हो सकता है।

ईश्वरवादियों के उपरोक्त तर्क में दो मुख्य बातें सामने आती हैं। प्रथमतः ईश्वर की सत्ता का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता है और दूसरा विश्व के निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है। चार्वाक उपरोक्त दोनों तर्कों का दृढ़तापूर्वक खंडन करता है - सर्वप्रथम चार्वाक प्रत्यक्षमूलक ज्ञानमीमांसा के आधार पर अनुमान प्रमाण का खंडन करता है। अनुमान का मूल आधार 'व्याप्ति-वाक्य' है जिसकी स्थापना साहचर्यता एवं कारण-कार्य (अविनाभाव सम्बन्ध) के आधार पर की जाती है। चार्वाक के अनुसार अनुमान को संशयरहित तभी माना जा सकता है जब व्याप्तिवाक्य संदेहरहित हो, परन्तु व्याप्ति की स्थापना प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है क्योंकि भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी प्रत्यक्षों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। फिर व्याप्ति की सिद्धि अनुमान से भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अनुमान की सिद्धि तो व्याप्ति-वाक्य से ही होती है। अगर ऐसा माना जाय तो अनवस्था दोष एवं अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है।

पुनः चार्वाक कारणता सिद्धान्त में स्वभावाद को अपनाते हुए विश्व की उत्पत्ति का कारण चार भूतों को मानता है। इसके मतानुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार महाभूतों के आकस्मिक संयोग स विश्व का निर्माण होता है। विश्व-निर्माण की प्रक्रिया भूतों का स्वभाव है। परन्तु यहाँ मुख्य समस्या यह उठती है कि विश्व में दो तरह के तत्त्व - चेतन एवं जड़ देखने को मिलता है। चारों महाभूत जड़ में हैं तो विश्व में चेतना कैसे आती है? चार्वाक समस्या का हल करने के

लिए बहदारण्यकोपनिषद्[3] के वाक्य का सहारा लेते हैं, जिसके अनुसार, जिस प्रकार विश्व किण्वन आदि से मादक-शक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर के रूप में बदल जाने पर इन्हीं भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार चार्वाक ने विश्व के निमित्त कारण के रूप ईश्वर की अनिवार्यता को अस्वीकार किया और भूतों को ही उपादान एवं निमित्त कारण माना।

(ii) प्रयोजनमूलक तर्क – ईश्वरवादियों ने ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए यह तर्क दिया है कि सम्पूर्ण विश्व में एक व्यवस्था एवं नियमितता देखने को मिलती है जिससे एक व्यवस्थापक, नियामक की सत्ता सिद्ध होती है। इसलिए ईश्वरवादियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता माना। इसके विरुद्ध चार्वाक का विचार है कि विश्व में जो व्यवस्था देखने को मिलती है उसका कारण कोई और नहीं बल्कि स्वयं विश्व है। जिस प्रकार अग्नि की दाहकता, जल की शीतलता उसका स्वभाव है, उसी प्रकार विश्व का स्वभाव है व्यवस्थापन।[4] अतः संसार को देखकर ईश्वर को मानना भ्रांतिमूलक है।

(iii) नैतिक तर्क – ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को नैतिकता के लिए आवश्यक मानते हुए कर्मफलदाता के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक कांट ने ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयता को स्वीकारा, परन्तु नैतिकता के लिए आवश्यक माना। चार्वाक आत्मा की अमरता, कर्मवाद आदि सिद्धान्त को नहीं मानता है। इसके अनुसार इस विश्व में उत्पत्ति और विनाश स्वाभाविक है। इसका कोई प्रयोजन नहीं। मृत्यु ही मोक्ष है तथा चैतन्य से युक्त शरीर ही आत्मा है। अतः पारलौकिक सुख के लिए, हर बात के पीछे ईश्वर को घसीटना, ईश्वर को पाने का प्रयत्न करना एक प्रकार का पागलपन है। इस लोक में प्रसिद्ध व्यक्ति ही ईश्वर है। अतः जीवन-जगत् के संचालन के लिए ईश्वर विषयक विश्वास का कोई नैतिक आधार नहीं है। चार्वाक का यह विचार पाश्चात्य भौतिकवादी दार्शनिक, ल्युक्रेशियस से साम्य रखता है। ल्युक्रेशियस ने भी आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म के विरुद्ध तर्क दिया कि 'यदि आत्मा का स्वरूप अनश्वर है और जन्म के समय हमारे शरीर में प्रवेश करती है तो हमारे मन में पूर्वजन्म के कर्मों की स्मृति के कोई चिह्न क्यों नहीं है?'

(iv) श्रुतियों की आप्तता पर आधारित तर्क – विश्वास करने योग्य व्यक्तियों, पुस्तकों आदि द्वारा कहे गए वचनों के आधार पर जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसे आप्तवचन द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा जाता है। 'ईश्वरवादियों का मानना है कि चूँकि वेद, उपनिषद् आदि प्रामाणित ग्रंथ हैं और इसमें ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है, अतः ईश्वर की सत्ता है।

ईश्वरवादियों के उपर्युक्त तर्क का चार्वाक प्रत्युत्तर देते हुए सर्वप्रथम ज्ञान के साधन के रूप में शब्द प्रमाण का खंडन करते हैं, फिर, वेदों की अप्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। इनके अनुसार 'शब्द प्रमाण' को यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यह अनुमान पर आधृत है। पुनः एक ही तथ्य के सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं मिलता है। जहाँ तक वेद की प्रामाणिकता एवं ईश्वर-सिद्धि का प्रश्न है तो हम पाते हैं कि वेद को ईश्वर-रचित होने के कारण प्रामाणिक माना जाता है और फिर, वेद ही ईश्वर का साक्ष्य हो जाता है, जिससे यहाँ अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। फिर वेद विरोधपूर्ण युक्तियों से परिपूर्ण है। अतः वेद के आधार पर ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती है। प्रो. सिन्हा ठीक लिखते हैं कि 'यदि ईश्वर के अस्तित्व को श्रुति के आधार पर मान लिया जाय तो मानव की बौद्धिकता तथा स्वतंत्र चिंतन को गहरा धक्का लगता है, इसलिए यह प्रयास निरर्थक प्रतीत होता है।'[5]

इस प्रकार चार्वाक ने ईश्वरवादियों द्वारा ईश्वर की सिद्धि में प्रयुक्त तर्क का जोरदार खंडन किया और पूर्णतः भौतिकवादी बनकर वे निरीश्वरवाद की स्थापना करते हैं।

चार्वाक और ह्यूम दोनों ही इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को ज्ञान का साधन मानते हैं तथा दोनों ही अनुमेय सत्ता का खंडन करते हैं। दोनों प्रत्यक्ष-सिद्धान्त के आधार पर कारण-कार्य की सार्वभौमता एवं अनिवार्यता का खंडन करते हैं, किन्तु चार्वाक स्वभाववाद को प्रतिपादित करता है और ह्यूम इसे 'मानसिक अभ्यास' मात्र मानते हैं। इसके उपरान्त दोनों में वैषम्य परिलक्षित होता है। चार्वाक प्रत्यक्ष को ज्ञान का साधन मानता है, परन्तु प्रत्यक्ष से होनेवाले ज्ञान की प्रक्रिया का विश्लेषण नहीं करता, जबकि ह्यूम ज्ञान को प्रत्यात्मक अपनाते हुए 'प्रत्यक्ष' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। इस आधार पर चार्वाक के सम्बन्ध में यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी कि जिन सत्यों का प्रतिपादन आधुनिक पाश्चात्य अनुभववाद,

तार्किक भाववाद तथा तार्किक अणुवाद करते हैं उनका बीज चार्वाक दर्शन में मिलता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक इंद्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर ईश्वरवाद का खंडन करते हुए भौतिकवादी हो जाता है, वहीं ह्यूम को दार्शनिकों ने संदेहवादी की संज्ञा दिया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि अनुभववादी लॉक ने भी ह्यूम से पूर्व 'प्रत्यक्ष' का विश्लेषण तो किया, परन्तु भूत, ईश्वर आदि जैसे अनुमेय सत्ता को स्वीकारने के कारण इन्हें असफल माना गया। भारतीय दर्शन में चार्वाक जिस प्रकार ईश्वरवाद का खंडन कर भौतिकवाद की स्थापना करता है वह प्रत्यक्षवाद की तार्किक परिणति हो सकती है? इन तथ्यों पर विचार करते समय हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि चार्वाक एवं ह्यूम के द्वारा किये गये ईश्वरवाद के खंडन का उद्देश्य तथाकथित धर्म और उसके ईश्वरीय सत्ता में विश्वास का खंडन करना है।

लौकायतिकों/चार्वाकों के लिए भूतचतुष्टय की सत्ता से चेतना की उत्पति की व्याख्या के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी प्रतिबद्ध चिन्तक अपनी ही बनाई गई सीमा का अतिक्रमण नहीं करता है। यही बात इस विचारधारा के साथ भी लागू होती है। इसकी मान्यता है कि भूतों (पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि) की प्रकृति या स्वभाव ही ऐसा है कि उनसे चेतना की उत्पति हो जाती है। इस कारण लौकायतिकों का विचार स्वभाववाद के नाम से जाना जाता है। चूँकि भूतों से चेतना की उत्पति बिना किसी दैवीय योजना के हो जाती है, इस कारण इस मत को यदृच्छवाद के नाम से भी जाना जाता है। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि कारणता सिद्धान्त के द्वारा घटनाओं के घटित होने के एक पैटर्न का संकेत होता है, घटनाओं के बीच अनिवार्य नियत सम्बन्ध का अनुभव हमें नहीं होता है। इस कारण किसी घटना के अचानक होने अथवा निरुद्देशीय घटित होने की बात स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं दिखता है। इसी तथ्य की ओर पाश्चात्य विचारक ह्यूम का भी संकेत है जब वे कहते हैं कि धरती पर रोज चलने के बाद हमारे मस्तिष्क में यह साहचर्य स्थापित हो जाता है कि अगली बार भी जब कभी हम कदम रखेंगे, वह धरती पर ही होगा। लेकिन हमारा सामान्य अनुभव कभी-कभी इस अभिवृति के खिलाफ चला जाता है। प्रकृति जगत् में घटनाओं के घटने के इसी क्रम को चार्वाकीय चिन्तन में स्वभाववाद या यदृच्छवाद के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः घटनाओं की ऐसी व्याख्या आगे चलकर प्राकृतिक नियमों के नाम से अभिहित की गई है।

चार्वाक दर्शन पर उपलब्ध व्यवस्थित सामग्री हमें सर्वदर्शन संग्रह में ही मिलती है। चार्वाक परम्परा के अनुयायी स्वभाववादी थे, इसको प्रमाणित करने के लिए हमें माध्वाचार्य के प्रामाणिक तथा लोकप्रिय छन्द की शरण में ही जाना पड़ता है। इसे प्रकाश टीका की हिन्दी व्याख्या में प्रो. उमाशंकर शर्मा ऋषि ने निम्न रूप में व्यक्त किया है-[६]

'धूमादि जानने के बाद अग्न्यादि जानने की जो प्रवृत्ति लोगों में देखी जाती है वह या तो पूर्वकाल के प्रत्यक्ष पर आधारित है। पहले अग्नि को प्रत्यक्ष रूप से देखा था, कुछ देर के बाद धुएँ को देखने से संस्कार जग गया और मनुष्य अग्नि को याद करते हुए प्रवृत्त होता है या यह बिल्कुल भ्रम होता है। कभी-कभी इससे फल की प्राप्ति हो जाती है, वह तो मणि, मंत्र, औषध आदि के समान स्वाभाविक है। अर्थात् मणिस्पर्श, मंत्र-प्रयोग और औषध-सेवन से कभी कार्य होता है, कभी नहीं। कभी-कभी तो इनके बिना भी कार्य की सिद्ध हो जाती है। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक की विधियों में ठहर न सकने, व्यभिचरित होने के कारण इनमें कार्य-कारण भाव नहीं है। ऐश्वर्यादि की प्राप्ति मणिस्पर्श से नहीं, स्वभावतः ही होती है। रोगादि निवृत्ति भी कभी स्वभावतः कभी किसी विशेष अन्न के खाने से होती है - इसमें औषधसेवन का क्या प्रयोजन है। फिर भी काकतालीय न्याय से होनेवाले कार्य को देखकर लोग इसमें कार्य-कारण भाव मान लेते हैं। इसी तरह धूम और अग्नि में भी कार्य-कारण भाव नहीं है, लोग मान लेते हैं।

इसलिए उसका साध्य अदृष्ट-आदि कुछ नहीं। कुछ लोगों के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों से उत्पन्न पुण्य और पाप के रूप में अदृष्ट रहता है वही ऐश्वर्य देता है या रोग उत्पन्न करता है। इसे कर्मफल भी कहते हैं। ऐश्वर्यादि कार्यों को देखकर अदृष्ट कारण की सिद्धि होती है जैसे धूम से अग्नि। किन्तु जब अनुमान मानते ही नहीं, ऐश्वर्यादि स्वभाविक ही है तब अदृष्ट-रूप कारण रहेगा क्या खाकर?

अब, यदि प्रश्न करें कि अदृष्ट यदि नहीं है तो संसार की विचित्रता तो आकस्मिक हो जायेगी। नहीं यह ठीक नहीं

है। वह तो स्वभाव से ही सिद्ध है। कहा भी है – अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु समशीतोष्ण, यह सब विचित्रता किसने की? अपनी-अपनी प्रकृति से ही उनकी व्यवस्थायें हुई हैं।'

उपनिषद् काल के आरम्भिक दिनों से ही दार्शनिक अथवा गैर-दार्शनिक भारतीय विचारधाराओं में बार-बार स्वभाववाद[७] का उल्लेख देखने को मिलता है। आधुनिक संदर्भों में इसे 'प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त' के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है, लेकिन भारतीय दर्शन के प्रख्यात विद्वान् मैसूर हिरियन्ना[८] ने इसे प्रकृतिवाद के रूप में प्रतिष्ठा दी है। प्राकृतिक नियमों के सिद्धांत के रूप में इसका ईश्वरवाद के साथ विरोध अवश्यमभावी हो जाता है, क्योंकि ईश्वरवाद सभी प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या दैवीय इच्छा के द्वारा करता है। इस स्थिति में लौकायतिकों का इसका तिरस्कार करना स्वाभाविक ही है। स्वभाववाद से मिलता-जुलता सिद्धान्त यदृच्छवाद है, जो प्राकृतिक घटनाओं को पूर्णतः आकस्मिक मानता है। स्वभाववाद की तरह यदृच्छवाद भी इस विचार को तिलांजलि दे डालता है कि प्रकृति की विविधता के पीछे कोई दैवीय योजना अथवा बुद्धिमान शिल्पकार का हाथ है। प्रकारान्तर से दोनों सिद्धान्त ये स्वीकार करते हैं कि विश्व की व्यवस्था के पीछे किसी अतीन्द्रिय सत्ता का हाथ नहीं है। यदृच्छवाद यह मानता है कि विश्व में अव्यवस्था है तथा जो कुछ व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, उसका एकमात्र कारण संयोग है। मैसूर हिरियन्ना इसी तथ्य की ओर हमारा ध्यान बटाते हुए कहते हैं-

'... यदृच्छवाद को इसका (चार्वाक दर्शन) संभावित उद्गम बता चुके हैं और कह चुके हैं कि इसका अनोखापन कारणता के प्रत्यय को बिल्कुल हटा देने में है। न विश्व का और न उसके अंदर घटनेवाली किसी घटना का कोई कारण है। ये कहाँ से आये, इस प्रश्न का इससे अधिक कोई जबाब नहीं है कि ये सब आकस्मिक है। इसे जो कभी-कभी लोकायत दर्शन नाम से पुकारा जाता है, उससे लगता है कि स्वभाववाद का, जिसका आधार भी केवल अनुभव था, इसमें विलय हो गया था।'

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही विचारों में अंतर एक सीमा के बाद धुंधला हो जाता है तथा दोनों सांसारिक मामलों में अतीन्द्रिय सत्ता को अग्राह्य मानते हैं। जिस संसार में हम रहते हैं उसको नियंत्रित करने के लिए किसी बाहरी सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं नियंत्रित है। अगर व्यवस्था संसार में दिखती है तो वह स्वयं संसार के स्वभाव के चलते है।

चार्वाक मत के विरोधी भी इस मत के खण्डन के उद्देश्य से स्वभाववाद के ऊपर विवेचन करते हैं। शंकराचार्य[९] का मानना है कि स्वभाव का अर्थ भौतिक पदार्थ के प्रत्येक रूपों में अन्तर्निहित उत्पादक शक्ति है, जैसे-अग्नि द्वारा उष्मा का संचार। एक-दूसरे विचारक शंकरानन्द स्वभाव का तात्पर्य अद्वितीय कारण-शक्ति मानते हैं जो प्रत्येक भूतों में अन्तर्निष्ठ रहता है जैसे-आग का जलाना, पानी का अपेक्षाकृत निचली सतह की ओर बहना। अमलानन्द[१०] सरस्वती का मानना है कि स्वभाव वह है जितनी अवधि तक कोई चीज अस्तित्व में बनी रहती है। जैसे-जीवधारियों में श्वसन की प्रक्रिया। जैन विचारक गुणरत्न[११] स्वभाववाद को अधिक स्पष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार वस्तुओं में उनकी आन्तरिक प्रकृति के चलते होनेवाला परिवर्तन स्वभाव कहलाता है। प्रत्येक वह चीज जो अस्तित्ववान है उसकी सत्ता का कारण स्वाभाविक प्रक्रिया ही है जैसे-मिट्टी घड़े के रूप में रूपान्तरित होती है, कपड़े के रूप में नहीं। पुनः धागा, कपड़ा का रूप लेता है, घड़े का नहीं। इस प्रकार नियमित परिघटनाओं की व्याख्या स्वभाव की प्रक्रिया के अभाव में नहीं की जा सकती है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक चीज अपने स्वभाव के कारण जानी जाती है। कुछ प्रामाणिक तथा लोकप्रिय छन्द स्वभाववाद को पुष्ट करते नजर आते हैं।

स्वभाववाद के समर्थन में डी.पी. चट्टोपाध्याय ने कुछ प्रामाणित तथा लोकप्रिय छन्दों को उद्धत किया है[१२] –

काँटों को किसने नुकिला बनाया है?

जंगली जानवरों और पक्षियों में इतनी भिन्नता क्यों हैं?

स्वभाव के चलते सभी चीजें अस्तित्वमय है।

किसी इच्छा का यह परिणाम नहीं है, तब स्वतंत्र इच्छा का क्या उपयोग है?

पुनः

खजूर के काँटे तीक्ष्ण हैं,

उनमें से कुछ सीधे, कुछ टेढ़े हैं।

लेकिन फल इसका गोल है।

हमें बताओ किसने इन्हें आकार दिया है।

ऊपर के छंदों को पढ़ने के बाद कोई भी सामान्य बुद्धि का व्यक्ति आसानी से समझ सकता है कि ये छन्द निश्चित रूप से दैवीय इच्छा के ऊपर कटाक्ष करते हैं। दैवीय इच्छा को नकारने के साथ ही यह मत भावात्मक रूप में प्राकृतिक नियमों की अवधारणा की टोह भी ले रहा है, ऐसे नियम जो वस्तुओं की आंतरिक प्रकृति को व्यक्त करते हैं। महाभारत में इसकी ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि जो लोग जड़ पदार्थों की सता को ही अंतिम रूप में सत्य मानते हैं वे ही लोग प्राकृतिक नियमों में विश्वास भी करते है – स्वभावम् भूत चिन्तकः।[१३] इसके द्वारा साधारणतः यही ध्वनित होता है कि सीधे-साधे भौतिकवादी लौकायतिक अथवा चार्वाक ही प्राकृतिक नियमों की अनुशंसा करनेवाले प्रतिनिधि हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत का अनुसरण करके ही परवर्ती भारतीय साहित्य में स्वभाववाद को लौकायतिकों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है।

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा के एक प्रतिष्ठित टीकाकार भट्ट उत्पल[१४] का कहना है कि लौकायतिकों के अनुसार विश्व का कारण स्वभाव है। विश्व की विविधता इसी स्वभाव से उत्पन्न होती है और अन्ततोगत्वा इसी स्वभाव के चलते समाप्त भी हो जाती है। एक दूसरे विचारक अग्निचित्त पुरुषोतम[१५] यह मानते हैं कि चार्वाकों के अनुसार स्वभाव ही अपने-आप में कारण है। सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार लौकायतिकों को निम्न रूप में तर्क करते हुए प्रस्तुत किया गया है –

'अगर तुम अदृष्ट की सत्ता में विश्वास नहीं करोगे तो इस संसार की विविधता को आकस्मिकता की देन माना जाएगा। इसके उत्तर स्वरूप चार्वाकों का कथन है कि ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि संसार की विविधता के कारण की व्याख्या स्वभाव द्वारा हो जाती है। जैसा कि कहा जाता है – अग्नि उष्ण जल शीतल तथा हवा दोनों से तटस्थ है। इन विविधताओं को किसने बनाया है। स्वभाव के चलते यह सब संभव होता है।'

इस प्रकार के साक्ष्यों के अनुरूप आधुनिक विचारकों के बीच यह परम्परा-सी बन गयी है कि स्वभाववाद लोकायत दर्शन का सिद्धान्त है। गोपीनाथ कविराज की मान्यता है कि स्वभाववाद के उत्कट स्वरूप का प्रतिनिधित्व करनेवाले स्वतंत्र चिन्तक रहे हैं जिन्हें मूलतः लौकायतिक कहा जाता था। आगे चलकर इन्हें ही व्यापक रूप से चार्वाक नाम दे दिया गया, जिनकी विशेषता शुद्ध भौतिकवाद में विश्वास करना, अप्रत्यक्ष को खारिज करना, वेदों में अविश्वास करना तथा उत्कृष्ठ बुद्धिवादी सोच को प्रश्रय देना था। विशेषकर वितण्डा उनकी मौलिक विशेषता थी।

पदार्थ की ऐसी बेतुकी व्याख्या न तो प्राचीन लौकायतिकों को और न ही आधुनिक भौतिकवादियों को स्वीकार्य होगी। गुणरत्न की व्याख्या स्वीकार करने की स्थिति में भौतिकवादियों के लिए जड़ पदार्थों को अंतिम सत्य मानना संभव नहीं हो पाएगा और न ही जड़ पदार्थों के स्वभाव की भी चर्चा हो पाएगी। भारतीय दार्शनिक शब्दावली में तत्त्वान्तर एक ऐसी स्थिति है जब विचारक अपनी मौलिक स्थापना के अलावा एक ऐसे सिद्धान्त को भी स्वीकृत कर लेता है जो उसके स्वयं की व्यवस्था के बाहर से लिया गया होता है। इस प्रसंग में हमारा निवेदन यह है कि चार्वाकों के ऊपर स्वभाववाद को स्वीकारने के कारण तत्त्वान्तर दोष भी नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि यह स्वभाव बाहरी दुनिया के चिन्तन से नहीं आता है, बल्कि यह जड़ पदार्थों का गुण है, भूतों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि उनके साथ यह गुण-स्वभाव सदैव जुड़ा रहता है। इस तरह का संभावित आरोप उसी दशा में सार्थक हो सकता है जब स्वीकृत तथाकथित बाह्य सिद्धान्त मौलिक सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध होता है। यहाँ घोषित तौर पर स्वभाववाद की जड़ पदार्थों से किसी तरह का विरोध नहीं दिखता है। लोकायत विचारधारा के लिए अमूर्त एवं निराकार आत्मा की स्वीकृति तथा आध्यात्मिक चिन्तकों के लिए सामान्य प्रत्यक्ष एवं तर्क बुद्धि

को स्वीकारा जाना तत्त्वान्तर कहा जाएगा। चार्वाकों के ऊपर तत्त्वान्तर का आरोप मढ़ा जाना बिल्कुल अप्रासंगिक और आधारहीन है। अगर लोकायत विचारक स्वभाववाद को न मानते, आध्यात्मवादी विचारक सामान्य प्रत्यक्ष और तर्कबुद्धि की निन्दा नहीं करते तो दोनों वैचारिक सम्प्रदायों में एक गंभीर त्रुटि रह जाती।[१६] इस प्रकार लौकायतिकों द्वारा स्वभाववाद को स्वीकृति दिया जाना उनकी आन्तरिक कमजोरी नहीं है, बल्कि इसके द्वारा तो उनका दार्शनिक चिन्तन और सुदृढ़ हो जाता है क्योंकि असाधारण परिवर्तन को आत्मसात् किए बिना उनका दर्शन पूर्ण नहीं हो पाता।

उपरोक्त विवेचनों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वभाववाद की परिकल्पना नानाविध संसार के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को चुनौती देने के लिए की गयी थी। इसी तरह की सोच का विकास श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी मिलता है जहाँ स्वभाव की अवधारणा एकेश्वरवाद के विकल्प के रूप में पेश की गयी है। लेकिन यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में ईश्वर से भी श्रेष्ठ कर्म-नियम की अवधारणा कार्य कर रही थी जिसका उल्लंघन ईश्वर के हाथ में भी नहीं था। ईश्वर की सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वशक्तिमान के बावजूद कर्म-नियम को इतना असाधारण और सर्वशक्तिमान माना जाता था कि इसके परिचालन में उसका हस्तक्षेप संभव नहीं था। भूत के गलत कार्यों का परिणाम वर्तमान जीवन में इस नियम के अनुसार भुगतना ही पड़ता था, कोई भी इसके प्रभाव से बच नहीं सकता। अधिक से अधिक आगे के जीवन में अच्छे कर्मों के द्वारा सुधार की अपेक्षा कर सकता था। जगत् की विविधता की व्याख्या अधिकांश विचारक इसी कर्म-नियम द्वारा करते हुए प्रतीत होते हैं। कर्म नियम तथा इससे जुड़ी अदृष्ट की अवधारणा लोगों के पाप-पुण्य की शब्दावली के सहारे आगे के जीवन की आशा दिलाती रही। लेकिन गंभीर रूप से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भौतिकवादियों द्वारा प्रस्तुत स्वभाववाद की अवधारणा भारतीय दार्शनिक क्षितिज पर उपदिष्ट कर्म-नियम तथा अदृष्ट को गंभीर चुनौती प्रदान करती है। इस प्रकार भौतिकवादी विचारक अपने स्वभाववादी विचार द्वारा न केवल ईश्वर की सत्ता को चुनौती देते हैं अपितु इससे आगे बढ़कर क्रांतिकारी भूमिका निभाते हुए आस्तिक दर्शनों के एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ कर्म-नियम को भी चुनौती देते हैं।

स्वभाववाद की इस समाजशास्त्रीय भूमिका से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका इस रूप में आँकी जाती है कि प्राचीन विज्ञान के मौलिक तत्त्वों की ओर इसमें संकेत मिलता है, क्योंकि इसने इस बात पर बल प्रदान किया कि प्रकृति की प्रत्येक घटना के लिए प्रकृति के बीच ही उसके कारण की खोज की जानी चाहिए। लौकायतिकों का यह प्रयास उन्हें शुद्ध आकस्मिकता या यदृच्छवाद से अलग करता है। इस कारण हमें यदृच्छवाद और स्वभाववाद को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह की मिथ्या धारणा का कारण सतही दृष्टिकोण है। कभी-कभी दोनों सिद्धान्तों का निर्वचन इस रूप में किया जाता है कि दोनों एक ही प्रतीत होने लगते हैं। कारण कि दोनों जगह अलौकिक सत्ताओं का विरोध मिलता है। लेकिन सांसारिक विविधता के लिए दैवीय इच्छा को नकारने के कारण लोकायत मत आरम्भिक विज्ञानों की नींव प्रदान करता प्रतीत होता है। यदृच्छवाद बहुत हद तक, काकतालीय न्याय जैसा है जहाँ यह विश्वास किया जाता है कि कौवे के ताड़ के पेड़ पर बैठने के बाद ताड़ का फल गिरता है तो कौवे को फल गिराने का कारण माना जाना चाहिए। यह तो आकस्मिक संयोग का परिणाम है। ऐसा विचार करने से कारणता का प्रत्यय दूषित होता है। अमलानन्द सरस्वती की चर्चा पहले की जा चुकी है। स्वभाववाद और यदृच्छवाद के अंतर को भी वे इसी रूप में देखते हैं।

यद्यपि जैन तर्कशास्त्री गुणरत्न, जिन्होंने हरिभद्रसूरि के षड्दर्शन समुच्चय के ऊपर अपनी टीका तर्क रहस्य दीपिका लिखी है, की चर्चा हम स्वभाववाद के प्रसंग में पहले भी कर चुके हैं, फिर भी यदृच्छवाद और स्वभाववाद के अंतर के क्रम में उनके विचार का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। उनके विचार को लोकायत मत के विशिष्ट व्याख्याकार प्रो. डी. पी. चट्टोपाध्याय इस रूप में उपस्थित करते हैं-[१७]

'अन्य घटनाओं को अगर छोड़ भी दिया जाए, तो मूङ्ग (दाल) का उबलना स्वभाव के बिना भी संभव नहीं हो पाएगा। खाना पकाने के पात्र, ईंधन, समय जैसे चीजों के रहने के बाद भी दाल जैसा दिखनेवाला पत्थर नहीं गल पाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वभाव के कारण कोई चीज घटती है, स्वभाव के अभाव के कारण कोई चीज नहीं घटती है। इसलिए

स्वभाव ही वह कारण है जिसके चलते कोई चीज संभव हो पाती है। मूङ्ग का उबलना स्वभाव के कारण ही होता है।'

स्वभाव के सापेक्ष यदृच्छा को रखते हुए गुणरत्न का मानना है कि बिना किसी पूर्ववर्ती योजना के घटना का घटित होना यदृच्छा कहलाता है। अर्थात् जो लोग घटनाओं की श्रृंखला में कार्य-कारण को नहीं स्वीकार करते हैं उन्हें यदृच्छवादी माना जाता है। यदृच्छवादियों का मानना है कि घटनाओं के मध्य कारण-कार्य जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान वैध ज्ञान के किन्हीं स्रोतों द्वारा नहीं होता है। यही कारण है कि शालुक (एक प्रकार का फूल) शालुक से भी उत्पन्न होता है तथा गाय के गोबर से भी। आग से भी आग उत्पन्न होता है तथा चकमक पत्थर से भी। धुँआ से धुँआ निकलता है तथा आग और ईंधन के संयोग से धुँआ निकलता है। शीशम का पेड़ तना से भी उत्पन्न होता है और बीज से भी। अंजीर का पौधा बीज से भी पैदा होता है और टहनी से भी। इसलिए, प्रकृति में कहीं भी कारण-कार्य जैसा नियत सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस कारण ऐसा समझा जाना चाहिए कि कभी-कभी कोई चीज आकस्मिक ढंग से ही घटती है। संभवतः यही कारण है कि विद्वान् लोग किस चीज से किस चीज की उत्पति होती है, इसकी जड़ में नहीं जाते हैं। जैसा कि कहा जाता है-

'लोगों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख और दुःख ठीक उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे कौवे का ताड़ के फल के साथ सम्बन्ध बिना किसी तर्क के स्थापित कर दिया जाता है। इसलिए कारण सम्बन्धों का तथाकथित ज्ञान व्यर्थ है। काकतालीय न्याय की तरह जरा, मरण, जन्म भी विशुद्धतः आकस्मिक घटनाएँ हैं।'

लोकायत के स्वभावाद की चर्चा के उपरान्त इस बात की जाँच-पड़ताल आवश्यक प्रतीत होती है कि क्या लौकायतिकों के अलावा भारतीय दर्शन के दूसरे सम्प्रदाय भी स्वभाववाद की अनुशंसा करते हैं। इस संदर्भ में गोपीनाथ कविराज के मंतव्य से सहमति जताते हुए डी. पी. चट्टोपाध्याय का मानना है[१८] कि सांख्य विचारकों के लिए तार्किक दृष्टिकोण से यह बाध्यकारी था कि वे स्वभाववाद को स्वीकार करें। पुरुष शुद्ध द्रष्टा होने के कारण प्रकृति को सृष्टि के लिए प्रवृत नहीं कर सकता है। निमित कारण होने के बावजूद उसकी कोई क्रियात्मक गतिविधि नहीं है। जड़ प्रकृति स्वयं, पुरुष की उपस्थिति मात्र से विकास की प्रक्रिया में प्रवृत्त हो जाती है। ऐसा प्रकृति के स्वभाव के कारण होता है और इस प्रकार यह माना जा सकता है सांख्य दर्शन भी स्वभाववादियों की तरह व्यवहार करता है। सांख्य के प्राचीन रूप, जो महाभारत में संग्रहीत है, की व्याख्या करते हुए प्रो. मैसूर हिरियान्ना[१९] कहते हैं कि पुरुष की अनेकता में विश्वास के बावजूद प्रकृति को उन समस्त व्यावहारिक शक्ति से संयुक्त कर देना जो संसार की विचित्रता एवं विविधता के लिए आवश्यक है, सांख्य की स्वभाववाद के साथ सायुज्य स्थापित करता है। विचारकों का मानना है कि न्यायसूत्र (४.१.२२) द्वारा भी स्वभाववाद की ओर संकेत होता है और इस प्रकार चार्वाकों के साथ सांख्य की भी स्वभाववाद के मामलों में निकटता स्थापित की जा सकती है। सांख्य दर्शन गाय के थन से स्वतः दूध निकलने का उदाहरण देता है। यहाँ इसके लिए किसी बुद्धिमान बाहरी सत्ता अर्थात् ईश्वर को उत्तरदायी नहीं माना जाता है।

पाश्चात्य विचारक आर. ई. ह्यूम[२०], जिन्होंने मुख्य तेरहों उपनिषदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है, का मानना है कि श्वेताश्वतर उपनिषद में वर्णित स्वभाववाद का सांख्य के स्वभाववाद के साथ अभिन्नता है। नीलकंठ शास्त्री भी स्वभाववाद सिद्धान्त का परिणामवादी सिद्धान्त के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए कहते हैं- स्वभाव इति परिणामवादिनाम सांख्यानाम्।[२१] शंकराचार्य का मानना है कि स्वभाव के रूप में कारण को स्वीकार्य करने के पीछे सांख्य की तार्किक मजबूरी है, जिस प्रकार बछड़े के लिए निर्जीव दूध अपने आप निकलता है, मनुष्यों की भलाई के लिए जल स्वयं ही बहता है, उसी प्रकार निर्जीव प्रधान (प्रकृति) को भी मनुष्य के उच्चतम आदर्श की प्राप्ति में सहायतार्थ विकसित होते देखा जा सकता है। पुनः शंकर प्राकृतिक जगत् से उदाहरण लेकर यह कहते हैं जिस प्रकार घास, जड़ी-बूटी और पानी बिना किसी बाहरी सहायता के दूध में परिवर्तित हो जाते हैं, इसी प्रकार अपने स्वभाव के चलते प्रकृति भी महत् आदि तत्त्वों में बदल जाती है। घासादि का दूध में स्वभावतः परिवर्तित होने के पीछे यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि चूँकि ऐसे किसी बाहरी कारण का निरीक्षण संभव नहीं हो पाता है, अतः उनके स्वभाव को ही इस तरह के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मान लिया

जाता है।

अब तक के विवेचन के आधार पर हम यह कहने की स्थिति में हैं कि चिन्तन की उन तमाम विधियों को स्वभाववाद की श्रेणी में रखा जा सकता है जो कारणता विचार को, विशेषकर निमित कारण को सिरे से खारिज कर देती है। सैद्धान्तिक रूप से इसको दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है- उग्र स्वभाववाद तथा सरल स्वभाववाद। पहले प्रकार का स्वभाववाद किसी घटना के संभावित कारण खोजने के पहले ही उसे नकार देता है, वह कारण की संभावना की तलाश को व्यर्थ मानता है। दूसरे प्रकार का स्वभाववाद कारण विश्लेषण की संभावना को अपनी सहमति प्रदान करता है तथा एक सीमा के भीतर उसे वैध मानता है, लेकिन साथ ही इस बात की चेतावनी भी देता है कि अंतिम कारण की खोज को बहुत देर तक जारी नहीं रखा जा सकता है। आखिरी क्षणों में जब पर्याप्त व्याख्या की गुंजाईश नहीं बचती हो, तब प्रकृति की शरण में हमें लौटना होगा, प्राकृतिक नियमों, वस्तुओं के स्वाभाविक रूपान्तरण के नियमों को उदरस्थ करना होगा। इस प्रकार घटनाओं के प्रथम कारण की खोज में मानवीय बुद्धि की अक्षमता को रेखांकित करते हुए स्वभाववाद अपनी उपस्थिति दर्ज करता है।

इस प्रकार के विवेचन के उपरांत यह कहा जा सकता है कि पहले प्रकार का स्वभाववाद वैज्ञानिक उन्नति की राह में रोड़ा है क्योंकि यह पर्याप्त कारण या प्रथम कारण के खोज की संभावना को शुरू में ही नकार देता है जबकि दूसरा विचार स्वस्थ्य और गंभीर है। गोपीनाथ कविराज[22] का मानना है कि उग्र स्वभाववादियों को शुरूआती दिनों में लौकायतिक नाम से जाना जाता था लेकिन आगे के दिनों में उन्हें अधिक व्यापक नाम- चार्वाक से जाना जाने लगा।

उग्र स्वरूप के स्वभाववाद की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि कारण सम्बन्धों को सबसे पहले ही तिरष्कृत कर देता है, क्योंकि कारण सम्बन्धों का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से और न ही अनुमान से हो पाता है। दो घटनाओं के प्रत्यक्ष के आधार पर उनके बीच कारणता का सम्बन्ध स्वीकार कर लेना बुद्धिसम्मत नहीं है। किसी पूर्ववर्ती घटना को कारण बताने के पहले हमें उसकी नियतता तथा अन्यथा सिद्धि की असंदिग्धता प्रमाणित करनी होगी। चूँकि इस प्रकार की निश्चितता कभी संभव नहीं है, अतः कारण सम्बन्ध को स्थापित नहीं किया जा सकता है। कारणता के निश्चयन में अनुमान को एक साधन माना जाता है लेकिन लौकायतिक इसकी प्रमाणिकता को ही चुनौती देते हैं, क्योंकि आगमन के विरोधाभास के चलते आगमन की समस्या का कोई अंतिम समाधान हमें नहीं मिलता है। सार्वभौम सहगामिता मनुष्य की बुद्धि के लिए अगम्य है। इस कारण लौकायतिकों के लिए विश्व में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। सभी चीजें एक-दूसरे से पृथक् तथा अपने आप में पूर्ण है।

घटनाओं की श्रृंखला की व्याख्या के क्रम में इस तरह के बौद्धिक कोलाहल के बीच यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि दृश्य जगत् में अनिश्चयात्मकता की व्याख्या कैसे संभव है? अनिश्चयात्मकता इस बात का संकेत करती है कि कोई घटना एक विशिष्ट समय पर घटित होती है। इस विशिष्ट समय की पहचान के लिए, कारणता के समर्थक, पूर्ववर्ती अवस्थाओं के सहयोग की अपेक्षा करते हैं। लेकिन स्वभाववादी स्वभाव की वकालत करके इस तरह की समस्या की हवा ही निकाल देते हैं। उनका कहना है कि इस तरह की बिन्दुओं पर आगे प्रश्न करने की कोई गुंजाईश ही नहीं रह जाती है। यह सुस्पष्ट है कि कारणता सिद्धान्त भी अंतिम काल की संतोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ है। इस कारण शुरू में ही यह मान लेने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि ज्ञात और अज्ञात सभी कारण अनावश्यक चर्चा के केन्द्र में लाए जाते हैं। सभी प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद भिन्नता एवं असमानता अव्याख्यायित ही रह जाती है, विश्लेषण का अधिकतम प्रयास भी इसका उचित समाधान प्रस्तुत करने में असमर्थ है। अतः अंत में हमारे सामने अंतिम विकल्प के रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि हम इस बात को स्वीकार लें कि वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है कि अमुक समय पर अमुक घटना घटती है।

स्वभाववादी सिद्धान्त इस अर्थ में अबाध स्वचालकता के सिद्धान्त को बढ़ावा देता है कि यह जीवधारियों तथा उसके बाहर, सभी प्रकार की गति को शरीर के भीतर अन्तर्निहित अनिवार्य तत्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। गति कहीं बाहर या समर्थ सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत निमित्त कारण से उत्पन्न नहीं होती, वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा है कि

गति स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाती है। सारांश में हम स्वभाववाद के तीन लक्षणों की चर्चा कर सकते हैं – १. स्वभाव के चलते ही विविधता का उदय होता है; २. गतिशीलता, जिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप में जाना जा सकता है, स्वभाव से ही उत्पन्न होती है तथा ३. स्वतंत्र इच्छा का निषेध।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन प्रणाली में विपक्षी मत के खंडन के पश्चात् ही स्वमत का उद्घोष किया जाता है। अध्यात्मवादियों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे भौतिकवादियों के सिद्धांत का बिन्दुवार खण्डन करे। बौद्ध दर्शन भी आध्यात्मिक परम्परा में आता है। अत: इसके अनुयायियों के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वे भौतिकवाद का खंडन करे। इसी क्रम में प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक शांतिरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में लोकायत मत के स्वभाववाद का खंडन किया है। तत्त्वसंग्रह के ऊपर कमलशील की टीका का नाम मंजरा है। उन्होंने मंजरी में स्वभाववाद की विस्तृत व्याख्या के बाद उसका खंडन प्रस्तुत किया है। इस स्थल पर कमलशील की स्वभाववाद की व्याख्या एवं तदुपरांत उसके खंडन को उपस्थित करने से चार्वाकीय स्वभाववाद की हमारी समझ और व्यापक होगी। इस कारण इसे यहाँ उपस्थित करना अपेक्षित जान पड़ता है।[२३]

शांतिरक्षित के ग्रंथ की ओर संकेत करते हुए कमलशील का कहना है कि वहाँ की आरम्भिक पंक्तियों में 'दूसरे तत्त्वों' की चर्चा की गयी है तथा वहाँ ऐसे दार्शनिकों को शामिल किया गया है जो जगत् की उत्पत्ति का कारण इसके स्वयं के स्वभाव को मानते हैं। ऐसे सिद्धान्त में शास्त्रीय बात कुछ भी नहीं, अत: उसके खण्डनार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आगे कमलशील का कहना है कि स्वभाववादी सिद्धान्त के प्रवर्तक वस्तुओं की उत्पत्ति में किसी भी प्रकार के कारण को अनुपयोगी मानते हैं।

यद्यपि स्वभाववाद का सिद्धान्त अन्यत्र कहीं भी एक जगह सुव्यस्थित रूप में नहीं मिलता है, फिर भी इसका निहितार्थ यह है कि चीजों की उत्पत्ति स्वत: होती है। वस्तु के अलावा किसी भी दूसरे स्वरूप को वस्तु का कारण नहीं माना जा सकता है। इसके समर्थन में स्वभाववादियों का कहना है कि जब प्रत्यक्ष से ज्ञात होने की सभी शर्तों को पूरा करनेवाले का अस्तित्व ऐसा होता है कि वह प्रत्यक्षगत नहीं होता है तब बुद्धिमान लोग उसे अनस्तित्वान मानते हैं जैसे खरहे की सींग। वस्तुओं का कोई भी कारण ऐसा अनस्तित्ववान चीज है जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, अत: इससे प्रमाणित होता है कि कारण का ज्ञान संभव नहीं है।

स्वभाववादियों का पक्ष, खंडनार्थ ही सही, रखते हुए कमलशील का कहना है कि कमल के फूल में पंखुड़ियाँ, तंतु तथा नुकीले काँटों सहित दूसरे अन्य भागों को कौन बनाता है? आकार, रंग, कठोरता जैसी विविधताओं को कौन जन्म देता है? इसका संतोषप्रद जवाब किसी भी व्यक्ति के पास नहीं है। अत: यह कहा जा सकता है कि इसे कोई नहीं बनाता। हमारे पास इसके कारण स्वरूप ईश्वर जैसे किसी कर्ता के ज्ञान के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। यह तो हुई बाहरी चीजों के बारे में बात। स्वभाववादियों का मानना है कि आन्तरिक चीजों के बारे में भी यही बात लागू होती है। यद्यपि दर्द तथा ऐसे ही अन्य आन्तरिक चीजों का अकारण होना प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित नहीं होता, फिर अनुमान द्वारा इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए जो चीज किसी अनिश्चित समय पर होती है, उसे अकारण होना माना जाता है। यथा काँटों की तीक्ष्णता तथा दूसरी अन्य चीजें। दर्द और ऐसी ही अन्य आन्तरिक चीजें केवल अनिश्चित समय पर होती हैं इस कारण यह प्रमाणित होता है कि ऐसी चीजें स्वभावगत होती हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है जब कोई चीज उस समय पर उपस्थित या अनुपस्थित रहती है जब दूसरी चीज उपस्थित या अनुपस्थित रहती है तो बाद वाली चीज पहले का कार्य नहीं कही जा सकती, क्योंकि ऐसा हरदम सत्य नहीं पाया जाता है। उदाहरण के लिए स्पर्श की दशा में चाक्षुष प्रत्यक्ष तो उपस्थित रहता है तथा स्पर्श नहीं होने की दशा में यह अनुपस्थित रहता है। फिर भी स्पर्श को चाक्षुष प्रत्यक्ष का कारण नहीं कहा जा सकता है। इस कारण कारणता का तथाकथित सम्बन्ध सत्य नहीं है। इन सारे तथ्यों से यह निगमित होता है कि सभी चीजों की उत्पत्ति सभी कारणों से मुक्त होती है। इस प्रकार स्वभाववाद का स्वरूप यद्यपि बौद्ध तार्किक कमलशील द्वारा निरूपित है फिर भी इतना तो बेहिचक स्वीकार किया जा सकता है कि उनका यह चित्रण अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि उस स्थिति

में उनके द्वारा इसका खंडन और भी दुरुह हो जाता।

कमलशील, जो स्वभाववाद के खंडन मात्र के लिए इसका विशद् विवेचन करते हैं, के विवरण के अनुसार भी ऐसा ज्ञात होता है कि स्वभाववाद सांसारिक वस्तुओं में होनेवाले परिवर्तन को वस्तुओं के स्वभाव के कारण स्वीकार करता है और इस प्रकार यह माना जा सकता है कि यह सिद्धान्त अराजक विश्व व्यवस्था में विश्वास नहीं करता है, केवल इसका जोर इस बात पर है विश्व में होनेवाले परिवर्तनों के पीछे कोई बाहरी अलौकिक सत्ता का हाथ नहीं है। अदृष्टवाद और स्वभाववाद के बीच अगर अंतर स्पष्ट किया जाय तो सर्वप्रथम स्वभाववाद का भावात्मक योगदान मुखरित होता है। अर्थात् परलोकवाद के सिद्धान्त को यहाँ जगह नहीं दी गयी है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात इस सिद्धान्त के साथ यह है कि यह आत्मा की अमरता को नहीं मानता है अर्थात् अध्यात्मवाद को भी खारिज कर देता है जहाँ आत्मा के अमरत्व सिद्धान्त को स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है। वस्तुतः परलोक, आत्मा जैसी अतीन्द्रिय सत्ताओं का निषेध ही इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है। आत्मा की अमरता की अस्वीकृति से अनिवार्यतः एक उप-सिद्धान्त यह निकलता है कि स्वभाववाद सामान्य रूप से स्वीकृत कर्म-नियम में भी विश्वास नहीं करता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी स्वभाववाद की चर्चा के उपरान्त इसको तिरष्कृत कर दिया गया है जिसका विवेचन इस अध्याय में पहले ही किया जा चुका है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है वहाँ वर्णित स्वभाववाद लौकायतिकों के स्वभाववाद से भिन्न नहीं रहा होगा, इस कारण इस मत का खंडन यहाँ किया गया है। प्रो. मैसूर हिरियान्ना का मत है कि सांसारिकता से जुड़ी तत्त्वमीमांसा ही लोकायत मत का वास्तविक अर्थ रहा होगा।[२४] मध्वाचार्य और मधुसूदन सरस्वती जैसे लोग स्वभाववाद को लोकायत मत के साथ ही सम्पृक्त करते हैं। इन दोनों विद्वानों से बहुत पहले शंकराचार्य इस मत को सांख्य के साथ सम्बद्ध करते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार संसार का क्रमिक विकास महत् आदि स्तरों से होकर गुजरता है। शंकर ने सांख्य के इस मत का विस्तार से विवरण प्रस्तुत करने के बाद उसका खंडन किया है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। लेकिन यहाँ पर इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि कैसे शंकर द्वारा स्वभाववादी सिद्धान्त का खंडन संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता है। स्वभाववाद सिद्धांत के अनुसार दूध का कारण केवल घास मात्र नहीं है, बल्कि गाय द्वारा घास खाये जाने की सम्पूर्ण जटिल प्राकृतिक प्रक्रिया है। अधिक घास खिलाये जाने से मनुष्य को भरपूर दूध की उपलब्धि हो सकती है, इससे किसी अतिरिक्त प्राकृतिक कारण की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, बल्कि इससे भी यही ज्ञात होता है कि प्रकृति पर विजय प्रकृति में निहित नियमों को पहचान कर ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार इस उदाहरण के स्वभाववाद में निहित आशय को तभी खंडित किया जा सकता है जब यह साबित कर दिया जाय कि अधिक दूध के उत्पादन के लिए कोई अतिप्राकृतिक, अलौकिक शक्ति उत्तरदायी है। वाचस्पति मिश्र[२५] शंकर की इस असुविधा को समझते हैं। उनका कहना है कि घास के दूध में परिवर्तित होने की घटना को गाय की पाचन प्रक्रिया को समर्पित किया जा सकता है अन्यथा हमें एक विवेकशील कारण की तलाश करनी पड़ेगी जो सर्वशक्तिमान ईश्वर को छोड़कर कोई दूसरा नहीं हो सकता है।

शंकराचार्य के पूर्व गौड़पाद[२६] ने भी स्वभावाद को सांख्य के साथ जोड़ने का काम किया – सांख्यानाम् स्वभावनाम कश्चित् कारणं अस्ति। लेकिन यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि गौड़पाद, शंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र जैसे ख्यातनाम वेदान्ती स्वभाववाद को सांख्य के साथ क्यों संयुक्त करते हैं? क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि सांख्य के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या ऐसे प्रस्ताव के अभाव में संभव नहीं थी। द्वैतवादी दर्शन में पुरुष की स्थिति अप्रधान तथा उदासीनता से युक्त थी। पुरुष की विकास प्रक्रिया में कहीं कोई भूमिका नहीं थी। प्रकृति के अंतर्निहित स्वभाव में ही ऐसे कारक मौजूद हैं जिनके चलते स्वतः और अकेले ही विकास-क्रिया का सूत्रपात होता है। इन स्थितियों की व्याख्या के लिए स्वभाव से अच्छा कोई विकल्प नहीं था। इसका एक दूसरा पक्ष यह भी हो सकता है कि सांख्य को स्वभाववाद के साथ जोड़ने पर इसका स्वाभाविक झुकाव भौतिकवाद या लोकयत मत की ओर हो जाएगा जिससे लोकायत पर आरोपित सभी तर्क यहाँ

भी स्वत: लागू हो जाएंगी। फलस्वरूप वेदान्त के प्रधान मल्ल, प्रधान शत्रु का आसानी से निरसन हो जाएगा।

चार्वाक दर्शन अथवा लोकायत मत के स्वभाववाद के विभिन्न प्रसंगों की विशद् विवेचना के बाद विरचनावाद के कुछ लक्षणों को जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी जानकारी से विरचनावाद के साथ चार्वाकीय स्वभाववाद की संगति-असंगति को परखने में काफी मदद मिलेगी।

विरचनावाद (Deconstruction) मुख्य रूप से डेरिडा के नाम से जुड़ा है और साधारणत: किसी औपचारिक परिभाषा के साथ इसका विरोध जगजाहिर है। फिर भी इस पद्धत्ति के कुछ खास लक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह किसी ग्रंथ के अंतिम अर्थ को नकारता है और प्रकारान्तर से परमार्थिक सत्ता को भी चुनौती देता है। यहाँ इस विश्वास को भी बल प्रदान किया जाता है कि चूँकि सभी पाठों में अस्पष्टता होती है, तथा उन्हें विभिन्न प्रकार से पढ़ा जा सकता है, इस कारण कोई अंतिम अर्थ की स्थापना किसी ग्रंथ विशेष के साथ नहीं की जा सकती है। इस प्रकार विरचनावाद एक ऐसी व्यवस्था की परिचायक बन जाती है जो सभी परम्पराओं पर शंका करती है। सभी पारम्परिक पाठों में विरोधाभास देखने को मिलते हैं, इस कारण उनकी सकारात्मक अनुशंसा नहीं की जा सकती है। परम्परा तथा परम्परा प्रदत व्याख्याएँ कल्पित मान्यताओं एवं अंधविश्वासों के रंगों में रंगी होती हैं, अत: एक स्वस्थ दृष्टिकोण को बढ़ावा देने के लिए इनका निराकरण एवं निरसन जरूरी है। अगर किसी परम्परा, किसी ग्रंथ के साथ हमारा पवित्रता का भाव न जुड़ा हो, तो आसानी से यह दिखलाया जा सकता है, अपने द्वारा स्थापित नियमों की अवहेलना इनके द्वारा बार-बार की जाती है। इसी से मिलता-जुलता विचार भारतीय मूल की प्रख्यात लेखिका गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, डेरिडा की पुस्तक ऑफ ग्रामेटोलोजी के अनुवाद के क्रम में अनुवादक की भूमिका में करती है।[२७]

हम वास्तविक संसार में जीते हैं, लेकिन हमारा यह जीवन शर्तों के अधीन है। अपनी बनायी चहारदीवारी, अपने लिए निर्मित विशिष्ट भाषा, जिन्हें कूटभाषा कहना ज्यादा ठीक होगा, से आबद्ध हो जाते हैं। इस कूट भाषा के माध्यम से ही हमारे ज्ञान की परिधि विस्तृत होती है। अत: कोई भी बंद व्यवस्था, कूटभाषा हमें साक्षात् ज्ञान नहीं करा पाती। हमारे और ज्ञान के बीच सदैव दूरी कायम रहती है। इस दूरी को मिटाने हेतु विरचनावादी दृष्टिकोण विकसित करना होगा।[२८]

विरचनावाद यह मानकर चलता है कि प्रत्येक पाठ, प्रत्येक ग्रंथ विरोधाभासों एवं अन्तर्द्वन्द्वों से भरा होता है। इस कारण उसकी निरपेक्षता पर प्रश्न उठाया जा सकता है। पाठों में निहित विरोधों को उजागर करने की विधि के रूप में विरचनावाद को मान्यता प्राप्त है। लेखकों द्वारा रूप के साथ-साथ तर्कों का भी प्रयोग अपनी मान्यताओं एवं अभिवृत्तियों को बल प्रदान करने के लिए किया जाता है। रूपक और तर्क कभी-कभी एक-दूसरे के विरोध में उठ खड़े होते हैं जिससे ग्रंथ का स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध होन लगता है। विरचनावादी प्रक्रिया रूपकों और तर्कों के बीच तुलना द्वारा यह बतलाती है कि ग्रंथ में वर्णित तथ्य न सिर्फ यदा-कदा अपितु अनिवार्यत: एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते नजर आते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि टेक्स्ट अपना स्थायित्व खो देता है। इस तरह के विरोध के कारण ग्रंथ के मूल आधार में ही लम्बी दरार देखने को मिलती है। विरचनावादी पढ़त टेक्स्ट में निहित ऐसे स्थलों को ढूँढ़कर वहाँ स्वाभाविक प्रवाह को स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

विरचनावाद किसी पाठ को नये तरीके से पढ़ने का ढंग है। यहाँ नया तरीका, नया सिरा से तात्पर्य यह है कि हमारी परम्परा के प्रति अंधश्रद्धा और विश्वास जाता रहता है, हम खुले दिमाग से बिना किसी समर्पण भाव के टेक्स्ट के नजदीक पहुँचते हैं तथा जो कुछ भी विसंगति, विरोधाभास प्रतीत होता है, उसे उजागर करने में हमें कोई हिचक नहीं होती है।

दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि पाठ का वाचन परम्परा प्रदत्त पद्धत्ति या पूर्वनिर्धारित विहित ढंग से नहीं होता है। किसी टेक्स्ट की भाषा में कोई निश्चित अर्थ नहीं होता, बल्कि विरचनावादी पद्धत्ति तो उस भाषा में अर्थ के कई स्तरों[२९] की खोज का प्रयास करती है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं लगाया जाना चाहिए कि विरचनावाद नए प्रतिमानों की स्थापना

के लिए प्रतिबद्ध है और इसका एकमात्र उद्देश्य शास्त्रीय ग्रंथों का पुनर्मूल्यांकन है, बल्कि इसका उद्देश्य तो मात्र इतना ही है कि ग्रंथ के भीतर क्या घटित हो रहा है? इस क्रम में ग्रंथ के संदर्भों एवं उपसंदर्भों की जाँच की जाती है। किसी ग्रंथ की व्यक्त निर्मिति किस प्रकार इसकी अव्यक्त रचना को दमित किए हुए है, इसी का पर्दाफाश विरचनावाद में किया जाता है।

विरचनावाद के कुछ विशिष्ट लक्षणों के विवेचन के पश्चात् अब लौकायतिक स्वभाववाद के साथ इसके संभावित अन्तर्संबंधों की समीक्षा कर लेनी चाहिए।

लौकायतिक स्वभाववाद जिस प्रकार परम्परा प्रदत्त कारण सिद्धान्त को खारिज करता है तथा प्रकारान्तर से अलौकिकवाद, कर्म-नियम, अदृष्टवाद जैसे अतीन्द्रिय सिद्धान्तों के लिए जगह नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार विरचनावाद में भी किसी अतीन्द्रिय सत्ता के प्रति व्यामोह नहीं है। विरचनावादी शब्दावली में इसे अतीन्द्रिय निषिद्ध, फिलॉस्फीम्स, एपिस्टीम जैसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। यहाँ हम इनकी विशद् विवेचना प्रस्तुत न करके सिर्फ इतना ही संसूचित करना चाहेंगे कि इतिहास के अलग-अलग कालखण्डों में विवेचित इन सिद्धान्तों में कई बिन्दुओं में साम्य है। इस साम्य के आधार पर सम्यक् चर्चा के उपरांत यह स्थापित करना ही इस शोध-पत्र का प्रयोजन है कि चार्वाकीय मीमांसा भारतीय आस्तिक परम्परा में तिरष्कृत होने के बाद भी उत्तर-आधुनिक विचारधारा विरचनावाद के साथ कदमताल करने में समर्थ है। जिस प्रकार इसके लिए कोई सिद्धान्त परम पवित्र तथा अलंघनीय नहीं है, अगर वहाँ विरोधाभास और बेमेल की संगति स्थापित की गयी है, ठीक उसी प्रकार लौकायतिक मीमांसा में भी उन दिनों परम पवित्र समझी जानेवाली वैदिक परम्परा के प्रति विद्रोह है लेकिन यह विरोध शुद्ध सम्प्रदायगत नहीं है, क्योंकि इस धारा के चिन्तक वेदों की व्याघातकता, विरोधाभास एवं असंगतता को उजागर करने के बाद ही ठोस दार्शनिक आधारों पर इसे अस्वीकृत करते हैं।

विरचनावाद को भी सीमित अर्थ में स्वभाववादी चिन्तन का पोषक माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ भी किसी विवेचनाधीन पाठ की असंगतता के लिए बाहरी स्रोतों पर निर्भर रहने का उपदेश नहीं दिया जाता, बल्कि पाठ के भीतर ही मौजूद परस्पर प्रतियोगी दावों को स्वीकृत किया जाता है और इस प्रकार यह दिखाया जाता है कि टेक्स्ट के विरचना की सामग्री स्वयं उसके भीतर ही मौजूद है, हमें इसके लिए बाहर देखने की जरूरत नहीं है।

संदर्भ:

१. *ब्लैकबर्न, साइमन : डिक्शनरी ऑव फिलॉसफी, न्यूयार्क, ओ. यू. पी., २००८, पृ. ५७*

२. *उदयानाचार्य : न्यायकुसुमांजलि, ५.१*

३. *बृहदारण्यकोपनिषद्, २.४.१२*

४. *मध्वाचार्य : सर्वदर्शन संग्रह, 'प्रकाश टीका', (अनु.) उमाशंकर शर्मा, वाराणसी : चौखम्बा, विद्याभवन, २०१०, पृ० १५*

५. *सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १९९२, पृ. ९१*

६. *सर्वदर्शन संग्रह, पृ. १९-२०*

७. *श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.२*

८. *हिरियान्ना, मैसूर : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (अनु.), गोवर्धन भट्ट, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९८७, पृ. १८७-१९४*

९. *शंकराचार्य : श्वेताश्वतर भाष्य, १.२*

१०. *सरस्वती, अमलानंद : कल्पतरु, २.१.३३ उद्धृत डी. पी. चट्टोपाध्याय, ह्वाट इज लिविंग, पृ. ४५६*

११. *गुणरत्न, तर्क रहस्य दीपिका, पृ. १३ उद्धृत चट्टोपाध्याय, पृ. ४५८*

१२. *चट्टोपाध्याय, डी. पी., ह्वाट इज लिविंग एण्ड ह्वाट इस डेड इन इंडियन फिलोसफी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, २००१, पृ. ४५७*

१३. वही, पृ. ४५८

१४. उद्धृत गोपीनाथ कविराज (अनु०), सरस्वती भवन सीरिज, ११, ९५

१५. वही

१६. चट्टोपाध्याय, पृ० ४५९

१७. चट्टोपाध्याय, इन डिफेंस ..., पृ० ९०

१८. वही, पृ. ९२

१९. हिरियान्ना, पृ. २७७-२८१

२०. ह्यूम, आर. ई., थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स, न्यूयार्क : ओ. यू. पी., १९२१

२१. उद्धृत चट्टोपाध्याय, इन डिफेंस ..., पृ.० ९३

२२. कविराज, गोपीनाथ : लोकायत एवं द डाक्ट्रीन ऑव स्वभाव, लोकायत/चार्वाक (सम्पा.) देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, नई दिल्ली : आई. सी. पी. आर., २००६, पृ. ४४३

२३. कमलशील : मंजरी, उद्धृत चट्टोपाध्याय, पृ. २२२-२३३

२४. हिरियान्ना, मैसूर : आऊट लाइन्स ऑव इंडियन फिलॉसफी, पृ. १०३

२५. चट्टोपाध्याय, डी. पी., इंडियन फिलॉसफी : ए पोपुलर इंट्रोडक्शन, नई दिल्ली : पीपुल पब्लिशिंग हाउस, २००७, पृ. १०५

२६. गौड़पाद : सांख्य-कारिका भाष्य, पद २७

२७. स्पिवाक, गायत्री चक्रवर्ती : 'ट्रान्सलेटर्स प्रीफेस' ऑफ ग्रामेटोलोजी, जॉक डेरिडा, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास, २००५, पृ. XLIV

२८. ली, जॉन : डिकंस्ट्रक्शन : सम एजम्पसन, कंटेम्पररी लिटररी थ्योरी, ब्रूक यूनिवर्सिटी, १९९६, पृ० ४५

२९. बर्नस्कोनी, राबर्ट : जैक डेरिडा, माइक्रासाफ्ट रेफरेन्स लाइब्रेरी, १९९७-२०००

***

शब्दार्थ-सम्बन्ध : एक विवेचन

किस्मत कुमार सिंह

शब्द और अर्थ में सम्बन्ध :

शब्द और अर्थ का आपसी सम्बन्ध एकात्मकता का है। अन्य शास्त्रों के अलावा भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रंथ में शब्द-अर्थ विषय का विशद् विवेचन हुआ है। भर्तृहरि ने योग्यता, स्वाभाविक संगति तथा कार्य कारणभाव अर्थात् कारण तथा कार्य के सम्बन्ध को शब्द तथा अर्थ के दो प्रमुख सम्बन्ध मानने पर बल दिया है। दूसरों के द्वारा शब्दों के उच्चारण करने पर तीन तत्त्वों का ग्रहण होता है-(I) उनका स्वरूप, (II) उनका अर्थ तथा (III) वक्ता की विवक्षा। इन तीनों तत्त्वों में, प्रथम शब्द के प्रति आन्तरिक (अंतरंग) है।[१] श्रोता भले ही दूसरे दो तत्त्वों को न समझे, इसे तो समझा ही जाता है। यह शब्द से कभी पृथक् नहीं होता तथा प्रत्येक शब्द के लिए अलग-अलग होता है। शब्द तथा अर्थ में वाचक तथा वाच्य का सम्बन्ध (वाच्य-वाचक-भाव) है। इसी को स्वाभाविक संगति (योग्यता) कहा जाता है। स्पष्ट है कि शब्द के दो पक्ष होते हैं-ग्राहक तथा ग्राह्य, प्रकाश तथा प्रकाश्य। जहाँ तक किसी अर्थ का ग्रहण कराने की बात या सम्बन्ध है वह ग्राहक है और जहाँ तक उसके स्वरूप को ग्रहण कराने की बात या सम्बन्ध है वह ग्राह्य है। इसे ग्राह्य कहना वाच्य कहना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक बार समझ में आ जाने पर यह अर्थ का अभिव्यञ्जक (वाचक) हो जाता है, परन्तु प्रथम स्तर पर ग्राह्य (वाच्य) होता है। शब्द तथा वक्ता की विवक्षा के बीच कार्यकारण का सम्बन्ध बताया गया है। हेलाराज द्वारा कारणता को सम्बन्ध मानने के लिए दिया गया तर्क बहुत ही दिलचस्प है। उनके मतानुसार, यह इसलिए माना गया ताकि उनलोगों से समन्वय किया जा सके जो यह मानते हैं कि शब्द किसी बाह्य अर्थ को, जिनकी सत्ता में ही उनका विश्वास नहीं है, अभिहित या परिलक्षित करता है। शब्द श्रोता को उस अर्थ का स्मरण भर करा देते हैं जो बोलने का निश्चय करते समय वक्ता के मन में था। यह अर्थ उन शब्दों का कारण है जिन्हें उसने बोला और जो इस प्रकार उस अर्थ के कार्य हैं। अपनी बारी आने पर, श्रोता द्वारा सुने हुए शब्द उसी प्रकार का अर्थ उसके मन में पैदा कर देते हैं। श्रोता के मन में आया यह अर्थ ही कार्य है। इस प्रकार कारण तथा कार्य के सम्बन्ध में, शब्द तथा अर्थ क्रम-दर-क्रम कारण तथा कार्य हो सकते हैं। स्थिति कोई भी हो, इन दोनों का सम्बन्ध कार्य कारण ही होता है। चूँकि व्याकरण दर्शन के किसी सम्प्रदाय विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है, अतः यथासंभव वह सभी के और नहीं तो कुछ के साथ समन्वय का प्रयत्न करता है।[२]

पुनश्च, योग्यता तथा कार्य कारण भाव इन दोनों के संदर्भ में थोड़ा और आगे की ओर जाना या विवेचन उचित प्रतीत हो रहा है। स्वाभाविक योग्यता के कारण सिर्फ शब्द ही अर्थों का स्मरण नहीं करा देते अर्थात् अर्थ बोध (ज्ञान) उत्पन्न नहीं कर देते अपितु, इन्द्रियाँ भी यह कार्य करती हैं।[३] इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पत्ति के साधन मात्र हैं। वे ज्ञान का अंग नहीं बनतीं। जब वे ज्ञान उत्पन्न करती हैं स्वयं उनका ग्रहण नहीं होता। शब्दों के साथ उनकी समानता का एक प्रमुख पहलू यह है कि वे स्वाभाविक योग्यता के कारण ज्ञान उत्पन्न करती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लिंग अनुमिति के कारण हैं, परन्तु इन तीनों में भेद है। जहाँ तक लिंगों, जैसे कि अग्नि के अनुमान में धूम का सम्बन्ध है, वे जिस ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, उसका अंग बनते हैं, किन्तु ज्ञान से गृहीत वस्तु से पृथक् रहते हैं। इसके विपरीत शब्द जिस ज्ञान को उत्पन्न करता है उसका वह मात्र कारण ही नहीं है, अपितु वह ग्राह्य अर्थ के साथ एक रूप प्रतीत होता है। अर्थ को शब्द के साथ एक रूप प्रस्तुत करना ही उसकी अभिव्यक्ति स्वीकारा जाता है।[४] इन्द्रियों तथा शब्द में अन्तर यह है कि इन्द्रियाँ स्वयं का ज्ञान

कराये बिना ज्ञान उत्पन्न करती है; जबकि शब्द स्वयं का ग्रहण कराता है अर्थात् किसी दूसरा ज्ञान उत्पन्न करने से पूर्व उसकी स्वयं की पहचान की जाती है। यही नहीं ज्ञान द्वारा गृहित अर्थ शब्द के साथ एक रूप हो जाता है।[५]

शब्द की अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्यता (योग्यता) का ग्रहण रूढ़ी (समय-संकेत) जिस वृद्धों द्वारा शब्द प्रयोग का निरीक्षण स्वीकारा या माना गया है, के द्वारा होता है। यह प्रयोग शब्दों की अपने अर्थ को सूचित या लक्षित करने की स्वाभाविक शक्यता का अनुसरण करता है, वह अर्थों को उत्पन्न नहीं करता। मनुष्य शब्द तथा अर्थ के बीच यह सम्बन्ध पैदा नहीं कर सकते, चाहे हम अर्थ को नित्य या फिर अनित्य स्वीकारें।[६] सम्बन्ध चाहे शक्यता (योग्यता) का हो या फिर कारणता का, अर्थ को शब्द के साथ एकात्म माना जाता है। शब्द तथा अभिहित अर्थ दोनों के लिए ही एक ही शब्द का प्रयोग होता है। यदि अर्थ का ग्रहण कराने वाला शब्द पट है तो अर्थ भी पट है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि शब्द जिस ज्ञान को उत्पन्न करता है वह भी पट है। शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य स्थापित किया जाता है। यह इसलिए होता है, क्योंकि शब्द अर्थ का वाचक है और अर्थ शब्द द्वारा वाच्य है। दोनों का एक-दूसरे से सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध को 'अस्येदम्' अथवा 'सोऽयम्' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। शब्द प्रकाशक है और अर्थ प्रकाश्य। यद्यपि शब्द तथा अर्थ भिन्न है, तथापि इन दोनों में एक प्रकार का तादात्म्य है। इसलिए हम इन दोनों के बारे में अस्येदम् (यह इसका) तथा सोऽयम् (यह वह है), इन अभिव्यक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं। पहली भेद पर और दूसरी अभेद पर आधारित है। इसका किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्तियों द्वारा स्थापन नहीं हुआ है।[७] यह सम्बन्ध हमेशा से विद्यमान है। व्याकरण इसकी सृष्टि नहीं करता। वह पूर्वतः विद्यमान को प्रकाशित भर करता है। शब्द में विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की एक प्रकार की शक्यता होती है। इस शक्यता को वृद्धों द्वारा प्रयोग (समयोपाधिः)[८] को देखकर जाना जा सकता है। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर पतञ्जलि के महाभाष्य में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि महर्षि पतञ्जलि का भी यही मत था।[९] एक स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि संग्रहकार का भी यही मत था।[१०] महाभाष्य में कार्यकारण भाव के भी संकेत मिलते हैं। शब्द सुनने पर, हमें विषयाकार ज्ञान प्राप्त होता है। विषय को भी देखने पर, हमें विषयाकार ज्ञान प्राप्त होता है तथा विषय बाह्य प्रतीत होता है; इसी प्रकार, शब्द द्वारा उत्पादित ज्ञान में प्रतिभाषित अर्थ भी बाह्य प्रतीत होता है, यद्यपि वह वैसा होता नहीं है। चूँकि विषयाकार ज्ञान का कारण शब्द है और चूँकि ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ बाह्य विषय के साथ एकात्म है, अतः शब्द बाह्य का भी कारण प्रतीत होता है। इस प्रकार, शब्द तथा अर्थ अथवा विषय के बीच कारण कार्य का सम्बन्ध है। इसका ज्ञान बुजुर्गों द्वारा प्रयोग के अवेक्षण से भी होता है। ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ का बाह्य विषय के साथ तादात्म्य, निश्चित ही, अध्यास है। ज्ञान में प्रतिभासित होनेवाला विषय शब्द का अर्थ है तथा कार्य भी है। बाह्य विषय भी ऐसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों का भ्रमवशात् तादात्म्य किया जाता है। सभी शब्द विषयों को प्रतिभासित करनेवाले ज्ञान उत्पन्न करते हैं; भले ही उनसे मिलती-जुलती कोई वस्तु बाह्य जगत् में हो या नहीं। जब शब्दों का प्रयोग अतीत की घटनाओं का वर्णन करने में किया जाता है, तो वे इन ज्ञानों को उत्पन्न करते हैं जिनसे अतीत के व्यक्ति या घटनाएँ सामने आती हैं; यद्यपि वे तत्वक्त बाह्य जगत् में अस्तित्व में नहीं हैं। 'रावण घातयति' (वह रावण को मरवाता है) इस अभिव्यक्ति में वर्तमान काल के प्रयोग की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि यह उस कथन की उक्ति है जो प्राचीन नायकों की जन्म से लेकर मृत्यु तक की किस्मत का बखान करते हुए उन्हें मन में देखता है और उन्हें उसी तरह प्रकट करता है जैसे कि वे उसके मन में विद्यमान हैं।[११]

अर्थ का शब्द के साथ एकात्म होने का ज्ञान अध्यास (आरोप) है, क्योंकि वे यद्यपि इस अवस्था में भिन्न हो गये हैं, तथापि अर्थ को शब्द के साथ एकात्म समझा जाता है। तदात्म्य उन दो वस्तुओं पर आधारित होता है जो परस्पर पृथक् होते हैं।[१२] सम्बन्ध वस्तुतः शब्द के शुद्ध रूप तथा अर्थ में रहता है, चाहे सम्बन्ध कुछ भी हो, न कि उसके अशुद्ध रूप तथा अर्थ में। यह माना जाता है कि शब्द का अशुद्ध रूप भी अर्थ का स्मरण करा सकता है या तो साक्षात्, जैसे कि अशिक्षित लोगों को जो अशुद्ध रूप ही जानते हैं, अथवा परोक्षतः अर्थात् शुद्ध रूप का स्मरण कराने के अनन्तर, जैसे कि शिक्षित व्यक्तियों को जो रूप जानते हैं, किन्तु शब्द के अशुद्ध रूप अर्थ के वाचक नहीं होते, वे अपने शुद्ध रूप का अनुमान कराने में समर्थ भर होते हैं। सम्बन्ध तो शुद्ध रूप तथा अर्थ में होता हैं।[१३]

पुनश्च, व्याकरण इस पूर्वमान्यता पर आधारित है कि शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। इस तथ्य की स्पष्टता हेतु इसका विश्लेषण आवश्यक है। नित्यता को रूपों में व्याख्यायित किया गया है। जो अजन्मा हो और जो सदा एकरस या अविकृत बना रहे वह नित्य है। यह कूटस्थ नित्यता है। इसी अर्थ में ब्रह्म (Ultimate Reality) नित्य है। जो विभिन्न अवस्थाओं या आश्रयों में विद्यमान हो, पर आश्रय-विनाश के साथ नष्ट न हो, वही नित्य है। घट विशेष के नष्ट हो जाने पर घटत्व विनष्ट नहीं हो अर्थात् उसकी जाति या प्रत्यय नित्य है। घट विशेष के नष्ट हो जाने पर भी उसमें विद्यमान घटत्व सामान्य (जाति या प्रत्यय) नित्य है, और वह दूसरे घटों में विद्यमान बना रहता है। घटों की एक निरन्तर (सतत) श्रृंखला है, अतः घट-व्यष्टि के विनष्ट हो जाने पर भी घटत्व कहीं-न-कहीं श्रृंखला में विद्यमान रहता है। यह निरन्तरता या सातत्य भी एक प्रकार की नित्यता है। जो अनेकानेक आकार ग्रहण करता रहता है, परन्तु जिसे उसी रूप में पहचाना जा सकता है वह भी इन दोनों अर्थों, अविकारिता तथा सातत्य, में नित्य है। शब्द परम तत्त्व के रूप में अधिकारी तथा अविनाशी अर्थात् कूटस्थ नित्य है। जब हम किसी शब्द को उसके हजारों उच्चारणों में पहचान लेते हैं, तो वह सातत्य के अर्थ में नित्य है। शब्द का अर्थ जाति या प्रत्यय है और वह अविकारी तथा अविनाशी होने के अर्थ में नित्य है। सभी शब्द किसी-न-किसी उपाधि से उपहित ब्रह्म के वाचक हैं; इस धारणानुसार भी अर्थ नित्य है। वाक्यपदीय ने, सातत्य की नित्यता पर जोर दिया है, इस मत के लिए वाक्यपदीय को महाभाष्य का समर्थन भी प्राप्त होता है। यह स्वीकारा गया था कि शब्द जिस अर्थ का स्मरण कराता है उससे मिलती-जुलती कोई वस्तु बाह्य जगत में है ही नहीं। 'शशविषाण' शब्द इसका पुरातनतम उदाहरण हैं। यह शब्द कुछ-न-कुछ स्मरण कराता है, परन्तु इससे मिलती जुलती कोई वस्तु बाह्य जगत् में है ही नहीं। दूसरा उदाहरण अलातचक्र (आग का चक्का) है।[१४] इस शब्द के अर्थ में से मिलती-जुलती कोई वस्तु बाहरी दुनिया में नहीं है अथवा शब्द का अभिप्राय उस वस्तु से है जो विनाशी है। यदि शब्दार्थ से मिलती-जुलती कोई वस्तु बाह्य जगत् में नहीं है, और है भी तो वह वस्तु विनष्टशील है, तो फिर शब्द और ऐसी अविद्यमान या विनाशी वस्तु के बीच सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? सम्बन्ध को नित्य होने के लिए, क्या यह जरूरी नहीं है कि वस्तु भी नित्य हो। शंका समाधान में कहा गया है कि शब्द अतिवार्यतः अपने अर्थ को बोध कराता है, उससे समानता रखने वाली वस्तु बाह्य-जगत् में हो या नहीं। अर्थ-बोध अनिवार्यतः होता है, वह तथ्य उसकी नित्यता का लक्षण है और यह नित्यता प्रवाह नित्यता (धारा के समान नित्यता, सातत्य) कहलाती है। महाभाष्य में वर्णन है-'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः' अर्थात् अर्थवान् (शब्दों) को अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य ही है।[१५] इसी सन्दर्भ में परन्तु कुछ बाद में, कैयट ने कहा है कि शब्द का अर्थ वही है जो बुद्धि में प्रतिभासित होता है। यह तथ्य है कि अर्थ-बोध अनिवार्यतः होता ही है चाहे उससे समानता रखने वाली वस्तु अस्तित्व में हो या न हो, इस बात का प्रमाण माना जाता है कि शब्द अर्थ में सम्बन्ध नित्य है।[१६] कुछ दृष्टादृष्टतार्थ के सन्दर्भ में, कि कुछ के द्वारा सुझाया गया था कि कतिपय निरर्थक शब्द तथा अक्षर दृष्ट या अदृष्ट फल उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। शब्दों द्वारा उच्चरित निरर्थक शब्द सर्पदंश से चंगा कर देते हैं जो कि दृष्ट फल हैं तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में प्रचलित मंत्रों का सही उच्चारण अदृष्ट मांगलिक फल उत्पन्न करने वाला माना गया है। यह दावा किया गया था कि इससे सिद्ध होता है कि शब्द तथा पदार्थों में एक प्रकार का नियत सम्बन्ध है, एवं शब्दों में घटनाओं को प्रभावित करने की शक्ति है। लेकिन इस प्रकार के सम्बन्ध पर शास्त्र आधृत नहीं।[१७] कुछ शब्दों का उच्चारण जो फल उत्पन्न कर सकता है वह किसी महापुरुष द्वारा विचरित वर्णों की आनुपूर्वी मात्र पर आधारित है,[१८] न कि शब्दों की अभिव्यञ्जजक शक्ति पर।[१९] भाषा के सामान्य शब्द सर्प विष से मुक्ति जैसे फल पैदा नहीं करते, परन्तु इस का आशय यह नहीं है कि उनका अपने अर्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

स्पष्ट किया जा चुका है कि यह तथ्य ही कि शब्द को सुनते ही अर्थ का बोध हो जाता है, इस बात का प्रमाण है कि शब्द-अर्थ में सम्बन्ध नित्य है। इससे बिल्कुल ही स्पष्ट होता है कि अर्थ मूलतः बौद्धिक है। उससे समानता रखनेवाली कोई वस्तु बाह्य जगत् में वस्तुतः अस्तित्ववान है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। जो बुद्धि में प्रतिभासित होता है वही अर्थ है, इस विचार का उपयोग भर्तृहरि ने अव्याख्येय प्रयोगों की व्याख्या करने में कहा है। बाह्य जगत् में वस्तु का होना सत्ता में तथा बुद्धि में प्रतिभास अर्थाकार सत्ता में भेद किया गया है। पहली को मुख्यसत्ता (सम्प्रतिसत्ता) कहा गया है और दूसरी

को गौणसत्ता (उपचार सत्ता)। भर्तृहरि का यह विचार है कि शब्दों का संचार इस उपचार सत्ता के क्षेत्र में होता है।[२०] वस्तुतः वे उन अर्थों को सूचित करते हैं जिनकी सत्ता गौण होती है, बाहरी दुनिया में इनसे समानता रखनेवाली वस्तु हो या नहीं हो। बुद्धि में प्रतिभासन के तथ्य को ही एक प्रकार की सत्ता स्वीकारी गई है। शब्दार्थों को इस प्रकार सत्तावाला न स्वीकारा जाए, यदि उनकी सत्ता मुख्य स्वीकारी जाए, तो भाषा में अभाव की व्याख्या कर पाने की कठिनाई, जैसी कुछ-कुछ दिक्कते पैदा होंगी। बाहरी वस्तु का आकार नियत होता है। यह भाव तथा अभाव में एक ही समय में एक साथ नहीं रह सकता।[२१] यदि शब्द मुख्य सत्ता की किसी वस्तु का बोध कराता है, तो अर्थ का भाव अथवा अभाव के साथ सम्बन्ध स्थापित कर पाना दुष्कर होगा। यदि वृक्ष-'पेड़ द्वारा द्योतित अर्थ की मुख्य सत्ता है, तो उसे सुनते ही वृक्ष की बाह्य सत्ता का ज्ञान हो जाएगा और इस प्रकार उसमें अस्ति -'है' पद जोड़कर वाक्य बनाना संभव न हो सकेगा, क्योंकि उत्तरवर्ती शब्द मुख्य सत्ता का वाचक है जिसका कि वृक्ष शब्द द्वारा पहले ही अभिधान हो चुका है। और न नास्ति-'नहीं' है, पद से वाक्य बनाना संभव होगा, क्योंकि यह उस मुख्य सत्ता का निषेध होगा जिसका अभिधान प्रथम शब्द द्वारा किया जा चुका है, और जिसका परिणाम परस्पर विरोध होगा। यदि मुख्य सत्ता वाली वस्तु का वाचक स्वीकार गया, तो न केवल सत्ता को ही लेकर 'हाँ' या 'ना' नहीं किया जा सकता, अपितु दूसरे कार्यों को लेकर भी वही स्थिति होगी। उदाहरणार्थ, कोई यह न कह सकेगा कि अंकुरो जायते (अँखुआ निकलता है) क्योंकि अंकुर पद न केवल अँखुआ का अर्थ बताएगा, वरन् यह भी कि उसकी मुख्य सत्ता है अर्थात् वह है और यदि वह पहले से ही है तो यह नहीं कहा जा सकता है कि वह पैदा हुआ या निकला है। जो पहले है उसके विषय में यह कहना कि वह पैदा हुआ है, वदतोव्याघात है।[२२] यदि पदार्थों की मुख्य सत्ता स्वीकारी गई तो 'अंकुरोऽस्ति' (अँखुआ है) यह प्रयोग भी उसी तरह अव्याख्येय बना रहेगा। वस्तुतः 'होना' का अर्थ है-अपने को बनाए रहना जो बनाये रखता है और जिसे बनाए रखा जाता है वे एक ही है और इसमें विरोध छुपा हुआ है। (यास्क द्वारा निरुक्त में क्रिया या विकार के पूर्वतः स्वीकृत छः प्रसिद्ध रूपों में से जायते तथा अस्ति के बारे में इतना कहना काफी है। शेष चारों के विषय में भी वही कठिनाई पैदा होगी) पदार्थों की मुख्य सत्ता मानने पर जो कठिनाईयाँ पैदा होती है; वे यह स्वीकारने पर दूर हो जायेगी कि पदार्थ उपचार सत्ता के क्षेत्र में संचार करते हैं। उपचार सत्ता का आधार यह तथ्य है कि हम बुद्धि द्वारा निरूपित अर्थों के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं।[२३] जो वस्तु हमारे समाने है वह भी तब तक शब्द प्रयोग का विषय नहीं बनती जब तक कि उसके स्वरूप का निर्धारण बुद्धि द्वारा न हो जाए।[२४] वस्तुओं के निर्धारण में हमारी बुद्धि को कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है। जो तत्त्वतः एक है उसे बुद्धि अलग करके विश्लेषण या विवेचन करती है। संसार के विषय मूर्त, एकीकृत पदार्थ, द्रव्य तथा गुणों के समुदाय हैं। हमारी बुद्धि इनका विश्लेषण या विवेचन द्रव्य तथा गुणों के रूप में अलग-अलग बाँट कर करती है और इस विश्लेषण के अनुसार हम कुछ द्रव्य वाचक शब्दों का तथा गुणवाचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। हमारी बुद्धि ही पदार्थों में दिखने वाले क्रिया तथा साधन का सम्बन्ध स्थापित करती है तथा उसी के अनुसार वाक्य के प्रयोग में कुछ शब्द क्रिया के और दूसरे साधन के वाचक होते हैं। द्वय या दो में क्रिया तथा साधन के सम्बन्ध की कल्पना हमारी बुद्धि करती है। जब तक हमारी बुद्धि में कुछ प्रतिभासित नहीं होता तब तक हम उसके लिए किसी शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। जो अर्थ हमारी बुद्धि में आता है उसका सम्बन्ध किसी भी दूसरे विचार से हो सकता है, जैसे कि विधि (अस्ति), निषेध (नास्ति) जन्म (जायेत) इत्यादि, के अलावा जिन पदार्थों का हमारी बुद्धि के बाहर सर्वथा अभाव है उनका भी कथन हो सकता है, यदि वे हमारी बुद्धि में प्रतिभासित हों। जब हम संज्ञा अथवा क्रिया पद वाले वाक्य का उच्चारण करते हैं जो साधन से सम्बद्ध किसी क्रिया का वाचक होता है, तो क्रिया के तब तक न होने से उसका कोई साधन नहीं बन सकता, अतएव संज्ञा तथा क्रिया पद वाले वाक्य का उच्चारण करते हैं जो साधन से सबन्ध किसी क्रिया का वाचक होता है, तो क्रिया के तब तक न होने से उसका कोई साधन नहीं बन सकता, अतएव संज्ञा तथा क्रिया पदों द्वारा द्योतित पदार्थों की सत्ता सिर्फ बौद्धिक है। इस प्रकार की सत्ता जिसका स्वरूप बुद्धि में प्रतिभासन है, सभी शब्दों के प्रयोग का आधार है। भर्तृहरि का कथन भी है, 'कोई भी पदार्थ इस उपचार सत्ता से परे नहीं है जो परस्पर विरोधी धर्मों में अविरोधिनी है, जिसका आश्रय विभिन्न शब्द भेद तथा विरोध को प्रकट करने के लिए है; जिसें कालकृत भेद नहीं है, परन्तु जो विभिन्न कालों से सम्बन्धित पदार्थों में रहती है और जो अर्थों को अभिव्यक्त करने के शब्दों के प्रयोग का कारण है। महाभाष्य में मुख्यसत्ता से इसे भिन्न बताया गया है।'[२५] इसका संदर्भ पा. ५.२९४ महाभाष्य के निम्नांकित कथन से है

: सत्ता 'पदार्थों' व्यभिचरित-किसी भी पद का अर्थ इस (उपचार) सत्ता के वगैर नहीं होता। श्रोता तथा वक्ता दोनों ही इस उपचार सत्ता को बाह्य प्रकट करते हैं अर्थात् जो बुद्धि में है वह बुद्धि के बाहर अस्तित्ववान प्रतीत होता है। इसी को औपचारिकी सत्ता कहा जाता है अर्थात् वह सत्ता जो उपचार = गौण अर्थ में शब्द का प्रयोग, पर आश्रित है। सत्ता शब्द का प्रयोग सामान्यत: बाह्य जगत की अस्मिता के लिए किया जाता है जो कि उसका मुख्य (प्राथमिक) अर्थ है। कोई वस्तु बुद्धि में प्रतिमान अर्थ से मिलती-जुलती बाह्य जगत् में है या नहीं; इसका ध्यान किये बिना, बुद्धि में प्रतिमान को ही लेकर इस (सत्ता) का प्रयोग उपचार है। भूत और भविष्य बुद्धि में ही आते हैं, अत: उनकी उपचार सत्ता ही है। इसके विपरीत, वर्तमान बुद्धि में ही प्रतिभासित नहीं होता, अपितु उसकी बाह्य सत्ता भी होती है।

पुनश्च, यदि पदार्थों में यह उपचार सत्ता है, तो जो प्रयोग अव्याख्येय लगते हैं, वे सुगम हो जाते हैं। 'वृक्षोऽस्ति' (पेड़ है), इस वाक्य का अर्थ होगा कि बुद्धि मे आए वृक्ष की मुख्य सत्ता है, तथा 'वृक्षोनास्ति' (पेड़ नहीं है) इसका अर्थ होगा कि जो पेड़ हमारी बुद्धि में प्रतिभासित होता है उसकी मुख्य सत्ता नहीं हैं। 'अस्ति' तथा 'नास्ति' पद उपचार सत्तावाले अर्थ ही बाह्य सत्ता को या तो स्वीकार करेंगे या निषेध। 'अंकुरो जायते' (अंखुआ पैदा होता है) इस प्रयोग की व्याख्या भी उपचार सत्ता जो किसी भी रूप ग्रहण करने में समर्थ है, के आधार पर की जा सकती है, जो पहले से सिद्ध है, उनके बारे में यही नहीं कहा जा सकता है कि वह पैदा होता है; और न उसके बारे में जिसका पूर्णत: अभाव है। इस अभिव्यक्ति का आशय है, जब कारण अपने कार्य उत्पन्न करने वाले होते हैं, तो जो होना होता है उसे 'हुआ' सा मान लिया जाता है और उसी को हम अंकुर नाम देते हैं और इसे हम उत्पन्न होने की क्रिया के कर्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अत: जिसे उत्पन्न बताया जाता है उसके दो लक्षण है; वह होने को होता है, परन्तु उसे माना जाता है कि वह पहले से ही है। दो विचारों को इसमें मिला दिया जाता है। इस प्रकार इसमें उपचार है। यह मिश्रित वस्तु होने का कर्ता है। इसके आगे उपचार तब होता है जबकि यह कर्ता अपने स्वरूप को प्राप्त करने की क्रिया जो कि उत्पन्न होने का अर्थ है, का कर्म बनता है, जो कर्ता इस प्रकार उपचार के द्वारा कर्म बनता है उसे उत्पन्न हुआ माना जाता है। जहाँ कर्ता तथा कर्म उपचार पर आश्रित होते हैं वहाँ क्रिया भी उसी पर आश्रित होती है। इस रूप में व्याख्या करने पर, 'अंकुरो जायते' यह प्रयोग उपचार सत्ता पर निर्भर दिखाई देता है। कर्ता, कर्म तथा क्रिया सभी उपचार के परिणाम हैं। कर्ता, कर्म तथा क्रिया की बुद्धि द्वारा कल्पना कर्तृकल्पना, कर्मकल्पना तथा क्रियाकल्पना होती है।[२६]

शब्दार्थ उपचार सत्ता पर आश्रित है, इस तथ्य में कुछ और मौलिक धारणाएँ आ जाती हैं अर्थात् जिन पर शब्दार्थ-सम्बन्ध आधारित है, और इस सम्बन्ध पर विचार करने में तीन तत्त्व सम्मिलित हैं; शब्द, अर्थ तथा ज्ञान। हमारे प्रतिदिन के जीवन में ये तीनों तत्त्व अपनी भूमिका निरन्तर निभाते हैं। इन सभी की कुछ सीमा होती है जिसे कि कालुष्य कहा गया है। पहले ज्ञान को ही लें, तो इसे ही शब्दों के प्रयोग का आधार कहा गया है।[२७] शब्द वैसे अर्थ सूचित करते हैं जैसे वे हमारे ज्ञान में आते हैं। अर्थों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान विकल्पनात्मक होते हैं। उनका स्वरूप अर्थ के धर्म विशेष का, शेष को छोड़कर निर्णय करना होता है। अत: वे अर्थ को अंशत: ही प्रस्तुत कर पाते हैं। इसके अलावा, ज्ञान या प्रत्यय या चेतना का विषय के आकार से आकारित होना ही एक प्रकार का कालुष्य है।[२८] चेतना की शुद्धता सर्वज्ञता में ही होती है। उनका ज्ञान समग्र इन्द्रिय सन्निकर्ष से स्वतंत्र है तथा संसार की सभी वस्तुओं से व्याप्त है। इन्द्रिय सन्निकर्ष पर निर्भरता ही कालुष्य है और उससे मुक्त होने के कारण सर्वज्ञ का ज्ञान मूलत: शुद्ध माना गया है।[२९] जो योगाभ्यास द्वारा क्रमश: विषयों की अशुद्धि से मुक्त हो जाता है तथा शुद्ध चैतन्य के प्रकाश की स्थिति प्राप्त कर लेता है, उसका ज्ञान की शुद्धता स्वीकारा गया है। यह अंतिम शुद्धता है।[३०]

ज्ञान की अशुद्धि विषय का रूप, ग्रहण करने में है, जो अगले की अशुद्धि किसी उपाधि के द्वारा, उसके धर्म-विशेष के द्वारा, ही साक्षात् या शब्द ज्ञान का विषय बनने में है। जो वस्तु जैसी है वैसी जानी या कही नहीं जा सकती। उसका धर्म-विशेष, जैसे कि जाति ही हमारे ज्ञान या शब्द व्यवहार का विषय बनता है, वस्तु स्वरूपत: समग्र शब्द व्यवहार से परे हैं। वह किसी परिच्छेद तत्त्व (उपाधि), जैसे कि जाति जो एक प्रकार से उस वस्तु से भिन्न (परे) होती है, के द्वारा ही शब्द-

व्यवहार का विषय बनती है।[३१] गोरूप अर्थ स्वरूपतः न तो गौ है और न गौ-भिन्न। उसे गौ गोत्व के सम्बन्ध से ही कहा जा सकता है। स्वरूपतः वह समग्र शब्द-व्यवहार से परे है। यह तथ्य कि वह व्यवहार का विषय तभी बन सकती है जबकि जाति जैसे किसी तत्त्व से परिच्छिन्न हो, एक तरह की अशुद्धता है।[३२]

ज्ञान तथा विषयों के सन्दर्भ में अशुद्धता की यह दृष्टि शब्दों की अशुद्धता की समझ को सरल बनाती है। शब्द अविद्या से सप्रदेश प्रतीत होनेवाले, परन्तु निष्प्रदेश सत्य के प्रदेश-विशेष को ही, प्रस्तुत कर सकता है। संसार के विभिन्न पदार्थों, को वस्तुतः निरवयव परम तत्त्व का,अवयव (प्रदेश) माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, कोई शब्द किसी विशेष अवयव के पूर्ण रूप को भी व्यक्त नहीं कर सकता, वह सिर्फ उस अवयव के पक्ष-विशेष को ही सूचित कर सकता है। घटादि शब्द सत्य के एकांश को भी पूरी तरह से व्यक्त नहीं कर पाते। वह सिर्फ उस अवयव के अंश को अर्थात् तद्‌गत जाति को ही व्यक्त करता है। उस अवयव में विद्यमान किसी दूसरे धर्म को व्यक्त करने के लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा होती है; यदि उसका रंग लाल है, तो रक्त जैसे शब्दांतर को उसे व्यक्त करने के लिए जोड़ना है। वस्तुतः शब्द जो अभिव्यक्त करते हैं वह चाहे वेदान्तियों की दृष्टि से देखें या बौद्धों की, सत्य का विपर्यय है। एक ब्रह्म को उपाधिभेद के आधार पर, शब्द अनेक रूप में प्रस्तुत करते हैं, अथवा वे विज्ञानवादियों के मतानुसार, आन्तर को बाह्य रूप में प्रस्तुत करते हैं; दोनों में से किसी भी स्थिति में सत्य के विपरीत ज्ञान होता है। शून्यवादियों के अनुसार, बाह्य परमार्थ है ही नहीं। जो विभिन्न रूप हमारे विज्ञान में आते हैं उनमें परमार्थता नहीं है, वे स्वप्नमात्र है और शब्द इन्हीं असत् रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः शब्द-व्यवहार सत्य के अवयव के एक देश से अथवा बाह्य निमित्त से निरूपति अर्थ से अथवा सत्य के विपर्यय से अथवा अभाव से सम्बन्धित है।[३३] शब्द को विकृत रूप में प्रस्तुत करने के विषय में, शब्द विकृत इन्द्रियों के समान हैं। विकृत चक्षु से व्यक्ति एक चन्द्र के स्थान पर द्विचन्द्र देखता है, पीलियारोग से ग्रस्त व्यक्ति शंख को पीला देखता है। इस प्रकार, विकृतेन्द्रिय व्यक्ति में पदार्थ ऐसा ज्ञान पैदा करते हैं जिसमें अपने रूप से भिन्न रूप आभासित होता है। शब्द भी ऐसा ज्ञान उत्पन्न करते हैं जिसमें सत्य विकृत होकर प्रतीत होता है। यह संभव है कि शब्द अप्रतिहत दृष्टिवाले ऋषियों को पूर्ण सत्य अविकृत रूप में सूचित करते हों। परन्तु, ऋषि भी सासांरिक स्तर पर सामान्य व्यक्तियों की तरह होते हैं। उस स्तर पर, वे भी सामान्य पुरुषों के मानिन्द अपनी इन्द्रियों तथा बुद्धि से अर्थों का ज्ञान करते हैं तथा इसके बाद उन्हें व्यक्त करने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं।[३४] अविद्याकृत अशक्ति के कारण, हमारे विकल्पात्मक ज्ञान वस्तुओं को यथावत् प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होते हैं। वे उन्हें असद्रूप में देखते हैं तथा शब्द विकल्पात्मक ज्ञान (विकल्प) द्वारा प्रस्तुत इन असत् रूपों को सूचित करते हैं। भावरूप अर्थों के द्योतक तथा अतीत प्रतिषेधात्मक अर्थों के द्योतक सभी शब्द यही करते हैं। भावात्मक पदार्थों के वाचक तथा अभावात्मक पदार्थों के वाचक शब्दों में, इस सन्दर्भ में, कोई अन्तर नहीं है। जहाँ तक उनका अर्थ से सम्बन्ध है वे सभी समान हैं।[३५]

वस्तुतः शब्द हमारे विकल्पात्मक ज्ञानों में प्रतिभासित असत् के वाचक हैं तथा वे अद्वय तत्त्व का स्पर्श नहीं करते। वे भेद के संसार में संचरण करते हैं। जातियाँ एकत्व स्थापित करने वाले तत्त्व हैं, परन्तु जातिवाचक शब्द भी भेद से सम्बन्धित हैं; क्योंकि एक जाति को दूसरी जाति से भिन्न स्वीकारा जाता है।[३६] यदि हमारे ज्ञान और शब्द भावात्मक पदार्थों को भी अर्थात् असद् रूप में उपस्थित करते हैं, यदि भावात्मक पदार्थ भी बाह्यार्थ से निरूपित होते हैं; तो इसका आशय है कि वे उन अभावात्मक पदार्थ स भिन्न नहीं है जो बाह्यार्थ से निरूपित होते हैं।[३७] अभावात्मक पदार्थ अभाव किसी भावात्मक पद के द्वारा ही व्यवहार का विषय बनता है। अभाव हमेशा किसी भाव का ही होता है, जैसे कि घट या पट का।[३८] किसी भावात्मक पदार्थ के संसर्ग में आने पर ही वह शब्द व्यवहार का विषय बनता है। इस बारे में वह भावात्मक पदार्थ के समान है जो स्वयं अपने प्राग्भाव को लेकर ही वाक्-व्यवहार में प्रवेश करता है। उसकी सत्ता अपने प्राग्भाव तथा सम्भावित तिरोभाव अथवा विनाश के बीच ही होता है।

भाव तथा अभाव के मध्य, भावात्मक पदार्थ तथा अभावात्मक पदार्थ के मध्य, शब्द व्यवहार से यह सम्पूर्ण समानता, वे दोनों पदार्थ भिन्न है; यह मानकर, बताई गई है। तत्त्वतः वे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न होते तो उनका निरूपण एक-दूसरे

के द्वारा नहीं हो सकता था। सच यह है कि एक आत्मरूप परमार्थ भाव तथा अभाव के रूप में भिन्नतया प्रतीत होता है। परमार्थ प्रकाश स्वरूप है तथा सारत: (तत्त्वत:) किसी भी भेद अथवा क्रम से रहित है। वह महासत्ता है तथा अभाव का प्रतियोगी है। अविद्या के द्वारा वह दृश्यजगत् का कारण बनता है। उसके 'इद्म' रूप में वर्तमान काल में बाह्यत: प्रकाशित तथा अर्थ क्रियाकारी होने पर उसे भाव या भावात्मक पदार्थ कहा जाता है। जब अतीत या अनागत संस्कार रूप में अन्त:अवस्थित रहता है तथा इन्द्रियों का विषय नहीं बनता और न सर्वप्रमातृसाधारण अर्थक्रियाकारिता पूरी करता है, तो उसे अभाव या अभावात्मक पदार्थ कहा जाता है।[४०] परन्तु, वह पूर्णत: अभाव नहीं है, क्योंकि उसका स्मरण या कल्पना की जा सकती है। स्मरण तथा कल्पना करनेवाले के लिए, वह कुछ-न-कुछ अर्थक्रिया पूरी करता है। अत: जिसे प्राग्भाव कहा जाता है वह वस्तु की इन्द्रियगोचरता अशक्ति से ज्यादा कुछ नहीं है। यही विनाश के विषय में सच है। अभाव जैसी कोई वस्तु नहीं है जो समग्र शक्ति से रहित हो और समस्त संस्कार के लोप होने पर भी विद्यमान रहे। पदार्थ या तो वर्तमान में रहते हैं जिन्हें इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है अथवा अतीत प्रत्यक्ष के संस्कार रूप में रहते हैं; जो स्मृति द्वारा उद्बोध योग्य हैं अथवा जिनकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु, उनका कभी अभाव नहीं होता, अत: अभाव जैसी कोई चीज है ही नहीं।[४१]

भाव तथा अभाव को, भावात्मक अथवा अभावात्मक पदार्थों को दो तात्त्विक कार्य मानना संभव नहीं है, क्योंकि दूसरों के द्वारा प्रतिपादित कार्य-कारण भाव की अयुक्त है। कार्य-कारण-भाव या तो असत्कार्यवाद (यह सिद्धान्त कि कार्य सर्वथा नवीन होता है) या सत्कार्यवाद (यह सिद्धान्त कि पूर्वत: विद्यमान कार्य का ही प्रकाशन होता है); प्रथम के मतानुसार, कार्य नवीन पदार्थ है, जबकि दूसरे के अनुसार, वह कारणों में पूर्वत: विद्यमान है तथा बाद में उसका प्रकाशनमात्र होता है। किसी भी मत में, जिसे कारण कहा जाता है उसकी तर्क से व्याख्या नहीं की जा सकती। कारणता की धारणा भाव तथा अभाव के दो भिन्न पदार्थ होने की धारणा से जुटी हुई है, जो कि गलत है। वस्तुत: सच तो यह है कि वे दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। अविद्या के कारण, वे दो एक ही परमतत्त्व के दो आभास है, न कि उसके दो तात्त्विक परिणाम है। परमतत्त्व का यथावत आभास नहीं होता, अत: समग्र दृश्यजगत् एक प्रकार का अभाव है और उसमें भाव तथा अभाव के बीच अन्तर करने में कोई अर्थ नहीं है। हरेक की आपेक्षिक सत्ता (सांवृतेनरूपेण) है। जो कुछ भी आभासित होता है वह वस्तु है और जो अवस्तु है उसका आभासन नहीं हो सकता।[४२] सच तो यह है कि ऋषियों के अनुसार, जन्म तथा विनाश वस्तु के प्रकाशन या तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भावात्मक पदार्थ प्रकाशन के पूर्व तथा तिरोभाव के पश्चात् अभावात्मक पदार्थ कहलाता है। जिसे घट का प्राग्भाव कहा जाता है वह उसकी मृदावस्था है तथा जिसे उसको विनाश वस्तु के प्रकाशन या तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भावात्मक पदार्थ प्रकाशन के पूर्व तथा तिरोभाव के पश्चात् अभावात्मक पदार्थ कहलाता है। जिसे घट का प्राग्भाव कहा जाता है वह उसकी मृदावस्था है तथा जिसे उसको विनाश कहा जाता है वह उसकी कपालावस्था है।[४३] वस्तुत: सच तो यह है कि यह समग्र प्रपञ्च अद्वयता (ब्रह्म) से व्याप्त है, किन्तु वह अनेक रूप में, भावाभावतया, प्रतीत होता है। यदि अभाव जैसा अमूर्त पदार्थ चार रूपों प्राग्भाव (पूर्वकालीन अभाव), प्रध्वंसाभाव (विनाश के अनन्तर अभाव), अत्यन्ताभाव (त्रैकालिकाभाव) तथा इतरेतराभाव (पारस्परिक अभाव), में प्रतीत हो सकता है, तो परमतत्त्व के भाव तथा अभाव इन दो असदरूपों में आभासित होने में कोई विस्मय नहीं है। जो बाह्येन्द्रिय का विषय हो तथा अर्थक्रियाकारी हो, वह भाव तथा भावात्मक पदार्थ है। परन्तु, यह भेद अतात्त्विक है। जो सत् है वह समस्त भेद से परे है। जो शब्द तथा मन से अगोचर है उसका न आदि है न अन्त। वेदान्त को जानने वालों ने अद्वैत को ही सत् कहा है, न कि द्वैत को, जिसकी कर्मों के अनुष्ठान से कल्पना की जाती है।[४४] भेद अविद्याकृत है। यह भेद ही हमारे ज्ञान में प्रतीत होता है तथा शब्द अविभक्त तत्त्व का स्पर्श नहीं कर सकते, वे सिर्फ उसी को अभिव्यक्त कर सकते हैं जो हमारे ज्ञान में प्रतीत होता है। वे जातियों को भी दूसरी जातियों से भिन्नतया व्यक्त करते हैं। एकत्व की समर्थक जातियों को व्यक्त करते समय भी वे उनका सम्बन्ध भेद से करते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में अभिहित 'विशेष' भी दूसरे 'विशेषों' से भिन्न है।

भाव तथा अभाव, कार्य-कारण-भाव तथा ज्ञान के सम्बन्ध में त्रिविध कालुष्य के विषय में उपरोक्त तत्त्वमीमांसक

या प्रमाण-मीमांसात्मक प्रस्तुतियाँ प्रस्तुत विषय अर्थात् शब्दार्थ-सम्बन्ध से दूर लगती है। तथापि हेलाराज ने स्पष्ट किया है कि वे वस्तुत: दूर न होकर इससे सम्बन्धित हैं। इस विषय में, उनके अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध विषयक प्रमुख भारतीय विचारक भर्तृहरि का प्रमुख विचार क्या है, इसे उन्होंने निम्नांकित रूप में बताया है। परमतत्त्व ब्रह्म समग्र भेद तथा परिकल्प से परे है। वह समग्र शक्तियों से समाविष्ट है। शब्द इसी तत्त्व को प्रकरणानुसार, भावात्मक सद्वस्तु अथवा अभाव के रूप में तत्तत् उपाधि से उपहित रूप में प्रतिपादित करते हैं। अभावात्मक सत्ता को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द भावात्मक सत्ता के अभिव्यंजक शब्दों के समान हैं, जहाँ तक कि उनका अर्थ से सम्बन्ध है।[७]

अत: प्रतिदिन के जीवन में परिच्छिन्न तत्त्व को प्रकट करना शब्दों का स्वभाव है, और उसी रूप में व्याकरण शास्त्र में इसका निरूपण हुआ है। सामान्यजन विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों के अनुयायियों के विभिन्न मत (इस अर्थ में) अप्रासंगिक हैं। अत: विभिन्न चिन्तकों द्वारा निर्धारित निष्कर्षों का अनुसरण नहीं करते। अपने ज्ञानानुसार शब्द प्रयोग के विषय में पंडित तथा मूढ़ समान है; उसी आधार पर, वे अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। सामान्य जन चीजों को सतही ढंग से समझते हैं और तदनुसार शब्दों का प्रयोग करते हैं। व्याकरण सामान्य जनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या करता है। इस प्रयत्न में, वह सामान्य जन के विचारों की सहायता लेता है। हम विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा अखण्ड वाक्य से क्रिया की वाचक धातु की वस्तुओं की वाचक तथा क्रिया की निष्पादक संज्ञा आदि की व्युत्पत्ति रूपों की व्याख्या के लिए करते हैं।[८] रूपों की व्याख्या करने में व्याकरण द्वारा प्रयुक्त सिद्धान्त लौकिक धारणाएँ हैं। लौकिक प्रयोग में, सभी शब्दों की एक ही कोटि होती है, चाहे वे भावात्मक पदार्थ से वाचक हों या अभावात्मक पदार्थ के वाचक हो। अत: शब्दार्थों में सातत्य (प्रवाहनित्यता) होता है और हमारे ज्ञान अपने साथ शब्दों को लाते हैं। निष्कर्षत: शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। किसी भी शब्द या तत्त्व का मूल अर्थ ब्रह्म है, ब्रह्म ही केन्द्रीय सत्ता है, बाकी सभी कुछ उसी परम सत्ता रूप ब्रह्म का अवभासन है, यही अर्थ का सत्य भी है।

संदर्भ:

१. *तत्रान्तरंगत्वादहेयत्वादसाधरणत्वाच्च स्वरूपं मुख्यमभिध्येम्।*
वाक्यपदीयम, भर्तृहरि, सम्पादक: के. ए. सुब्रहमव्यअय्यर (वाक् III, पृ.१२७, १७)

२. *सर्वपार्षदं बुनरिदं शास्त्रमिति ये बाह्यस्यार्थस्य शब्दैवाच्यत्व नेन्छन्ति तन्मतोप संग्रहार्थ वक्त्रभिप्रायरूढस्यैव शब्दार्थत्वे तत्र कार्यकारण सम्बन्धमाह। (वाक् III, पृ. १२२, १.१४ के अनुसार)*

३. *इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।*
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धों योग्यता तथा।। वही, पृ. १४२, १.१०-११

४. *स्वरूपाविवेकेनैव हयर्थपरामर्शोऽमिधान मुच्यते। वही, पृ. १२३, १.११*

५. *प्रतीतौ हि किंचित् तटस्थमेव तामननुप्रत्रविशदेवोपामात्रं दृष्टं यथेन्द्रियम्। किंचित् पुनस्तत्रानुप्रविशदेव प्रतीतिं जनयद् व्यधिकरणं भवति, दण्ड इव यथा धूमादि लिंगम्। शब्दस्तु न जनकतामात्रेणार्थ प्रतीतौ सम्बन्धमनुभवति, अपि तु तत्रार्थ: शब्दयमान: शब्दमय इवाभाति। वही, पृ. १२४, १.१ के अनुसार*

६. *नित्येऽनित्येऽपि वाच्येर्थे पुरुषेण कथंचन।*
सम्बन्धोऽकृतसम्बन्धैः शब्दैः कर्तु न शक्यते।। वाक् III, पृ. १४९, १.९-१०

७. *नित्य: सम्बन्ध इव्त्स्येदंभावे सति शब्दार्थयो: सोऽयमिति य: सम्बन्ध: सोऽर्थोदेशिनस्य कर्तुमशक्यत्वाद् औत्पत्तिक: स्वभावसिद्ध: न केनचित् कर्त्रा कश्चित् प्रतिपत्तारं प्रति अज्ञातपूर्व: तत्प्रथमं कृत इति। वाक्. पृ. ५९, १.१ के अनुसार*

८. (क) *समयाद्योग्यतासंविद् मातापित्रादियोगवत्। वाक्. पृ. १४४, १.२४*
(ख) *इन्द्रियविषयवद्वा प्रकाश्यप्रकाशकभावेन समयोपाधिर्योग्यता शब्दार्थयों सम्बन्धः। वाक्, पृ. ६०, १.१*

९. पाणिनिकृत अष्टाध्ययी पर पतञ्जलि का महाभाष्य। पृ. ४३३, १, १२४

१०. वाक्, १ पृ. ८१, १.४५

११. महाभाष्य, २ पृ. ३६, १, १४, १८

१२. इयं च योग्यता शब्दानामर्थप्रतीत्यनुसारेण व्यवस्थापयितव्येत्यभेदेन शब्दार्थयोप्रत्याद् अध्यासफलैवावस्थितेति स मुख्यः सम्बन्धः। वाक् *III*, भाग, पृ. १४३, १.२-४

१३. ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।

तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः।। वाक्. *I*, पृ. २३०, १.६-७

१४. अत्यन्तमथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।

दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारिनिरूपणा।। वाक्, पृ. १९८, १.१-२

१५. म. भा. *I* पृ. ७.१.१०

१६. बुद्धिप्रमिमासः शब्दार्थः। यदा कदा शब्द उच्चारितः तदार्थाकारा बुद्धिरूपजातइति प्रवाहनित्यवादर्थस्य नित्यत्वमित्यर्थः। (म. भा. *I*, पृ. ७, १.२ पर कैयट)

१७. वाक् *III*, भाग, पृ. १४८, १.२-३, ९-१०

१८. नार्थविशेषाधानरूप, संस्कारोऽत्र सम्बन्धावेदकः, तस्यानुपूर्वीमात्राद्विशिष्टेन प्रभाववता रचितादपिनिष्पतेः प्रत्यायकत्वावनेक्षणात्। वही, पृ. १४९, १. १-२

१९. ध्वनि मत के समर्थक अभिनवगुप्त अभिव्यंजना शक्ति को स्वीकारते हैं।

२०. व्यपदेशे पदार्थानामन्या सतौपचारिकी।

सर्ववस्थाथासु सर्वेषामन्यरूपस्य दर्शिका।। वाक्, *III*, भाग पृ. १५०, १.९

२१. (क) बाह्यस्य वस्तुनो नियतरूपत्वाद भावाभावसाधारण्यानुपत्तेर्घट इत्युक्तेऽस्ति नास्तीति

शब्दान्तरोपधीनयनरूपसंगसर्गविरोधः स्यादित्युपचारसत्तासमाविष्टः शब्दार्थः।

(ख) गीता, नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। वही, पृ. १५४, १.११

२२. तथा च जन्मविरोधः, सत आत्मलाभायोगात्। लब्धात्मा हि सन्नुच्यते। वाक्: *III*, भाग, पृ. १५४, १.११

२३. तथा हि बुद्धया निरूपितार्थविषयः शब्दाः। वही, पृ. १५०, १.१७-१८

२४. तथा हि विद्यामानोऽपि वर्तमानकालिकोऽर्थों यावद् बुद्धया नावधृतस्ताविदषय शब्दानाम्। वही, पृ. १५१, १.८-९

२५. वाक् *III*, भाग, पृ. १५८, १.१३-१३

२६. वही, पृ. १५५, १.२-५

२७. शब्दस्य च निरूपितार्थविषयत्वन्निरूपणनप्रत्ययः कारणम निरूपणा प्रत्यश्च विकल्प (वाक् *III*, भाग, १. पृ. १६२, १.७.११)

२८. उपल्लवो हि ज्ञानस्य बाह्याकारानुपातिता।

कालुष्यमिव ततस्य संसर्गेव्यतिभेदजम्।। वही, पृ. १६४, १.५-६

२९. इन्द्रियसन्निकर्षादिरूपोपाश्रयनिरपेक्षतयाशेषार्थासचितं

सर्वज्ञज्ञानमुपक्रमे शुद्धमित्युच्यते। वही, पृ. १६३, १.१७

३०. द्वे दशे शुद्धेरुपक्रमपरिसमाप्तिरूपे। (वही)

३१. क. यथा च ज्ञानमालेखादशुद्धौ व्यवतिष्ठते।

तथापाश्रयकनर्थः स्वरूपाद् विप्रकृष्यते।

(वाक्, III, भाग, १, पृ. १६४, १.१४-१५)

ख. जात्याद्युपाधिरूपेण समवेतेन शबलिमर्थवस्तु प्रतीयतेऽभिधीयते बेति तथा यद् व्यवहारमवत्तरति। वही, पृ. १६४, १.१९

३२. क. प्रदेशस्यंकदेशं वा परतो वा निरूपणम्।

विपययमभावो वा व्यवहारोऽनुवर्तते।। वही, पृ. १६०, १.१२-१३

ख. संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौः गोत्वाभिसम्बन्धद्गौरिति ब्रह्मकल्पं

साक्षादव्यवहार्यमेव द्रव्यं परोपाधीयामनयिविशेष व्यवहारमनुप्रतति।

३३. वही,

३४. रूपणत्यव्यपदेशाभ्यां लौकिकं वर्त्मनि स्थितौ।

ज्ञान प्रत्यभिलापं च सदृशौ बालपिण्डतौ।। (वाक् III, भाग, पृ. १६३, १.३-४

३५. एवमद्यिामान्द्याद्विकल्पनां यथा तत्त्वमसायपटभावात् समारोपितरूपोणावसायस्य सर्वदादि- भिरभ्युपगतत्वात्तदुपदर्शित विषयविषयाः शब्दाः सर्व एवं बहिरसमर्थविषया प्रत्ययोपारूढ- रूपाभिधायिनः सिद्धा इत्यतीताद्यभावादिशब्दानामा व्यर्थसम्बन्धे न विप्रतिपत्त्यमिति स्थितम। वही, पृ. १६२, १.२३-२६

३६. क. सामान्यं वा विशेष वा यस्मादाहु विशेषवत्।

शब्दास्तस्मादस्यतेषु भेदेष्वेव व्यवस्थिताः।। वही, पृ. १७४, १.१-२

ख. सामायपि सामान्यातराद् व्यावृतं शब्दैरूच्यते। तथा विशेषो विशेषान्तरण व्यावृत इत्यवेषु भेदेष्वेव कृतपदबन्धा नाभिनभद्वयं तत्त्वं संस्प्रष्टुं शक्ता इति वितथ एव शाब्दों व्यवहारः। उपरोक्त पर हेलाराज

३७. तथा च भावस्यापि शब्देनाभिमानस्य ज्ञायमानस्य वा परोपाधिरूपतया भावसमकक्ष्येता। (वाक् III, भाग-१, पृ. १६५, १.८

३८. अभावोऽपि हि घटाभावः पटाभाव इति परोपाधिरेव शब्दप्रदत्यनुपातित साम्यम्। वही, १.९

३९. यतु परमं रूपं तन्नैव्यवहारास्पदम्। वही, १.१०-११

४०. क. एकस्मादात्पमनोऽनन्यो भावाभावौ विकल्पितौ। वही, पृ. १६६, १.४

ख. वही, १८.१५

४१. अतएव त्रयध्विकाः पदार्थाः समुदधोष्यत इति नाभावो नाम कश्चित्। वाक् III, भाग १. पृ.- १६६, १.१७-१८

४२. सांवृत्येन तु रूपेण सर्व भावात्मकम्, प्रथमानच वस्तुत्वात्, अवस्तुनः प्रथनायोगात्। वही, पृ. १६९, १.२

४३. तथा हि मृदवस्था घटस्य प्रागभावः, कपालावस्था च प्रध्वंसाभाव इति वाच्यम।

४४. यत्र द्रष्टा च दृश्यच दर्शनं वा तस्यैवार्थस्य सत्यत्व श्रितास्यन्तवेदिनः। वाक्, III, भाग, पृ. १७१, १.९)

४५. तस्माच्छक्तिविभागेन नितयः सदसदात्मकः।

एकोऽर्थः शब्दवाच्यते बहुरूपः प्रकाशते। वाक् III, भाग, १. पृ. १८०, १.१२-१३

४६. व्यवहारश्च लोकस्य पदार्थैः परिकल्पितः।

शास्त्रे पदार्थः कार्यार्थ लौकिकः प्रविभज्यते। वही, पृ. १८१, १.३-४

***

चतुष्टप्रमाणातिरिक्त प्रमाणों की संभावनाओं पर एक टिप्पणी

जयन्त उपाध्याय

लोक में 'साक्षात्कारं करोमि', 'अनुमिनोमि', 'उपमिनोमि एवं 'शाब्दबोधं करोमि' इत्याकारक चार प्रकार के अनुव्यवसाय की प्राप्ति के कारण इन चार प्रकार की प्रमा के उत्पादक चार प्रकार के प्रमाण न्याय-मत में स्वीकृत हैं। ये प्रमाण हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि प्रमाण चार ही हैं अथवा चार से अतिरिक्त प्रमाण भी हैं जिनका कथन नहीं किया गया है? इस जिज्ञासा के उत्तर में महर्षि गौतम के 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'[१] इस सूत्र को उपन्यस्त कर देना ही पर्याप्त है जिसके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण हैं। यह सूत्र उद्दिष्ट-विभाग सूत्र है जिसका लक्ष्य नियम का निर्धारण करना है। यहाँ वार्तिककार ने 'उद्दिष्टविभागानर्थक्यम् व्याघातात्'[२] कहकर यह पूर्वपक्ष उपन्यस्त किया है कि भाष्य के 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशः लक्षणं परीक्षा चेति'[३] इस वाक्य में शास्त्र की मुख्य रूप से उद्देश, लक्षण और परीक्षा यह तीन प्रवृत्तियाँ ही स्वीकार की गयी हैं। उद्दिष्ट-विभाग-रूप एक अन्य प्रवृत्ति भी स्वीकार करने पर उपर्युक्त भाष्य का विरोध अर्थात् शास्त्र का उल्लंघन रूप दोष होगा। पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि प्रस्तुत उद्दिष्ट-विभाग-रूप सूत्र का समावेश 'उद्देश' संज्ञक प्रवृत्ति में ही हो जाता है क्योंकि दोनों का लक्षण समान है। उद्देश का लक्षण है 'नामधेय से पदार्थमात्र का अभिधान।'[४] प्रकृत सूत्र में प्रत्यक्षादि के नामोल्लेख द्वारा प्रमाणों का अभिधान किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र का अन्तर्भाव 'उद्देश' संज्ञक प्रवृत्ति में हो जाता है।

सूत्र के 'प्रमाणानि' अंश के द्वारा दिखी गये विभाग का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वार्तिककार कहते हैं कि विभाग के द्वारा नियम को कहा गया है अर्थात् प्रमाण चार ही हैं, चार प्रमाणों के अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं। अतः शास्त्र के उल्लंघन रूप पूर्वोक्त दोष की आशंका नहीं है। यहाँ पूर्वपक्षी की आशंका है कि नियम के ज्ञापन के लिए विभाग का क्या प्रयोजन है? क्योंकि लक्षण के द्वारा ही तो नियम का ज्ञान हो रहा है अर्थात् न्याय-शास्त्र में चार प्रमाणों का लक्षण किया गया है अतः चार ही प्रमाण सिद्ध होते हैं। यदि चार से अतिरिक्त प्रमाण होते तो प्रत्यक्षादि के समान उसका भी लक्षण कहा जाता। इस प्रकार लक्षण के द्वारा ही नियम के गम्य होने से पुनः नियम के ज्ञापन के विभाग का क्या प्रयोजन है? पूर्वपक्षी की इस आशंका के उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि यह शंका उचित नहीं है क्योंकि असाधारण-धर्म-वचनात्मक लक्षण का कार्य-लक्ष्य का समानजातीय और असमानजातीय से व्यवच्छेद करना है और उससे नियम का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतएव सूत्र का उद्दिष्ट-विभाग स्वरूप सार्थक है, क्योंकि इससे प्रमाणों का उद्देश और नियम का ज्ञापन साथ-साथ हो जाता है और प्रस्तुत उद्दिष्ट-विभाग रूप प्रवृत्ति का अन्तर्भाव उद्देश रूप प्रवृत्ति में ही हो जाने से शास्त्र का उल्लंघन रूप दोष भी नहीं होता। अतः चार ही प्रमाण हैं। यद्यपि न्यायसूत्र में चार प्रमाणों के उद्देश्य से प्रमाणों की इससे न्यून एवं अधिक संख्या का व्यवच्छेद हो जाता है किन्तु विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या में विविधता होने के कारण यह सशय होता है कि क्या इन चार प्रमाणों से अधिक प्रमाणों की सत्ता है, किन्तु किसी प्रकार उसका अन्तर्भाव या ज्ञापन हो जाने से उनको नहीं कहा गया अथवा उनकी सत्ता ही नहीं है। इस प्रमाण-चतुष्ट्य के न्यायमत की स्थापना तभी सम्भव है जब स्वतन्त्र

प्रमाणों की संख्या के इससे कम या अधिक होने का प्रतिपादन करने वाले दार्शनिकों के मत का खण्डन हो जाये।

विभिन्न दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिये विभिन्न प्रकार से प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है। इसलिए प्रमाणों की संख्या विषयक मान्यता के प्रसंग में अनेक विप्रतिपत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। उदाहरणार्थ–सामान्यत: चार्वाक मतावलम्बी प्राय: एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। यद्यपि वैशेषिक सूत्रों में यह स्पष्ट निर्देश नहीं है कि सूत्रकार को कितने प्रमाण इष्ट हैं फिर भी 'वैशेषिकसूत्रोपस्कार' में शंकर मिश्र द्वारा की गयी विवेचना से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि कणाद को प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण इष्ट हैं।[५] प्रशस्तपाद भी प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण ही मानने के पक्ष में हैं।[६] उदयनाचार्य की 'किरणावली' तथा श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली' टीकाओं के अनुसार भी प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण ही माने हैं।

बौद्ध मत में यद्यपि दिङ्नाग के पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'उपायहृदय'[७] में न्यायसूत्रकार सम्मत चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है फिर भी दिङ्नाग ने वैशेषिकों की भाँति प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकार किये हैं।[८] उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने इस विषय में दिङ्नाग का ही अनुसरण किया है।

सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण के ये तीन भेद स्वीकार किये हैं।[९] योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि भी 'प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणनि' (योगसूत्र) कहकर तीन प्रकार के प्रमाण स्वीकार करते हैं। उत्तरवर्ती सभी सांख्य दार्शनिकों ने प्रमाणों की प्रत्यक्ष अनुमान और आगम रूप इस त्रिविधता का ही समर्थन किया है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने चार प्रमाणों- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द का स्पष्टत: उल्लेख किया है।[१०] जिन्हें प्राचीन और नव्य सभी नैयायिकों ने स्वीकार किया है, किन्तु भासर्वज्ञ ने सांख्य-योग दार्शनिकों की तरह तीन ही प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द स्वीकार किये हैं।[११]

प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के अतिरिक्त अर्थापत्ति नामक एक प्रमाण और स्वीकार करके प्रमाणों की संख्या पाँच मानते हैं। इन्हीं पाँच प्रमाणों को उत्तरवर्ती प्रभाकर आचार्य शालिकनाथ आदि ने भी स्वीकार किया है। इनमें छठा प्रमाण अनुपलब्धि को सम्मिलित कर भाष्यकार शबरस्वामी ने छ: प्रमाणों को अनुमोदन किया है।[१२] जिसका कुमारिल के पश्चात् सभी भाट्ट मीमांसकों ने समर्थन किया है। इन्हीं छ: प्रमाणों का अद्वैत-वेदान्त के प्रमाण-मीमांसक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी अनुगमन किया है।[१३] जिनका समर्थन 'शिखामणि', 'मणिप्रभा', 'अर्थदीपिका' आदि सभी टीकाओं में पाया जाता है। इन छ: प्रमाणों में 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' को जोड़कर पौराणिकों ने आठ प्रमाणों को स्वीकार किया है। इन आठ प्रमाणों के अतिरिक्त अलंकारिकों को अभिमत प्रतिभा प्रमाण का उल्लेख 'माठरवृत्ति'[१४] तथा 'गोडपादभाष्य'[१५] आदि में उपलब्ध होता है।

इन मान्यताओं के अतिरिक्त एक ऐसी भी परम्परा है जिसमें सभी प्रमाणों का खण्डन किया गया है। आचार्य नागार्जुन का समर्थन करते हुए श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य ने पारमार्थिक दृष्टिकोण से सभी प्रमाणों का खण्डन किया है, जबकि व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार प्रमाण भेदों की सर्जना की है। इसी विचारधारा में जयराशिभट्ट को भी समाविष्ट किया जा सकता है जिन्होंने अन्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य सभी प्रमाणों का खण्डन किया है।[१६] इस प्रकार प्रमाण-संख्या-विषयक विप्रतिपत्ति के कारण प्रमाण-चतुष्ट्य की स्थापना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में हम पहले प्रमाणों की संख्या चार से कम मानने वाले चार्वाक, बौद्ध, वैशेषिक आदि दार्शनिकों के मतों का तात्पर्यटीकानुसारी निराकरण करेंगे।

चार्वाक मत : इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष व्यवस्थित विषयक होता है, अत: अनुमेय पदार्थों में उसकी गति सम्भव नहीं है। अनुमान दो वस्तुओं के बीच निहित व्याप्ति के आधार पर उत्पन्न होता है और उस व्याप्ति का उत्पादक, उन दोनों वस्तुओं के बीच सम्बन्ध है जो कि सामान्य को आश्रित करके प्रवृत्त होता है। सम्बन्ध के सम्बन्धियों के प्रत्यक्षगम्य होने पर ही सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष का विषय होता है। सामान्य में प्रत्यक्ष की गति सम्भव नहीं है। अनुमिति स्थल में सामान्य के आधार पर महानस में दृष्टि धूम एवं अग्नि से अप्रत्यक्ष धूम अग्नि के बीच सम्बन्ध का ज्ञान होता है। सामान्य व्याप्ति का भी निश्चायक है, किन्तु जब सामान्य का प्रत्यक्ष से ज्ञान सम्भव नहीं है तब उससे व्याप्ति-संभव नहा

है। व्याप्ति के अभाव में अनुमान की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती। यदि व्याप्तिनिश्चय के लिए सामान्य का ज्ञान अनुमेय मान लिया जायेगा तब पुनः उस सामान्य का अनुमान करके के लिए व्याप्तिनिश्चय, जिसके लिए फिर अनुमान की सत्ता माननी होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अतः व्याप्ति ग्रह की अशक्यता के कारण अनुमान प्रमाण का अभाव है।[१७] इसी प्रकार उपमान एवं शब्द भी सम्बन्ध-ग्रह की अपेक्षा रखते हैं। इन दोनों स्थलों में भी सम्बन्ध-ग्रह उक्त क्रम से दुरधिगम है, अतः इन प्रमाणों का भी अभाव है, मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण का ही सत्ता है। अतः विभाग-सूत्र उपपन्न नहीं है। प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणों की सत्ता का अपलाप करने वाले चार्वाकों का मत व्याघात दोष से दूषित है, क्योंकि यदि अनुमान की सत्ता नहीं मानी जायेगी तब परदेहवर्ती अज्ञानादि का ज्ञान भी सम्भव नहीं होगा, जिसके अभाव में किसी के मत का ज्ञान अथवा अज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता है।[१८] चार्वाक दार्शनिक प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण की सत्ता भी नहीं मानते और परदेहवर्ती अज्ञान का अनुमान करके उसके मत का शब्दों के द्वारा खण्डन भी करते हैं। अतः उनका मत स्वयं व्याघात दोष से दूषित है। अतः खण्डित हो जाता है।

वैशेषिक मत- वैशेषिकों के अनुसार स्वतन्त्र प्रमाण प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही है। नैयायिकों को अभिमत उपमान एवं शब्द रूप दो अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों को अन्तर्भाव इन्हीं दोनों प्रमाणों में हो जाता है।

उपमान का अन्तर्भाव- दृष्ट लिंग से अदृष्ट अर्थ का ज्ञापक अनुमान होता है।[१९] उपमान स्थल में भी दृष्ट लिंग से अदृष्ट गवय-प्रतिपत्ति रूप लिंगी का ज्ञान होने से यह भी अनुमानान्तर्गत ही है अर्थात् 'जैसी गाय होती है, वैसी गवय होती है' यह वाक्य गाय के प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रत्यक्ष गवय का बोध कराता है क्योंकि जिस समय व्यक्ति अतिदेशवाक्य सुनता है उसी समय उसे गवय का शब्द के द्वारा संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्धात्मक ज्ञान हो जाता है तथा बाद में गवय को देखने पर उस संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध की स्मृति-मात्र होती है। जिस प्रकार धूम और वह्नि के बीच व्याप्ति-ग्रह पहले हो जाता है तथा उस समय ज्ञात वह्नि का ही बाद में पर्वत में धूम देखकर स्मरण मात्र होता है। इस प्रकार वैशेषिकों के अनुसार उपमान स्थल में वाक्यार्थाधिगम से अन्य फल का अभाव होने के कारण उपमान शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है।

शब्द का अन्तर्भाव- महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिकसूत्र में शब्दज्ञान को लौकिक ज्ञान के समान होने के कारण स्वतन्त्र प्रमाण न मानते हुए उसका लौकिक ज्ञान में ही समावेश किया है। प्रशस्तपादभाष्य के अनुसार शब्द और अनुमान की प्रक्रिया समान होने से शब्द भी अनुमान है। समान प्रक्रिया से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनुमान की प्रवृत्ति व्याप्ति एवं पक्षक्षर्मता के आधार पर होती है उसी प्रकार शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति भी व्याप्ति एवं पक्षधर्मता के आधार पर होती है। अनुमान की तरह शब्द भी अपने अर्थ का बोध तब तक नहीं करा सकता जब तक अर्थ के साथ शब्द का अव्यभिचार गृहीत नहीं होता। अतः शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है।

बौद्ध-मत : वैशेषिक की भाँति दो प्रमाण स्वीकृत करने वाले बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग आदि उपमान को प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण मानने के पक्ष में है क्योंकि गवय का प्रत्यक्ष होने पर उसमें निहित गो-सादृश्य एवं गवय प्रत्यक्ष दोनों हो जाता है अतः शेष प्रमेय ज्ञान के अभाव के कारण उपमान प्रमाणान्तर नहीं है।[२०]

इसी प्रकार शब्द का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[२१] अनुमान की भाँति शब्द भी स्मृति-सापेक्ष अन्वयंतिरेक युक्त प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थ का बोधक होता है। अतः उसका भी अनुमान में अन्तर्भाव होता है। प्रत्यक्ष के एवं परोक्ष विषयों से अतिरिक्त विषयों का अभाव होने के कारण प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अतिरिक्त प्रमाणों का भी अभाव है। अतः विभागपरक सूत्र की अनर्थकता सिद्ध होती है।

उपमान एवं शब्द का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव मानकर प्रमाण के चतुष्टय का खण्डन करने वाले वैशेषिक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का मत युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि उपमान व शब्द दोनों ही भिन्न प्रतीतियों के विषय हैं। न्याय मत में 'विषय' प्रमाण के नियामक नहीं अपितु भिन्न प्रतीतियाँ ही प्रमाण की नियामक हैं। लोक में चार प्रकार की प्रमितियों की प्राप्ति के कारण प्रमाण का चतुष्टय स्थापित होता है। 'शाब्दबोधं करोमि' इत्याकारक प्रतीति के कारण वह 'अनुमिनोमि' इत्याकारक अनुव्यवसायात्मक प्रतीति से भिन्न है अतः वह पृथक् प्रमाण स्थानीय है। अतः चार प्रमाणों का कथन

युक्तियुक्त है इसमें आधिक्य दोष का आरोपण सम्भव नहीं है।

बौद्धों के विपरीत मीमांसक दार्शनिक न्यायाभिमत चार प्रमाणों के अतिरिक्त अर्थापत्ति और अभाव (अनुपलब्धि) रूप दो अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार करके प्रमाणों की संख्या छः मानते हैं। पौराणिकों ने इन छः प्रमाणों में ऐतिह्य और सम्भव रूप दो अन्य प्रमाणों का समावेश करके प्रमाणों की संख्या आठ स्वीकार की है। इन दोनों विचार परम्पराओं के समर्थकों ने महर्षि गौतम के उविदष्ट-विभाग-सूत्र (न्यायसूत्र १.१.३) को न्यूनता दोष से दूषित एवं इसीलिए अनर्थक (अथवा अयथार्थ) सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनकी युक्तियों का पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यास करते हुए[२२] स्वयं सूत्रकार ने प्रमाण-परीक्षा-प्रकरण में निराकरण किया है (न्यायसूत्र २.२.१-२.२.१२)।

मीमांसक मत- मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति भी इन चार प्रमाणों से भिन्न पृथक् प्रमाण स्थानीय है, क्योंकि इसका विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय से भिन्न है। अतः इसका अन्तर्भाव उन चारों प्रमाणों में से किसी में भी सम्भव नहीं है।

अर्थापत्ति प्रमाण : भाष्यकार अर्थापत्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जहाँ अभिहित अर्थ से किसी अन्य अर्थ की प्राप्ति होती है वहाँ अर्थापत्ति होती है।[२३] अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है- 'अर्थात् अथवा अर्थतः आपत्ति।' यहाँ आपत्ति शब्द का अर्थ- प्राप्ति है, अर्थात्-अर्थ से। इस प्रकार अर्थापत्ति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ 'अर्थ' से प्राप्त अथवा 'प्रसक्त'[२४] किसी वाक्य को सुनने तथा अर्थ की प्राप्ति अर्थापत्ति प्रमिति कहलाती है और उसका करण अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है। उदाहरणार्थ, 'मेघ के न होने पर वृष्टि नहीं होती।' यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि विधीयमान अर्थ के द्वारा क्या प्राप्त होता है? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'यहाँ मेघ के न होने पर वर्षा नहीं होती' इस विधीयमान अर्थ के द्वारा मेघ के होने पर वर्षा होती है इसका ज्ञान होता है, यही अर्थापत्ति प्रमा है और वक्ता के द्वारा कहा गया वाक्य, वाक्यज्ञान के तुरन्त बाद अन्यार्थ का ज्ञान कराने के कारण अर्थापत्ति प्रमाण है। अतः विधीयमान अर्थ के द्वारा अविधीयमान की प्राप्तिस्थल होने से यह अर्थापत्ति स्थल है। व्याप्तिगृहीत लिंग दर्शन अनुमिति के प्रति करण है, किन्तु इस प्रकार का व्याप्ति-गृही-लिंग दर्शन अर्थापत्ति स्थल में दृष्ट नहीं है, अतः उसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष अर्थ से अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध कराने के कारण प्रत्यक्ष की प्रसक्ति भी सम्भव नहीं। सादृश्याभाव के कारण उपमान की भी प्रसक्ति नहीं होती। अतः यह पृथक् प्रमाणस्थानीय है।

अभाव प्रमाण : विद्यमान पदार्थ के सम्बन्ध में अविद्यमान विरोधी पदार्थ अभाव प्रमाण है।[२५] अर्थात् जहाँ पर विरोधी रूप में एक विरोधी के ज्ञान से अपर विरोधी का ज्ञान होता है वहाँ अभाव नामक प्रमाण होता है।[२६] दूसरे शब्दों में किसी विपरीत, (प्रयत्नीक) अर्थ के ज्ञान से उसके विरोधी के ज्ञान स्थल में अभाव प्रमाण माना जाता है। उदाहरण के लिए वायु और मेघ के समबन्ध से वृष्टि नहीं होती। क्योंकि वायु मेघ में रहने वाले पानी के गुरुत्व की प्रतिबन्धक है। अतएव मेघ और वायु का संयोग तथा वृष्टि परस्पर विरोधी है। अतः एक विरोधी वृष्टि की अविद्यमानता का ग्रहण अपर विरोधी वायु-अभ्र-संयोग का ज्ञान कराता है। यहाँ पर वायु और मेघ का संयोग अभाव नामक प्रमिति है तथा अभूत वृष्टि अर्थात् वृष्टि का अभाव, अभाव नामक प्रमाण है। इस प्रमाण के द्वारा ही मेघोदय होने पर भी वृष्टि के अभाव नामक प्रमाण है। इस प्रमाण के द्वारा ही मेघोदय होने पर भी वृष्टि के अभाव के द्वारा वायु-अभ्र-संयोग रूप प्रमेय का ज्ञान होता है। अभाव स्वरूप के कारण इसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि में संभव नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान होता है। अतः अभाव, अभाव स्वरूप वाला होने के कारण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप नहीं हो सकता। व्याप्ति ग्रह का अभाव होने के कारण अनुमान में भी इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं। अतः अभाव पृथक् प्रमाण है।

पौराणिकों का मतः पौराणिकों मतावलम्बियों के अनुसार प्रमाणों की संख्या आठ है। मीमांसक प्रतिपादित छः प्रमाणों में ऐतिह्य और सम्भव को भी पृथक् प्रमांण स्वीकार करके पौराणिक आठ प्रकार के प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ऐतिह्य और संभव विशिष्ट विषयक है, अतः उनका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण में नहीं हो सकता।

सम्भव : व्याप्ति विशिष्ट एक पदार्थ की सत्ता-ज्ञान से अन्य पदार्थ की सत्ता का ज्ञान, सम्भव कहलाता है।[२७] अर्थात्

जहाँ अविनाभाव अव्याव्याप्ति सम्बन्ध से सम्बन्धित द्रव्य-द्वय में एक की सत्ता के ज्ञान से अन्य की सत्ता का ज्ञान होता है वहाँ सम्भव नामक प्रमिति होती है।[२८] यहाँ अविनाभाव-सम्बन्ध-विशिष्ट द्रव्य-द्वय में प्रथम-द्रव्य की सत्ता का ज्ञान सम्भव नामक प्रमाण है और द्वितीय-द्रव्य की सत्ता का ज्ञान सम्भव नामक प्रमिति है। उदाहरण के लिये 'द्रोण' 'आढक' एवं 'प्रस्थ' ये तीन मान (वजन) हैं। द्रोण सबसे अधिक वजन होता है उसके कम आढक और आढक से कम प्रस्थ। अतएव निश्चित है कि कोई पदार्थ बिना आढक भर वजन हुये द्रोण भर वजन नहीं हो सकता है क्योंकि द्रोण आढक से भारी होता है। इसी प्रकार आढक भर वजन न होने वाला पदार्थ प्रस्थ भर वजन नहीं हो सकता अर्थात् बड़े वजन में छोटा वजन अवश्य समाया हुआ रहेगा। इस प्रकार द्रोण की सत्ता के ज्ञान से आढक की सत्ता का ज्ञान 'सम्भव' प्रमाण है उसी तरह आढक की सत्ता के ज्ञान से प्रस्थ की सत्ता का ज्ञान भी सम्भव प्रमाण है।[२९] बड़े वजन में छोटा वजन सम्भव है, छोटे वजन के बिना बड़ा वजन सम्भव ही नहीं हैं। विशिष्ट प्रतीति स्थल होने के कारण सम्भव प्रमाण का अन्य प्रमाणों में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

ऐतिह्यः ऐतिह्य शब्द 'इतिह' शब्द के पश्चात् स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय के योग से विष्पन्न होता है। यह अव्यय शब्द है, जिसका अर्थ है परम्परागत शब्द या प्रवाद परम्परा। अतः मूलवक्ता का (यद्यपि) निर्माण नहीं होता इस प्रकार से जो परम्परागत वाक्य जाना जाता है वहीं ऐतिह्य है।[३०] वार्तिककार के अनुसार जिस वाक्य का प्रवक्ता अनिर्दिष्ट हो किन्तु वह प्रवाद परम्परा से चला आ रहा हो ऐसा वजन ऐतिह्य नामक प्रमाण है।[३१] उदाहरण के लिए 'अमुक वह वृक्ष पर यक्ष रहता है' या 'इस ग्राम में प्रत्येक वटवृक्ष पर कुबेर निवास करते हैं' यह कथन परम्पराया चला आ रहा है किन्तु उसके प्रवक्ता का निर्देश प्राप्त नहीं होता। केवल यह कहा जाता है कि वृद्ध लोग ऐसा कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'प्रवाद' भी है। पौराणिक जो ऐतिह्य का स्वतन्त्र प्रमाणत्व स्वीकार करते हैं उनके अनुसार यह शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि ऐतिह्य नामक परम्परागत वाक्य के मूलवक्ता के आप्तत्व निश्चय की कोई सम्भावना नहीं होती। व्याप्तिग्रहादि सम्भव न होने से अनुमान में भी अन्तर्भाव नहीं किया सम्भव नहीं है। अतः यह विशिष्ट विषयक होने के कारण पृथक् प्रमाण स्थानीय है।

मीमांसक एवं पौराणिकों द्वारा प्रसक्त न्यूनता-दोष का निराकरण : पूर्वपक्षी का आक्षेप है कि उपर्युक्त ऐतिह्य प्रमिति, अर्थापत्ति प्रमिति, सम्भव प्रमिति, अभाव प्रमिति बिना ऐतिह्यादि प्रमाणों के अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा गम्य नहीं है। अतएव महर्षि गौतम प्रणीत उद्दिष्ट-विभाग-सूत्र पर पूर्वपक्षी न्यूनता दोष का आक्षेप करते हैं, परन्तु यह आक्षेप युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

पूर्वपक्ष स्वीकृत ऐतिह्यादि चार प्रमाण प्रमा का कारण होने से प्रमाण अवश्य है किन्तु वे प्रमाणान्तर नहीं है क्योंकि ऐतिह्यादि का लक्षण और प्रत्यक्षादि का लक्षण अभिन्न होने के कारण तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अतिरिक्त ऐतिह्यादि प्रमाणों का विषय नहीं होने से ऐतिह्यादि प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही हो जाता है।[३२] अतः ऐतिह्यादि प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाण से अतिरिक्त नहीं है और इसी कारण महर्षि गौतम ने उद्दिष्ट-विभाग-सूत्र के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ ऐतिह्यादि प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया है।

पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करते हैं कि यद्यपि लक्षण की दृष्टि से और ग्राह्य-विषय की दृष्टि से प्रत्यक्षादि प्रमाण और ऐतिह्यादि प्रमाण अभिन्न है फिर भी प्रयोजन-भेद से ऐतिह्यादि को प्रत्यक्षादि प्रमाण से भिन्न प्रमाण स्वीकार करना होगा। अतः यहाँ प्रयोजन-भेद से ऐतिह्यादि का प्रमाणान्तरत्व स्वीकारणीय है।[३३] अतः उद्दिष्ट-विभाग सूत्र के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ ऐतिह्यादि चार प्रमाणों का उल्लेख भी भी वांछनीय है।

परन्तु पूर्वपक्षी प्रयोजन-भेद के आधार पर भी भिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि प्रयोजन भेद के आधार पर प्रमाणों का अनन्तत्व (बहुत्व) की आपत्ति होगी। उदाहरण के लिए घट, पर का ज्ञान किसी इन्द्रिय से होता है उसको गृहीत करने के लिए भिन्न प्रमाण की कल्पना नहीं की जाती, किन्तु दोनों में प्रयोजन भेद तो है ही। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय से नील-पीत आदि का भी ग्रहण होता है। यदि प्रयोजन-भेद के आधार पर भेद माना जायेगा तब तटग्राहक अनेक चक्षुरिन्द्रिय का प्रसंग होगा। अतः प्रयोजन-भेद प्रमाण-भेद का नियामक नहीं है। इसके अतिरिक्त भिन्न विषयों में कालगत-भेद भी सम्भव है।

उनको विषय करने वाले प्रमाणों में भी भिन्नता की आपत्ति होगी जिससे अत्यन्त प्रमाणों की प्रसक्ति के कारण प्रमाणों की छ: एवं आठ संख्या सिद्ध नहीं हो सकती वरन् संख्या बहुतत्त्व का प्रसंग होगा। अत: जिस प्रकार नील-पीत में अनुगत रूपत्व जाति के द्वारा सभी नील-पीत का एक विषयत्वेन प्रतिपादन होने से पद्ग्राहक प्रमाण के विषयों से अतिरिक्त सामान्य-विशेष प्रयोजन सम्भव नहीं जिसको विषय करते हुए ये पृथक् उपस्थापित होंगे। इन प्रत्यक्षादि प्रमाणगक्य विषयों के सामान्य की चार श्रेणियाँ है। निरूपधान स्वरूपत्व, व्यापकत्व, अन्वितत्त्व एवं संज्ञित्व। इन चारों सामान्य के ही विभिन्न विशेष हैं, जिनका ग्रहण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द के द्वारा होता है। प्रत्यक्ष साक्षात्कारी ज्ञान का जनक होता है अत: सभी प्रत्यक्ष योग्य पदार्थ निरूपाहितत्व से युक्त होते हुए प्रत्यक्ष के विषय होते हैं उनके विशेष कुछ भी हो सकते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष योग्यता रखने वाले घटत्व, पटत्व रूप विशेष तथा निरूपादितत्त्व रूप सामान्य से युक्त विषय करता है अत: सभी व्याप्त-व्यापकत्व रूप सामान्य को अनुमान विषय है। विशेषों में भिन्नता होने पर भी अन्वितत्त्व रूप सामान्य का ग्राहक उपमान है। संज्ञित्व रूप सामान्य का ग्राहक है शब्द प्रमाण।

इस प्रकार इन चार में ही सम्पूर्ण पदार्थ समाहित हैं। अत: इन चारों को ग्रहण करने वाले चार प्रमाण हैं इनसे भिन्न सामान्य की असत्ता के कारण तदाश्रित विशेष का भी अभाव है। अत: तद्ग्राहक प्रमाण विशेष का खण्डन भी इससे ही हो जाता है अत: केवल मात्र चार ही प्रमाण है उनसे अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव इन चार में ही हो जाता है।

प्रमाण के चतुष्टय की स्थापना होने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ये अर्थापत्ति आदि प्रमाण है अथवा नहीं, यदि ये अप्रमाण है तो सूत्र में 'प्रमाणानि' पद का प्रयोग क्यों किया गया। यदि ये प्रमाण है तो इनका अन्तर्भाव किन-किन प्रमाणों में होता है क्योंकि अन्तर्भाव के अभाव में प्रमाण होने के कारण पृथक् प्रमाणत्व का प्रसंग होगा। इन शंकाओं के निराकरण के लिए ही सूत्रकार प्रमाण-चतुष्टय की परीक्षा में प्रवृत्त होकर ऐतिह्यादि को 'प्रमाणानि' पद के द्वारा प्रतिपादित करते हैं। इन प्रमाणों का अन्तर्भाव प्रतिपादक सूत्र भी कहा गया है।[34] अत: सिद्ध है कि ये ऐतिह्यादि भी अव्यभिचारि-प्रमा के जनक हैं और प्रत्यक्षादि के अन्तर्गत ही इनका अन्तर्भाव होता है।

ऐतिह्यादि प्रमाणों का शब्दादि प्रमाणों में अन्तर्भाव विचार : प्रमाण चतुष्टय का प्रतिपादन हो जाने पर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि ऐतिह्यादि प्रमाण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत होता हुआ कौन किसमें अन्तर्भूत होता है?[35] इस जिज्ञासा के उपशमन के लिए महर्षि गौतम प्रतिपादित सूत्र को ही उपन्यस्त कर देना पर्याप्त होगा। सूत्रकार के अनुसार ऐतिह्य प्रमाण का शब्द प्रमाण में और अर्थापत्ति, सम्भव एवं अभाव-प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव होता है।[36] अत: पूर्वपक्षियों द्वारा किया गया प्रमाण चतुष्टय का प्रतिषेध उचित नहीं है।

ऐतिह्य के शब्द-प्रमाण में अन्तर्भाव का विचार : ऐतिह्य-प्रमाण का शब्द-प्रमाण में अन्तर्भाव होता है क्योंकि शब्द प्रमाण और ऐतिह्य-प्रमाण का लक्षण समान है।[37] 'आप्तोपदेश: शब्द:' अर्थात् आप्त का उपदेश शब्द प्रमाण है इसी लक्षण से साम्यता रखने वाला ऐतिह्य प्रमाण का लक्षण है जो इस प्रकार कहा गया है 'परम्परा से प्राप्त अनिर्दिष्ट वक्ता का वचन है ऐतिह्य प्रमाण है। अत: आप्तोपदेश भी वचन रूप होने के कारण और ऐतिह्य भी वचन रूप होने के कारण शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही है।

यहाँ पूर्वपक्षी यह आक्षेप करते हैं कि शब्द-प्रमाण के लक्षण के साथ ऐतिह्य प्रमाण के लक्षण की साक्यता किस प्रकार सम्भव है। क्योंकि शब्द-प्रमाण उसी वाक्य को कहा जाता है जो आप्तोपदेश हो किन्तु ऐतिह्य-प्रमाण का वक्ता अनिर्दिष्ट होने से किस प्रकार यह जाना जा सकता है कि ऐतिह्य प्रमा का वक्ता आप्त है या नहीं। बिना आप्तत्व के निश्चय से किस प्रकार ऐतिह्य-प्रमाण का लक्षण और शब्द-प्रमाण का लक्षण अभिन्न प्रतिपन्न होगा।

पूर्वपक्षी के आक्षेप के उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि ऐतिह्य प्रमाण का वक्ता अनिर्दिष्ट होता है किन्तु अक्षर-परम्परा से ऐतिह्य वचन की प्राप्ति होने के कारण वक्ता के आप्तत्व का निश्चय होता है। क्योंकि यदि वह अपाप्त का उपदेश होता तो वह इस प्रकार परम्परागत प्राप्त नहीं होता। परम्परया प्राप्ति के कारण इसका अविसंवादकत्व प्रतिपादित होता है। अत: यह भी आप्त का ही उपदेश है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार अक्षर परम्परया प्राप्त वचन रूप उपदेशत्व दोनों

स्थलों (शब्द एवं ऐतिह्य) में समान होने के कारण इन दोनों में समान विषयत्व भी है। अत: ऐतिह्य प्रमाण का शब्द प्रमाण से पृथक् अभिधान युक्तिसंगत नहीं है।

तत्त्वोपप्लवसिंहकार जयराशि भट्ट ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। ऐतिह्य प्रमाण का विवेचन करते हुए उनका कथन है कि शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाने के कारण ऐतिह्य को न तो स्वतन्त्र प्रमाण माना जा सकता है और न अनुमान के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।[३८]

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील ने ऐतिह्य प्रमाण को, अनेक प्रकार के व्यभिचारों से दूषित होने के कारण अप्रमाण कहा है।[३९]

न्यायसूत्रकार गौतम,[४०] भाष्यकार वात्स्यायन[४१] एवं उनके उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने जैसे उद्योतकर[४२], वाचस्पति मिश्र,[४३], भासर्वज्ञ[४४], जयन्तभट्ट,[४५], विश्वनाथ[४६] आदि नैयायिकों ने ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव किया है। प्रशस्तपाद का अनुमान करने वाले व्योमशिवाचार्य, उदयन, श्रीधर, शंकर मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, नारायण भट्ट प्रभृति भाट्ट मीमांसक एवं शालिकनाथ प्रभृति प्रभाकर मीमांसक, आचार्य माठर का अनुमोदन करने वाले गौड़पाद, वाचस्पति मिश्र आदि सांख्याचार्य, एवं अकलंक आदि जैन दार्शनिकों ने भी ऐतिह्य प्रमाण को आगम प्रमाण में ही अन्तर्भावित किया है।

परम्पराश्रित कथन होने से ऐतिह्य प्रमाण अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इसी प्रमाण के आधार पर अनेक प्राचीन ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण संभावित हो सका है क्योंकि प्राचीनकालीन अधिकतर ग्रन्थों में लेखक का नाम, समय आदि का उल्लेख नहीं पाया जाता। यही नहीं समस्त वैदिक ज्ञान भी परम्पराश्रित होने के कारण ही आज तक अक्षुण्ण चला आ रहा है, किन्तु कथन स्वरूप होने के कारण इसको पृथक् प्रमाण मानने की अपेक्षा आगम में समादृत करना अधिक समीचीन जान पड़ता है।

सम्भव-प्रमाण के अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव का विचार : पौराणिकों द्वारा मान्य सम्भव नामक-प्रमाण को नैयायिक अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं मानते। सम्भव प्रमाण भी अनुमान की सत्ता का ज्ञान एवं आढक के ज्ञान के प्रस्थ का सत्ता ज्ञान अविनाभाव रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध समुदाय द्वारा समुदायी (समुदाय-विशिष्ट) का ज्ञान है। यहाँ द्रोण 'समुदाय' है और आढक 'समुदायी।' इस प्रकार प्रकृत स्थल में अविनाभाव रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध समुदाय एवं समुदायी में से समुदाय के ज्ञान से समुदायी का ज्ञान होता है। अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति सम्बन्ध ही होता है अत: ऐसा ज्ञान अनुमान से भिन्न नहीं है।[४७] इसलिए सम्भव प्रमाण भी अनुमान में ही अन्तभूर्त है।

प्रसिद्ध चार्वाक दार्शनिक जयराशिभट्ट ने सम्भव को न्यायसूत्रकार की भाँति अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[४८] बौद्धाचार्य शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य कमलशील ने न्यायभाष्यकार की शब्दावली को प्रयुक्त करते हुए सम्भव प्रमाण को कार्यलिंग से उत्पन्न होने वाले कारण के अनुमान में अन्तर्विष्ट किया है।[४९] मोक्षाकर गुप्त ने इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं की है।

न्यायसूत्रकार गौतम सम्भव प्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत हो जाने के कारण पृथक् प्रमाण नहीं मानते।[५०] सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि समुदाय और समुदायी, अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होने के कारण, एक के गृहीत होने पर दूसरे का ग्रहण होना अवश्यम्भावी है, इसलिए इसको अनुमान के अन्तर्गत भली-भाँति अवस्थित किया जा सकता है।[५१] उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र भासर्वज्ञ, जयन्तभट्ट, विश्वनाथ आदि उत्तरवर्ती आचार्य ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[५२] वात्स्यायन का अनुगनन करते हुए वैशेषिक दार्शनिक प्रशस्तपाद ने लिखा है कि सम्भव प्रमाण में अविनाभाव सम्बन्ध द्वारा ही अर्थ का अवबोधक होता है इसलिए ये अनुमान ही है।[५३] भाष्यकार की व्याख्या करते हुये व्योमशिवाचार्य ने कहा है जहाँ हजार संख्या होती है वहाँ सौ संख्या अवश्य होती है इस व्याप्ति के ग्रहण होने पर लिंग 'सहस्त्र संख्या' द्वारा साध्य 'सौ संख्या' का ज्ञान होना अनुमान ही है।[५४] इसी उदाहरण को प्रयुक्त करते हुए किरणावलीकार उदयन, श्रीधर तथा शंकर मिश्र ने भी सम्भव प्रमाण को अनुमान में समाहित किया है।[५५] इसी प्रकार मीमांसक भाट्ट

कुमारिल[५६] का अनुशरण करते हुए उम्बेक भट्ट, सुचरित मिश्र, पार्थसारथि मिश्र आदि टीकाकार, नारायण भट्ट प्रभृति उत्तरवर्ती भाट्ट मीमांसकों ने सम्भव प्रमाण को अनुमान में गतार्थ किया है, प्रभाकर मत संपादित करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने इसी मत का अनुमोदन किया है। विभिन्न उदाहरण प्रयुक्त करते हुए सांख्याचार्य माठर[५७] ने भी सम्भव प्रमाण को अनुमान में ही समाहित करने का प्रयास किया है। जैन दार्शनिक भी इसी तथ्य का अनुसरण करते हुए सम्भव को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही करते हैं।

निष्कर्षत निश्चयात्मक न होने एवं सम्भावनामूलक होने के कारण, सम्भव को पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि उक्त विवेचन के आधार पर इसका अनुमान में भली-भाँति अन्तर्भाव किया जा सकता है। अत: सम्भव प्रमाण स्वतन्त्र प्रमाण न होकर, अनुमान प्रमाण ही है।

अर्थापत्ति के अनुमान में अन्तर्भाव का विचार : न्याय सूत्रकार गौतम के अनुसार अभिहित अर्थ से किसी अन्य अर्थ की प्राप्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में होने से वह स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है।[५८] न्याय सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन[५९] का कथन है कि किसी वाक्य के अर्थ के ज्ञान से उसके विरोधी होने के कारण अकथित अर्थ का ज्ञान अर्थापत्ति होता है जो कि अनुमान ही है। 'मेघों के न होने पर वृष्टि नहीं होती है' इस वाक्य के अर्थज्ञान होने पर इससे अपने विरोधी 'मेघ होने पर वृष्टि होती है' का ज्ञान होता है। इसे अर्थापत्ति माना जाता है किन्तु इसे अनुमान ही मानना चाहिए क्योंकि ज्ञातार्थ से तद्विरोधी अर्थ का ज्ञान अनुमान ही हुआ। वार्तिककार[६०] ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार भी अर्थापत्ति और अनुमान प्रमाण के ज्ञान की प्रणाली अभिन्न होने के कारण अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो जाता है जो कि अनुमान ही है। 'दिन में भोजन नहीं करता है' यहाँ 'दिन में भोजन करने के निषेध से' रात्रि में भोजन करता है रूप अर्थापत्ति-प्रमिति उत्पन्न होती है। अत: अर्थापत्ति प्रमाण भी व्याप्ति ज्ञान तथा व्याप्ति-स्मृति की अपेक्षा करता है। टीकाकार भी अर्थत: प्राप्त अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही मानते हैं।[६१] अर्थात् जिस प्रकार अनुमान-प्रमाण में अविनाभाव-सम्बन्ध-विशिष्टि द्रव्य-द्वय में प्रत्यक्ष लिंग के आधार पर अप्रत्यक्ष साक्ष्य का ज्ञान होता है। उसी प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण में प्राप्त-द्रव्य-द्वय में एक के प्रतिषेध से दूसरे का अभ्युपगम अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर होता है। वार्तिककार तथा भाष्यकार के मत का समर्थन करते हुए तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र भी श्रुतार्थापत्ति के प्रचलित उदाहरण 'प्रत्यक्षगम्य देवदत्त की पुष्टता से अप्रत्यक्ष रात्रिभोजन का ज्ञान' द्वारा अर्थापत्ति-प्रमाण को अनुमान-प्रमाण ही मानते हैं उससे भिन्न नहीं है।[६२]

न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट[६३] ने भी अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान ने में ही अन्तर्भाव किया है। सम्बन्ध के बिना एक वस्तु दूसरी वस्तु का बोध नहीं करा सकती, और इसके बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती यह व्यतिरेक सूक्ति है। उसके पश्चात् उसके रहने पर इसकी उपपत्ति होती है यह अन्वय सूक्ति है, अन्वय तथा व्यतिरेक हेतु के धर्म हैं तब अर्थापत्ति को अनुमान कैसे नहीं माना जायेगा अर्थात् अर्थापत्ति अनुमान ही है। परिशुद्धिकार उदयन भी अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान-प्रमाण में करते हैं और उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानने के पक्ष में नहीं हैं।

कुछ पूर्वपक्षी 'दिन में नहीं खाता है अत: रात्रि में खाता' इस स्थल को (साध्यविकलत्व के कारण) अर्थापत्ति स्थल ही नहीं मानते। उनके अनुसार उपर्युक्त उदाहरण के द्वारा अर्थापत्ति का स्वरूप निर्धारण सम्भव नहीं है, क्योंकि इस वाक्य में दो प्रकार के अवधारण सम्भव हैं। प्रथम है 'दिन में ही नहीं खाता' इस प्रकार दिन अर्थात् काल के साथ एवकार के संयुक्त होने पर काल (दिन) का प्रतिषेध होकर रात्रि भोजन की प्राप्ति स्वत: आक्षेप से हो जाती है, क्योंकि वह दिन में ही केवल नहीं खाता इससे रात्रि आदि में खाता है यह अर्थ स्वत: लक्षित हो जाता है। उस अप्रत्यक्ष अर्थ के स्वत: ज्ञान से अतिरिक्त क्या शेष है जिसको साधित करने के लिए अर्थापत्ति प्रमाण की प्रवृत्ति होगी। अत: कालान्तर का विधान, मात्र दिन से संयुक्त एवकार के द्वारा होने के कारण अर्थापत्ति-प्रमाण में साध्यत्व का अभाव है।

इसी प्रकार यदि दूसरी अवधारण दिन में खाता ही नहीं का ग्रहण किया जायेगा तब यहाँ क्रिया से संयुक्त एवकार तदन्य क्रिया नहीं करता, अन्य क्रिया करता है यह बोधित होता है। इस अर्थ से एवं रात्रि भोजन रूप साध्य में किसी प्रकार

का सम्बन्ध नहीं है। अतः उस हेतु से कि दिन में केवल मात्र खाने का कार्य नहीं करता अन्य क्रिया करता है, रात्रि भोजन का ज्ञान सम्भव नहीं, जिससे वह रात्रि भोजन साध्य होगा।

अतः दोनों प्रकार से ही रात्रि भोजन रूप साध्याभाव के कारण यह अर्थापत्ति स्थल नहीं है। पूर्वपक्षियों का उपर्युक्त मत उचित नहीं है सिद्धान्ती का कथन है कि द्वितीय अवधारणा के द्वारा पूर्वपक्षी जो रात्रि-भोजन की प्राप्ति का निराकरण करते हैं, वह उचित नहीं है। 'दिन में खाता ही नहीं' इस अवधारण की यहाँ सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्राप्त का ही प्रतिषेध सम्भव होता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह खाने की क्रिया करे अथवा न करें अन्य क्रिया से वह अवश्य ही सम्पृक्त होता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये क्षण भर भी नहीं रह सकता। यह सभी जानते हैं जब व्यक्ति खाने की क्रिया करता है उस समय भी वह देखता है, हाथ चलाता है आदि अन्य क्रिया करता है अतः खाने की क्रिया के समय भी उसकी अन्य क्रिया का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। न खाते हुए भी उसमें अन्य क्रिया होती ही है अतः किसी भी काल में व्यक्ति में क्रिया का अभाव प्रसक्त ही नहीं होता जिसका निषेध इस एवकार से होगा क्योंकि प्राप्त का ही निषेध होता है। इसलिए द्वितीय अवधारण सम्भव नहीं। अपितु 'दिन में ही नहीं खाता' इस अवधारण में काल-प्रतिषेध विवक्षित है। यहाँ यदि काल-प्रतिषेध नहीं माना जायेगा तो वाक्य की अनर्थकता की आपत्ति होगी, क्योंकि क्रियान्तर के अभाव की प्राप्ति न होने से उसका निषेध तो उस वाक्य से माना नहीं जा सकता और काल प्रतिषेध के भी स्वीकृत नहीं किया जाता तथा इस वाक्य की व्यर्थता होने पर पूर्वपूक्षी के द्वारा मान्य क्रियान्तर प्रतिषेध की भी उपपत्ति सम्भव नहीं होगी। अतः यहाँ पर काल प्रतिषेध है। रात्रि एवं दिन इन दो कालों की प्राप्ति होने पर उनमें से एक का प्रतिषेध प्राप्त होने पर द्वितीय की अभ्यनुज्ञा (प्राप्ति) का अनुमान होता है। अतः अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[६४]

अनुमान प्रमाण की भी तीन प्रकार का होता है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। अतः इस अर्थापत्ति का अन्तर्भाव किस अनुमान में होगा ऐसी पूर्वपक्षी की आशंका का निवारण सिद्धान्ती अर्थापत्ति को सामान्य तो दृष्ट-अनुमान-वर्ग में रखकर (गृहीत करके) देते हैं।[६५] क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान वहीं होता है जहाँ हेतु एवं साध्य के बीच कार्य कारण भाव तो नहीं होता है, किन्तु सामान्येन गृहीत व्याप्ति के आधार पर हेतु साध्य का गमक होता है। अतः यद्यपि दिवा-भोजन और रात्रि-भोजन में किसी प्रकार का कार्य-कारण-भाव नहीं है। सामन्य रूप में यह देखा जाता है कि एक के निषेध से तदितर की प्राप्ति का विधान होता है। उसी सामान्य व्याप्ति के आधार पर दिवा भोजन के प्रतिषेध से रात्रि भोजन का अनुमान होता है। अतः यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान-स्थल है। इसी प्रकार 'मेघों के न होने पर वर्षा का अभाव' स्थल भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान स्थल ही है।

मीमांसा-भाष्यकार के द्वारा प्रतिपादित अर्थापत्ति उदाहरण का प्रतिपादन : मीमांसा-भाष्यकार ने अर्थापत्ति का दूसरा उदाहरण दिया है। उनके अनुसार 'जीवित देवदत्त के गेहाभाव को देखकर उसके बहिर्भाव का ज्ञान' अर्थापत्ति-प्रमाण-स्थल है।[६६] और इस अर्थापत्ति का अन्तर्भाव भी अनुमान में हो जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष गेहाभाव के द्वारा अप्रत्यक्ष बहिर्भाव का अनुमान होता है, क्योंकि जो जो सत् होते हुए एक स्थल में नहीं होता वह तदन्य स्थल में होता है।' अतः सत् होते हुए 'गेहाभाव' रूप लिंग से बहिर्भाव रूप अनुमिति की उत्पत्ति होती है। पूर्वपक्षी यहाँ आपत्ति करते हैं कि 'जीवित देवदत्त का गृह में अभाव है' गृह भी देश है और अन्यत्र भी वह देशत्व है अतः उसका सर्वत्र अभाव है इसलिए बहिर्भाव का अनुमान सम्भव नहीं। परन्तु पूर्वपक्षी यह आपत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि शरीराभावच्छेदेन व्यक्ति की सत्ता कहीं न कहीं तो अवश्य होती है। यदि वह जीवित है तो उसका सर्वथा अभाव मानने पर उसकी सत्ता का ही अपलाप हो जायेगा तथा एक व्यक्ति का एक समय में सर्वत्र भाव भी सम्भव नहीं है। यद्यपि देशत्वेन सर्वत्र समानता है फिर भी गृह, बहि इत्यादि उपाधियों से वह उपहित होते हुए पृथक् भी हैं। पुरुष की सत्ता अव्याप्यवृत्ति धर्म है अतः एक साथ सर्वत्र उसका भाव सम्भव नहीं। अतः पूर्वपक्षी की उपुर्यक्त आशंका उचित नहीं है।

पुनः पूर्वपक्षी यह आक्षेप करते हैं कि भाव एवं अभाव दो विरोधी धर्म हैं एक ही समय में एक व्यक्ति का भाव और अभाव दोनों सम्भव नहीं है। यह आक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि अभाव का अधिकरण घर है तथा भाव का अधिकरण

गृह- अन्य स्थल है। अत: यहाँ सत्ता के द्वारा गेहाभाव का विरोध सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी आशंका करते हैं कि विशेष सामान्य पर आश्रित होता है अत: बहिदेश का सामान्य है देश सामान्य उस सामान्य में घर भी आ जाता है अत: वहाँ भी उसकी सत्ता की प्रसक्ति होगी किन्तु उसी घर में अभाव का प्रतिपादन किया गया है अत: यहाँ विरोधी है। पूर्वपक्षी की यह आशंका भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण द्वारा निश्चित गेहाभाव की सत्ता के विषय में संशय करके उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अथवा गेहाभाव दर्शन मात्र से उसकी बहिर्सत्ता के विषय में जो कि प्रमाण निश्चित है, अपलाप नहीं किया जा सकता। ऐसा मानने पर उसकी सत्ता का ही अपलाप हो जायेगा प्रमाण विनिश्चत स्थल में भी शंका करने पर प्रमाण मात्र के अवच्छेद का प्रसंग होगा। अत: गृहावच्छिन्न अभाव गृहावच्छिन्न सत्ता मात्र का विरोधी है तथा बहिर्सत्ता, बहि अभाव की विरोधी है सर्वत्र अभाव की नहीं। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित गेहाभाव के द्वारा 'सत्' जीवित देवदत्त की बहिर्सत्ता का अनुमान होता है। इस प्रकार प्रमाण होते हुए भी अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण से पृथक प्रमाण नहीं हैं।[६७]

अर्थापत्ति प्रमाण का प्रामाण्य-विचार : पूर्वपक्षी अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि वह अनैकान्तिक है।[६८] जो-जो व्यभिचारी होता है वह अप्रमाण होता है। अत: अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानने वाले पूर्वपक्षी आक्षेप करते हैं कि अर्थापत्ति का प्रामाण्य ही नहीं है क्योंकि वह व्यभिचारी है। उनका कथन है कि अर्थापत्ति का जो दृष्टान्त कहा गया है कि 'मेघ न रहने पर वृष्टि नहीं होती' इस वाक्य का ज्ञान होने पर 'मेघ रहने पर वृष्टि होती है' यह अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है, परन्तु यह दृष्टान्त व्यभिचारी है क्योंकि कभी-कभी मेघ रहने पर भी वर्षा नहीं होती अत: 'मेघ के रहने पर वृष्टि होती है' यह साध्य अथवा अर्थपत्ति प्रमाण का विषय, व्यभिचारी होने से अर्थापत्ति प्रमाण व्यभिचारी और अप्रमाण है।

इस प्रकार अर्थापत्ति के प्रामाण्य को अस्वीकार करने वाले पूर्व पक्षी के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वह अर्थापत्ति मात्र के प्रामाण्य का खण्डन कर रहे हैं अथवा अर्थापत्ति विशेष का? यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि अर्थापत्ति मात्र के प्रामाण्य का खण्डन किया जा रहा है तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि इससे 'अनैकान्तिकत्व' हेतु भी व्यभिचारी हो जायेगा। संसार में अनेक अर्थापत्ति प्रमाण ऐसे भी है जो ऐकान्तिक हैं और जिनका प्रामाण्य सर्वसम्मत है जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति दृष्टे श्रुतु वा रात्रिभोजनं कल्पयते।' इस अर्थापत्ति प्रमाण का प्रामाण्य सर्वजन स्वीकृत है अतएव अर्थापत्ति मात्र को अप्रमाण मानने पर 'अनैकान्तिकत्व' हेतु विरुद्ध सपक्ष-असत्व रूप दोष होगा।

अब यदि पूर्वपक्षी अर्थापत्ति-प्रमाण-विशेष का अर्थात् जो अर्थापत्ति अनैकान्तिक है उसके अप्रमाण्य का समर्थन करेंगे तो पूर्वपक्षी के विरुद्ध सिद्ध-साधन-रूप दोष दिया जायेगा क्योंकि सिद्धान्ती भी यही मानते हैं कि जो प्रमाण व्यभिचारी होता है वह अप्रमाण होता है।[६९]

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत प्रतिज्ञा वाक्य भी हेतु से रहित होने के कारण निरर्थक है।[७०] अर्थात् पूर्वपक्षी प्रतिज्ञावाक्य इस प्रकार कहते हैं कि जो-जो अनैकान्तिक अर्थापत्ति है वह अप्रमाण है और प्रस्तुत प्रतिज्ञा के लिए अनैकान्तिकत्व को हेतु देते हैं। जो (अनैकान्तिकत्व हेतु) प्रतिज्ञा यानि पक्ष अर्थापत्ति का विशेषण है अतएव अनैकान्तिकत्व हेतु नहीं हो सकता और हेतु से रहित प्रतिज्ञावाक्य होने से प्रतिज्ञवाक्य निरर्थक है। 'जो अर्थापत्ति प्रमाण व्यभिचारी है वह अप्रमाण है' इस प्रकार कहकर पूर्वपक्षी ने अव्यभिचारी अर्थापत्ति प्रमाणों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। अत: 'किंचित अर्थापत्ति-प्रमाण (अव्यभिचारी-अर्थापत्ति प्रमाण) का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए पूर्वपक्षी का अर्थापत्ति प्रमाण का प्रामाण्य नहीं है' रूप प्रतिषेध वाक्य अनुपपन्न है।

पूर्वपक्षी ने जिस अर्थापत्ति प्रमाण को लेकर इतना मत-विरोध उपस्थित किया है वह अर्थापत्ति वस्तुत: अर्थापत्ति नहीं है। वहाँ पूर्वपक्षी की अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का भ्रम हुआ है।[७१] अर्थापत्ति प्रमाण के प्रामाण्य का निषेध करते हुए पूर्वपक्षी का कहना है कि व्यभिचारी होने से अर्थापत्ति अप्रमाण है। ऐसे 'मेघ नहीं रहने पर वृष्टि नहीं होती' इनके ज्ञान होने पर 'मेघ रहने पर वृष्टि होती है' यह अर्थापत्ति से ज्ञात होता हैं यह दृष्टान्त व्यभिचारी है, क्योंकि कभी-कभी बादल रहने पर भी वर्षा नहीं होती। अत: अर्थापत्ति अप्रमाण है। किन्तु वस्तुत: पूर्वपक्षवादी की यह आपत्ति युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जो

अर्थापत्ति प्रमाण का विषय नहीं है उसे अर्थापत्ति का विषय मानकर अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का प्रतिषेध करते हैं। अर्थापत्ति का विषय मानकर अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का प्रतिषेध करते हैं। मेघादि के रहने पर भी वृष्टि का अभाव, वायुमेघ आदि संयोग रूप प्रतिबन्धक के कारण होता है, एवं वह प्रतिबन्ध मेघ रूप कारण का धर्म है, वह अर्थापत्ति प्रमाण का विषय नहीं है, अर्थापत्ति का विषय है 'कारण के रहने पर कार्य की उत्पत्ति।' प्रतिबन्धक नहीं रहने पर मेघादि कारण उपस्थित होने पर वृष्टि रूप कार्य होता ही है। अत: जो अर्थापत्ति का विषय ही नहीं है उसे अर्थापत्ति का विषय समझ पूर्वपक्षवादी द्वारा किया गया अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का निषेध युक्तिसंगत नहीं है।

'अनैकान्तिकत्व' हेतु के द्वारा अर्थापत्ति-प्रमाण-विशेष के प्रामाण्य का प्रतिषेध करने वाले पूर्वपक्षी का प्रतिशेष-वाक्य भी अनैकान्तिक है।[७२] और अनैकान्तिक होने से प्रस्तुत प्रतिषेध-वाक्य अप्रमाण है। फलतः प्रस्तुत प्रतिषेध वाक्य के द्वारा अर्थापत्ति विशेष का प्रामाण्य का खण्डन सम्भव नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादि प्रतिषध वाक्य अर्थापत्ति-प्रमाण की सत्ता का प्रतिषेध नहीं करता है जिससे अर्थापत्ति प्रमाण की सत्ता के स्वीकार का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि जो अनैकान्तिक होगा उसकी सत्ता भी नहीं रहेगी ऐसी बात नहीं है। अतएव अर्थापत्ति मात्र की सत्ता का प्रतिषेध प्रस्तुत प्रतिषेध वाक्य के द्वारा नहीं प्राप्त होने से प्रतिषेध वाक्य व्यभिचारी और अप्रमाण है।

पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करते हैं कि प्रस्तुत प्रतिषेधवाक्य व्यभिचारी और अप्रमाण नहीं है क्योंकि वह स्वविषय और सजातीय विषय से अतिरिक्त विषय में नहीं जाता है।[७३] अर्थात् प्रस्तुत प्रतिषेध वाक्य का विषय प्रामाणत्व है सत्त्व नहीं है। अत: यह प्रतिषेध-वाक्य प्रमाण के प्रामाण्य का खण्डन करने के लिए कृतार्थ होने से व्यभिचारी नहीं है अत: अप्रमाण भी नहीं है।

पूर्वपक्षी के आक्षेप का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि हमारा भी तो यही कहना है कि अर्थापत्ति प्रमाण अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह व्यभिचारी नहीं है।[७४] 'जो वस्तु स्वविषय और सजातीय विषय से अतिरिक्त विषय में जाती हैं' व्यभिचारी के इस लक्षण के अनुसार अर्थापत्ति-प्रमाण भी व्यभिचारी नहीं होगा, क्योंकि अर्थापत्ति का विषय इस प्रकार है- 'बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है' अर्थात् जहाँ कार्य की सत्ता हो वहाँ कारण की भी सत्ता हो। अत: मेघ के रहने पर भी यदि वृष्टि नहीं होती है तो अर्थापत्ति प्रमाण व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि 'कारण की सत्ता रहने पर ही कार्य की सत्ता रहता है' अर्थापत्ति प्रमाण का विषय नहीं है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण स्वविषय से अतिरिक्त विषय में नहीं जाता। अत: अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है।

प्रसिद्ध चार्वाक दार्शनिक जयराशि भट्ट ने पूर्वपक्ष में कुमारिल प्रणीत छः अर्थापत्तियों का व्याख्यान करते हुए अर्थापत्ति को अप्रमाण सिद्ध किया है। इन्होंने प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का खण्डन करने के उपरान्त अन्त में कहा है कि सभी अर्थापत्तियाँ प्रत्यक्षमूलक होने के कारण उसमें ही गतार्थ हो जाती है। इसलिये इसको स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[७५] वेदान्ती श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य ने भी वितण्डावादी दार्शनिक जयराशिभट्ट का समर्थन करते हुए अर्थापत्ति का निराकरण किया है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण न मानते हुए उसका अन्तर्भाव अनुमानादि में करते हैं।[७६] मोक्षाकारगुप्त के अनुसार भी अर्थापत्ति का पृथक् प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[७७]

संक्षेप में नैयायिकों में सूत्रकार, भाष्यकार, वार्तिककार, टीकाकार तथा परिशुद्धिकार आदि सभी ने इसे अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[७८] जयन्तभट्ट भी भाट्टमीमांसकाभिमत अर्थापत्ति को अनुमान में समाविष्ट करते हुए कहते हैं कि 'तेन विना न उपपद्यते' यही अर्थापत्ति प्रवृत्ति का बोधक वाक्य है किन्तु यह वस्तुतः व्याप्ति के ग्राहक व्यतिरेक का बोधक है। उक्त वाक्य 'तस्मिनसति उपपद्यते' इत्याकारक वाक्य का अन्वय होने पर ही उपपन्न हो सकता है। साध्य के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों हेतु में साध्य-व्यापकता के प्रयोजक हैं। ऐसी स्थिति में अर्थापत्ति अनुमान नहीं है यह नहीं कहा जा सकता।[७९] भासर्वज्ञ ने भी अविनाभाव बल के आधार पर अर्थ प्रतिपत्ति होने से इसे केवलव्यतिरेकी अनुमान का अपरनाम बतलाते हुए अनुमान में अन्तर्भावित किया है।[८०] तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने केवल श्रुतार्थापत्ति का उल्लेख करते हुए उसे

केवलव्यतिरेकी अनुमान में[८१] और विश्वनाथ ने 'न्यायसूत्रवृत्ति' में भाष्यकार का अनुमान करते हुए अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव स्वीकार किया है।[८२]

वैशेषिक सूत्रों में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव का कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु प्रशस्तपादभाष्य में अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है।[८३] जिसका अनुसरण शंकर मिश्र आदि सभी आचार्यों ने किया है।[८४] सांख्य दर्शन में अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भावित करने वाले सर्वप्रथम आचार्य माठर जान पड़ते हैं।[८५] माठर के पश्चात् गौड़पाद,[८६] वाचस्पति[८७] आदि सभी सांख्याचार्यों ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भावित किया है। इन सबके विपरीत मीमांसक[८८] और अद्वैतवेदान्तियों ने अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना है।

वस्तुत: अर्थापत्ति का उदय श्रुतियों के विरुद्ध प्रमाणों के विषय की व्यवस्था हेतु उनके अविरोध का आपादान करने के लिए ही हुआ है। जैसे, 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' और 'अग्निषोमीयं पशुमालम्भेत' ये दोनों श्रुतिवाक्य प्रमाण हैं, किन्तु दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि प्रथम के द्वारा हिंसा का निषेध और द्वितीय के लिए अर्थापत्ति की कल्पना मीमांसकों ने की जिसका समर्थन उत्तरमीमांसक होने के नाते अद्वैतवेदान्तियों ने भी किया। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि श्रुति के क्षेत्र में प्रायोजिका होने के कारण, कुमारिलभट्ट के साथ अर्थापत्ति को किसी न किसी रूप में प्रमाण माना भी जा सकता है।[८९] लेकिन लौकिक व्यवहार के लिए केवलव्यतिरेकी अनुमान द्वारा अर्थापत्ति का कार्य निष्पन्न हो जाने से उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

अभाव-प्रमाण के अनुमान में अन्तर्भाव का विचार : अर्थ क्रियाकारित्व को सत् का नियामक मानने वाले बौद्धों के मत में सर्व सामर्थ्यविरहित अभाव के प्रमेयत्व का ही अभाव है। अत: तद्ग्राहक प्रमाण का भी अभाव है, क्योंकि अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का ही ग्राहक प्रमाण होता है। अत: अभाव नामक प्रमाण का ही अभाव होने से उसके अनुमान में अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। चूँकि यह अभाव-ज्ञान सभी व्यक्ति को होता है और लोक में सभी व्यक्ति इसका व्यवहार करते हैं, अत: इसकी सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की कल्पनाएँ ही अभाव रूप में व्यवहृत होती हैं और प्रमाण कल्पना को विषय नहीं करता, अत: पूर्वपक्षी के मत में अभाव प्रमाण का ही अभाव है।[९०]

पूर्वपक्षियों का मत उचित नहीं है, क्योंकि जो वस्तु व्यवहार का विषय होती है उसकी काल्पनिक सत्ता स्वीकृत नहीं की जा सकती। यदि काल्पनिक अभाव को व्यवहार का विषय माना जाएगा तब मानमोदक एवं शषशृंग को भी व्यवहार का विषय मानना होगा। अत: अभाव को काल्पनिक मानने पर भी उसके प्रमाण विषयत्व की सिद्धि होती है।

पूर्वपक्षी जो 'नाभाव प्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः' प्रतिपादित करते हैं यह मत भी उचित नहीं है क्योंकि अभाव प्रमाण के स्वरूप के बिना समझे ही उपर्युक्त समाधान देते हैं। वस्तुत: प्रमाण नहीं है किन्तु अभाव (अभाव रूप प्रमेयविषयक ज्ञान) प्रमाण है। और इस अभाव का ज्ञान रूप अभाव प्रमाण का विषय भाव-पदार्थ है।[९१] यथा वृष्टि के अभाव का ज्ञान अभाव-प्रमाण है। और इस प्रमाण का विषय वायु-मेघ का संयोग है जो भाव रूप है। इस प्रकार अभाव प्रमाण का विषय भाव-रूप होने से उसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सम्भव है। भूतल में घटाभाव को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से देखकर उसके अभाव का ज्ञान होता है अत: अभाव ज्ञान रूप हेतु दर्शन प्रत्यक्ष का विषय है उस हेतु दर्शन से भाव पदार्थ का अनुमान होता है जैसे उपादानादि-बुद्धि रूप भाव पदार्थ का ज्ञान। अत: अनुमान की भाँति अभाव-ज्ञान रूप प्रमाण से अप्रत्यक्ष भाव-पदार्थ का ज्ञान होने के कारण प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में होता है। जैसे पर्वत में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से धूम की सत्ता का ज्ञान होने पर अप्रत्यक्ष वह्नि का अनुमान होता है। उसी तरह स्थल-विशेष में (इस प्रसंग में) वर्षा का अभाव देखकर उस अभाव-ज्ञान से अप्रत्यक्ष वायु-अभ्र-संयोग रूप भाव पदार्थ का ज्ञान अनुमान स्थल ही है।[९२] अत: अभाव प्रमाण का प्रामाण्य अप्रतिषिद्ध है जिसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में होता है।

सूत्रकार तथा भाष्यकार आदि के अनुसार ज्ञान का साधन ही प्रमाण कहलाता है अभाव के द्वारा भी अभावयुक्त वस्तु

का ज्ञान कराया जाता है तो अभाव को प्रमाण कैसे नहीं माना जायेगा? उदाहरण के लिए जहाँ बहुत से रंगे वस्त्रों में से बिना रंगे वस्त्रों को लाने के लिए कहा जाये तो लाने वाला जो उसी वस्त्र को ले आता है वह उव वस्त्र में विद्यमान 'रंग के अभाव' को देखकर ही लाता है। रंग के अभाव से ही उस बिना रंगे वस्त्र को वह गृहीतत्त्व समझता है इसलिए रंग के अभाव के बिना रंगे, वस्त्र को समझा जाता है। वह रंग का अभाव अपने आश्रयभूत वस्त्र को बोध कराने में साधन बनता है इसलिये ज्ञान-साधन होने के कारण 'अभाव' को प्रमाण मानना चाहिये।[९३]

अभाव-चतुष्टय स्थापना : तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र अभाव का चतुर्विध विभाजन स्वीकार करते हैं उनके अनुसार अभाव चार प्रकार का है प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं तादात्म्याभाव।[९४] यद्यपि भाष्यकार[९५] एवं वार्तिककार[९६] दो प्रकार के अभाव को ही स्वीकार करते हैं। भाष्यकार द्वारा 'अभावद्वैतम्' यह प्रकरण की अपेक्षा से कहा गया है वस्तुत: अभाव चार प्रकार का ही माना गया है प्रथमत: अभाव का द्विविध कथन तादत्म्याभाव एवं संसर्गाभाव करके संसर्गाभाव के तीन प्रकार प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव स्वीकार किये गये है।[९७]

यहाँ पूर्वपक्षी यह आक्षेप करते हैं कि 'बिना रंगे हुए वस्त्रों को ले आओ' इस सूत्रगत उदाहरण से भाव निरूपण के अधीन अभाव निरूपण रूप अर्थ का ग्रहण करके केवल मात्र प्रध्वंसाभाव की ही सत्ता मानते हैं। उनका तर्क है कि भाव निरूपण के अधीन अभाव निरूपण होता है। अत: प्रध्वंसाभाव के पूर्व विषय रूप भाव की सत्ता सम्भव होने से एकमात्र वही अभाव है। प्रागभावादि स्थल में पूर्व विषय का अभाव होने से उसका निरूपण भी सम्भव नहीं है। सूत्र इसी मत का समर्थन करता है। अत: केवल मात्र एक प्रकार का ही अभाव है।

पूर्वपक्षी का यह आक्षेप-स्वरूप की अज्ञानता के कारण प्रयुक्त हुआ है। अभाव ज्ञान प्रत्यक्षाश्रित है भूतल में घटाभाव को देखकर घटाभाव विषयक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह प्रत्यक्षत्वमूलता प्रध्वंसाभाव की भाँति अन्य तीन प्रागभावादि में भी होती है, क्योंकि वहाँ भी प्रमेय के अभाव का व्यवस्थापन प्रत्यक्ष ही करता है। जिस प्रकार दूध के नष्ट होने पर जब दधि की उत्पत्ति होती है तो वहाँ दूध के प्रध्वंसाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। उसी प्रकार दूध को देखकर उसमें प्रत्यक्ष के द्वारा दध्यभाव की बुद्धि होती है जो प्रागभाव का उपपादक है।

पूर्वपक्षी पुन: आक्षेप करता है कि सूत्र में भाव निरूपण के अधीन अभाव निरूपण निरूपित किया गया है। यह स्थिति केवल मात्र प्रध्वंसाभाव में ही सम्भव है अत: सूत्र के द्वारा एक प्रकार का अभाव उक्त है इससे अन्य अभाव की सत्ता मानने पर सूत्र व्याघात दोष होगा।

पूर्वपक्षियों का यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि सूत्र में व्यतिरेक मुखेन अभाव की उपपत्ति दिखाई गई है। अत: यहाँ भाव निरूपण को विषय किया गया है। लक्षण के अदर्शन के द्वारा लक्षणभाव-ज्ञान भी उपलक्षित होता है। अत: इससे ही प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव दोनों लक्षित होते हैं।

पुन: पूर्वपक्षी अभाव के निरूपण की अशक्यता की आपित्त करते हैं। उनके अनुसार भाव निरूपण के अधीन अभाव का निरूपण होने के कारण इस अभाव का निरूपण ही अशक्य है। भाव एवं अभाव दोनों विरोधी धर्म हैं। दोनों की सत्ता एक साथ सम्भव नहीं हो सकती। अत: भाव के साथ अभाव की प्राप्ति न होने के कारण भावनिरूपणाधीन अभाव निरूपण भी सम्भव नहीं है। अत: अभाव निरूपण अशक्य है।

पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि भाव निरूपण के अधीन निरूपण नहीं होता, अपितु भाव-ज्ञान के द्वारा अभाव-ज्ञान का निरूपण होता है। यह भाव-ज्ञान उसी भाव-पदार्थ से उत्पन्न हो यह आवश्यक नहीं अन्यत्र स्थित भाव-पदार्थ से भी भाव-पदार्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न होने पर अन्यत्र उसके अभाव का दर्शन होने पर अभाव ज्ञान सम्भव है। अत: प्रागभावादि अभावों की सत्ता की आपत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार परमार्थत: अभाव चार प्रकार है किन्तु पहले इनको दो भागों में बाँटा गया है- तादात्म्याभाव एवं संसर्गाभाव। पुन: संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का सम्भव है-प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अत्यन्ताभाव। इस प्रकार चार प्रकार के अभाव के भेद सम्भव हैं। इन अभावों को अनुमान

में अन्तर्भाव होता है। सम्भव रूप प्रमाण की उत्पत्ति भी अविनाभावयुक्त व्याप्ति के द्वारा होने के कारण उसका अन्तर्भाव भी अनुमान में होता है।

प्रसिद्ध चार्वाक दार्शनिक जयराशिभट्ट[९८] 'वेदान्ती श्रीहर्ष'[९९] ने अनेक सूक्ष्म युक्तियों के द्वारा अभाव प्रमाण का खण्डन किया है। बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित[१००] और मोक्षाकर गुप्त[१०१] ने अभाव प्रमाण का खण्डन करते हुए उसे प्रत्यक्ष से अभिन्न माना है। संक्षेप में नैयायिकों में न्यायसूत्रकार गौतम ने इसे अनुमान में सन्निविष्ट किया है।[१०२] भाष्यकार वात्स्यायान भी अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं क्योंकि कार्य की अनुपपत्ति से कारण के प्रतिबन्धक का ज्ञान अनुमान ही है।[१०३] अभाव का अन्तर्भाव किस अनुमान में होता है इस जिज्ञासा के उपशमन के लिए उद्योतकर ने लिखा है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान में अभाव का अन्तर्भाव होता है।[१०४] वाचस्पति मिश्र ने भी यही बात कही है।[१०५] यद्यपि विश्वनाथ अपनी न्यायसूत्रवृत्ति में अभाव का अन्तर्भाव सामान्यतोदृष्ट अनुमान से करते हुए लिखते हैं कि 'अभाव व्याप्ति सापेक्ष होने के कारण अनुमान से अतिरिक्त प्रमाण नहीं है।'[१०६] किन्तु 'सिद्धान्तमुक्तावली' इन्होंने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में किया हैं।[१०७] यह आश्चर्यजनक बात है कि उद्योतकर और उनके टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने संयोग, संयुक्त-समवाय आदि सन्निकर्ष के अन्तर्गत अन्तिम छठे विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष की कल्पना अभाव प्रतीति के लिये करने के बाद भी, उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं, प्रत्युत भाष्यकार की भाँति अनुमान में ही किया है, किन्तु उदयन एवं उसके परवर्ती (उत्तरवर्ती) केशव मिश्र आदि आचार्यों ने अभाव का अन्तर्भाव इसी विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष में किया है।[१०८] इन दोनों का समन्वय करते हुए जयन्तभट्ट ने अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष में समाहित करने का प्रयास किया है।[१०९] भासर्वज्ञ ने अभाव प्रतिपत्ति को आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष तीनों में समाहित किया है जैसे कौरव आदि के अभाव का आत्मादि में रूप के अभाव का एवं भूतल में घट के अभाव का ज्ञान क्रमशः आगम, अनुमान, प्रत्यक्ष में समाविष्ट किया जा सकता है।[११०] इस प्रकार नैयायिकों ने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों में किया है।

वैशेषिक सूत्र में अभाव का अन्तर्भाव विवेचन उपलब्ध नहीं है, किन्तु प्रशस्तपाद ने वात्स्यायन की तरह अभाव को अनुमान में अन्तर्भावित माना है।[१११] किन्तु न्यायकन्दलीकार ने अनुमान में अभाव का अन्तर्भाव ज्ञापन करने के बाद विशेषण विशेषभाव रूप से अभाव का प्रत्यक्ष में ही समाहित किया है।[११२] शंकर मिश्र ने भी वैशेषिक सूत्र[११३] की व्याख्या की व्याख्या में अभाव को अनुमान और प्रत्यक्ष में अन्तर्भावित माना है।[११४] इस प्रकार वैशेषिक दार्शनिकों ने अभाव को प्रत्यक्ष अनुमान में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया है।

प्रभाकर के मत में अधिकरण से अतिरिक्त अभाव नामक कोई प्रमाण न होने से अभाव को पृथक् प्रमाण नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

सांख्य दार्शनिक माठर ने अभाव के चतुर्विध विभाजन के साथ उसका अनुमान में अन्तर्भाव माना है।[११५] गौड़पाद ने चारों भेदों का उदाहरण सहित वर्णन करते हुए अभाव को शब्द में अन्तर्भावित करने का संकेत किया है।[११६] वाचस्पति मिश्र ने अभाव को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत माना है।[११७] इस प्रकार सांख्य दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाण में अभाव प्रमाण को समाहित करने का प्रयास करते हैं।

कुमारिल भट्ट विभिन्न युक्तियों के आधार पर अभाव के स्वतन्त्र प्रामाण्य का उल्लेख करते हैं।[११८] जिनका पूर्णतः समर्थन पार्थसारथि मिश्र ने किया है।[११९] वेदान्ती अभाव प्रमाण का उल्लेख स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में करते हैं।

अतः स्पष्ट है कि दृढ़ वेदानुयायी होने के कारण भाट्मीमांसक और वेदान्ती इसे पृथक् प्रमाण स्वीकार करते हैं। कुमारिल ने कहा भी है कि (अनुपलब्धि) अभाव प्रमाण के बिना समस्त (वैदिक और लौकिक) कर्मों के साथ फलों के संकर का अभाव, परस्पर संकर का अभाव, अंग-अंगी भाव का अभाव आदि तथ्य निर्धारित नहीं किये जा सकते।[१२०] इसलिये वैदिक क्षेत्र में वैदिक प्रक्रिया को भली-भाँति समझने के लिये अभाव को किसी सीमा तक पृथक् प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु लौकिक व्यवहार में इसे वात्स्यायन उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र समर्थित अनुमान प्रमाण में समाहित करना ही न्यायमत प्रतीत होता है।

संदर्भः

१. न्यायसूत्र १.१.३.
२. न्यायवार्तिक, १.१.३.
३. न्यायभाष्य, १.१.३.
४. न्यायभाष्य, १.१.३.
५. वैशेषिकसूत्रोपस्कारः, पृ. २१५, द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. ४१४.
६. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. ३०९-३३०.
७. उपायहृदय, पृ० १३-१४, द्र०, भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. ४१४.
८. प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ. ३०९-३३०.
९. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्। त्रिविधम्प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणादि । सांख्यकारिका,४
१०. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणनि। न्यायसूत्र, १.१.३.
११. न्यायसूत्र, पृ. ९.
१२. शाबर भाष्य, पृ. २१-२२, ३३-३९.
१३. तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्यनुपलब्धिभेदात्। पप्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्यनु- पलब्धिभेदात्।- वेदान्तपरिभाषा, पृ. २०.
१४. माठर वृत्ति, पृ. ८.
१५. गौड़पाद भाष्य, पृ. ११.
१६. तत्त्वोपल्लव सिंह, पृ. ३
१७. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १.१.३, पृ. ९२.
१८. वही, १.१.५, पृ. ११३.
१९. वही, १.१.६, पृ. १७१.
२०. वही, १.१.६, पृ. १७२.
२१. वही, २.१.४९, पृ. ५३४.
२२. न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भावप्रामाण्यात्। न्यायसूत्र, २.२.९.
२३. अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः। न्यायभाष्य, २.२.१, पृ. ५७३.
२४. अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः-आपत्ति-प्राप्तिःप्रसंगः। न्यायभाष्य २.२.१, पृ. ५७३, न्यायवार्तिक वही।
२५. अभावो विरोध्यभूतं भूतस्य। न्यायभाष्य २.२.१, पृ. ५७४.
२६. अभावो नाम प्रत्यनीकरस्य ग्रहणात् तद्विरोधिनोग्रहणम्। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.१, पृ. ५७४.
२७. सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्थ सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्। न्यायभाष्य, २.२.१, पृ. ५७४.
२८. सम्भवो नामाविनाभाववर्त्तिनोऽर्थस्य ग्रहणादन्यसत्ताविज्ञानम्। न्यायवार्तिक, २.२.१, पृ. ५७४.
२९. न्यायभाष्य, २.२.१, पृ. ५७४.
३०. इतिहोचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपाज्ञक्पर्यमेतिह्यम्।-न्यायभाष्य, २.२.१, पृ. ५७३.

३१. किमिदमैतिह्यं नाम? अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्, 'इति होचुः' वृद्धाः कथयन्तीति। न्यायवार्तिक, २.२.१, पृ. ५७३.

३२. तान्येतान्यैतिह्यादीनि एवक्भूतानीतिलक्षणाभेदादेतेष्वेवान्तर्भवन्ति इति न पृथुमुच्यते। न्यायवार्तिक, २.२.२, पृ. ५७५.

३३. अथ प्रयोजनभेदाद् भिद्यन्त इति मन्यसे, एवं तह्यष्टत्वं निवर्तते। न्यायवार्तिक, २.२.२, पृ. ५७५.

३४. शब्द ऐतिह्यानर्थन्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति सम्भवानर्थान्तरऐतिह्यानर्थन्तरभावाप्रतिषेधः। न्यायसूत्र, २.२.२.

३५. यद्येतानि प्रमाणानि न प्रमाणान्तराणि क्व तर्ह्यन्तर्भवन्तीति वक्तव्यम्। न्यायवार्तिक, पृ. २७५.

३६. शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्ति सम्भवाभावानार्थन्तरभावाच्चाप्रतिषेधः। न्यायसूत्र २.२.२.

३७. आप्तोपदेशः शब्दः इति। न च शब्दलक्षणमैतिह्याद्‌चावर्तते। न्यायभाष्य २.२.२, पृ. ५७५.

३८. ऐतिह्यस्य चागमे अन्तर्भावः। तस्य च प्रमाण्यं न सम्भवति, नानुमानान्तर्गतस्य नापि स्वतन्त्रस्य। तत्त्वोपल्लवसिंह, पृ. ११३.

३९. ऐतिह्यप्रतिभादीनां भूयसा व्यभिचारिता। नैवेदृशां प्रमाणत्वं घटतेऽतिप्रसंगतः।। तत्त्व. कारिका १६९९.

४०. शब्दऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थन्तरभावाचचाप्रतिषेधः। न्यायसूत्र २.२.२.

४१. न्यायभाष्य, २.२.२, पृ. ५७५-५७७.

४२. न्यायवार्तिक पृ. ५७५-५७७.

४३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२ पृ. ५७५-५७७.

४४. न्यायसार, पृ. ११६.

४५. न्यायमंजरी, पृ. ५९.

४६. न्यायसूत्र वृ०, पृ. ५७६.

४७. अविनाभाववृत्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिन्तेः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः तदप्यनुमानमेव। न्यायभाष्य २.२.२, पृ. ५७७-५७८.

४८. संभवस्य अनुमानेऽतरीभावसम्ब्धैकनिमित्रमर्दने (?) सति अर्थान्तरे प्रतिपत्तिरनुमानम्। तत्त्वो, पृ. ११३.

४९. समुदायव्यवस्थाया हेतवः समुदायिनः। शतादिसम्भवज्ञानं सहस्रात कार्यलिंगजम्।। तत्त्वो० का० १६९८.

५०. न्यायसूत्र २.२.२.

५१. अविनाभाववृत्या तदव्यनुमानमेव, न्यायभाष्य, २.२.२. पृ. ५७७.

५२. न्यायवार्तिक २.२.२. पृ० ५७८, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.२. पृ. ५७८. न्यायसार, पृ. ११४., न्यायमंजरी, पृ. ५९. न्यायसूत्र वृत्ति पृ. ५७८.

५३. प्रशस्तिपाद भाष्य पृ. ३२६.

५४. व्यो. व. पृ. ५९१, द्रष्टव्य, भा. अ. पृ. ४५०.

५५. किरणावली, पृ. ३२६, न्याय क. पृ. ५४२, उप. पृ. २२७, द्रव भा. अ. पृ. ४५०. श्लोकवार्तिक अभाव श्लोक ५८.

५६. माठरवृत्ति पृ. ८.

५७. न्यायसूत्र २.२.२.

५८. वाक्यार्यसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रयत्नीकभावाद् ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव। न्यायभाष्य २.२.२, पृ. ५७६.

५९. द्वयोरेकतरप्रतिषेधस्य द्वितीयाम्यनुज्ञाविषत्वात्। यत्र-यत्र, न्यायवार्तिक २.२.२, पृ. ५७६.

६०. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२, पृ. ५७६.

६१. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२, पृ. ५७७.

६२. न्यायमंजरी

६३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२, पृ. ५७७.

६४. कतमदेवानुमानम्? सामान्यतोदृष्टम्। न्यायवार्तिक, २.२.२, पृ० ५७८. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२, पृ. ५७८.

६५. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.६, पृ. ५८१.

६६. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका २.२.२, पृ. ५८२.

६७. अर्थापत्तिप्रमाणमनैकान्तिकत्वात्। न्यायसूत्र, २.२.३.

६८. अर्थापत्तिमात्रस्य पक्षीकरणे-तदाऽभ्युपगमः। न्यायवार्तिक २.२.३, पृ. ५७८.

६९. हेतुश्च नास्ति-हेतो, प्रतिज्ञाविशेषणत्वात्। न्यायवार्तिक २.२.३, पृ. ५७९.

७०. अन्र्थापत्तावर्थापत्यभिमानात्। न्यायसूत्र २.२.४.

७१. प्रतिषेधप्राणमाण्यं चानैकान्तिकत्वात्। न्यायसूत्र २.२.५.

७२. अथ मन्यसे न प्रतिषेधस्य सत्त्वं विषयः किं तु प्रमाणत्वम्, सोऽयं प्रतिषेधः स्वविषये प्रवर्तमानों नानैकान्तिको भवितुमर्हतीति। न्यायवार्तिक, २.२.६, पृ. ५८१.

७३. यदि स्वविषयतज्जातीययान्यवृत्तिरनैकान्तिक इति मन्यते? अर्थापत्तिरणि तह्र्यनेकान्तिकी न भवति, न ह्यसति कारणे कार्यमुत्पयमानं दृष्टमिति। न्यायवार्तिक २.२.६, पृ. ५८१.

७४. तत्त्वोपल्लवसिंह, पृ. १०९-१०.

७५. वही, पृ. ११८५-१६४६.

७६. बौद्ध तर्कभाषा, पृ. २०.

७७. न्यायसूत्र, भाष्य वार्तिक, तात्पर्यटीका २.२.२.

७८. न्यायमंजरी, पृ. १३७-३८.

७९. न्यायसार, पृ. १११-१३.

८०. तर्कभाषा, पृ. ११५-१६.

८१. न्यायसूत्र वृ., पृ. ५७७-७८.

८२. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. ३२३.

८३. वैशेषिकसूत्रोपस्कारः, वही, पृ. ५०९.

८४. माठरवृत्ति, पृ. ८.

८५. गौड़पाद भाष्य, पृ. १०.

८६. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ. ५४-५६.

८७. श्लोकवार्तिक अर्था. श्लो., पृ. १०-२९.

८८. श्लोकवार्तिक अर्था. श्लो., पृ. ८७-८८.

८९. नाभावं प्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः न्यायसूत्र २.२.७.

९०. कश्चैवमाहाभावः प्रमाणम्, अपि त्वभावविषया प्रतिपत्तिः प्रमाणम्, तथा प्रमीयतेति कः पुनरस्य विषयः? भाव इत्युक्तम् न्यायवार्तिक, २.२.२, पृ. ५८३, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.७, पृ. ५८३.

९१. अभावो हि प्रमेयमुच्यते न तत्स्वरूपेण प्रमाणमपि तु तद्विषया प्रतिपत्तिः सा च प्रत्यक्षफलमुपादानादिबुद्धौ प्रमाणं यथाऽग्रे तथा वक्ष्यते। वर्षाभावप्रत्ययस्तु वाय्वभ्रसंयोगेऽनुमानमुक्तम्। न्याययवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.७, पृ. ५८३.

९२. सूत्र-भाष्य-वार्तिक-तात्पर्यटीका, २.२.८, पृ. ५८४.

९३. ...चतस्रो विधा अभावस्येति। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.१२, पृ. ५८७.

९४. अभावद्वैतम्...। न्यायभाष्य, २.२.१२, पृ. ५८७.

९५. अभावद्वैतम् खलु भवति प्रागुत्पत्तेरविधमानाता ऊर्ध्व च विनाशादविद्यमानतेति न्यायवार्तिक, २.२.१२, पृ. ५८७.

९६. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२.१२, पृ. ५८७.

९७. तत्त्वो. पृ. ११२-११३.

९८. खण्डन, पृ. ३०९-१४.

९९. तत्त्वोपल्लवसिंह, का., १६६०-९१

१००. बौद्ध तर्कभाषा, पृ. २०.

१०१. न्यायसूत्र, २.२.२.

१०२. न्यायभाष्य, २.२. २, पृ. ५७७.

१०३. न्यायवार्तिक, २.२. २, पृ. ५७८.

१०४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, २.२. २, पृ. ५७८.

१०५. न्यायसूत्र, पृ. ५७८.

१०६. सिद्धा०मु०, ३, पृ. १९१.

१०७. न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

१०८. न्याय कु०, ३.२२, ता. भा., पृ. ११७-२५.

१०९. न्यायमंजरी, पृ. ४८-५१.

११०. न्याय सार, पृ. ११४.

१११. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ३२६.

११२. न्याय क०, पृ. ५४३-४४, द्र. भा अ., पृ. ५४०.

११३. वै. सू., ९.२.५.

११४. उप., पृ. ५१०-११.

११५. माठरवृत्ति, पृ० ८.

११६. गौड़पादभाष्य, पृ. ५७.

११७. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ. ५७.

११८. श्लोकवार्तिक अभाव. श्लो., १७-४४, ५३-५४.

११९. शास्त्रदीपिका, पृ. २४३-४६.

१२०. श्लोकवार्तिक, अभाव. श्लो. ५६.

***

गुजरात की दार्शनिक परम्परा में नरसी मेहता का योगदान

भूपेन्द्र एम. गजेरा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा, आज के सन्दर्भ में, धर्म और विज्ञान जैसे अनुभव तथा ज्ञान के क्षेत्र के बीच समन्वय स्थापित करने वाली रही है। उसका एक छोर धर्म, अध्यात्म तथा रहस्यानुभूति के साथ जुड़ा है, तो दूसरा छोर उस देश-काल से संलग्न है, जिसे विज्ञान प्रत्यक्ष जगत् कहता है। जहाँ तक दार्शनिक भारत का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी संस्कृति का पताका एक समान अखण्ड भारत में लहराता हुआ दिखता है। गुजरात का दार्शनिक चिन्तन हो या दक्षिण भारत का, उनमें ऊपरी भौगोलिक तथा भाषागत भिन्नता के भीतर एक ही अनुभूति प्रवाहित दिखती है। इस हकीकत की प्रतीति कबीर, एकनाथ, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, मीराबाई, नरसी मेहता, पद्मनाभ, नानक, प्रेमानन्द आदि संतों के दार्शनिक चिंतन में होती है। गुजरात की संत परम्परा में नरसी मेहता आदिकवि के रूप में जाने जाते है। उनके पदों में व्यक्त विचार अधिकांशतः भक्ति, सामाजिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक विचारधारा के रूप में व्यक्त हुए हैं। नरसी मेहता का समय सन् १४१० से १४८० के बीच माना जाता है। स्वर्णिम गुजरात का स्वर्णत्व नरसी मेहता जैसे संत द्वारा स्थापित आध्यात्मिक और नैतिक आधारशिला पर टिका हुआ है।

ज्ञानेश्वर, मधुसूदन या श्रीधर को जैसे अद्वैतवादी माना जाता है, वैसे ही नरसी मेहता किसी एक सम्प्रदाय के नहीं माने जा सकते; क्योंकि नरसी द्वारा एकांत, संयम, समता, ध्यान, उपासना, कर्म तथा संन्यास का मार्ग स्वीकार करने पर भी उनकी अंतिम गति लीलाधर कृष्ण की तरफ ही थी। जीवन-व्यवहार जैसे चलता है, वैसे ही चलता रहे; फिर भी व्यक्ति के आंतरिक स्वरूप तथा उसके प्रयोजन को बदल देने वाली निष्ठा की अभिव्यक्ति करके नरसी मेहता ने एक विश्वदर्शन प्रस्तुत किया। इसमें कोई संदेह नहीं। नरसी स्वयंभू भक्त थे; क्योंकि उनकी कोई गुरु परम्परा नहीं है। फिर भी, उन पर भागवत तथा गीतगोविंदकार जयदेव का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। ऐसा माना जाता है कि जयदेव के प्रभाव से ही उनमें शृंगार भक्ति का विकास हुआ।

सरमां सार शृंगाररस कीधलो, ये तणी जाण थई मुख मोडे।
ए रस शुकदेव-जयदेवे चाखियो, नाथ लक्ष्मी तणो हाथ ओडे।।

वैसे तो भक्ति का बीज ठेठ प्राचीन युग में देखने को मिलता है। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य आदि प्रभाव वाले युग में भक्ति अपनी सोलह कलाओं से खिली थी। 'हुं खरो, तुं खरो, हुं बिना तुं नहीं।' (मैं हूँ, तू है, मेरे बिना तू नहीं)। नरसी की यह उक्ति द्वैतभाव की प्रतीति कराती है। भक्तिमार्ग में ईश्वर को पुरुष तथा भक्त को स्त्री माना जाता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम के माध्यम से उत्कट ईश्वर-प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है। नरसी मेहता भक्ति के अन्य रूपों की तुलना में 'प्रेमलक्षणा भक्ति' को श्रेष्ठ मानते हैं।

नवधामां नव निवेडो, तो दशधामां देखायो रे।
अचव्यो रस छे एनी पासे, ते प्रेमी जनने पायो रे।।

इस प्रकार नरसी मेहता स्वयं ही नौ प्रकार की भक्ति के अतिरिक्त भक्ति के एक दसवें प्रकार यानी प्रेमलक्षणा भक्ति का वर्णन करते हैं। प्रेमरस का पान करने की इच्छा वाले नरसी मेहता द्वैत के तीर से अद्वैत को बेधते हुए कहते हैं-

प्रेमरस पाने तुं मोरना पिच्छधर! तत्त्वनुं टूंपणुं तुच्छ लागे।

वे अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति की पराकष्ठा का अनुभव करते हुए कहते हैं-

पुरुष पुरातन लीन थयुं माहरुं, सखी रूप थयो मध्य गावा।
देहदशा टळी, मांहे रह्यो भली, दुती थई मानिनीने मनावा।

द्वैत में प्रेम तथा अद्वैत में ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर अलग नहीं रह सकते। यह तो भक्त का ऊर्ध्वगमन है। भगवद्गीता में भी भगवान कृष्ण कहते हैं कि मुझे ज्ञानी भक्त प्रिय हैं। कृष्ण के इस कथन को नरसी की इस आध्यात्मिक अनुभूति का थर्मामीटर कहा जा सकता है।

नरसी मेहता ने भले ही अद्वैत के सिद्धान्तों का वर्णन शास्त्रीय पद्धत्ति से न किया हो, परन्तु वे अद्वैत की अनुभूति करते हैं, इसमें कोई शंका नहीं। वे पाश्चात्य अर्थ में दार्शनिक नहीं हैं। उन्होंने क्रमबद्ध रूप से विधिवत किसी सिद्धान्त का उपस्थापन भले न किया हो, फिर भी, उनके पदों में आर्षवाणी व्यक्त हुई है। यह आर्षदर्शन स्वतःस्फूर्त है। सकल ब्रह्माण्ड में ब्रह्म का दर्शन करने वाले नरसी मेहता अद्वैत के दुर्बोध प्रश्नों का भी उत्तर देते हैं। उस परमतत्त्व का स्वरूप कैसा है? और उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? शंकराचार्य की 'ब्रह्मसत्यं ...' की अनुभूति नरसी मेहता के अखिल ब्रह्माण्डमां एक तुं श्रीहरि' में व्यक्त होती है। श्रीहरि (ब्रह्म) जगत् में विविध रूपों में दिखाई देते हैं। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की आर्षद्रष्टा ऋषि नरसी मेहता भी अनुभव करते हैं। वे मानते हैं कि ऐसे परमतत्त्व का दर्शन चर्मचक्षु से नहीं हो सकता; क्योंकि वह इन्द्रियगोचर नहीं है। उसे देखने के लिए अंतर्दृष्टि खुलनी चाहिए- नीरखने गगनमां कोण घूमी पह्यो, ते ज हुं ते ज हुं शब्द बोले।

ब्रह्म कहता रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में मानो भगवद्गीता की वाणी का उच्चारण करते हों, इस तरह नरसी मेहता कहते हैं - 'आद्य तुं मध्य तुं तुं त्रिकमा।' इस सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में परमतत्त्व है। वह अनादि है और अनंत भी है। ब्रह्माण्ड में वही एक सच्चा तत्त्व है। वेदों ने नेति-नेति कहकर ब्रह्म का निषेधात्मक वर्णन किया है, जबकि नरसी मेहता सकारात्मक ढंग से ब्रह्म का वर्णन करके उसे प्राप्त कर लेने की प्रतीति कराते हैं। यह स्वाभाविक है कि एक भक्त को मात्र वर्णन से संतोष नहीं हो सकता- 'मर्म समज्या बिना भ्रम भांगे नहीं।' इस कथन से यह समझा जा सकता है कि उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार हुआ था।

नरसी मेहता शंकराचार्य की भाँति ब्रह्म को सनातन और सर्वस्व स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य की तरह वे भी जगत् को माया स्वरूप मानते हैं, परन्तु मिथ्या नहीं मानते। उनके 'कनक कुंडल विशे भेद न होये' पद में इस तथ्य का स्वीकार देखा जा सकता है। जगत् के नाना रूप भिन्न-भिन्न होने पर भी अंतत: 'घाट घड्या पछी नामरूप जुजवां, अंते तो हेमनुं होये।' अलंकारों (आभूषणों) के अनेक रूप होने पर भी उन सब में अंततः सोना ही होता है। जगत् ब्रह्म का परिणाम होने पर भी उसके मूल में ब्रह्मतत्त्व का होना स्वीकार करते हैं। जगत् के सम्बन्ध में नरसी मेहता का विचार वल्लभाचार्य के विचार से समानता रखता है। उनके अनुसार जगत् जगत् के रूप में भासित होता है, परंतु मिथ्या नहीं है। और फिर, नरसी मेहता ब्रह्म और ईश्वर के बीच कोई भेद नहीं मानते। इसलिए सगुण है या निर्गुण अथवा ब्रह्म निराकार है या साकार- ऐसे शास्त्रीय प्रश्नों के लिए अवकाश नहीं रहता। वे अपने एक पद में कहते हैं- 'सच्चिदानंद आनंद क्रीड़ा करे, सोनाना पारणा मांहि झूले' और 'सगुण स्वरूप निर्गुण एनुं।' इससे स्पष्ट होता है कि निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ईश्वर है। दोनों के बीच कोई भेद नहीं है। नरसी मेहता के मतानुसार ईश्वर-प्राप्ति का जितना महत्त्व है, उतना उसके तत्त्वचिंतन का नहीं है; और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे संत हैं, भक्त हैं और ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग प्रेम है।

नरसी मेहता प्रचलित एवं परम्परागत धर्म की भी कठोर टीका करते हैं और उसके आध्यात्मिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ईश्वर-प्राप्ति का सच्चा मार्ग आत्मचिंतन है। आत्मचिंतन के अभाव में किए जाने वाले कर्मकाण्ड और विधि-विधान को प्रपंच कहते हैं- 'ज्यां लगी आतम तत्त्व चीन्यो नहि, त्यां लगी साधना सर्व जूठी।' आत्मखोज के बिना ईश्वर प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'प्रभुजी छे पासे रे, हरि नथी वेगळा रे, आडो रे पड्यो छे अहंकार।' जहाँ तक अहंकार रहेगा वहाँ तक प्रपंच होगा और 'आथड्यो एम अनंत कोठे।' जन्म-जन्मान्तर तक आत्मज्ञान नहीं होता- न ईश्वर की प्राप्ति होती है। शंकराचार्य की 'पुनरपि जन्मम् पुनरपि मरणम्' की भावना को व्यक्त करते हुए नरसी मेहता कहते हैं कि जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है। नरसी मेहता के मतानुसार पोथी-पंडित होने की तुलना में जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए जीवन के विशुद्धीकरण द्वारा आत्मस्वरूप को जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वे श्रवण, मनन, निदिध्यासन जैसी वैदिक प्रक्रिया में पड़े बिना ईश्वर का नाम-स्मरण, ममता का त्याग, वैराग्य को आत्मस्वरूप के सच्चे दर्शन का मार्ग मानते हैं। उनके एक पद में यह भावना व्यक्त होती है- 'समरने श्रीहरि, मेल्य ममता परी, जोने विचारीने मूळ तारुं।'

प्रभुभक्ति में मस्त रहने वाले नरसी मेहता कर्म और धर्म में भी भेद मानते हैं। भारतीय दर्शन में कर्म का सिद्धांत प्रत्येक सम्प्रदाय में अलग-अलग ढ़ग से वर्णित है। नरसी मेहता भी कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। सामान्यतः कर्म का नियम अटल माना जाता है। जैसा कर्म वैसा फल प्राप्त होता है। परन्तु नरसी मेहता को ईश्वर में अटूट श्रद्धा है। इसलिए वे मानते हैं कि ईश्वर की भक्ति पुराने कर्मों को भस्म कर डालती है- 'पूर्वना कर्म ज हरि भजे नव टळे, तो कहो कोण ते काम करशे?' इस कारण उनके लिए स्वधर्म ही उत्तम मार्ग है। भगवद्गीता की भावना को व्यक्त करते हुए नरसी मेहता स्वधर्म की हिमायत अपनी विशिष्ट शैली में करते हैं- 'आपणे आपणां धर्म संभाळणा, कर्मनो मर्म लेवो विचारी।' कर्म का मर्म सोच-समझकर स्वधर्म का आचरण करने वाले मनुष्य को ही वे वैष्णवजन कहते हैं। भगवद्गीता में अर्जुन भगवान से प्रश्न पूछते हैं कि स्थितप्रज्ञ मनुष्य कैसा आचरण करते हैं? गीता में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण वर्णित किए गए हैं, वैसे ही नरसी मेहता ने अपने वैष्णवजन में पाए जाने वाले सच्चे वैष्णव धर्म के लक्षणों का वर्णन किया है-

वैष्णवजन तो तेने कहिए, जे पीड पराई जाने रे;
परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ...

सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाछ, काछ, मन निर्मल राखे, धन धन जननी तेनी रे ...

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ...

मोह माया व्यापे नहीं तेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनाम शुं ताळी, शकल तीरथ तेना तनमां रे ...

वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणै नरसैंयो तेनुं दरशन करतां, कुल इकतोरे तार्या रे ...

नरसी मेहता के इस पद में मुक्त रूप से और चिंतन-मनन की भूमिका पर पहुँचकर विचार करने से उसकी अद्भुत् अर्थगंभीरता का अनुभव होता है। सर्वप्रथम तो उसमें मौजूद सार्वजनिकता और धर्मनिरपेक्षता पर ध्यान जाता है, जो वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। आज हम जहां धर्म और सम्प्रदायों के अलग-अलग बाड़े खड़े करने में लगे हैं, वहाँ ये क्रांतदर्शी संत वैष्णवजन के आंतरिक लक्षण को महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। भारतीय अध्यात्मवाद में यह मान्यता सर्वस्वीकृत है कि मानवजाति के सबसे बड़े और शाश्वत शत्रु उसके अंदर हैं- काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर। ये शत्रु मनुष्य को पशु से भी निम्न स्तर तक पहुँचा देते हैं। इसलिए आंतरिक पीड़ा और अनीति से मुक्त करने वाले आचरणगत धर्म तथा नैतिकता की महिमा का गान करने वाले संत नरसी मेहता इन शत्रुओं से सचेत रहने के लिए सावधान करते हैं।

वैष्णवजन की सबसे पहली विशेषता यह है कि वह 'पीड पराई' जानता है; समझता है, उसे महसूस करता है। पीड पराई जानना यानी संवेदनशील बनना। स्मृतिकार करुणापूर्ण वाणी में आदेश देते हैं- 'आत्मानि प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' जो स्वयं के लिए प्रतिकूल है - दुःखद है - वह दूसरों के लिए भी उतना ही दुःखद है। अतः ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए, जो दूसरों के लिए दुःखद है। इस तरह हम कह सकते हैं कि संवेदनशीलता मात्र नीतिधर्म का विषय नहीं है, बल्कि समग्र मानवजाति की सुख-समृद्धि का गुरुमंत्र है।

जो परायी पीड जानता है, वह स्वाभाविक रूप से परोपकार के काम में लग जाता है। परन्तु यहाँ सावधानी इस बात की रखनी होती है कि परोपकार का अभिमान मन में न आने पाए। ऐसा न हो, इसके लिए नरसी मेहता विधेयात्मक या निषेधात्मक मार्गदर्शन देते हैं- 'सकल लोकमां सहुने वंदे (सबकी वंदना करना)। अहंकार रहित होने से ही वंदना हो सकती है। यह वंदना दिखावे की नहीं, बल्कि सभी को आत्मस्वरूप मानकर सच्चे मन से करनी है; क्योंकि आत्मस्वरूप की निंदा कैसे हो सकती है।'

अभिमान के रूप में मौजूद मद तथा निंदा के रूप में निहित मत्सर जैसे शत्रुओं का नाश होने से आत्मनिरीक्षण का मार्ग सरल एवं सुगम बन जाता है। तन-मन की चंचल अवस्था में बाकी के तीन शत्रुओं- काम, क्रोध और लोभ का आक्रमण होता है। इसलिए वे निर्मल नहीं रह पाते, अपवित्र बन जाते हैं और इन तीनों का आदिम कारण मोह-माया घेर नहीं सकते। राम-नाम और वैराग्य संपन्न जीवन ही नहीं, बल्कि देह भी तीर्थस्वरूप बन जाती है।

भारतीय वैदिक परम्परा से लेकर दर्शन के क्षेत्र तक में पांडित्यपूर्ण भाषा में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें नरसी मेहता लोकभाषा में व्यक्त करते हैं। शास्त्र का कथन है-

लोष्ठवत् परद्रव्येषु मातृवत् परदारेषु।
आत्मवत सर्वभूतेषु पश्यति स पश्यति।।

यह शास्त्रवचन कदाचित् नरसी मेहता के 'वैष्णवजन' जितना सामान्यजन तक पहुँच नहीं सका अथवा शास्त्र के पन्नों में ही बंद रह गया है। नरसी का यह 'वैष्णवजन' समाज में इतना प्रचलित हुआ कि गाँधीजी ने इसे अपनी प्रार्थना में शामिल किया था। इतना ही नहीं यह शब्द कई तरह से अनेक लोगों के लिए प्रेरणादायी तथा प्रथप्रदर्शक बनता रहा है। अगर यह कहें कि गाँधीजी की नैतिक तथा आध्यात्मिक निष्ठा का निर्माण करने वाला नरसी मेहता का यह शब्द जितना आंतरिक स्वतंत्रता तथा शत्रुओं से मुक्ति दिलाने वाला रहा है, उतना ही बाह्य स्वतंत्रता या भारत को स्वतंत्र कराने की क्रांति को बल देने वाला भी रहा है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं माननी चाहिए। नरसी के समस्त पदसंग्रह में 'वैष्णवजन तो तेने कहिए' पद स्वर्ण कलश के समान है। गुजरात की स्वर्णगाथा में नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक या सामाजिक यानी प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार के पद के रचयिता नरसी मेहता का योगदान स्वर्णिम है।

सन्दर्भः

१. *डॉ. ईश्वरलाल र. दवे (संपा.), आदिकविनी आर्षवाणी*

२. *जया मेहता, अने अनुसंधान*

३. *डॉ. मुकुन्द कोटेचा, मनन*

४. *डॉ. निपुण ई. पंडया, मध्यकालीन गुजराती साहित्यमां तत्त्व विचार*

५. *डॉ. शिवलाल जेसलपुरा (अनुसंधाता/ संपादक), नरसिंह महेतानी काव्यकृतिओ*

***

जैन दर्शन : एक सिंहावलोकन

श्रीकान्त मिश्र

जैन परम्परा की मान्यता है कि जैनधर्म अनादि है, जिसको समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले तीर्थंकर प्रवर्तित करते रहे हैं। जैन शब्द 'जिन' पद से बना है जिसका अर्थ है 'जीतना'। राग-द्वेषादि विकारों पर विजय प्राप्त कर जो व्यक्ति मुक्त हो गया हो वही जिन कहलाता है और इन्हीं जिन के मतानुयायी जैन कहलाते हैं। जैन अपने धर्म-प्रवर्तक को तीर्थंकर कहते हैं, जिनकी संख्या चौबीस मानी जाती है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार मानव सभ्यता के प्रारम्भिक काल में जब न कोई सामाजिक व्यवस्था थी, न ही पारिवारिक सम्बन्ध था, तब माता-पिता युगल पुत्र-पुत्री को जन्म देकर दिवंगत हो जाते थे। इस व्यवस्था को पुराणकारों ने भोगभूमि-व्यवस्था का नाम दिया है। शनैः-शनैः व्यवस्था परिवर्तित हुई और उस युग का प्रारम्भ हुआ जिसे कर्मभूमि कहा गया है। लोग एक-दूसरे से झगड़ने लगे। जंगली पशुओं का आतंक बढ़ने लगा। इसी काल में १४ कुलकर हुए जिन्होंने तत्कालीन समस्याओं का निराकरण कर समाज को एक नई व्यवस्था दी। इसे हम आधुनिक सभ्यता का प्रारम्भ भी कह सकते हैं। कुलकरों ने मानव और प्रकृति के सम्बन्धों के रहस्य को उजागर कर मानव को जीने की कला से परिचित कराया एवं सामाजिक स्थिति को व्यवस्थित करते हुए शीत-उष्ण से रक्षा करने के उपाय, जानवरों से रक्षा के उपाय, कृषि द्वारा अनाज उत्पन्न करने के उपाय, वाणिज्य, शिल्प, उद्योग आदि की शिक्षा प्रदान किया। ध्यातव्य है कि जैन परम्परा में कुलकरों का वही स्थान है जो वैदिक परम्परा में मनुओं का है। मनुओं की भी संख्या कुलकरों के समान चौदह ही बतायी गई है। सभी कुलकरों ने तत्कालीन समय में कोई-न-कोई शिक्षा प्रदान कर मानव समाज को विकास के पथ पर अग्रसर करने का प्रयास किया। इन कुलकरों को ग्राम और नगर संस्कृति का जनक कहा जाता है।

चौदह कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि की सभ्यता के युग में धर्मोपदेश व अपने चरित्र के माध्यम से मानव सभ्यता को शिक्षित कर विकास की ओर अग्रसर किया वे शलाकापुरुष कहलाए। इनकी संख्या तिरेसठ बतायी गई है। इनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव और नौ बलदेव सम्मिलित हैं। सन्दर्भानुसार यहाँ पर तीर्थंकरों की चर्चा अपेक्षित है। चौबीस तीर्थंकरों के नाम हैं - १. ऋषभदेव, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनंदननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभु, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुंथुनाथ, १८. अरहनाथ, १९. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर।

चौदहवें कुलकर नाभिराज और उनकी धर्मपत्नी मरुदेवी से ऋषभदेव का जन्म हुआ जो जैन धर्म के आदि प्रवर्तक थे। ये जैन धर्म के पहले तीर्थंकर हुए। सम्पूर्ण जैन धर्म एवं दर्शन ऐसे ही चौबीस तीर्थंकरों के उपदेशों पर आधारित है।

जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर का जन्म लगभग ईसा पूर्व ६०० ई. पूर्व कुण्डग्राम में हुआ था। कुण्डग्राम प्राचीन भारत के व्रात्य क्षत्रियों के प्रसिद्ध वज्जि संघ के वैशाली गणतन्त्र के अन्तर्गत था जो वर्तमान में बिहार प्रान्त के वैशाली जिला अन्तर्गत आता है। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का नाम त्रिशला था। महावीर के बचपन का नाम वर्धमान था। भगवान महावीर के समय में देश की स्थिति अराजकतापूर्ण थी, सर्वत्र धर्म के नाम पर निरपराध पशुओं की बलि देना

सामान्य बात थी। समाज में अभिजात्य वर्ग द्वारा निम्न वर्ग का हर प्रकार से शोषण किया जाता था। कुमार वर्धमान इस हिंसा और विषमता से होनेवाली अमानवीय कृत्य से अत्यंत दुःखी थे। इन परिस्थितियों के कारण वे आत्मानुसंधान की ओर प्रवृत्त हुए। तीस वर्ष की युवावस्था में *(श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार महावीर विवाहित थे और उन्हें एक पुत्री भी थी, लेकिन दिगम्बर मान्यता उन्हें अविवाहित मानती है)* उन्होंने समस्त राज-पाट का त्याग किया और दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक कठिन साधना के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अब वे पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा बन गए। तत्पश्चात् राजगृह के समीप विपुलाचल पर्वत पर अपना प्रथम धर्मोपदेश देकर आजीवन लोक-कल्याण में संलग्न रहे। भगवान महावीर ने किसी नए धर्म का प्रवर्तन न कर पूर्व तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म का पुनरुद्धार किया। इनकी धर्मसभा समवशरण कहलाती थी, जहाँ लोगों को बिना किसी वर्ण, जाति, लिंग आदि के भेदभाव के कल्याणकारी उपदेश दिया जाता था। उनके अहिंसा, संयम, समता और अनेकान्तमूलक उपदेशों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि लाखों लोग उनके अनुयायी बन गए। समस्त भारतवर्ष के साथ-साथ गांधार आदि देशों में भी भगवान के अनुयायियों की पर्याप्त संख्या हो गई। अन्त में बहत्तर वर्ष की अवस्था में पावापुरी में उन्होंने निर्वाण को प्राप्त किया।

वर्तमान में जो भी जैन साहित्य उपलब्ध हैं वे भगवान महावीर के उपदेशों पर आधारित हैं। वस्तुतः जैन दर्शन साहित्य भण्डार इतना विशाल है कि उन सबका एक साथ वर्णन करना न केवल कठिन है, वरन् असंभव भी है, तथापि कुछ मुख्य ग्रन्थों का वर्णन यहाँ अपेक्षित है। महावीर के निर्वाण के पश्चात् पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र के प्रयत्न से एक सभा का आयोजन किया गया जिसमें धार्मिक ग्रन्थों का संग्रह किया गया। किन्तु यह संग्रह सर्वमान्य नहीं हुआ। लगभग ईसा की पाँचवी शती में भावनगर के समीप वलभी नामक स्थान पर दूसरी सभा देवर्धिगणि की अध्यक्षता में हुई जिनमें कुछ ग्रन्थों का संग्रह किया गया। इन्हें अंग भी कहते हैं, जो इस प्रकार हैं - १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृत्दशा, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक, १२. दृष्टिवाद। ईसा की प्रथम शताब्दी में कुन्दकुन्द नामक आचार्य ने तीन ग्रन्थ लिखे - समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय। कुन्दकुन्द के शिष्य श्री उमास्वामी (उमास्वाति) ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की जिसे जैन दर्शन का पहला संस्कृत ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है तथा इस पर अनेक टीकायें लिखी गईं। अकलंकदेव का तत्त्वार्थराजवार्तिक, विद्यानन्दि का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थ जैन दर्शन के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जैन न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् अकलंकदेव ने जैन न्याय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिन पर अनंतवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र ने अपनी व्याख्यायें लिखीं हैं। माणिक्यनंदि का 'परीक्षामुख', आचार्य प्रभाचन्द्र का 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ भी जैन साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। इन दिगम्बर साहित्य के अतिरिक्त अनेक श्वेताम्बर साहित्य की भी रचना जैन साहित्य भण्डार को विशाल बनाते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का साहित्य छः भागों में बँटा है, जो हैं - ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छः छेदसूत्र, दो सूत्र और चार मूलसूत्र। इनके अतिरिक्त अनेक श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने साहित्य की रचनायें की हैं जो जैन दर्शन में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इस प्रकार जैन दर्शन और साहित्य इतना विशाल है कि उनका सांगोपांग वर्णन करना किसी व्यक्ति के लिए असंभव नहीं तो दुरुह अवश्य ही है। अतएव जैन दर्शन की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य प्रयोजन है।

जैनाचार्यों ने विश्व के प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक स्वरूप पर विचार करते हुए सात प्रकार के तत्त्वों की विवेचना की है। इन्हीं तत्त्वों से समस्त जागतिक वस्तुओं का परिणाम होता है। ये तत्त्व हैं - जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जैन दर्शन के सात तत्त्वों में 'जीव तत्त्व' सबसे प्रधान तत्त्व है। इसका मुख्य लक्षण चेतना है। इस चेतना के कारण ही समस्त जड़ पदार्थों से इसकी भिन्नता सिद्ध होती है। चार्वाक को छोड़कर प्रायः समस्त भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यद्यपि आत्मा के स्वरूप को लेकर इन दर्शनों में मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु जैन दार्शनिक निम्नलिखित तर्क देते हैं-

१. मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ आदि की जो प्रतीति होती है, वह चेतना का परिणाम है, क्योंकि सुख-दुःख आदि चैतन्य के गुण हैं जिनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यदि ये गुण हैं तो इनके आधार रूप में गुणी अर्थात् आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी होगी।

२. हमें इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु इन्द्रियाँ ज्ञान का कारण अथवा साधन हैं। इन साधनों से ज्ञान प्राप्त करने वाला कोई चेतन तत्त्व होना चाहिए। वही चेतन जीव या आत्मा है।

३. शरीर जड़ है, वह स्वयं अपना संचालन नहीं कर सकता। शरीर के संचालन हेतु एक चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। वही चेतन तत्त्व जीव अथवा आत्मा है।

४. जैन दर्शन के अनुसार शरीर पुद्गलों के संयोग का परिणाम होता है। क्योंकि पुद्गल भौतिक हैं इसलिए इन पुद्गलों में संयोग कराने के लिए किसी निमित्त कारण अथवा चेतन कारण की आवश्यकता है। वही कारण जीव या आत्मा है।

यद्यपि सभी आत्मवादी दार्शनिकों ने जीव के अस्तित्व को स्वीकार किया है, तथापि इन दर्शनों में जीव के स्वरूप की भिन्नता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि अन्य दर्शनों की अवधारणाएँ ऐकान्तिक हैं जबकि जैन दर्शन में जीव का सर्वांगीण स्वरूप मिलता है। जीव का स्वरूप अनैकान्तिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि 'जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाणवाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वाभाविक ऊर्ध्वगति वाला है।'

जिसके द्वारा जीव वस्तु के ज्ञान अथवा बोध के लिए व्यापार करता है वह उपयोग है। उपयोग दो प्रकार का होता है – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग निराकार उपयोग है। जब जीव की चेतना शक्ति किसी वस्तु-विशेष को मात्र सामान्य रूप से ग्रहण करती है तब उसे दर्शनोपयोग कहते हैं। जब जीव की चेतना शक्ति ज्ञानाकार न रहकर ज्ञेयाकार रूप हो जाती है, तब ज्ञेय वस्तु का मात्र सामान्य रूप से ज्ञान न होकर विशेष रूप से बोध होने लगता है, इसे ज्ञानोपयोग कहा जाता है। इस विभेद से जैन दार्शनिक नैयायिकों के उस मत का परिहार करते हैं जिसमें कहा गया है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव नहां है, वरन् वह बाहर से आता है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जीव या आत्मा सदैव ज्ञानवान बना रहता है। जीव के दूसरे लक्षण अमूर्तिक द्वारा कुमारिल भट्ट के मत को निराकृत किया गया है। कुमारिल आत्मा को मूर्तिक मानते हैं तथा चार्वाक भी आत्मा को मूर्तिक पिण्ड कहते हैं। जैनों के अनुसार जीव अपने स्वाभाविक रूप में पुद्गल के गुण – रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं होता, अतएव वह अमूर्तिक है। परन्त सांसारिक दशा में वह अनादि कर्मों से बद्ध होने के कारण रूपादिवान होकर मूर्तिवान प्रतीत होता है। यह मूर्तत्व चेतना का विकार है जो पुद्गल कर्म के कारण होता है। यह तो जीव की अशुद्धि का प्रतीक है। जीव के कर्ता विशेषण से जैन दर्शन ने सांख्य दर्शन के उस मत का खण्डन किया जिसके अनुसार जीव को अकर्ता माना गया है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति समस्त कार्य को करती है तथा पुरुष साक्षी मात्र है। जैन दर्शन इसके विपरीत कहता है कि जीव अपने शुभाशुभ परिणामों का कर्ता है। क्योंकि यदि जीव को सर्वथा निष्क्रिय कूटस्थ और शुद्ध माना जाय तो मोक्ष की कल्पना निरर्थक हो जाती है। जैन दर्शन में कर्ता के समान ही जीव को भोक्ता भी कहा गया है। क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के ऐक्य को स्वीकार नहीं करते। परन्तु यदि कर्ता को कर्मफल का भोक्ता न माना जाय तो कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था भंग हो जाएगी। जीव के आकार के सम्बन्ध में जैन दर्शन में 'अणु गुरु देहपमाणो' अर्थात् स्वदेह परिमाणवाला कहा गया है। जीव का अपने कर्मों के अनुसार छोटा अथवा बड़ा जिस प्रकार का भी शरीर प्राप्त होता है, उसी शरीर के आकार वाला जीव या आत्मा भी होता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि जीव छोटा या बड़ा परिमाण वाला कैसे हो जाता है तो जैन दार्शनिक इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जीव में संकोच-विस्तार रूप शक्ति होती है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे स्थान पर संकुचित और विस्तृत स्थान पर फैल जाता है उसी प्रकार जीव भी छोटे-बड़े शरीर के अनुरूप अपने आकार का संकुचन अथवा विस्तारण कर लेता है। अन्य आत्मवादी दर्शन जो आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त मानते हैं, के विपरीत जैन दर्शन का कहना है कि जीव पहले संसारी

रहता है, तदनन्तर मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है। चूँकि जीव के साथ अनादि कर्म बद्ध रहते हैं अतएव अशुद्ध संसारी जीव पुरुषार्थ के बल से कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होता है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि जीव पहले संसारी नहीं होता तो उसकी मुक्ति के उपायों का अन्वेषण जो अनादि काल से होता रहा है, नितान्त अर्थहीन हो जाता। वैसे जैन आचार्यों का कहना है कि जीव को सांसारिक कहना मात्र व्यावहारिक दृष्टिकोण है, क्योंकि शुद्ध नय से समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं। जीवों में सदाशिव होने की शक्ति विद्यमान रहती है और शुद्ध नय उसी त्रैकालिक शक्ति को पहचानता है। जीव को सिद्ध कहने का जैन दार्शनिकों का अभिप्राय यह है कि राग-द्वेषादि विकारों से जबतक जीव ग्रसित रहता है तबतक वह संसारी रहता है, किन्तु अपने पुरुषार्थ से इन विकारों को नष्ट कर वह शुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में जीव आठ कर्मों से रहित, अनन्त सुख से युक्त परम अवस्था मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जैन मान्यता के अनुसार जीव ऊर्ध्वगामी स्वभाव के होते हैं। दीपशिखा के समान शुद्ध अवस्था में भी ये ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाले होते हैं। वायु-प्रकम्पित दीपशिखा के समान अशुद्ध अवस्था में जीव कर्मों से प्रेरित होकर चार गतियों में इधर-उधर भटकते रहते हैं, किन्तु शुद्ध अवस्था में अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्र भाग में स्थिर हो जाते हैं। जीव की गति उसके आगे नहीं होती, क्योंकि आगे गति में निमित्त धर्मद्रव्य का अभाव हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के दो भेद किए गए हैं - संसारी और मुक्त। जो जीव कर्मों के कारण नाना योनियों और गतियों में भ्रमण करते हैं, उन्हें संसारी जीव कहा जाता है और जो कर्मों को नष्ट कर अपनी स्वाभाविक अवस्था- मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं। संसारी जीव के दो भेद होते हैं - त्रस एवं स्थावर। सुख-प्राप्ति एवं दुःख-निवृत्ति के लिए जो जीव गमनागमन करते हैं, उन्हें त्रस कहा जाता है तथा जो गतिहीन जीव हैं उन्हें स्थावर कहा जाता है। स्थावर जीव के भी पाँच प्रकार हैं- पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजोकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन स्थावर जीवों में केवल एक ही इन्द्रिय स्पर्श होती है। इन्द्रियों की दृष्टि से त्रस जीवों के भी चार भेद हैं - दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय वाले जीव। एक अन्य प्रकार अथवा गतियों की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों ने जीवों के चार भेद स्वीकार किए हैं। चार प्रकार की गतियाँ हैं - नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति।

जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य जीव का मूल लक्षण माना गया है - चेतना लक्षणो जीवः। यह विचार न्याय-वैशेषिक के आत्म-विचार से भिन्न है, क्योंकि न्याय-वैशेषिकों ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक लक्षण माना है। परन्तु जैन दार्शनिक कहते हैं कि चैतन्य जीव में सर्वदा विद्यमान रहता है। इसके कारण जीव स्वयं को प्रकाशित तो करता ही है, अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त जैन यह मानते हैं कि जीव स्वभावतः अनन्त है। इसमें चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती हैं, जिन्हें अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। ये अनन्त चतुष्टय हैं - अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति तथा अनन्त सुख। बन्धन अथवा संसारी अवस्था में जीव के ये गुण अभिभूत हो जाते हैं, लेकिन मुक्ति की अवस्था में ये गुण प्रस्फुटित हो जाते हैं। जैन दार्शनिकों ने चेतन जीव की सत्ता तो स्वीकार की है किन्तु भिन्न-भिन्न कोटि के जीवों में चैतन्य की मात्राएँ भी भिन्न-भिन्न होती है। कुछ जीवों में चेतना कम विकसित मात्रा में होती है तो कुछ में अधिक विकसित होती है। सर्वाधिक विकसित चेतना मुक्त जीवों में होती है और सबसे कम विकसित चेतना स्थावर जीवों में है। इस प्रकार चेतना की दृष्टि से एक छोर पर मुक्त जीव हैं तो दूसरी छोर पर स्थावर जीव हैं।

अजीव द्रव्य उन्हें कहा जाता है जिनमें चेतना नहीं होती। जैन दर्शन के अनुसार अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं - पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँच द्रव्यों में काल ऐसा द्रव्य है जिसमें विस्तार नहीं है, इसलिए इसे अनस्तिकाय द्रव्य कहा जाता है। काल के अतिरिक्त सभी द्रव्यों को अस्तिकाय कहा जाता है, क्योंकि वे स्थान घेरते हैं।

पुद्गल, जिसे अन्य दर्शनों में भूत तथा आधुनिक विज्ञान की भाषा में मैटर के नाम से जाना जाता है उसे ही जैन दर्शन में पुद्गल कहा जाता है। पुद्गल शब्द दो पदों पुद् और गल से बना है। पुद् का अर्थ है - पूर्ण होना, मिलना या जुड़ना तथा गल का अर्थ होता है - गलना, हटना या टूटना। इस प्रकार जो द्रव्य निरन्तर मिलता-गलता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल है। रूप (वर्ण), रस, गंध और स्पर्श पुद्गल का लक्षण बताया गया है। पुद्गल के दो भेद हैं - परमाणु और स्कन्ध।

पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई, अविभाज्य तथा अंतिम भाग परमाणु है। पुद्गल की यह स्वाभाविक अवस्था है। यह नित्य है। परमाणु का कोई आदि और अन्त बिन्दु नहीं होता क्योंकि इसका आदि, मध्य और अन्त स्वयं परमाणु ही है। परमाणु एक प्रदेशी होता है। आकाश की सूक्ष्मतम इकाई को प्रदेश कहा जाता है। अर्थात् एक पुद्गल आकाश के जितने भाग को घेरता है उसे प्रदेश कहा जाता है। प्रत्येक परमाणु में एक रस, एक रूप, एक गन्ध तथा दो स्पर्श होते हैं। दो या दो से अधिक परमाणुओं के समूह से उत्पन्न द्रव्य को स्कन्ध कहा जाता है। लौकिक जगत् में हमारे अनुभव क्षेत्र में आनेवाले समस्त पदार्थ पौद्गलिक स्कन्ध हैं। स्कन्ध के छः भेद हैं-

अतिस्थूल - वह पदार्थ जिसे आसानी पूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया जा सके तथा जो ध्वंस होने पर अपने आप जुड़ नहीं सके, अतिस्थूल है। जैसे - ठोस पदार्थ, लकड़ी आदि।

स्थूल - वैसे पदार्थ जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया जा सके और जो अलग-अलग होने के बाद भी मिलने पर स्वयं जुड़ जायँ, स्थूल हैं। जैसे - दूध, तेल, पानी आदि।

स्थूल-सूक्ष्म - वे पदार्थ जो चक्षु से देखे जा सकें किन्तु जिन्हें पकड़ना सम्भव न हो, सूक्ष्म-स्थूल हैं। जैसे - प्रकाश, छाया आदि।

सूक्ष्म-स्थूल - जो पदार्थ चक्षु से दृष्टिगोचर न हो किन्तु अन्य इन्द्रियों के अनुभव में आता हो, सूक्ष्म-स्थूल है। जैसे - हवा, गन्ध, रस आदि।

सूक्ष्म - जो पदार्थ किसी भी इन्द्रिय का विषय न बने वह सूक्ष्म है। जैसे - कर्मवर्गणा।

अतिसूक्ष्म - कर्मवर्गणा से भी सूक्ष्म द्वयणुकों को अतिसूक्ष्म स्कन्ध कहा जाता है।

धर्म एवं अधर्म - अन्य दर्शनों में धर्म एवं अधर्म का जो प्रचलित अर्थ है उससे भिन्न अर्थ में जैन दर्शन ने धर्म को परिभाषित किया है। इनके अनुसार धर्म एक स्वतंत्र द्रव्य है जो जीव और पुद्गल के गति में सहकारी है। धर्म में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के अभाव होने के कारण यह अमूर्त है। धर्म जिस प्रकार गति में सहायक है उसी प्रकार अधर्म जीव और पुद्गल के स्थिति या ठहरने में सहायक है। अधर्म भी धर्म के समान अमूर्त है। धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्य उदासीन हैं, क्योंकि ये किसी पदार्थ को गति या स्थिति के लिए प्रेरित नहीं करते वरन् जो पदार्थ गति या स्थिति के लिए उद्यत हों तो उसमें ये द्रव्य सहायक बन जाते हैं। जिस प्रकार कोई वृक्ष चलते हुए किसी पथिक को रोकता नहीं, किन्तु यदि वह स्वयं रुकना चाहे तो वृक्ष उसे अपनी छाया प्रदान करता है। उसी प्रकार गति व स्थिति में धर्म तथा अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त हैं जिनकी उपस्थिति में हम यदि गति या स्थिति हेतु उद्यत हों तो ये हमारी सहायता करते हैं।

आकाश - सर्वव्यापी आकाश द्रव्य नित्य, सर्वव्यापी, अमूर्त, निष्क्रिय तथा रूपादि रहित है, जो सभी पदार्थों को स्थान या अवकाश देता है। आकाश के दो भेद हैं - लोकाकाश एवं अलोकाकाश। आकाश के जितने भाग में जीवादि पाये जाते हैं वह लोकाकाश कहलाता है। यह सर्वव्यापी आकाश के मध्य में है। लोकाकाश के चारों तरफ बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है। यद्यपि सम्पूर्ण आकाश अखण्ड है तथापि जीवादि पदार्थों की उपस्थिति और अनुपस्थिति के कारण जैन दर्शन में आकाश के उक्त भेद किए गए हैं।

काल - जिस प्रकार कील की सहायता से चक्रादि घूमते हैं उसी प्रकार काल समस्त द्रव्यों में परिवर्तन का सहकारी है। लोकाकाश में घड़ी, घंटा, दिन, रात आदि व्यवहार का कारण काल है। काल भी आकाश के समान अमूर्त और निष्क्रिय है। पदार्थों में परिवर्तन काल के द्वारा बलात् नहीं कराया जाता वरन् इसकी उपस्थिति में स्वयं परिवर्तन होता रहता है। काल के दो भेद हैं - निश्चय काल और व्यवहार काल। कालाणु को निश्चय काल कहा जाता है। इन कालाणुओं के निमित्त से ही जगत् में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। एक पुद्गल परमाणु को मन्द गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जो काल लगता है, उसे समय कहा जाता है। समय, पल, घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार काल हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य का व्यवहार भी इसी काल के आधीन होता है।

जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी हैं। अनेकान्त में 'अन्त' पद वस्तु और धर्म दोनों का ही द्योतक है। अर्थात् इस जगत् में अनेक वस्तुएँ हैं और प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। जैन दर्शन के अनुसार उपर्युक्त छः अजीव द्रव्यों में काल अनस्तिकाय है और शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय पाँचों द्रव्यों पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव को पंचास्तिकाय के नाम से भी जाना जाता है। इन द्रव्यों में जीव और पुद्गल मात्र में गतिशीलता पायी जाती है। ध्यातव्य है कि द्रव्यों की इस संख्या में किसी प्रकार की कभी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती। यही कारण है कि इन्हें नित्य और अवस्थित कहा जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् इन्हीं छः द्रव्यों से बना है। ये द्रव्य अनादि हैं तथा इन्हें किसी ने बनाया नहीं है और न ही इनका संचालन कोई शक्ति करती है। ये द्रव्य अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाले स्वभाव से युक्त होने के कारण स्वयं अपना परिणमन करते हैं।

आस्त्रव - जैन दर्शन के अनुसार कर्म-प्रवाह को जीव में प्रवेश देने वाले द्वार को आस्त्रव कहा जाता है। अनन्तकाल से पुद्गल और जीवद्रव्य लोकाकाश में विद्यमान हैं, जिनमें कुछ पुद्गल वर्गणाएँ ऐसी हैं जो कर्म-रूप में परिणत हो सकती हैं। इन पुद्गल वर्गणाओं को कर्म-वर्गणा भी कहा जाता है। ये कर्म वर्गणाएँ जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों से आकृष्ट होकर कर्मरूप में परिणत हो जाती हैं जिससे जीव के साथ उनका अनादि सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कर्म-वर्गणाओं का कर्मरूप में परिणत होकर जीव को अनादि बन्धन में डाल देना ही आस्त्रव है। इस प्रकार आस्त्रव बन्धन का एक कारण है। आस्त्रव का शाब्दिक अर्थ है- सब ओर से आना या बहना। इस प्रकार किसी भी कारण से जीव की ओर कर्मों के आगमन को आस्त्रव कहा जाता है।

जैन धर्म एवं दर्शन में आस्रव के पाँच कारण बताए गए हैं - १. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। १. तत्त्वज्ञान के अभाव को मिथ्यात्व कहा जाता है। इसके कारण जीव को विवेक ज्ञान नहीं हो पाता, जिसके कारण पदार्थों के स्वरूप में भ्रान्ति बनी रहती है। श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग के भेद का ज्ञान नहीं हो पाता, जिसके कारण प्रेयमार्ग को ही जीव धर्म समझने लगता है। मिथ्यात्व समस्त दोषों का मूल है, इसीलिए इसे जीव का सबसे बड़ा शत्रु कहा गया है। २. सद्गुणों की ओर प्रवृत्ति न होना अविरति कहलाता है। ३. कर्तव्य एवं अकर्तव्य में असावधान रहना प्रमाद कहलाता है। ४. जीव के जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो वे कषाय भाव कहलाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप से कषाय के चार भेद हैं। ये राग-द्वेष (कषाय) समस्त अनर्थों के जनक हैं। ५. योग के प्रसिद्ध अर्थ यम, नियमादि से भिन्न जैन दर्शन में काय, वचन तथा मन में क्रिया मानी गई है, जिसे योग कहा जाता है। इन्हीं क्रियाओं के द्वारा कर्म-पुद्गल जीव में प्रवेश करता है। कर्म-पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने के पूर्व जीव के प्रदेशों में एक प्रकार का स्पन्दन होता है। इन स्पन्दनों को क्रमशः काययोग, वाग्योग और मनोयोग कहा जाता है। काय, वाक् और मन की प्रवृत्ति को ही योग कहते हैं।

प्रसंगवश यहाँ जैन दर्शन के अनुसार कर्म के स्वरूप को समझना समीचीन होगा। कर्म शब्द का साधारणतः अर्थ होता है- कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया। चार्वाक को छोड़कर प्रायः समस्त भारतीय दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार किया है। किन्तु कर्म के स्वरूप और कर्मफल के सम्बन्ध में सबकी मान्यताएँ भिन्न हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के निमित्त निर्दिष्ट कर्तव्य को स्मृतियों में कर्म कहा गया है, वैयाकरणों ने कर्ता के लिए इष्ट को कर्म कहा है, पौराणिकों ने व्रत, नियमादि को कर्म कहा है, जबकि बौद्ध दर्शन ने कर्म को वासना रूप कहा है। इसी प्रकार अन्यान्य भारतीय दर्शनों ने कर्म के स्वरूप को अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप स्वीकार किया है। इन मान्यताओं से भिन्न जैन दर्शन के अनुसार कर्म उसे कहते हैं जिसके कारण, साधन तुल्य होने पर भी, फल का तारतम्य अथवा अन्तर मानव जगत् में दृष्टिगोचर होता है। उस तारतम्य अथवा विविधता के कारण का नाम कर्म है। कर्म के कारण ही जीवों को नाना योनियाँ और भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। कर्म भौतिक एवं पौद्गलिक है तथा समस्त जागतिक जीव अनादि काल से कर्मों से बँधा हुआ है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म की कुल आठ प्रकृतियाँ हैं, जो जीवों को शुभाशुभ फल प्रदान करती हैं। इन्हें दो भागों में विभक्त किया गया है- घाती कर्म और अघाती कर्म। घाती कर्म में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म

आते हैं जबकि अघाती कर्म में आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय कर्म आते हैं। १. ज्ञानावरणीय- यह ज्ञान का आवरण करनेवाला कर्म है, जिसके कारण जीव अल्पज्ञानी अथवा विशिष्ट ज्ञानी होता है। २. दर्शनावरणीय- यह दर्शन का आवरण करने वाला होता है, जिसके कारण दर्शन प्रकट नहीं होता। ३. वेदनीय- यह सुख-दुःख की वेदना उत्पन्न करने वाला कर्म है। ४. मोहनीय- जीव को मोहित करने वाला कर्म है। ५. आयुकर्म - यह जीव के आयु को निश्चित करता है। ६. नामकर्म - यह जीव के अच्छे या बुरे शरीर की रचना का कारण होता है। ७. गोत्रकर्म- इस कर्म के कारण जीव के कुल का निर्धारण होता है कि वह किस कुल में जन्म ग्रहण करेगा। ८. अन्तराय कर्म- इस कर्म के कारण इच्छित फल की प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होता है।

संवर - अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार सम्यक् वरण अर्थात् जो अच्छी प्रकार से वरण करने योग्य हो अथवा अपनाने योग्य हो वह संवर कहलाता है। जैन दर्शन में मुक्ति अर्थात् मोक्ष मार्ग हेतु संवर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीव और कर्म-पुद्गल का संयोग ही बन्धन है और जीव का कर्म-पुद्गलों से वियोग मोक्ष है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म-पुद्गल के कणों का जीव की ओर प्रवाहित होना ही बन्धन है। अतएव मोक्ष की प्राप्ति तब तक संभव नहीं है जब तक नए पुद्गल कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से अवरुद्ध न कर दिया जाय। नए कर्म-पुद्गल कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना ही संवर है। कर्म-पुद्गलों को रोकने अथवा संवर के सात साधन माने गए हैं, वे हैं - व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय तथा चारित्र। इन सात साधनों के माध्यम से मोक्ष के साधकों को नए कर्म-पुद्गल कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना चाहिए।

निर्जरा - पुराने कर्म-पुद्गलों का जीव से अलग होना अथवा क्षय होना निर्जरा है। संवर से जहाँ नए कर्म-पुद्गलों का प्रवाह रुकता है वहीं निर्जरा से पूर्व-बद्ध अथवा संचित कर्मों का नाश होता है। इस प्रकार आगामी पुद्गल-कणों को निरुद्ध कर तथा संचित पुद्गल कणों का आत्यन्तिक क्षय कर जीव कर्म-पुद्गल से मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसे ही केवलज्ञान की प्राप्ति कहते हैं।

मोक्ष - प्रायः समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना है और तदनुरूप मोक्ष के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। जैन दर्शन में मोक्ष को बौद्धों के समान न तो अभावात्मक माना गया है, क्योंकि मोक्ष में आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, और न ही सांख्य योग के समान आनन्द रहित माना गया है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसकों के समान मोक्षावस्था में चैतन्य गुणों का अभाव न मानकर जैन दर्शन ने माना है कि मोक्ष का अर्थ शुद्ध चैतन्य गुणों की प्राप्ति से है। चूँकि चैतन्य आदि जीव के स्वाभाविक गुण हैं, इसलिए मोक्षावस्था में भी इनका अभाव संभव नहीं है। अद्वैत वेदान्त के समान मोक्षावस्था में आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को न मानकर जैन दर्शन प्रत्येक जीव की स्वतंत्र एवं आनन्दपूर्ण अवस्था को स्वीकार करता है, क्योंकि मोक्ष जीव की पूर्ण शुद्धावस्था है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों की भाँति जैन दर्शन भी मोक्ष के साधन के रूप में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के पालन को स्वीकार किया है। जैन दर्शन में इसे 'रत्नत्रय' कहा गया है। मुक्ति के साधक को सर्वप्रथम जैन शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों, तत्त्वों एवं गुरुओं के प्रति श्रद्धा होना आवश्यक है, यही सम्यक्-दर्शन या श्रद्धा है। इन सिद्धान्तों का गहन एवं यथार्थ ज्ञान भी साधक के लिए नितान्त आवश्यक है, यही सम्यक्-ज्ञान है। इस यथार्थ ज्ञान को अपने आचरण में चरितार्थ करना सम्यक्-चारित्र अथवा आचरण है। सम्यक्-चारित्र के लिए जैन दार्शनिकों ने पंचमहाव्रत का पालन आवश्यक माना है। पंचमहाव्रत हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वस्तुतः 'रत्नत्रय' के ये तीनों अंग अलग-अलग तीन सोपान नहीं हैं, वरन् ये साथ-साथ रहते हैं तथा तीनों ही सम्मिलित रूप से मोक्ष के साधन माने गए हैं। श्रद्धा से ज्ञान और चारित्र की उपलब्धि होती है, जबकि ज्ञान से चारित्र एवं चारित्र से ज्ञान की पुष्टि होती है। ये तीनों एक साथ कार्य करते हैं और साधक को मोक्ष प्रदान करने में सहायक होते हैं। जैन दर्शन में मुमुक्षुओं के लिए साधन के रूप में कई सोपानों का वर्णन किया गया है जिन्हें गुणस्थान कहा गया है। इनकी संख्या चौदह है। इनमें प्रारम्भिक मिथ्यात्व आदि बारह सोपानों को पार करते हुए साधक तेरहवें सोपान सयोग-केवली तक पहुँचता है जो अन्य दर्शनों के जीवन्मुक्त

के सदृश माना गया है। अन्तिम चौदहवाँ सोपान अयोग-केवली है जो अन्य दर्शनों के विदेहमुक्ति के सदृश माना गया है। सयोगकेवली के समस्त आवरणीय कर्मों का क्षय हो जाता है और वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित होते हुए अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख से सम्पन्न हो जाता है। जैन धर्म के तीर्थंकर एवं अन्य सिद्ध-पुरुष अपने जीवन काल में सयोगकेवली ही थे। मुक्ति की अन्तिम स्थिति अयोगकेवली की होती है जिसमें देह-पात हो जाता है और मुक्त पुरुष लोकाकाश के ऊपर सिद्धशिला नामक स्थान पर अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित हो अनन्त चतुष्टय की अनुभूति करता है।

अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद - जैन दर्शन तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से वास्तववाद और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद को स्वीकार करता है, जिसे अनेकान्तवाद कहा जाता है। अनेकान्त पद में जो 'अन्त' पद है उसके दो अर्थ हैं - वस्तु और धर्म। अर्थात् इस जगत् में अनन्त वस्तुएँ हैं और प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। इसीलिए जैन दर्शन में तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है। जागतिक वस्तुओं में एक साथ सत्-असत्, भाव-अभाव आदि विरुद्ध धर्म विद्यमान होते हैं, जिसका ज्ञान हमें एकान्त दृष्टि से नहीं हो सकता, अनेकान्त दृष्टि से ही उसका ज्ञान सम्भव है। 'अनेकान्त वस्तुतः दो एकान्तवादी दृष्टियों को मिलानेवाली एक मिश्रित दृष्टि मात्र नहीं है, बल्कि यह एक स्वतंत्र दृष्टि है, जिसके द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है।' जैन मतानुसार पदार्थ त्रिलक्षण सम्पन्न हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। इन तीनों गुणों में ध्रौव्य नित्यता का परिचायक है जबकि उत्पाद और व्यय अनित्यता के परिचायक हैं। पदार्थों के कुछ धर्म आवश्यक, अनिवार्य और अपृथक् होते हैं जिन्हें उनसे अलग नहीं किया जा सकता, ये द्रव्य के स्वरूप धर्म या गुण कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक आगन्तुक धर्म होते हैं जो पदार्थ में आते-जाते रहते हैं। ये धर्म पर्याय कहे जाते हैं। प्रत्येक वस्तु गुणरूप से नित्य है तथा पर्यायरूप से अनित्य है। इसीलिए द्रव्य का लक्षण किया गया है - 'द्रव्य, गुणपर्याय वाला होता है।' जैन मतानुसार द्रव्य दृष्टि से एकता, नित्यता और जाति तथा पर्याय दृष्टि से अनेकता, अनित्यता और विशेषता सिद्ध है, इसलिए दोनों के साथ-साथ रहने में कोई विरोध नहीं माना जा सकता। जैसे - किसी स्वर्णपिण्ड को गलाकर कई आभूषण बनाये जाते हैं और पुनः उन आभूषणों को गलाकर दूसरे प्रकार के आभूषण तैयार किए जाते हैं। इस प्रक्रिया में आकार का परिवर्तन तो होता रहता है परन्तु द्रव्य एक ही रहता है। अतः पदार्थ, द्रव्य दृष्टि से नित्य तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य सिद्ध होते हैं। यही पदार्थ का नित्यानित्यात्मक स्वभाव है। इस नित्यानित्यात्मक स्वभाव वाले जगत् में यदि कोई पदार्थ के एक अंश को ही उसका सम्पूर्ण स्वभाव मान लेता है तो वह एकान्तवादी है। इससे हमें वस्तु का सम्पूर्ण रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः पदार्थ के अनन्त गुणपर्याय हैं, अतः अनेकान्तवाद सत्य है। एकान्त और अनेकान्त में मौलिक भेद यह है कि एकान्त 'ही' का प्रतीक है और अनेकान्त 'भी' का। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस जगत् में अनेक वस्तुएँ हैं और उन प्रत्येक वस्तुओं के अनन्त धर्म हैं। चूँकि सामान्य मनुष्य एक समय में कुछ पदार्थों को और उनके कुछ धर्मों को ही जान पाता है, इसीलिए विभिन्न प्रकार के वैचारिक संघर्षों का जन्म होता है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की व्याख्या के लिए स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है।

स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जिसके द्वारा अनेकान्तवाद का समर्थन किया जाता है। सामान्यतया जैन मत यह मानता है कि ज्ञान विषयक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं - दुर्नीति या दुर्नय, नय और प्रमाण। अनन्तधर्मात्मक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह कथन कि 'अमुक वस्तु ऐसी ही है' दुर्नीति या दुर्नय या दोषयुक्त नय है, क्योंकि इस कथन में अनन्तधर्मात्मक वस्तु के आंशिक और सापेक्ष सत्य को पूर्ण और निरपेक्ष मान लिया गया है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह कहना कि 'अमुक वस्तु ऐसी है' नय कहलाता है। नय वस्तु के किसी एक धर्म का विधान करता है और उसके अन्य धर्मों का निषेध भी नहीं करता। इस प्रकार अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक धर्म या अंश के ज्ञान को भाषा में अभिव्यक्त करना नय कहलाता है। नय में चूँकि एकदेश या आंशिकता को स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया जाता इसलिए यह प्रमाण नहीं है। जब हम किसी वस्तु के विषय में यह कथन करते हैं कि 'स्यात् अमुक वस्तु ऐसी है' तब यह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता स्पष्टतः प्रकाशित है। अपने किसी भी निर्णय के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग न करना लौकिक ज्ञान की निरपेक्षता तथा ऐकान्तिकता का विधान करता है, जो असत्य और भ्रामक है। जैन मत स्पष्टतः उद्घोष करता है कि समस्त धार्मिक संघर्ष और दार्शनिक विरोध इसी निरपेक्ष एकान्तवाद के परिणाम हैं। 'स्यात्' पद वाक्य

के उस विष को निकाल फेंकता है जिससे अहंकार और पक्षपात का सृजन होता है। केवल अपने द्वारा स्थापित आंशिक सत्य को निरपेक्ष सत्य मानकर अन्य के द्वारा स्थापित आंशिक सत्य का निषेध उसी प्रकार विरोध को जन्म देता है जिस प्रकार हाथी के स्वरूप निर्णय में अंधे पारस्परिक कलह करते हैं।

जैन दर्शन के सन्दर्भ में 'स्यात्' पद का अर्थ समझना आवश्यक है। चूँकि वस्तुओं के अनन्त धर्म हैं अत: उसके प्रतिपादन की शैली भी ऐसी होनी चाहिए जिससे उनकी अनन्तधर्मात्मकता का संकेत हो सके। वस्तुओं के इस अनन्तधर्मात्मकता के संकेत की प्रणाली को ही स्याद्वाद कहा जाता है। कुछ लोग 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' या 'संभवत:' समझते हैं जो उचित नहीं है। शायद या सम्भवत: में अनिश्चितता का बोध होता है जबकि स्याद्वाद एक निश्चित सिद्धान्त है। स्यात् संशय नहीं वरन् सुनिश्चित सिद्धान्त का द्योतक है। ऐसे ही 'स्यात्' पद का अर्थ 'किसी न किसी प्रकार' अथवा 'पता नहीं कैसे' आदि भी नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें अज्ञेयवाद की झलक मिलती है। वस्तुत: जैन दर्शन में 'स्यात्' पद को ज्ञान की सापेक्षता के अर्थ में प्रयोग किया गया है। अतएव इसका उचित अनुवाद होगा – 'किसी प्रकार से' अथवा 'सापेक्षतया' अथवा 'किसी दृष्टि विशेष से'। चूँकि हमारे समस्त ज्ञान की आंशिकता सिद्ध है, अतएव इस तथ्य के प्रकाशन के लिए अपने ज्ञान को भाषा में अभिव्यक्त करते समय हमें परामर्श-वाक्य के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार 'स्यात' पद सापेक्ष सत्य का सूचक है। जब किसी वाक्य में स्यात् पद का प्रयोग किया जाता है तो इसका अर्थ होता है कि जिस धर्म की विवक्षा हो रही है वह मुख्य है तथा अन्य धर्म गौण हैं। इसके द्वारा अन्य धर्मों का निषेध नहीं होता वरन् उन्हें अविवक्षित या गौण मान लिया जाता है। इस प्रकार वस्तु के मुख्य एवं गौण दोनों धर्मों का संकेत 'स्यात्' पद से हो जाता है। 'स्यात्' पद के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली नहीं है बल्कि उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। इस प्रकार अनेकान्त एक व्यापक विचार पद्धत्ति है जो स्याद्वाद के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

जैन दर्शन में किसी भी पदार्थ के लिए सापेक्षता के महत्त्व को ध्यान में रखकर सात प्रकार के वचनों या निर्णयों का प्रयोग किया गया है। इन्हीं सात प्रकार के वचनों को 'सप्तभंगीनय' कहा गया है। ये सप्तभंगीनय निम्नलिखित हैं –

१. स्यात् अस्ति – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु है। यदि किसी घड़े के विषय में इन नयों को प्रयुक्त करें तो इसका अर्थ होगा कि घड़े का द्रव्य, काल, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से अस्तित्व है।

२. स्यात् नास्ति – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु नहीं है। घड़े के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ के द्रव्य काल, क्षेत्र आदि की दृष्टि से घड़ा नहीं है।

३. स्यात् अस्ति च नास्ति – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु है और नहीं भी है। अपने स्वरूप से घड़ा है और पररूप की दृष्टि से नहीं है।

४. स्यात् अवक्तव्यम् – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु अवर्णनीय है। यदि किसी वस्तु में अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों एक साथ हो तो उसे भाषा में एक साथ व्यक्त करना असंभव है। युगपत् निर्वचन की अशक्यता को द्योतित करना ही चौथे भंग का प्रयोजन है।

५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु है और अवर्णनीय है। यदि किसी दृष्टि से घड़ा हो और उसका निदर्शन स्पष्ट न हो तो घड़ा अवक्तव्य होगा।

६. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु नहीं है और अवर्णनीय है। घड़ा अपने से भिन्न पदार्थ के क्षेत्र, काल आदि की दृष्टि से नहीं है तथा स्पष्ट निदर्शन न होने के कारण अवक्तव्य भी है।

७. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् – अर्थात् किसी अपेक्षा से वस्तु है, नहीं है और अवर्णनीय है। घड़ा अपने स्वरूप की दृष्टि से है, पररूप की दृष्टि से नहीं है तथा स्पष्ट निर्देश न होने के कारण अवक्तव्य भी है।

जब हम कहते हैं कि 'घड़ा है' तो सामान्यतया उसके तीन अर्थ हो सकते हैं- (१) घड़ा है, (२) घड़ा नहीं है, क्योंकि

घड़ा एक प्रकार से मिट्टी है, मिट्टी से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है, (३) घड़ा है भी, नहीं भी है, क्योंकि घड़े के अर्थ में घड़ा है, जबकि मिट्टी के अर्थ में वह नहीं भी है। यदि कोई कहे कि यह मिट्टी है तो उसे निरर्थक कहना संभव नहीं है और वहीं यदि कोई यह मिट्टी नहीं वरन् यह तो घड़ा है, क्योंकि बाहर पड़ी मिट्टी और इसमें भेद स्पष्ट है तो इसे भी निरर्थक कहना सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार सत्य के सामान्यतः तीन भंग या दृष्टिकोण हो सकते हैं। किन्तु जैन दार्शनिकों ने इसे सप्तभंगी बनाया और कहा कि सत्य इतना जटिल है कि इस त्रिभंगी मात्र से उसकी व्याख्या संभव नहीं है। यदि कोई कहे कि घड़ा है तो हम कहते हैं कि हाँ, घड़ा है किन्तु इसे आग्रहपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यहाँ कहना पड़ता है कि 'स्यात् घड़ा है' क्योंकि दूसरी संभावना भी विद्यमान है। क्योंकि यदि कोई कहे कि 'मिट्टी ही है' तब घड़े के अस्तित्व को सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। इसलिए स्यात् घड़ा है, स्यात् घड़ा नहीं है और स्यात् घड़ा है भी और नहीं भी है। जैन दार्शनिकों ने चौथा भंग जोड़ते हुए कहा कि 'स्यात् अवर्णनीय है, अर्थात् इस छोटे से अस्तित्व (घड़ा) में कुछ ऐसा भी है जिसे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि घड़ा अणु है, परमाणु है, विद्युत् है इत्यादि। इन सबको एक साथ कहना कथमपि संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त जो घड़े का 'है-पन' है, अस्तित्व है उसके विषय में कुछ कहना तो संभव ही नहीं है। सत्य के इसी दृष्टिकोण से 'स्यात् अवक्तव्यम्' का प्रतिपादन किया गया है। घड़ा जैसी छोटी वस्तु इतनी ज्यादा जटिल है तो किसी सत्य का प्रतिपादन 'सत्य ऐसा ही है' के रूप में करना दुराग्रह और मिथ्यालाप के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। महत्ता की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग मुख्य हैं। शेष चार भंगों में तृतीय, पंचम और षष्ठ भंग द्विसंयोगी है तथा सप्तम् भंग त्रिसंयोगी है।

स्याद्वाद की समीक्षा - मुख्य रूप से बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन ने जैन के स्याद्वाद की आलोचना की है। बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है कि किसी भी तत्त्व को एक साथ सत् एवं असत् बतलाना मिथ्या प्रलाप के अलावा कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि यदि समस्त पदार्थ नित्यानित्यात्मक अर्थात् उभयरूप हैं तो एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का भेद करना असम्भव हो जाएगा। इस स्थिति में दही की इच्छा रखने वाला व्यक्ति ऊँट के लिए दौड़ता दिखाई पड़ेगा। इनके अतिरिक्त भी कई बौद्ध दार्शनिकों द्वारा स्याद्वाद के विरुद्ध आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने स्याद्वाद को 'अनिश्चितता' का सूचक बताया है। किसी वस्तु को एक साथ सत् और असत् कहना अनिश्चितता ही कही जा सकती है। कारण, ऐसी स्थिति में वस्तु के स्वरूप का निर्णय असंभव हो जाता है और निःसंशय प्रवृत्ति भी नहीं हो पाती है। स्याद् अवक्तव्यम् की आलोचना करते हुए शंकराचार्य का कहना है कि किसी वस्तु के विषय में कुछ कहना भी और उसे अवक्तव्य भी बतलाना स्वयं में वदतोव्याघात है। इसी प्रकार अन्यान्य दार्शनिकों द्वारा स्यात् को 'शायद' अथवा 'संभवतः' कहकर आलोचना की गई है, यद्यपि जैन दर्शन में स्यात् का यह अर्थ अभिप्रेत नहीं हैं। ऐसे ही चार मूल भंगों के अतिरिक्त अन्य तीन भंगों को आपस में योग स्वरूप मानकर स्याद्वाद के विरुद्ध आपत्ति उठाई गई है। दार्शनिकों का कहना है कि इस प्रकार तो अनेक भंग बनाए जा सकते हैं फिर सात ही क्यों? आदि-आदि। स्याद्वाद की सापेक्षता को इंगित करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि 'यह अनेकान्तवाद का स्वाभाविक परिणाम है जिसका तात्पर्य है कि यथार्थ सत्ता के अनेक रूप है। चूंकि यथार्थ सत्ता की अनेक आकृतियां हैं और वह सदा परिवर्तनशील हैं इसलिए किसी भी पदार्थ को सर्वदा सब जगह, सब काल में और हर प्रकार से वर्तमान रहने वाला नहीं माना जा सकता, और हमारे लिए यह असंभव है कि हम एक ऐसे कठोर और अविचलित मत को स्वीकार ही करें।

सन्दर्भः

१. *चेतना लक्षणो जीवः। सर्वार्थसिद्धिः पृ. ११*

२. *जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।*
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्सोड्ढ गई।। तत्त्वार्थसूत्र २/८

३. *द्रव्य संग्रह, गाथा, ४*

४. *अनाकार दर्शनम्, सर्वाथसिद्धि ११८*

५. द्रव्य संग्रह, गाथा, ४३

६. द्रव्य संग्रह टीका, ८

७. द्रव्य संग्रह, गाथा, ९

८. वही, गाथा १०.

९. प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। तत्त्वार्थसूत्र, ५/१६

१०. द्रव्य संग्रह, गाथा, १३.

११. धर्मास्तिकायाभावात्। तत्त्वार्थसूत्र, १०/८.

१२. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गला । वही, ५/२३.

१३. नियमसार, गाथा, ३६.

१४. द्रव्य संग्रह, १७.

१५. वही, १८.

१६. वही, २०.

१७. वही, २१.

१८. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४.

१९. द्रव्य संग्रह टीका, २८.

२०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, ३/५१३.

२१. तत्त्वार्थसूत्र, ६/१.

२२. आचारांगसूत्र, ३/१.

२३. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र, १/१

२४. अनन्तधर्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका, पृ. २

२५. संपादक, डॉ० नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन, पृ. १२७.

२६. उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्। तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९.

२७. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। वही, ५/२९.

२८. एकदेशविशिष्टोसर्थ्यो नयस्य विषयो मतः। न्यायावतार, २९.

२९. वाक्येषु अनेकान्त द्योती गम्यं प्रति विशेषकम् स्यात् निपातोर्श्र्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि। आप्तमीमांसा, १०३.

३०. वही, ११२.

३१. सप्तभिः प्रकारैः वचन विन्यासः सप्तभ्रगीति गीयते। स्याद्वादमंजरी, कारिका २३.

३२. नैकस्मिन्नसंभवात्। ब्रह्मसूत्र, २/२/३३

३३. एस० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग १, पृ. २४७.

***

अनेकान्तवाद : सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव का दर्शन

बालेश्वर प्रसाद यादव

१.प्रस्तावना

विश्व के सम्पूर्ण देशों में विभिन्न संस्कृतियों की अनेक धाराएँ अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही हैं। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भी न जाने कितनी चिन्तनधाराएँ प्राचीन से लेकर आज तक अनवरत गतिमान होती हुई विद्यमान हैं। विभिन्न चिन्तनधाराओं के परस्पर भेदोपभेद एवं तन्त्रात्मक वैभिन्य के बावजूद इनका सहभाव (सह-अस्तित्व) अत्यन्त ही विशेषोपम एवं द्रष्टव्य है। प्राचीन आर्यावर्त की भूमि पर उद्भूत होने से लेकर वर्तमान भारत तक पल्लवित एवं पुष्पित विभिन्न संस्कृतियों को दो भागों में प्रमुख रूप से विभाजित किया जा सकता है, जो हैं- वैदिक एवं अवैदिक परम्परा की संस्कृतियाँ। ये दोनों संस्कृतियाँ क्रमशः ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा के रूप में अभिज्ञात हैं। ब्राह्मण परम्परा का प्रवाह वेदों एवं उपनिषदों से प्रारम्भ होकर नाना पुराणों, रामायण, महाभारत एवं आस्तिक सम्प्रदाय के षड्दर्शनों से होते हुए आधुनिक हिन्दू धर्म की परम्परा एवं संस्कृति तक प्रसृत है। श्रमण परम्परा भी उतनी ही प्राचीनता लिए हुए जैन, आजीवक, चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों से होते हुए इनके अद्यतन परिवर्तित रूपों में परिलक्षित होता है। ब्राह्मण एवं श्रमण चिन्तनधारा की तत्त्वमीमांसा के प्रभेदक पृथक्-पृथक् रहे हैं।[१] इसी प्रकार इनकी ज्ञानमीमांसा एवं आचारमीमांसा में भी पर्याप्त भिन्नताएँ रही हैं। इन चिन्तनधाराओं के अन्तर्गत भी स्वयं के अन्तर्विरोध एवं तदनुरूप तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय भिन्नताएँ अत्यन्त ही उत्कट रूप में परिलक्षित होती हैं। इसी श्रमण चिन्तनधारा के अन्तर्गत परिगणित जैन दर्शन में जिस प्रकार की तत्त्वमीमांसा का विकास हुआ है उससे तत्त्व के बहुत्ववादी होने का प्रमाण उपलब्ध होता है। इसे ही जैन दर्शन में 'अनेकान्तवाद' नाम के विशिष्ट दार्शनिक पद से अभिहित किया जाता है। वैसे तो इस पद को जैन दर्शन में केवल तत्त्व की संख्यात्मक एवं गुणात्मक विशेषताएँ बताने के कारण ही चिह्नित किया गया है, परन्तु इसकी सम्पूर्ण अर्थवत्ता इसे तब प्राप्त होती है जब इसका प्रयोग इस दर्शन की ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय परिप्रेक्ष्यों में भी होता है। अनेक तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण यह दर्शन अनेकान्तवादी है। इसके समानान्तर तत्त्व को बहुल रूप में ज्ञात कराने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा के इस सिद्धान्त का कथ्य एवं लक्ष्यार्थ केवल तत्त्व तक ही सीमित कर देना अनेकान्तवाद एवं जैन दर्शन को एक सीमा तक सीमित कर देने जैसा होगा। इस सिद्धान्त को परिपूर्ण अर्थवत्ता तभी प्राप्त हो सकती है जब इसका उपयोग समाज एवं नीति दर्शन के परिप्रेक्ष्य में बहुलवादी सांस्कृतिक सह-अस्तित्व के आधार-सिद्धान्त के रूप में भी किया जाय। प्रस्तुत शोध-आलेख में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा को चित्रित करने वाला यह सिद्धान्त (अर्थात् 'अनेकान्तवाद') समाज एवं आचारमीमांसा के क्षेत्र में भी सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव (सह-अस्तित्व) का दर्शन है। कहने का तात्पर्य है कि यह सिद्धान्त न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभी विचारधाराओं का सम्यक् सम्मान करते हुए सभी संस्कृतियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है जो आज के अशांत विश्व की आत्यंतिक आवश्यकता है। आज सम्पूर्ण विश्व में धन, बल, ज्ञान, सैन्य-शक्ति, धर्म, जाति, प्रजाति आदि के नकारात्मक प्रयोग एवं वर्चस्व के द्वारा स्वयं की संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट एवं

अन्य को नकारने या सर्वदा-उच्छेद के लिए परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जंग जैसी स्थिति चल रही है। सबको साथ लेकर चलने का अभाव तो मनुष्यों के प्रथम सांगठनिक इकाई परिवार से लेकर राष्ट्र तक में दिख रहा है। हर जगह असंतोष एवं अलगाव की चिंगारी सुलगती दृष्टिगोचर हो रही है। मनुष्यों एवं उनके द्वारा निर्मित संस्कृतियों के परस्पर संघर्ष के कारण सहभाव या सह-अस्तित्व के समक्ष आसन्न संकट को देखते हुए जैन दर्शन के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद का नीति एवं समाज दर्शन में अनुप्रयोग उपर्युक्त समस्या का एक बौद्धिक समाधान है।

२. अनेकान्तवाद

भारतीय चिन्तनधारा के प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय की स्वयं की विशिष्ट पहचान उसके तत्त्व, ज्ञान एवं आचार सम्बन्धी सिद्धान्तों के कारण है। यही कारण है कि जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा अनेक तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण अनेकतत्त्ववादी या बहुत्ववादी है जिसे 'अनेकान्तवाद' के विशेष पद द्वारा अभिहित किया गया है। इसमें 'अन्त' नामक पदांश का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ 'वस्तु' और 'धर्म' दोनों है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन मत में यह मान्यता है कि इस जगत् में वस्तुएँ तो अनेक हैं ही, साथ ही उन वस्तुओं के धर्म भी अनेक हैं। इस प्रकार जैन दर्शन तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक मानता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं।[२] यहाँ 'धर्म' शब्द गुण, लक्षण या विशेषता के अर्थ में आया है। 'अनेक' पद का अर्थ है- एक से अधिक। इस प्रकार 'अनेकान्तवाद' पद यद्यपि कोशीय अर्थ में नकारात्मक है, पदार्थ की दृष्टि से नकारात्मक नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार, 'अनेकान्त शब्द जैनागमों में नहीं उपलब्ध है। यह शब्द सर्वप्रथम दार्शनिक सिद्धान्तों के रचनाकाल के आरम्भ में पाया जाता है। संभवत: सिद्धसेन दिवाकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इसका प्रयोग किया।'[३] इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्व के स्वरूप को लेकर जब विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद गह्वर हो गये तब जैन दर्शन ने सर्वसमावेशी सिद्धान्त के रूप में 'अनेकान्तवाद' का आविष्कार कर एक सर्वमान्य तत्त्वमीमांसा उपस्थापित करने का प्रयास किया।

जैन दर्शन द्रव्य में दो प्रकार का धर्म स्वीकार करता है- स्वरूप धर्म एवं आगन्तुक धर्म। इस तरह जैनाचार्यों ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि द्रव्य वह है जिसमें स्वरूप धर्म और आगन्तुक धर्म पाये जाते हैं। स्वरूप धर्म द्रव्य के अपरिवर्तनशील एवं नित्य लक्षण को कहते हैं जिसके अभाव में द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। यथा, चेतना जीव का स्वरूप धर्म है; मृत्तिका घट का स्वरूप धर्म है। आगन्तुक धर्म द्रव्य के परिवर्तनशील लक्षण है। ये लक्षण द्रव्य में आते हैं और चले भी जाते हैं। इनके अभाव में भी द्रव्य अपने अस्तित्व को बनाये रख सकता है। उदाहरणार्थ- सुख, दुःख, इच्छा, संकल्प आदि जीव के आगन्तुक लक्षण या धर्म हैं जबकि रंग, रूप आकारादि घट-पटादि के आगन्तुक धर्म हैं। जैन दर्शन स्वरूप धर्म को गुण (अट्रीब्युट) एवं आगन्तुक धर्म के पर्याय या विकार (मोड) कहता है। एतत्प्रकार जैन मतानुसार, द्रव्य वह है जो गुण एवं पर्याय वाला हो।[४] भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के तत्त्वमीमांसीय विकास के आरम्भ में विभिन्न दर्शनों के तत्त्वविचार भिन्न-भिन्न थे जिनमें सार्वभौम एकता का स्पष्ट अभाव था। कुछ-कुछ दर्शन ऐसे थे जो तत्त्व के स्वरूप को परम नित्य मानते थे और कुछ अन्य उसे परम क्षणिक या अनित्य मानते थे। सांख्य दर्शन में प्रकृति को नित्य एवं परिणामी दोनों माना गया है, परन्तु पुरुष तत्त्व को परम नित्य माना गया है जिसका विकार या परिणाम नहीं होता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पृथ्वी तत्त्व कारणरूप में नित्य तथा कार्यरूप में क्षणिक या अनित्य है, परन्तु आत्मा, ईश्वर एवं आकाश में कोई परिणाम या विकार नहीं है। बौद्ध दर्शन 'अर्थक्रियाकारित्व' को सत् का लक्षण मानता है, जबकि अद्वैतवेदान्त 'त्रिकालाबाधित्वता' को सत् का लक्षण स्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन नित्यता की अवधारणा को स्पष्टरूपेण अस्वीकार कर देता है, जबकि अद्वैतवेदान्त का 'ब्रह्म' कूटस्थ नित्य तथा 'माया' सत्-असत्-अनिर्वचनीया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में तत्त्व के स्वरूप एवं संख्या को लेकर गंभीर विवाद है जो सार्वभौम स्वीकार्यता के अभाव में अनावश्यक रूप से विवाद का केन्द्र बना हुआ था। ऐसे में, जैन दर्शन में तत्त्व के स्वरूप एवं संख्या को लेकर एक सर्वस्वीकार्य सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' के रूप में आया जो तत्त्व के स्वरूप को उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति- इन तीनों रूपों में स्वीकार करता है। अर्थात् 'द्रव्य वह है जो सत् हो' तथा 'सत् वह है जो उत्पाद, व्यय (विनाश) एवं ध्रौव्य (नित्यत्व) युक्त हो'।[५] द्रव्य के इन तीनों विशेषताओं में कोई आत्मविरोध नहीं है, अपितु तीनों व्यवहार्यता की

दृष्टि से परीक्ष्य हैं, क्योंकि गुण की दृष्टि से द्रव्य में एकता, सामान्यत्व एवं नित्यता की सिद्धि होती है और पर्याय की दृष्टि से अनेकता, विशेषत्व एवं अनित्यता की। इस प्रकार जैन मत में एकान्तवाद की दृष्टि से नित्य या अनित्य के रूप में सत् के लक्षण को स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात् द्रव्य कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। गुण सापेक्ष वह नित्य है तथा पर्याय सापेक्ष अनित्य है। इस प्रकार सत् को नित्य, अनित्य, चेतन, अचेतन, कूटस्थ और क्षणिक सभी प्रकार से स्वीकार करने वाले तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त को अनेकान्तवाद कहते हैं।

वास्तव में जैन दर्शन सर्वसमावेशी दार्शनिक चिंतन को प्रश्रय देता है। इसके अनुसार एकान्तवाद किसी एक दृष्टिकोण का ही समर्थन करता है। यह या तो सामान्य या विशेष के रूप में मिलता है; या तो कभी सत् या असत् के रूप में उपस्थित होता है; कभी तत्त्व निर्वचनीय या अनिर्वचनीय के रूप में, तो कभी हेतु या अहेतु के ह्रप में स्वीकार होता है। इस प्रकार अनेक सिद्धान्तों के रूप में एकान्तवाद अपने को दार्शनिक 'वाद' के रूप में उपस्थापित करता है। पर्याप्त व्यवहार्य एवं सार्वभौम स्वीकार्य तर्कों के अभाव में सभी एकान्तवादी दृष्टिकोण वाले मतवाद परस्पर शत्रुता भाव से सम्बन्धित होकर नकारात्मक तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, समाज एवं नीतिमीमांसा का निर्माण कर डालते हैं जिससे समाज में संघर्ष एवं वर्चस्व की अंध होड़ शुरू हो जाती है। वास्तव में जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक धर्म या मत की एक मर्यादा है जो स्वयं की विशिष्टोपपन्न तर्क से उद्‌भासित है। उसका उल्लंघन न करके उसे भी यथोचित स्थान देना ही सत्य के साथ न्याय करना है। जो व्यक्ति इस बात को न समझकर अपने आग्रह को ही जगत् का तत्त्व मान लेता है वह तत्त्व के सम्पूर्ण या दूसरे पक्ष की अवहेलना करता है। व्यक्ति स्वयं के एकान्तवादी आग्रह के कारण वस्तु के एक पक्ष को सर्वथा सत्य मान लेता है तथा दूसरे पक्ष के अस्वीकार कर देता है। एतत्कारणेन वस्तु की सम्पूर्णता का ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। एक ही वस्तु में परस्परापेक्षी एवं आत्यन्तिक विरोधी दोनों ही गुण रह सकते हैं, क्योंकि एक वस्तु एक ही साथ कई गुणों या धर्मों का आश्रय बन सकती है। यही समझ अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से युक्त कहलाती है। इस तत्त्वमीमांसा का यदि प्रयोग ज्ञानमीमांसा, आचारमीमांसा, सामाजिक वैचारिकी, मनोविज्ञान, सत्ताविज्ञान एवं अन्य समावेशी अध्ययन क्षेत्रों में किया जाय तो 'अनेकान्तवाद' को उसके सम्पूर्ण अर्थवत्ता के साथ समझा जा सकता है। अनेकान्तवाद को समझने के लिए जैन दर्शन में विकसित ज्ञानमीमांसा का प्रयोग अब हम अग्रवत् करेंगे।

३. अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद

जैन दर्शन में 'स्याद्‌वाद' का विकास 'अनेकान्तवाद' को समझाने वाले उपकरण-सिद्धान्त के रूप में हुआ है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से मानवीय ज्ञान की सीमा-रेखा को भी इंगित करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता पृथक्-पृथक् एवं सीमित है। कोई भी व्यक्ति वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। यह पर्याप्त सम्भव है कि कोई विशिष्ट लक्षण या धर्म किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा जाना जाय और अन्य दृष्टिकोण का ज्ञान किसी अन्य व्यक्ति विशेष द्वारा हो, क्योंकि वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है और सभी धर्मों का ज्ञान किसी एक मनुष्य के द्वारा सम्भव नहीं है। मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे उसका कथन भी करता जाता है। यह सम्भव है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म उपस्थित हों और उनका पृथक्-पृथक् देश-काल-परिस्थिति में ज्ञान हो रहा हो। ऐसी स्थिति में हम 'स्यात्' पद का प्रयोग करते हुए कथन को उपस्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसका लाभ यह होता है कि हम आत्यन्तिक सत्य का दावा नहीं कर पाते। हमारे ज्ञान का प्रत्येक कथन एक 'नय' कहलाता है जिसमें केवल एक आंशिक सत्य को ही अभिव्यक्त करने की क्षमता रहती है, क्योंकि किसी व्यक्ति का एक कथन पूर्ण नहीं होता, वह केवल सापेक्ष हो सकता है जिसका कथन किसी एक 'नय' के द्वारा हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार यह कथन करना कि 'यह स्यात् सत् है', प्रमाण तो है, परन्तु इसके द्वारा ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता ही प्रकाशित होती है।[६] इस प्रकार जैन दर्शन की मान्यता है कि किसी भी ज्ञानात्मक कथन के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग न करना ज्ञान की निरपेक्षता तथा ऐकान्तिकता का उपाख्यान करना है, जो मिथ्या एवं भ्रामक है। जैन मतानुसार इसे न मानने से एवं अपने-अपने दुराग्रहों पर अडिग रहने के कारण ही धार्मिक उन्माद एवं दार्शनिक विवाद देखने का मिलते हैं। स्वयंनिर्णित आंशिक एवं सापेक्ष सत्य को परमसत्य

मानना तथा अन्य-प्रतिपादित आंशिक सत्य को अस्वीकार करना ही संघर्ष, असंतोष एवं कलह को जन्म देना है। इससे अनेकान्तता एवं वस्तु के अनेकधर्मात्मकता का अपलाप होने से सह-अस्तित्व या सहभाव की भावना समाप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में ऐकान्तिक मत के कारण उत्पन्न विवाद की स्थिति का वर्णन हाथी के स्वरूप के ज्ञान के सम्बन्ध में अलग-अलग अन्धों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न कथनों के पारस्परिक विरोध का उदाहरण जैन मत में प्रस्तुत किया गया है। यथा, एक अन्धे ने हाथी के पैर को छूआ और कहा- 'हाथी खम्भे के समान हैं'; दूसरे अन्धे व्यक्ति ने कान को छूकर कहा- 'हाथी सूप के समान हैं'; तीसरे ने सूंड़ को छूकर कहा- 'हाथी एक विशाल अजगर है'; इस प्रकार चौथे ने पूँछ छूकर हाथी को रस्सी, पाँचवे ने पेट का हिस्सा छूकर दीवार कहा और अपने-अपने कथन के दुराग्रहवश आपस में लड़ने लगे। प्रत्येक अन्धे व्यक्ति का कथन आंशिक रूप से सत्य है, परन्तु सम्पूर्णता में वह सत्य नहीं। जैन मत का मानना है कि व्यक्तियों का दुराग्रह इसी प्रकार धार्मिक एवं दार्शनिक असहिष्णुता को उत्पन्न कर देता है जो सहभावन के लिए खतरे की घण्टी होती है।

उपर्युक्त इन्हीं कारणों से जैन मतानुसार प्रत्येक कथन-रूप 'नय' के पूर्व में 'स्यात्' पद का प्रयोग अनिवार्य है। जैन दर्शन 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' के रूप में करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी एक दृष्टि से वस्तु 'इस प्रकार से' कही जा सकती है और किसी अन्य दृष्टि से वस्तु को 'इस अमुक प्रकार से' कहा जा सकता है। स्यात् पद निरपेक्षता का अपघटन कर सापेक्ष की अभिव्यक्ति देता है। 'स्यात् यह सत् है'- इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'सापेक्षतया यह सत् हैं'। इसी 'स्यात्' पद के प्रयोग के कारण इस सिद्धान्त का नाम 'स्याद्वाद' पड़ा है। यह स्याद्वाद वस्तु के अनन्त धर्मात्मक चरित्र का कथन है।[७] स्याद्वादमञ्जरी में भी इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'स्यात्' पद नामक अव्यय अनेकान्त का द्योतक है, अतएव 'स्याद्वाद' को 'अनेकान्तवाद' कहते हैं।[८] इस प्रकार स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद दोनों ही एक ही कथ्य को प्रकाशित करने वाले अलग-अलग सिद्धान्त हैं। अनेकान्तवाद तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से जबकि स्याद्वाद ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। जैन मत के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. मोहनलाल मेहता का मानना है कि प्रयोग की दृष्टि से 'स्याद्वाद शब्द अधिक प्राचीन है, क्योंकि आगमों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग देखने में आता है।[९] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन का यह उदार एवं सहिष्णु सिद्धान्त-द्वय न केवल विभिन्न भारतीय दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों, अपितु सम्पूर्ण विश्व के समक्ष एक ऐसे आदर्श की प्रस्तुति करते हैं जिनमें सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभावन के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

४. अनेकान्तवाद : सर्वसमावेशी सांस्कृतिक सहभाव के दार्शनिक आधार

जब हम किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का अध्ययन करते हैं तब उसकी ज्ञानमीमांसा एवं तदनुरूप तत्त्वचिन्तन का सम्यक् अवलोकन करते हैं। तत्पश्चात् हम उस तत्त्वमीमांसा के सानुकुल एक नीतिमीमांसा की भी परिकल्पना करते हैं और उसकी व्यवहार्यता के द्वारा उस सिद्धान्त की सफलता का आकलन करते हैं। इस परीक्षण की परिपाटी के अनुसार जैन दर्शन का तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त जो 'अनेकान्तवाद' के रूप में पूर्व में उल्लिखित एवं विश्लेषित हो चुका है, अपने समानांतर ज्ञान-सिद्धान्त- 'स्याद्वाद' के रूप में भी परीक्षणोतीर्ण हो चुका है। अब इस खण्ड में इस सिद्धान्त की व्यवहार्यता का परीक्षण नीति एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में अवलोक्य है जिसका निहितार्थ विभिन्न विरोधाभासों के बाद भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सह-अस्तित्व एवं सह-जीवन हेतु सर्वसमावेशी सिद्धान्त के रूप में विचारणीय है।

४.१ सहभाव (सह-अस्तित्व)

दृश्य प्रकृति के स्वभाव में ही विरोधी तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्रकृति के अन्दर ही सैकड़ों-लाखों विरोधाभासों के बावजूद सह-अस्तित्व या सहभाव का नियम है। वहाँ बहुलता है; सर्वसमावेशी भावना है, क्योंकि जीवन के लिए परस्पर निर्भरता (परस्परोपग्रहो जीवानाम्)[१०] की अत्यन्त आवश्यकता है। सम्पूर्ण जगत् या प्रकृति परस्पर-निर्भरता एवं सहभाव के नियम से संचालित है। यही उसकी वैविध्यपूर्ण एकता का सौन्दर्य है। प्रतिपक्षता को प्रकृति का स्वाभाविक गुण मान लेने से अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का उदय होता है जिसके फलस्वरूप शांतिपूर्ण सहभाव

की भावना जागृत होती है। अनेकान्तवाद के मूल में तीन बाते प्रमुख हैं- पहली सापेक्षता, दूसरी समन्वय एवं तीसरी सहभाव या सह-अस्तित्व की भावना। इस जगत् में यत्किञ्चित् है, उसका प्रतिपक्ष भी अवश्य है (यत् सत् तत् सप्रतिपक्षम्)। उदाहरणार्थ, समस्त प्रकृति में जड़ एवं चेतन का समन्वय एवं सहभाव है जबकि वे दोनों ही आत्यन्तिक विरोधी तत्त्व हैं। शरीर जड़ है; आत्मा चेतन है, परन्तु दोनों का समन्वित सह-अस्तित्व है। तद्वत् चिरस्थायी एवं क्षणभंगुर, समान और असमान, दुःख और सुख, दिवा और रात्रि, प्रजातंत्र एवं राजतंत्र, एकत्ववाद और अनेकत्ववाद आदि प्रतिपक्षी युग्म सम्पूर्ण विरोधों के उपरान्त भी सहभाव में स्थित रहते हैं। इन युग्मों की वास्तविकता एवं जागतिक उपयोग न जानने के कारण ही विवाद एवं विषाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

धार्मिक एवं दार्शनिक मतवादों में मतभेद के कारण व्यक्तियों के एकांगी प्रतिपादन की कुण्ठित दृष्टि सहभाव न की भावना को कमजोर करने लगती है। जब व्यक्ति दूसरे पक्ष का सुनता नहीं, केवल अपनी ही बात मनवाने या थोपने की इच्छा रखता है तब समन्वय या सहभाव की स्थिति समाप्त हो जाती है। जब 'तू' या 'मैं' की भावना प्रबल हो जाये, तथा 'तू' और 'मैं' की भावना शिथिल पड़ जाये तभी संघर्ष उठ खड़ा होता है। संसार के बड़े से बड़े युद्ध का कारण यही छोटा-सा 'तू' या 'मैं' रहा है। इसे तार्किक ढंग से निम्नवत देखा जा सकता है :

'या तो 'तू' रहेगा या मैं रहूँगा' = ता या म = त म

इस तर्कवाक्य का अन्तिम निष्पादन 'एकतत्त्ववाद' या 'ऐकांगितावाद' के रूप में परिलक्षित होता है जो जैन दर्शन को स्वीकार्य नहीं है, जबकि इसी के स्थान पर यदि यों कहा जायः

'तू' रहेगा और 'मैं' रहूँगा' = त व म = त म

तो इस तर्कवाक्य का अन्तिम निष्कर्षण से यह स्पष्ट होता है कि हम दोनों का अस्तित्व होगा; यहाँ सह-अस्तित्व का बोध हो रहा है, अर्थात् इससे वाक्य में अनेकान्तवादी दृष्टिकोण समाहित होने का पता चलता है।

जैन दर्शन के अनेकान्त दृष्टि को अपनाकर समस्त विरोधों का शमन सम्भव हो सकता है। 'परस्पर विरोधी माने जाने वाले धर्मों का एक ही द्रव्य में अविरोधी समन्वय करना अनेकान्तवाद की देन है'[११] अनेकान्तवाद से सहभाव या सह-अस्तित्व की भावना जागृत होती है जिससे सहिष्णुता एवं विचार की स्वतंत्रता के लिए पर्याप्त अवकाश उपलब्ध हो जाता है। जैन मत के इस सिद्धान्त के द्वारा तत्कालीन दार्शनिक मतवादों के परस्पर भेदों के शमन हेतु समन्वित वैकल्पिक सिद्धान्तों को देखा जा सकता है। यथा, संग्रहनय के द्वारा वेदान्त दर्शन, ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बौद्ध दर्शन, द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से सांख्य दर्शन तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के संयुक्त दृष्टिकोण से वैशेषिक दर्शन के परस्पर भेदोपभेदों का शमन कर एक उदार एवं सहिष्णु दृष्टिकोण के रूप में नवोन्मेषी विचारधारा को लाया जा सकता है, परन्तु यह अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के प्रविधियों द्वारा ही सम्भव है। अनेकान्त की दृष्टि विकसित कर लेने के पश्चात् व्यक्ति आत्मवत सर्वभूतों को महत्त्व प्रदान करने लगता है। वहाँ तब उसका न किसी से राग रह जाता है और न किसी से द्वेष।[१२] सबके प्रति अनेकान्त दृष्टि को महत्त्व देने से व्यक्ति 'आत्मतुल्य भाव रखे' (आय तुले पयासु), ऐसा भगवान् महावीर ने उपदिष्ट किया है। इन दृष्टियों के मूल में अनेकान्त की भावना है। इस प्रकार हम यह अनुभूत कर सकते हैं कि जैन मत में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सांस्कृतिक सहभाव हेतु आवश्यक तत्त्व या मूलाधार है।

४.२ अहिंसा की वैचारिकी

जैन दर्शन ने अहिंसा को जितनी सूक्ष्मता से ग्रहण किया है उतनी सूक्ष्मता अन्यत्र कहीं भी नहीं देखी गयी है। अहिंसा की वैचारिकी का मूल भी जैन दर्शन का अनेकान्तवादी तत्त्वचिन्तन ही है। जैसा कि प्रसिद्ध जैन विद्वान् डॉ. मोहनलाल मेहता ने लिखा है : 'अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता है।'[१४] वह पुनः इसके महात्मय को बताते हुए लिखते हैं : 'जैनाचार का प्राण अहिंसा है। अहिंसक आचार एवं विचार से ही

आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है। ... अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा- चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो, चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव में हो- तात्त्विक दृष्टि से समान है।'[१५] जैन तत्त्वमीमांसा में अनेकान्तवाद को इतना अधिक महत्त्व देने के कारण ही हिंसा को सर्वथा- मनसा, वाचा एवं कर्मणा प्रतिवारित किया गया है। जब हम दूसरों के प्रति केनप्रकारेण हिंसा नहीं करते हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम उसे अपने साथ अस्तित्व बने रहने देने में विश्वास करते हैं। यही भावना सहभाव है। अहिंसा की वैचारिकी से सह-अस्तित्व की भावना को महती बल मिलता है।

वैदिक हिंसा को चुनौती देने से लेकर आजकल अशांत हो रहे सम्पूर्ण वैश्विक संस्कृति के लिए खतरा उत्पन्न करने वाले विश्वयुद्ध को वैचारिक धरातल पर पटखनी देने वाला यह अनेकान्तवादी चिन्तन चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालकर एवं पर-मतवाद के विषय में सहिष्णुतापूर्वक विचार कर एक साथ 'जीओ' और जीने दो के आदर्श को प्रशस्त करता है तथा सहभाव के लिए उत्प्रेरित करता है। आज जो निखिल विश्व में अशांति प्रसृत एवं व्याप्त है उसका मूलकारण एक वाद का या एक संस्कृति का दूसरे वाद या दूसरी संस्कृति पर मनमाने ढंग से रौब गाँठने एवं उसे ने स्वीकार करना ही है। शक्तिशाली देशों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे ही सबसे अधिक सभ्य एवं श्रेष्ठ हैं, अन्यों का स्थान उनके समक्ष नहीं रहना चाहिए; उन्हीं का धर्म एवं उन्हीं की संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है, अन्यों की नहीं। ऐसे ही स्वयं के देश के भीतर भी भारी विरोधाभास है। साम्यवादियों को लगता है कि प्रजातांत्रिक प्रणाली गलत है और प्रजातांत्रिकों को लगता है कि साम्यवाद असफल एवं कूड़े की टोकरी में फेंके जाने वाला सिद्धान्त है। ऐसे ही विभिन्न धर्मावलम्बियों की कहानियाँ हैं। वे अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता में दूसरे धर्म की आलोचना करना तथा साम्प्रदायिक सद्भाव को नष्ट करने के कुत्सित प्रयास करना अपना पुनित कार्य समझते हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में जहाँ अस्तित्व का संकट खड़ा हो; वैचारिक उन्माद शारीरिक हिंसा के रूप प्रकट हो रहा हो, वहाँ जैन दर्शन का अनेकान्तवादी चिन्तन प्रणाली का प्रयोग सर्वसमावेशी सांस्कृति सहभाव के लिए अश्वयंभावी हो जाता है। जैन दर्शन का यह तत्त्वचिन्तन मानसिक रूप से मतान्ध हो गये व्यक्तियों के लिए दवा की खुराक के रूप में प्रयोज्य है। इसी धारणा को लक्ष्य करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *संस्कृति के चार अध्याय* में कहा है; 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसन्धान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'[१६]

४.३ सामाजिक संतुलन एवं विश्व-शान्ति

न केवल भारत, अपितु सम्पूर्ण विश्व में कई समुदायों एवं संस्कृतियों के लोग निवास करते हैं। सबकी अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। अपने देश को लीजिए। कहीं गरीबी की समस्या है, तो कहीं अशिक्षा की, कहीं दलित उत्पीड़न की समस्या है, तो कहीं जनजातियों, कहीं अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय, तो कहीं नारी शोषण, तो कहीं पिछड़ों के हक की समस्याएँ हैं, कहीं-कहीं क्षेत्रवाद भी तो कहीं धार्मिक उन्माद ही सिर चढ़कर बोल रहा है। ऐसे ही विश्व के अन्य देशों में भी उनकी परिस्थितियों के सापेक्ष समस्याएँ, कल एवं आन्तरिक असुरक्षा व्याप्त हो चुकी हैं। कहने का तात्पर्य है कि सम्पूर्ण सामाजिक संतुलन के तार अस्त-व्यस्त हो गये हैं। इन सबका मूल कारण वैचारिक धरातल पर है। हम सबको साथ लेकर चलने में विश्वास नहीं कर रहें। यहाँ तक कि संयुक्त परिवार खण्डित हो रहे हैं। कोई भी अपने ही परिवारिकजनों के साथ एक छत के नीचे नहीं रहना चाहता। ऐसी परिस्थिति के आ जाने पर जब व्यक्तियों में सहभावन की सम्भावना न दिखती हो, तब अनेकान्तवाद का दर्शन लोगों में एक नये भविष्य की आशा के साथ सह-अस्तित्व के बीज का पुनर्वपन कर सकता है। यह तत्त्वमीमांसा का सिद्धान्त व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व में सहजीवन एवं शाक्ति का संचार कर सकता है।

५. उपसंहार

जैन दर्शन भारतीय संस्कृति के श्रमण चिन्तनधारा का एक दार्शनिक सम्प्रदाय है। इस दर्शन की अनूठी तत्त्वमीमांसा का तार्किक सिद्धान्त जो 'अनेकान्तवाद' के रूप में प्रख्यात है, इस दर्शन का प्राणतत्त्व है। यह सिद्धान्त न केवल अपनी

वैचारिकी के कारण प्रसिद्ध है, प्रत्युत् इसका प्रयोग ज्ञानमीमांसा, नीति एवं समाज दर्शन के क्षेत्र में भी सफल एवं व्यवहार्य है। अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यही है कि यह वाद अन्य वादों को भी सम्यक् अवकाश प्रदान करता है। इसके अनुसार जैन दर्शन का कहना है कि वस्तु में अनेक गुण हैं, और हम अपनी सीमित ज्ञान-शक्ति के द्वारा कुछ को ही जान सकते हैं, सबको नहीं। ऐसे में उसके सम्बन्ध में अन्य कथनों को नकारने का हमें तार्किक आधार प्राप्त नहीं है। अत: हमें उसे भी आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार लेना चाहिए। यही विचार जैन दर्शन को उच्च नैतिक मानदण्ड स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है जिससे सर्वसमावेशी सह-अस्तित्व की भावना का नैतिक दर्शन विकसित होता है। अर्थात् जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा का 'अनेकान्तवाद' उसकी ज्ञानमीमांसा को 'स्याद्वाद' एवं नीतिमीमांसा को 'सर्वसमावेशितावाद' के रूप को प्रकट करता है।

संदर्भ:

१. *यादव, बालेश्वर प्रसाद (२०१२), 'श्रमण-ब्राह्मण चिन्तनधारा के प्रभेदक तत्त्वमीमांसीय परिप्रेक्ष्य', संस्कृति संधान, जिल्द - XXV, नं.-२, पृ. १०९-१२२.*

२. *अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्। - अन्ययोगव्यच्छेदिका, पृ. २२, उद्धृत शर्मा, चन्द्रधर (१९९१), भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन, पृ. ३२.*

३. *आचार्य महाप्रज्ञ (२०१०), अनेकान्त : फिलॉसफी ऑफ को-एक्जिस्टेंस (लाडनूँ : जैन विश्व भारती), पृ. २१.*

४. *गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७.*

५. *उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत्, यथोपरि, ५.२९.*

६. *सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणै:।- अन्ययोगव्यच्छेदिका, २८.*

७. *अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वाद:।- लघीयस्त्रयटीका, ६२.*

८. *स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकं तत: स्याद्वादोऽनेकान्तवाद:।- स्याद्वादमञ्जरी, ५.*

११. *मेहता, डॉ. मोहनलाल (१९९९), पूर्वोद्धृत, पृ. ३५३.*

१२. *उत्तराध्ययन सूत्र, १९.२५*

१३. *सूत्रकृतांग, १.११.३*

१४. *मेहता, डॉ. मोहनलाल (१९९९), पूर्वोद्धृत, पृ. ५०५.*

१५. *तत्रेव।*

१६. *'दिनकर', रामधारी सिंह (२०१२), संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ११५*

***

शंकराचार्य के दर्शन में ज्ञान की अवधारणा

सरोज कुमार वर्मा

'ज्ञान के समस्त साधन केवल तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक कि परम सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्त्व सम्मुख नहीं आता। वस्तुतः हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान (अविद्या) है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात् आरोपित किया गया है परम चैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम विद्या अथवा ज्ञान है।'(डॉ० राधाकृष्णन के 'भारतीय दर्शन, खंड-२' से उद्धृत)

शंकराचार्य अद्वैतवाद के शीर्षस्थ प्रस्तोता हैं। अद्वैतवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है, जो ब्रह्ममात्र की सत्ता को स्वीकार करता है और बाकी तमाम चीजों को मिथ्या घोषित कर देता है। 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' इस घोषणा का सूत्र-वाक्य है। लेकिन इस घोषणा से जगत् की सत्यता-असत्यता को लेकर बड़ी उलझन खड़ी हो जाती है। जिस जगत् को हम पूरे होशो-हवास के साथ सभी आयामों में सत्य महसूस करते हैं, उसे मिथ्या कैसे मान लिया जाये? शंकराचार्य इसे सुलझाने के लिए सत्ता को तीन श्रेणियों में बाँट देते हैं। एक-पारमार्थिक, दूसरा-व्यावहारिक और तीसरा-प्रातिभासिक। पारमार्थिक वह सत्ता है जिसका, भूत, वर्तमान और भविष्य, किसी काल में नाश नहीं होता। इसलिए इसे शंकर ने त्रिकालाबाधित कहा है। ब्रह्म ऐसी ही सत्ता है। प्रातिभासिक स्वप्न सरीखी सत्तायें हैं, जो होती नहीं हैं, लेकिन होने जैसा दिखायी देती हैं। इसलिए ये आभासिक हैं। व्यावहारिक सत्ता इन दोनों से पृथक् है, क्योंकि वह न तो पूरी तरह अबाधित होती है और न पूरी तरह आभासिक। उसमें अबाध और आभास दोनों मिला-जुला होता है । जगत् इसी श्रेणी में आता है। इसलिए उसकी सत्ता स्वप्न जैसी नहीं होती कि एकदम से हो ही नहीं और होने का आभास दे और न ब्रह्म जैसी होती है कि किसी काल में उसका नाश ही नहीं हो। वह लंबे समय तक जरूर अबाधित होती है लेकिन अंततः उसका नाश हो ही जाता है । इसीलिए शंकर ने इसे व्यावाहरिक कहा है। हमारा सारा कार्य-व्यापार इसी व्यावहारिक जगत् में चलता है और हम अज्ञान के कारण ही इसे सत्य मानते हैं। यह सत्य मानना ही हमारे बंधन का कारण होता है। अतः जिस क्षण हमें यह ज्ञान हो जाता है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है, उसी क्षण हम बंधन से मुक्त हो जाते हैं। मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए शंकर ने ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताया है। शंकर के दर्शन में ज्ञान का आधारभूत स्वरूप यही है और उसकी केन्द्रीय चर्चा इसी रूप में हुई है।

I

लेकिन चूंकि शंकर ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया है इसलिए उन्होंने व्यावहारिक स्तर पर ज्ञान के स्वरूप, उसके साधन, उसकी वैधता तथा भ्रम आदि विषयों पर भी विचार किया है। परन्तु यह विचार व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। इस तथ्य की गवाही ऊपर उद्धृत डॉ. राधाकृष्णन का उद्धरण तो देता ही है, डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव का यह कथन भी इस बात को पुष्ट करता है- 'वैसे तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान परम तत्त्व का स्वरूप है, पर व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रक्रिया के रूप में ले सकते हैं, जिसे जीव संपन्न करता है। विशुद्धात्मा तो ज्ञान से अभिन्न है, पर जीवात्मा को बाह्य संसार को जानने के लिए भी प्रक्रिया करने की आवश्यकता होती है।'[१] शंकर की ज्ञानमीमांसा इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए है। इस प्रकार शंकर के यहां ज्ञान दो वर्गों में विभाजित है- व्यावहारिक और

पारमार्थिक। व्यावहारिक ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों से भिन्न होता है, क्योंकि इसमें जिस वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञेय वस्तु तथा जो उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है वह ज्ञाता दोनों भिन्न होते हैं। इसलिए समस्त व्यावहारिक ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में विभक्त होते हैं। परन्तु पारमार्थिक ज्ञान ऐसा नहीं होता। उसमें किसी तरह का कोई विभाजन नहीं होता। वह ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से रहित अभेद होता है– 'ज्ञानज्ञेय ज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनम्।'[२] अतः उसमें अनेकत्व का कोई बोध नहीं होता और इसीलिए श्रुतियों में यह कहा गया है कि ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।

शंकर ज्ञान को वस्तुतंत्र मानते हैं– 'वस्तुतंत्रमेव तत्'।[३] अर्थात् 'वह यानी ज्ञान वस्तु के अधीन है।' शंकर का ऐसा मानने का कारण यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान, तभी उस वस्तु का ज्ञान कहलायेगा, जब वह उस वस्तु के अनुकूल हो। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह उस वस्तु का ज्ञान नहीं कहलायेगा। अतः ज्ञान वस्तु से स्वतंत्र नहीं है। जैसी वस्तु होगी, वैसा ही उसका ज्ञान होगा। लेकिन इसके विपरीत शंकर कर्म को पुरुषतंत्र मानते हैं, क्योंकि पुरुष यानी कर्ता कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने के लिए स्वतंत्र है– 'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तु शक्यं कर्म'।[४] अतः कर्म में विधि, निषेध, विकल्प, अपवाद आदि मौजूद हैं, लेकिन ज्ञान में ऐसा नहीं है। उसमें ये सब कुछ भी मौजूद नहीं है। वस्तु जैसी है, वैसी है। उसमें ज्ञाता यह नहीं कह सकता कि वस्तु ऐसी है, कि वैसी है, कि ऐसी नहीं है, कि वैसी नहीं है, कि वस्तु है ही नहीं। शंकर के अनुसार ऐसा कोई विकल्प ज्ञान में मौजूद नहीं है। यदि ऐसा कोई विकल्प होता है तो वह ज्ञाता की वजह से होता है, वस्तु की वजह से नहीं। वस्तु का ज्ञान तो वस्तु के अधीन ही होता है, वह ज्ञाता की अपेक्षा नहीं करता। और, ऐसा मानने के कारण ही शंकर स्मृति को ज्ञान नहीं मानते। क्योंकि इस मान्यता के मुताबिक ज्ञान वस्तु की उपस्थिति में ही होता है, जबकि स्मृति में वस्तु उपस्थित नहीं होती। स्मृति में तो सिर्फ पहले से ज्ञान प्राप्त की हुई वस्तु का कल्पना-रूप आता है, यथार्थ वस्तु ज्ञान का विषय नहीं बनती। अतः यथार्थ वस्तु की उपस्थिति के बिना मात्र उसके कल्पना-रूप के आधार पर स्मृति को ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। ज्ञान के लिए वस्तु का यथार्थ रूप में होना अनिवार्य है।

II

शंकर के अनुसार ज्ञान छः साधनों– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के द्वारा प्राप्त होता है। यद्यपि कि डॉ. राधाकृष्णन ऐसा नहीं मानते। उनके मुताबिक शंकर ने स्वयं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र- इन तीन साधनों की ही चर्चा की है और शेष तीन– उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि बाद के विद्वानों द्वारा जोड़े गये हैं, परन्तु डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र राधाकृष्णन् की इस मान्यता से सहमत नहीं होते। इनका कहना है कि शंकर ने स्वयं छः साधनों को स्वीकार किया है। इस संबंध में इन दोनों ने राधाकृष्णन को उद्धृत करते हुए लिखा है – 'शंकर ज्ञान के साधन (प्रमाण) तीन या छः मानते हैं –इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। डॉ. राधाकृष्णन लिखते हैं – 'शंकर ज्ञान के तीन स्रोतों का उल्लेख करते हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण । उनके परवर्ती लेखकों ने उनमें तीन और जोड़े : उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।' किन्तु हम देखते हैं कि शंकर स्वयं छः प्रमाण गिनाते हैं और कहते हैं कि न केवल कर्म द्वारा और न कर्म-ज्ञान समुच्चय द्वारा ही मुक्ति संभव है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'न प्रमाणाभावात्। तत्र हि कर्मण उक्तविषय व्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोस्ति।' अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं है, यहाँ कर्म से उक्त विषयों से भिन्न किसी अन्य विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति है और न शब्द प्रमाण है । यहाँ केवल 'अनुपलब्धि' का उल्लेख नहीं आया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर ने उस पर विचार किया है।[५] इस प्रकार इस लेखक द्वय के कथन के आधार पर यह स्वीकार लेने में कोई हर्ज नहीं है कि शंकर के दर्शन में ज्ञान के छः साधनों की चर्चा है। राधाकृष्णन् भी छः को तो स्वीकार करते ही हैं, सिर्फ यह कहते हैं कि उनमें तीन दूसरे द्वारा जोड़े गये हैं। अब चाहे दूसरे द्वारा जोड़े गये हों या शंकर ने खुद स्वीकारा हो, लेकिन इतना तय है कि उनके दर्शन में ज्ञान के छः साधन स्वीकृत हैं।

इनमें पहला प्रत्यक्ष है। शंकर के अनुसार प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रिय और उनके विषयों के संपर्क से प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि इस ज्ञान में केवल इन्द्रियों की ही भूमिका नहीं होती, उनके साथ-साथ बाह्य विषयों का होना भी अनिवार्य

होता है। शंकर चूंकि ज्ञेय विषय को ज्ञाता से पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व वाला मानते हैं, इसलिए उनके मुताबिक इंद्रियों के अलावा विषयों का होना भी आवश्यक है। लेकिन यह आवश्यकता इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाती। इसका दायरा बढ़ कर मन तक जाता है। अत: केवल इंद्रियों का विषयों से संपर्क हो जाने से ही ज्ञान नहीं हो जाता। इंद्रियों के साथ जब मन होता है तभी इंद्रियाँ विषयों को ग्रहण कर पाती हैं 'इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं'[६]- अर्थात् 'इन्द्रिय और मन के द्वारा ही वस्तु का विज्ञान यानी ज्ञान होता है।' शंकर इन्द्रियों को बाह्यकरण और मन को अंत:करण कहते हैं। इसलिए ये दोनों जब एक साथ होते हैं तभी विषय का प्रत्यक्ष हो पाता है। डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र के अनुसार- 'इस प्रकार प्रत्यक्ष में, शंकर अंत:करण की भूमिका आवश्यक मानते हैं। मन इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण कर विषयाकार वृत्ति धारण करता है। शंकर इसे 'मन:प्रचार' कहते हैं। अत: प्रत्यक्ष ज्ञान 'वृत्तिजन्य' ज्ञान है। शंकर के शब्दों में 'इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां मन: अनुप्रवर्तते' अर्थात् इंद्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवर्तित होने पर मन उनका अनुवर्तन करता है।'

इंद्रियाँ पांच हैं, किन्तु मन एक ही है, इसलिए शंकर मन को 'सर्वकरण साधारण' कहते हैं। सभी इंद्रियों से प्राप्त होने वाले विषयों को ग्रहण कर तद्रूप धारण करने की सामर्थ्य मन में है। मन में जिस विषय की वृत्ति निर्मित होती है वह आत्मचैतन्य से प्रकाशित होकर उस विषय का बोध कराती है।'[७] डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार भी- 'जब आँख एक घड़े पर जमती है तो अंत:करण उसकी ओर अग्रसर होता है, उसे अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है, उसकी आकृति धारण करता है और इस प्रकार उसका बोध ग्रहण करती है । ... अंत:करण प्रकाश के समान कार्य करता है। एक विस्तृत प्रकाश-किरण के रूप में, इसकी वृत्ति बाहर की ओर गति करती है। ... हम जो कुछ प्रत्यक्ष करते हैं वह वृत्ति के ऊपर निर्भर करता है। यदि वृत्ति पदार्थ के वजन की आकृति धारण करती है तो हम वजन का प्रत्यक्ष करते हैं; और यदि रंग की वृत्ति है तो हमें रंग का प्रत्यक्ष होता है।'[८]

शंकर दूसरे प्रमाण के रूप में अनुमान को स्वीकारते हैं। अनुमान की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ प्रत्यक्ष काम नहीं करता। प्रत्यक्ष के लिए वस्तुओं का इंद्रियों के दायरे में होना जरूरी है। लेकिन जहाँ वस्तुयें इंद्रियों के दायरे से बाहर होती हैं, वहाँ उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह अनुमान लिंग के द्वारा होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में विषय का संपर्क इन्द्रियों के साथ होता है, उसी प्रकार अनुमान में विषय के लिंग का संपर्क इन्द्रियों के साथ होता है, तभी उस विषय का ज्ञान हो पाता है। अनुमान के इस स्वरूप के कारण ही शंकर इसे प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं मानते, बल्कि दोनों में सामंजस्य स्वीकारते हैं- 'न प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाव्यभिचारिता, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य'[९] अर्थात् 'प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता में विरोध नहीं होता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। 'वेदांत परिभाषा' में अनुमान की परिभाषा देते हुए कहा गया है- 'अनुमितिकरणमनुमानम् अनुमितिश्चव्याप्तिज्ञान जन्या।'[१०] अर्थात् अनुमिति प्रमा का करण ही अनुमान है। अनुमिति प्रमा व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होती है, अत: व्याप्ति ज्ञान होने से अनुमिति का ज्ञान संभव है। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में- 'अनुमान की उत्पति व्याप्ति-ज्ञान के द्वारा होती है जो कि इसका निमित्त कारण है।' जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि व्याप्य पद के अंदर गुण उपस्थित है जैसे 'पर्वत धुएं वाला है,' इस वाक्य में है, और पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान की मानसिक प्रभाव की जागृति भी है इस रूप में कि 'धुआं बराबर अनिवार्य रूप से आग के साथ रहता है' तब परिणामस्वरूप इस अनुमान की उत्पत्ति होती है कि 'पर्वत पर आग है'।'[११] शंकर अनुमान की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन के लिए स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसे अस्वीकार करने से लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा- 'सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसंग:।[१२]

शंकर की ज्ञानमीमांसा में तीसरा प्रमाण उपमान है। डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र 'वेदान्तपरिभाषा' में दिये गये उपमान के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं- '... सादृश्य प्रमा के कारण को उपमान कहते हैं। उपमान प्रक्रिया इस प्रकार से निष्पन्न होती है- जिस पुरुष ने प्रांगण अथवा नगर में गाय का अवलोकन किया हो और वही व्यक्ति अरण्य में जाकर 'गवय' को जब देखता है तो उस समय उसे 'अयपिण्डोगोसदृश:'- यह पिण्ड (व्यक्ति पशु) गाय जैसा है, गाय के सदृश है, ऐसा ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उसे 'अनेनसदृशीमदीयागौ:'- 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' (इस पशु

अर्थात् गवय के सदृश मेरी गाय है) यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है । दोनों ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर गवय में होनेवाला जो गोसादृश्य ज्ञान है, वह कारण है अर्थात् उपमान प्रमाण है और गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान फल अर्थात् उपमिति है।'[१३] वेदांती इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से भिन्न है। इसमें न तो प्रत्यक्ष की तरह इन्द्रियों और विषयों के सन्निकर्ष के आधार पर ज्ञान होता है और न अनुमान की तरह लिंग और व्याप्ति के आधार पर। इसमें ज्ञान का आधार सादृश्यता है। इसलिए यह स्वतंत्र प्रमाण है।

शंकर द्वारा स्वीकृत चौथा प्रमाण शब्द है। डॉ. राधाकृष्णन के मुताबिक – 'अद्वैतवादी आगम अथवा शास्त्रप्रमाण को स्वतंत्र रूप से ज्ञान का साधन मानते हैं। कोई भी कथन उसके द्वारा उपलक्षित अर्थों में निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण के द्वारा वह असत्य सिद्ध न कर दिया जाये।'[१४] दरअसल शब्द की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि इन्द्रियों की परिधि में आनेवाली वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है, उस परिधि के बाहर की वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से हो जाता है, कई बाह्य वस्तुओं का ज्ञान सादृश्यता के आधार पर उपमान से हो जाता है, लेकिन आत्मा अथवा ब्रह्म आदि विषयों का ज्ञान इनमें से किसी के द्वारा नहीं हो सकता । उसका ज्ञान सिर्फ शब्द के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि वे 'अपरोक्ष' हैं। शंकर के शब्दों में– 'रूपाद्याभावाद् हि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः लिंगाद्यभावच्चं नानुमादीनां आगममात्रं समाधिगम्य एवं त्वयमर्थो'[१५] अर्थात् 'आत्मा या ब्रह्म अरूप होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और उसका कोई लिंग न होने के कारण वह अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता। उसका ज्ञान शब्द प्रमाण से ही होता है।'

शब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है– एक लौकिक, जिससे किसी आप्तपुरुष के द्वारा लौकिक घटना या वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है और दूसरा अलौकिक, जिससे परमार्थ वस्तु का ज्ञान होता है। इसीलिए ब्रह्म का ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। शंकर के अनुसार शास्त्र ही शब्द प्रमाण है, क्योंकि वह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। शंकर शब्द प्रमाण के रूप में वेद को नित्य मानते हैं और यह कहते हैं कि इसमें जीवों के लिए ऐसे नियम हैं जिनका भूत, वर्तमान और भविष्य किसी भी काल में नाश नहीं होता । यह अपौरुषेय है और इसकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती । इसकी प्रामाणिकता वैसे ही स्वतःसिद्ध है जैसे सूर्य का प्रकाश। अतः यह ब्रह्म से उत्पन्न सब अर्थों को प्रकाशित करनेवाला है।

पांचवां प्रमाण अर्थापत्ति है। 'अर्थापत्ति' का अर्थ 'किसी विषय की कल्पना करना' होता है। इसलिए किसी घटना को समझने में जब कोई असंगति दिखाई पड़ती है तो उस असंगति की व्याख्या के लिए कोई कल्पना करनी पड़ती है तो उस कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे यदि कोई व्यक्ति दिन में खाना नहीं खाता है और फिर भी मोटा होता जाता है तो हम यह कल्पना करते हैं कि वह रात में खाना खांता होगा। यह रात में खाने की कल्पना करना अर्थापत्ति है जो न खाने और मोटा होते जाने की असंगति को दूर करने के लिए की जाती है। इस प्रकार अर्थापत्ति ज्ञान का वह साधन है जिससे अदृष्ट विषय की व्याख्या हो जाती है। डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र अर्थापत्ति की सामासिक व्याख्या करते हुए लिखते हैं– 'जब अर्थापत्ति का अर्थ 'अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा करेंगे तब अर्थापत्ति का 'कल्पना' अर्थ होने के कारण प्रमा रूप अर्थ होगा। यदि इसको बहुव्रीहि समास से व्युत्पत्यर्थ मानें तो – 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत् अर्थापत्तिः'– प्रमाणरूप में अर्थित होगा। तात्पर्य यह है कि अर्थ अर्थात् उपपादक उसकी आपत्ति (कल्पना) इस अर्थ में अर्थापत्ति पद प्रमा का बोधक होगा, क्योंकि 'अर्थस्य आपत्तिः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास घटित होता है और जिससे अर्थ की कल्पना की जाये, वह उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञातरूप 'अर्थापत्ति पद प्रमाण का बोधक है' क्योंकि 'अर्थस्य आपत्तिर्यस्मात् तत्' इस बहुव्रीहि समास से अर्थ की कल्पना की जाती है। प्रकृत उदाहरण में रात्रि भोजन कल्पना रूप प्रमा के अर्थ में और उस कल्पना के साधनभूत मोटापन आदि ज्ञान प्रमाण के अर्थ में प्रयुक्त होता है।'[१६]

छठा प्रमाण अनुपलब्धि है। इसके द्वारा हमें किसी विषय के अभाव का साक्षात् ज्ञान होता है। 'वेदांत परिभाषा' में इसको परिभाषित करते हुए कहा गया है– 'ज्ञानकरणाजन्याभावानुभावासाधारण कारणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्।'[१७] अर्थात् 'ज्ञानरूप करण से उत्पन्न होनेवाला जो अभाव का अनुभव है उसके असाधारण कारण को ही अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं।'

जैसे- इस कमरे में घड़े का अभाव है, इसका ज्ञान हमें अनुपलब्धि के द्वारा ही होता है। यह ज्ञान ठीक उसी प्रकार साक्षात् होता है जैसे कमरे में टेबुल, कुर्सी आदि अन्य वस्तुओं के भाव का ज्ञान होता है । फिर भी यह प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विषयों के साथ (आँख का टेबुल, कुर्सी के साथ) जो संपर्क होता है वह संपर्क (आँख का घड़े के साथ) नहीं होता। यह अनुमान भी नहीं है, क्योंकि अनुमान के लिए जो व्याप्ति ज्ञान आवश्यक है, वह इसमें नहीं होता। फिर चूंकि इसमें किसी आप्तवाक्य की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए यह शब्दज्ञान भी नहीं है और ना ही यह उपमान है, क्योंकि इसमें सादृश्यता जैसी कोई बात भी नहीं होती। इसीलिए शांकर-वेदांत में इसे ज्ञान का स्वतंत्र साधन माना गया है।

III

ज्ञान-विषयक विमर्श का एक अवियोज्य पहलू उसका प्रामाण्यवाद भी है। प्रामाण्यवाद ज्ञान की वैधता-अवैधता से जुड़ा पहलू है। इसलिए इसके अन्तर्गत उस कसौटी पर विचार किया जाता है जिसके द्वारा ज्ञान की वैधता का निश्चय होता है। यह निश्चय ज्ञान के स्वरूप से संबंधित है। अतः ज्ञान स्वप्रकाश है यानी खुद प्रकाशित होता है या पर-प्रकाश यानी दूसरे से प्रकाशित होता है, यही निर्धारण इसकी मुख्य समस्या है। इस निर्धारण को लेकर भारतीय दार्शनिक मुख्यतः दो खेमों में बंटे हुये हैं, यद्यपि वे पूरी तरह एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं। इनमें एक ज्ञान को स्व-प्रकाश मानता है और दूसरा उसे पर-प्रकाश। ज्ञान को स्व-प्रकाश माननेवाला सिद्धांत स्वतःप्रमाण्यवाद कहलाता है तथा उसे पर-प्रकाश माननेवाला सिद्धांत परतःप्रमाण्यवाद। शंकर स्वतःप्रमाण्यवादी हैं, क्योंकि वे ज्ञान को स्व-प्रकाश मानते हैं। 'वेदांत परिभाषा' में कहा गया है कि - 'एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रमाण्यम्-स्वतः एवोत्पद्यते ज्ञायते च।'[१८] अर्थात् 'सभी प्रमाणों में प्रमात्व स्वयं उत्पन्न होता है और स्वयं जाना भी जाता है।' इस प्रकार यह सुनिश्चित होता है कि शंकर की ज्ञानमीमांसा यह स्वीकारता है कि जिस वस्तु से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी वस्तु से उसकी वैधता भी उत्पन्न होती है। उस वैधता के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती ।

डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र का इस संबंध में कहना है - 'अद्वैत वेदांतियों के अनुसार ज्ञान, चाहे वह शब्द हो, अनुमिति अथवा प्रत्यक्ष, एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य सत्यता तक पहुंचना है और यह सत्यता बाह्य न होकर उसकी स्वरूपगत विशेषता है। यदि कोई ज्ञान किसी समय सत्यता को उद्घाटित नहीं करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान में बाधक विद्यमान है। इस प्रकार ज्ञान की असत्यता बाह्य-निर्धारित है। ज्ञान की असत्यता उन दशाओं की उपज है जो सत्यता के मार्ग में बाधा बनती है। ये दशायें पूर्णतः बाह्य हैं। ज्ञान की सत्यता ज्ञान को निर्धारित करनेवाली दशाओं से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान की सत्यता को निर्धारित करनेवाली बाह्य दशा केवल एक है- ज्ञान की अवरोधक दशा की अनुपस्थिति। किन्तु यह एक निषेधात्मक दशा है। अतः ज्ञान की सत्यता के निर्धारण में कोई बाह्य विधायक दशा कार्य नहीं करती।

अद्वैतवेदांती इस तथ्य पर बल देते हैं कि स्वयं ज्ञान में उसकी सत्यता की कसौटी निहित है। यह अंतर-निरीक्षण द्वारा जानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों का व्यवहार जो ज्ञान होते ही उसकी सत्यता की परख की अपेक्षा न रखकर कार्यरत हो जाते हैं, अनुमान इत्यादि साधनों से ज्ञान की सत्यता का निर्धारण करने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करते। इन बाह्य साधनों से संदेह अथवा असत्यता का निर्धारण भले ही होता हो, किन्तु सत्यता सदैव ज्ञान में ही निहित रहती है।[१९]

IV

लेकिन यदि ऐसा है तो फिर भ्रम क्यों होता है? क्यों जो वस्तु जहाँ नहीं है उसके वहाँ होने का बोध होता है? जो वस्तु जैसी नहीं है उसके वैसी होने का ज्ञान होता है? क्यों रस्सी में सांप दिखाई देता है ? रेगिस्तान में जलाशय दिखाई देता है? या फिर सीपी में चांदी दिखाई देती है? ये सब भ्रम के उदाहरण हैं। आखिर ऐसा क्यों होता है? शंकराचार्य इसका उत्तर 'अध्यास' के आधार पर देते हैं। वे अध्यास को परिभाषित करते हुए कहते हैं- 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[२०] अर्थात्

'स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का अन्य अधिष्ठान में आभास ही अध्यास है।' इसमें एक वस्तु पर किसी दूसरी वस्तु का आरोप हो जाता है। इसके चलते वह वस्तु उस दूसरी वस्तु के रूप में ग्रहण होने लगती है। भ्रम में यही होता है। रस्सी पर सांप आरोपित हो जाता है, जिसके कारण रस्सी सांप के रूप में दिखाई देने लगती है। यही बात रेगिस्तान में जलाशय अथवा सीपी में चाँदी दिखाई देने में भी होती है। अब इस घटना यानी रस्सी में सांप दिखाई पड़ने के भ्रम में रस्सी वह अधिष्ठान है जिस पर सांप आरोपित होता है। यद्यपि यह सांप पूर्व में देखे गये होने के कारण स्मृतिरूप होता है, किन्तु जिस वक्त यह अध्यास के कारण सत्य दिखाई पड़ता है, उस वक्त वह स्मृति प्रतीत नहीं होता। लेकिन उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान होने पर उसका नाश हो जाता है। फिर उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह बंध्या-पुत्र जैसा न होकर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसे सत् और असत् दोनों भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन दोनों में परस्पर विरोध है। अतः इसे अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। चूँकि शंकर भ्रम को ऐसा ही मानते हैं, इसलिए उनके भ्रम-सिद्धांत को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहा जाता है।

डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव के शब्दों में - 'शंकराचार्य ने ... अपने भ्रम-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जिसे अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं। इसके अनुसार अविद्या के कारण भ्रम-स्थल में एक अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति भी होती है।

(१) इस वस्तु को हम सत् नहीं मान सकते, क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान से इसका बाध हो सकता है। अस्तित्व मात्र से सत् होना उत्पन्न नहीं है।

(२) इसे पूर्णतया असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शशविषाण के समान पूर्णतया असत् होने पर उसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती। जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन सकती है, वह पूर्णतया असत् कैसे हो सकती है? वेदांत के अनुसार भ्रम का भी संसार में कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य होता है। जो असत् है, उसका अनुभव करना बिल्कुल असंभव है।

(३) भ्रम के विषय को सदसत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि परस्पर-विरोधी होने के कारण सदसत् की कल्पना ही वदतोव्याघात है।

(४) अतः हमारे समक्ष चौथा विकल्प ही शेष बचता है जिसके अनुसार भ्रम का विषय न सत् है और न असत् ही है, वरन् सदसत्-विलक्षण होने के कारण ही इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।"[२१]

शंकर का यह भ्रम-सिद्धांत उनके तत्त्वमीमांसा के अनुकूल है; क्योंकि उन्होंने सत्ता की जिन तीन श्रेणियों की बात की है, उनमें प्रातिभासिक सत्ता का जो स्थान व्यावहारिक सत्ता में है, व्यावहारिक सत्ता का वही स्थान पारमार्थिक सत्ता में है। इसलिए भ्रम में सांप रूपी प्रातिभासिक सत्ता का जैसे रस्सी रूपी व्यावहारिक सत्ता का ज्ञान होने पर नाश हो जाता है उसी प्रकार जगत् रूपी व्यावहारिक सत्ता का भी ब्रह्म रूपी पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान होने पर नाश हो जाता है। अतः जैसे रस्सी का ज्ञान होने पर सांप का भय दूर हो जाता है वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान होने पर जगत् का बंधन नष्ट हो जाता है और मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार शंकर के दर्शन में ज्ञान की मुकम्मल अवधारणा मिलती है। वे ज्ञान के स्वरूप, उसके साधन, उसकी वैधता तथा उसके दोष (भ्रम) आदि पर विस्तार से विचार करते हैं। लेकिन यह सारा विचार व्यावहारिक स्तर पर ही है। पारमार्थिक स्तर पर इनकी न कोई उपयोगिता है, न कोई जरूरत है और न ही यह संभव है।

'शंकर ने इन सब प्रमाणों को अविद्या-काल में ही उपयोगी या प्रामाण्य माना है। कोई ज्ञान तभी तक सत् माना जाता है जब तक उसका बाध नहीं होता। अतः संसार की प्रतीति अभी सत् होते हुए और प्रत्याक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होते हुए भी उस समय मिथ्या हो जाती है जब ब्रह्मज्ञान से उसका बाध हो जाता है। तत्त्वज्ञान की अवस्था में नानात्व शेष नहीं रहता। इसलिए जगत् ज्ञान व्यावहारिक सत् होते हुए भी परमार्थतः सत् नहीं है। परमार्थ सत् ही निरपेक्ष सत् है।'(डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र के 'अद्वैत-वेदांत से उद्धृत)

संन्दर्भः

१. डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव, अद्वैत वेदांत की तार्किक भूमिका, पृ. २४५
२. माण्डूक्यकारिका, शां. भा., ४.१
३. ब्रह्मसूत्र, शां, भा., १.१.२
४. वही, १.१.२.
५. डॉ. अर्जुन मिश्र एवं डॉ. हृदय नारायण मिश्र; 'अद्वैत-वेदांत', पृ. ९१;
६. केन उपनिषद्, शां, भा.,१.३.
७. वही, पृ. ९३
८. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (द्वितीय खंड), पृ. ४२१
९. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां. भा., १.२.१
१०. धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदांत परिभाषा', अनुमान परिच्छेद, पृ. १३५
११. वही, पृ. ४२६
१२. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., २.१.११
१३. वही, पृ. ९९-१००
१४. वही, पृ. ४२७
१५. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., २.१.६.
१६. वही, पृ-१०५
१७. वही, पृ. २८८
१८. वही, पृ. ३३४
१९. वही, पृ. १३०
२०. ब्रह्मसूत्र, शां. भा., अध्यास भाष्य, पृ. ४
२१. वही, पृ. ११८-११९

***

विट्गेन्स्टाइन द्वारा निजी भाषा की अवधारणा का खंडन

प्रा. सचिन खोकले

विट्गेन्स्टाइन ने निजी भाषा की अवधारणा का किस तरह से खंडन किया है यह समझने से पूर्व हम यह जान लें कि निजी भाषा किसे कहते हैं? दर्शनशास्त्र में निजी भाषा की अवधारणा का तात्पर्य ऐसी भाषा से है जिसका प्रयोग निजी रूप से व्यक्ति अपने इन्द्रिय अनुभवों को व्यक्त करने के लिए करता है। इस सन्दर्भ में एंथोनी केन्नी कहते हैं कि 'A private language, in the sense discussed by Wittgenstein, is a language whose words 'refer to what can only be known to person speaking : to his immediate private sensations.'[1] विट्गेन्स्टाइन अपनी पुस्तक 'फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' में कहते हैं कि 'किन्तु क्या हम ऐसी भाषा की भी कल्पना कर सकते हैं जिसमें कोई व्यक्ति अपने आंतरिक अनुभवों, अपनी अनुभूतियों, भाग-दशाओं आदि को अपने निजी प्रयोग के लिए लिखित अथवा मौखिक रूप से अभिव्यक्त कर सकता हो। हाँ! तो क्या हम अपनी साधारण भाषा में ऐसा नहीं कर सकते' किन्तु यह मेरा तात्पर्य नहीं है। इस भाषा का प्रत्येक शब्द, उस शब्द को उच्चरित करने वाले व्यक्ति को ही समझ आने वाले विषय को उसकी निजी तात्कालिक संवेदनाओं को इंगित करता है, यानी कोई अन्य व्यक्ति तो उस भाषा को समझ ही नहीं सकता।[2]

निजी भाषा के इस अर्थ में यह ऐसी निजी भाषा है जिसे केवल वही व्यक्ति समझ और प्रयोग कर सकता है जिसने इसका निर्माण किया, क्योंकि उसका प्रयोग वह अपने इन्द्रियानुभव के लिए करता है। निजी अनुभवों की व्याख्या के लिए प्रयुक्त ऐसी भाषा को अनिवार्यत: निजी इसलिए कहा जा सकता है, क्योंकि सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि भाषा जिन वस्तुओं या घटनाओं का वर्णन करती है उनका सार्वजनिक रूप से अनुभव किया जा सकता है, वे किसी व्यक्ति विशेष के अनुभव तक सीमित नहीं रहते। भाषा की इसी सार्वभौमिकता के कारण ही भाषा को निजी नहीं माना जाता। इसके विपरीत निजी भाषा व्यक्ति के निजी इन्द्रियानुभव के वर्णन तक ही सीमित होती है। इस प्रकार भाषागत और इन्द्रियानुभवगत अतार्किक मान्यताओं पर आधारित होने के कारण विट्गेन्स्टाइन निजी भाषा की अवधारणा का खण्डन करते हैं। इस संदर्भ में एंथोनी केन्नी कहते हैं कि 'Wittgenstein considered that the notion of a private language rested on two fundamental mistakes, one about the nature of experience, and one about the nature of language. The mistake about experience was the belief that experience is private; the mistake about language was the belief that words can acquire meaning by bare ostensive definition.'[3]

(विट्गेन्स्टाइन का यह मानना था कि निजी भाषा का विचार दो मूलभूत त्रुटियों पर आधारित है। एक जो अनुभव के स्वरूप के बारे में है और दूसरी त्रुटि जो कि भाषा के स्वरूप के बारे में है। अनुभव के बारे में जो त्रुटि है वह यह है कि केवल निदर्शनात्मक परिभाषा ही भाषा को अर्थ प्रदान करती है।)

निजी भाषा को स्थापित करने वाली युक्ति के अनुसार अनुभव निजी होते हैं और उन्हें वही व्यक्ति समझ सकता है जिसे अनुभव होता है। फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स के अनुच्छेद २४६-२५४ में विट्गेन्स्टाइन ने निजी भाषा के उपर्युक्त

तर्क का खण्डन किया है। निजी भाषा के तर्क का खण्डन करते हुए वे अनुच्छेद २५६ में कहते हैं कि 'ऐसी भाषा जो केवल मेरे निजी अनुभवों का वर्णन करती है और जिसे केवल मैं अनुभव कर सकता हूँ, त्रुटिपूर्ण है। और, हमारे अनुभव की अभिव्यक्ति सामान्यत: ऐसी भाषा के द्वारा नहीं होती।'

जो दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के अनुभवों को महसूस नहीं कर सकता, वे यह मानते हैं कि ऐसा वस्तुत: 'महसूस करने' के शाब्दिक अर्थ में होता है। वे यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि यह हो सकता है कि किसी के व्यवहार को देखकर उसकी मन:स्थिति का कुछ हद तक अनुमान तो लगाया जा सकता है, परन्तु किसी अन्य व्यक्ति की मानसिक स्थिति को जैसे कि वह है, ऐसे महसूस नहीं किया जा सकता। यहाँ शाब्दिक अर्थ में किसी अन्य व्यक्ति को महसूस करना अर्थहीन माना गया है। विट्गेन्स्टाइन इस शब्दश: अनुभूति के विचार का खण्डन करते हैं। वह कहते हैं कि 'The Proposition 'Sensations are private' is comparable to: 'one plays patience by oneself'[4]

'इसी तर्क को इन्द्रियानुभव पर आधारित किया जा सकता है।'[5] इस प्रकार यह कहना कि 'कोई किसी अन्य व्यक्ति के इन्द्रियानुभवों को महसूस नहीं कर सकता' अर्थहीन है। किसी अन्य व्यक्ति के इन्द्रियानुभवों को महसूस करने के लिए किसी व्यक्ति को उसे उस तरह से अपने पास रखना पड़ता है जैसे कि वह किसी अन्य व्यक्ति की वस्तुओं पर अपना स्वामित्व रखता है। वस्तुओं और इन्द्रियानुभवों के 'स्वामित्व' के अर्थ में इनकी भाषा-खेल की भिन्नता के कारण अन्तर होता है। यही विचार विट्गेन्स्टाइन फिलोसॉफिकल इनवेस्टिगेशन्स के अनुच्छेद २५३ में व्यक्त करते हैं- 'Another person can't have my pains' – What counts as a criterion of identity here? Consider what makes it possible in the case of physical objects to speak of `two exactly the same,' for example, to say 'this chair is not the one you saw here yesterday, but is exactly the same as it.[6]

इस प्रकार यह कहना कि 'शाब्दिक अर्थ में कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के अनुभवों को महसूस नहीं कर सकता' वास्तव में अर्थहीन है। शाब्दिक अर्थ केवल वस्तुओं के सन्दर्भ में लागू होता है और हम वस्तुओं के भाषा-खेल को अनुभवों में आरोपित करने की भूल करते हैं। इन्द्रियानुभवों को उस ढ़ंग से किसी अन्य व्यक्ति के साथ नहीं बांटा जा सकता, जैसे अन्य वस्तुओं को बांटा जा सकता है। इस प्रकार इस भूल के कारण हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह अर्थरहित होता है।

सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अनुभवों को महसूस नहीं करता और न ही अनुभव कर सकता है। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के निजी अनुभव का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है' इस मान्यता को विट्गेन्स्टाइन विश्लेषित करते हैं, और यह पाते हैं कि अनुभव के संदर्भ में 'जानने' का 'प्रथम पुरुष' में प्रयोग अर्थपूर्ण नहीं होता है। अनुभव के संदर्भ में 'जानने' का प्रयोग तभी अर्थपूर्ण होता है जब इसका प्रयोग दूसरे व्यक्तियों को आश्वस्त करने के लिए निश्चितता पर बल देने के लिए किया जाता है, न कि स्वयं के लिए। विट्गेन्स्टाइन फिलोसॉफीकल इन्वेस्टिगेशन्स के अनुच्छेद २४६ में यह स्पष्ट करते हैं कि 'मैं दर्द में हूँ' के सन्दर्भ में 'जानने' का प्रयोग अर्थहीन होता है। 'मैं जानता हूँ ...' का प्रयोग निश्चितता पर बल देने के लिए तो अर्थपूर्ण होता है, परन्तु 'मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है' वास्तव में निश्चितता पर बल देने के अर्थ में नहीं होता है। विट्गेन्स्टाइन कहते हैं, 'In what sense are my sensations private? Well, only I can know whether I am really in pain; another person can only surmise it. In one way this is wrong, and in another nonsense. If we are using the word 'to know' as it is normally used (and how else are we to use it?), then other people very often know when I am in pain. – It can't be said of me at all (except perhaps as a joke) that I know I am in pain. What is it supposed to mean- except perhaps that I am in pain?7

इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के अनुसार यह विचार कि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के अनुभवों को अनुभव नहीं कर सकता, वास्तव में, भाषा खेलगत त्रुटिपूर्ण मान्यताओं पर आधारित है। विट्गेन्स्टाइन यह मानते हैं कि निजी भाषा की अवधारणा, अनुभव के निजीपन के भाषा खेलों से अन्तर न कर सकने का ही परिणाम है। इन भाषा खेलों में अन्तर के द्वारा निजी भाषा की अवधारणा की भ्रांतियों को स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन निजी भाषा की अवधारणा का खण्डन करते हैं।

संदर्भः

१. *Anthony Kenny, Wittgenstein, The Penguin Press, London, 1973, p. 179*

२. *विट्गेन्स्टाइन लुडविंग, फिलोसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स, अनुवादक-डॉ. अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, १९९६, पृ. १०८*

३. *Anthony Kenny, Ibid, p. 180*

४. *Ludwig Wittgenstein, Philosophical Investigations, Trans, by G.E.M. Anscombe, Oxford, 1972, p. 90*

५. *पाण्डेय, कालीचरण, विट्गेन्स्टाइन के दर्शन की रूप रेखा, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, २००५, पृ. ८०*

६. *Ludwig Wittgenstein, Philosophical Investigations, p. 91*

७. *तत्रैव, पृ. ८९*

***

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान

अमिता पाण्डेय

सामान्यतः लोग यह मानते हैं कि दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। यह धारणा अत्यधिक भ्रामक है। विज्ञान एवं दर्शन दोनों का ऐतिहासिक अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि दर्शनशास्त्र न केवल विभिन्न विज्ञानों का जनक रहा है, अपितु इसे आज भी विज्ञानों का विज्ञान माना जाता है। वह विज्ञानों का विज्ञान इस दृष्टि से भी है कि वह विभिन्न विज्ञानों की विशिष्ट तथा सामान्य पूर्वमान्यताओं अथवा आधारभूत मान्यताओं का आलोचनात्मक अध्ययन करता है।

दर्शनशास्त्र को समस्त विज्ञानों का जनक कहा जाता है, क्योंकि वह ऐतिहासिक दृष्टि से समस्त विज्ञानों का मूल या आदि स्रोत रहा है। वस्तुतः प्रारम्भ में समस्त विज्ञानों का अध्ययन दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत ही हुआ करता था। वैज्ञानिक विधियों तथा वैज्ञानिक प्रत्ययों का स्वरूप निर्धारित करने में भारतीय दार्शनिकों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। सांख्य-योग दर्शन ने न केवल विकासवाद के सिद्धान्त द्वारा सम्पूर्ण विश्व-निर्माण को समझाने का प्रयास किया, अपितु शक्ति की अविनाशिता तथा शक्ति के रूपान्तरण के वैज्ञानिक सिद्धान्त के विषय में विशद् जानकारी भी दी। कार्य-कारण सम्बन्धी विवेचन तो प्रत्येक भारतीय दर्शन में उपलब्ध है। इसी प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने देश-काल के प्रत्यय पर गहन चिन्तन कर अपने विचार प्रस्तुत किये। जैन दार्शनिकों ने अणुवादी सिद्धान्त को समझाते हुए जड़तत्त्व की सामान्य विशेषताओं का विवेचन किया। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने रासायनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत रसायनों की यौगिक प्रक्रिया को समझाया। परमाणुओं के विषय में वैशेषिक दर्शन ने जो कुछ बताया वह काल्पनिक नहीं, किन्तु वैज्ञानिक है। इसी प्रकार न्याय दर्शन ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक विधि का स्वरूप निर्धारित किया एवं उसका मूल्यांकन करते हुए उसकी सीमायें बताई। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ में दार्शनिक एवं वैज्ञानिक समस्याओं के मध्य वैसा विभाजन नहीं था जैसा हम आज करते हैं। जिस ज्ञान को आज हम वैज्ञानिक ज्ञान सम्बोधित करते हैं वह वेदों में आध्यात्मिक तथा दार्शनिक ज्ञान के साथ ही गुंथा हुआ है।

विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। विज्ञान अपनी विधियों, उपलब्धियों तथा निष्कर्षों से सदैव दर्शनशास्त्र को प्रभावित करता रहा है, तो दूसरी ओर दर्शनशास्त्र विज्ञान को सदैव मानव-कल्याण के लिए निर्देशित करता रहा है। बहुत से प्रश्न तथा समस्याएँ ऐसी हैं जिनका उत्तर या समाधान विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र दोनों प्रारम्भ से ही खोजते रहे हैं। वस्तुतः विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र दोनों ही मानव-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है।

दर्शन की कुछ प्रचलित तथा प्राचीन परिभाषाएँ ऐसी हैं, जिन्हें मान लेने पर विज्ञान का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र रह जाये जो दर्शन की परिधि से बाहर हो। दर्शनशास्त्र स्वरूपतः अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन से सम्बद्ध है, क्योंकि उसका मूल उद्देश्य सर्वसमावेशी ज्ञान की प्राप्ति है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह ज्ञान की समस्त शाखाओं का निष्पक्ष एवं आलोचनात्मक रूप से सर्वेक्षण कर उनका मूल्यांकन करता है। अब हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वैज्ञानिक चिन्तन एवं दार्शनिक चिन्तन के बीच क्या अन्तर है? वैज्ञानिक अपने एक विशिष्ट क्षेत्र की वस्तुओं के विषय में ही अध्ययन कर सामान्य नियमों की स्थापना करता है। भौतिकशास्त्री, रसायनशास्त्री, जीवशास्त्री, वनस्पतिशास्त्री इत्यादि अपने-

अपने विशिष्ट क्षेत्र की वस्तुओं का निरीक्षण कर उनके संबंध में वैज्ञानिक नियमों की स्थापना करते हैं। किन्तु हमारी बुद्धि की यह विशेषता है कि वह कभी भी अपने को एक संकुचित क्षेत्र में सीमित नहीं करती। वह अपनी सीमा का अतिक्रमण कर नवीन क्षेत्रों में प्रवेश करना चाहती है। जब हम विशिष्ट विज्ञानों के अनुसंधान सामग्री को संकलित कर उनके आधार पर व्यापक नियमों की स्थापना करते हैं तो दार्शनिक चिन्तन का जन्म होता है। जब हम अपूर्णता से पूर्ण की ओर अग्रसर होने की चेष्टा करते हैं तभी दार्शनिक चिन्तन की आवश्यकता होती है। कोई भी व्यक्ति सृष्टि के विषय में एकांगी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहता, वह सदा समग्र दृष्टि प्राप्त करने के लिए इच्छुक रहता है। इसी समग्र दृष्टि को प्राप्त करने की अभिलाषा उसे दार्शनिक बनने के लिए बाध्य करती है। यह बाध्यता दार्शनिक एवं वैज्ञानिक दोनों के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपनी विषय-सामग्री की सीमाओं के कारण दार्शनिक बनने के लिए बाध्य होता है, उसी प्रकार दार्शनिक भी अपनी विषय-सामग्री की आपूर्ति के लिए वैज्ञानिक बनने को बाध्य होता है। दोनों एक-दूसरे की क्षति-पूर्ति करते हैं। यही कारण है कि प्लेटो, एरिस्टॉटल, डेकार्ट्स, लाइबनित्ज इत्यादि दार्शनिकों ने विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धत्तियों का अविष्कार किया और गैलिलियो, न्यूटन, डार्विन, प्रभृति वैज्ञानिकों ने विशिष्ट दार्शनिक पद्धत्तियों को जन्म दिया। सच पूछा जाय तो प्रत्येक वैज्ञानिक का एक व्यक्तिगत दर्शन होता है तथा प्रत्येक दार्शनिक का एक व्यक्तिगत विज्ञान होता है। विज्ञान का स्वरूप तब तक निर्धारित नहीं होता, जब तक कोई दार्शनिक उसकी विधि का स्वरूप स्पष्ट कर उसे सुदृढ़ आधार प्रदान नहीं करता। सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विज्ञान किसे कहते हैं। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। मनुष्य साधारण रूप से सामान्य ज्ञान द्वारा अपना जीवन यापन कर सकता है और करता है। किन्तु ज्ञान के किसी क्षेत्र को व्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशेष योग्यतापूर्वक अध्ययन करने का नाम विज्ञान है। इस अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग शास्त्र के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। रोगों और उनके उपचार का थोड़ा बहुत ज्ञान अधिकांश लोगों को होता है। किन्तु उसका वैज्ञानिक अध्ययन चिकित्साशास्त्र कहलाता है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र जैसे अनेकानेक शास्त्र अथवा विज्ञान विकसित हो चुके हैं। पहले जिसे विज्ञान के अन्तर्गत माना जाता था उसकी अब अनेक शाखाएं पल्लवित हो चुकी हैं तथा ऐसा कोई अन्तिम वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है जिसे हम विज्ञान का पूर्ण क्षेत्र मानकर ज्ञान के अन्य प्रारूपों से उसे अलग कर सकें। इस विवेचन का आशय केवल यह संकेत करना है कि ज्ञान की विधा के रूप में विज्ञान को दर्शन से सैद्धान्तिक रूप से अलग नहीं किया जा सकता। यदि दर्शन एक दृष्टिकोण का नाम है तो विज्ञान भी जीवन एवं अनुभवों के प्रति एक दृष्टिकोण है और युक्तियुक्ता, वस्तुगतता, निष्पक्षता एवं एक प्रकार की सार्वभौमिकता ऐसे तत्त्व हैं जो दर्शन तथा विज्ञान में समान रूप से समाहित हैं। जहाँ प्रत्येक विज्ञान तथा प्रत्येक वैज्ञानिक का एक दर्शन है वहाँ कोई भी दार्शनिक अपने दर्शन को अवैज्ञानिक कहलाना पसंद नहीं करेगा। दर्शन और विज्ञान दोनों का साध्य सत्य का उद्घाटन एवं निरूपण है जिसमें अज्ञात की खोज तथा ज्ञात में संगति लाना प्रमुख कार्य है। विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र दोनों का लक्ष्य सत्य की खोज है। दोनों ही कुछ सामान्य विधियों यथा आगमन, निगमन, तर्क-विश्लेषण आदि पद्धत्तियों का प्रयोग करते हैं तथा भावनाओं से मुक्त रहकर निष्पक्ष भाव से यथार्थता की खोज करते हैं।

विज्ञान और दर्शनशास्त्र की एक और समानता की ओर हमारा ध्यान जाता है। वह यह कि जैसे विज्ञान का अध्ययन-विषय कोई सार्वभौमिक वस्तु अथवा प्रत्यय होता है, वैसे ही दर्शनशास्त्र के विवेच्य-विषय भी सार्वभौमिक होते हैं। यहाँ सार्वभौमिक से तात्पर्य उस वस्तु या विषय से है जो सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौगोलिक सीमाओं द्वारा सीमित न हो। विज्ञान के विषय प्रकृति, जड़तत्त्व, प्राणी एवं गणितात्मक प्रत्यय आदि इसी प्रकार के हैं। दार्शनिक विषय विश्व, ज्ञान, शुभ, मनुष्य, परमसत्ता, सौन्दर्य आदि भी सार्वभौमिक है।

वैज्ञानिक सोच वह सोच है जो किसी भी विचार को व्यक्तिनिष्ठ से वस्तुनिष्ठ, भावनात्मक से बौद्धिक एवं अन्धविश्वास से तार्किक, अप्रायोगिक से प्रायोगिक, व्यक्तिगत से सार्वभौमिक, एक देशिक से सार्वदेशिक तथा एककालिक से सार्वकालिक बनाती है। यह सोच, विचार या धारणा को प्रयोग की कसौटी पर सिद्ध करती है। वैज्ञानिक सोच निष्प्रयोजन या निःस्वार्थ नहीं

होती, लेकिन सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होने के कारण इसका आयाम बहुत व्यापक होता है। यह व्यक्ति, समुदाय, देश-काल या परिस्थिति से सीमित न होकर सकल ब्रह्माण्ड को समाहित करते हुए वसुधैवकुटुम्बकम् पर आधारित होती है। संकीर्ण दृष्टि या तात्कालिक लाभ के बजाय वैज्ञानिक दृष्टि दूरदृष्टि एवं स्थायी तथा सर्वव्यापक हित का ध्यान रखती है। संकीर्ण दृष्टि का कोई व्यक्ति या समुदाय अपने हित में अन्य व्यक्तियों, समुदायों को या जीव-जन्तुओं वनस्पतियों को नष्ट कर सकता है लेकिन जब वैज्ञानिक सोच पर यही बात परखी जाती है या आश्रित की जाती है तो यह मानव-मूल्य प्रतिपादित होता है कि हमें किसी जीव-जन्तु या वनस्पति के प्रति हिंसा का भाव नहीं रखना चाहिए एवं सभी का संरक्षण करना चाहिए। यह तथ्य वास्तव में पूरी मानवता के सातत्य एवं संरक्षण के लिए भी आवश्यक है क्योंकि समस्त जीव-जन्तु एवं वनस्पतियाँ अन्तराश्रित है एवं सम्पूर्ण पर्यावरण संरक्षण में ही मनुष्य भी सुरक्षित है। इस प्रकार यह व्यापक एवं दीर्घकालिक दृष्टि ही वैज्ञानिक सोच का आधार है एवं इस सोच पर आधारित मूल्य सार्वभौम एवं सर्वग्राह्य है।

अब प्रश्न है कि वैज्ञानिक ज्ञान का दार्शनिक ज्ञान से क्या संबंध है? एक मत के अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान का संबंध वस्तु-जगत् से है और दार्शनिक ज्ञान का केवल प्रत्यय जगत् से। इससे विज्ञान और दर्शन एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं। दार्शनिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान को ही स्पष्ट करता और सशक्त बनाता है। दूसरे मत के अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान विषय ज्ञान है और दार्शनिक ज्ञान विषयी-ज्ञान है। इस मत से दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दोनों में कोई संघर्ष नहीं है। मानव जीवन से पृथक् ज्ञान-विज्ञान या दर्शन का कोई अस्तित्व नहीं है। विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखने पर ज्ञात होता है कि ज्ञान चाहे वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, दोनों का लक्ष्य एक ही है- पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ सत्य की खोज करना।

किन्तु फिर भी दर्शन और विज्ञान एक नहीं हैं, दोनों का अन्तर स्पष्ट है और यह अन्तर साध्य की अपेक्षा साधन को लेकर अधिक है। साधनों और उपकरणों के भेद से विषय वस्तु में भी प्रत्यक्षत: भेद स्वाभाविक रूप से हो गया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उपर्युक्त समानताओं के होते हुए वह कौन-सी रेखा है जो दर्शन और विज्ञान की सीमाएँ निर्धारित करती हैं। यदि यह कहा जाय कि विज्ञान प्रयोगात्मक है जबकि दर्शन कोरा सैद्धान्तिक, जिसमें अमूर्त चिन्तन की प्रक्रिया ही एक मात्र साधन है तो यह बात युक्तिसंगत नहीं होगी। दर्शन और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में हम कतिपय सामान्य पूर्व मान्यताओं परिकल्पनाओं अथवा प्राक्कल्पनाओं को लेकर अग्रसर होते हैं। यहाँ पर विज्ञान और दर्शन में मुख्य भेद यह है कि जहाँ विज्ञान की कल्पनाएँ अंततः प्रयोगात्मक अवेक्षणों अथवा भविष्यवाणियों द्वारा परीक्षित या प्रमाणित होती हैं, वहाँ दर्शन (सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, अध्यात्म दर्शन) में उक्त कोटि का परीक्षण, सत्यापन (Verification) अथवा प्रमाणीकरण संभव नहीं होता। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि विज्ञान या दर्शन के किसी भी क्षेत्र में पूर्वमान्यता अथवा प्राक्कल्पना (Hypothesis) का संकेत एवं स्वीकार निराधार नहीं होता। यहाँ पर विज्ञान के विषय में एक बात स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि आजकल विज्ञान-शब्द जड़ प्रकृति के रहस्यों के खोज के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। इसकी परिधि में हमारे शरीर सहित सभी भूत तत्त्व आ जाते हैं।

दर्शन तथा विज्ञान में एक आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ दर्शन प्रमाणों की मीमांसा कर ऐन्द्रिक जगत् तथा अलौकिक जगत् में अन्तर कर सत् तथा आभास के द्वैत को स्थापित करता है तथा उसका विधिक ढंगों से समाधान भी करता है। जिस प्रक्रिया में आप्त-वचन का प्रसंग आता है, वहाँ वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा में न तो किसी आप्त-प्रमाण की गुंजाइश है, न प्रपंच और परमार्थ में भेद की। कई बार दार्शनिकों ने अपने ज्ञान को गणित के ज्ञान जैसा स्पष्ट और सार्वभौम बनाना चाहा तथा दर्शन को वैज्ञानिक स्तर पर एक प्रगतिशील वस्तुवादी विषय के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, किन्तु उसमें आशानुकूल सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह है कि विज्ञान भी अपनी पूर्व मान्यताओं को लेकर चलता है और दर्शन उन पूर्व मान्यताओं की मीमांसा करता है।

वैज्ञानिक विधियों एवं दार्शनिक विधियों में भी अन्तर होता है। दर्शनशास्त्र सृजनात्मक परिकल्पना एवं अन्त:प्रज्ञा को भी सत्य एवं पूर्णज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानता है। यह सर्वविदित है कि ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में, चाहे वह वैज्ञानिक ज्ञान ही क्यों न हो, बौद्धिक विश्लेषण, तर्क एवं युक्ति तथा वैज्ञानिक परीक्षण के अतिरिक्त, सृजनात्मक

परिकल्पना एवं अन्त:प्रज्ञा की अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ती है। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण- शक्ति का सिद्धान्त तथा आर्किमेडीज द्वारा आविष्कृत सत्य आदि अन्त:प्रज्ञा की ही देन है।

वैज्ञानिक तथा दार्शनिक खोज में भी भेद है। दर्शनशास्त्र अपने सिद्धान्त या पक्ष को प्रमाणित करने के लिए कोई तथ्यमूलक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाता। इस प्रकार दार्शनिक संकल्पना या विशुद्धता, बौद्धिक खोजपूर्णता अनुमानात्मक होती है। उदाहरणार्थ भौतिकशास्त्री जगत् को विशेष भौतिक पदार्थों तथा भौतिक प्रक्रियाओं की सहायता से समझता है, जबकि दर्शनशास्त्र उसे द्रव्य, गुण, कारणता एवं परिवर्तन आदि दार्शनिक एवं बौद्धिक संप्रत्ययों की सहायता से समझता है। इस प्रकार भौतिकशास्त्र या प्राकृतिक विज्ञान तथ्यों का वर्णन करते हैं, जबकि दर्शनशास्त्र तथ्यों की व्याख्या करता है। इस भेद को भौतिकशास्त्री द्वारा प्रतिपादित परमाणुवाद तथा रसेल जैसे दार्शनिक द्वारा प्रतिपादित तार्किक अणुवाद के अन्तर के आधार पर समझा जा सकता है।

जिस प्रकार दर्शनशास्त्र को प्रथम विज्ञान माना गया है, उसी प्रकार उसे अन्तिम विज्ञान कहकर भी सम्बोधित किया जाता रहा है। इसे अन्तिम विज्ञान इस दृष्टि से कहा गया है कि इसे समझने के लिए हमें कुछ-न-कुछ अंश में अन्य विज्ञानों के विषय में जानना आवश्यक है। इस मान्यता के कारण ग्रीक दर्शन के आधार-स्तम्भ प्लेटो ने दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने के पूर्व गणितशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि के ज्ञान को अनिवार्य मानकर अपनी शैक्षणिक संस्था ऐकेडमी के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया था। इसी आधार पर ही दर्शनशास्त्र को विज्ञानों के सामान्य निष्कर्षों के समन्वय अथवा समाकलन के रूप में परिभाषित किया गया है। यह बताया गया है कि दर्शनशास्त्र का कार्य विशिष्ट विज्ञानों के सामान्य निष्कर्षों का समन्वय करना तथा इस प्रकार विश्व की एक ऐसी सर्वसमावेशी या सर्वांगीण व्याख्या पर पहुंचना है जो विशिष्ट विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या से अधिक व्यापक हो। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दर्शनशास्त्र विशिष्ट विज्ञानों के व्यापक निष्कर्षों को केवल क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित ही नहीं करता, अपितु वह वैज्ञानिक निष्कर्षों को मानवीय अनुभव द्वारा प्राप्त उन विवरणों से सम्बद्ध एवं समायोजित भी करता है जिसकी वैज्ञानिक व्याख्यायें या तो सम्भव नहीं हैं अथवा अपर्याप्त हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विज्ञान तथा ज्ञान की अन्य शाखाओं के मध्य सम्बन्धों की खोज तथा उन सम्बन्धों का स्पष्टीकरण करता है।

विज्ञान के विकास में दर्शनशास्त्र के योगदान की अवहेलना करना असंभव है। सृष्टिशास्त्र, तर्कशास्त्र, गणितशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि के क्षेत्र में दार्शनिकों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्राचीन दार्शनिक एनेक्सीमेंडर विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र दोनों के ही पूर्वज हैं। जिस अर्थ में न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त संकल्पनात्मक सृष्टिशास्त्र है, उसी अर्थ में थेलीज तथा एनेक्सीमेंडर का सृष्टि संबंधी सिद्धान्त।

विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र दोनों का मानव-जीवन में अपना-अपना महत्त्व है। दोनों ही ज्ञान की शाखायें हैं अत: एक को दूसरे से कम मूल्यवान मानना अनुचित है। ये परस्पर विरोधी कदापि नहीं है। इसके विपरीत, ये एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों ही मानवीय ज्ञान के विकास का प्रतिनिधित्व करते हैं। आइन्स्टीन का कहना है कि विज्ञान से सम्बन्ध स्थापित किये बिना ज्ञानमीमांसा या दर्शनशास्त्र एक शून्य योजना मात्र है। उसी प्रकार ज्ञानमीमांसा के बिना यदि ऐसे किसी विज्ञान के विषय में सोचा जा सके तो वह अत्यवस्थित, असभ्य एवं असंस्कृत होगा।

आज विज्ञान ने मानवता को, विश्व को, विध्वंस के जिस कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है उससे बचने का एक मात्र उपाय दर्शनशास्त्र ही है। हमारा यह सोचना कि विज्ञान की उन्नति से ही मानव उन्नति करेगा, विश्व में सुख-शान्ति स्थापित होगी, आज गलत सिद्ध हो चुका है। आज जिस चीज से हम सर्वाधिक भयभीत हैं वह है वैज्ञानिक शास्त्रों का विश्व विनाशक युद्ध। समस्त तकनीकी विकास एवं विज्ञान द्वारा दी गई शक्ति से सम्पन्न होने के बावजूद हम अपने को असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं। ऐसे कठिन समय में केवल दर्शनशास्त्र हमारी सहायता कर सकता है क्योंकि वह यह बताता है कि विज्ञान को उन प्राथमिक मानव-मूल्यों या आदर्शों (Value or ideal) का कभी भी तिरस्कार या अवहेलना नहीं करनी चाहिए जिन्हें हम युगों से मानते चले आ रहे हैं एवं जो कल्याणकारी हैं। मानव समाज की प्रगति केवल विज्ञान से निर्धारित नहीं होगी, वरन् राजनीति, आर्थिक स्थिति तथा मूल्यों से भी निर्धारित होती है। अत: तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास ही मानव-समाज का लक्ष्य नहीं है। उन्नति

के लिए मूल्य अथवा आदर्श भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने विज्ञान एवं तकनीकी।

इतना ही नहीं, दर्शनशास्त्र विज्ञान के मूल्यों तथा आदर्शों संबंधी गलत धारणाओं में संशोधन भी करता है। वह यह बताता है कि विज्ञान का साध्य या लक्ष्य प्रकृति को जानना अर्थात् प्राकृतिक सत्यों का नियमों आदि का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना है। अत: प्रकृति को मनुष्य की स्वार्थसिद्धि के लिए नियंत्रित करना तथा उसका शोषण करना अनुचित है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र विज्ञान द्वारा स्वीकृत मूल्यों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन कर विज्ञान को सही मार्ग पर लाता है।

आज यह स्पष्ट हो चुका है कि केवल वैज्ञानिक विकास से हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। विज्ञान की प्रगति के होते हुए भी हमारी जो दुर्दशा है उसका कारण यह है कि बाह्य जगत् के ज्ञान के सम्बन्ध में हमने विज्ञान तथा तकनीकी की सहायता से आश्चर्यजनक प्रगति की है, किन्तु मनुष्य के आन्तरिक जगत् से उसका समायोजन नहीं कर पाये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय संवेदनाओं, मनुष्य की नैतिक चेतना तथा मनुष्यता के आदर्शों से हमने उसे सम्बद्ध नहीं किया, जबकि विज्ञान का विकास मनुष्य ने ही किया है। इस सम्बन्ध में अल्बर्ट आइन्स्टीन का कहना है कि वर्तमान समाज में विज्ञान अत्यधिक प्रगति कर चुका है। अब एक नवीन आध्यात्मिक सभ्यता या संस्कृति का प्रादुर्भाव होना चाहिए जो इसका पूर्ण उपयोग कर सके। यह सत्य है कि जब तक हम विज्ञान द्वारा प्राप्त बाह्य ज्ञान तथा दर्शन द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान का समन्वय नहीं करेंगे, तब तक मानव-जीवन तथा विश्व-प्रक्रिया दोनों को ही नहीं समझ सकेंगे।

आज यह आवश्यक हो गया है कि विज्ञान द्वारा निर्मित अपनी एकांगी विचार-शैली तथा जीवन-शैली को हम बदले। इसकी पहली शर्त यह है कि हम अपने आदर्शों और मूल्यों को समझे। दर्शनशास्त्र ही केवल इस दिशा में हमारी सहायता कर सकता है। वैज्ञानिक विकास को सदैव जीवन के उन लक्ष्यों से सम्बद्ध करना चाहिए जो कल्याणकारी हैं। इन लक्ष्यों का ज्ञान हमें दर्शनशास्त्र प्रदान करता है। विज्ञान मनुष्य को यह नहीं बताता कि क्या उचित है अथवा क्या अनुचित है और जब तक हम उचित-अनुचित में भेद करने में सक्षम नहीं होंगे, समस्त वैज्ञानिक प्रगति दिशा-विहीन रहेगी। मानवता का भविष्य तभी सुरक्षित एवं उज्ज्वल हो सकता है जब हम दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत विरोधी विचारों को इस दृष्टि से न देखें कि वे युद्ध को तैयार शत्रुओं के सिद्धान्त हैं। हम उन्हें पूरक मानें, एक ही मानव मस्तिष्क की देन माने, तभी विश्वकल्याण संभव है। वस्तुत: दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान दोनों ही मानव-विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। विज्ञान के बिना मानवता पंगु है तथा दर्शनशास्त्र के बिना वह अंधी है।

संदर्भ:

१. *ज्ञानमीमांसा के गूढ़ प्रश्न, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, पृ. २, ३७, ११८*

२. *द फिलॉसफी ऑफ साइन्स, पेटर कॉस, पृ. ११३*

३. *साइन्स एण्ड हाइपोथेसिस, हेनरी प्वाइन्कर, १९०१, पृ. ८९*

४. *मैक्स बोर्न, सम फिलॉसोफिकल आस्पैक्ट्स ऑफ मॉडर्न फिजिक्स, लंदन १ : ५६, पेज ३७*

५. *भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, इलाहाबाद, पृ. ६३, १०८*

६. *ज्ञानमीमांसा, प्रो. दयाकृष्ण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. १९*

७. *वेदांत दर्शन, प्रो. संगम लाल पाण्डेय (पॉल डायसन की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद) उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७१, पृ. ६८*

८. *नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, पृ. ८७*

९. *मूल्य मीमांसा, प्रो. गोविन्द चन्द पाण्डेय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ. २१, ४३*

१०. *द फिलॉसफिकल ट्रेडीशन ऑफ इण्डिया, पी.टी. राजू, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, पृ. ७६*

***

जैन एवं बौद्ध दर्शन में मूल्यवाद

सुनन्दा कुमारी

मूल्यवाद नैतिक प्रतिमान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। मूल्यवाद के अनुसार मूल्य वह है जो भावना या इच्छा की पूर्ति करता है। मूल्य की समुचित परिभाषा यह हो सकती है कि मूल्य वह है जिसे पाने के लिए व्यक्ति और समाज चेष्टा करते हैं, जिसके लिए जीवित रहते हैं और जिसके लिए बड़ा से बड़ा उत्सर्ग करने को तैयार रहते हैं। 'मूल्यवाद के अनुसार शुभ और उचित, जीवन के उन आदर्शों से संचालित होते हैं जो हमारे जीवन का परमार्थ या परमश्रेय है। मूल्यवाद की परम्परा में मूल्य एक व्यापक शब्द है। वह यद्यपि श्रेय, साध्य का आदर्श या सूचक है, तथापि कोई अकेला साध्य मूल्य नहीं है, किन्तु मूल्य उससे अधिक व्यापक है। 'मूल्य एक तत्त्व नहीं है, एक व्यवस्था है और उसी व्यवस्था में किसी मूल्य का बोध होता है।[१]

दर्शन जगत् में परम मूल्य या सर्वोच्च मूल्य क्या है, यह विषय मूल्यवादी विचारणा में विवादपूर्ण ही रहा है। पाश्चात्य परम्परा में सुकरात 'ज्ञान' को, प्लेटो 'न्याय' को, अरस्तू 'उच्च विचारशीलता' को, स्पिनोजा 'ईश्वर' को, और हेगेल 'व्यक्तित्व लाभ' को सर्वोच्च मूल्य मानते हैं। अरबन ने आध्यात्मिक मूल्यों में क्रमशः कलात्मक, बौद्धिक और धार्मिक (चारित्रिक) मूल्यों के रूप में सौन्दर्य, सत्य और शिव (कल्याण) को परम मूल्य माना है जिसमें शिव अधिक उच्च माना गया है।[२] मूल्यवाद की परम्परा में भी 'परम मूल्य' की धारणा के आधार पर अनेक वर्ग बनते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

१. मानवतावाद या मानवता केन्द्रित मूल्यवाद

२. आत्मकेन्द्रित मूल्यवाद या सत्तावाद

३. मार्क्स का समाज और अर्थकेन्द्रित मूल्यवाद

४. अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद

मानवतावाद

मानवतावाद में नैतिकता का प्रत्यय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि मानवतावाद को आचारशास्त्रीय धर्म कहा जाता है। मानवतावादी सिद्धान्त नैतिकता को मानव की सांस्कृतिक चेतना के विकास में देखता है। सांस्कृतिक विकास ही नैतिकता की कसौटी है। सांस्कृतिक विकास एवं नैतिक जीवन मानवीय गुणों के विकास में निहित है। मानवतावादी चिन्तन में मनुष्य ही नैतिक मूल्यों का मापदण्ड है और मानवीय गुणों का विकास ही नैतिकता है। सभी पाश्चात्य विचारक मानवीय गुणों के विकास में नैतिकता के प्रत्यय को देखते हैं, फिर भी प्राथमिक मानवीय गुण क्या है इस विषय में उनमें मतभेद है। समकालीन मानवतावादी विचारकों में भी इस प्रश्न को लेकर प्रमुख रूप से तीन वर्ग हैं जिन्हें- क. आत्मचेतनावादी, ख. विवेकवादी और ग. आत्मसंयमवादी कह सकते हैं। इन तीनों मान्यताओं का जैन दर्शन के साथ निकट का सम्बन्ध देखा जा सकता है।

मानवतावाद सांसारिक हित-साधन पर जोर देता है और पारलौकिक सुखकामना को व्यर्थ मानता है। जैन एवं बौद्ध परम्परा में पारलौकिकता और भावी जीवन के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, लेकिन साथ ही पारलौकिक

सुखकामना की दृष्टि से किए गए नैतिक कर्म को दूषित माना गया है। जैन परम्परा में नैतिक साधना को न लौकिक सुखों के लिए और न पारलौकिक सुखों के लिए माना गया है वरन् उनके अनुसार तो नैतिक साधना का एकमात्र साध्य आत्मविकास एवं आत्मपूर्णता है।[३] बुद्ध ने भी कहा है कि नैतिक जीवन का साध्य पारलौकिक सुख की कामना नहीं है।

जैन विचारधारा वर्तमान के प्रति उदासीन नहीं है और इस अर्थ में वह मानवतावादी विचारकों के साथ भी है। यद्यपि वह परलोक के प्रत्यय से इन्कार नहीं करती है। बुद्ध ने भी यही कहा है कि मेरे नैतिक दर्शन की साधना का केन्द्र पारलौकिक जीवन नहीं, वरन् वर्तमान जीवन है। मानवतावाद कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज पर उसके परिणाम के आधार पर करता है। बौद्ध दर्शन स्पष्ट रूप से कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण कर्मप्रेरक के आधार पर करता है, कर्म-परिणाम के आधार पर नहीं। इस आधार पर वह मानवतावाद से कोई साम्य नहीं रखता। जैन दर्शन व्यावहारिक दृष्टि से कर्म-परिणाम को और नैश्चयिक दृष्टि से कर्मप्रेरक को औचित्य और अनौचित्य का निर्धारक मानता है।

मानवतावाद मनुष्य को ही समग्र मूल्यों का मानदण्ड स्वीकार करता है। इस प्रकार उसमें मानवीय जीवन का सर्वाधिक महत्त्व है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से इसे देखा जाए तो स्पष्टतः स्वीकार करना होगा कि भारतीय परम्परा में भी मानव जीवन के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में मानव जीवन को दुर्लभ बताया गया है और जीवन में मनुष्य का जीवन सर्वश्रेष्ठ है।[४] धम्मपद में भी बुद्ध ने मनुष्य जीवन को दुर्लभ बताया है।[५] इस प्रकार जैन और बौद्ध चिन्तन में मनुष्य जीवन के सर्वोच्च मूल्य को स्वीकार किया गया है।

क. आत्मचेतनतावादी दृष्टिकोण- आत्मचेतनता को ही नैतिकता का आधार और प्राथमिक गुण मानने वाले मानवतावादी विचारकों में बारनर फिटे प्रमुख हैं जिनका विचार जैन आचार दर्शन के अति निकट है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाद आत्मविस्मृति की अवस्था है और उसे अनैतिकता का प्रमुख आधार कहा गया है। जो भी क्रियाएं प्रमाद के कारण हैं, वे सभी अनैतिक हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो प्रसुप्त चेतनावाला है वह अनैतिक है और जो जागृत चेतनावाला है वह नैतिक है।[६] सूत्रकृतांगसूत्र में प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर यही कहा गया है कि जो क्रियाएं आत्मविस्मृति को लाती हैं वे बन्धन कारक हैं, इसलिए अनैतिक भी हैं। इसके विपरीत, जो क्रियाएं अप्रमत्त चेतना की अवस्था में सम्पन्न होती हैं वे बन्धनकारक नहीं होती और वे पूर्णतया विशुद्ध और नैतिक हैं।[७]

बौद्ध दर्शन में भी आत्मचेतना को नैतिकता का प्रमुख आधार माना गया है। बुद्ध का कहना है कि अप्रमाद मुक्ति का मार्ग है और प्रमाद मृत्यु का।[८] बौद्ध दर्शन में अष्टांग-मार्ग में सम्यक्-स्मृति भी इस बात को स्पष्ट करती है कि आत्मस्मृति या जागृत चेतना नैतिकता का आधार है।[९] इस प्रकार बुद्ध भी आत्मचेतना को नैतिक जीवन का केन्द्र स्वीकार करते हैं।

ख. विवेकवादी दृष्टिकोण- मानवतावाद के समकालीन विचारकों में दूसरा वर्ग विवेक को प्राथमिक मानवीय गुण मानता है। सी.बी. गर्नेट के अनुसार नैतिकता विवेकपूर्ण जीवन जीने में है। उन्होंने प्रज्ञा को ही सर्वोच्च सद्गुण माना है और प्रज्ञा या विवेक से निर्देशित जीवन जीने में नैतिकता के सातत्व की अभिव्यक्ति है। उनके अनुसार नैतिकता की सम्यक् और सार्थक व्याख्या शुभ, उचित, कर्तव्य आदि नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या में नहीं है, वरन् आचरण में विवेक के सामान्य प्रत्यय में है। आचरण में विवेक एक ऐसा तत्त्व है जो नैतिक परिस्थिति के अस्तित्ववान पक्ष अर्थात् चरित्र, प्रेरणाएं, आदत, रागात्मक, विभेदीकरण, मूल्य-निर्धारण और साध्य को दृष्टि में रखता है। इन सभी पक्षों को पूर्णतया दृष्टि में रखे बिना जीवन में विवेकपूर्ण आचरण की आशा नहीं की जा सकती।

आचरण में विवेक या प्रत्यय जैन विचारणा तथा अन्य सभी भारतीय विचारणाओं में भी मान्य रहा है। जैन विचारकों ने सम्यक्-ज्ञान के रूप में जो साधना-मार्ग बताया है वह केवल तार्किक ज्ञान नहीं है, वरन् एक विवेकपूर्ण दृष्टि है। जैन परम्परा में विवेकपूर्ण आचरण के लिए यतना शब्द का प्रयोग किया गया है। दशवैकालिकसूत्र में यह बताया गया है कि जो जीवन की विभिन्न क्रियाओं को विवेक या सावधानीपूर्वक सम्पादित करता है वह अनैतिक आचरण नहीं करता है।[१०] बौद्ध परम्परा में यही दृष्टिकोण स्वीकृत किया गया है। बुद्ध ने अंगुत्तरनिकाय में महावीर के समान ही इस तथ्य का

प्रतिपादन किया है।[११]

ग. आत्मसंयम का सिद्धान्त- भारतीय नीतिशास्त्र में आत्मसंयम के प्रत्यय को स्वीकारा गया है। जैन दर्शन नैतिक पूर्णता के लिए संयम को आवश्यक मानता है। उसके त्रिविध साधना-पथ में सम्यक्- आचरण का भी वही मूल्य है जो विवेक और भावना का है। दशवैकालिकसूत्र में धर्म को अहिंसा, संयम और तपमय बताया गया है।[१२] अहिंसा और तप भी संयम के ही पोषक हैं और इस अर्थ में संयम एक महत्त्वपूर्ण अंग है। भिक्षु जीवन और गृहस्थ जीवन के आचरण में संयम या अनुशासन को सर्वत्र महत्त्व दिया गया है। महावीर के सम्पूर्ण उपदेश का सार असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति है।[१३]

न केवल जैन दर्शन में वरन् बौद्ध दर्शन में भी संयम और अनुशासन को आवश्यक माना गया है। भारतीय नैतिक चिन्तन में संयम का प्रत्यय सभी नीतिशास्त्रों में और सभी कालों में बराबर स्वीकृत रहा है। संयममय जीवन भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है।

तुलनात्मक दृष्टिकोण- समकालीन मानवतावादी विचारकों के उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त यद्यपि भारतीय चिन्तन में स्वीकृत हैं, तथापि भारतीय विचारकों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने इन तीनों को समवेत रूप से स्वीकार किया है। जैन दर्शन में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के रूप में, बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में प्रकारान्तर से इन्हें स्वीकार किया गया है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधना-पथ में समाधि आत्मचेतना का, प्रज्ञा विवेक का और शील संयम का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन में सम्यक्-दर्शन आत्मचेतना का, सम्यक्-ज्ञान विवेक का और सम्यक्-चारित्र संयम का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सत्तावादी या आत्मकेन्द्रित मूल्यवाद

आत्मकेन्द्रित मूल्यवाद समकालीन दार्शनिक चिन्तन का एक प्रमुख सम्प्रदाय है। हाइडेगर, सार्त्र और यास्पर्स इसके प्रमुख समर्थक हैं। सत्तावाद की प्रमुख विशेषता यह है कि वह बुद्धिवाद एवं विषयगत चिन्तन का विरोधी है तथा आत्मनिष्ठता और अन्तर्ज्ञान पर अधिक बल देता है।[१४] नीतिशास्त्र विषयक अनेक प्रश्नों में सत्तावाद जैन और बौद्ध नीतिशास्त्र के अधिक निकट है।

सत्तावाद के समर्थकों के अनुसार नैतिक आत्मसत्ता ही सत् है, क्योंकि वह गत्यात्मक और उदीयमान है तथा व्यक्ति को महनीयता प्रदान करती है। नैतिक आत्मसत्ता का ज्ञान कोरा ज्ञान नहीं है, वरन् उसमें हमारे जीवन को अधिक ऊँचा महान बनाने की प्रेरणा भी है। उत्तराध्ययनसूत्र में निरर्थक ज्ञान का उपहास किया गया है।[१५] जो ज्ञान नैतिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है और नैतिक जीवन को प्रेरणा नहीं देता, वह ज्ञान सत्तावाद और जैन नीतिशास्त्र दोनों के लिए ही अनावश्यक है। बुद्ध ने भी निरर्थक तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा की थी।[१६]

सत्तावादी चिन्तक नैतिकता को आत्मकेन्द्रित मानते हैं। उनकी दृष्टि में सच्चे नैतिक जीवन का प्रारम्भ आत्मगत चिन्तन या अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में होता है। अन्तर्मुखता नैतिकता का प्रवेश-द्वार है। आत्मगत चिन्तन को नैतिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व और नैतिक पथ पर अग्रसर होने का प्रथम चरण मानते हैं। जैन दर्शन इस विषय में सत्तावाद का सहगामी है। उसके अनुसार भी सच्ची नैतिकता का उद्भव आत्मानुभूति होने पर होता है। जैन विचारणा में कहा गया है कि आत्मा जब स्व-स्वभाव में स्थित होता है, तब वह नैतिक होता है और जब वह पौद्गलिक कर्म-प्रदेशों में स्थित होता हुआ पर-स्वभाव रूप राग-द्वेष-मोह का अनुसरण करता है, तब वह अनैतिक होता है।[१७]

तुलानत्मक दृष्टिकोण- जैन दर्शन की सम्यक्-दृष्टि तत्त्व सत्तावादी दर्शन के आत्मगत चिन्तन, आत्माभिमुखता, आत्म-अवस्थिति का ही पर्यायवाची है। जिस प्रकार सत्तावादी दर्शन में आत्मगत चिन्तन से नैतिक जीवन का द्वार खुलता है, उसी प्रकार जैन दर्शन में सम्यक्-दृष्टि की उपलब्धि से ही नैतिक जीवन का प्रवेश-द्वार खुलता है। आत्माभिमुख होना ही सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि का सही स्वरूप है। दोनों में वास्तविक समानता है।

दु:खमयता का बोध- सत्तावादी चिन्तकों के अनुसार जब हम अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करते हैं और अपनी आंतरिक सत्ता का विचार करते हैं तो एक ओर हम अपनी अन्त:चेतना को अक्षुण्ण आनन्द, अनन्त शक्ति, शाश्वत जीवन और पूर्णता की सजीव कल्पना से अभिभूत पाते हैं, तो दूसरी ओर हमें अपने वर्तमान जीवन की क्षुद्रता, दु:खमयता और अपूर्णता का बोध होता है। इसी अन्तर्विरोध में विषाद या वेदना का जन्म होता है। यही विषाद या दु:ख सत्तावादी दर्शन में नैतिक प्रगति का प्रथम चरण है। जैन आचार दर्शन में भी वर्तमान जीवन की दु:खमयता एवं क्षुद्रता का बोध आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक माना गया है। जैन दर्शन में प्रतिपादित अनुप्रेक्षाओं में अनित्य भावना, अशरण भावना और अशुचि भावना के प्रत्यय इसी विषाद की तीव्रतम अनुभूति पर बल देते हैं। बौद्ध दर्शन में भी इसी दु:खबोध के प्रत्यय को प्रथम आर्यसत्य माना गया है। जैन और बौद्ध नीतिशास्त्र सत्तावाद के साथ इस विषय में भी एकमत है कि वर्तमान अपूर्णता एवं नश्वरता से उत्पन्न विषाद या दु:ख की तीव्रतम अनुभूति ही नैतिक साधना का प्रथम चरण है।

मार्क्स का समाज और अर्थकेन्द्रित मूल्यवाद

मार्क्स भौतिकवादी हैं। किन्तु यदि हम मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हैं तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुत: नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति जिनके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा। अत: मानव के लिए नीति की स्वीकृति आवश्यक है। मार्क्सवाद, जैन एवं बौद्ध नीतिशास्त्र सामाजिक न्याय और समता पर बल देते हैं।[१८] अत: तीनों में कुछ मूलभूत समानताएं हैं जो निम्नलिखित हैं-

क. मानवमात्र की समानता में आस्था- जैन दर्शन और मार्क्सवाद (या साम्यवाद) दोनों ही मानवमात्र की समानता में निष्ठा रखते हैं। दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है। अपनी सुख-सुविधाओं के लिए दूसरे का शोषण अनैतिक है। यही बात बौद्ध दर्शन में भी स्वीकार्य है।

ख. संग्रह की प्रवृत्ति का विरोध- मार्क्सवाद और जैन दर्शन दोनों ही संग्रह की वृत्ति को अनुचित मानते हैं। दोनों के अनुसार संग्रह और वैयक्तिक परिग्रह सामाजिक जीवन के अभिशाप हैं। जैन दर्शन का परिग्रह परिमाण व्रत अहिंसक साम्यवाद की स्थापना का प्रथम सोपान है। जैन दर्शन न केवल परिग्रह की मर्यादा पर बल देता है, बल्कि सामाजिक जीवन में समान वितरण पर भी बल देता है। बुद्ध तथा महावीर के द्वारा अपने भिक्षु संघ में यह नियम प्रतिपादित किया गया कि समवितरण के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक परिग्रह की मर्यादा और समवितरण दोनों को स्वीकार्य है।

ग. समत्व का संस्थापन- जैन नीतिशास्त्र और साम्यवादी चिन्तन समत्व की संस्थापना को आवश्यक मानते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार समानता का अर्थ है शोषणरहित समाज-व्यवस्था। जैन दर्शन में भी समत्व की स्थापना पर ही बल दिया गया है। साम्य दोनों को अभिप्रेत है, फिर भी साम्यवाद में साम्य का अर्थ भौतिक या आर्थिक साम्य है जबकि जैन दर्शन में साम्य का अर्थ चैत्तसिक साम्य है।

घ. साम्य नैतिकता का साम्य- साम्यवाद में वे कर्म नैतिक माने जाते हैं जो आर्थिक क्षेत्र में समत्व की स्थापना करते हैं, जो सामाजिक और आर्थिक समानता को बनाए रखते हैं तथा जो शोषण को समाप्त करते हैं। जैन दर्शन में भी वे कर्म नैतिक माने जाते हैं, जो चैत्तसिक साम्य की स्थापना करने में सहायक हैं। लेकिन दोनों के साम्य का अर्थ थोड़ा भिन्न है। साम्यवाद का परम शुभ शोषणरहित वर्गविहीन समाज की रचना है, जबकि जैन दर्शन का परम शुभ समभाव या वीतरागदशा की प्राप्ति है, फिर भी दोनों के लिए समत्व, समानता या समता का प्रत्यय समान रूप से नैतिकता का प्रतिपादन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन और साम्यवादी विचारधारा एक-दूसरे के निकट हैं। साम्यवाद मुख्य रूप से भौतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण पर जोर देता है, जबकि जैन दर्शन आध्यात्मिक और वैयक्तिक दृष्टिकोण पर जोर देता है।

अरबन का आध्यात्मिक मूल्यवाद[११]

अरबन के अनुसार मूल्यांकन एक निर्णयात्मक प्रक्रिया है जिसमें सत् के प्रति प्राथमिक विश्वासों के ज्ञान का तत्त्व भी होता है। इसके साथ ही उसमें भावात्मक तथा संकल्पात्मक अनुक्रिया भी है। अरबन मूल्यांकन की प्रक्रिया में ज्ञानमात्र के साथ-साथ भावना एवं संकल्प की उपस्थिति भी आवश्यक मानते हैं। मूल्यांकन में निरन्तरता का तत्त्व उनकी प्रामाणिकता का आधार है। जितनी अधिक निरन्तरता होगी उतना ही वह प्रामाणिक होगा। मूल्यांकन और मूल्य में अन्तर है। अरबन के अनुसार मूल्य न कोई गुण है, न वस्तु या सम्बन्ध। वस्तुतः मूल्य अपरिभाष्य है अर्थात् मूल्य की परिभाषा नहीं दी जा सकती। तथापि उसकी प्रकृति को उसके सत्ता से सम्बन्ध के आधार पर जाना जा सकता है। वह सत्ता तथा असत्ता के मध्य स्थित है। मूल्य सदैव अस्तित्व का दावा करते हैं लेकिन उनका सत् होना इसी पर निर्भर है कि सत् को ही मूल्य में उस रूप में विवेचित किया जाए जिसमें सत्ता और अस्तित्व भी है।

नैतिक मूल्य- मूल्य की सामान्य चर्चा के बाद अरबन नैतिक मूल्य की विवेचना करते हैं। अरबन के अनुसार नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन होने का अर्थ है मनुष्य के लिए मूल्यवान होना। नैतिक शुभत्व मानवीय मूल्यांकन के सिद्धान्त पर निर्भर है। अरबन के अनुसार यह सिद्धान्त है- आत्म-साक्षात्कार का। आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्त के समर्थन में अरबन अरस्तु की तरह ही तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि वस्तुओं का शुभत्व उनकी कार्यकुशलता में है, अंगों का शुभत्व जीवन में उनके योगदान में है और जीवन का शुभत्व आत्मपूर्णता में है। मनुष्य आत्मा है और यदि वह सत्य है तो फिर मानव का वास्तविक शुभ उसकी आत्मपूर्णता में ही निहित है। अरबन की यह दृष्टि जैन परम्परा के अति निकट है जो यह स्वीकार करती है कि आत्मपूर्णता ही नैतिक जीवन का लक्ष्य है।

अरबन के अनुसार आत्मा सामाजिक जीवन से अलग कोई व्यक्ति नहीं है, वरन् वह तो सामाजिक मर्यादाओं से बंधा हुआ है और समाज को अपने मूल्यांकन से और अपने को सामाजिक मूल्यांकन से प्रभावित पाता है। इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है, क्योंकि जैन परम्परा व्यक्तिवाद के अधिक निकट है। अरबन के अनुसार स्वहित और परहित की समस्या का सही समाधान स्वहित और परहित से ऊपर उठ जाने में है। यह दृष्टिकोण जैन परम्परा में भी ठीक इसी रूप में स्वीकृत रहा है। जैन परम्परा भी स्वहित और लोकहित की सीमाओं से ऊपर उठ जाना ही नैतिक जीवन का लक्ष्य मानती है। अरबन इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं कि मूल्यांकन करने वाली मानवीय चेतना के द्वारा यह कैसे जाना जाए कि कौन से मूल्य उच्च कोटि के हैं और कौन से मूल्य निम्न कोटि के? अरबन इसके तीन सिद्धान्त बताते हैं।

पहला सिद्धान्त यह है कि आंतरिक मूल्य बाह्य मूल्यों की अपेक्षा उच्च है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यों की अपेक्षा उच्च है और तीसरा सिद्धान्त यह है कि उत्पादक मूल्य अनुत्पादक मूल्यों की अपेक्षा उच्च है। अरबन इन्हें व्यावहारिक विवेक का सिद्धान्त या मूल्य के नियम कहते हैं। वे बताते हैं कि आंगिक मूल्य जिनमें साहचर्य और चरित्र के मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं। उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा आध्यात्मिक मूल्य, जिनमें बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक मूल्य भी समाहित हैं, उच्च प्रकार के हैं।

अरबन की दृष्टि में मूल्यों की इसी क्रम-व्यवस्था के आधार पर आत्म-साक्षात्कार के स्तर हैं। आत्म-साक्षात्कार के लिए आत्मा की पूर्णता उस स्तर पर है, जिसे मूल्यांकन करने वाली चेतना सर्वोच्च मूल्य समझती है और सर्वोच्च मूल्य वह है जो अनुभूति की पूर्णता में तथा जीवन के सम्यक् संचालन में सबसे अधिक योगदान करता है। जैन दृष्टि में इसे हम वीतरागता और सर्वज्ञता की अवस्था कह सकते हैं। इस प्रकार अरबन की मूल्यों की क्रम-व्यवस्था भी जैन परम्परा के दृष्टिकोण के निकट ही है। जैन, बौद्ध एवं अन्य भारतीय दर्शनों में भी अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों में यही क्रम स्वीकार किया गया है। अरबन के आर्थिक मूल्य अर्थ पुरुषार्थ के, शारीरिक और मनोरंजनात्मक मूल्य काम पुरुषार्थ के, साहचर्यात्मक और चारित्रिक मूल्य धर्म पुरुषार्थ के तथा सौन्दर्यात्मक, ज्ञानात्मक और धार्मिक मूल्य मोक्ष पुरुषार्थ के तुल्य हैं।

भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य

जिस प्रकार पाश्चात्य नीतिशास्त्र में मूल्यवाद का सिद्धान्त लोकमान्य है उसी प्रकार भारतीय नैतिक चिन्तन में पुरुषार्थ-सिद्धान्त जो कि जीवन-मूल्यों का ही सिद्धान्त है, पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। भारतीय विचारकों ने जीवन के चार पुरुषार्थ या मूल्य माने हैं-

अर्थ (आर्थिक मूल्य)- जीवन निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र, आवास आदि की आवश्यकता होती है। अतः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इन साधनों को उपलब्ध करना ही अर्थ पुरुषार्थ है।

काम (मनोदैहिक मूल्य)- जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधन जुटाना अर्थ पुरुषार्थ और उन साधनों का उपभोग करना काम पुरुषार्थ है। दूसरे शब्दों में, विविध इन्द्रियों के विषयों का भोग काम पुरुषार्थ है।

धर्म (नैतिक मूल्य)- जिन नियमों के द्वारा सामाजिक जीवन या लोक-व्यवहार सुचारू रूप से चले, स्व-पर कल्याण हो और जो व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में ले जाए, वह धर्म पुरुषार्थ है।

मोक्ष (आध्यात्मिक मूल्य)- आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटीकरण मोक्ष है। मोक्ष ही सर्वोच्च मूल्य है।

जैन दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

सामान्यतया यह समझा जाता है कि निवृत्तिप्रधान जैन दर्शन में मोक्ष ही पुरुषार्थ है। धर्म पुरुषार्थ की स्वीकृति, उसके मोक्षानुकूल होने से ही है। अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का उसमें कोई स्थान नहीं है। जैन विचारकों के अनुसार अर्थ अनर्थ का मूल है। सभी काम दुःख उत्पन्न करने वाले हैं।[२०] लेकिन यह विचार एकांगी ही माना जाएगा। कोई भी जिनवचन एकान्त या निरपेक्ष नहीं है। जैन विचारकों ने सदैव ही व्यक्ति को स्व-पुरुषार्थ से धनोपार्जन की प्रेरणा दी है। वे मानते हैं कि व्यक्ति को केवल अपने पुरुषार्थ से उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का अधिकार है। दूसरों के द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के भोग करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। जैन आचार्यों ने विभिन्न वर्ण के लोगों को किन-किन साधनों से धनार्जन करना चाहिए, इसका भी निर्देश दिया है। ब्राह्मणों को मुख (विद्या) से, क्षत्रियों को असि (रक्षण) से वणिकों को वाणिज्य से और कर्मशील व्यक्तियों को शिल्पादि कर्म से धनार्जन करना चाहिए, क्योंकि इन्हीं की साधना में उनकी लक्ष्मी का निवास है। यद्यपि यह सही है कि मोक्ष या निर्वाण की उपलब्धि में जो अर्थ और काम बाधक हैं, वे जैन दृष्टि के अनुसार अनाचरणीय एवं हेय है। लेकिन जैन दर्शन यह बिल्कुल नहीं कहता है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ एकान्त हेय हैं। यदि वे एकान्त रूप से हेय होते तो आदि तीर्थंकर भगवान स्त्रियों के लिए ६४ और पुरुषों के लिए ७२ कलाओं का विधान नहीं करते। क्योंकि उनमें अधिकांश कलाएं अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं।[२१] न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और वैवाहिक मर्यादानुकूल काम का जैन विचारणा में समुचित स्थान है। जैन विचारकों ने जिसमें त्याग पर बल दिया है, वह इन्द्रिय विषयों का भोग नहीं, भोगों के प्रति आसक्ति या राग-द्वेष की वृत्ति है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म, विपाक से उपलब्ध भोगों से बचा नहीं जा सकता। इन्द्रियों के सम्मुख उनके विषय उपस्थित होने पर उनके आस्वाद से बचना संभव नहीं है। जो संभव है वह यह कि उनमें राग-द्वेष की वृत्ति न रखी जाए। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने जीवन की वासनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पक्ष को धर्मोन्मुखी बनाने तथा उनके पारस्परिक विरोध को समाप्त करने का भी प्रयास किया है। उनके अनुसार मोक्षाभिमुख परस्पर अविरोध में रहते हुए सभी पुरुषार्थ आचरणीय है। आचार्य हेमचन्द्र का कहना है कि गृहस्थ उपासक धर्म पुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार आचरण करें कि कोई किसी का बाधक न हो।[२२]

आचार्य भद्रबाहु का कहना है कि धर्म, अर्थ और काम को भले ही कोई विचारक परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिनवाणी के अनुसार तो वे कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण परस्पर अविरोधी हैं।[२३] ये पुरुषार्थ परस्पर विरोधी तभी होते हैं जब वे मोक्षाभिमुख होते हैं और जब वे मोक्षाभिमुख होकर अविरोध की स्थिति में हों, तो वे सम्यक् होते हैं, इसलिए आचरणीय होते हैं। किन्तु जब मोक्ष-मार्ग से विमुख होकर पुरुषार्थ चतुष्टय परस्पर विरोध में होते हैं, तब वे असम्यक् एवं अनाचरणीय होते हैं। इस प्रकार जैन विचारणा में भी चार पुरुषार्थों को चार मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन में पुरुषार्थ चतुष्टय

भगवान बुद्ध यद्यपि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा के अनुगामी हैं, तथापि उनके विचारों में अर्थ एवं काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी दिशाबोध उपलब्ध है। दीघनिकाय में अर्थ की उपलब्धि के लिए श्रम करते रहने का संदेश उपलब्ध होता है। बुद्ध कहते हैं, आज सर्दी है, आज बहुत गर्मी है, अब तो संध्या हो गई, इस प्रकार श्रम से दूर भागता हुआ मनुष्य धनहीन हो जाता है। किन्तु जो सर्दी, गर्मी को सहकर कठोर परिश्रम करता है, वह कभी सुख से वंचित नहीं होता। इतना ही नहीं प्राप्त सम्पदा का उपभोग किस प्रकार हो, इस सम्बन्ध में भी बुद्ध का निर्देश है कि सद्गृहस्थ प्राप्त धन के एक भाग का उपभोग करें, दो भागों को व्यापार आदि कार्यक्षेत्र में लगाए और चौथे भाग को आपत्ति-काल में काम आने के लिए सुरक्षित रख छोड़े।[२४] आज का प्रगतिशील अर्थशास्त्री भी आर्थिक प्रगति के लिए इससे अच्छे सूत्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। बुद्ध इस बारे में भी सतर्क हैं कि यदि समाज में धन का समुचित उपयोग नहीं होगा तो अराजकता और असुरक्षा उत्पन्न होगी। वे कहते हैं कि निर्धनों को धन नहीं दिए जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गयी और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बढ़ गयी। चोरी के बहुत बढ़ जाने का अर्थ धन की असुरक्षा है। इसके पीछे बुद्ध का निर्देश यही है कि समाज में धन का समान वितरण होना चाहिए ताकि समाज का कोई भी वर्ग अभाव से पीड़ित न हो। बुद्ध की दृष्टि में अर्थ को कभी भी धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। वे धर्मयुक्त व्यवसाय से नियोजित होने का ही उपदेश देते हैं।[२५] जो जीवन में धन का दान एवं भोग के रूप में समुचित उपयोग नहीं करता, उसका धन निरर्थक है, क्योंकि मरने वाले के पीछे उसका धन नहीं जाता है और न धन से जरामरण से ही छुटकारा मिल सकता है।[२६]

काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन करता है। यह एक अन्त है। बुद्ध का कहना है कि ब्रह्मचर्य जीवन के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है। कामोपभोग में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। इन दोनों अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है, मिथ्या धारणा बढ़ती है, व्यक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इस आधार पर काम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बुद्ध का दृष्टिकोण यही प्रतीत होता है कि जो काम धर्म अविरुद्ध है, जिससे आध्यात्मिक प्रगति या चित्त की विकलता समाप्त होती है, वह काम आचरणीय है। इसके विपरीत धर्मविरुद्ध मानसिक अशांतिकारक काम या विषयभोग अनाचरणीय है।

बुद्ध की दृष्टि में भी जैन विचार के समान धर्मपुरुषार्थ निर्वाण या मोक्ष पुरुषार्थ का साधन है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं, भिक्षुओं मैंने बेड़े की भाँति पार जाने के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़ रखने के लिए नहीं अर्थात् निर्वाण की दिशा में ले जाने वाला धर्म ही आचरणीय है।[२७] बुद्ध की दृष्टि में भी जो धर्म निर्वाण की दिशा में नहीं ले जाता, जिससे निर्वाण लाभ में बाधा आती हो वह त्याग देने योग्य है। इतना ही नहीं, बुद्ध धर्म को एक साधन के रूप में स्वीकार करते हैं और साध्य की उपलब्धि के लिए उसे भी छोड़ देने का संदेश देते हैं। उनकी दृष्टि में परममूल्य तो निर्वाण ही है।

चारों पुरुषार्थों या मूल्यों की तुलना

पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, लेकिन सापेक्षिक दृष्टि से इनमें विरोध नहीं रह जाता। साधन की दृष्टि से विचार करने पर अर्थ ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि अर्थाभाव में दैहिक माँगों (काम) की पूर्ति नहीं होती। दूसरी ओर, लोक के अर्थाभाव से पीड़ित होने पर धर्म-व्यवस्था या नीति भी समाप्त की जाती है। यदि साधक (व्यक्ति) की दृष्टि से विचार करें तो दैहिक मूल्य (काम) ही प्रधान प्रतीत होता है। मनोदैहिक मूल्यों (इच्छा एवं काम) के अभाव में न तो कोई नीति, अनीति का प्रश्न खड़ा होता है और न आर्थिक साधनों की ही कोई आवश्यकता पड़ती है। दूसरे, धर्म साधन और आध्यात्मिक प्रगति भी शरीर से सम्बन्धित हैं। कहा गया है कि शरीर ही प्राथमिक है। दैहिक माँगों की पूर्ति के अभाव में चित्त-शांति भी कैसे होगी और जिसका चित्त अशांत है वह क्या आध्यात्मिक विकास करेगा?

इसी प्रकार जब हम साधन-मार्ग पर सामाजिक संदर्भ में विचार करते हैं तो धर्म ही प्रधान प्रतीत होता है। धर्म ही सामाजिक व्यवस्था का आधार है। धर्म के अभाव में सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है और अस्त-व्यस्त

सामाजिक जीवन में अर्थोत्पादन एवं आध्यात्मिक साधन दोनों ही संभव नहीं होते। भोगों की समरसता समाप्त हो जाती है। साध्य या आदर्श की दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है, क्योंकि सारे प्रयास जिसके लिए हैं वह तो आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति ही है। संक्षेप में, साधनात्मक दृष्टि से आर्थिक मूल्य (अर्थ), जैविक दृष्टि से मनोदैहिक मूल्य (काम), सामाजिक दृष्टि से नैतिक मूल्य (धर्म) और साध्यात्मक दृष्टि से आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) प्रभु हैं। लेकिन ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतंत्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते।

मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्य की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्म साधन के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं। जैन परम्परा में कहा गया है कि ज्ञानादि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादि का साधन देह और देह का साधन आहार है। इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है। जैन विचारकों के अनुसार चारों पुरुषार्थों में एक साध्य-साधन भाव है जिसमें अर्थ मात्र साधन है। धर्म को अर्थ और काम का साधन तथा मोक्ष को साध्य माना गया है। जब साधन ही साध्य बन जाता है तो वह दूसरे के विरोध में खड़ा हो जाता है और जीवन के विकास को अवरुद्ध करता है। जैनागम साहित्य में मम्मन सेठ की कथा अर्थ को साध्य मान लेने का सबसे बड़ा उदाहरण है जिससे प्रकट होता है कि जब अर्थ साध्य बन जाता है तो वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों जीवन में कष्ट ही लाता है। इसी आशय को सामने रखते हुए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया- धन में प्रमत्त पुरुष का धन जिसके लिए धन ही साध्य है न तो लोक में और न परलोक में ही ऐसे व्यक्ति की रक्षा कर सकता है। धन के असीम मोह से मूढ़ बना हुआ वह व्यक्ति दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग को जानते हुए भी मार्ग नहीं देखता, वैसे ही वह भी न्याय-मार्ग या धर्म-मार्ग को जानते हुए भी उसे नहीं देख पाता। जैसे एक ही नगर में जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग परस्पर भिन्न दिशाओं में स्थित होते हुए भी पस्पर विरोधी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार परस्पर विरोधी पुरुषार्थ मोक्षाभिमुख होने पर अविरोधी बन जाते हैं।[२८] यहीं उनमें एक मूल्यात्मक तारतम्य स्पष्ट हो जाता है जिसमें सर्वोच्च स्थान मोक्ष का है, उसके बाद धर्म का स्थान है। धर्म के बाद काम और सबसे अन्त में अर्थ का स्थान आता है, किन्तु अर्थ पुरुषार्थ जब लोकोत्तर के लिए होता है, तब उसका स्थान पुरुषार्थ के ऊपर हो जाता है। अतः मोक्ष ही सर्वोच्च मूल्य है।

मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है

मनुष्य का चरम लक्ष्य या सर्वोच्च मूल्य मोक्ष क्यों है? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं-[२९]

१. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवमात्र की प्रवृत्ति दुःखनिवृत्ति की ओर है, क्योंकि मोक्ष दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है। अतः यह सर्वोच्च मूल्य है। इसी प्रकार आनन्द की उपलब्धि भी प्राणीमात्र का लक्ष्य है, चूँकि मोक्ष परम आनन्द की अवस्था है। अतः वह सर्वोच्च मूल्य है।

२. मूल्यों की व्यवस्था में साध्य की दृष्टि से एक क्रम होना चाहिए और उस क्रम में कोई सर्वोच्च एवं निरपेक्ष मूल्य होना चाहिए। मोक्ष पूर्ण एवं निरपेक्ष स्थिति है। अतः वह सर्वोच्च मूल्य है। मूल्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति करे। अतः जिसके प्राप्त हो जाने पर कोई इच्छा ही नहीं रहती है, वह परम मूल्य है। मोक्ष में कोई अपूर्ण इच्छा नहीं रहती। अतः वह परम मूल्य है।

३. सभी साधन किसी साध्य के लिए होते हैं और साध्य की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है। मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् कोई साध्य नहीं रहता इसलिए वह परम मूल्य है। यदि हम किसी अन्य मूल्य को स्वीकार करेंगे तो वह साधन मूल्य ही होगा और साधन मूल्य को परम मूल्य मानने पर नैतिकता में सार्वलौकिकता एवं वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाएगी।

४. मोक्ष आंतरिक प्रकृति या स्व-स्वभाव है। वही एकमात्र परम मूल्य हो सकता है, क्योंकि उसमें हमारी प्रकृति के सभी पक्ष अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं पूर्ण समन्वय की अवस्था में होते हैं।

इस प्रकार आध्यात्मिक मूल्य या आत्मपूर्णता ही सर्वोच्च मूल्य है एवं वही नैतिक जीवन का साध्य है। यद्यपि भारतीय

दर्शन में स्वीकृत सभी जीवन-मूल्य और पाश्चात्य नीतिशास्त्र में स्वीकृत विभिन्न नैतिक प्रतिमान जैन और बौद्ध नीतिशास्त्र में स्वीकृत रहे हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन और बौद्ध दर्शन नैतिक प्रतिमान में किसी निश्चित सिद्धान्त का अभाव है। वस्तुतः जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही इसके मूल में है। यद्यपि जैन नीतिशास्त्र में सापेक्ष दृष्टि से नैतिक सम्बन्धी सभी विचार स्वीकार कर लिए गए हैं, फिर भी उसकी दृष्टि में कर्म की शुद्धता इस पर आधारित है कि वह कर्म राग-द्वेष की वृत्तियों से कितना मुक्त है। उसके अनुसार जो कर्म अनासक्त भाव से सम्पादित होते हैं वे तो आत्मपूर्णता की ओर ले जाते हैं। वीतरागावस्था या समभाव की उपलब्धि ही उसका एकमात्र नैतिक साध्य या परम मूल्य है।

सन्दर्भः



१. *मिश्र, हृदयनारायण, समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ. ३००*
२. *Hill, Thomas, Contemparary Ethical Theories, p. 117*
३. *Bhargav, Dayanand, Jain Ethics, p. 112-116*
४. *उत्तराध्ययनसूत्र, ११/६*
५. *धम्मपद, १८२*
६. *आचारांगसूत्र, ११/३*
७. *सूत्रकृतांगसूत्र, १/८/३*
८. *धम्मपद, २/१*
९. *सौन्दरनन्द, १४/४३-४५*
१०. *दशवैकालिकसूत्र, ४/८*
११. *वही*
१२. *अंगुत्तरनिकाय*
१३. *दशवैकालिक, १/१*
१४. *मिश्र, हृदयनारायण, समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ.२२१*
१५. *उत्तराध्ययनसूत्र, ६/९-११*
१६. *धम्मपद, २५९*
१७. *आचारांगसूत्र, १/२/६/१०२*
१८. *मिश्र, हृदयनारायण, समकालीन दार्शनिक चिन्तन, पृ. १७७*
१९. *Hill, Thomas, Contemparary Ethical Theories, p. 274-84*
२०. *उत्तराध्ययनसूत्र, १३/१६*
२१. *कल्पसूत्र, (भगवान ऋषभदेव का वर्णन)*
२२. *योगशास्त्र, १/५२*
२३. *दशवैकालिकसूत्र, २६२-२६४*
२४. *दीघनिकाय, ३/८/२-४*
२५. *सुत्तनिपात, २६/२९*
२६. *मज्झिमनिकाय, २/३२/४*
२७. *वही, १/२२/४*
२८. *उत्तराध्ययनसूत्र*
२९. *लाड, संतोष कुमार, भारतीय दर्शन में मोक्ष, पृ. ३१८*

***

मुक्त मानव की अवधारणा : योगवासिष्ठ के विशेष संदर्भ में

मनोज कुमार तिवारी

जीवन के चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए आत्म-साक्षात्कार अपरिहार्य है और आत्म-साक्षात्कार हेतु विशुद्ध चित्त, जिसे योगवासिष्ठ में 'सत्त्व' कहा गया है- अत्यंत आवश्यक है। सत्त्व में स्थित होने के लिये साधना की अग्नि में तपना अनिवार्य है। तभी मनरूपी मलिनता, जो समस्त दु:खों का, अशान्ति का तथा भव-बंधन का कारण है- जलकर नष्ट हो पाती है। मन रूपी मलिनता के हटते ही हृदय-दर्पण अनुपम आभा से दैदीप्यमान होने लगता है और तब उस हृदय गुहा में विराजमान परमात्मा स्वत: प्रकट हो जाता है। साधना की अग्नि में तपकर, सत्त्व को प्राप्त होकर, आत्मभाव को उपलब्ध मनुष्य बाह्य रूप से साधारण मनुष्यों जैसा ही दिखाई देते हुए भी भीतर से असामान्य होता है। वह बाह्य रूप से साधारण किन्तु भीतर से महान् होता है। आत्म-भाव में स्थित होने के कारण दृश्य-प्रपंच उसकी दृष्टि से तिरोहित हो जाता है। ऐसे मनुष्य को योगवासिष्ठकार ने जिस विशिष्ट अभिधान से अलंकृत किया है- वह है-'जीवन्मुक्त'। जीवन्मुक्त अर्थात् जो जीवन जीते हुए भी मुक्त हो गया हो।

'जीवन्मुक्त' शब्द विशिष्ट अर्थों को अपने गर्भ में समेटे हुए हैं। जब तक जीवन है अर्थात् जब तक चैतन्य का दीपक हमारे भीतर प्रज्वलित हो रहा है, तभी तक मुक्ति सम्भव है। चैतन्य का दीपक बुझ जाने पर मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। चैतन्य का यह दीपक हमारे प्रज्वलित करने से प्रज्वलित नहीं हो रहा है, अत: इसके बुझने में भी हमारा कोई हाथ नहीं होता । मालूम नहीं, कब यह चैतन्य-दीपक बुझ जाए, अत: इसके प्रज्वलित रहते-रहते हमे उस सत्य को, उस आत्म-तत्त्व को पा लेना है, जिसे मुक्ति कहा गया है।

जीवन अर्थात् इस समय का हमारा वर्तमान जीवन। जीवन जैसा है, वैसी ही मृत्यु होगी। जो इस पार है, वही उस पार होगा। जैसे हम इस जीवन में हैं, वैसे ही जीवन के पार हो सकेंगे। हम एक तारतम्य हैं। मृत्यु से हम समाप्त नहीं हो जाते। मृत्यु-जीवन-यात्रा का एक पड़ाव मात्र है, जहाँ से हम अपने सम्पूर्ण जीवन-सूत्रों को एकत्रित करके नई यात्रा पर निकल जाते हैं। अत: यदि इस जीवन में हम अंधकार में हैं, तो जीवन के पार भी प्रकाश में नहीं हो सकेंगे। जो इस जीवन में नहीं हो सका है, वह केवल शरीर छूट जाने मात्र से नहीं हो सकेगा। कारण स्पष्ट है हम वही रहेंगे, मृत्यु से कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि हम इस जीवन में आनन्दित हैं तो मृत्यु के पार भी आनन्दित रहेंगे। यदि इस जीवन में दु:खी हैं तो मृत्यु हमें सुख नहीं दे पाएगी । यदि इस जीवन में नरक में हैं, तो जीवन के पार भी नरक ही हमारी प्रतीक्षा करेगा। अत: वर्तमान उपलब्ध जीवन में ही हमें जाग्रत होना है। जो कुछ इस जीवन में संचित करेंगे, वही मृत्यु के पार प्रकट हो जायेगा। मृत्यु जीवन का ही चरम उत्कर्ष है, मृत्यु कसौटी है। वर्तमान जीवन का सम्यक् व्यवहार (निष्काम-कर्म) ही इस जीवन में अभ्युदय की प्राप्ति कराता हुआ नि:श्रेयस् का जनक बन जाता है।

कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि जीवन और मुक्ति एक साथ नहीं चल सकती । या तो जीवन-व्यवहार संभव हो सकता है या मुक्ति। जीवन-व्यवहार में रहे, तो मुक्ति से गए और मुक्ति चाहिए तो जीवन-व्यवहार से हाथ धो बैठे।

मुक्ति का अर्थ है- मन से मुक्त होना। मन एक वृक्ष के समान है, जिसका मूल अहंकार है, वासना तना है तथा आसक्ति, ममता, कामना, तृष्णा, इच्छा आदि उस वृक्ष के पत्र-पुष्प आदि हैं। जैसे मूल को काट देने से हरा-भरा वृक्ष भी सूख कर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अहंतारूपी मूल को काट देने से मन रूपी वृक्ष सुख कर नष्ट हो जाता है। मन के नष्ट होने का अर्थ मन:शक्ति का नष्ट होना नहीं है। मन:शक्ति तो मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त विशिष्ट उपहार है। उसी के द्वारा वह इस सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी स्वीकार किया गया है। मन के नष्ट होने का अर्थ है- उन सभी विकारों का नष्ट हो जाना जो हमें दु:ख और अशान्ति के गहन गर्त में ले जाते हैं। मन से मुक्त होने पर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही मोक्ष अथवा निर्वाण है।

जीवित पुरुषों के जीवन की वह अवस्था जिसमें वासनओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के वासना बीज से रहित होने पर सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार जाग्रत-अवस्था के वासना बीज से रहित हो जाने पर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसमें वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ निद्रा का नाम सुषुप्ति है। परन्तु जिस अवस्था में वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे तुरीया कहते हैं। जाग्रत अवस्था में भी वासनाओं का समूल नाश हो जाने के कारण तुर्यावस्था होती ही है। यही जीवन्मुक्ति है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से जाग्रत्काल में जो राग और वासना से रहित सुपुप्ति अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष स्वभाव कहते हैं, और उसमें परिनिष्ठित हो जाना मुक्ति है।

योगवासिष्ठ का उपदेश यही है कि इसी जीवन में मुक्त बनो । इस जीवन में मुक्त हो तो भविष्य में भी मुक्त ही रहोगे। इसी जीवन को पाठशाला बना लो और इस पाठशाला में जीवन का वह पाठ सीख लो जिससे पुनः इस पाठशाला में आने की आवश्यकता ही न पड़े। राम को महर्षि वसिष्ठ ने जीवन की पाठशाला में ही मुक्ति का पाठ पढ़ाया है, जिसे पढ़कर वे 'जीवन्मुक्त कहलाए। राम के माध्यम से योगवासिष्ठकार हम सबको भी जीवन्मुक्ति के उसी मंदिर में प्रवेश कराना चाहते हैं। जीवन्मुक्ति के इस मंदिर में पहुँचकर मनुष्य निर्द्वन्द्व हुआ संसार-पंक में रहते हुए भी पंक से सर्वथा अलिप्त रह सकता है। केवल पंक-मुक्त ही नहीं रह सकता, अपितु कमलवत प्रस्फुटित होकर अपनी जीवन सुगन्धि को चतुर्दिक विकीर्ण भी कर सकता है।

'जीवन्मुक्त' को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए मैं आपका ध्यान एक प्राचीन कथा की ओर आकृष्ट करता हूँ । इससे योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्त की स्थिति तथा स्वरूप को अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझने तथा हृदयंगम करने में अवश्य सहायता मिल सकेगी ।

एक अंधा और एक लंगड़ा एक दिन किसी जंगल में थे। जंगल में आग लग गई। अंधा चल सकता था लेकिन देख नहीं सकता था, इसी प्रकार लंगड़ा देख सकता था किन्तु चल नहीं सकता था, अत: दोनों ने विचार किया कि बचने का एक ही उपाय है कि लंगड़ा अंधे के कंधों पर आरूढ हो जाए। निर्णयानुसार लंगड़ा अंधे के कंधे पर आरूढ हो गया। इस प्रकार वे दोनों उस अग्नि से आवृत जंगल से बाहर निकल आए। एक अद्भुत घटना घटित हुई, क्योंकि लंगड़े ने अंधे को आँखे दे दी और अंधे ने लंगड़े को पैर दे दिये।

जीवन्मुक्त ऐसी ही दशा है जहाँ जीवन के कंधों पर परमात्मा आरूढ हो जाता है, जहाँ जीवन की साधारणता में परमात्मा की असाधारणता प्रकट हो जाती है। इसलिये योगवासिष्ठ के प्रारम्भ में ही जब ब्राह्मण सुतीक्ष्ण अगस्त्य ऋषि से मोक्ष का उपाय पूछते हैं, तो ऋषि कहते हैं-

जिस प्रकार पक्षी अपने दोनों पंखों की सहायता से ही आकाश में उड़ पाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के योग से ही मोक्ष संभव है। न केवल ज्ञान और न केवल कर्म मोक्ष की प्राप्ति करा सकते हैं।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य में कर्मशीलता तो है, परन्तु ज्ञान-दृष्टि यथार्थ मात्रा में विकसित नहीं है। अथवा ज्ञान है तो वह हमारे आचरण में समाविष्ट नहीं है। इसीलिए हम जो भी कार्य करते हैं, वह हमें पीड़ा में, दु:ख में, संताप में ही ले जाता है।

हम चलते हैं, परन्तु अविकसित ज्ञानदृष्टि के कारण टकराते हैं और गिर पड़ते हैं। हमें ज्ञान रूपी आँखें चाहिये, तभी संसार -अटवी में भ्रमण करना संभव हो सकता है। कर्म के कंधों पर ज्ञान को आरूढ हो जाना चाहिए। जीवन के चरम उत्कर्ष पर तभी पहुँचा जा सकता है, जब ज्ञान और कर्म संयुक्त हो जाएँ। दोनों का योग हो जाए। 'जीवन्मुक्ति' दोनों का योग है।

इस प्रकार योगवासिष्ठ में चित्रित 'जीवन्मुक्ति' से जो ध्वनि स्पष्टतया प्रतिध्वनित हो रही हो है, उसे हम विभिन्न प्ररिप्रेक्ष्यों में प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रथम परिप्रेक्ष्य : जीवन्मुक्ति जीवन में ही मुक्ति है। इसलिए अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। जो मिला है उसी की क्षमता का पूर्ण सदुपयोग करना चाहिए। अभी इसी स्थान पर और परिस्थिति में जाग्रत होना है, क्योंकि यदि अभी जीवन में मुक्ति अनुभव नहीं हुई, तो फिर मृत्यु में कैसे होगा? जब समस्त सुविधाएँ हैं, शरीर स्वस्थ है, मन शक्तिसम्पन्न है, भीतर ऊर्जा प्रवाहित हो रही है, हम दूर के किनारों तक की यात्रा करने में सक्षम हैं, जब नाव के पाल खोल देने मात्र की आवश्यकता है और जीवन की हवाएँ हमें दूर की यात्रा पर ले जाने के लिए तैयार हैं, ऐसी स्थिति में भी हम यदि एक इंच भी न हिले, तो मृत्यु के क्षण में जब शरीर शिथिल हो जाएगा, ऊर्जा विलुप्त हो जाएगी, चतुर्दिक गहन शून्यता छाने लगेगी, तब हम मुक्ति की आशा कैसे कर सकते हैं? इसलिए योगवासिष्ठकार कहते हैं– अभी से जागो, अभी स्वयं को रूपान्तरित करो। वृद्धावस्था की प्रतीक्षा मत करो। बाल्यावस्था, युवावस्था का सदुपयोग कर लो। अभी तो जीवन है क्षणभर के पश्चात् की कौन कहे जीवन सदैव आज है, मृत्यु सदैव कल है। अत: जीवन्मुक्त वह है, जिसने अवसर की प्रतीक्षा नहीं की, कल के लिए स्थगन नहीं किया तथा जिसने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग किया।

द्वितीय परिप्रेक्ष्य: जीवन्मुक्ति जीवन में ही मुक्ति है, इसलिए जीवन से पलायन नहीं करना चाहिए। जीवन संघर्ष से भागना व्यर्थ है। प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसी में सफलता का मार्ग खोजना चाहिए। पलायन से कुछ प्राप्त न होगा, क्योंकि हम हम ही रहेंगे। हमारा चित्त पलायन से परिवर्तित नहीं होगा। हम चाहे घर में रहें अथवा निर्जन कानन में भाग जाएँ – वहीं चैतन्य की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहेगी। योगवासिष्ठ कहता है– जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुष के लिये घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है। परन्तु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस पुरुष के लिये निर्जन वन भी जनसमुदाय से भरा हुआ नगर है।

जिन गृहस्थों के चित्त भली भाँति समाहित हो चुके हैं तथा जिनके अहंकार आदि दोष शान्त हो गए हैं, उनके लिए घर ही निर्जन वनस्थलियों के समान है। जिसका चित्त अहंता, ममता, रागादि दोष रूप महामेघ से रहित होकर शान्त हो चुका है, उसके लिये जनसमूहों से व्याप्त नगर भी एक एकान्त शून्य अरण्य जैसे लगते हैं। परन्तु जिसका चित्त अहंता, ममता राग आदि वृत्तियों से युक्त होने के कारण उन्मत्त बना रहता है, उसके लिये निर्जन वन भी प्रचुर जनों से परिपूर्ण नगर जैसे ही हैं। अत: रूपान्तरण ही वास्तविक है। जहाँ हो वहीं बदलो। जीवन की आग से ही निकलकर आत्मा शुद्ध होती है, निखरती है, स्वर्ण बनती है। अत: जहाँ हैं, जैसे हैं, वहीं जाग्रत रहकर कार्य करना है। जीवन तपश्चर्या है।

तृतीय परिप्रेक्ष्य: जीवन्मुक्ति अर्थात् जीवन ही मुक्ति है। जीवन और मुक्ति विपरीत नहीं है। साधारणत: मोक्ष और जीवन को विपरीत समझा जाता है। यदि जीवन में हमारा रस है, तो मोक्ष से हम दूर हो जाते हैं और यदि मोक्ष में रस लेते हैं, तो जीवन विरस हो जाता है। परन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। योगवासिष्ठकार के अनुसार यह सम्पूर्ण जीवन परमात्मा ही है। पुष्प में भी वही है और कांटे में भी वही है। चतुर्दिक प्रवाहित रसधारा उसी की प्रवाहित की हुई है। अत: जीवन के विपरीत जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वधर्म रूप कार्य का पालन करते हुए ही मुक्त होना है। अणु–अणु में वही एक प्रभु व्याप्त है। यदि दिखाई न पड़े, तो अपनी आँखों का ही दोष है। आँखों में आत्म–चिन्तन का काजल लगाना चाहिए। अज्ञान का आवरण हटाकर हृदय के कपाट अनावृत करने चाहिए। जीवन में ही परमात्मा है, जीवन में ही मोक्ष है।

जीवन्मुक्त के लक्षण योगवासिष्ठ में इतनी स्पष्टता से अंकित है कि उनको समझने–समझाने के लिये किसी भी प्रकार की विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं है, निम्नलिखित गुण जीवन्मुक्त में स्वाभाविक रूपेण विद्यमान रहते हैं। भिन्न–भिन्न स्थानों पर उद्धृत उपर्युक्त गुणों को हम सुविधा की दृष्टि से निम्न रूप में वर्गीकृत कर सकते हैं–

१. स्वच्छता, २. सुहृदयता, ३. यथार्थज्ञान, ४. आनन्दस्वरूपता, ५. शान्ति ६. मृदुभाषिता, ७. पूर्णता, ८. उदारता, ९. सत्यस्वरूपता, १०. कान्तिमत्ता ११. एकाग्रता, १२. सर्वात्मकता, १३. निर्भयता, १४. निर्विकल्पता १५. निष्कामता, १६. स्थिरता, १७. समता, १८. निष्क्रियता, १९. धैर्य २०. मननशीलता, २१. संतोष,२२. सत्ता २३. प्रभावशीलता।

१. स्वच्छता

स्वच्छता से बाह्य शरीरिक स्वच्छता मात्र अभिप्रेत नहीं है। बाह्य स्वच्छता गौण है। जीवन्मुक्त काम-क्रोधादि सभी आभ्यन्तरिक मलिनताओं से मुक्त होता है। योगवासिष्ठ के अनुसार- जिसके चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं का अभाव हो चुका है, वह ज्ञानी कहलाता है। जिसका हृदय शरद् काल के आकाश की भाँति आवरण-शून्य है, वह पंडित है। जो विवेकी मनुष्य विरक्त हो परमपद में विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वत: नष्ट हो जाते हैं। वे वासनाशून्य, द्वैतहीन एवं अभिमान से रहित होते हैं। हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध काम और कायरता की दृष्टियों से जो रहित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषों के संग और विषयों की आसक्ति से रहित, मान और मानसिक चिन्ताओं से शून्य, परमात्मा में ही रत, विज्ञानानन्द से परिपूर्ण तथा विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त होता है। वह सब प्रकार के आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों और समस्त आशा, इच्छा, वासना आदि से रहित रहता है। उस परमात्म प्राप्त पुरुष के अत्यंत निर्मल विशाल चित्त में कोप आदि विकार उत्पन्न नहीं होते । उस तत्त्वज्ञ की विमल बुद्धि कभी मोहरूपी सागर में निमग्न नहीं होती, उसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्व के और न करते समय अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती। जैसे स्फटिक मणि पर वास्तव में किसी भी रंग से रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही परमात्म स्वरूप को प्राप्त तत्त्ववेत्ता का अन्तःकरण सुख-दु:ख की प्राप्ति होने पर विकारवान नहीं होता। उस महात्मा पुरुष के चित्त को संसार का दृश्य उसी प्रकार लिपायमान नहीं कर सकता, जैसे जलरेखा कमल को लिपायमान नहीं कर सकती। उस महापुरुष में काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का नित्य अभाव ही रहता है। महान् आशय से सम्पन्न, सत्त्व में स्थित तत्त्वज्ञ मनुष्य के ऐश्वर्य आदि पदार्थ चाहे पूर्ववत् स्थित रहें अथवा अभ्युदय को प्राप्त हों, चाहे वह उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियों से परिपूर्ण तथा कुटुम्बी जनों से पूर्ण घर में रहे अथवा सभी प्रकार के भोगों से शून्य विशाल वन में रहे, चाहे उसके शरीर पर चन्दन, अगर और कपूर का अनुलेप किया जाए अथवा वह दीर्घ ज्वालाओं से व्याप्त अग्नि में गिरे, चाहे उसकी आज ही मृत्यु हो जाए अथवा अनेक कल्पों के बाद हो, वह न तो स्वयं कुछ बनता है और न उस महात्मा ने कुछ किया ही है। वह किसी प्रकार की मलिनता को प्राप्त न होकर सर्वदा निर्मल बना रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ भी स्वर्ण निर्मल ही होता है।

२. सौम्यता (सुहृदयता)

सौम्यता व्यक्तित्व को गरिमा प्रदान करने वाला महान् गुण है। जीवन्मुक्त पुरुष न तो प्राप्त वस्तु की उपेक्षा करता है और न अप्राप्त की इच्छा। सम्पूर्ण वृत्तियों में उसका अन्तःकरण चन्द्रमा की भाँति सौम्य एवं शीतल होता है। ऐसा पुरुष यदि जंगल में रहता है, तो वहाँ पत्थर भी उसके मित्र हो जाते हैं। वन के वृक्ष बन्धु-बान्धव और वन्य मृग उसके स्वजन बन जाते हैं। दु:खी व्यक्ति के निकट वह दु:खियों की ही चर्चा करता है और सुखी के पास वह सुख की ही कथा कहता है। परन्तु स्वयं सभी अवस्थाओं में हार्दिक सुख-दु:ख से पराजित न होकर सदैव सौम्य बना रहाता है। केवल परहित के लिये पत्र-पुष्प धारण करने वाली लता के समान धीर तथा उदारवृत्ति से वह महात्मा दु:खावस्था की उपेक्षा नहीं करता तथा सुखावस्था में आसक्त नहीं होता। न कार्यों के सफल होने से हर्षित होता है, और न कार्यों के विनष्ट होने पर खिन्न होता है। वह कभी भी दीनतायुक्त नहीं होता। न कभी उदण्ड होता है तथा न उन्मत्त, उद्विग्न और हर्षयुक्त ही। वह सदा सर्वदा सौम्य बना रहता है।

३. यथार्थज्ञान

यह जगत् न दु:खरूप है न सुखरूप, वरन् अज, शिवस्वरूप और शान्त है- ऐसी भावना से जिसका अन्तःकरण शिला की भाँति सुदृढ हो गया है, उसे विद्वान् लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं। आत्मज्ञानी इस जगत् को आत्मस्वरूप चेतनाकाश के एक

कोने में स्वप्न के समान देखता हुआ सुखपूर्वक शयन करता है। वह तत्त्वज्ञ सम्पूर्ण भूतों के आत्मस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सबके नियन्ता, सर्वाकार और निराकार परमात्मा के स्वरूप को अपना आत्मा जान लेता है। शरीर से पृथक् आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाले यथार्थ विवेक से सम्पन्न ज्ञानी के शरीर का छेदन करने पर भी उसका कुछ भी छेदन नहीं होता, क्योंकि वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूप में ही नित्य स्थित रहता है। यदि सूर्य शीतल हो जाए, चन्द्रमा तपने लगे, अग्नि अधोमुख होकर जलने लगे, तो भी तत्त्वज्ञानी को आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि चिन्मय परब्रह्म परमात्मा की असीम मायाशक्तियाँ ही इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं।

४. आनन्दस्वरूपता

जीवन्मुक्त मनुष्य अमृत से परिपूर्ण सरोवर के समान स्वात्मा में स्वयं ही आनन्दानुभूति करता है तथा निर्मल पूर्ण चन्द्रमा के समान दूसरों को भी आदान-प्रदान करता है। समस्त जगत् का अभाव करके परम पूर्णता को प्राप्त आत्मज्ञानी मनुष्य तृप्तिपर्यन्त ब्रह्मानन्दमय अमृत का पान करता है। विषयानन्द के अभाव में भी निरतिशय ब्रह्मानन्द पाकर वह तत्त्वज्ञ महान् आनन्द में निमग्न होता है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई, जिसको परमात्म विषय का सम्यक्-ज्ञान है तथा जो सदाचार से युक्त है, वह महात्मा सुचारू रूप से व्यवहार करता हुआ भी अपनी अन्तरात्मा में प्रसन्न रहता है। विक्षेपरहित, शान्तियुक्त मन वाला वह महापुरुष सदैव आनन्द-मग्न रहता है तथा समस्त संगों से रहित होकर सम्राट की भाँति सदैव मस्त रहता है।

५. शान्ति

शान्ति में ही जीवन्मुक्तता की चरितार्थता है। जो परमात्मलाभ से संतुष्ट हो स्वभाविक रूप से परम शान्त है तथा जिसकी सभी चेष्टाओं में बुद्धिमान पुरुषों को आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता है, वह ज्ञानी कहलाता है। अपूर्वपद में विश्रान्त होने के कारण वह जीता हुआ ही मृतक-तुल्य हो जाता है। बाहर से उसका आचरण सबके समान ही होता है, परंतु भीतर से वह सर्वथा शीतल होता। यदि वह विशाल राज्य में निवास करता है तो वहाँ जनसमुदाय से भरा हुआ स्थान भी उसके लिये शून्य-सा ही हो जाता है, विपत्तियाँ महान् सम्पत्तियाँ हो जाती हैं और नाना प्रकार के व्यसन ही उसके लिये सुन्दर उत्सव बन जाते हैं। जैसे राज्य मिल जाने पर दरिद्र मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है। परमपद में विश्रान्त को प्राप्त, समदर्शी तत्त्वज्ञानी के आचरण में शान्तरूपता तथा राग-द्वेष शून्य व्यवहार सर्वदा परिलक्षित होता है, जिससे वह शरद्कालीन मेघ के समान शुद्धात्मा होकर भलीभाँति शान्त हो जाता है।

६. मृदुभाषिता

व्यक्तित्व को गौरवपूर्ण बनाने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है- मृदुभाषिता। यह ऐसा गुण है, जिसके द्वारा मनुष्य शत्रु को भी मित्र बना लेता है। तत्त्वज्ञ मनुष्य का आचरण मनोरम और मधुर होता है। उसके मुखारविन्द से प्रिय और कोमल वचन ही उच्चरित होते हैं। तत्त्वज्ञानी सबके अनुकूल बोलता है और किसी के प्रश्न करने अथवा प्रेरित करने पर सुन्दर उक्तियों द्वारा समाधान करता है। वह स्वमुख से जब भी वाणी को प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कथाओं को ही कहता है। निरर्थक वाद-विवादों में वह पत्थर की भाँति मूक बना रहता है। व्यर्थ की बातों को सुनने में वह पहले सिरे का बहरा बना रहता है। लोकाचार के विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान निश्चेष्ट होता है और सदाचार का विवेचन करते समय वह सहस्र जिह्वा वाले वासुकि एवं देवगुरु वृहस्पति के समान वक्ता बन जाता है।

७. उदारता

तत्त्वज्ञ उदार चरित तथा उदार आकार से युक्त, सम, सौम्य, सुख का समुद्र एवं सुस्निग्ध होता है। उसका स्पर्श शान्तिमय होता है और वह पूर्णचन्द्र की भाँति नित्य उदित रहता है।

८. पूर्णता

आत्मज्ञानी पूर्ण होता है। उसमें किसी इच्छा की संभावना नहीं होती । उसे न तो आकाशगमन से, न निग्रह-अनुग्रह

सामर्थ्य से, न अणिमादि सिद्धियों से, न तुच्छ भोगों से, न मान-यश प्रतिष्ठा से और न आशा, मरण तथा जीवन से ही कोई प्रयोजन होता है। जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं। उसी प्रकार सब भोग आत्मज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं। तत्त्वज्ञ महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही। लोकसंग्रह के लिये जिसने जगत् के व्यवहारों का पूर्णरूप से निर्वाह किया है, जिसका हृदय परिपूर्ण है, वह मननशील जीवन्मुक्त पुरुष स्वस्वरूप में ज्यों का त्यों स्थिर रहकर यथाप्राप्त शिष्टाचार का अनुसरण करता है। भीतर से नित्य शान्त और मौनी तथा सत्त्वगुणमय मनोभूमि वाला जीवन्मुक्त महात्मा परिपूर्ण महासागर के समान सब ओर से पूर्ण होता है तथा उसका आशय गम्भीर होने के साथ ही सुस्पष्ट होता है। जल से परिपूर्ण महासागर की भाँति तत्त्वज्ञ की पूर्णता अपूर्व ही होती है।

९. सत्यस्वरूपता

सत्यस्वरूपता का तात्पर्य है- इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को असत् समझकर एकमात्र सत्य परमात्म तत्त्व में दृढ़तापूर्वक स्थित होना। ऐसा मनुष्य आत्मस्वरूप ही हो जाता है। योगवासिष्ठ में कहा गया है- आत्मावान् पुरुष उपरत हुआ ही इस दृश्यमान् अखिल जगत् को सर्वत्र सदा असत्-सा देखता है। अन्तरात्मा में लीन दृष्टि से वह जनता के व्यवहारों को यन्त्रनिर्मित कठपुतली के खेल के समान देखता है। वह न भविष्य की चिन्ता करता है, न वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है और न भूतकालीन वस्तु का स्मरण करता है। वह सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी प्रसुप्त भी आत्म-ज्ञान में जागता रहता है और जाग्रत भी संसार से निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह उदासीन मनुष्य की भाँति स्थित रहता है। उसका न कर्मों के आरम्भ से, न कर्मों के अभाव से, न बंधन से, न मोक्ष से, न पाताल से और न स्वर्ग से ही प्रयोजन होता है। जैसे संकल्प की शान्ति हो जाने पर संकल्पनगर सदा के लिये शान्त हो जाता है तथा जैसे जाग्रत पुरुष के लिय स्वप्न नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्म-ज्ञानी की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत् सदा के लिए अस्त-सा हो जाता है।

१०. कान्तिमत्ता

आत्मवान् मनुष्य का मुख सदैव अद्‌भुत कान्ति से कान्तिमान रहता है। उसके मुख की कान्ति सुख में उदित नहीं होती और दुःख में अस्त नहीं होती । वह यथाप्राप्त जीवन-निर्वाह करता है। जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा से सम्पूर्ण आकाश-मण्डल उदीप्त हो जाता है, वैसे ही जिसकी बुद्धि ज्ञानलोक से प्रकाशित हो जाती है तथा जो समस्त संदेह रूपी सघन अंधकार को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये वायु के समान है, उस पुरुष से सारा देश उद्‌भासित हो उठता है।

११. एकाग्रता

एकाग्रता सफलता का साधक गुण है। एकाग्र कठिन परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता। योगवासिष्ठकार कहते हैं कि जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के ध्यान में मग्न रहता है, वह वज्र के भयावह शब्द से, पर्वत के विस्फोट से एवं ऐरावत आदि हाथियों के चिंघाड़ने से भी कम्पित नहीं होता है। जैसे तिलों के भस्म हो जाने पर तेल की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार मूलसहित मन के विनष्ट हो जाने पर तत्त्वज्ञानी में संकल्प-विकल्प की चर्चा नहीं हो सकती।

१२. सर्वात्मकता

समस्त जीवों के प्रति आत्म-भाव रखना सर्वात्मकता है। जीवन्मुक्त सबके प्रति आत्मभाव रखता है। विनाशशील विषयों को त्याज्य बुद्धि से देखने वाला वह मृदु, दमनशील, सम्पूर्ण चिन्ता-ज्वरों से रहित सब भूतों में अन्तरात्मा स्वरूप से स्थित आत्मपद का ही अवलम्बन कर स्थित रहता है।

१३. निर्भयता

आत्मज्ञानी राग-द्वेषादि द्वन्द्व रूप दोष तथा भय से रहित होता है। जो कुछ उसके सामने उपस्थित हो जाता है, उसी का

निःशंक होकर अनुवर्तन करता है। जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी स्वकल्पित मनोराज्य के हाथी, बाघ आदि को देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि ये मेरी कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष इस संसार को कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता। सम्यक्-ज्ञान रूपी अग्नि से जिसके संदेह रूपी जाल विनष्ट हो गए हैं, उस तत्त्वज्ञ का चित्त रूपी पक्षी निःशंक हो जाता है।

१४. निर्विकल्पता

जो पुरुष तरंग की जलरूपता से भावना करता है, उसे सामान्य जलबुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरंग के भेद से निर्मुक्त कहा जाता है। जो पुरुष केयूर स्वर्ण से भिन्न नहीं है- ऐसी भावना करता है, वह सामान्य स्वर्ण बुद्धि वाला मनुष्य निर्विकल्पक कहा जाता है। ज्वाला की पंक्ति अग्नि से भिन्न नहीं है- इस प्रकार जो भावना करता है, उसको केवल अग्निबुद्धि ही रहती है और उसे निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है, वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती। वह प्राप्तव्य वस्तु परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, अतः वह सांसारिक पदार्थों में कभी नहीं फँसता। जैसे आकाश में चाहे जितने घने बादल छा जाएँ और महासागर में तरंगें उठने लगें, किन्तु उनसे आकाश तथा महासागर में किसी प्रकार की हानि अथवा वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों से रहित ज्ञानी को इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में कुछ भी लाभ-हानि का अनुभव नहीं होता।

१५. निष्कामता

जीवन्मुक्त पुरुष निष्काम होते हैं। आत्म-साक्षात्कार करके वे इस विनाशशील बाह्य दृश्यप्रपंच में उसी प्रकार नहीं रमते जैसे चैत्ररथ नामक उद्यान में पहुँचे हुए जन खैर-वन में जाने की इच्छा नहीं करते। तत्त्वज्ञ के मन में कामनाओं की उत्पत्ति उसी प्रकार रूक जाती है जैसे पत्थर से मंजरियाँ नहीं निकलती। प्रारब्ध के अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाए, उसमें वह पुरुष कामना और संकल्प से रहित होकर ही प्रवत्त होता है। उसमें लोकैषणा, दारैषणा, वितैषणा आदि कोई भी एषणा नहीं रहती। इस पृथ्वी पर, स्वर्ग में अथवा देवताओं के यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारचेता परमात्म ज्ञानी को लुभा सके। 'यह समग्र विश्व भ्रममात्र है, मिथ्या इन्द्रजाल है'- ऐसे दृढ निश्चय के कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओं से सर्वथा रहित हो जाता है। व्यवहार में तत्पर होने पर भी उसके मन में कहीं किसी भी पदार्थ के प्रति अनुराग अथवा आसक्ति नहीं होती। वह इच्छा और अनिच्छा के बन्धन से मुक्त होता है। सभी लोग मन, वाणी और कर्म द्वारा तत्त्वज्ञ महापुरुष के आचरणों के अनुकरण की इच्छा करते हैं, परंतु वह किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता। वह अपने आत्मा में ही रमण करने के कारण बाह्य विषयों से विरत होता है, अतः उसे जागतिक व्यवहार उसी प्रकार सुख नहीं दे पाते, जैसे प्रगाढ नींद में सोए हुए पुरुषों को रूपसौन्दर्य से सुशोभित स्त्रियाँ सुख नहीं दे सकती। आत्मवान सभी कामनाओं से विरत होने के कारण न उसे आकाशगमन आदि सिद्धियों से कोई प्रयोजन होता है, न भोगों से। न उसे प्रभाव की इच्छा है और न सम्मान की। न उसे जीने की आशा होती है और न मरने का भय।

१६. स्थिरता

जीवन्मुक्त मनुष्य का चित्त अपनी चपलता का परित्याग करके चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा में विश्राम लेकर वहीं रम जाता है। जैसे अज्ञानियों की चित्तवृत्ति सर्वत्र प्रसारित विषयभोगों में आसक्त होकर उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही परमात्मनिष्ठ की विवेकशालिनी बुद्धि आत्मस्वरूपता से विचलित नहीं होती। जीवन्मुक्त पूछने पर प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन करता है और न पूछने पर शुष्क काष्ठ की भाँति अविचलभाव से स्थित रहता है। जैसे प्रशान्त महासागर अपने स्वरूप में सदा अचल स्थित रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञ स्व-स्वरूप में ही नित्य अचल स्थित रहता है। जैसे ऋतुओं के आने-जाने से पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा कालानुसार, देशानुसार, और क्रमानुसार आपत्तियों एवं सुख-दुःखों के आने पर भी विचलित नहीं होता। जैसे परपुरुष में व्यसन रखने वाली नारी गृहकार्य में व्यस्त रहने पर भी परपुरुष-सम्बन्ध रूप रसायन का अपने अन्दर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी आत्मतत्त्व में

उत्तम विश्राम को प्राप्त धीर पुरुष परमात्मा-स्वरूप में ही मग्न रहता है, फलतः वह इन्द्रादि देवताओं द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी विचलित नहीं होता। अपने जीवन और मरण की आसक्ति से रहित ज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख-दुःख से भी विचलित नहीं होता । उसको संसार के संकल्प-विकल्प उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकते, जैसे जल-प्रवाह अचल पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।

१७. समता

समत्वभाव में स्थित होना समता है। समत्व में स्थित मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से निर्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त के लक्षणों में समता सर्वोपरि है। जीवन्मुक्त के मन में यह विचार ही नहीं रहता कि अमुक वस्तु प्राप्य है और अमुक वस्तु त्याज्य है। अतः न उसका क्रिया का त्याग करने से कोई प्रयोजन होता है, न क्रिया का आश्रय लेने से। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ज्ञानी को उद्वेग देने वाली हो, अतः त्याज्य हो और न कोई ऐसी वस्तु है, जो ज्ञानी के लिये उपादेय हो, अतः आश्रय लेने योग्य हो। तत्त्वज्ञ समयानुसार निरन्तर प्राप्त होने वाले सुखों-दुःखों में हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता । उसे इष्ट वस्तुओं में राग और अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष नहीं होता। उसका अहंता-ममता को लेकर ग्रहण और त्याग रूप संकल्प क्षीण हो जाता है। तत्त्वज्ञ अनुकूल व्यवहार से हर्षित नहीं होता और किसी के प्रतिकूल व्यवहार से कुपित नहीं होता । शुभ समाचार से हर्षित नहीं होता और अशुभ से रुदन नहीं करता। वह न तो त्याग करता है, न ग्रहण, न किसी की स्तुति करता है, न निन्दा, न मरता है, न जन्म लेता है, न हर्ष करता है और न शोक को प्राप्त होता है। संसार की आसक्ति से शून्य वह तत्त्ववेत्ता महात्मा सम्पूर्ण कार्यों को करता हुआ भी समभाव से स्थित रहता है। जैसे सूर्य का तेज भूतल पर सर्वत्र समभाव से पड़ता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व में एकीभाव के दृढ़ अभ्यास से जीवन्मुक्त मुनि की सर्वत्र समदृष्टि हो जाती है।

१८. निष्क्रियता

यहाँ निष्क्रयता से तात्पर्य क्रियाहीनता से नहीं है। जैसे दीपक प्रकाश फैलाता हुआ भी कुछ नहीं करता, वैसे ही ज्ञानी जीवन्मुक्त सब कुछ देखते हुए भी निष्क्रिय बना रहता है। जैसे रात्रि होने पर दीपक के सन्निधिमात्र से प्रकाश का कर्ता होते हुए भी व्यापारशून्य होने के कारण अकर्ता ही है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण लोक-व्यवहार की स्थिति में कर्ता होकर भी अकर्ता ही है। तत्त्वज्ञानी को जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तदनुसार न्याययुक्त जीवनयापन करता हुआ स्थित रहता है। वह जो-जो कर्म करता है, उसमें उसका कर्तापन नहीं रहता है। वह समस्त आचार-व्यवहार का पालन करता है, किन्तु कर्तृत्व-अभिमान से रहित होने के कारण वह कुछ भी नहीं करता है।

१९. धैर्य

धैर्य ही वह गुण है, जिसका आश्रय लेकर मानव महामानव बनता है। जैसे मेरु पर्वत स्थिरता और धीरता को धारण करता है, वैसे ही तत्त्वज्ञ स्थिरता और धैर्य को सदैव धारण करता है। धीरता के कारण ही काकतालीय न्याय की भाँति अनायास न्याययुक्त लगना आदि भोगसमूह आस्वादित होने पर भी तत्त्वज्ञ धीर को सुख-दुःख नहीं दे सकते। आत्मज्ञानी पर्वत-सदृश धैर्य से युक्त होता है, इसीलिये जिस प्रकार मन्दराचल पर्वत से मथे जाने पर भी क्षीरसमुद्र अपना स्वाभावकि शुक्लपन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्ति के प्राप्त होने पर भी महामति जीवन्मुक्त अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता।

२०. मननशीलता

सदैव मननशील तत्त्वज्ञ पुरुष कर्तव्यों का विवेचन करता है और क्षण मात्र में ही विवाद का निर्णय कर देता है। वह शास्त्रों के अर्थ में रस लेता है, जगत् में क्या उत्तम, अधम अथवा बुरा भला है इसका उसे ज्ञान होता है। त्याज्य और ग्राह्य का भी वह ज्ञान रखता है। लोक और शास्त्र के विरुद्ध कार्यों से वह सदा विरत रहता है। सज्जनों के मध्य रहने अथवा सत्संग का वह रसिक होता है।

२१. संतोष

संतोष रूपी अमृत से परिपुष्ट हुआ जीवन्मुक्त पुरुष अपनी पूर्वदशा का बारंबार स्मरण करके अर्थस्वरूप अर्थ के नष्ट हो जाने पर भी परम संतुष्ट ही रहता है। वह सर्वदा नित्य तृप्त हुआ स्थित होता है। समस्त अभिलाषाओं से रहित आत्मज्ञ आत्मस्वरूप में नित्य संतुष्ट रहता है। उसकी बुद्धि पहले से ही दूसरे का धन ग्रहण करने से विरत रहती है, क्योंकि उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए अपने ही धन से संतोष रहता है। संतोषामृत से परिपूर्ण हुआ वह क्रमशः अपने स्वार्थों की भी उपेक्षा कर देना चाहता है। तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष बिना प्रयत्न के स्वतः प्राप्त अनिषिद्ध भोगपदार्थों का केवल शरीर रक्षा के लिये अनासक्त भाव से लीलापूर्वक सेवन करता है।

२२. सत्ता

सत्ता से अभिप्राय है- नित्य आत्मस्वरूप में स्थित के होने कारण जो स्वयं को नित्य सत् ही समझता है। देह भावना से रहित होकर नित्य आत्म-भाव में स्थित होने के कारण उसके शरीर का छेदन होने पर भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अश्रुओं से युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता, और देह का विनाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता । उसका अन्तःकरण भ्रान्ति से रहित होकर समतारूप से स्थित हो जाता है, वह आकाश की भाँति सभी दृष्टियों में न मरता है, न जन्मता है।

२३. प्रभावशीलता

उपर्युक्त गुण जहाँ समवेत रूप में निवास करते हों- ऐसा जीवन्मुक्त मनुष्य प्रभावशाली व्यक्तित्व से सम्पन्न होता है। चन्द्रमा की किरणों के समान वह अपने संग से अन्तःकरण में आदान-प्रदान करता है। गृहागत याचक रूपी भ्रमर का वह प्रफुल्ल कमलों के समान अपने ज्ञान का अनावृत सौगन्ध्य फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भोजन प्रदान कर आदर-सत्कार करता है। जनता के तापों का अपहरण करके उन्हें अपनी ओर आकर्षित करता है। वर्षाकाल के मेघों की भाँति वह स्निग्ध एवं शीतल होता है। देश को छिन्न-भिन्न करने वाले व्यापक जन-क्षोभ को वह उसी प्रकार रोक देता है जैसे पर्वत भूकम्प को। ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डल सदृश सुन्दर कान्तिवाली गुणशालिनी पत्नी के समान विपत्तिकाल में उत्साह एवं धैर्य प्रदान करता है तथा सम्पत्ति के समय सुख पहुँचाता है। वैशाख मास अथवा वसन्त के समान वह अपने सुयश रूपी पुष्प से सम्पूर्ण दिशाओं को निर्मल बनाता, उत्तम फल की प्राप्ति में कारण बनता, और कोकिल के समान मीठी वाणी बोलता है। आपदाओं में, बुद्धिनाश के अवसरों पर, भूख- प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मरण इन छः उर्मियों के प्राप्त होने पर, व्याकुलता की दशा में तथा घोर संकट उपस्थित होने पर साधु पुरुष ही सत्पुरुषों का आश्रयदाता होता है। जीवन्मुक्त से लोगों को उद्वेग नहीं होता और न जीवन्मुक्त को ही लोगों से उद्वेग होता है। वह हर्ष, अमर्ष और भय से रहित रहता है। भुशुंडापाख्यान में भुशुंड का सम्पूर्ण चरित्र प्रभावशालिता को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रकट करता है।

श्रीमद्भागवत् में सदाचार के जो तीस लक्षण बतलाए गए हैं। उनका भी अन्तर्भाव उपर्युक्त लक्षणों में सम्यक्तया हो जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष वे सन्त पुरुष हैं, जिन्हें रामचरितमानस में भगवान् ने अपना परम प्रिय कहा है। सन्तों के जिन गुणों के कारण भगवान भी उनके वश में रहते हैं- उनका वर्णन करते हुए तुलसीदास जी ने कहा है।

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता, अगनित श्रुति पुरान विख्याता।
विषय अलंपट सील गुनाकर, पर दुःख दुःख सुख सुख देखे पर ।।

सम अभूत रिपु विमद बिरागी, लोभामरष हरष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया, मन बच क्रम मम भगति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम तें प्रानी।।

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ, जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ।
षट् विकार जित अनघअकामा, अकल अकिंचन सुचित सुखधामा।

अमित बोध अनीह मितभोगी, सत्यसार कवि कोबिद जोगी।
सावधान मानद मन हीना, धीर धर्म गति परम प्रबीना।
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही, पर गुन सुनत अधिक हरषाही।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीति, सरल सुभाउ सबहि सन प्रीति।।

योगवासिष्ठ में चित्रित जीवन्मुक्त के स्वरूप की तुलना श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ से की जा सकती है। स्थितप्रज्ञ की कोई वासना नहीं होती, वह आत्मरत रहता है, न तो उसमें आसक्ति है, न भय है, और न क्रोध, वह दुःखों से विचलित नहीं होता ओर न सुख की स्पृहा करता है, वह पूर्णतया राग-द्वेष से विवर्जित रहता है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियों को अन्दर खींच लेता है, वैसे ही वह विषयों से अपने आपको अलग रखता है। श्रीमद्भगवद्गीता का उपरोक्त भाव योगवासिष्ठ में भी अपने ढंग से उल्लिखित है। परन्तु योगवासिष्ठ का जीवन्मुक्त गीता के स्थितप्रज्ञ से एक विशेष अर्थ में उच्च स्थान रखता है। जीवन्मुक्त पुण्य-पाप के फलरूप सुख-दुःख से पूर्णतः अप्रभावित रहता हुआ भी दूसरों के सुख में सुखी एवं दूसरों के दुःख में सहानुभूति रखता है। वह बच्चे के सदृश आनन्द मना सकता है, जब वह बच्चों के साथ हो। जब वह दार्शनिक अथवा वृद्धों के साथ हो, तो उतना ही गम्भीर हो सकता है, जितना कि अन्य दार्शनिक। श्रीमद्भगवद्गीता का कथन यह नहीं है कि ऐसे गुण स्थितप्रज्ञ में नहीं हैं, फिर भी उनका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें जीवन्मुक्त के विरक्त एवं निवृत्तिप्रधान रूप पर ही बल दिया गया है। जबकि योगवासिष्ठ ने जीवन्मुक्त संत के निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों पक्षों पर बल दिया है। वह पूर्णतः अप्रभावित रहते हुए भी समाज से विरक्त नहीं है और प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेता हुआ प्रतीत होता है। गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिये भी शुभ कर्म करने का विधान करती है, परन्तु उसमें जीवन में सबके साथ पूर्ण और उचित रूचि लेने का आदेश नहीं है। योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता अपितु प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार हो जाता है। जीवन्मुक्त यथाप्राप्त अवस्था के अनुसार व्यवहार करता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार- वे ज्ञानी नहीं हैं, मूर्ख हैं, जो जब तक देह है तब तक समचित्त होकर देह की अवस्थाओं के अनुसार कर्मेन्द्रियों का व्यवहार नहीं करते। जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने बालपन के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते हैं जब तक तिल है तब तक तेल है, वैसे ही जब तक यह शरीर है तब तक इसकी स्वाभाविक दशायें हैं। जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता वह तलवार से आकाश को काटता है। देह की दशा के अनुसार होनेवाले दुःख-सुखों का त्याग करना ठीक नहीं। चित्त की शान्ति और समता तो योग से प्राप्त होती है न कि कर्मेन्द्रियों को स्थगित कर देने से। जब तक शरीर है तब तक ज्ञानपूर्वक सदाचार के अनुसार कर्मेन्द्रियों द्वारा देह की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिये- मन द्वारा नहीं। जब तक सृष्टि है तब तक काम करने से ही मन को प्रसन्न करने वाले को सुख मिलता है। स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता।

बाह्य व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी में समानता है लेकिन भेद वासना के कारण है। जो बन्धन और मोक्ष का कारण है। जब तक शरीर है तब तक दुःख में दुःख और सुख में सुख अज्ञानियों की तरह असंसक्त ज्ञानियों के शरीर में भी होते दिखाई पड़ते हैं। जो मन से मुक्त है वही मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में बँधा हुआ ही हो, और जो मन से बद्ध है वही बद्ध है, चाहे कर्मेन्द्रियों से कुछ भी न करता हो। संसार में सुख-दुःख का अनुभव दिलानेवाली और बन्ध-मोक्ष की ओर ले जानेवाली केवल बुद्धि इन्द्रिय ही है, कर्मेन्द्रियाँ नहीं, जैसे सूर्य की किरणें प्रकाश की हेतु हैं।

जीवन्मुक्त का चित्त- योगवासिष्ठ के अनुसार- मूढ़ चित्त ही चित्त कहलाता है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है। चित्त का दूसरा जन्म होता है सत्त्व का नहीं। आत्मज्ञानियों का मन अत्यन्त उपशम को ऐसे प्राप्त होकर जैसे कि बादल के बरसने पर मृगतृष्णा की नदी का जल और तेज धूप के पड़ने पर बर्फ के कण विलीन हो जाते हैं, तुर्य दशा में स्थित हो जाता है। जीवन्मुक्तों का हृदय शुद्ध होकर इस प्रकार दूसरे जन्म को उत्पन्न नहीं कर सकता। उन जीवन्मुक्त महात्माओं का चित्त, जिन्होंने उस तत्त्व का दर्शन कर लिया है जो यहाँ और वहाँ सब जगह है, सत्त्व कहलाता है। जीवन्मुक्त के शरीर में व्यवहार

करने वाली वासना का नाम चित्त नहीं है, वह सत्त्व कहलाती है। तत्त्वज्ञानी लोग जो नित्य समभाव में स्थित हैं चित्तरहित हो जाते हैं। वे सत्त्व के स्पन्दन द्वारा लीला से संसार में भ्रमण करते हैं। विवेक द्वारा शुद्ध किया हुआ चित्त 'सत्त्व' कहलाता है, जैसे भुने हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही सत्त्व से मोह उत्पन्न नहीं होता। जो मुनि अन्तर्मुख होकर चित्तरूपी अग्नि में तीनों जगत्रूपी तृणों की आहुति देता रहता है उसके लिये चित्त आदि भ्रम मिट जाता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार- तत्त्वज्ञानी हो या अज्ञानी, जो कोई काल, द्रव्य और क्रिया द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्त आत्मभाव में स्थित है उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई हैं, वह सबसे परे सर्वोच्च पद पर स्थित है और आत्मा में ही संतुष्ट है। वह किसी प्रकार का यत्न नहीं करता। न उसे आकाशगमन आदि सिद्धियों से कोई मतलब है और न भोगों से, न उसे प्रभाव की इच्छा है और न सम्मान की। उसे न जीने की अभिलाषा है और न करने का भय। यदि कोई आत्मज्ञानी भी सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहे तो वह भी सिद्धि देने वाले द्रव्यों द्वारा उनको क्रम से प्राप्त कर सकता है। द्रव्य, काल, क्रिया, मन्त्र और प्रयोग की जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उनको वश में करने से आकाशगमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जिसके चित्त में जैसी इच्छा उत्पन्न होती है, वह चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, यत्न करके उसको यथासमय पूरी कर लेता है। जो-जो सिद्धि नामक फल जिस-जिसने प्राप्त किये हैं वे सब उन्होंने अपने-अपने ही पुरुषार्थ रूपी वृक्ष से पाये हैं।

जीवन्मुक्त सभी आपत्तियों से मुक्त हो जाता है। जो उदार चित्तवाला महात्मा त्रिलोकी को तृण के समान समझता है उसको छोड़कर सारी आपदायें ऐसे चली जाती हैं जैसे कि साँप अपनी पुरानी खाल को। जिसके भीतर सदा सत्त्व का प्रकाश रहता है उसकी लोकपाल इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे सारे ब्राह्मण्ड की। जो कुछ भी नहीं लेता उसी को परम अमृत मिलता है जिसको पाकर वह सब कुछ अखण्ड और पूर्ण रूप से पा लेता है।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन्मुक्त हो सकता है।

योगवासिष्ठ अनुसार जीवन्मुक्तता किसी व्यक्ति विशेष अथवा वर्गविशेष की सम्पत्ति नहीं है। स्वधर्म रूप कर्म भी जीवन्मुक्तता में बाधक नहीं है। जाति अथवा कुल का कोई बन्धन नहीं हैं। उपेक्षित, विपन्न दीन-हीन, गृहस्थ राजा, तपस्वी, शिल्पी, स्त्री, पुरुष तथा बालक कोई भी जीवन्मुक्त हो सकता है। जो जहाँ भी है, जैसा भी है, वहीं उसी स्थिति में जीवन्मुक्त बन सकता है । केवल जागरूक होकर दृष्टि बदलने मात्र की आवश्यकता है। निरन्तर इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए योगवासिष्ठ ने स्पष्ट एवं असन्दिग्ध शब्दों में कहा है –

इस भूतल पर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो असंग बुद्धि से यथाप्राप्त वर्णाश्रम-धर्म का अनुसरण करते हैं। कुछ लोग वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहार का अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्र में प्रवृत्त रहते हैं, तथा पंच महायज्ञों के अवशिष्ट अमृतमय अन्न का भोजन करते हैं। कुछ जीवन्मुक्त सदा ध्यान और देवपूजन आदि स्वकर्म का अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकार की चेष्टाओं एवं प्रयत्नों में लगे रहते हैं। कुछ महान आशय वाले महापुरुष अपने अन्तःकरण में सम्पूर्ण फलों की आसक्तियों का परित्याग कर सब प्रकार के नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानी की भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन शून्य वनस्थलियों में ध्यान लगाते हैं, जहाँ स्वप्न में भी मनुष्यों के दर्शन नहीं होते और जो भोले-भाले मृग-शावकों से आपूर्ण रहते हैं। कुछ लोग उन पुण्य तीर्थों, आश्रमों अथवा देवालयों में रहते हैं जो पुण्य की वृद्धि करने वाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं। तथा जहाँ का सदाचार मन और इन्द्रियों के निग्रह से सुशोभित होता है। कुछ समतापूर्ण हृदय वाले पुरुष राग-द्वेष का परित्याग करने के लिये शत्रु मित्रों से आविष्ट स्वदेश को छोड़कर अन्य देश में चले जाते हैं और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। कितने ही विद्वान् संसार-बंधन का उच्छेद करने के लिये एक वन से दूसरे वन में, एक गांव के दूसरे गांव में, एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर घूमते फिरते हैं।

कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय लिया है जैसे भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि। कुछ महात्मा परम ज्ञान प्राप्त कर राज्यों में ही छत्र चंवर धारण किये रहते हैं जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि । कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि के आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित है जैसे वृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य तथा सप्तर्षि आदि।

कोई महात्मा पर्वत की गुफा को ही घर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रम में निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई इधर-उधर भ्रमण करता रहता है। कोई भिक्षाचर्या से निर्वाह करता है, तो कोई एकान्त में बैठकर तपस्या करता है। कोई मौन व्रत धारण किये रहता है, तो कोई ध्यान-परायण होता है। कोई प्रख्यात पण्डित होता है तो कोई श्रुति का श्रोता होता है। कोई राजा, कोई ब्राह्मण और कोई मूढ़ के समान स्थित रहता है। कोई गुटिका, अंजन आदि से सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है। कोई शिल्पकला से जीवन-निर्वाह करता है तो कोई पामर सदृश रूप धारण किये रहता है। कोई समस्त वैदिक आचारों का परित्याग कर देता है, तो कोई कर्मकाण्डियों का नायक बना रहता है। किसी का चरित्र उन्मत्त के समान होता है, तो कोई संन्यास-मार्ग का आश्रय लेता है।

व्यवहार पारायण जो मनुष्य बाह्य दृश्य-विषयों में सत्यता की भावना से रहित है अथवा जो मनुष्य विषयेन्द्रिय सम्बन्धों का परित्याग करके समाधि में निरत रहता है अथवा चित्रलिखित देहधारियों की भाँति जो प्राणों के स्पन्दन से रहित है अथवा उन्हीं की भाँति जो मनोगति से भी शून्य हैं, वे सब चित्त-चैत्य के सम्बन्ध से रहित होने के कारण परमपद स्वरूप परमात्मा में समान भाव से नित्य स्थित हैं।

योगवासिष्ठ के अनुसार- जिस यथार्थदर्शी ज्ञानी की बुद्धि आत्मावलोकन से विचलित नहीं होती उसका ही जीवन शोभायुक्त है। जिसके अन्दर अहंभाव नहीं और जिसकी बुद्धि विषयों में लिप्त नहीं होती, जो सब भावों में सम रहता है, उसका ही जीवन शोभा पाता है। जो राग-द्वेष से रहित है और शीतल बुद्धि से इस जीवन को साक्षी के समान देखता है, जीवन उसका ही शोभित होता है। जिसने यथार्थ ज्ञान पाकर और हेय-उपादेय भावना को त्यागकर अपने मन के भीतर ही मन को स्थापित कर लिया है, जीवन उसी का शोभा पाता है। सच्ची दृष्टि को प्राप्त करके जो लीला से ही जगत् की क्रियाओं को वासनारहित होकर करता है उसका ही जीवन शोभायुक्त होता है। जो हेय और उपादेय विषयों में विचरण करता हुआ अपने मन में न उद्विग्न होता है और न हर्षित, उसका ही जीवन शोभित होता है। जैसे शुद्ध सरोवर से श्वेत हंसों की पंक्ति निकलती है वैसे ही उसमें से सदगुणों की पंक्तियाँ निकलती हैं, ऐसा ही जीवन शोभित होता है। जिसके गुणों को सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके सब प्राणियों को आनन्द होता है उसका ही जीवन शोभायुक्त होता है। संसार में जो-जो काम किये जाते हैं उनसे समाहित चित्तवालों को ही आनन्द मिलता है, दूसरों को नहीं। बुद्धि द्वारा विवेक प्राप्त कर लेने पर ही साँप की तरह भयदायक भोगों को इस प्रकार भोग करना चाहिए जैसे कि गरुड़ साँपों को खा जाता है। तत्त्व का विचार और दर्शन कर लेने पर विभूतियों का सेवन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है, अन्यथा दुःख मिलता है। जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बड़ा आकार धारण कर लेती हैं वैसे ही संगरहित होकर भोगों को भोगने पर उनकी विभूतियाँ और अधिक हो जाती हैं जैसे वसन्त ऋतु में वृक्षों की सुन्दरता और शोभा आदि गुण बढ़ जाते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य में बल, बुद्धि और तेज की वृद्धि हो जाती है।

जीवन्मुक्त पुरुष का मित्र श्री राम गुरु वासिष्ठ से पूछते हैं कि जीवन्मुक्त पुरुष का मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीड़ा करता है? उसकी क्रिड़ा का क्या स्वभाव है? अपने आत्मस्वरूप में अवस्थिति ही उसकी क्रीड़ा है अथवा रमणीय भोग-स्थानों में विहार करने से प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी को वह अपनी क्रीड़ा समझता है?

वसिष्ठ जी बताते हैं- जो अपना परम्परागत सहज कर्म है, जो लोकसंग्रह के लिये किया जाने वाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्न से अभ्यास में लाया गया सत्-शास्त्रों का अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वर ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है- वे तीनों प्रकार के कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं है, वास्तव में एक ही हैं। केवल उपाधिभेद से तीन है। वह मित्र पिता के समान आश्वासन देने वाला, स्त्री के समान लज्जा द्वारा अकर्तव्य से रोकनेवाला तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे संकटों में भी साथ देनेवाला है। उसके सेवन में किसी प्रकार की शंका के लिये स्थान नहीं है। वह परमानन्द की सिद्धि में पूर्ण सहायक है तथा क्रोध के अवसरों पर भी कोपरहित होने के कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है। ऐसे स्वकर्म नामक अपने सत्रीक मित्र के साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभाव से ही रमता है, किसी दूसरे से प्रेरित होकर नहीं।

आगे और श्री राम पूछते हैं कि – उसके इस मित्र की स्त्री और पुत्र आदि कौन है तथा उनका स्वरूप क्या है? उनमें कौन-कौन से गुण हैं?

वसिष्ठ जी कहते हैं- इस स्वकर्म नामक मित्र के 'स्नान', 'दान', 'तप' और ध्यान नाम वाले चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्गुणों से सारी प्रजा उनमें भली-भाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नी में समता है, जो इसे बहुत ही प्रिय है। वह सदा अपने प्रियतम की हृदयवल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखा के समान दर्शन मात्र से ही लोगों को आह्लाद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतम में अनुराग रखती है। करुणा के कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती हैं, चित्त को चुरा लेने वाली और आनन्द की जननी है। सदा पति के साथ रहती और कभी अलग नहीं होती है। जो सदा धर्म और धैर्य में लगायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता रानी की द्वारपालिका है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देने में तत्पर रहती है। वह उस धर्म-धुरन्धर धन्यभागी धीर पुरुष के आगे-आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजा के मित्र की दूसरी स्त्री 'मैत्री' है, जो राज्य पर बढ़े हुए शत्रुओं को पराजित करने के लिए राजा को उचित मंत्रणा प्रदान करती है। वह सदा 'समता' के साथ राजा के कंधे से कंधा मिलाकर चलती है। इसके सिवा इन मानवीय नरेश को आर्य मर्यादा रूपी समस्त कार्यों के विषय में बड़ी चतुराईपूर्ण उपदेश देनेवाली आचार्य स्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करने वाली धनाध्यक्षा है। इस तरह के उत्तम परिवार वाले मित्र एवं मंत्री रूप अपने कर्म के साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ, जीवन्मुक्त पुरुष न तो लौकिक लाभ में हर्षित होता है और न हानि होने पर कुपित ही होता है। निर्वाण मोक्ष में मन लगाये रहनेवाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहार में तत्पर होने पर भी चित्रलिखित योद्धा की भाँति ज्यों का त्यों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वाद-विवाद में वह पत्थर की प्रतिमा की भाँति मूक बना रहता है। मतलब की बातों को सुनने में वह पहले सिरे का बहरा बना रहता है। लोकाचार के विरुद्ध सभी कर्मों में मुर्दे के समान वह सहस्र जिह्वावाले वासुकि एवं देवगुरु वृहस्पति के समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणी से सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरों के कुटिलतापूर्ण दोषों को वह शीघ्र ही ताड़ लेता है। वस्तुविषयक अत्यन्त दुरूह सन्देह का भी पलक झपकते निर्णय करके शीघ्र ही उसके स्वरूप का विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टि में समता और हृदय में उदारता होती है। वह दानवीर होने के कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है। वह स्वभाव से कोमल, स्नेहमय और मधुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्य कीर्ति होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध – तत्त्वज्ञान के प्रकाश से अलोकित है, वे प्रयत्न से ऐसे नहीं बनते हैं। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरों की प्रेरणा से प्रकाशित नहीं होते, क्योंकि प्रकाश उनका स्वाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषों का यह स्वभावसिद्ध गुण बताया गया है। शरीर के अन्त हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है।

योगवासिष्ठ के अनुसार जैसे चलती हुई हवा स्थिर हवा में प्रवेश कर जाती है वैसे ही देह के काल द्वारा नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेहमुक्त हो जाता है। विदेहमुक्त न उदय होता है और न अस्त होता है, न उसका अन्त होता है। न वह सत् रहता है, न असत्, न कहीं दूर जाता है। न वह मैं हूँ न कोई दूसरा। वह सूर्य होकर जगत् को गर्मी देता है, विष्णु होकर त्रिलोक का पालन करता है, रूद्र होकर सबका संहार करता है, ब्रह्मा होकर सृष्टि की रचना करता है, आकाश के रूप में वह सुर-असुर और ऋषियों सहित वायुमण्डल को धारण करता है, कुलाचल होकर लोकपालों के नगर को धारण करता है, भूमि होकर सारे लोकों को धारण करता है, जल का आकार धारण करके वह दौड़ता है, आग का आकार धारण करके वह जलाता है, तेज होकर आकाश बनता है, पर्वत होकर रूकावट पैदा करता है, चेतन होकर चेतन जीवों को उत्पन्न करता है और जड़ होकर जड़ वस्तुओं को, समुद्र होकर वह त्रिवली का तरह पृथ्वी को घेरता है, परम सूर्य होकर प्रकाश को फैलाता है, तीनों जगत् के परमाणु रूप से वह शान्ति में स्थित रहता है, जो कुछ भी यह जगत् दिखाई पड़ा है, पड़ता है, या दिखाई देगा- अर्थात् तीनों कालों में दिखाई देनेवाला दृश्य जगत्- सब कुछ वही है। हे राम- इस अवस्था का नाम ही मुक्ति है। इसी को ब्रह्म कहते है। यही पूर्ण से भी परिपूर्ण स्वरूपवाला निर्वाण कहलाता है।

जीवन तो सभी जीते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त का जीवन ही विशेष रूप से आभामय होता है। वहाँ क्लेश, अवसाद अथवा दुःख की छाया भी नहीं होती तथा शान्ति, आनन्द की सरिता सतत प्रवाहित रहती है। जीवन्मुक्त का जीवन ही शोभामुक्त जीवन है।

वाद, विवाद और स्याद्वाद

विजय कुमार

आग्रह 'वाद' को जन्म देता है और दुराग्रह 'विवाद' को। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। वह सोचता है और स्वतंत्र होकर सोचता है। परिणामतः विचारों की विभिन्न दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। एक ही वस्तु-स्वरूप के विषय में अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग दृष्टिकोणों से सोचता है। यहाँ तक तो चिन्तन-प्रणाली ठीक चलती है, लेकिन जब चिन्तन-प्रणाली विचारणीय वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने के पश्चात् भी उसके समग्र स्वरूप को दृष्टि में न रखकर उसके विशिष्ट पक्ष को लेकर अपनी आग्रहदृष्टि प्रदर्शित करती है तब ऐकान्तिक दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव होता है। यही ऐकान्तिक दृष्टि विवाद की पृष्ठभूमि तैयार करती है। एकांगी आग्रह राग-द्वेष से प्रेरित होता है और राग-द्वेष के चक्र में फंसा व्यक्ति सत्य का साक्षात्कार कर ही नहीं सकता। हाँ! वह व्यक्ति और समाज को खण्डित अवश्य कर सकता है। शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, नित्यवाद-अनित्यवाद, भेदवाद-अभेदवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, नियतिवाद-पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत हैं वे सभी आपेक्षिक रूप से सत्य हैं, लेकिन यही जब आग्रहदृष्टि का जामा पहन लेते हैं तब विवाद को उत्पन्न करते हैं।

इस वैचारिक जगत् में दो प्रकार की दृष्टियाँ मुख्य रूप से देखने को मिलती हैं- १. सामान्य की दृष्टि तथा २. विशेष की दृष्टि। प्रथम दृष्टि समानता की पोषक है। उसे सम्पूर्ण विश्व में समानता का ही बोध होता है। किन्तु समानता की यह दृष्टि धीरे-धीरे अभेदात्मक हो जाती है जो यह निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्वतः एक ही है। इस प्रकार समानता की दृष्टि से प्रारम्भ हुई प्रथम दृष्टि तात्त्विक एकता की भूमिका पर आकर विराम लेती है। ठीक इसके विपरीत दूसरी दृष्टि है जो असमानता की पोषक है, वह सम्पूर्ण विश्व में असमानता ही देखती है। किन्तु असमानता के मूल का अन्वेषण करते-करते अन्त में वह ऐसी स्थिति पर जा पहुँचती है जहाँ उसे समानता कृत्रिम दृष्टिगत होने लगती है, फलतः वह निश्चय करती है कि सम्पूर्ण विश्व विभिन्न भेदों का संघात है। उनमें न कोई वास्तविक तत्त्व है और न ही सामान्य। इस प्रकार ये दोनों दृष्टियाँ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। एक का आधार समन्वय है तो दूसरे का आधार विश्लेषण। इन्हीं दो मूलभूत दृष्टियों से अनेक ऐकान्तिक धारणाओं का जन्म होता है।

प्रथम जब हम सामान्यग्राही दृष्टि पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि इस सामान्यग्राही दृष्टि से समग्र देश-कालव्यापी तथा देश-काल विनिर्मुक्त ऐसे एकमात्र सत् अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना हुई जिसने जगत् के समस्त भेदों और तद्ग्राह्य प्रमाणों को मिथ्या प्रदर्शित कर सत् तत्त्व को वाणी तथा तर्क की प्रवृत्ति से शून्य बताते हुए उसे अनुभवगम्य बताया।

दूसरी ओर विशेषगामिनी धारा से देश और काल से ही भिन्न नहीं, बल्कि स्वरूप में भी भिन्न ऐसे अनन्त भेदों की मान्यता स्थापित हुई जिसने सभी प्रकार के अभेदों को मिथ्या बताया तथा अन्तिम भेदों को तर्क की प्रवृत्ति से शून्य कहकर उसे अनुभवगम्य बताया। अद्वैतमात्र को स्पर्श करने वाली दृष्टि से किसी विषय में भेद सहन न कर सकने के कारण अभेदमूलक अनेक वादों की स्थापना हुई। इस दृष्टि से कार्य-कारण, धर्म-धर्मी, गुण-गुणी, आधार-आधेय आदि के अभेदवादी युगलों का जन्म हुआ। उधर द्वैत और भेद को स्पर्श करनेवाली दृष्टि ने अनेक विषयों में भेदमूलक विभिन्न वादों को जन्म दिया। इस प्रकार मूल रूप में मान्य सामान्य-विशेष और उनकी अवान्तर दृष्टियों से परस्पर विरुद्ध ऐसे बहुत से

दर्शनों व मतों का जन्म हुआ जो सत्यता प्राप्ति की बिना परवाह के अपनी चरितार्थता को उजागर करने लगे। प्रस्तुत आलेख में कुछ ऐसे ही मुख्य ऐकान्तिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विवेचन किया जा रहा है।

I

प्रथम विरोध द्वैत-अद्वैत में दिखाई पड़ता है। अद्वैतवादियों ने माना है कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, शेष जगत् मिथ्या है। इस प्रकार वे एक की सत्ता में ही विश्वास करते हैं। कहते हैं- वस्तु एक है, अनेक नहीं, क्योंकि अनेक मायाजनित है और जो मायाजनित है उसकी हमें मिथ्या प्रतीति होती है, जैसे- रज्जु में सर्प की मिथ्या प्रतीति होती है। ठीक इसके विपरीत जो अनेकवादी हैं वे कहते हैं कि वस्तु या पदार्थ एक नहीं है, बल्कि अनेक हैं। यदि हम वस्तु या पदार्थ को एक ही मानते हैं तो एक के मरने पर सबको मर जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः वस्तु एक नहीं, अनेक है। दूसरी बात यह है कि अद्वैत एकान्त को मानने पर शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य और पाप इहलोक और परलोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष आदि द्वैत की सिद्धि नहीं होती है-

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा।। आप्तमीमांसा, २५

सबसे सरल और सहज मान्यता है कि न 'न द्वैतं इति अद्वैतं' अर्थात् जो द्वैत नहीं, वह अद्वैत नहीं है। द्वैत के बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती, जैसे हेतु के बिना अहेतु की नहीं होती। कहीं भी प्रतिषेध्य के अभाव में संज्ञी का निषेध नहीं देखा गया है।

अद्वैतं न बिना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्।। आप्तमीमांसा, २७

II

दूसरा विरोध नित्य और अनित्य के बीच देखा जाता है। सांख्य और वेदान्त वस्तु को सर्वथा नित्य मानते हैं और बौद्धानुयायी वस्तु को सर्वथा अनित्य। नित्यवादियों का कहना है कि वस्तु नित्य है। यदि वह अनित्य होती तो उसके नाश हो जाने के पश्चात् ये दुनियाँ या इसमें स्थिर वस्तुएँ दृष्टिगोचर नहीं होती। लेकिन हमें ये दिखाई देती हैं, क्योंकि वे सत् हैं, नित्य हैं। दूसरी ओर अनित्यवादियों का कहना है कि वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह कभी भी स्थिर नहीं रहती। इस सम्बन्ध में उनका तर्क है कि यदि हम पदार्थों की नित्यता को स्वीकार करते हैं, तो जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि सभी असंभव हो जायेंगे।

भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम्।। युक्त्यानुशासन, ८

क्योंकि नित्य पदार्थों में क्रम से अथवा एक साथ अर्थ-क्रिया (प्रयोजन भूतता) सम्भव नहीं है। एक स्वभाव को छोड़कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त करने वाले पदार्थों में ही कोई क्रिया होती है, लेकिन नित्य पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते और न ही ऐसा सम्भव है। यदि नित्य पदार्थ में स्वभाव का छोड़ना माना जाता है तो नित्य का लक्षण जो नाश और उत्पन्न न होता हो और एक रूप में स्थिर रहे, नहीं बन सकता। यदि यह माना जाए कि एक ही क्षण में अर्थक्रिया सम्पन्न होती है, तो प्रथम क्षण में ही अर्थक्रिया सम्पन्न हो जाने पर दूसरे क्षण में कुछ भी करने के लिए शेष नहीं रह जाता है और तब पदार्थ के निष्क्रिय हो जाने से अनित्यता ही माननी पड़ेगी। यदि हम नित्य पदार्थ में क्रमिक अर्थक्रिया मानते हैं तो भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं होगा, क्योंकि एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कारण मिलते रहने से कारणों की परम्परा माननी पड़ेगी और इस तरह हम अनवस्था दोष के शिकार हो जायेंगे। जैन मान्यतानुसार दीपक से लेकर अकाशपर्यन्त सभी पदार्थों का स्वरूप एक-सा है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव द्रव्यपर्यायात्मक है। मल्लिषेणसूरि ने कहा है-



आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः। स्याद्वादमंजरी, ५

वस्तुतः वस्तु परिणमनशील होते हुए भी अपने मौलिक स्वरूप को नहीं छोड़ती। वह अपनी अनादि अनन्त धारा में प्रतिक्षण सदृश, विसदृश, अल्पसदृश आदि रूपों में परिवर्तित होते हुए भी कभी समाप्त नहीं होता है।

जैन दर्शन में सत् को परिभाषित करते हुए कहा गया है 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। वस्तुतः ध्रुवत्व को स्वीकार किये बिना द्रव्य की मौलिकता सुरक्षित नहीं रह सकती है। अतः प्रत्येक द्रव्य अनादिधारा में प्रतिक्षण परिणमित होते हुए भी कभी समाप्त नहीं होता है। उसका समूल उच्चेद या विनाश नहीं होता है। हम अपने को ही देखे- हम स्वयं बाल, युवा आदि अवस्थाओं में परिवर्तित होते रहे हैं। फिर भी हमारा एक अस्तित्व है जो सभी परिवर्तनों में एकरूपता को बनाये रखता है। यदि हम आत्मा के विषय में ही विचार करें तो आत्मा जब मोक्ष को प्राप्त करती हैं तो आत्मा की समाप्ति नहीं हो जाती है, बल्कि वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाती है। तब उसमें राग-द्वेष आदि रूपी परिणमन नहीं होता है लेकिन द्रव्यगत उत्पाद-व्यय स्वरूप के कारण स्वभाव सदृश परिणमन सदा होता रहता है। उसका यह परिणमन चक्र कभी रूकता नहीं है और न वह आत्मद्रव्य कभी समाप्त होता है। यही स्थिति पुद्गल के विषय में भी समझनी चाहिए।

III

तीसरा विरोध सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद को लेकर है। सर्वथा भेदवादी के पोषकों का कहना है कि कार्य-कारण, गुण-गुणी, सामान्य-विशेष आदि सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् हैं । यदि इन्हें अपृथक् मानते हैं तो उनमें एक-दूसरे में अनुप्रवेश को मानना पड़ेगा। यदि दोनों का एक-दूसरे में अनुप्रवेश मानते हैं तो फिर दूसरे का अस्तित्व नहीं टिक सकता। ठीक इसके विपरीत जो सर्वथा अभेदवाद के सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि कार्य-कारण आदि सर्वथा अपृथक् है, क्योंकि यदि वे पृथक्-पृथक् होते तो ठीक उसी प्रकार होते जिस प्रकार घट और पट की सत्ता सर्वथा पृथक् है। इनमें न तो कार्य-कारण भाव है और न ही गुण-गुणी भाव। लेकिन जिस प्रकार दो पृथक् सिद्ध द्रव्य में अभेद काल्पनिक है उसी तरह एक द्रव्य का अपने गुण और पर्यायों से भेद मानना भी काल्पनिक ही है। गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, जो इनमें रहता हो। आचार्य मल्लिषेण ने कहा है-

न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोक बाधः।।स्याद्वादमंजरी, ७

अर्थात् धर्म और धर्मी के सर्वथा भिन्न मानने पर 'यह धर्मी है,' ये इस धर्मी के धर्म हैं और 'यह धर्म धर्मी में सम्बन्ध कराने वाला समवाय है' का अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि समवाय सम्बन्ध से परस्पर भिन्न धर्म-धर्मी का सम्बन्ध होता है तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि जिस तरह हमें धर्म और धर्मी का ज्ञान होता है, वैसे समवाय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता।

वस्तु न तो सर्वथा भेदात्मक और न ही सर्वथा अभेदात्मक है। स्याद्वाद का मानना है कि गुण और गुणी में, सामान्य और सामान्यवान में, अवयव और अवयवी में कारण और कार्य में सर्वथा भेद मानने से गुण-गुणी भाव नहीं बन सकते हैं। सर्वथा अभेद मानने पर भी यह गुण है और यह गुणी है का व्यवहार नहीं चल सकता। यदि गुण गुणी से सर्वथा भिन्न है तो अमुक गुणी से ही नियत सम्बन्ध कैसे निश्चित किया जा सकता है? यदि अवयवी अवयव से सर्वथा भिन्न है तो वह अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहता है या एक देश से? यदि सर्वात्मना रहता है तो जितने अवयव हैं उतने अवयवी मानने होंगे। यदि एकदेश से रहता है तो जितने अवयव हैं उतने प्रदेश उस अवयवी को स्वीकार करने होंगे। इस प्रकार सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोषयुक्त है। द्रव्य के अभाव में न तो गुण और पर्यायों का अस्तित्व हो सकता है और न गुण पर्यायों के अभाव में द्रव्य का ही स्वतंत्र अस्तित्व हो सकता है।

IV

चौथा विरोध अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त के बीच है। जो अपेक्षैकान्तवादी हैं उनका मानना है कि वस्तु की सिद्धि अपेक्षा से होती है। प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है, अतः प्रमेय प्रमाण सापेक्ष है। यदि प्रमेय को प्रमाण की अपेक्षा न हो तो उसकी सिद्धि ही नहीं होगी। दूसरी ओर अनपेक्षैकान्तवादियों का कहना है कि सभी पदार्थ निरपेक्ष हैं। किसी को भी किसी की अपेक्षा नहीं रहती। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपनी स्थिति से है। यदि वे अपेक्षा रखते हैं तो पराश्रित हो जायेंगे और पराश्रित होने से एक भी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो पायेगी। यदि विशेषरहित केवल सामान्य ही हो तो मात्र सामान्य विषयक प्रतीति के आधार पर व्यवहार करने वाले को विशेष का त्याग कर देना पड़ेगा। फलतः उसे प्रतीति और व्यवहारसिद्ध अंगूठी, कर्णफूल आदि अनेक आकारों को छोड़कर मात्र सोना के अस्तित्व को मानकर यह कहना पड़ेगा कि 'यह सोना है।' इसी प्रकार सामान्यरहित केवल विशेष को मानने वाले को विचार एवं वाणी में से सुवणरूप सामान्य तत्त्व को छोड़कर मात्र अंगूठी, कर्णफूल आदि के आकार को ही विचारप्रदेश में लाना होगा। परन्तु कोई भी विचार मात्र सामान्य का या मात्र विशेष का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त नहीं होता बल्कि दोनों को एक-दूसरे की अपेक्षा होती है।

न हि सामान्यं विशेषनिरपेक्षं का चिदायर्थक्रियां संपादयति, नापि विशेषः सामान्यरिपेक्षः। तत्त्वार्थश्लोवार्तिक, पृ. १३

V

पाँचवाँ विरोध दैव (नियति) और पुरुषार्थ का है। दैववादियों की यह मान्यता है कि सब कुछ भाग्य आधारित होता है। भाग्य में जिस निमित्त से जिसके द्वारा, जिस प्रकार, जो जितना एवं जहाँ अपने शुभाशुभ कर्म का फल मिला होता है, उसी निमित्त से, उसी प्रकार उसी समय उतना ही मिलता है जिना भाग्य में होता है। भाग्य का लिखा कोई नहीं मिटा सकता है। कहा भी गया है कि-

भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम्।
समुद्रमंथनाल्लेभे हरिर्लक्ष्मी और हरो विषम्।

ठीक इसके विपरीत पुरुषार्थवादियों का मानना है कि पुरुषार्थ से ही सबकुछ प्राप्त होता है। जिस प्रकार भाग्यवश प्राप्त भोजन भी भाग्य के भरोसे रहने वाले व्यक्ति के मुँह में नहीं चला जाता, बल्कि उसके लिए उसे अपने हाथों में हलन-चलन की क्रिया करनी पड़ती है। अतः भाग्य भी पुरुषार्थ के अधीन है।

इस प्रकार दर्शन जगत् में द्वैतेकान्त-अद्वैतेकान्त, नित्यैकान्त-अनित्यैकान्त, भेदैकान्त-अभेदैकान्त, दैववाद-पुरुषार्थवाद आदि कई ऐकान्तिक दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जो विभिन्न दार्शनिकों के अपने-अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। ऐसा नहीं है कि ये दृष्टियाँ असंगत हैं, बल्कि ये अपने आप को अपनी-अपनी समर्थक युक्तियों, प्रमाणों द्वारा स्पष्ट करती हैं। लेकिन ये दृष्टियाँ दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और उसे समन्वित करने का प्रयास नहीं करती हैं।

VI

जैन दर्शन में मान्य स्याद्वाद उपर्युक्त सभी दृष्टियों को समझने का प्रयास करता है तथा उसे समन्वित करने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' से मिलकर बना है। स्यात् कथंचित का पर्यायवाची है। इसका अर्थ होता है- 'किसी प्रकार से' या 'किसी अपेक्षा से।' अतः कहा जा सकता है कि वस्तुतत्त्व के निर्णय में जो वाद अपेक्षा की प्राधानता पर आधारित है, वह स्याद्वाद है। लघीयस्त्रय में स्याद्वाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है- 'अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः' (लघीयस्त्रय, ६२) अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थ का कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। साधारण भाषा में कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी एक दृष्टि से वस्तु इस प्रकार कही जा सकती है तथा दूसरी दृष्टि से वस्तु का कथन इस प्रकार किया जा सकता है। यद्यपि वस्तु में ये सब धर्म हैं, किन्तु इस समय हमारा दृष्टिकोण इस धर्म की ओर है, इसलिए वस्तु एतद् रूप प्रतिभासित हो रही है।

लेकिन वस्तु केवल एतद् रूप ही नहीं है, अपितु उसके अन्य रूप भी हैं, इसी सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते हैं।

मानव स्वभाव है कि वह जब भी कथन करता है तो उसके प्रत्येक कथन में स्वधर्म की प्रधानता होती है तथा शेष धर्म गौण। उस गौण-मुख्य विवक्षा की सूचना 'स्यात्' शब्द द्वारा मिलती है। द्रव्य का स्वभाव विचित्र है उसमें परस्पर विरोधी शक्तियाँ अस्तित्व और नास्तित्व, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि का समावेश है और ये सभी अपनी-अपनी अपेक्षाओं से यथास्थान उपयुक्त है। अपेक्षा दृष्टि के बिना हम वस्तु की सत्यता तक नहीं पहुँच सकते। हम अपने लोक-व्यवहार में देखते ही हैं कि परस्पर प्रतीयमान विरोधी युगलों का विचार, कथन, ज्ञान अपेक्षादृष्टि के आधार पर ही किया जाता है। इसी अपेक्षादृष्टि के आधार पर एक ही वस्तु के लिए नित्य और अनित्य दृष्टि का प्रतिपादन किया जाता है। परन्तु नित्य का यह अर्थ नहीं कि वह सर्वथा नित्य (अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्) है और जो वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है वह सर्वथा अनित्य (अनित्योहि प्रतिक्षण विनाशी। अनित्यः क्षणमात्रस्थायी।) भी नहीं हो सकता। अतः वस्तु को नित्य कहने का अभिप्राय है कि वह परिणामी नित्य (तद्भवाव्ययं नित्यम्) है। परिणामी नित्य का अभिप्राय है वस्तु का प्रति समयानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी अपने स्वरूप का त्याग न करना। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु में दो शक्तियाँ हैं- एक शक्ति ऐसी है जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरी वह है जो सदा अशाश्वत है, किन्तु दोनों का अस्तित्व सार्वकालिक है। न तो उसका भिन्न क्षेत्र है और न ही काल। शाश्वतता के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य तथा अशाश्वतता के कारण प्रत्येक वस्तु अनित्य है। पंचाध्यायी में कहा गया है कि-

अययर्थो वस्तु यदा केवलमिह दृश्यते न परिणामः।
नितयं तदव्ययरिह सर्व स्याद-न्वयार्थ नययो गात् ।।
अपि च या परिणामः केवलमिह दृश्यते न किल वस्तु।
अभिनवभावानभिनव भावाभावाद नित्यमंश नियमात्।। पंचाध्यायी, १/३३९-४०

अर्थात् जिस समय निरन्तर रूप से चलते आ रहे पदार्थ पर दृष्टि रखी जाती है और उसके परिणाम पर दृष्टि नहीं रखी जाती, उस समय पदार्थ नित्यरूप प्रतीत होता है तथा जिस समय पदार्थ पर दृष्टि नहीं रखी जाती, केवल उसके परिणाम पर दृष्टि रखी जाती है, उस समय वस्तु में नए भाव और पुराने भाव की प्राप्ति-अप्राप्ति होने से वस्तु अनित्यरूप प्रतीत होती है। अतः पदार्थ चाहे वह चेतन हो या अचेतन परिणामी नित्य है।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु विधि और निषेधात्मक है। स्वद्रव्यचतुष्टय रूप से विधि और पर द्रव्यादि चतुष्टय रूप से निषेध है। कोई भी वस्तु सर्वथा विधि और सर्वथा निषेधगम्य नहीं है। जैसे गुलाब का फूल लाल और सफेद दोनों रंग का होता है, न केवल लाल होता है और न केवल सफेद होता है और न ही किसी रंग से हीन होता है। जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो अपने स्वरूप से अपने गुण, धर्म स्वभाव से तो न हो किन्तु पर के गुण, धर्म, स्वभाव से हो। यदि ऐसा हो जाए तो उस स्थिति में सभी वस्तुओं में एकरूपता हो जाएगी और विभिन्नता नाम की कोई चीज नहीं रह जाएगी। इसलिए जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से 'है' और पर-रूप से 'नहीं है।'

वस्तु के एक-अनेक विषयक संघर्ष का समाधान करते हुए स्याद्वाद का कहना है वस्तु सर्व पदार्थ समूह की दृष्टि से सत् रूप में तो एक है, किन्तु द्रव्यों के पृथक्-पृथक् नामकरण के भेद से अनेक रूप है। वस्तु को सर्वथा एक मानना सम्भव नहीं है। हाँ! दो द्रव्य को व्यवहार के लिए थोड़ी देर के लिए एक कह सकते हैं लेकिन दो पृथक् स्वतंत्र सिद्ध द्रव्य एक सत्ता वाले नहीं कहे जा सकते। यथा- पुद्गल द्रव्य में अनेक परमाणु जब स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनमें ऐसा मिश्रण होता है कि वे कुछ काल तक एक सत्तात्मक प्रतीत होते हैं, जबकि वास्तविकता में वे अनेक होते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें द्रव्यदृष्टि से एक तथा गुण और पर्याय की दृष्टि से अनेक मानना पड़ेगा। मनुष्य का ही उदाहरण लें तो मनुष्य की अवस्था बाल, युवा, वृद्ध आदि की दृष्टि से अनेकता की सूचक है।

इसी प्रकार वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु का अपना असाधारण स्वरूप है। उसका निजी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होता है, जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। यह द्रव्य आदिभावपर्यन्त चतुष्टयस्वरूप होता है और प्रत्येक द्रव्य अपने चतुष्टयस्वरूप से सत् होता है तथा पर रूप से असत्। यदि द्रव्य को स्वरूपचतुष्टय की भाँति पर-रूपचतुष्टय से सत् माना जाता है तो फिर स्व और पर में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार द्रव्य को पर-रूप की तरह स्वरूप से असत् माना जाता है तो स्वरूपहीनता से अभावात्मकता को स्वीकार करना होगा। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वरूप से सत् तथा पर-रूप से असत् है।

इस प्रकार जैन दर्शन अपनी स्याद्वाद कथन प्रणाली द्वारा ऐकांतिक धारणाओं को समन्वित करने का प्रयास किया है। उसका स्पष्ट कथन है कि भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि जो भी दृष्टिभेद अथवा वैचारिक संघर्ष हैं वे सर्वथा दोषयुक्त हैं, किन्तु स्यात्, कथंचित, अपेक्षा विशेष से मानने पर वे पुष्ट होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैन दर्शन ने ऐकान्तिक धारणाओं का तिरस्कार नहीं किया है, बल्कि उनका स्थान नियत करने के लिए सर्वथा नियम के त्याग हेतु अन्य दृष्टि की अपेक्षा रखने वाले स्यात् शब्द के प्रयोग अथवा स्यात् की मान्यता को स्थान दिया है। क्योंकि स्याद्वाद, नानाधर्मात्लिक वस्तु किस प्रकार से, किस हालत में उपयोगी हो सकता है, को निर्देशित करता है।

***

संत कबीर का ब्रह्मवाद

हिमांशु शेखर सिंह

उपनिषद् में उद्धत प्रश्न कि 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।'[१] अर्थात् ब्रह्म कैसा कारण? जगत् का कारणभूत ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते है? कहाँ स्थित हैं? और ब्रह्मविद्गण! हम किसके द्वारा सुख-दुःख में प्रेरित होकर व्यवस्था का अनुवर्तन करते हैं? ये कुछ ऐसे जटिल प्रश्नों की लड़ी है जिसकी गुत्थी सुलझने के बजाय उलझती चली गई है। संत कबीर ने अपने दर्शन में उपर्युक्त उपनिषदीय प्रश्नों पर काफी गहनतापूर्वक विचार प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम संत कबीर की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा का अध्ययन करेंगे साथ ही हम यह भी देखने का प्रयास करेंगे कि स्वामी विवेकानन्द आदि नव्य-वेदान्ती विचारकों ने उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान हेतु जिस तर्क एवं शैली का प्रयोग किया है वह तर्क एवं शैली वास्तव में संत कबीर के दर्शन में आसानी से देखी जा सकती है जहाँ उन्होंने आचार्य शंकर के अद्वैतवादी विचारों से सहमति रखते हुए भी एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है जो आगे चलकर नव्य-वेदान्त के लिए विस्तृत भावभूमि तैयार करता है । संत कबीर ने अपने ब्रह्म-सिद्धान्त में पूर्णतः अद्वैतवादी विचारों को अपनाया है -

'भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कोने बौराया।।
अल्लाह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया।।
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा।।
कहन सुनन को दुई करि थापे, एक निमाज एक पूजा।।
वोही महादेव वोही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए।।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।।'[२]

अर्थात् कबीर साहब कहते हैं कि हे भाई! ये दो ईश्वर कहाँ से आ गये? कौन आप लोगों को पागल बना दिया है? अल्लाह और राम, करीम और केशव, हरि और हजरत नाम देकर विभिन्न प्रकार के ईश्वरों की भीड़ किसने जुटा ली है? वस्तुतः ईश्वर तो एक और अद्वैत है, जिस प्रकार एक सोना से अनेक आभूषण बनते हैं, परन्तु स्वरूपतः वे सभी सोना के ही विभिन्न रूप होते हैं। इसी प्रकार मात्र कहने और सुनने के लिए हमलोगों ने दो मान्यतायें खड़ी ली हैं, एक नमाज की और एक पूजा की; परन्तु इसमें मूलतः दो भाव नहीं हैं दोनों का सार मन को कोमल और पवित्र बनाना है। हमारे लिए जैसे महादेव और ब्रह्मा श्रद्धेय हैं उसी प्रकार अल्लाह, मुहम्मद तथा आदम श्रद्धेय ये सभी उस एक परमपिता के विभिन्न नाम हैं। सभी ईश्वर द्वारा रचित एक ही जमीन पर जन्म लेते है, पलते हैं, बढ़ते हैं फिर किसको हिन्दू और किसको मुसलमान कहा जाए।

संत कबीर के उपर्युक्त विचार में स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद की झलक देखी जाती है। अपने इन विचारों की स्थापना के लिए वे आचार्य शंकर के तरह सत् और असत् का आत्यान्तिक अर्थ में भी प्रयोग करते हैं-

'कहै कबीर सुमराऊँ सोई, जे काल फाँस ते वाचा होई।'

अर्थात् हमें उसी का सुमिरन करना चाहिए जो तीनों काल से परे हो। उपर्युक्त पंक्ति में स्पष्ट रूप से सत् और असत् का आत्यन्तिक रूप में प्रयोग करते हैं। उनका ब्रह्म जिनका वे ध्यान करते हैं वे तीनों कालों में अबाधित है। ब्रह्म देश, काल एवं अवस्था से परे है। ब्रह्म ही विषयी और विषय, प्रमाता और प्रमेय दोनों में प्रकाशित हो रहा है। यह दोनों में अन्तर्यामी है और दोनों के परगामी भी है –

'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रहयौ समाई'[३]

सत् वस्तुतः अनिर्वचनीय है – 'बोलत ही सब तत् नशाई'। पूर्ण अद्वैत किसी भी प्रकार का भेद या अन्तर को स्वीकार नहीं करता है। यहाँ तक कि स्वगत भेद भी नहीं। संत कबीर के उपरोक्त विचारों को देखने से लगता है कि वे पूर्णतः अद्वैतवाद के समर्थक हैं। लेकिन ऐसी बात नहीं हैं। वे सत् का ईश्वरवादी विवरण भी प्रस्तुत करते हैं तथा कई स्थलों पर ईश्वरीय गुणों का विवेचन भी प्रस्तुत करते हैं –

'जन की पीर हो राजा राम भले जाने, कहूँ काहि को माने।
नैन का दुःख बैंन जानैं, बैन का दुख श्रवना।
प्यंड का दुःख प्राण जानै, प्राण का दुख मरना।।
आस का दुःख प्यासा जानै, प्यास का दुःख नीर।
भगति का दुःख राम जानै, कहै दास कबीर।।'[४]

यहाँ ईश्वरीय गुण जैसे – दया, करुणा, त्राता, भक्तवत्सल आदि गुणों कि व्याख्या देखकर यह मानना उचित ही होगा कि वे निर्गुण ब्रह्म की भावनाशून्यता से पूर्ण परिचित हैं। तभी तो उनका ईश्वर भक्तवत्सल है। वे भक्तों को दुःखों से त्राण दिलाने में तत्पर भी रहते हैं। उपर्युक्त पंक्ति में कबीर ने बड़ा ही मार्मिक ढंग से इस तथ्य का वर्णन किया है।

प्रथमतः तो अद्वैत विचारकों के समान वे सत् के एकत्व स्वरूप पर इतना जोर दिये हैं कि वे यह भी मानते हैं कि सत् 'एक' अवश्य है, किन्तु उसे सम्पूर्णता कहना उपयुक्त नहीं है। सम्पूर्णता अवयवों का संगठित रूप है। इस प्रकार यदि 'सत्' को सम्पूर्ण मान लिया जाए तो 'सत्' भी अवयवी बन जाता है। उसके भी अंश हो जाते हैं। उनके अनुसार 'सत्' असीम और अविभाज्य है। निरपेक्ष सत् का विभाजन नहीं हो सकता। निरपेक्ष सत् की अवधारणा अमूर्त विचार की प्रक्रिया की अंतिम सीमा है। यही कारण है कि निरपेक्ष सत् को वे एक या दो की संख्या में नहीं बाँध कर अद्वैतस्वरूप मानते हैं –

'एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारी।
साईं जस तैसा रहै, कहै कबीर विचारी।।'[५]

स्पष्ट है कि महात्मा कबीर अपने विचारों में ब्रह्म को एक या दो की संख्या में नहीं बाँधकर अद्वैतस्वरूप मानते हैं। इनका ब्रह्म स्थान, काल, कारणता आदि की सीमाओं से भी परे है। अगर इस अर्थ में देखा जाए तो इनका ब्रह्म अपरिवर्तनशील है –

'अरचित अविगत है निरधारा, जाण्या जाई वार न पारा।'

यहाँ 'अपरिवर्तनशील' से तात्पर्य यह नहीं है कि वह सभी कालों में एक जैसा रहता है। वस्तुतः सत् के सम्बन्ध में कालिक प्रश्न उठाना ही अपने आप में निराधार एवं अर्थहीन माना जाएगा। वास्तव में अगर देखा जाए तो सूक्ष्म वैचारिक विवेचना की आवश्यकता हमारे सीमित विचारों के ढंग के कारण उत्पन्न होती है। हमें एक ही 'सत्' की अनुभूति होती है परन्तु भाषीय अभिव्यक्ति के ढंग के कारण विभिन्नताओं की भ्रान्ति उत्पन्न होती है –

'सत्त नाम है सबसे न्यारा, निर्गुण-सर्गुण शब्द पसारा।
निर्गुण बीज सर्गुण फल फूला, साखा ज्ञान नाम है मूला।।
साईं मिलानी दुःख भुलानी। निर्गुण सर्गुण भेद मिटानी।।'[६]

अर्थात् कबीर साहब के अनुसार सत् नाम ही सबसे न्यारा है। सत् अर्थात् ब्रह्म अनेक दिव्यगुणों का भण्डार होने के कारण सगुण और निर्गुण दोनों है। परन्तु ब्रह्म वास्तव में सगुण और निर्गुण दोनों से परे है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से निर्गुण ब्रह्म सत्य है तो व्यवहारिक दृष्टिकोण से सगुण ब्रह्म भी सत्य है। निर्गुण ब्रह्मज्ञान के लिए 'ज्ञानमार्ग' श्रेष्ठ माना गया है तो सगुण ब्रह्मज्ञान के लिए 'भक्तिमार्ग' श्रेष्ठ माना गया है। परन्तु मार्ग के अन्तर से लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों का लक्ष्य एक ही है- 'ब्रह्मज्ञान' पाना। अत: निर्गुण और सगुण में मूलत: कोई भेद नहीं है। सगुण ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। अत: इस दृष्टिकोण से अगर देखा जाए तो निर्गुण ब्रह्म मूल है और सगुण ब्रह्म उसके ही रूप या शाखा है। अत: कबीर का मानना है कि मूल की सेवा श्रेष्यकर है। जैसे वृक्ष की सेवा के लिए उसके जड़ की सेवा करना, उसमें पानी डालना श्रेष्यकर है वनिस्पत डाल और पत्ते की सेवा करने से। जैसे वृक्ष के जड़ की सेवा से पूरे वृक्ष की सेवा हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के लिए हमें मूल निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिए। जिस प्रकार वृक्ष के मूल या जड़ का ज्ञान होने पर समस्त वृक्ष का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म उपासना से ही पूरे मूल परमात्म का ज्ञान प्राप्त होता है और निर्गुण एवं सगुण दोनों का भेद समाप्त हो जाता है। वास्तव में अगर देखा जाए तो नव्य-वेदान्त का बीज हमें यहीं से मिल जाता है। जिस प्रकार वृक्ष का जड़ अगर सत्य है तो उस जड़ से उत्पन्न डाल-पात भी सत्य ही होगा उसी प्रकार अगर ब्रह्म सत्य है तो उनका स्वरूप चाहे निर्गुण हो अथवा सगुण हो, सत्य ही होगा। परन्तु जैसे जड़, डाल और पत्ते में अन्तर है वही अन्तर ब्रह्म और उनकी सृष्टि में है।

जैसा कि पहले विवेचन किया गया है कि नव्य-वेदान्त में जितनी भी बातें कही गई हैं, संत कबीर के दर्शन में वे सारी बातें हमें देखने को मिलती हैं। यहाँ पर हम अपने अध्ययन में यह भी स्पष्ट करना चाहेंगे कि नव्य-वेदान्त न तो वेदान्त का पुनर्जागरणवाद है और न ही वेदान्तिक अन्दोलन या आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्तिक विचार की वापसी मात्र है। वास्तव में नव्य-वेदान्त पारम्परिक विचार और आधुनिकता दोनों की संश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति है। वेदान्त इस वैदिक कथन को मानता है कि 'सत् एक है और लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं - 'एकं सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति'। जहाँ तक नव्य-वेदान्त का प्रश्न है तो वह भी इस तथ्य से पूरी तरह सहमत है कि वास्तव में सत् एक ही है और उसके बहुत सारे मार्ग हैं। जैसा कि सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि प्रत्येक सिद्धान्त जो प्रकृति की अन्तरतम वस्तुनिष्ठता को अभिव्यक्त करता है वह वेदान्त के लिए अच्छा है। परन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो उस अनन्त को पूर्णत: उद्‌धाटित कर सके।[7] यही कारण है कि दोनों, वेदान्ती और नव्य-वेदान्ती उस सत् की दार्शनिक व्याख्या के लिए, उस सत् के पीछे छिपे हुए रहस्यों को उद्‌धाटित करने के लिए अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इस तरह नव्य-वेदान्त अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपना अलग सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। एक तरफ जहाँ प्रो. आर. डी. राणाडे रहस्यात्मक सिद्धान्त को अपनाते हुए दिखते हैं तो वहीं दूसरी ओर प्रो. ए.के. मुखर्जी विश्लेषणात्मक पद्धत्ति को अपनाते हैं। पर दोनों वेदान्ती इस तथ्य पर सहमत है कि सत् एक है और वह आत्मा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नव्य-वेदान्त अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में द्वंद्वात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों ही पद्धत्तियों का खुलकर प्रयोग करता है। अद्वैत वेदान्त के विचारों को 'अविवाद' का सिद्धान्त माना जाता है अर्थात् जिस सिद्धान्त का कोई अन्य सिद्धान्त से विरोध न हो उसे 'अविवाद' का सिद्धान्त कहा जाता है। इसका कारण है कि जितने भी द्वैतवादी विचारक हैं उनके सिद्धान्तों में मतभेद है, परन्तु अद्वैत सिद्धान्त किसी भी सिद्धान्त का विरोध नहीं करता। वास्तव में जहाँ द्वैत दृष्टि होगी, वहाँ विरोध होगा और जहाँ अद्वैत दृष्टि होगी वहाँ सब विवादों का अंत होगा, वहाँ सभी आत्मस्वरूप ही दिखाई देंगे तो फिर विरोध किससे किसका होगा। यही कारण है कि अद्वैत दर्शन को 'अविवाद' का दर्शन कहा जाता है और इस 'अविवाद' दर्शन को वेदान्त और नव्य-वेदान्त दोनों ही अपने दर्शन में अपनाते हैं। यह दर्शन 'ज्ञानमार्ग' के सिद्धान्त को अपनाता है अर्थात् इसे 'ज्ञानमार्ग' का दर्शन कहा जाता है। नव्य वेदान्त अपने 'ज्ञानमार्ग' सिद्धान्त की अनेक प्रकार से व्याख्या करता है। जिसमें द्वंद्वात्मक पद्धत्ति और विश्लेषणात्मक पद्धत्ति मुख्य हैं। यह सिद्धान्त वास्तव में दुधारी तलवार की तरह है जिसकी एक धार दूसरे विचारों का खंडन या अस्वीकरण है और दूसरी धार सत्य की खोज करना है। इसकी पहली धार यह कथन प्रस्तुत करती है कि सत्य को अध्यारोप और इसके अपवाद के द्वारा जाना जा सकता

है और दूसरी धार उपनिषद् के इस कथन को प्रस्तुत करती है कि सत्य कहीं और नहीं, बल्कि अपने अन्दर ही प्रकाशित हो रहा है।

उपरोक्त व्याख्या के विश्लेषण के पश्चात् इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सत्य को उद्‌धाटित करने में नव्य-वेदान्त की तर्क रूपी तलवार की पहली धार उपनिषद् के 'नेति-नेति' सिद्धान्त, जिसे की वह द्वन्द्वात्मक तर्क के रूप में प्रयोग करता है और दूसरी धार उपनिषद् के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' सिद्धान्त, जिसे कि वह विश्लेषणात्मक तर्क के रूप में प्रयोग करता है। परन्तु वास्तव में अगर देखा जाए तो दोनों ही सिद्धान्त आत्म-अभिव्यक्ति के ही सिद्धान्त हैं।

वेदान्त, नव्य-वेदान्त के सैद्धान्तिक विवेचन को देखने के पश्चात् निःसन्देह कहा जा सकता है कि संत कबीर ने अपने पदों और दोहे- दोनों में सत्य को उद्‌धाटित करने के लिए वेदान्त के 'नेति-नेति' अर्थात् द्वन्द्वात्मक तर्क और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' अर्थात् विश्लेषणात्मक तर्क दोनों का ही प्रयोग किया है। सर्वप्रथम वे निरपेक्ष सत् को जानने के लिए 'नेति-नेति' अर्थात् द्वन्द्वात्मक तर्क का प्रयोग करते हुए इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। निरपेक्ष सत् में गुणों का आरोपण उचित नहीं है; क्योंकि यह एक प्रकार से आत्मव्याधातक है। इसी कारण इनमें 'स्वगत-भेद' के लिए भी कोई स्थान नहीं है। निरपेक्ष सत् में गुणों के आरोपण का अर्थ है कि 'निरपेक्ष सत्' को सीमित कर देना। यही कारण है कि संत कबीर निरपेक्ष सत् को वेदातीत एवं भेदातीत मानते हुए कहते हैं -

'वेद बिबर्जित भेद बिबर्जित, बिबर्जित पाप अरु पुन्यं।
ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुन्यं।।
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित डयंभक रूपं।
कहै कबीर तिहूँ लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त्व अनुपं।[८]

अर्थात् ब्रह्म को किसी एक गुण के सहारे नहीं जाना जा सकता है। वह समस्त वेदों और भेदों से परे है, वह समस्त पाप और पुण्य से परे है, वह समस्त ज्ञान और ध्यान से भी परे हैं, वह समस्त स्थूल और शून्य से परे हैं, वह समस्त लोकाचारों से परे है, न उसका कोई रूप है और न कोई गुण है जिसके सहारे उसे जाना जा सके। वह किसी भी बाह्याचारों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। परमतत्त्व आनोखा और अनूप है।

उपर्युक्त पंक्ति में हम देख सकते है कि संत कबीर अपने ब्रह्म व्याख्या में किस प्रकार से दोधारी तलवार में से एक धार द्वन्द्वात्मक शैली का बखूबी प्रयोग करते हैं। सबसे पहले तो वे ब्रह्म व्याख्या में नाकारात्मक शैली अर्थात् **'नेति-नेति'** का प्रयोग करते हुए उसे किसी भी गुण के अन्तर्गत नहीं रखते हुए आगे कहते हैं -

ना इहु मानुष ना इहु देव, ना इहु जती कहावै सेव।
ना इहु जोगी ना अवधूता, ना इहु माई ना काहू पूता।।
या मंदर मह कौन बसाई, ता का अंत न कोऊ पाई।
ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राज ना भीख मँगासी।।
ना इहु पिड न रकतू राती, ना इहु ब्रह्मण ना इहु खाती।
ना इहु तया कहावै सेख, ना इहु जीवै न मरता देख।।[९]

अर्थात् उस परमात्मा को किसी भी विशेष नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता है। उसे न मनुष्य कहा जा सकता है ना देवता ही कहा जा सकता है। वह परमतत्त्व न तो योगी है और न ही अवधूत है। वह न तो किसी की माता है और वह न ही किसी का पुत्र है। इस ब्रह्माण्ड के अन्दर जो व्याप्त है उसका न तो कोई आदि है और न ही कोई अंत है। वह परमतत्त्व न तो गृही है और न ही वैरागी है। न तो वह भिखारी और न ही वह राजा है। न ही वह इस शरीर में व्याप्त रक्त एवं मांस ही है। न यह ब्राह्मण है और न ही शूद्र है अर्थात् परमतत्त्व की कोई जाति नहीं है। न ही वह हिन्दू है और न ही यह मुसलमान है। न ही उसका जन्म होता है और न ही उसकी मृत्यु होती है। अर्थात् उस परमतत्त्व को किसी भी एक रूप

या गुण में बाँधकर नहीं जाना जा सकता है। वह चतुष्कोटि विमुक्त है। उसका वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता है। परमतत्त्व का वर्णन नकारात्मक शैली से ही किया जा सकता है। क्योंकि परम सत् अरूप है। परन्तु मानव अपने मनोवैज्ञानिक स्वभाव से विवश होकर उस परम सत् के विषय में सोचना आरम्भ करता है। अपनी अनुभूति को भाषा के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है और इसी अभिव्यक्ति में वह विश्लेषणात्मक पद्धत्ति का प्रयोग करता है। इसी विश्लेषणात्मक पद्धत्ति के कारण परम सत् खण्डित रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। जैसा उस परम तत्त्व का स्वरूप होता है हम उसे पूर्ण रूप से नहीं जानकर अपने साधना की क्षमता अनुसार जानते हैं और उसकी अभिव्यक्ति करते हैं –

'जस तूं तस कोई न जान, लोग कहै सब आनहिं आन।।'[१०]

जैसा पहले कहा गया है कि परम सत् की व्याख्या के लिए वेदान्त दर्शन में दो सिद्धान्तों को अपनाया गया है – द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त और विश्लेषणात्मक सिद्धान्त। प्रथमतः तो संत कबीर परम सत् की व्याख्या के लिए द्वन्द्वात्मक पद्धत्ति का प्रयोग करते हैं तथा नकारात्मक शैली का प्रयोग करते हुए इसे वेदातीत और भेदातीत बताते हैं। परन्तु ऐसे ब्रह्म के साथ कौन सम्बन्ध जोड़ना चाहेगा यह एक जटिल प्रश्न है; क्योंकि भक्ति का अवलम्बन चाहिए। बिना अवलम्बन के भावनायुक्त भक्ति नहीं हो सकती। मानव मन चंचल और कमजोर होता है। उसे किसी ऐसे त्राता की जरूरत होती है जो दुःख के समय में उनका सहारा बने। उन्हें अपना सम्बल प्रदान करे। जो उनके कष्टों को दूर कर सके। कठिन से कठिन परिस्थिति से उन्हें बाहर निकाल सके। संत कबीर मानव मन की इस कमजोरी को भलीभाँति जानते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने परम सत् के विचारों में सगुणता का पुट कर देते हैं। वे कहते हैं कि हालाँकि परम सत् के विषय में जितना कुछ भी कहा जाए वह तुच्छ ही होगा, परन्तु मानव मन की शान्ति के लिए उनकी भाषायी अभिव्यक्ति अनिवार्य है –

'बोलन सुख कै कारनै, कहिए सिरजनहार'

अर्थात् हम अपनी मन की शान्ति के लिए उसे जगत्–स्रष्टा के रूप में स्वीकार करते हैं। यहीं से संत कबीर परम ब्रह्म की व्याख्या के विश्लेषणात्मक पद्धत्ति को अपनाना प्रारम्भ करते हैं। वास्तव में सगुण ब्रह्म की अवधारणा निर्गुण ब्रह्म को समझने की एक वैचारिक दृष्टि है। इसी वैचारिक दृष्टि के कारण उसे जगत् स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता आदि के रूप में देखा जाता है। ऐसे जगत्–स्रष्टा को परम शुभ तथा प्रेम रूप माना जाता है तथा प्रेमपूर्ण स्रष्टा होने के कारण वह हमेशा जगत् पर अपने प्रेम की छाया बनाये रखता है–

**'आपुहिं कर्ता भये कुलाला। बहु बिधि बासन बढ़ै कुम्हारा।
विधि ने सवै कीन्ह एक ठाऊँ। अनेक जतन के बने कनाऊँ।।
जठर अगिन मों दीन्ह पजारी। तामहुँ आपु भये प्रतिपाली।
बहुत जतन कै बाहर आया। तब शिव शक्ति नाम धराया।।
घर का सुत जो होय अयाना। ताके संग न जाहु सयाना।
साँची बात कही मैं अपनी। भया दिवाना और की पुन्ही।।
गुप्त प्रगट है एकै दूधा। काको कहिये ब्राह्मण शूद्रा।
झूठे गर्भ भूलो मत कोई। हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।।
जिन्ह यह चित्र बनाइया, साँचा सो सूत्रधारी।
कहहिं कबीर ते जन भले, जो चित्रवन्तहि लेहि निहार।।'**[११]

यहाँ स्पष्ट है कि संत कबीर का ब्रह्म आचार्य शंकर के ब्रह्म के भाँति निष्क्रिय नहीं है। इनके दर्शन में ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता भी है। जैसे कुम्भकार विविध प्रकार से विभिन्न बर्तनों का निर्माण करता है उसी प्रकार परमात्मा भी विभिन्न प्रकार की सामग्रियों से नाना रूपात्मक जगत् की रचना करता है। माता के पेट में अग्नि प्रज्वलित कर शिशु को उसमें पालता पोसता है और विभिन्न प्रकार के जीवों को उसके कर्मों के अनुसार उसमें प्राण प्रतिष्ठित करता है। बहुत ही प्रयत्न

के बाद प्राणी माता के पेट से बाहर आता है तब उसके माता-पिता और घर के अन्य सदस्य उसके लिंग के अनुसार उनका नाम शिव-शक्ति के रूप में रखते हैं। अर्थात् अगर बच्चा नर हो तो उसका नाम शिव तथा अगर बच्चा स्त्री हो तो उसका नाम शक्ति के रूप में रखा जाता है। यहाँ उपरोक्त रमैनी द्वारा कबीर एक बड़ी ही मार्मिक चेतावनी देते हैं कि अगर घर का बच्चा अज्ञानी हो जाए या कपूत हो जाए और असामाजिक कामों को अंजाम देने लगे तो उसके साथ उसके गलत कर्मों में उसके पिता को नहीं जाना चाहिए। यहाँ उपरोक्त पंक्ति से एक और अर्थ निकलता है कि हमारा मन हमारे शरीर के अन्दर ही निवास करता है। मन बड़ा ही चंचल होता है और हर वक्त कुछ न कुछ सोचता रहता है। अगर हम उसे अपने बुद्धि द्वारा नियंत्रित कर चलते हैं तो वही मन हमें अपने-आप से मिला देता है। अर्थात् आत्मदर्शन कराता है परन्तु अगर मन पर से बुद्धि का नियंत्रण हट जाए और वह इन्द्रियों के अनुसार चलकर विषय भोग में लिप्त हो जाए तो अनेकों दुःखों का कारण बन जाता है। अतः संत कबीर कहते हैं कि ऐसे निरंकुश मन का साथ छोड़ देने में ही भलाई है। यदि मन गलत चीजों की तरफ भागता है तो बुद्धिमान जीव को उसके साथ नहीं जाना चाहिए। यह बात सत्य है और कबीर साहब कहते हैं कि मैंने अपनी सच्ची बात कह दी; अब लोगों को दूसरे तथाकथित साधुओं की भ्रामक बातों में नहीं आना चाहिए। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के जीवों के दूध को दूहकर पात्र में रखा जाए तो वह एक ही दूध होता है उसी प्रकार माता के गर्भ से जन्म लेने वाला इंसान तत्त्वतः एक ही होता है फिर किस आधार पर उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहा जाता है। ये जाति-पाँति की बातें झूठी हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कुल असत्य है। जिसने यह संसार रूपी चित्र बनाया है वही सच्चा सूत्रधार है और बुद्धिमान एवं समझदार लोग वही हैं जो इन चित्रों के रचियता को पहचान लें, उसे समझ लें।

उपरोक्त रमैनी में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि संत कबीर का निर्गुण ब्रह्म वेदातीत और भेदातीत होते हुए भी जगत् का स्रष्टा, शासक और जगत् का कारक भी है। संत कबीर ने परमतत्त्व को 'सत्-चित्-आनन्द' के रूप में भी समझाने का प्रयास किया है। उनकी 'सत्' एवं 'चित्' की अवधारणायें तो प्रायः अद्वैत वेदान्त की तरह ही है, परन्तु 'आनन्द' की अवधारणा को उन्होंने बड़ा ही विस्तृत रूप दिया है - **'ते तो आहि अनंद सरूपा। गुण पल्लव विस्तार अनूपा।'**[१२] अर्थात् परमतत्त्व आनन्दस्वरूप है और यह संसार सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण रूपी वृक्ष है। यहाँ हम सहज ही देख सकते हैं कि जिस 'आनन्द' की अभिव्यक्ति हमें नव्य-वेदान्त में स्वामी विवेकानन्द के दर्शन में देखने को मिलती है वही अभिव्यक्ति हम संत कबीर के विचारों में है। संत कबीर 'आनन्द' के मूल में 'प्रेम' को रखते हैं तथा बार-बार इस तथ्य को उभारने का प्रयास करते हैं कि 'प्रेम' में ही आनन्द है -

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर का प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय।।
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
ज्यूँ लुहार की धोंकनी, सांस लेत बिन प्राण।।
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार।
उदर भरन के कारन, जनम गँवाये सार।।
भाव बिना नहिं भक्ति जग, भक्ति बिना नहीं भाव।
भक्ति भाव इक रूप है, दोऊ एक सुभाव।।'[१३]

अर्थात् लाख पुस्तकों का हम अध्ययन कर लें, लेकिन हम ज्ञानी नहीं हो सकते। परन्तु अगर हमारे अन्दर सर्वजीव के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न हो जाए, अगर हम संसार के सभी प्राणी में ईश्वर का दर्शन कर उसके प्रति सेवा, दया, परोपकार आदि की भावना से ओत-प्रोत हो उन्हें ईश्वर स्वरूप मान उनकी सेवा करें तो ही हमारे अन्दर सच्ची भक्ति उत्पन्न हो सकती है। जिस मनुष्य के अन्दर प्रेम की भावना नहीं है उसका हृदय श्मशान की भाँति सूना है, जैसे लोहार की धौकनी बिना प्राण होते हुए भी साँस लेती है। प्रेम और भक्ति दोनों एक ही है। प्रेम के बिना भक्ति नहीं होता और भक्ति के बिना प्रेम नहीं। इस प्रकार अगर हम देखें तो प्रेम ही भक्ति है और भक्ति ही प्रेम है। प्रेम तो ईश्वर का स्वरूप है। अगर

हमारे अन्दर प्रेम नहीं तो हम ईश्वर के स्वरूप को भी नहीं जान सकते।

इस प्रकार हम देखें तो ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप में 'आनन्द' रूप ही प्रेम का स्वरूप है और 'आनन्द रूप' में प्रेम का निरूपण ही संत कबीर के निर्गुण ब्रह्म को सगुण रूप प्रदान कर देता है। इसलिए संत कबीर के दर्शन में ईश्वर को स्रष्टा के रूप में प्रस्तुत करने का स्थान बन जाता है –

'बोलन सुख कै कारने, कहिए सिरजनहार'

उपर्युक्त विवेचन से यह सहज ही देखा जा सकता है कि उनका परम सत् निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय है, परन्तु वैचारिक दृष्टि से वह जगत् का स्रष्टा, शासक, जगत् का कारक आदि रूपों में भी देखा जाता है। **'भये राम परसादा'** उनके प्रेमपूर्ण स्रष्टा होने की ओर स्पष्ट संकेत करता है। इसी कारण संत कबीर के दर्शन में सत् के अनिवर्चनीय, निर्गुण रूप के साथ सहज ही उसी में निहित एक ईश्वर या सगुण ब्रह्म का भी स्थान बन जाता है। शुद्ध अनिर्वचनीय ब्रह्म की अवधारणा भले ही पारमार्थिक दृष्टि से उपयुक्त हो परन्तु धार्मिक प्रवृत्तियों को वह शान्त नहीं कर पाती। यही कारण है कि आचार्य शंकर भी अपने अद्वैतवादी विचार में ईश्वर के लिए स्थान बनाते हैं तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से इनकी उपयोगिता पर बल देते हैं। परन्तु पारमार्थिक दृष्टिकोण से इसे मिथ्या ही मानते हैं। यहाँ संत कबीर आचार्य शंकर के दर्शन में थोड़ा सुधार करते हुए कहते हैं कि एक ही परम सत् तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म है और धार्मिक दृष्टि से ईश्वर है। इस प्रकार एक ही परम सत् निर्गुण, निराकार, अनिर्वचनीय होते हुए भी हमारी भावना, आराधना एवं भक्ति का विषय बन जाता है –

'जीव शीव सब प्रकटें, वै ठाकुर सब दास।
कबीर और जाने नहीं, एक राम नाम की आस।।'[१४]

इस प्रकार उनका ईश्वर सर्वव्यापी है, ईश्वर ही सब कुछ है तथा संसार के कण-कण में व्याप्त है-

'हममें तुममें खड्ग खम्भ में, घट घट व्यापै राम'।।

सन्दर्भः

१. *श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/१*

२. *बीजक, शब्द, ३०*

३. *कबीर ग्रंथावली, पृ. ८१*

४. *वही, परचा को अंग, ११, पृ. १५७*

५. *बीजक, साखी, १२०*

६. *आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, कबीर वाणी, ८० पृ. २८३*

७. *बीजक (कबीर चौड़ा पाठ) पद, २२०*

८. *कबीर ग्रंथावली, पद १६९, पृ. १०९*

९. *डॉ. या. मसीह, धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का स्वरूप, आधार और लक्ष्य, पृ. ११*

१०. *बीजक, रमैनी, २६*

११. *कबीर ग्रंथावली, सतपदी रमैनी, पृ. १७१*

१२. *अभिलाष दास, कबीर अमृत वाणी, पृ. ७२*

१३. *बीजक, रमैनी, ३*

१४. *बीजक, रमैनी, १४*

जैन दर्शन में निर्वाण का स्वरूप

विश्वनाथ चौधरी

संसार में चौरासी लाख योनियां हैं, जिनमें मानव श्रेष्ठ है, क्योंकि मानव योनि में ही संयम, तप एवं मोक्ष धारण करने की अपार क्षमता है। इसलिए मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। भारतीय महामनस्वियों एवं दार्शनिकों ने संयम-साधना-आराधना का चरम बिन्दु 'निर्वाण' को माना है। यही कारण है कि प्रायः सभी दर्शनों में दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से निर्वाण के स्वरूप पर गहन विचार किया है, पर जैन दर्शन में इस विषय पर, जितना तर्कसंगत, गंभीर चिन्तन-मनन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है उतना अन्य दर्शनों में नहीं देखने को मिलता है।

जैन दर्शन में निर्वाण, मोक्ष, मुक्ति, निवृत्ति, कैवल्य आदि शब्द सम्प्रदाय भेद से न्यूनाधिक अर्थान्तरवाची होने के बावजूद भी पर्यायवाची माने गए हैं, जिसका मूल अर्थ शांति या दुःख-निवृत्ति है। इसलिए जैन दर्शन में 'निर्वाण' को मुक्ति, मोक्ष, सिद्धगति-प्राप्ति, परमात्मलीनता, अनन्त की प्राप्ति, अहंशून्यता आदि विविध नामों से निर्देश किया गया है।

जैन दर्शन की अटूट मान्यता रही है कि कोई भी जाति, परिवार का पुरुष अथवा स्त्री क्यों न हो; जिसने सम्यक्-साधना के साथ-साथ सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग किया हो, समस्त प्राणियों के प्रति समता और जो चित्त की एकाग्रता रूप समाधि में रमण करता हो, मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त करता है।

निर्वाण की व्युत्पत्ति- 'निर्वाण' शब्द 'निर्' उपसर्गपूर्वक + वा धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय का योग होने पर बना है जिसका सामान्य अर्थ है- बुझना। यहाँ पर 'बुझना' का अभिप्राय दुःखों का बुझना या नाश होना है। अर्थात् दुःखों का बुझना और नष्ट होना ही निश्चित है।

निर्वाण का स्वरूप- 'निर्गतो वातः यस्मात् तन्निर्वाणिम् अथवा निवृत्तिमितं प्राप्तम् निर्वाणम्' अर्थात् जिसमें से वात निकल जाए अथवा निवृत्ति को प्राप्त हो जाए, वो निर्वाण है। जैसे दीए का बुझ जाना, दीए का निर्वाण है; वैसे ही आत्मा के विकारों का बुझ जाना आत्मा का निर्वाण है। यहाँ पर दीपक के बुझने का अभिप्राय उसकी ज्योति का मिट जाना नहीं है, बल्कि रूपान्तर या परिणामान्तर हो जाना है, क्योंकि जो है, वह मिट नहीं सकता। इसी प्रकार जीव का निर्वाण शांत हो जाना है, क्योंकि जो है, वह मिट नहीं सकता। इसी प्रकार जीव का निर्वाण शांत हो जाना भी उसका मिट जाना अस्तित्वहीन हो जाना नहीं है, अपितु अव्याबाध परिणाम- स्वभावपरिणति को प्राप्त हो जाना है।

आचारांगसूत्र की चूर्णि में निर्वाण के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है- अपने स्वरूप में स्थित होना निर्वाण है। लेकिन अपने स्वरूप में स्थित होने हेतु साधक को आत्मा पर लगे विकारों, आवरणों एवं उपाधियों से रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ, अहंकार, राग-द्वेष आदि विकार रहेंगे, तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए निर्वाण के लिए जैन दर्शन की पहली शर्त है- 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'[2] अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। आशय यह है कि राग-द्वेषादि उक्त विकारों से जीवात्मा में कर्मबन्ध होते हैं। दोनों में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। राग-द्वेषादि का नाश होते ही कर्मों का क्षय हो जाता है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होकर[3] परमशांति को प्राप्त होती है। यही आत्यन्तिक सुख की स्थिति होगी।[4] फिर न तो

कर्मों के कारण प्राप्त होने वाला शरीर होगा, न नाम, रूप, आकार तथा शरीर सुख-दु:ख, मोह, अहंकार, जन्म-मरण, जरा, व्याधि, इन्द्रिय जनित विषय, क्षुधा, तृषा, निद्रा, उपसर्ग, सर्दी-गर्मी आदि होंगे। यही निर्वाण की वास्तविक स्थिति होगी।

'जब शरीर ही सदा के लिए मिट जाता है,[५] तब शरीर के कारण होनेवाले[६] मैं, मेरापन, राग-द्वेष आदि विकार स्वत: मिट ही जाते हैं। सभी उपाधियाँ शरीर के 'मैं' के आस-पास इकट्ठी होती है। अत: जो सर्वदा मिट जाता है, वह सभी उपाधियों से मुक्त हो जाता है।[७] जब जन्म-मरण नहीं होगा तो आवागमन समाप्त हो ही जाएगा। इसलिए जो परमहंस वीतराग पुरुष अपने आप को खोकर परमात्म तत्त्व की उपलब्धि कर लेते हैं,[८] वे निर्वाण होते ही सिद्धगति नामक स्थान में अपने आत्मस्वरूप में सदा के लिए स्थित हो जाते हैं, जहाँ से लौटकर वापस नहीं आना होता; वहाँ की स्थिति शिव[९] (निरूपद्रव), अचल, अरूज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्ति है।

'निरूपद्रव' से तात्पर्य है कि शरीर के कारण सारे उपद्रव खड़े होते हैं, शरीर वहाँ है ही नहीं, तो उपद्रव कैसा? अचल-अवस्था मौन और शांति की सूचक है। जहाँ शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि होते हैं, वहीं हलचल होती है, द्वन्द्व होता है, संघर्ष होता है, जहाँ ये सब मूर्त पदार्थ नहीं होते, वहाँ सर्वथा शून्य, मौन-भाव और प्रगाढ़ शांति होगी, किसी भी प्रकार के विकल्प मन में नहीं उठेंगे। वह अपने आप में परिपूर्ण और स्थिर होगा। इसी निष्कम्प अवस्था को जैन दर्शन में 'शैलेशी'[१०] अवस्था बताई है, इस अवस्था में भीतर सन्नाटा छा जाता है, जितनी भी हलचलें होती हैं, वे तो बाहर होती हैं। यहाँ पूर्ण निर्वाण की स्थिति हो जाती है, दीये के बुझ जाने पर जैसे शांति हो जाती है, वैसी ही शांति निर्वाण की अवस्था में हो जाती है। वहाँ केवलज्ञान मात्र ही शेष रहता है।[११] न वहाँ ज्ञाता बचता है, न ज्ञेय पदार्थ, सिर्फ ज्ञान (जानना) ही बच जाता है। वह अनन्तज्ञान ही दर्शन एवं चारित्र को अपने में समाविष्ट कर लेता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति सर्वज्ञ और नि:संशय तो पहले ही हो जाता है। फिर वहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसौख्य और केवलवीर्य (शक्ति) ही विद्यमान रहती हैं, जिन्हें जैन दर्शन में अनन्त चतुष्टय[१२] कहते हैं, शेष के अस्तित्व, अमूर्तत्व और सप्रदेशत्व आदि जो गुण हैं वे आत्मा के निजी गुण हैं। इसी बात को धम्मपद[१३] में भी बतलाया गया है।

ऐसे निर्वाण में आत्मा की स्थिति कैसी होती है? इसका पूर्णतया विवरण तो अनन्तशील पुरुष ही प्रस्तुत कर सकते हैं। किन्तु साधारण साधक तो उन ज्ञान पुरुषों के वचनों के आधार पर ही निर्वाणजन्य अपरिमित आनन्द का वर्णन कर सकता है। गूंगे के लिए गुड़ की मिठास का वर्णन करने जैसा ही प्राय: यह वर्णन है। इसी कारण जैन दर्शन में निर्वाण में आत्मा की स्थिति अव्याबाध बताई है। तात्पर्य यह है कि निर्वाण हो जाने पर समस्त बाधाओं के अभाव के कारण निजगुण वहाँ पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। अत: निर्वाण आत्मा की परिपूर्ण विकास दशा है।

निर्वाण होने पर जो स्थान आत्मा के स्वाभाविकतया ऊर्ध्वगमन के कारण आत्मा को प्राप्त होता है, उसे जैनशास्त्र में सिद्धशिला[१४] कहते हैं। यहाँ पहुँचकर जीव 'अनन्त-चतुष्टय' को प्राप्त कर परमशांति का अनुभव करता है। साधकों के लिए यही चरममुक्तावस्था है।

निर्वाण के प्रकार

जैनाचार्यों ने निर्वाण दो प्रकार का माना है- १. भाव निर्वाण तथा २. द्रव्य निर्वाण। जीव जब घातिया कर्मों से मुक्त हो जाता है, तब उसे भावनिर्वाण की प्राप्ति होती है।[१५] किन्तु जब उसके अघातिया कर्मों का भी अन्त हो जाता है, तब उसे द्रव्यनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय- इन चार प्रकार के कर्मों को घातिया कर्म माना गया है। इसके विपरीत वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्मों को अघातिया कर्म कहा गया है। जैनाचार्य कुन्दकुन्द के मत से घातिया कर्मों का नाश होने पर जीव को भावमोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु आचार्य नेमिचन्द्र कुन्दकुन्दाचार्य के मत से सहमत नहीं हैं। उनके मत में कर्मों के नाश के लिए किए गए मानसिक प्रयत्नों के द्वारा भावनिर्वाण की तथा कर्मों के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर द्रव्यनिर्वाण की प्राप्ति होती है। आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार भावनिर्वाण की अवस्था कुछ क्षणों तक ही रहती है, इसके बाद द्रव्यनिर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत कुन्दकुन्दाचार्य का मानना है कि भावनिर्वाण की अवस्था वर्षों तक बनी रह सकती है। जैनाचार्य उमास्वाति के मतानुसार

जिस साधक के घातीय कर्मों का नाश हो जाता है, उसे सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। वह केवलज्ञान सम्पन्न होने के कारण, 'केवली' कहलाता है। जब उसके अघातीय कर्मों का भी नाश हो जाता है, तब वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार उमास्वाति का 'केवली' तथा कुन्दकुन्दाचार्य का 'भावनिर्वाण' वेदान्त के जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त के बहुत समीप आ जाता है। जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. नथमल टाटिया का कथन है कि घातीय कर्मों की तुलना वेदान्त सम्मत माया की आवरण शक्ति से तथा अघातीय कर्मों की तुलना उसकी विशेष शक्ति से की जा सकती है।[१६] घातीय कर्मों के नाश से आवरण भंग हो जाता है, जिससे साधक को सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। अघातीय कर्मों के नाश से उसकी चंचलता एवं विक्षिप्तता का भी अन्त हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह निर्वाण या मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है निर्वाण आत्मा के परिपूर्ण विकास का धाम है। यह जीवन की वह अवस्था है, जहाँ सब बंधन उन्मूलित हो जाते हैं, दैहिक, वाचिक और मानसिक सब दोष नि:शेष हो जाते हैं। निर्वाण के सन्दर्भ में भगवान् महावीर ने दो प्रकार की परिज्ञा का निर्देश किया है। 'ज्ञ' और 'प्रत्याख्यान' अर्थात् जानना और छोड़ना। ज्ञेय सब पदार्थ हैं, जिसका आत्मा के साथ विजातीय सम्बन्ध है, वह हेय है। जब तक हेय नहीं छूटता, तब तक वह छोड़ने-लेने की उलझन में फंसी रहती है। हेय छूटते ही आत्मा अपने सत्, चित् और आनंद रूए अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। महावीर की दृष्टि में निर्वाण का स्वरूप यही है।

सन्दर्भ:

१. *आचारांगचूर्णि, अ. ४*

२. *तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०, सूत्र*

३. *निर्वाणं शांति परमाम्, गीता*

४. *राग-द्वेष-मद-मोह-जन्म-जरा रोगादि दु:ख क्षय रूपा।*
सतो विधमानस्य जरवस्य विशिंष्टा:, काचिदवस्था निर्वाणम्।।

५. *णवि दुक्खं, णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जेद बाहा।*
णवि मरणं, णवि जणणं, तत्थेव य होई णिव्वाणे।।
णिव इंदिय-उवसग्गा, णिव मोहो, विम्हिओ य णिद्दा य।
णय तिण्हा णेव छुद्दा, तत्थेव हवदि णिव्वाणं।। नियमसार, गाथा १७८-७९

६. *निर्जित मदमद नानो, वाक्कायमनोविकार रहितानाम्।*
विनिवृत पराशानामि हैव मोक्ष: सुविहितानाम्।

७. *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमंमम्- गीता*

८. *अमतं संति निव्वाणं पदमुच्यते, सुत्तनिपात परायणवग्ग।*

९. *सिवमयलमरूअमणंतमक्ख्यमंवावाहमपुणरवित्ति सिद्ध गई।*
नामधेयं ढाणं संपत्ताणं- नमोत्थुणं (शुक्रस्तव पाठ)

१०. *जया जोगे निरूभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ।*
तथा कम्मे खवित्ताणं सिद्धिंगचछइ नीरओ।।

११. *निष्केवलं ज्ञानम्- निर्वाणोपनिषद्*

१२. विज्जदि केवल णाणं केवल सक्खिं च केवल वीरियं।
केवलबोहि अमुत्त अत्थितं सप्पदेसत्तां। नियमसार, गा. १८१

१३. निव्वाणं परमंसुखं, धम्मपद

१४. तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवई सासओ। दशवैकालिक, अ. ४

15. Nahar & Ghosal, An Eptome of Jainism, p. 617

16. Tatia, Nathmal, Studies in Jain Philosophy, p.XX

***

वेद में प्रकृतिवाद

लालती मेहता

भारतीय दर्शन यथार्थ के धरातल पर चिन्तन की एक सतत् प्रक्रिया है तथा चिन्तन के रूप में यह जीवन का एक अविच्छिन्न अंग है। सत्यान्वेषण में दृष्टि के विलक्षण आयामों से जीवन को गौरवान्वित कर समुचित मार्ग का अनुगमन करने में सर्वथा सक्षम है। प्रकृतिवाद का यही विलक्षण आयाम है। निश्चयतः प्रकृतिवाद आधुनिकता के परिवेश में अविर्भावित कोई नयी उपलब्धि नहीं है, बल्कि इसका मूल उन प्राचीन स्रोतों में ही निहित है, जो सामान्य धरातल पर भारतीय दार्शनिकों के आधार स्रोत रहे हैं। यह सर्वथा द्रष्टव्य है कि यथार्थ के धरातल पर वेद ही भारतीय दर्शन के समस्त उपलब्ध आधारभूत दृष्टियों का मूल उद्भावक है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिवाद की पृष्ठभूमि भी मूलतः वेद में ही निहित है।

यह ध्यान रखना होगा कि तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत में प्रकृतिवाद समस्त अति-प्राकृतिक या अलौकिक सत्ताओं तथा घटनाओं का पूर्णतः निषेध करता है। यहाँ यह दृष्टि प्रभावी है कि ऐसी कोई सत्ता अथवा घटना नहीं हो सकती जिसकी व्याख्या प्राकृतिक नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती है। सत्य यही है कि सिद्धान्ततः भी किसी अलौकिक घटना या अति-प्राकृतिक सत्ता या शक्ति का अस्तित्व संभव नहीं है।

प्रश्न उठता है कि क्या वेदों से प्राप्त होनेवाली विचारधारा को प्रकृतिवाद का संधारक माना जा सकता है? सामान्य धरातल पर लोगों के द्वारा इसका नकारात्मक उत्तर दिया जाता है तथा इस उत्तर-प्रस्तुति के मूल में प्रभावी होता है वह मत जो वैदिक ऋचाओं में प्रणीत वैदिक ऋषियों की देवी-देवताओं के रूप में अनेक अलौकिक या अति-प्राकृतिक सत्ताओं की स्वीकृतिमूलक धारणा से संचालित है। प्रश्न उठता है कि क्या वह बहुदेववाद, ईश्वरवाद प्रभृति धारणा का संप्रेषक है? यथार्थ के धरातल पर निश्चयतः नहीं। देवी-देवताओं की अनेकता की स्वीकृति के मूल में इहलौकिक प्रकृतिवादी भावना ही प्रभावी है। यह सदैव ध्यान रखना होगा कि वैदिक युग के आर्यों ने सांसारिक सुख-समृद्धि तथा उसे प्राप्त करने के भौतिकता के पर्याय प्रकृतिवादी साधनों को बहुत महत्त्व दिया है। यही कारण है कि उन्होंने इन्द्र अग्नि, वरुण, सूर्य, वायु इत्यादि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को संसार के मूल के रूप में उपस्थापित किया है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने इन्हें देवता का नामकरण कर दिया, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यथार्थ के धरातल पर देवता के रूप में उन्होंने प्राकृतिक शक्तियों को स्तुति के रूप में प्रस्तुत कर अपने मंत्र में बार-बार प्रार्थनाएँ की हैं। साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत है ऋग्वेद का वह सूक्त जहाँ इन्द्र की संज्ञा से विभूषित प्राकृतिक शक्ति से यह प्रार्थना की गई है कि वह सामान्यजन को शारीरिक शक्ति, धन-सम्पत्ति, स्त्रियाँ तथा भोजन प्रदान करें।[१] इसी प्रकार ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्ति 'अग्नि' से यह याचना सर्वथा द्रष्टव्य है कि यह यज्ञ गायें, भेड़ें और अश्व प्रदान करने वाला हो।[२] ऋग्वेद में ही 'वरुण' से यह याचना प्रभावी है कि 'वरुण! यहाँ पर लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में वर्षा करो।[३] ऋग्वेद में ही वैदिक ऋषि की यह प्रकृति-याचना सर्वत्र उपलब्ध है। हे इन्द्र! जो रोग घरों में प्रवेश करके व्यापक रूप से फैल गया है उसे समाप्त कर दो, विपत्ति एवं दरिद्रता को दूर रखो, हमें सुख-समृद्धि के बहुत से साधन उपलब्ध हों।[४] इस प्रकार के सहस्रों याचना एवं प्रार्थना के मूल में यही सत्य प्रभावी है कि यथार्थ के धरातल पर समस्त संसार, भौतिक पदार्थों, पेड़-पौधों तथा प्राणियों पर प्राकृतिक विधान ही प्रभावी है, नाम चाहे इन्हें कुछ भी दे दिया जाए, इनसे परे अति-प्राकृतिक वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए हमारे

पास कोई संगत आधार नहीं है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जीवन के सम्बन्ध में संन्यासवाद के विरुद्ध प्रवृत्तिमार्ग को स्वीकारने वाले ऋषियों के इहलौकिक दृष्किोण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि उन्होंने मनुष्य के लिए भौतिकवाद के पर्याय प्रकृतिवाद को विशेष महत्त्व दिया है, अतः उन्हें संन्यासवादी और अध्यात्मवादी कहना उचित नहीं है। सत्य है कि वेदों में प्रकृतिवाद बीज रूप में विद्यमान है। इसका उद्‌गमन वेदों में ही हुआ है।

प्रकृतिवाद का उद्भव वेद में अन्तःप्रभावी ऋषियों के गंभीर चिन्तन एवं अदम्य जिज्ञासा की परिणति है। वैदिक ऋषियों में संसार के स्रष्टा के रूप में ईश्वर की मनमानी कल्पना के प्रति विरक्ति का भाव स्पष्टतः द्रष्टव्य है। यदि ऐसा नहीं होता तो नासदीयसूक्त में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती कि–

'उस समय (अर्थात् सृष्टि से पूर्व) न सत् था और न असत् ही था, तब न आकाश था और न स्वर्ग था जो उससे परे है। उस समय गति भी कहाँ थी और कौन उसे निर्देशित कर रहा था? क्या जल था? ... तब मृत्यु नहीं थी और न ही अमरत्व था, उस समय रात और दिन का पार्थक्य भी नहीं था। तब बस वह एक ही था जो वायुरहित होकर भी अपने द्वारा श्वांस ले रहा था, उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं। ... उसे वास्तव में कौन जानता है और कौन बता सकता है? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई थी? क्या देवता इसकी उत्पत्ति के साथ ही प्रकट हुए थे? यह सृष्टि किसी के द्वारा उत्पन्न भी की गई या नहीं, इस बात को केवल वही जानता है जो स्वर्ग में उपस्थित रहकर इसे देखता है अथवा वह स्वयं भी इसे नहीं जानता।'[५]

निश्चयतः यह उस जिज्ञासा की अभिव्यक्ति है, जो संसार की सृष्टि के विषय में उठाए गए हैं, तब भी जब कि वेदों में तथाकथित देवताओं की स्वीकृति विद्यमान थी। यहाँ तो उनकी उपस्थिति पर अतिशय संशय की अभिव्यक्ति रूप प्रश्नों का अम्बार रहा है। यथा–

'आदिपुरुष को उत्पन्न होते हुए किसने देखा है? ... पृथ्वी से श्वांस और रक्त का निर्माण होता है, किन्तु आत्मा कहाँ है? ... अपनी कम समझ और अपरिपक्व बुद्धि के कारण मैं उन विषयों के सम्बन्ध में पूछता हूँ जो देवताओं से भी छिपे हुए हैं।'[६]

निश्चयतः ये प्रश्न अनायास एवं महत्त्वरहित नहीं थे, वरन् यह उस मनोवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ थीं जो अध्यात्मवाद के प्रचलन के विरुद्ध स्वयं वेद के प्रकाण्ड विद्वानों ने उठाए थे। यहाँ जो प्रश्न प्रभावी थे, वे थे–

'सृष्टि का मूल तत्त्व अथवा अधिष्ठान क्या था? उसका आरम्भ कैसे हुआ? वह कौन–सी वस्तु थी जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के आदि निर्माता ने अपनी महान शक्ति द्वारा पृथ्वी तथा स्वर्ग का निर्माण किया और उसने इनकी रचना कैसे की थी? वह कौन–सी लकड़ी थी और कौन–सा वृक्ष था जिससे स्वर्ग तथा पृथ्वी का निर्माण किया गया? बुद्धिमान मनुष्यों, तुम अपने आप से पूछो कि जब उसने सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण किया था तो वह स्वयं कहाँ खड़ा था?'[७]

ये प्रश्न निराधार हैं बल्कि इनके मूल में है– आस्था के प्रति विरक्ति। अध्यात्मवाद के संपोषण में आस्था को आधार बनाने के प्रति सर्वथा वितृष्णा के भाव ने वैदिक ऋषियों को उस प्रकृतिवादी दृष्टि को गृहीत करने का मार्ग प्रशस्त किया जो संशयवाद एवं अज्ञेयवाद से सर्वथा परे है। राधाकृष्णन् का यह मत यहाँ महत्त्वपूर्ण है–

'प्रश्न पूछने की भावना उनमें बार–बार बलवती होती थी। चारों ओर संशय का वातावरण था। निश्चयतः उस काल का भारतीय, जैसे कि ऋग्वेद के नासदीयसूक्त (१०/१२९)अपने देवताओं और समस्त वस्तुओं के अन्तिम स्रोत के बारे में जानने की अभिलाषा से ओत–प्रोत था, किन्तु उसका संदेह प्रायः ही स्वीकृत मान्यताओं और अपने देवी–देवताओं के प्रति व्यंग भावना का रूप धारण कर रहा था। अपने सर्वोच्च देवताओं के बारे में उसने प्रश्न उठाए। अपनी आस्था तक के लिए प्रार्थना की और आस्था के लिए प्रार्थना तब तक संभव नहीं होती है जब तक आस्था में विश्वास डिग न जाए।'[८]

यहाँ ध्यातव्य है कि संशय की इसी प्रवृत्ति ने वेदों को सत् के अन्वेषण की ओर उन्मुख किया है। इसी उन्मुखता से

वशीभूत होकर वैदिक ऋषियों ने यह अभिगृहीत किया कि समस्त ब्रह्माण्ड के मूल में एक ही परमतत्त्व है। यही परमतत्त्व सत् है। विभिन्न देवी-देवताओं की संज्ञा से अभिहित प्रकृति के सत्त्व एवं शक्तियाँ इसी 'सत्' के विभिन्न रूप हैं। यह 'सत्' एक तथा अद्वितीय है यही जगत् का आधारभूत कारण तथा नियंता है। इसी एक परम सत्ता से समस्त प्राणियों तथा भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। वास्तव में यह परमतत्त्व या सत्ता एक ही है, किन्तु विद्वान् लोग इसी 'सत्' को अग्नि, यम आदि नामों से पुकारते हैं-

इन्द्रं मित्रं वरुणमगिन्माहु रथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्तिं यमं मातरिश्वान माहु:।।[९]

यह द्रष्टव्य है कि सत् की इस अवधारणा से यह स्पष्टत: प्रमाणित है कि वैदिक ऋषियों ने प्रकृतिवाद के एक विशिष्ट रूप को प्रतिपादित किया, जिसका उस 'ईश्वरवाद' से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसका बाद में कुछ भारतीय दर्शनों में विकास हुआ तथा जिसके अनुसार ईश्वर ही इस जगत् का रचयिता, संरक्षक, संहारक तथा कर्माध्यक्ष है। वेदों ने इस ईश्वरवाद का नहीं वरन् प्रकृतिवाद का प्रतिपादन किया है। उस प्रकृतिवाद का, जिसकी यह बुनियादी स्थापना है कि यथार्थ के धरातल पर प्रकृति केवल वस्तुओं का समूह ही नहीं अपितु उसमें एक सत्तात्मक व्यवस्था भी है। एक व्यवस्था के रूप में प्रकृति आत्मनिर्भर तथा अपने आप में पूर्ण है तथा प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु की व्याख्या दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओं के आधार पर की जा सकती है, किसी अति-प्राकृतिक सत्ता के आधार पर नहीं। सत् के इस प्राकृतिक सत्त्व का निरूपण इसी तथ्य को व्यक्त करता है-

अग्नि भी वही है, आदित्य भी वही
वायु भी वही है, चन्द्रमा भी वही
प्रकाश भी वही है, ब्रह्म भी वही
जल भी वही है, प्रजापति भी वही।[१०]

आखिर यह अग्नि, आदित्य, वायु, जल एवं प्रजापति किसका प्रतिनिधित्व करते हैं? उत्तर है – उस परम सत् का जिसके ये सभी अंग हैं। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त पुरुष के रूप में प्रकृति के इसी परम सत् का भावना को ध्वनित करता है- वह परम जिसके सहस्र सिर, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पैर हैं तथा प्रकृति के विधान के अन्तर्गत विशिष्ट अनुष्ठानों के अन्तर्गत निर्गत योजाना के आधार जिन्होंने वृहद्ता को प्राप्त किया है, यथार्थ के धरातल पर, वैदिक मान्यता के अनुसार पूर्ण विकसित संसार इसी 'परम पुरुष' का अंशमात्र है। आकाश उसका मस्तक है, सूर्य उसकी आँख है, पृथ्वी उसका पैर है, पवन उसकी श्वांस है तथा नक्षत्र उसके बाल हैं। यह संसार उसके शरीर का चतुर्थांस है। यह ब्रह्माण्ड तथा इसका भूतकाल एवं भविष्यत् काल सब पुरुष है-

सहस्त्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्त्रपात्।
स भूमि विश्वतोवृत्वाऽत्य तिष्ठवदशाऽलम्।।
पुरुष एवेदं सर्वयद्भूतं यच्चभव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[११]

दो महत्त्वपूर्ण बातें

१. संसार का मूल प्रकृति है, यही यहाँ पुरुष रूप में अभिगृहीत है। यही अपने आप में पूर्ण है तथा स्वयं अपने ही द्वारा शासित है, प्रकृति के सभी तत्त्व तथा शक्तियाँ इसी के अंग हैं इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

२. संसार यथार्थ है तथा इसका प्रादुर्भाव भी यथार्थ से घिरा हुआ है। इसके मूल आधार पाँच प्राकृतिक तत्त्व हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। यही अन्वेषण वैदिक ऋषियों की विलक्षण उपलब्धि है। राधाकृष्णन का स्पष्ट मत

है- 'सभी परिवर्तनशील वस्तुओं के प्रथम आधार की खोज में उन्होंने प्राचीन यूनानियों की तरह जल, वायु, अग्नि इत्यादि को चरम तत्त्वों के रूप में माना जिससे इस संसार के विविध अंगों का निर्माण हुआ।[१२]

निष्कर्ष- प्रकृतिवाद की यह विलक्षणता है कि यहाँ कारण-कार्य नियम का विशेष महत्त्व है। समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ, चाहे वह भौतिक हो अथवा नैतिक, नियम का विशेष महत्त्व है। समस्त वस्तुएँ इसी नियम के द्वारा शासित होती हैं और इसी के फलस्वरूप उनमें परिवर्तन होता है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृतिवाद के इस सत्य को सार्थकत: निरूपित करने के क्रम में 'ऋत' का संधारण किया है। इनकी दृष्टि में ऋत सर्वत्र विद्यमान वह व्यापक नियम है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या स्थापित होती है। दूसरे शब्दों में वेदों के लिए यह ऋत ही समस्त ब्रह्माण्ड की व्याख्या का मूलतत्त्व है जिसके कारण इसमें सदैव नियम का शासन बना रहता है। विश्व के सभी प्राणी तथा भौतिक पदार्थ ही नहीं, अपितु समस्त देवी-देवता भी इसी ऋत के अधीन हैं। ये 'गोपाऋस्ये' तथा 'ऋतायु' की संज्ञा से अभिहित हैं। ऋत के कारण की सूर्य, चन्द्र, तारागण, जल, वायु, अग्नि आदि सभी नियमित रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं, ऋतुओं में नियमित परिवर्तन होता है और रात के बाद दिन और दिन के बाद रात होती है। स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद के उद्भावक के रूप में वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नियमित व्यवस्था को सुदृढ़ करने के क्रम में 'ऋत' की प्राकृतिक व्यवस्था को सामने लाया है, सभी धर्म चिन्तन की तरह किसी मनमानेपन वाले ईश्वर को नहीं। यह ध्यान रखना होगा कि सामी चिन्तन में प्रकृति ईश्वर के अधीन है तथा ईश्वर उस पर शासन करता है। ऋत की अवधारणा के आधार पर वैदिक ऋषि इसके प्रति अस्वीकृति की भावना रखते हैं। प्रकृति स्वायत्त है, किसी के अधीन नहीं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि सामी ईश्वर मनमानी करने में सक्षम है, प्रकृतिवाद के संधारण में वेद 'यदृच्छा' को स्वीकार नहीं करता। ध्यान रखना होगा कि राइस डेविड्स ने जहाँ पहले के लिए 'एनिमिज्म' (सवर जीववाद) का प्रयोग किया है, वहीं दूसरे के लिए 'नार्मेलिज्म' (नियमवाद) का। राइस डेविड्स का स्पष्ट मानना है कि यह दूसरी दृष्टि प्रकृतिवाद द्वारा संधारित आधुनिक विज्ञान का पूर्वगामी है।

वेद की दृष्टि में प्रकृति सर्वोपरि है तथा मानव प्रकृति का ही अंग है, न कि उसका विरोधी। स्वभाववाद के परिप्रेक्ष्य में प्रतिवाद का संधारण कर वैदिक ऋषियों ने इस सत्य को उद्घाटित किया है कि मनुष्य अपने स्वभाव से परिचालित है, उसमें न तो द्वेष सार्थक है और न ही उसे विजय प्राप्त करने की संकल्पना। सत्य यही है कि वैदिक ऋषियों के लिए यह बात कल्पना से बाहर थी कि मनुष्य कभी प्रकृति अर्थात् स्वभाव को पराजित कर सकता है। हम अधिक से अधिक स्वभाव से कृपा एवं सहजता की कामना कर सकते हैं।

निश्चयत: वेद भौतिक-प्रकृति एवं मानव-प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में प्रकृतिवाद का भारतीय धरातल पर आदि उद्गमस्थल है। निश्चयत: यह कटु भौतिकवाद से कतिपय भिन्न है। कटु भौतिकवाद के अनुसार संसार की परम सत्ता भौतिक तत्त्व अथवा जड़ ही है, तथा शेष सभी अस्तित्व उन्हीं भूततत्त्वों के प्रकटीकरण है। वेद ने जिस प्रकार से प्रकृतिवाद को उद्गमित किया है वह इस यांत्रिक भौतिकवाद से भिन्न है। यह कहता है कि प्रकृति के मौलिक तत्त्व केवल जड़ ही नहीं, बल्कि शक्ति भी है। यह प्रकृतिवाद यांत्रिक न होकर सृजनात्मक भी है। ध्यान रखना होगा कि वैदिक ऋषियों में परम्परागत दृष्टि के प्रति विरोध है कि शक्ति को यह महत्त्व नहीं देता, साथ ही प्रत्ययवाद से इस कारण विरक्ति है कि उसने जड़ सत्ता को बिल्कुल नहीं माना। वेद ने अपनी दार्शनिक प्रणाली में, प्रकृतिवाद के संधारक के अधीन, जड़ की अपेक्षा शक्ति को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि यह संसार के विकास में भिन्न-भिन्न स्तरों की सत्ता को समझने में अधिक उपयोगी है। निश्चयत: यहाँ प्रकृतिवाद का उद्गम विलक्षण रूप में हुआ है। इसकी प्रथम विलक्षणता इस तथ्य को प्रभावी रूप से सुस्थापित करने में निहित है कि प्रकृति से पीछे प्रकृति के अतिरिक्त अथवा प्रकृति से परे कोई भी ऐसी सत्ता नहीं है, जो अलौकिक अथवा अतिप्राकृतिक हो। देवता यदि हैं भी तो यथार्थ के धरातल पर यह प्रकृति से परे नहीं, वरन् प्रकृति के ही शक्ति रूप हैं। इसी प्रकार यदि 'आत्मा' से अर्थ अभिप्रेत किसी ऐसी वस्तु से है जो मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव से स्वतंत्र है, तो यथार्थ के धरातल पर कोई आत्मा भी नहीं है। मनुष्य की विलक्षणता उसकी इस अनुभूति में निहित है कि उसका अस्तित्व पेड़-पौधों तथा पशु इत्यादि से भिन्न है। उसमें प्रकृतिप्रदत्त एक ऐसी विलक्षणता है जो उसे इन सभी से

पृथक् करती है, और वह विलक्षण सत्त्व है उसकी सचेतना। सचेतन के विलक्षण सत्त्व ने ही मानव को विश्व की शेष कृतियों से अलग प्रतिष्ठित कर दिया है। स्पष्ट है कि सत् के अन्वेषण में दृष्टि के विभिन्न आयामों ने वेद को भारतीय धरातल पर प्रकृतिवाद के उद्गमन में प्रथम आधारभूत स्थल के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

सन्दर्भ:

१. *पुरूतमं पुरूणा मीशानं वार्याणाम।*

इन्द्र सोमे सचा सुते स घा नो योग मुक्त स राये स पुरेध्याम। गमद्वाजेमिरा स नः। ऋग्वेद मंडल अनुवाकसूक्त, २-३; ऋग्वेद संहिता, स्वास्थ्य मंडल, पृ. ३

२. *गोमाँ अगेऽविमाँ अश्वि यज्ञो नृवत्सखा सद्मिद प्रभृष्य। इलावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रविः पृथुबुध्नः सभावान।। ऋग्वेद मंडल ५ अनुवाक २, सूक्त ५; ऋग्वेद संहिता, सम्पा. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, चतुर्थ संस्करण स्वाध्याय मंडल, पारडी, पृ. २३५*

३. *ऋग्वेद, मंडल अनुवाक ६४, सूक्त २, वही, पृ. ४३५*

४. *ऋग्वेद, मंडल ६ अनुवाक १३, सूक्त २ वही, पृ. ३४३*

५. *ऋग्वेद, मंडल १०, १२९, वही, पृ. १४०*

६. *ऋग्वेद, मंडल १ १६४, वही, पृ. १२५-१२८*

७. *Radhakrishnan, S. A source book in Indian Philosophy, Cambridge Univesity Press, London, 1948, 31*

८. *वही, पृ. ३३*

९. *ऋग्वेद, मंडल १, अनुवाक १६४, सूक्त ४६ 'वही' पृ. १२८*

१०. *यजुर्वेद, ३२.१*

११. *ऋग्वेद, मंडल १०, अनुवाक ९०, सूक्त १-२, ऋग्वेद संहिता, सम्पा. पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर,, पृ. १०६*

१२. *राधाकृष्णन, एस. भारतीय दर्शन भाग, १ (अनु.) स्व. नन्दकिशोर गोभिल, शिलशंकर, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९९७, पृ. ८५*

***

श्रीरामकृष्ण परमहंस की व्यावहारिक अद्वैत-साधना

शालिगराम अहिरवार

भारत में जिस समय धर्मावलम्बी किसी एक मत के औचित्य पर विवाद कर रहे थे, उस समय श्री रामकृष्ण परमसंह ने क्रमशः विभिन्न धर्मों की साधनाएं (वैष्णो-साधना, इस्लाम-साधना, ईसाई-साधना, अद्वैत-साधना आदि) करके सम्पूर्ण विश्व को यह संदेश दिया कि सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर ले जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस का यह मत है कि धर्म शास्त्रार्थ का विषय नहीं, अपितु अनुभूति का विषय है। निरपेक्ष ब्रह्म में समाधि के तत्काल बाद इस्लाम-साधना के अनुभव को उनके समीक्षक एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भारत की दो परस्पर विरोधी (हिन्दू और मुस्लिम) संतानों का केवल अद्वैत व निराकार ब्रह्म के आधार पर ही परस्पर पुनर्मिलन हो सकता है।

श्री रामकृष्ण ने अद्वैत-साधना, वेदान्ती पण्डित एवं साधक तोतापुरी के मार्ग-दर्शन में की। तोतापुरी एक महान साधक एवं परिव्राजक संन्यासी थे। इन्होंने निरन्तर चालीस वर्ष की साधना के बाद सिद्धि प्राप्त की थी। तोतापुरी संन्यासियों के उस सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, जो बारहवीं शताब्दी में आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित किया गया था। तोतापुरी ने श्रीरामकृष्ण को अद्वैतवेदान्त के मुख्य सिद्धान्तों एवं साधना-पद्धत्तियों की शिक्षा दी थी।

श्री रामकृष्ण परमहंस अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत सभी भावों को मानते थे, किन्तु उनके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न अवस्थायें हैं। प्रारम्भिक स्थिति में द्वैतभावों का उदय होता है, तब शेष दोनों भाव प्रतीत होते हैं। धर्मोन्नति के उच्चतर सोपान के रूप में विशिष्टाद्वैत और उच्चतम अवस्था में अद्वैत की उपलब्धि होती है। श्री रामकृष्ण के अनुसार 'जब मानव साधना की सहायता से धर्मोन्नति की अन्तिम अवस्था पर पहुँचता है, तब श्री जगदम्बा के केवल निर्गुण रूप का ही अनुभव कर उनमें अद्वैत भाव से वह अवस्थान करता है। उस समय मैं-तुम, जीव-जगत्, भक्ति-मुक्ति, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि ये सब एकाकार हो जाते हैं।[१] एक अन्य सत्ता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। चिन्मय भगवान् असीम ब्रह्म, आत्मा आदि इस परमतत्त्व (ईश्वर) के ही नाम हैं। इसका लक्षण जानने के लिए किए गए प्रत्येक प्रश्न का आद्य शंकराचार्य ने एक ही उत्तर दिया है- 'नेति-नेति'। प्रत्येक दृश्यमान वस्तु यहाँ तक कि मन, शरीर और अहं भी, अविद्या से आच्छादित ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस अविद्या से ही ब्रह्म नाना रूप धारण करता है। ज्ञानयोग के द्वारा अद्वितीय परमतत्त्व से एकाकार की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

अद्वैत दर्शन के अनुसार उस ब्रह्म की प्राप्ति ही मानव का परम उद्देश्य है। हम सभी में वही ब्रह्म है, वही परमतत्त्व है, परन्तु ये सभी माया से युक्त हैं। माया अपनी शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर उसमें नाना प्रकार के जागतिक पदार्थों का आरोपण करती है। जीव, जगत् एवं ईश्वर परमार्थतः असत्य है, अतः आभास है।[२] इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञानमार्गी यदि संसार के जीवों के प्रति सहानुभूति रखे तो यह इस ब्रह्मपूर्ण रचना (विश्व) को सत्य स्वीकारणा हो जाएगा और यह निश्चित ही अद्वैत-साधना के मार्ग में साधक की उन्नति में अवरोधक होगा।

श्रीराम परमहंस का दृष्टिकोण इससे भिन्न था। अपने गुरु की तरह वे भी जगत् को असत् मानते थे, परन्तु उन्होंने कभी

जगत् की उपेक्षा नहीं की। उनके अनुसार यह विश्व ब्रह्म की ऐश्वर्यशाली अभिव्यक्ति है। वे प्रत्येक जीव में परमतत्त्व की शाश्वत उपस्थिति का अनुभव करते थे। अत: माया ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वह ब्रह्म की शक्ति है। माया ब्रह्म से उसी प्रकार संयुक्त है, जिस प्रकार अग्नि दाहकता के साथ, दूध दही के साथ संयुक्त रहता है। माया, सत् में आंतरिक विरोध न होकर केवल उनमें सामान्य विरोध ही है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि माया पूर्णत: असत् है। वास्तव में माया सत् और असत् का मिश्रण प्रतीत होता है। मायावाद का सिद्धान्त मनुष्य जीवन और जगत् के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करता है।

श्री रामकृष्ण मधुर भाव से सिद्ध होकर भाव-साधना की पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे। तदुपरान्त उनके मन में सर्वभावातीत वेदान्तोक्त अद्वैतभाव की साधना करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। भावराज्य और भावातीत राज्य में परात्पर कार्य-कारण सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। भाव-साधना में होने वाले सगुण ईश्वर के दर्शन में वस्तुत: भावातीत अद्वैत भावभूमि का आनन्द ही सीमाबद्ध (सीमित) होकर प्रकट होता है। वेदान्त के अद्वैतभाव के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण कहा करते थे- 'वह तो सबसे अन्तिम बात है। उनके अनुसार निर्विकल्प भूमि पर आरूढ़ होकर अद्वैतभाव से ईश्वर की उपलब्धि ही मानव जीवन की चरमावस्था है।' अद्वैत-साधना की अन्तिम अवस्था के समय जब श्रीरामकृष्ण परमहंस से तोतापुरी ने अपने मन को समस्त इन्द्रिय-पदार्थों से हटाकर आत्मा में एकाग्र करने को कहा, तदुपरान्त श्रीरामकृष्ण ने अपने मन को समस्त इन्द्रिय-पदार्थों से विमुख करने का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया और बहुत अत्यल्प समय में ही अपने मन को संसार से एवं इन्द्रियों से विमुख कर लिया, परन्तु 'काली माँ' की दिव्य मूर्ति उनके मन में शेष रही, अपने सम्पूर्ण प्रयास के बाद भी वे उसे अपने मन से हटा न सके। फिर निराश होकर उन्होंने अपनी कठिनाई गुरु से कही, गुरु ने एक काँच का टुकड़ा श्री रामकृष्ण के दोनों नेत्रों के मध्य चुभोते हुए मन को उसी बिन्दु पर केन्द्रित करने को कहा। श्री रामकृष्ण ने प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना आरम्भ किया और वे काली के दिव्य रूप को विचाररूपी खड्ग से हटाकर मन को एकाग्र करने में सफल हो गए। तत्क्षण ही उन्होंने स्वयं को निर्विकल्प समाधि की असीम गहराई में एकाग्र कर लिया। श्रीरामकृष्ण परमहंस के शब्दों में - 'विश्व का लोप हो गया, स्थान का भी विलय हो गया। प्रारम्भ में मन की अस्पष्ट गम्भीरता में विचारों की परछाईयाँ तैरने लगीं, अहं की एकल दुर्बल चेतना अविराम रूप से स्पन्दित होने लगी, परन्तु बाद में वह शान्त हो गयी। केवल अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रहा।'[३]

अत: श्रीरामकृष्ण परमहंस द्वारा की गई विभिन्न साधनाओं पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इनके द्वारा की गई प्रत्येक साधना का लक्ष्य अद्वैत-वेदान्त ही रहा है। श्री रामकृष्ण के अनुसार अद्वैतभाव के द्वारा ईश्वर की उपलब्धि ही आध्यात्मिक साधना की चरमावस्था है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार- 'यह अद्वैतावस्था ही आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति है।'[४] जब निर्गुण धारणा आती है। तब ईश्वर इस विश्व का शासक न होकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त एकमात्र तत्त्व रह जाता है। देश-काल की सीमायें समाप्त हो जाती हैं। यह विश्व भी निर्गुण ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उसका भी अस्तित्व नहीं रह जाता है। इस स्थिति में मनुष्य का सगुण व्यक्ति रह जाना कहाँ तक तर्कसंगत कहा जाएगा? निरन्तर आध्यात्मिक साधना से मनुष्य का सगुणत्व भी क्रमश: चला जाता है और निर्गुणत्व का आविर्भाव होता है। सगुण ईश्वर की क्रमश: निर्गुण धारणा होती जाती है तथा सगुण मनुष्य में भी निर्गुण भाव आ जाता है। 'तब निर्गुण ईश्वर और निर्गुण मनुष्य इन दो आगे बढ़ती रेखाओं के क्रमिक मिलन की क्रमागत अवस्थायें आती हैं।'[५] उपनिषदों के सगुण ईश्वर से अद्वैत ब्रह्म तक साधक की अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। उपनिषदों में 'तत्त्वमसि' शब्द का प्रयोग है अर्थात् नित्य आनन्दमय तत्त्व एक ही है, वही एक इस जगत् रूप में अनेक प्रकार से प्रकाशित हुआ है।

उपनिषदों में प्राय: प्रत्येक अध्याय द्वैतवाद के वर्णन, उपासनादि से प्रारम्भ होता है और उसका अन्त में अपूर्व अद्वैतभाव में होता है। प्रारम्भ में ईश्वर को विश्व का रचयिता एवं संरक्षक कहा गया है, साथ ही वह हमारा उपास्य है, बाह्य प्रकृति और अन्त प्रकृति का प्रेरक है। अगले सोपान पर देखते हैं कि ईश्वर प्रकृति के बाहर नहीं, बल्कि प्रकृति में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में ये दोनों भाव छोड़ दिए जाते हैं और यही घोषणा की जाती है कि जो कुछ है, सब वही है, वही समग्र जगत् के भीतर विद्यमान है, वही मनुष्यों की आत्मा में भी विद्यमान है। इस पुरातन विचारधारा द्वारा ही भारत की

आत्मा का अनेक शताब्दियों से पोषण हुआ है तथा श्रीरामकृष्ण ने इसे अनुभूति द्वारा अपने जीवन में साकार किया। श्रीरामकृष्ण ने परमज्ञान के अधिकारी संतों एवं दृष्टांतों के अनुभवों की पुष्टि की, जिन्होंने साकार किया। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने परमज्ञान के अधिकारी संतों एवं दृष्टांतों के अनुभवों की पुष्टि की, जिन्होंने साकार व निराकार ईश्वर का साक्षात्कार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न साधनाओं द्वारा श्रीरामकृष्ण ने प्रकृति की विभिन्नता के पीछे विद्यमान सत्ता का अनुभव किया और दिव्य आनन्द धारा में निमग्न हो गए। अब वे बारी-बारी से भक्ति और ज्ञान दोनों के बीच सामंजस्य रख सकते थे। उन्होंने कहा- 'जब मैं परमसत्ता की निष्क्रिय रूप में कल्पना करता हूँ, जब वह सृष्टि का निर्माण अथवा ध्वंस नहीं करती, तब मैं उसे ब्रह्म या निराकार ईश्वर कहता हूँ और जब मैं उसकी सक्रिय रूप में कल्पना करता हूँ। अर्थात् जब वह सृष्टि करती है, रक्षा करती है अथवा ध्वंस करती है तब मैं उसे माया, शक्ति, प्रकृति या साकार ईश्वर कहता हूँ। परन्तु श्रीरामकृष्ण परमहंस की इस विभिन्नता का अर्थ पृथक्ता नहीं है। साकार तथा निराकार एक ही सत्ता है, यह उसी प्रकार एक है जैसे- हीरा और उसकी चमक, सर्प और उसकी वक्रता। एक के बिना दूसरे का विचार भी असंभव।'[६] अत: एक ओर विश्व के वे दर्शन हैं जो केवल इस इन्द्रियगम्य जगत् को ही सत्य मानते हैं, इनके अनुसार भौतिक समृद्धि ही जीवन का चरम लक्ष्य तथा जगत् में सुख-सामग्रियों का संग्रह एवं उपयोग ही जिनका प्रयोजन रहा है। दूसरी ओर ज्ञानमार्गी हैं, जिनके अनुसार जगत् पूर्णत: असत् है।

अत: उक्त दोनों विचारधाराओं से पृथक् श्रीरामकृष्ण परमहंस ने जगत् को न तो भौतिकवादियों की भाँति भौतिक रूप में सत्य माना और न ही ज्ञानमार्गियों की तरह स्वप्नवत मिथ्या। स्वामी विवेकानन्द का यह कथन इसकी पुष्टि करता है कि- 'विभिन्न जागतिक शक्तियाँ उस विश्वव्यापी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति हैं जो कुछ आप देखते हैं, सुनते हैं या अनुभव करते हैं, सब उसी की सृष्टि है। ठीक कहें तो उसी का परिणाम है और भी ठीक कहें तो सब कुछ स्वयं प्रभु ही है।'[७] इस प्रकार प्रत्येक जीव में ईश्वर के दर्शन कर 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' श्रीरामकृष्ण परमहंस के संदेश (अद्वैत-शिक्षा) का सार है। नरेन्द्रनाथ को सम्बोधित करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था- 'जीव ही शिव है, उन पर दया-प्रदर्शन का दु:साहस कौन कर सकता है? दया नहीं परन्तु सेवा, मनुष्य सेवा ही भगवान् की सेवा है।'[८] अत: तात्पर्य यह है कि श्रीरामकृष्ण परमहंस ने मानव सेवा को सर्वोपरि मानते हुए अद्वैत को मानव के धरातल पर लाकर आध्यात्मिक साधना को कल्पनाओं से उतारकर व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया।

सन्दर्भ:

१. *महेन्द्रनाथ गुप्त (म), श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग-१, अनु. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ. सं. ९९*

२. *विवेकज्योति (पत्रिका), त्रैमासिक, वर्ष १९९३, अंक-३*

३. *स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण लीलासंग्रह, पृ. २५४*

४. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-५, पृ. १३२*

५. *वही, पृ. १०९*

६. *महेन्द्रनाथ गुप्त (म), श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग-१, अनु. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ. सं. ८९*

७. *विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-२, पृ. ५८*

८. *महेन्द्रनाथ गुप्त (म), श्रीरामकृष्ण वचनामृत, भाग-१, अनु. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ. सं. ५५*

***

विवेकचूडामणि व पञ्चदशी के आलोक में मायाविमर्श

परमेश तिवारी

जगत् की सृष्टि रहस्यमयी है। इसके रहस्य को जानने के लिए मानव-मस्तिष्क सदैव से चिन्तनशील रहा है। भारतीय मनीषियों ने अपनी सूक्ष्म-कुशाग्र-बुद्धि के बल पर जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, वे दर्शन के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हीं सिद्धान्तों में वेदान्त-दर्शन का मायावाद भी है। अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ही जगत्-प्रपञ्च का कारण स्वीकार करते हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म इस जगत् का निमित्त एवं उपादान दोनों कारण है। ऊर्णनाभि (मकड़ी) आदि के दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म का उभयकारणत्व मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है-

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।।'[1]

'जन्माद्यस्य यतः'[2] यह ब्रह्मसूत्र भी जगत्कारणत्व का निरूपण करता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ...'[3], 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'[4], 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ...'[5], 'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'[6], 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'[7], 'बीजं मां सर्वभूतानाम्'[8] इत्यादि श्रुतिस्मृतियों से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसार का कारण है, किन्तु अद्वैतमत के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्य-स्वभावपरमानन्दानन्ताद्वय, अविकारी, अद्वितीय, निर्विशेष, निर्गुण-निराकार, अखण्ड, अवाङ्मनसगोचर तथा एक है। निम्नलिखित श्रुतियाँ प्रमाण हैं- 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[9], 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'[10], 'एकमेवाद्वितीयम्'[11], 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'[12], 'असङ्गो ह्यं पुरुषः'[13], 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[14] इत्यादि। अतः उपाधिशून्य, निर्विकार, निर्गुण-निराकार, निर्विकल्पक, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म इस नामरूपात्मक नित्य विकारी जगत् का कारण कैसे हो सकता है अर्थात् इस जगत्-प्रपञ्च को उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकता है? वह कर्तृत्वरहित निष्क्रिय है- 'अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम्। प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्।।'[15] यदि कारण मान भी लें, तो ब्रह्म उन समस्त दोषों से संस्पृष्ट होने लगेगा, जो इस जगत् में हैं। उसकी अनन्तता, निरवयवता, अखण्डता आदि बाधित होने लगेगी। दूसरी बात कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[16] इस कथनानुसार अद्वैतसिद्धान्त में केवल ब्रह्म ही सत् है, अन्य सब कुछ मिथ्या है। यदि ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है, किन्तु जगत् की अनुभूति हमें सदैव होती है तो इन दोनों विचारों में तार्किक सामञ्जस्य कैसे सम्भव है? परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है जो निर्गुण, निर्विशेष एवं भेद रहित सत्ता है, किन्तु सांसारिक-जीव कुछ अन्य ही अनुभव करता है, जिसके अन्तर्गत जगत् का प्रपञ्च एवं जीवों की विविधता आती है। अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्-जीव-प्रपञ्च की अन्विति कैसे स्थापित की जाए? अद्वैतवेदान्त में इन समस्त समस्याओं का समाधान खोजा गया है- 'माया' नामी शक्ति में। माया के कारण ही उपर्युक्त वर्णित श्रुतियों में सामञ्जस्य स्थापित होता है। यह माया ब्रह्म की अतिशक्तिशाली, अनिर्वचनीय एवं अनादि शक्ति है। इसी के द्वारा वह सृष्टि करने में

समर्थ होता है और जागतिक दोषों से भी अस्पृष्ट रह जाता है। इस सिद्धान्त में यदि मायारूप तत्त्व को न माना जाय तो सृष्टि ही संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं सृष्टि नहीं करता। इस प्रकार निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकार ब्रह्म से नानानामरूपात्मक विलक्षण जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण केवल माया है। वह संसार की कारणशक्ति है। नानानामरूपात्मक जगत् इसी में सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है। इसी शक्ति से उपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा वही परमेश्वर जगत् का अभिन्नविवर्तनिमितोपादानकारण होता है। निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर माया के कारण ही प्रपञ्चात्मक जगत् एवं जीव की विविधता का अनुभव होता है। यह ब्रह्म की शक्ति माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है, अपितु अनिर्वचनीय है। विलक्षण एवं आश्चर्यरूपा है। इसके कई नाम प्राप्त होते हैं। यथा- अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अध्यास आदि। सदानन्द ने माया के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है- 'अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधिभावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति- 'अहमज्ञ' इत्याद्यनुभवात्''[१७] अर्थात् माया या अज्ञान सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधि तथा भावरूप है।

विवेकचूडामणि में माया- भगवत्पूज्यपादश्रीशङ्करविरचित 'विवेकचूडामणि' अद्वैतसिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक ग्रन्थ है। अद्वैत मत में केवल ब्रह्म को ही अद्वितीय तथा सत् स्वीकार किया गया है, तदतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है- 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[१८]। अतः आचार्य शङ्कर ने इस सत् और असत् को परस्पर संयुक्त करने वाली एक कड़ी की कल्पना की है, जिसे उन्होंने माया (अविद्या) नाम से विभूषित किया है।

यह माया अव्यक्त नामवाली, अनादि तथा परमेश्वर की शक्ति है। जिस शक्ति से संयुक्त होकर ब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा जगत् की सृष्टि करता है। श्रुति भी इस बात का निर्देश कर रही है- 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।''[१९] सत्त्व, रज तथा तमोगुण ही इसका स्वरूप है अर्थात् यह त्रिगुणात्मिका है। तीन गुणों से युक्त यह मायाशक्ति इन्द्रियज्ञान के परे है। इसके कार्य (परिणाम) ही केवल देखे जा सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे विद्युत को हम केवल उसके कार्य अर्थात् अभिव्यक्त रूप से ही जान सकते हैं। इस प्रकार माया कार्यानुमेया है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रसूत है। यही भाव 'विवेकचूडामणि' स्पष्ट करता है-

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।[२०]

हम अपने चारों तरफ जिस अनित्य, परिच्छिन्न एवं परिवर्तनशील जगत् को देखते हैं, वह केवल माया से ही आविर्भूत है। सत्य के अज्ञान के कारण ही हमें विषय, दृश्य, भाव एवं विचारों की दुनियाँ गोचर प्रतीत होती है। शरीर, मन, बुद्धि रूपी उपकरणों के माध्यम से हम जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा अधिकाधिक वासनाओं का निर्माण करते हैं। ये वासनाएँ पुनः उसे अधिकाधिक क्रियाशील बनाती है तथा अन्त में हम उन्हीं में उलझकर रह जाते हैं, जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही कोश में बद्ध हो जाता है। फलतः हम सदैव के लिए अपने व्यक्तित्व में 'जीवभाव' को प्रादुर्भूत कर लेते हैं। यह सारा खेल 'सत्य के अज्ञान' अर्थात् 'माया' के कारण होता है।

वह माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अङ्ग सहित है, न अङ्गरहित है और न उभयरूप ही है। अतः वह अत्यन्त अद्भूत तथा अनिर्वचनीयरूपा है, जैसा कि उक्त है-

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।।[२१]

यहाँ सत् का अर्थ अपने नियत रूप से कभी व्यभिचरित न होना है- ''यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्।[२२] त्रिकालाबाधित वस्तु सत् है- ''सत्यत्वं बाधराहित्यम्।''[२३] अतएव सत् का कभी भी अभाव नहीं होता। भगवान ने भी कहा है- ''नाभावो विद्यते सतः।''[२४] सत् की इस परिभाषानुसार माया कभी भी सत् नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान

से माया की निवृत्ति हो जाती है। आचार्यशङ्कर लिखते हैं– 'शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।'[२५] 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'[२६], 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'[२७] इत्यादि श्रुतिस्मृति के द्वारा भी यह ज्ञात होता है कि ज्ञान के द्वारा माया बाधित हो जाती है। अतः माया को सत् नहीं कहा जा सकता। इसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। असत् का अर्थ है किसी भी अधिकरण में वस्तु की सत्ता का न होना अर्थात् तीनों कालों में जिसकी सत्ता न हो। कहा गया है– 'त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेको नासत्त्वम्, किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम्।[२८] जैसे– बन्ध्यापुत्र, खपुष्प आदि। किन्तु 'अहमज्ञः', 'मामहं न जानामि' इत्यादि रूप में अज्ञान की प्रतीति तो हमें होती ही है। अतः इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। इसे सत् और असत् उभयरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकाश एवं अन्धकार के समान सत् एवं असत् अत्यन्त भिन्न धर्म वाले हैं। अतः एक साथ इनकी उपस्थिति सम्भव नहीं है। अतएव माया अनिर्वचनीय है। यह माया ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न माने तो अद्वैत बोधक श्रुतियों का विरोध होगा, लोक में भी शक्ति व शक्तिमान् का अत्यन्त भेद नहीं माना जाता। यह ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं है, यदि ब्रह्म से अभिन्न माने तो इसका बोध नहीं हो सकेगा एवञ्च भिन्न और अभिन्न दोनों विरोधी होने के कारण एक साथ दोनों का होना सम्भव नहीं है। अतः माया भिन्नाभिन्न उभयात्मिका भी नहीं है। इसी प्रकार अनादि होने के कारण यह अवयवयुक्त नहीं है, क्योंकि इसका जन्म नहीं हुआ है। माया अज है अर्थात् कभी जन्म नहीं लेती। इस विषय में श्रुति प्रमाण है'–

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।[२९]

जिसका जन्म होता है, वही अवयवयुक्त होता है। इसे अवयवरहित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरवयव का परिणाम नहीं होता, किन्तु माया का परिणाम तो सर्वविदित ही है। पुनश्च सावयवत्व निरवयवत्व दोनों का एक स्थान में रहना असम्भव होने के कारण उभयात्मिका भी नहीं कह सकते। अतः किसी भी तरह माया का निर्वचन सम्भव नहीं है। अतएव माया अनिर्वचनीया, विलक्षण तथा आश्चर्यरूपा है।

इसके रज, तम और सत्त्व रूप तीन गुण बहुत ही प्रसिद्ध हैं, जो कि अपने-अपने कार्यों से प्रख्यात हैं। इनमें रजोगुण की विक्षेपशक्ति कार्यरूपा है। जिससे अनादिकाल से संसार की हेतुभूत प्रवृत्ति फैली है। जिस शक्ति से वस्तु अन्यथा प्रतीत होती है, वह आवरण नामक तमोगुण की शक्ति है, जो जन्म-मरण रूप संसार का आदि कारण है और विक्षेप शक्ति के विस्तार का भी कारण है। जैसा कि उक्त है–

एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।।[३०]

इसी प्रकार सत्त्वगुण जल के समान यद्यपि विशुद्ध है तथापि रज एवं तम से मिलकर यह संसरण के लिए समर्थ होता है। इस सत्त्वगुण में आत्मबिम्ब प्रतिबिम्बित होकर सूर्य के समान समस्त अनात्मा को प्रकाशित करता है। क्योंकि सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। गीता भी कहती है– 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'[३१]। इस त्रिगुणात्मिका, अव्यक्त, अनादि माया (अविद्या) को ही कारणशक्ति भी कहा गया है। जिसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है। यद्यपि अज्ञान तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है तथापि जाग्रत एवं स्वप्न में साधारण रूप से रहता है, किन्तु सुषुप्ति में असाधारण रूप से अभिव्यक्त होता है। 'तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः। सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था...'[३२] इस अवस्था में पुरुष को मैं कुछ भी नहीं जानता– 'किञ्चिन्न वेद्मीति' ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार, सम्पूर्ण जगत् इस त्रिगुणात्मिका माया से ही प्रादुर्भूत है, जो ब्रह्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है।

पञ्चदशी में माया– 'पञ्चदशी' विद्यारण्य स्वामी द्वारा प्रणीत अद्वैतवेदान्त का निरूपक प्रमुख ग्रन्थ है। इसके अनुसार चिदानन्द रूप परमब्रह्म के आभास से युक्त सत्त्व, रज एवं तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जो माया एवं अविद्या के भेद से दो प्रकार की है। उनमें से विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान माया तथा मलिनसत्त्वगुणप्रधान अविद्या कहलाती है। जैसा कि आचार्य ने कहा है–

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।।[३३]

जगत् के कारणभूत ब्रह्म से अभिन्न, आकाशादि कार्यरूपलिङ्ग से गम्य सद्रूप ब्रह्म की शक्ति, जो समस्त प्रपञ्च आदि कार्य वर्ग के उत्पादन की सामर्थ्य रखती है, माया शब्दवाच्य है। यह माया ऐसी है, जैसी अग्नि की शक्ति। वह शक्ति किसी के द्वारा कहीं पर भी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञात नहीं होती-

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा।।[३४]

अतः कार्यरूपलिङ्ग से ही मायाशक्ति का ज्ञान सम्भव है। ब्रह्म से भिन्न इसका कोई तत्त्व नहीं है। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सद्वस्तु की शक्ति क्या सत् है अथवा असत्? वह सत् की शक्ति सद्वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि अग्नि स्वयं अपनी शक्ति नहीं होती। यदि अग्नि ही अग्नि की शक्ति मानी जाय तो चन्द्रकान्तमणि आदि प्रतिबन्धों के कारण दाह का होना अवरूद्ध हो जाता है अथवा प्रतिबन्ध के अवरोधक मन्त्र औषधि आदि उत्तेजक की विद्यमानता में प्रतिबन्ध के रहने पर भी दाह पुनः होने लगती है, इससे ज्ञात होता है कि अग्नि की दाहादिकी शक्ति अग्नि से पृथक् है। अतः सत् की शक्ति सद्वस्तु नहीं हो सकती। द्वितीय पक्ष भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह नरविषाण के समान नहीं हो सकता। यदि उस शक्ति का रूप शून्य को बताया जाय तो शून्य तो माया का कार्य ही है। इस कारण यही कहना पड़ता है कि वह माया न तो शून्य ही है और न सत् ही है। ऐसा कोई सदसद्विलक्षण तत्त्व अगर हम समझ सकते हैं तो वैसा ही माया को समझ ले। उस माया का निर्वचन सत् व असत् इन दो शब्दों से नहीं हो सकता है-

'न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्।।
शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम्।।'[३५]

नृसिंहतापनीय उपनिषद् में माया का प्रतिपादन हुआ है कि माया तमोरूपा है- "माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात्।"[३६], वह माया जड़ तथा आवरणरूप है। इस प्रकार लौकिक अनुभव की दृष्टि को लेकर जड़रूप तथा मोहरूप तमोरूप माया की साधारणतया सभी लोग अनुभूति करते हैं। किन्तु युक्ति से तो माया का स्वरूप अनिर्वनीय सिद्ध है। वह माया असत् नहीं, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और वह सत् भी नहीं, क्योंकि इसका बाध हो जाता है। विद्या की दृष्टि से वह तुच्छ कही गयी है, जो सदा ही निवृत्तिरूप है। आचार्य कहते भी है-

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः।।[३७]

इस माया को श्रुतिजन्य ज्ञान से तुच्छ अर्थात् तीनों कालों में असद्रूप, युक्तिजन्य ज्ञान से अनिर्वचनीय, अर्थात् सत् व असत् से भिन्न मिथ्या तथा लौकिक दृष्टि से सत्यरूप समझना चाहिए-

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[३८]

'स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन'[३९] इस श्रुतिवाक्य से माया का स्वरूप स्वतन्त्र भी है और अस्वतन्त्र भी है। ब्रह्म के बिना माया प्रतीत नहीं होती, इसलिए माया अस्वतन्त्र भी है तथा असङ्ग चिद्रूप आत्मा को भिन्न प्रकार का स्वरूप दे देती है, इस कारण माया स्वतन्त्र भी कहलाती है।

अतः माया का निरूपण अशक्य है तथापि यह स्पष्टतया भासती है, जैसे इन्द्रजाल आदि में लोग समझते हैं। कहा गया है- "न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।।"[४०] यहाँ माया में भासना अर्थात् उसमें सत्ता के न होने पर भी अधिष्ठान रूप ब्रह्म के कल्पित तादात्म्यसम्बन्ध के योग से माया में सत्त्व आ जाता है- "सद्योगात्तमसः सत्त्वम्।।"[४१] यद्यपि माया का स्वतन्त्र सत्त्व नहीं है। जिस प्रकार शून्य को दूसरा पदार्थ नहीं गिना जाता, उसी प्रकार माया को सद्रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं माना जाता। लोक में भी चैत्र व उसकी शक्ति का पृथक्-पृथक् उल्लेख नहीं होता।

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते। न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक्।।[४२]

अतः मिथ्या वस्तु का द्वितीय रूप स्वीकार नहीं किया जाता है। यह माया ब्रह्म की शक्ति है। यह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में व्यापक होकर नहीं रहती, अपितु उस ब्रह्म के एकदेश में ही रहती है- न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक्।।[४३] मायाशक्ति का ब्रह्म के एकदेश में होना श्रुति प्रमाण से भी प्रमाणित है- पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः। इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः।।[४४]

इसमें श्रुति ही नहीं, स्मृति भी प्रमाण है- विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।[४५]

इसी मायाशक्ति में प्रतिफलित चिद्रूपब्रह्म ईश्वर कहलाता है तथा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है। अविद्या के वशीभूत जीव होता है, जो अविद्या के कारण अनेक प्रकार का हो जाता है। ईश्वर, जीव, जगत् आदि की व्यवस्था अद्वैत वेदान्त में इसी माया शक्ति के कारण व्यवस्थित होती है। स्वामी जी ने कहा है-

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्।।[४६]

माया ही चिदाभास के द्वारा जीव तथा ईश्वर का निर्माण करती है- **'मायाभासेन जीवेशौ करोति'**[४७]। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की वासनाएँ इस माया में ही अवस्थित रहती हैं। अतएव सम्पूर्ण जगत् का बीज माया ही है।

माया की शक्तियाँ

माया की दो शक्तियाँ हैं- आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति। पञ्चदशीकार ने कहा है- 'विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता'।[४८] इनमें द्रष्टा की दृष्टि को आच्छादित कर लक्ष्य (आत्मा) के सच्चिदानन्दस्वरूप को आवृत कर देने वाली माया की शक्ति का नाम आवरणशक्ति है। जैसे बादल स्वल्प खण्ड देखने वाले की दृष्टि के समक्ष आकर उसके नेत्र-मार्ग को ढँक लेता है, जिससे प्रतीत होता है कि अनेक योजन आयत सूर्यमण्डल ही बादल खण्ड से आवृत्त हो गया। अस्तु, सूर्यमण्डल दिखाई नहीं दे रहा है। वैसे ही यह परिमित अज्ञान भी प्रमाता की आत्मदर्शी बुद्धि को ढँक लेता है, जिससे ऐसा आभासित होने लगता है कि अपरिमित और असंसारी आत्मा को अज्ञान ने ढँक लिया है। जबकि यथार्थ यह है कि उस अज्ञान ने बुद्धि को ढँका है, आत्मा को नहीं। बुद्धि के आच्छादित होने से ही आत्मा आच्छादित-सा प्रतीत होता है। वास्तव में आत्मा तो नित्योपलब्धिस्वरूप है, जो न किसी से ढँका जाता है और न ही स्वयं किसी सांसारिक बंधन में बंधता है। केवल मूर्ख लोग ही उसे बंधा हुआ या ढँका हुआ मानते हैं। यही तथ्य इस श्लोक से अभिव्यक्त होता है-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।[४९]

आचार्य शंकर कहते हैं कि अखण्ड, नित्य, अद्वयबोधरूप जो शक्ति है, उस शक्ति के द्वारा प्रकाशमान आत्मा को यह तमोगुणमयी आवरणशक्ति सूर्यबिम्ब को राहु के समान आच्छादित कर देती है-

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम्।।[५०]

इसी शक्ति के द्वारा ही जीवात्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा सुखदुःखमोहात्मक तुच्छ संसार की भावना उत्पन्न होती है। यदि आवरणशक्ति से माया ब्रह्म का आवरण न करे तो 'एकोऽहं बहुस्याम्' यह ब्रह्मेक्षण ही पुरा न हो।

माया की जिस शक्ति से ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त जगत् की उत्पत्ति होती है, उसे विक्षेपशक्ति कहते हैं। जैसे- रज्जुविषयक अज्ञान सर्वप्रथम अपनी आवरणशक्ति से रज्जु को ढँकता है, फिर बाद में उस ढँकी हुई रस्सी में अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा सर्पत्वभावना को उत्पन्न करता है, वैसे ही आत्मसम्बन्धी अज्ञान प्रथमतः अपनी आवरणशक्ति से बुद्धि को आच्छादित करता है, फिर विक्षेपशक्ति से आत्मा में सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक आकाशादि समस्त प्रपञ्च को पैदा करता है। 'दृग्दृश्यविवेक' लिखता है-

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।।[५१]

आचार्य शङ्कर ने दोनों ही शक्तियों का बड़ा मनोहर काव्यात्मक वर्णन किया है-

'कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैर्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः।।[५२]

इस प्रकार आवरण व विक्षेप इन दोनों के द्वारा ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति होती है, जिनके द्वारा मोहित हुआ पुरुष देह को ही आत्मा मानकर भटकता रहता है-

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्।।[५३]

उपसंहार- इस प्रकार 'विवेकचूडामणि' तथा 'पञ्चदशी' दोनों ही ग्रन्थ एक ही परम्परा के उपस्थापक होने के कारण मायाविषयक विचार भी समान है तथापि किञ्चित् अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है, आचार्य शङ्कर ने माया तथा अविद्या का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है, जबकि विद्यारण्यस्वामी ने माया तथा अविद्या में भेद स्वीकार किया है। इनके अनुसार माया शुद्धसत्त्वप्रधान होती है तथा अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान। माया ईश्वर की उपाधि है तथा अविद्या जीव की। उन्होंने कहा है-

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विधा च सा।।
सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः।।[५४]

किन्तु यह भेद वास्तविक न मानकर गुणों के कारण उपाधिवशात् ही स्वीकार करना चाहिए।

स्वामी जी माया के तीन रूप स्वीकार करते हैं- वास्तव, अनिर्वचनीय तथा तुच्छ। उसके ये तीन रूप क्रमशः लौकिक, यौक्तिक और श्रौत इन तीन प्रकार के बोधों से जाने जाते हैं। लौकिक ज्ञान की दृष्टि से माया वास्तविक प्रतीत होती है। उससे समस्त लौकिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं। यौक्तिक ज्ञान से माया सदसद्निर्वचनीय और मिथ्या सिद्ध होती है तथा श्रौतज्ञान से अर्थात् श्रुतिगम्य अपरोक्षानुभव या ब्रह्मज्ञान से माया की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर उसकी नितान्त असत्ता या तुच्छता का बोध होता है।

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।।[५५]

इस प्रकार दोनों ग्रन्थ ही माया को त्रिगुणात्मिका, सदसदनिर्वचनीया, अनादि, जड़, आश्चर्यरूपा तथा ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हैं। अतः मायावाद अद्वैतवेदान्त का अन्यतम सिद्धान्त है, जिस सिद्धान्त के आधार पर अद्वैतवेदान्त ईश्वर, जीव तथा जगत् की व्याख्या करता है एवं अद्वैततत्त्व ब्रह्म की एकमात्र सत्ता सिद्ध होती है। ब्रह्म ही अविद्या या माया के

कारण जीव-जगत्-प्रपञ्च के रूप में प्रतीत होता है। यह माया एक ऐसी विलक्षण शक्ति है, जिसके अस्तित्व पर ही '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**' जैसे दो विरोधी वाक्यों में एकता की प्रतीति होती है, क्योंकि सत्य वस्तु होने से ब्रह्म का कभी नाश नहीं होगा एवं मिथ्या होने के कारण जगत् का कभी दर्शन नहीं होगा, किन्तु इसके विपरीत स्थूलरूप से जगत् प्रतिपल दृष्टिगोचर होता रहेगा। वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप से निरन्तर दिखाई देने वाले लता, वृक्ष, नदी आदि को मिथ्या कहना बड़ा विचित्र एवं असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु माया शक्ति के प्रभाववश ही ये विरोधी तत्त्व विरोधहीन ज्ञात होते हैं। माया का महत्त्व इसी प्रकार समझना चाहिए, जैसे लोग धन की निन्दा करते हैं, परन्तु उनके जीवन का व्यवहार धन के अभाव में नहीं चल पाता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि माया के बिना ब्रह्म का भी काम नहीं चल पाता। उसे भी जगत् तथा जीव के निर्माण के लिए माया का आश्रय लेना पड़ता है।

सन्दर्भः

१. *मुण्डकोपनिषद्, १/१/७.*

२. *ब्रह्मसूत्र, १/१/२.*

३. *तैत्तिरीयोपनिषद्, ३/१/१.*

४. *मुण्डकोपनिषद्, २/१/३.*

५. *तैत्तिरीयोपनिषद्, २/१/१.*

६. *बृहदारण्यकोपनिषद्, २/१/२०.*

७. *गीता, १०/८.*

८. *वही, ७/१०.*

९. *तैत्तिरीयोपनिषद्, २/१/१.*

१०. *वही, ३/६/१.*

११. *छान्दोग्योपनिषद्, ६/२/१.*

१२. *श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/११.*

१३. *बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/३/१५.*

१४. *तैत्तिरीयोपनिषद्, २/४/१.*

१५. *विवेकचूडामणि, २३९, आचार्य शङ्कर, सम्पा. स्वामी सदानन्द सरस्वती, शारदापीठ, विद्यासभा, द्वारका, वि. सं.२०६८*

१६. *निरालम्बोपनिषद्, उपनिषद्संग्रह से उद्धृत, पं. जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृ. २५६.*

१७. *वेदान्तसार, सदानन्द*

१८. *निरालम्बोपनिषद्।*

१९. *श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४/१०.*

२०. *विवेकचूडामणि, श्लो. ११०.*

२१. *वही, श्लो. १११.*

२२. *तैत्तिरीयोपनिषद्, २/१, शाङ्करभाष्य.*

२३. *पञ्चदशी, पञ्चकोशविवेकप्रकरण,२९,विद्यारण्यस्वामी।*

२४. *गीता, २/१६.*

२५. विवेकचूडामणि, श्लोक ११२
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/१०.
२७. गीता, ७/१४.
२८. अद्वैतसिद्धि, प्र. परिच्छेद, मधुसूदनसरस्वती, व्या. रामेश्वरदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, २००४, पृ.सं. १७.
२९. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४/५.
३०. विवेकचूडामणि, श्लोक ११५.
३१. गीता, १४/१७.
३२. विवेकचूडामणि, श्लोक १२२.
३३. पञ्चदशी, तत्त्वविवेकप्रकरण, श्लोक १५, १६.
३४. पञ्चदशी, पञ्चभूतविवेकप्रकरण, श्लोक ४७.
३५. वही, श्लोक ४८, ४९.
३६. पञ्चदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक १२५.
३७. वही, श्लोक १२९.
३८. वही, श्लोक १३०.
३९. नृ.ता.उ., ९.
४०. पञ्चदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक, १४१.
४१. पञ्चदशी, पञ्चभूतवि.प्रकरण, श्लोक ५०.
४२. वही, ५१.
४३. वही. ५४.
४४. वही, ५५.
४५. वही, श्लोक ५६, गीता, १०/४२.
४६. पञ्चदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक २१२.
४७. वही, श्लोक १५५.
४८. वही, श्लोक २६.
४९. वेदान्तसार, सदानन्द
५०. विवेकचूडामणि, श्लोक १४१.
५१. दृग्दृश्यविवेक, १३.
५२. विवेकचूडामणि, श्लोक १४५.
५३. वही, श्लोक १४६.
५४. पञ्चदशी, तत्त्ववि. प्रकरण., श्लोक १५, १६.
५५. पञ्चदशी चित्रदीपप्र., १३०.

***

साङ्ख्यदर्शन की तात्त्विक अवधारणा में तन्त्रयुक्तियों का अवदान

आशीष कुमार

भारतवर्ष में नूतन ज्ञानान्वेषण की प्राचीन एवं गौरवशाली परम्परा रही है। नित्य नवीन ज्ञान की जिज्ञासा ने भारतीय वाङ्मय को न केवल विस्तार दिया, अपितु अनेक नवीन विद्याओं एवं कलाओं के विकास द्वारा मानव के लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय के मार्ग को भी प्रशस्त किया। भारतीय मनीषा के ज्ञानार्जन के प्रति इस समर्पण तथा अविश्रान्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही ज्ञान का यह भण्डार निरन्तर परिवर्धित तथा परिपोषित होता रहा। इसी समृद्ध ज्ञानसम्पदा के कारण भारतवर्ष जगद्गुरु के पद पर विभूषित हुआ। उनकी ज्ञान-पीपासा ने ही कालान्तर में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, दर्शन, व्याकरण, धर्म, राजनीति, ज्योतिष, गणित, चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला, योगशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, नृत्य, संगीत, अश्वविद्या, हस्तिविद्या, वाणिज्य आदि जीवन के विविध क्षेत्रों से जुड़ी ज्ञान की अनेक शाखाओं को जन्म दिया। प्रायशः ही कोई ऐसा विषय रहा हो जिस पर संस्कृत में न लिखा गया हो। संस्कृत वाङ्मय की इस महान् ज्ञान-राशि के अवलोकन से अनायास ही मन में प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्राचीन मनीषियों ने किन प्रविधियों तथा मानदण्डों का प्रयोग कर इन विद्याओं से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया? क्योंकि बिना किसी वैज्ञानिक दृष्टि एवं तकनीक के इतने उच्च बौद्धिक स्तर के ग्रन्थों का निर्माण सम्भव नहीं है।

इन प्रश्नों के उत्तर के अन्वेषण-क्रम में हमें कुछ ऐसी युक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका प्रयोग प्राचीन आचार्य ग्रन्थरचना एवं शास्त्र-निर्माण में मानक के रूप में किया करते थे। इस प्रकार की युक्तियों का उल्लेख पाणिनि-अष्टाध्यायी, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, सुश्रुतसंहिता, चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय तथा युक्तिदीपिका आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आचार्यों ने शास्त्ररचना की इन प्रविधियों को ही 'तन्त्रयुक्ति' नाम दिया है। यह 'तन्त्रयुक्ति' शब्द दो पदों 'तन्त्र' तथा 'युक्ति' से मिलकर बना है।

तन्त्र पद की व्युत्पत्ति 'तन् विस्तारे' धातु से हुई है, जिसका अर्थ शास्त्र अथवा ग्रन्थ है। कहा भी गया है–

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।[१]

अर्थात् जो अनेक अर्थों को विस्तारपूर्वक प्रकट करता है, उनकी व्याख्या एवं रक्षा करता है वह 'तन्त्र' है। पुनः युक्ति पद 'युज् योजने' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ जोड़ना, प्रयोग, नियोजन, प्रणाली, तकनीक और तर्कणा है। इस प्रकार तन्त्रयुक्ति का अर्थ हुआ जो शास्त्र रचना का उपायभूत तत्त्व है, जिसके बिना शास्त्ररचना सम्भव नहीं है वह 'तन्त्रयुक्ति' है। तन्त्रयुक्तियों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए चरकसंहिता में कहा गया है–

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः।।[२]

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य कमल के पुष्प को विकसित करता है अथवा जिस प्रकार दीपक अंधेरे कमरे को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्रों के अर्थ को प्रकाशित कर देती हैं। इन्हें जाननेवाला व्यक्ति एक ही शास्त्र को जानता हुआ भी अन्य शास्त्रों को सरलतापूर्वक जान लेता है। तन्त्रयुक्तियों का प्रयोजन बताते हुए सुश्रुत-संहिता में कहा गया है–

अत्रासां तन्त्रयुक्तीनां किं प्रयोजनम्? उच्यते- वाक्ययोजनमर्थयोजनं च।
असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः।।[३]

अर्थात् वाक्य-योजना तथा अर्थ-योजना तन्त्रयुक्तियों के दो प्रमुख प्रयोजन हैं। साथ ही प्रतिवादी के मत का खण्डन तथा अपने मत का स्थापन भी तन्त्रयुक्तियों के कार्य हैं।

यद्यपि शास्त्ररचना में तन्त्रयुक्तियों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है, तथापि संस्कृत साहित्य में इनके विषय में पृथक् रूप से बहुत ही कम सामग्री प्राप्त होती है। कतिपय ग्रन्थों में इनका नामोल्लेख तथा विवरण प्राप्त होता है। विभिन्न ग्रन्थों में इनकी संख्या भी पृथक्-पृथक् प्राप्त होती है। सर्वप्रथम पाणिनि-अष्टाध्यायी में हमें २८ प्रकार की तन्त्रयुक्तियों का विवरण मिलता है। तदनन्तर कौटिलीय अर्थशास्त्र, सुश्रुतसंहिता एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ३२, चरकसंहिता में ३६ तन्त्रयुक्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त वाग्भट्टकृत 'अष्टाङ्गहृदयम्', नीलमेघकृत 'तन्त्रयुक्तिविचार' नामक ग्रन्थों में भी तन्त्रयुक्तियों के विषय में सूचना प्राप्त होती है। अब तक ३९ तन्त्रयुक्तियों का विवरण प्राप्त हुआ है–

१. अतिक्रान्तावेक्षण, २. अतिदेश, ३. अधिकरण, ४. अनागतावेक्षण, ५. अनुमत, ६. अपदेश, ७. अपवर्ग, ८. अर्थापत्ति, ९. उत्तरपक्ष, १०. उद्देश्य, ११. उद्धार, १२. उपदेश, १३. उपमान, १४. उह्य, १५. एकान्त, १६. दृष्टान्त, १७. निदर्शन, १८. नियोग, १९. निर्णय, २०. निर्देश, २१. निर्वचन, २२. नैकान्त, २३.पदार्थ, २४. पूर्वपक्ष, २५. प्रत्युत्सार, २६. प्रदेश, २७. प्रयोजन, २८. प्रसङ्ग, २९. योग, ३०. वाक्यशेष, ३१. विकल्प, ३२. विधान, ३३. विपर्यय, ३४. व्याख्यान, ३५. संशय, ३६. समुच्चय, ३७. सम्भव, ३८. स्वसंज्ञा, ३९. हेत्वर्थ।

उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों में से चतुर्दश तन्त्रयुक्तियों का नाम्ना उल्लेख साङ्ख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में प्राप्त होता है। यह चतुर्दश तन्त्रयुक्तियाँ साङ्ख्यशास्त्र के तात्त्विक अवबोध में समर्थ हैं, तथापि ग्रन्थकार अन्य तन्त्रयुक्तियों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं तथा इसे सम्पूर्ण तन्त्रगुणों से युक्त शास्त्र कहते हैं–

'इत्येवमन्या अपि तन्त्रयुक्तयः शक्या इह प्रदर्शयितुम्।...सिद्धं तन्त्रयुक्तीनां सम्बन्धोपपत्तेस्तन्त्रमिदमिति'।[४]

ये तन्त्रयुक्तियाँ अधोलिखित हैं–

१. सूत्र, २. प्रमाण, ३. अवयव, ४. अन्यूनता, ५. संशय, ६. निर्णय, ७. उद्देश्य, ८. निर्देश, ९.अनुक्रम, १०. संज्ञा, ११. अतिदेश, १२. उत्सर्ग, १३. अपवाद, १४. उपदेश।

सूत्रप्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्तिः।
उद्देश्यनिर्देशमनुक्रमश्च संज्ञोपदेशाविह तन्त्रसम्पत्।।[५]

अन्य साङ्ख्य-ग्रन्थों में भी विविध तन्त्रयुक्तियों के विवरण तथा उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से साङ्ख्य स्वतन्त्र तन्त्र हैं। आचार्य ईश्वरकृष्ण भी साङ्ख्यकारिका में इसे अनेक तन्त्रों द्वारा प्रसारित शास्त्र कहते हैं–

एतत् पवित्रमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्।।[६]

१. सूत्र- सूत्र का अन्य परम्परागत तन्त्रयुक्तियों के साथ उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। यह युक्तिदीपिका में प्रथमतः दृष्टिगत होती है। सूत्र का लक्षण करते हुए यहाँ कहा गया है कि जो अत्यन्त अल्प अक्षरवाला, असन्दिग्ध, सारगर्भित तथा व्यापक अर्थवाला पुनरुक्ति से रहित निर्दोष हो वह 'सूत्र' है। ऐसी प्रसिद्धि भी है–

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।[७]

पुनश्च जो सूचित करे वह सूत्र है। यथा– भेदानां परिमाणात[८] अथवा कारणमस्त्यव्यक्तम्[९] इत्यादि। प्राचीन काल में सूत्र-शैली अत्यन्त लोकप्रिय थी। विविध दार्शनिक प्रस्थानों के मौलिक ग्रन्थ सूत्र-शैली में ही प्राप्त होते हैं। साङ्ख्यसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमांसासूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि सूत्रग्रन्थ षड्दर्शनों के आधारभूत हैं।

युक्तिदीपिका में भी साङ्ख्यकारिका की व्याख्या करते हुए इसकी कारिकाओं को सूत्र रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः कारिकाकार ने एक ही कारिका में अनेक सूत्रों को पिरो कर अत्यन्त सङ्क्षेप में साङ्ख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

२. प्रमाण- यथार्थ ज्ञान के साधन को ही प्रमाण कहा गया है– 'प्रमाकरणम् प्रमाणम्'।[१०] 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थक 'ल्युट' प्रत्यय होने से प्रमाण शब्द निष्पन्न हुआ है। 'प्र' से युक्त 'मा' धातु का अर्थ हुआ 'प्रकृष्ट ज्ञान' अथवा 'यथार्थ ज्ञान'। इस प्रकार प्रमाण शब्द का अर्थ हुआ 'सम्यक् ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान का साधन' और यही इसका व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ है।[११] किसी भी विषय के यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण आवश्यक हैं। प्रमाणों के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। शास्त्रावबोध के लिए भी प्रमाणों की महती आश्यकता है। इसी कारण तन्त्रयुक्तियों में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

साङ्ख्याचार्यों ने विवेक-लाभ के लिए प्रमाणों को साक्षात् उपाय माना है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी साङ्ख्यकारिका की चौथी कारिका में प्रमाणों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए दृष्ट, अनुमान तथा आप्तवचन रूप त्रिविध प्रमाणों का उपन्यास किया है–

'दृष्टानुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाण सिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।[१२]

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। विषय के साथ सम्बद्ध होकर उसके आकार को ग्रहण करनेवाली बुद्धिवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसे ही आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं'[१३] सूत्र से कहा है। इसे स्पष्ट करते हुए वाचस्पतिमिश्र का कथन है कि जब विषयों का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के माध्यम से विषयों को प्राप्तकर विषयाकाराकारित हुइं अन्तःकरणवृत्ति के अनन्तर सत्त्वगुण की प्रबलता से रज और तमोगुण से रहित जो प्रकाशस्वरूप उत्पन्न होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है–

'उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्याम् बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते।'[१४]

व्याप्य वस्तु को देखकर व्यापक का ज्ञान अनुमिति है और इसका करण ही अनुमान प्रमाण है। जैसे– धूम तथा वह्नि के साहचर्य में धूम व्याप्य है तथा वह्नि व्यापक। इस प्रकार साहचर्य सम्बन्ध को जाननेवाला व्यक्ति जब किसी स्थल पर व्याप्य धूम को देखता है तब वहाँ उसे व्यापक अग्नि के होने का ज्ञान हो जाता है। यही अनुमिति प्रमा है तथा व्याप्य-व्यापक के मध्य व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान इसमें हेतु होने से अनुमान प्रमाण है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्'[१५] यह अनुमान प्रमाण का लक्षण कहा है। यहाँ लिङ्ग का तात्पर्य व्याप्य से तथा लिङ्गि का व्यापक से है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र यहाँ लिङ्गि पद की पुनरुक्ति मानते हुए इसका अर्थ लिङ्ग से युक्त पक्ष करते हैं। साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी में उन्होंने लिखा है–

'लिङ्गिग्रहणं चावर्तनीयम्। तेन च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति। तद्व्याप्य-व्यापकभावपक्ष धर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यं लक्षितम्।'[१६]

भ्रम, संशय आदि दोषों से रहित यथार्थवक्ता द्वारा कहे गए वाक्य को ही आप्तप्रमाण कहा गया है। आचार्य ईश्वरकृष्ण ने आप्तप्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है– 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु'।[१७] यहाँ आप्त शब्द के द्वारा भ्रम, संशय, भय तथा लोभादि से रहित यथार्थवक्ता को कहा गया है। ऐसे यथार्थवक्ता के द्वारा कहा गया वाक्य ही शब्दप्रमाण है। यथा– आदिविद्वान महर्षि कपिल के द्वारा कल्प–कल्पान्तरों में अनुभूत तथा उपदिष्ट ज्ञान सम्पूर्ण पुरुषगत दोषों से रहित होने से आप्तवचन प्रमाण है। अपौरुषेय होने से वेद सकल पौरुषेय दोषों से रहित हैं, अतः उनका स्वतः प्रामाण्य सिद्ध है। इसलिए वेद–वाक्यार्थजनित ज्ञान भी आप्तप्रमाण है। इसी प्रकार स्मृति, पुराणादि भी वेदमूलक होने से शब्दप्रमाण ही हैं। आचार्य वाचस्पतिमिश्र इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं–

'आपौरुषेय वेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तत्वेन युक्तं भवति। एवं वेदमूल-स्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति। आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तरा-धीतश्रुतिस्मरणसम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः।'[१८]

३. अवयव– दार्शनिक जगत् में अवयव का तात्पर्य परार्थानुमान को व्यक्त करने वाले प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन वाक्यों से लिया जाता है। न्यायशास्त्रीय परम्परा में पञ्चावयव अनुमान को स्वीकार किया गया है, जबकि साङ्ख्यशास्त्रीय परम्परा में दो, तीन, पाँच तथा दस अवयवों का उल्लेख मिलता है।[१९] युक्तिदीपिका में अनुमान के दस अवयवों का वर्णन प्राप्त होता है। जब व्यक्ति स्वबुद्धिगत ज्ञान को दूसरे के प्रति प्रेषित करना चाहता है तो वह दशावयव वाक्य की परिकल्पना करता है। ये अवयव हैं– जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति तथा संशयव्युदास; ये पाँच अनुमान के व्याख्याङ्ग हैं एवं प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार तथा निगमन प्रतिपादनाङ्ग हैं–

'तस्य पुनरवयवाः जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम्।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गमिति।'[२०]

यद्यपि साङ्ख्यकारिका में अवयवों का कथन नहीं किया गया है। तथापि युक्तिदीपिकार यहाँ उनकी उपपत्ति दिखाने में कोई दोष नहीं मानते हैं, क्योंकि इन अवयवों का अनुमान कुछ लिङ्गों के द्वारा सरलतापूर्वक हो जाता है। यथा 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ'[२१] सूत्र से जिज्ञासा तथा प्रयोजन रूप हेतु का कथन किया गया है। तथाहि 'कारणमस्त्यव्यक्तम्'[२२] प्रतिज्ञा है, 'भेदानां परिमाणात्'[२३] हेतु है, 'नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्'[२४] दृष्टान्त, 'क्षीरस्य यथा तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य'[२५] उपनय एवं 'तस्मात् त्रिविधं करणम् द्वारि'[२६] निगमन रूप अवयव हैं। इस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में अवयवों का पृथक् रूप से प्रतिपादन न करके सामान्य रूप से ही इनका कथन किया है। पुनश्च यह मान्यता भी है कि प्रधान का उपदेश कर देने पर गुणभूत तत्त्वों का उन्हीं में अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है।

४. अन्यूनता– 'अन्यूनता। पदार्थकात्स्न्र्यमशेषताऽन्यूनतेत्यभिधीयते।'[२७] पदार्थों का समग्रता से प्रतिपादन करना ही अन्यूनता है। साङ्ख्यकारिका में परमर्षि कपिल–प्रणीत साङ्ख्यसिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। षष्टितन्त्र में ६० पदार्थों का वर्णन है जिनका ईश्वरकृष्ण ने भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इनमें दस चूलिकार्थ (मौलिक पदार्थ)– प्रधान का अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्ता, अन्यता, पारार्थ्य, पुरुष–बहुत्व, वियोग, योग, शेषवृत्ति तथा अकर्तृत्व के साथ–साथ पचास प्रत्यय पदार्थ– पञ्च विपर्यय, अष्ट सिद्धि, नवधा तुष्टि और अट्ठाईस अशक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। प्रधान के अस्तित्व एवं एकत्व की सिद्धि पाँच अनुमानों से होती है–

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ।।[२८]

कार्यकारण भाव ही अर्थवत्त्व है। सभी सङ्घात परार्थ होने से पारार्थ्य भी सिद्ध है। प्रकृति-पुरुष का अन्यत्व ही पारार्थ्य का प्रतिपादक है। इस प्रकार पारार्थ्य और अन्यत्व दोनों की सिद्धि होती है। 'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्'[२९] सूत्र से पुरुष के बहुत्व का प्रतिपादन किया गया है। प्रकृति-पुरुष के संयोग तथा वियोग, पुरुष की शेषवृत्ति तथा अकर्तृत्व का प्रतिपादन यहाँ मुख्यतः वर्णित है। इस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में षष्ठि पदार्थों की उपपत्ति का समग्रता से वर्णन होने से यह अन्यूनता नामक तन्त्रयुक्ति से भी युक्त है।

५. संशय- एक ही पदार्थ में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का अनिश्चयात्मक ज्ञान ही संशय है। 'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः'।[३०] युक्तिदीपिका में सामान्य कथन को संशय कहा गया है- 'सामान्याभिधानं संशयः'[३१] यथा 'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च'[३२] कहने से महदादि कार्य किस प्रकार प्रकृति के सरूप हैं और किस प्रकार इससे भिन्न स्वरूपवाले हैं? ऐसा संशय होता है। शास्त्ररचना में इस प्रकार की युक्तियाँ दो विरोधी धर्मों को समझाने के लिए प्रयुक्त होती हैं।

६. निर्णय- संशय का निराकरण कर एक निश्चित अर्थ का निर्धारण ही निर्णय है। 'निर्णयोऽवधारणज्ञानम्'।[३३] युक्तिदीपिका में विशेष कथन को निर्णय कहा गया है- 'विशेषाभिधानं निर्णयः'[३४] जैसे 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्'[३५] कारिका द्वारा महदादि विकारों की प्रकृति से वैरूप्य का तथा 'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि'[३६] कारिका द्वारा महदादि का प्रकृति के साथ सारूप्य का कथन किया गया है। पुनश्च ३८वीं कारिका में पञ्चमहाभूतों को शान्त, घोर और मूढ़ रूप विशेष तथा पञ्चतन्मात्रों को अविशेष कहा गया है-

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्चभ्यः।
एतेस्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च।[३७]

इस प्रकार निर्णय रूप तन्त्रयुक्ति के द्वारा आक्षेपों का निराकरण एवं सन्देहों का निवारण कर निश्चयात्मक निष्कर्ष दिया जाता है, जो शास्त्र की स्थापना का प्रमुख लक्ष्य है।

७. उद्देश्य- प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त कथन उद्देश्य कहलाता है- 'सङ्क्षेपवचनमुद्देशः'[३८] । शास्त्र प्रतिपादन में उद्देश्य-कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। साङ्ख्यकारिका में 'एष प्रत्यय सर्गो विपर्यया-शक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः'[३९] कारिका के द्वारा शास्त्रप्रतिपादित पञ्चाशत् पदार्थों का सङ्क्षिप्त कथन मात्र किया गया है। यहाँ उनके स्वरूप तथा भेदों का वर्णन नहीं किया गया है। इस प्रकार उद्देश्य नामक तन्त्रयुक्ति के द्वारा अध्येता में शास्त्रविषयक जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

८. निर्देश- शास्त्र के विवेच्य विषय अर्थात् उद्देश्य का विस्तृत विवेचन निर्देश कहलाता है- 'विस्तरवचनं निर्देशः।'[४०] साङ्ख्यशास्त्र में प्रतिपाद्य पदार्थों का सङ्क्षिप्त कथन कर पुनः उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। जैसे साङ्ख्यकारिका में विपर्यय आदि पञ्चाशत् पदार्थों का सङ्क्षेप में उल्लेख कर पुनः इनके भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है-

'पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।'
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः।[४१]

९. अनुक्रम- शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का क्रमानुसार निर्देश करना ही अनुक्रम है- 'अनुक्रमश्च। पदार्थानामानुपूर्व्या सन्निवेशोपदेशोऽनुक्रमः'।[४२] यथा प्रकृति के विकारों के विवेचन क्रम में ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति से महद्, महद् से अहङ्कार, अहङ्कार से एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का क्रमानुसार वर्णन किया है-

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।।[४३]

इसी प्रकार साङ्ख्यसूत्रों में भी विषय प्रतिपादन में अनुक्रम का सम्यक् परिपालन किया गया है। क्रम से तत्त्वों का विवेचन विषय को स्पष्ट तथा सुसंगत बनाता है। अतः अनुक्रम भी शास्त्ररचना का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। साङ्ख्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यह गुण भी पर्याप्त दृष्टिगत होता है।

१०. संज्ञा– जिसके द्वारा प्रतिपाद्य की प्रतीति करायी जाए वह संज्ञा है। संज्ञा के दो प्रकार हैं– अर्थनिबन्धना तथा स्वरूपनिबन्धना–

'संज्ञोपदेशौ संज्ञिप्रत्यायनार्थः शब्दः संज्ञा। सा च द्विविधा– अर्थनिबन्धना स्वरूपनिबन्धना च।'[८४]

जहाँ किसी प्रयोजन को लक्ष्य कर अर्थक्रिया की अपेक्षा होती है, वहाँ अर्थनिबन्धना संज्ञा होती है, यथा– पाचक-पकानेवाला, लावक– काटनेवाला आदि। जो संज्ञी की प्रतीति का उपायमात्र हो वह स्वरूपनिबन्धना संज्ञा कहलाती है। यह स्वरूपमात्र को बताने में उपयोगी होती हुई अवयवार्थ से रहित संज्ञी की प्रतीति कराने में समर्थ होती है, यथा– गजकर्ण, अश्वकर्ण आदि। परमर्षि कपिल ने प्रयत्नपूर्वक प्रधान आदि का स्वरूप जानकर इनकी संज्ञाओं का प्रतिपादन किया है। यथा–जो समस्त विकारों का अधिष्ठान है, वह प्रधान है अथवा जो सूक्ष्मशरीर में शयन करे वह पुरुष है, इत्यादि संज्ञाएँ अर्थ पूर्ण होने से अर्थनिबन्धना संज्ञा ही हैं। इस प्रकार साङ्ख्यशास्त्र में संज्ञा नामक तन्त्रयुक्ति भी स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है।

११. उपदेश– इतिकर्तव्यता के फल का कथन ही उपदेश है। 'इतिकर्त्तव्यताफलसमाख्यानमुपदेशः।'[८५] तात्पर्य यह है कि कोई कार्य किस प्रकार किया जाए, उसकी कार्यविधि तथा उसके फल का प्रतिपादन ही उपदेश है। साङ्ख्यशास्त्र में तत्त्वाभ्यास को ही विवेकख्याति का साधन कहा गया है– 'तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः।'[८६] साङ्ख्यकारिका में भी तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा कैवल्यज्ञान के अभ्युदय रूप फल का प्रतिपादन किया गया है। यथा–

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।[८७]

एवम् साङ्ख्यकारिका में उपदेश रूप तन्त्रगुण के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

१२. उत्सर्ग– सामान्य नियमों को उत्सर्ग कहते हैं। जैसे– 'महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च।'[८८] यहाँ महदादि प्रकृति के विकार प्रधान से भिन्न रूप वाले हैं; इस सामान्य नियम का प्रतिपादन करने वाला वाक्य उत्सर्ग है। इसी प्रकार 'तद्विपरीतस्था च पुमान्;'[८९] इस वाक्य में पुरुष उससे भिन्न (तद्विपरीतः) है, यह भी उत्सर्ग का ही उदाहरण है।

१३. अपवाद– सामान्य नियमों में जो व्यतिक्रम होता है, उनका प्रतिपादक वाक्य अपवाद कहा जाता है। उपर्युक्त दोनों ही कारिकाओं में उत्सर्ग के साथ-साथ अपवाद के भी उदाहरण दिखलाई देते हैं। यथा– 'प्रकृतिसरूपं' एवं 'तथा च पुमान्' यह अपवाद के उदाहरण हैं। उत्सर्ग तथा अपवाद नामक युक्तियों का प्रयोग एक साथ ही किया जाता है। इससे परस्पर विरोधी धर्मों वाले तत्त्वों के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है तथा किसी प्रकार के संशय का प्रसङ्ग नहीं हो पाता है।

१४. अतिदेश– किसी पदार्थ के गुणों की साम्यता अन्य पदार्थ के साथ दिखाना ही अतिदेश है। तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ के लक्षण का कथन कर अन्य पदार्थों को उसके सदृश कहना ही अतिदेश नामक तन्त्रगुण है। उदाहरण के लिए ११वीं कारिका में ही प्रकृति के स्वरूप का कथन कर इसके सदृश व्यक्त तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है–

'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं यथा प्रधानं तद्विरीतस्तथा च पुमान् ।।'[९०]

एवञ्च उपर्युक्त चतुर्दश तन्त्रयुक्तियाँ साङ्ख्यशास्त्र का तात्त्विक अवबोध कराने में समर्थ हैं। यद्यपि अन्य तन्त्रगुणों यथा– अधिकरण, अनागतावेक्षण, अनुमत, अपदेश, अपवर्ग, उद्धार, एकान्त, दृष्टान्त, नियोग, पूर्वपक्ष, प्रदेश, प्रयोजन, प्रसङ्ग, योग, विधान,

व्याख्यान, सम्भव आदि के उदाहरण भी यहाँ देखे जा सकते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण तन्त्रगुणों से युक्त होने के कारण साङ्ख्यशास्त्र एक स्वतन्त्र तन्त्र ही है।

सन्दर्भ:

१. लेले. डब्ल्यू. के., द डॉक्ट्रिन ऑफ तन्त्रयुक्तिज, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी. १९८१
२. चरकसंहिता भाग-२, पृ. १०३१
३. सुश्रुतसंहिता, पृ. ८५८
४. पाण्डेय, रामचन्द्र, (सम्पा.) युक्तिदीपिका, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृं. ५, १९६७
५. वही. पृ. २
६. ईश्वरकृष्ण, साङ्ख्यकारिका, चौखम्भा संस्कृतसीरीज ऑफिस, वाराणसी, का. ७०, १९७७
७. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका १/१/२
८. वही, का.१५
९. वही, का.१६
१०. केशवमिश्र, (बद्रीनाथ शुक्ल-व्या.), तर्कभाषा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, २००४
११. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश
१२. साङ्ख्यकारिका. का. ४
१३. वही. का. ५
१४. वाचस्पतिमिश्र (गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर- व्या.), साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, का.५,२००५
१५. साङ्ख्यकारिका, का. ५
१६. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, का. ५
१७. साङ्ख्यकारिका, का. ५
१८. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, का. ५
१९. ईश्वरकृष्ण, साङ्ख्यकारिका (माठरवृत्ति), चौखम्भा संस्कृतसीरीज ऑफिस, वाराणसी, का. ५, (१९७७).
२०. युक्तिदीपिका, पृ.सं. ४१
२१. साङ्ख्यकारिका, का. १
२२. वही, का. १६
२३. वही, का,१५
२४. वही, का. ४२
२५. वही, का, ५७
२६. वही, का, ३५
२७. युक्तिदीपिका, पृ. सं. ४
२८. साङ्ख्यकारिका, का. १५
२९. कपिल, साङ्ख्यसूत्रम्, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी : १/१४५, १९९३

३०. तर्कभाषा, पृ. ३३४
३१. युक्तिदीपिका, पृ.सं. ४
३२. साङ्ख्यकारिका. का. ८
३३. तर्कभाषा. पृ. ३४४
३४. युक्तिदीपिका. पृ. ४
३५. साङ्ख्यकारिका, का. १०
३६. वही, का. ११
३७. वही, ३८
३८. युक्तिदीपिका, पृ. सं. ४
३९. साङ्ख्यकारिका, का,.४६
४०. युक्तिदीपिका, पृ.सं. ५
४१. साङ्ख्यकारिका, का. ४७
४२. युक्तिदीपिका, पृ. सं. ५
४३. साङ्ख्यकारिका, का. २२
४४. युक्तिदीपिका, पृ. सं. ५
४५. वही. पृ. सं. ५
४६. सां. सू. ३/७५
४७. साङ्ख्यकारिका, का. ६४
४८. वही, का. ८
४९. वही, का. ११
५०. वही, का. ११

***

इन्द्रियों का स्वरूप और उनका द्वारिभाव

रामनारायण मिश्र

ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया एवं ज्ञान का स्वरूप इस तथ्य पर आधारित है कि ज्ञान किस माध्यम से प्राप्त हुआ है। भारतीय दर्शन में इन्द्रियों को बाह्य संसार में प्रवेश का द्वार माना गया है। अतः ज्ञान के स्वरूप एवं उनकी प्रामाणिकता इन्द्रियों द्वारा ही निर्धारित होती है और यही कार्य-प्रवृत्ति के हेतु हैं। इन्द्रियों के स्वरूप पर विचार करने के सन्दर्भ में इन्द्रियाँ भौतिक हैं या अभौतिक, नित्य हैं या अनित्य, सूक्ष्म हैं या स्थूल, एक हैं या अनेक जैसे तथ्यों को स्पष्ट करना जरूरी है। इन्द्रियों के स्वरूप की विवेचना करने से इन्द्रियों के अधिष्ठान एवं इनके विषय तथा ज्ञान-प्राप्ति में इनकी भूमिका का भी अध्ययन किया जा सकता है।

इन्द्रिय के विषय में कुछ सामान्य बातें इस प्रकार हैं। इन्द्रियाँ प्रमेय अर्थात् प्रमाण के विषय हैं। इन्हें जाना जा सकता है एवं इनका बोध भी कराया जा सकता है। ये शरीर-संयुक्त हैं। शरीर में अपने अधिष्ठानों में स्थित रहकर ही अर्थ में प्रवृत्त होती हैं। इन्द्रियों का ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से अनुमान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस मत से सहमत (चार्वाक दर्शन को छोड़कर) सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शन हैं।

'इन्द्र' शब्द से 'घ' अथवा 'इय' प्रत्यय द्वारा इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। इसके लिए पाणिनि की निम्न प्रकार से व्याख्या मिलती है-

इन्द्रियमिन्द्रिलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्र सृष्ट-मिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।[1]

अर्थात् इन्द्रिय वह पदार्थ है जो इन्द्र का लिङ्ग अथवा इन्द्र द्वारा दृष्ट, सृष्ट, जुष्ट या दत्त हो। व्याख्या के अनुसार इन्द्र आत्मा है जिसके ज्ञापक हेतु रूप लिङ्ग को इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि करण से कर्ता का अनुमान होता है और कर्ता आत्मा का कारण इन्द्रिय है। पाणिनिसूत्र में 'वा' शब्द सूचित करता है कि परम्परा में इन्द्रिय शब्द का कोई एक ही निश्चित अर्थ नहीं रहा है। 'इन्द्रलिङ्ग' अर्थ पर प्रायः सभी का बल रहा है, क्योंकि उसी से दार्शनिक प्रस्थानों में प्रचलित इन्द्रिय का अर्थ सम्बद्ध है।

इन्द्र शब्द के आधार पर 'इन्द्रिय' की यथापेक्ष व्याख्या के अनन्तर 'लिङ्ग' शब्द के अर्थ पर विचार अपेक्षित है। कारण में लीन होने वाले कार्य को 'लिङ्ग' कहते हैं। जैसे बुद्धि से तन्मात्रपर्यन्त सृष्टि को सांख्य में 'लिङ्ग' कहा गया है। इस प्रकार इन्द्र के कार्यरूप लिङ्ग को इन्द्रिय कहना सार्थक है। ज्ञापक कारण को अनुमान के सन्दर्भ में लिङ्ग कहा जाता है और इन्द्रियरूप लिङ्ग से अनुमित मन, प्राण अथवा आत्मा को इन्द्र कहा जा सकता है। कर्म और ज्ञान को इन्द्र मानने पर उनके साधनरूप लिङ्ग को कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय कहा जायेगा। एक उल्लेख के अनुसार जन्म लेते समय ब्राह्मण सात इन्द्रियों के लक्षणों से युक्त रहता है- ब्रह्मवर्चस, यश, स्वप्न, क्रोध, श्लाघा, रूप तथा पुण्यगन्ध।[2] इस प्रकार 'इन्द्रिय' शब्द अनेकार्थक रहा है।

उपनिषदों में इन्द्रिय शब्द प्रायः ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। कठोपनिषद् के अनुसार शरीर, इन्द्रिय तथा मन से युक्त चैतन्य या चेतन को भोक्ता कहते हैं। यहाँ तीन भोग साधन निर्दिष्ट हैं-भोगायतन शरीररूप आत्मा, भोगों के

करण रूप इन्द्रिय और सबका नियामक मन।[3] इस सन्दर्भ में 'इन्द्रिय' से ज्ञानेन्द्रिय का बोध लिया जाता है।

यद्यपि 'इन्द्रिय' नाम से विभक्त करके प्राचीन उपनिषदों में व्याख्या नहीं मिलती, तथापि बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राण के साथ इन्द्रियों की व्यवस्था दी गई है।[4] इसके अनुसार वाक्ग्रह है क्योंकि वह पुरुष को अपने द्वारा बद्ध रखती है। परन्तु उससे बढ़कर अतिग्रह 'शब्द' है जो वाक् को जकड़ कर रखता है। इसका कारण यह है कि इसी से वाक् से नाम का उच्चारण किया जाता है। जिह्वा, चक्षु और श्रोत्र ग्रह क्रमशः रस, रूप और शब्द अतिग्रहों से ग्रहीत है क्योंकि उनके द्वारा उनका विज्ञान, दर्शन और श्रवण होता है।[5] मनोरूप ग्रह अपने अतिग्राह काम से गृहीत होकर कामना करते हैं। दोनों हाथ एक ग्रह हैं जो कर्मरूप अतिग्राह से गृहीत होकर कर्म करता है। उक्त रीति से त्वक् सभी प्रकार के स्पर्शों का वेदन करती है। इन्द्रिय शब्द के स्थान पर 'ग्रह' महत्त्वपूर्ण है। यह ज्ञान और कर्म दोनों का अर्थ देता है। प्रचलित छह ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त प्राणी कर्मेन्द्रिय को ग्रहणधर्मा होने के कारण लिया गया है। 'कर्म' शब्द द्वारा हस्तों को कर्मेन्द्रिय का पद दिया गया है। परन्तु इस सन्दर्भ में अन्य कर्मेन्द्रिय नहीं लिए गए हैं क्योंकि वे ग्रह वर्ग में नहीं आते। प्रश्नोपनिषद् के अक्षर आत्मा के वर्णन प्रकरण में पाँच भूतों और भूतमात्राओं या तन्मात्राओं के परिगणन के अनन्तर बाह्य तथा आभ्यन्तर करणों के साथ तेज तथा प्राण को लिया गया है। अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन, त्वक्, वाक्, पाणि, उपस्थ, पायु, पाद, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, तेज और प्राण के क्रमशः विषय हैं-द्रष्टव्य, श्रोतव्य, घ्रातव्य, रसयितव्य, स्पर्शयितत्व, वक्तव्य, विद्योतयितव्य और धारयित्व।[6]

प्रथम पंचक के विषयों के नामों से उनके ज्ञानरूप कार्य का विवरण मिल जाता है। दर्शन, श्रवण, गन्ध ग्रहण, रस ग्रहण और स्पर्श ग्रहण। परन्तु इन कार्यों का उल्लेख न होने से अनुमान होता है कि ऋषि की दृष्टि में अन्तःकरण तेज और प्राण की क्रियाओं के बिना ये पाँच अपने-अपने विषयों से अलग रहते हैं। इसलिए युग्मों में उनका पृथक् परिगणन है। चार अन्तःकरणों का एक साथ विषयों के साथ ग्रहण है परन्तु प्राण द्वारा विधारण के बिना वे भी निष्क्रिय हैं। तेज का परिगणन इसलिए है कि उक्त सभी के विद्योतन से ही उन चौदहों में क्रिया घटित हो जाती है। परन्तु तेज भी प्राण द्वारा विधारण की अपेक्षा करता है।

अन्त में ग्रहण सूचित करता है कि प्राण उक्त पन्द्रहों का धारक है जिसके द्वारा वे सब विधारयितव्य हैं परन्तु उसकी विधारणा क्रिया भी अन्य सापेक्ष है। अतएव आगे कहा गया है-विज्ञानात्मा पुरुषदर्शन, स्पर्शन, श्रवण, घ्राण, मनन और बोध का आश्रय एवं कर्ता है। यहाँ 'कर्ता' से कर्मेन्द्रियों, प्रथम पांच से ज्ञानेन्द्रियों और शेष से अन्तःकरण का अधिष्ठान बताया गया है। वहीं प्राणों का अधिष्ठान है जिस पर अधिष्ठित होकर वे विधारणा करते हैं। ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम खण्ड में विराट् के मुख से वाक् तथा वाक् से अग्नि, नासिका से प्राण तथा प्राण से वायु, पक्षियों से चक्षु तथा चक्षु से आदित्य, कर्णों से श्रोत्र तथा श्रोत्र से दिशा, त्वक् से लोभ तथा लोभ से औषधि एवं वनस्पति, हृदय से मन तथा मन से चन्द्रमा, नाभि से अपान या पायु तथा पायु से मृत्यु और शिश्न से रेतस् तथा रेतस् से अप् की उत्पत्ति हुई है। पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई है। उक्त अग्नि आदि समष्टि में देवता हैं जो व्यष्टि में इन्द्रिय रूप लेते हैं। वे सब व्यष्टिगत इन्द्रियों के अधिष्ठाता कहे गए हैं। व्यष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है-समष्टि स्थित देवताओं-अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, औषधि-वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु और अप् ने व्यष्टि पुरुष के शरीरस्थ मुख, नासिका, अक्षि, कर्ण, त्वक्, हृदय, नाभि और रेतस् होकर प्रवेश कर गयीं।[7] समष्टि पुरुष के इन्द्रियों से देवताओं और देवताओं से व्यष्टि पुरुष के इन्द्रियों की व्यवस्था है। यहाँ भी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का रूढ़ विभाजन नहीं देखा जाता है। मैत्रायणी उपनिषद् में कहा गया है- पुरुष के शरीर में बुद्धीन्द्रिय रस्सी, कर्मेन्द्रिय अश्व हैं और मन नियन्ता है। यहाँ मन को इन्द्रियों से पृथक् उनका नियामक माना गया है। इसी से सम्बन्धित एकादश रूद्रों की व्याख्या में कहा गया है- दस प्राण तथा ग्यारहवाँ आत्मा रूद्र हैं। यहाँ प्राणाधारित इन्द्रियों को प्राण कहा गया है किन्तु मन को 'आत्मा' से लिया जाय तो उसे प्राणों से बहिर्भूत रखा गया है। गीता में भी 'इन्द्रिय' शब्द से ज्ञानेन्द्रिय अर्थ लेने की प्रधानता प्रकट होती है। यहाँ दस इन्द्रिय और एक मन कहकर पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय उल्लिखित हैं। यहाँ भी स्पष्ट नहीं है कि मन को इन्द्रिय माना गया है अथवा नहीं। 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' के दो अर्थ लिया जा सकता है-मैं इन्द्रियों का नियामक मन हूँ, अथवा इन्द्रियों में

श्रेष्ठ मनोरूप इन्द्रिय मैं हूँ।

महाभारत में ग्यारह इन्द्रिय को अहंकार से उत्पन्न माना गया है। आगे श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका को ज्ञानेन्द्रिय और पाद, पायु, उपस्थ, हस्त तथा वाक् को कर्मेन्द्रिय माना गया है। मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों में आता है और बुद्धि बारहवीं इन्द्रिय है। इसे आगे भूत, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत में विभाजित किया गया है। वेदान्त दर्शन में द्वादश अधिदैवतों का महत्त्व है जो समष्टि करणों से जनित एवं व्यष्टि करणों के जनक हैं। बोधक्रिया की अपेक्षा में घ्राणादि करण, गन्धादि कर्म और घ्रातादि कर्ता हैं। यही त्रिविध यागबन्धन हैं जिससे मोक्ष का उपदेश दिया गया है। यहाँ भी सभी इन्द्रियों में मन की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। इन्द्रियाँ ज्ञान के हेतु हैं। बाह्य संसार का ज्ञान इन्हीं के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में इन्द्रियों के स्वरूप पर निम्नलिखित प्रकार से विवेचना की गई है-

उपनिषदों में इन्द्रिय शब्द का आशय ज्ञानेन्द्रिय लिया गया है। 'आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्ते त्या हुर्मनीषिण:' वेदों में ज्ञापक कारण को अनुमान के सन्दर्भ में लिङ्ग कहा जाता है और इन्द्रिय रूप लिंग से अनुमित मन, प्राण, अथवा आत्मा को इन्द्र कहा जाता है। कर्म और ज्ञान को इन्द्र मानने पर उनके साधन रूप लिंग को कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय कहा जायेगा। ऋग्वेद में कहा गया है- चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। ... (ऋ.वे.) अर्थात् विराट पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र तथा अग्नि और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। उक्त अग्नि आदि समष्टि में देवता है जो व्यष्टि में इन्द्रिय रूप लेते हैं। महाभारत में एकादश इन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न माने गये हैं जहाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका को ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ को कर्मेन्द्रिय बताया गया है। मन को उभयेन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है-उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिर्द्वादशमी भवेत्।। (महाभारत)

सांख्य दर्शन- सांख्य दर्शन में प्रकृति से महत् और महत् से अहंकार की उत्पत्ति मानी गयी है। यह अहंकार भी तीन प्रकार का माना गया है-

सात्त्विक या वैकारिक अहंकार

भूतादि या तामसिक अहंकार एवं

राजस् या तैजस अहंकार

इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से मानी गयी है। ये हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं- चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा त्वक्। पाँच कर्मेन्द्रियाँ- वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ हैं। इनमें दश इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ बाह्य इन्द्रियाँ हैं तथा मन अन्तःइन्द्रिय है। मन को उभयात्मक माना गया है। सांख्यकारिका में एक वर्णन के अनुसार-वैकृत अहंकार से आवृत्त सात्त्विक एकादश में पाँच बुद्धिन्द्रिय- चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन एवं त्वक् तथा पाँच कर्मेन्द्रिय- वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ के अतिरिक्त संकल्पक मन की गणना है जो उभयात्मक इन्द्रिय है क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रियों से साधर्म्य है।[८]

सांख्य दर्शन में ज्ञानेन्द्रियों को बुद्धिन्द्रिय कहा गया है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिका में कहा गया है- चक्षुरादि पंचक बुद्धि के इन्द्रिय हैं जो रूपादि विषयों की प्रतिपत्ति में बाह्यकरण के रूप से द्वार या माध्यम बनते हैं। अन्तःकरण के अन्तर्वृत्ति होने से बाह्य-विषयों की साक्षात् प्रतिपत्ति में करणता असंभव है, अतः उसको करणान्तर की अपेक्षा रहती है। बाह्य इन्द्रिय प्रणाली है जिनके द्वारा अन्तःकरण शब्दादि की प्रतिपत्ति में समर्थ होता है। अतः बुद्धि के द्वार होने से इन्हें बुद्धिन्द्रिय कहा गया है।[९]

बुद्धिन्द्रियों की वृत्ति अपने-अपने विषयों में आलोचना है जो संमुग्ध वस्तुदर्शनरूप निर्विकल्पक ज्ञान है। पाँच कर्मेन्द्रियों- वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ की वृत्ति वचन, आदान, गमन, उत्सर्ग रूप मलत्याग तथा आनन्द है।[१०] तैजस से करण सृष्टि तथा तन्मात्रसृष्टि होती है। ये पाँच हैं- रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गंध। पृथक्-पृथक् इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् तन्मात्राओं के प्रति संवेदनशीलता प्रदर्शित करती हैं। ये हैं- क्रमशः श्रोत्र-शब्द, चक्षु-रूप, त्वक्-स्पर्श, जिह्वा-रस, घ्राण-गंध।

उल्लेखनीय है कि अहंकार द्वारा उत्पन्न करण को इन्द्रिय कहा गया है- न्यायादि दर्शनों के अनुसार इन्द्रियपंचक भौतिक सृष्टि है। परन्तु 'एकोहं बहु स्याम:' इत्यादि श्रुतियों से इन्द्रियों की अहंकारजन्यता प्रमाणित है। अत: वे भौतिक नहीं हैं। प्रतिपक्षी का तर्क है कि देवताओं में इन्द्रियों के लय का वर्णन वेदोक्त है[११] अत: इन्द्रियों की भौतिकता सिद्ध है। इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं- देवताओं में इन्द्रियों के लय के वर्णन का तात्पर्य यह नहीं है कि पृथ्वी आदि आरम्भकों में लय होता है, अपितु इन्द्रियों का अपने कारणभूत समष्टियों में लय मान्य है।[१२] अत: ये अभौतिक है। यहाँ मन को अनित्य माना गया है। यहाँ इन्द्रियों की अनेकता स्वीकार की गई है। एक उल्लेख में कहा गया है कि इन्द्रियाँ स्वरूपत: अतीन्द्रिय सूक्ष्म तत्त्व हैं किन्तु भ्रमवश शरीरगत अधिष्ठान-भूत अवयव को इन्द्रिय मान लिया जाता है।[१३] प्रतिपक्षियों का कहना है कि एक ही अहंकार से अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति व्यर्थ है। क्यों न एक ही इन्द्रिय से विविध कार्यों की व्यवस्था स्वीकार की जाय? उसमें शक्ति के भेद की कल्पना की जा सकती है। इसके उत्तर में कहा गया है-एक ही इन्द्रिय में अनेक विषयों के ग्रहण की अनेक शक्तियों की कल्पना से इन्द्रियों की विविधता ही फलित होती है।[१४] अत: इन्द्रियों का एकत्व अस्वीकृत है।

योग दर्शन- योग दर्शन में सांख्य का मत ही मान्य है। इसके अनुसार अस्मितारूप अविशेष तत्त्व के विशेष परिणामरूप एकादश इन्द्रिय है जिनमें श्रोत्रादि बुद्धीन्द्रिय वागादि-कर्मेन्द्रिय तथा ग्यारहवाँ सर्वार्थक मन है।[१५] आगे कहा गया है- शब्दादि विषयों की बुद्धि के प्रयोजन कार्य होने से बुद्धीन्द्रिय कहा गया है तथा अपने-अपने कार्यों से उनकी सत्ता अनुमित है। इसी प्रकार वचनादि क्रियाओं के सम्पादक कर्मेन्द्रिय का अनुमान उनके कार्यों से होता है। योग दर्शन में भी सांख्य के समान ही पंचज्ञानेन्द्रिय- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन एवं घ्राण तथा इनके विषय क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध हैं। पंच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ एवं इनके द्वारा सम्पादित कर्म- क्रमश: वचन, आदान, गमन, मलत्याग तथा आनन्द है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है- वाक् तथा गुदा इत्यादि की करणवृत्ति देखने से यह अभिमत है कि शरीर के सभी अवयवों में इन्द्रियों की शक्ति व्याप्त रहती है। प्रत्यक्ष देखा जाता है- सर्पादि तथा नपुंसकादि का मुख ही उपस्थ-इन्द्रिय है।[१६] ग्यारहवाँ इन्द्रिय मन है जिसे सर्वार्थ कहा गया है, क्योंकि उसके ग्राह्य अर्थ अतीत, अनागत तथा वर्तमान विषय हैं और बुद्धीन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के विषय भी उसके ग्राह्य अर्थ हैं।

न्याय दर्शन- न्यायसूत्र में बारह प्रमेयों के अन्तर्गत इन्द्रिय और मन की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार भोग साधनों को इन्द्रिय कहते हैं।[१७] सभी पदार्थों की उपलब्धि में इन्द्रियों के असमर्थ होने से सभी इन्द्रियविषयों के ज्ञान का साधन मन है। इसे ही अन्त:करण कहा जाता है। न्यायसूत्र में कहा गया है कि घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र इन्द्रिय क्रमश: पृथ्वी, जल, तेल, वायु तथा आकाश से उत्पन्न हैं।[१८] यहाँ मन को अभौतिक इन्द्रिय एवं अन्य पाँच इन्द्रियों को भौतिक माना गया है। न्याय दर्शन के अनुसार जिससे गन्ध का ग्रहण किया जाता है वह घ्राण है। जिससे रस ग्रहण होता है वह रसनेन्द्रिय है। रूप ग्रहण का कारण चक्षुरेन्द्रिय है। त्वक् स्थान वाला इन्द्रियत्वचेन्द्रिय है।[१९] इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में न्याय दर्शन का मत है कि घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र इन्द्रिय क्रमश: पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश से उत्पन्न है। न्याय दर्शन के अनुसार स्वकीय विषय का ग्रहण ही इन्द्रियों का नियम है। अर्थात् सभी इन्द्रिय सब भूतों के गुणविशेष का ग्रहण नहीं करते, बल्कि जिस जाति का जो इन्द्रिय है उसके व्यावर्तक गन्धादि गुण को उसी इन्द्रिय से ग्राह्य देखा जाता है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि इनकी उत्पत्ति एक समवायी कारण से नहीं, बल्कि अलग-अलग समवायी कारण से हुई है। यदि ऐसा न होता तो एक ही इन्द्रिय सभी प्रकार के विषयों का ग्रहण करती।[२०]

न्यायसूत्रकार इन्द्रियों की भौतिकता या अभौतिकता की व्याख्या में सिद्धान्तत: भौतिकता की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार आँख की काली पुतली होने पर ही दृश्य अर्थ की उपलब्धि होती है, जो यह प्रमाणित करता है कि इन्द्रिय भौतिक स्वरूप की हैं।[२१] पुन: आवरण आदि से इन्द्रियों के कार्य में व्यवधान पड़ता है। यदि वे अभौतिक स्वरूप की होती तो ऐसा नहीं होता। भित्ति आदि के व्यवधान, दूरी तथा सूक्ष्मता आदि कारणों से इन्द्रियों के कार्य प्रभावित होते हैं। ये सभी लक्षण उनकी भौतिकता को सिद्ध करती हैं। इन्द्रियाँ एक हैं या अनेक। इस पर भी न्यायसूत्र में विशद् चर्चा मिलती है। इनके मतानुसार बहुत से द्रव्य स्थान-भेद से नाना प्रकार के होते हैं और एक ही अवयवी नाना स्थान पर देखा जाता है।[२२] यहाँ

प्रथम दृष्टांत से एकत्व सिद्ध हो सकता है। इस विषय में और स्पष्ट करते हुए व्याख्याकार कहते हैं कि एक साथ सभी विषयों की उपलब्धि न होने से सिद्ध है कि इन्द्रिय नाना प्रकार के हैं। यदि इन्द्रिय एक होता तो अनेक विषयों- रस, रूप, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द- की एक साथ उपलब्धि होती।[२३] परन्तु ऐसा नहीं होता। एक इन्द्रिय से एक ही विषय का ग्रहण होता है और अलग-अलग विषयों की प्राप्ति के लिए अलग-अलग इन्द्रियाँ हैं। यहाँ एक संशय यह हो सकता है कि त्वक् इन्द्रिय स्थान-भेद से अनेक हो सकता है। परन्तु इसका निराकरण करते हुए कहा गया है कि यद्यपि त्वक्-इन्द्रिय में स्थान भेद है परन्तु उससे केवल स्पर्श का ही ग्रहण होता है जो उसके भी एकत्व का परिचायक है। न्याय दर्शन में इन्द्रिय बहुत्व के अन्य कारण भी बताए गए हैं- यथा (बुद्धि लक्षणाधिष्ठान गत्याकृति-जातिपचत्वेभ्यः)।[२४]

बुद्धि लक्षण- गन्ध बुद्धि, रस बुद्धि, रूप बुद्धि, स्पर्श बुद्धि तथा शब्द बुद्धि के पाँच लक्षण या स्वरूप पृथक् हैं।

अधिष्ठान- घ्राण का नासाद्वय, रसना का जिह्वा, चक्षु का कृष्ण-ताराद्वय, त्वक् का सर्वशरीर और श्रोत्र का कर्णविवर अधिष्ठान है।

गति- काली पुतली में स्थित चक्षुरिन्द्रिय रूपी द्रव्यों की ओर बहिर्गति लेकर सन्निकर्ष प्राप्त करता है। किन्तु अन्य इन्द्रिय की ओर विषय-गति लेकर पहुँचते हैं। धाराक्रम से शब्दज शब्द की श्रौत्र में प्रत्यासत्ति होती है।

प्रकृति- सभी इन्द्रियों में परिमाणगत प्रकृति भेद रहता है। घ्राण, रसन और स्पर्शन अपने स्थान में स्थित रहते हुए विषय ग्रहण करते हैं। इससे भी यह प्रमाणित होता है। चक्षु- कृष्णतारा में अधिष्ठित है किन्तु बाहर निकल कर विषय को व्याप्त करता है। श्रोत्र आकाश रूप होने से व्यापक है। परन्तु शब्द ग्रहण द्वारा कर्णविवररूप उपाधि में अनुमित होता है।

जाति- पाँचों में जाति या समवायी कारण का अन्तर है- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से इन्द्रियों- घ्राण, रसन, चक्षु, स्पर्शन तथा श्रोत्र की उत्पत्ति होती है। उक्त भूतों के विशेष गुणों के ग्राहक होने से इन्द्रियों का अपने कारणभूत पृथ्वी आदि के साथ तादात्म्य है।[२५] इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय में पंचक की व्यवस्था है, अतः वे परस्पर भिन्न हैं।

वैशेषिक दर्शन- वैशेषिक दर्शन में इन्द्रिय शब्द का उपयोग ज्ञानेन्द्रियों के लिए किया गया है। यहाँ ज्ञान के करण उस मनःसंयोग के आश्रय को इन्द्रिय कहते हैं जो स्मृतिजनक न हो।[२६] वैशेषिकसूत्र में यद्यपि मन को स्पष्टतया इन्द्रिय नहीं कहा गया है तथापि प्रशस्तपाद के इस वाक्य के अनुसार 'अज्ञाणिन्द्रियाणि घ्राण-रसन-चक्षु स्त्वक्त्रोत्र-मनांसि षट्।'[२७] इन्द्रिय छः हैं- घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन। यहाँ मन एक आन्तरिक इन्द्रिय है। जबकि घ्राण-रसन-चक्षु, त्वक् और श्रोत्र बाह्य इन्द्रिय हैं। इन बाह्य इन्द्रियों से क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भूतों के विशेष गुण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का ग्रहण होता है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में न्याय मत को ही स्वीकार किया गया है। ऐसा दोनों में समानता देखकर कहा जा सकता है।

मीमांसा दर्शन (कुमारिल)- कुमारिल भी इन्द्रियों के विषय में सांख्य से समानता रखते हैं। ये इन्द्रिय को भौतिक एवं प्राप्यकारी मानते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने इन्द्रिय को परिभाषित करते हुए कहा है- अपने साथ सन्निकर्ष वाले पदार्थ में विशद् आभासरूप ज्ञान का जनक द्रव्य इन्द्रिय है।[२८] पाँच बाह्य इन्द्रिय- घ्राण, चक्षु, रसना, त्वक् और श्रोत्र। मन आन्तरिक इन्द्रिय है। इनमें से चार इन्द्रियों को न्याय के समान ही पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय माना गया है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक श्रोत्र को आकाश रूप मानते हैं परन्तु मीमांसक मत में श्रुत्यादि प्रमाणों से उसे दिक् स्वरूप माना गया है। कर्णविवरावच्छिन्न दिगंश ही श्रोत्र है। मनोरूप अन्तरिन्द्रिय को कुमारिल सम्प्रदाय में विभु बताया गया है। किन्तु प्रभाकर मत तथा न्याय-वैशेषिक मत में इसे परमाणु रूप माना गया है। चक्षु और श्रोत्र की प्राप्यकारिता सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है- शनैश्चरादि दूरस्थ ग्रहों का दर्शन सिद्ध करता है कि उनका तेज बाहर व्याप्त रहता है। आँख खुलते ही चक्षुरिन्द्रिय का आकाश उससे एकीभाव व्याप्त करता है।[२९]

मीमांसा (प्रभाकर)- गुरु मत के अनुसार बाह्य इन्द्रिय पाँच हैं- घ्राण, रसन, नेत्र, त्वक् तथा श्रवण और आभ्यन्तर इन्द्रिय एकमात्र मन है। मन को यहाँ निरवयव परमाणुरूप कहा गया है। इनके अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता और

त्वगिन्द्रिय की प्राप्यकारिता सर्वमत है। इन्हीं के समान अन्य बहिरिन्द्रिय भी प्राप्यकारी हैं।[30] उल्लेखनीय है कि कुमारिल मत के अनुसार शब्द द्रव्य है इसका ग्रहण संयोग सन्निकर्ष से होता है, परन्तु प्रभाकर मत शब्द को आकाश का गुण मानता है। फलतः संयोगरूप प्राप्ति या प्रत्यासत्ति अनुपपन्न होने से समवाय ही उसकी प्राप्ति है। इससे श्रोत्र की प्राप्यकारिता निश्चित होती है।[31] प्राप्यकारिता के आधार पर यह सिद्ध है कि शब्द श्रोत्र का समवेत गुण है और इस प्रकार जो आकाश रूप द्रव्य शब्द का समवायी है वही कर्णविवर में श्रोत्र कहा गया है। श्रोत्र को आकाशरूप सिद्ध करने से स्पष्ट है कि शेष बाह्य इन्द्रिय चार भूतों के कार्यरूप द्रव्य हैं जैसा कि न्याय, वैशेषिक एवं कुमारिल मीमांसा में स्वीकृत है। कर्मेन्द्रिय और आहंकारिक इन्द्रिय परिणाम का सांख्य सम्मत सिद्धांत यहाँ अमान्य है।

अद्वैत वेदान्त- यहाँ सूक्ष्म शरीर के प्राणमय कोष में पंचप्राण सहित वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों और मनोमय कोश में मनःसमेत पाँच ज्ञानेन्द्रियों की गणना है। इसमें मन सहित ग्यारह इन्द्रिय हैं किंतु प्राणों को इन्द्रिय नहीं माना गया है। प्राण मुख्य तथा अमुख्य दो प्रकार का है। मुख्य प्राण इन्द्रिय नहीं होते हुए भी एकादश वृत्तियों का विवर्त लेता है जो इन्द्रियरूप है। मुण्डक उपनिषद् में प्राणों से अलग इन्द्रियों का उल्लेख होने से अधिष्ठान भूत मुख्य प्राण इन्द्रिय नहीं है। यद्यपि मन का भी पृथक् उल्लेख है, किन्तु गीता में दस और एक इन्द्रिय की व्यवस्था होने से मन ग्यारहवाँ इन्द्रिय मान्य है। विषयबोधक होने से श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, घ्राण और जिह्वा को ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मकारी होने से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ को कर्मेन्द्रिय कहा गया है।[32] संकल्प तथा विकल्प वृत्तियों वाला मन है।[33] इनसे युक्त लिंग या सूक्ष्मशरीर अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न है। तात्पर्य यह है कि एकादश इन्द्रियों के उपादान सूक्ष्मभूत हैं।

सांख्य में इन्द्रियों को आहंकारिक तथा न्याय में स्थूलभूतोत्पन्न कहा गया है। न्याय में सूक्ष्मभूतरूप तन्मात्राओं की व्यवस्था नहीं है। वेदान्त में उन सबको भौतिक या सूक्ष्मभूतजन्य बताया गया है। मन भी यहाँ नित्य नहीं है जो सांख्य के अनुसार ही जन्य है। न्याय वैशेषिक के समान अजन्मा एवं शाश्वत नहीं। सांख्यमत एकादशत्व यहाँ भी स्थापित है।

वेदान्तिकों के अनुसार श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय कर्णादि तथा नेत्रगोलकादि में स्थित होकर शब्दादि के ग्राहक हैं। सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष न होने से उनका ज्ञान उनके कार्यों द्वारा अनुमान से होता है। इन इन्द्रियों की गति बहिर्मुख होती है।[34] इनके अनुसार व्यवहारतः पाँच ही क्रियाएं मान्य हैं- कथन, ग्रहण, गमन, विसर्जन और आनंद।[35] वाक्, पाणि, पाद पायु और उपस्थ आदि इन्द्रियों से उक्त क्रियाओं का सम्पादन होता है। इस कारण इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा गया है। इनके अधिष्ठान मुखादि बताए गए हैं।[36] मन दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष तथा अन्तःकरण है, क्योंकि बाह्य विषयों में बाह्य इन्द्रियों के बिना वह स्वतंत्र नहीं है, केवल आन्तरिक सुखादि का वह स्वतन्त्ररूप से ग्राहक है। वेदान्त दार्शनिकों के अनुसार एकादश इन्द्रियों; अनुमान तथा शास्त्र द्वारा ज्ञेय जगत् को श्रुति द्वारा 'इदं' कहा गया है। इस प्रकार से इस दर्शन में इन्द्रिय भौतिक एवं प्राप्यकारी हैं जिनकी संख्या ग्यारह है।[37] अपंचीकृत सूक्ष्म भूतों से बाह्य इन्द्रियों, अन्तःकरणों, कर्मेन्द्रियों तथा प्राणों की उत्पत्ति की व्यवस्था इस प्रकार है कि अलग-अलग आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी अपंचीकृत सूक्ष्म भूतों के सात्विक अंश से क्रमशः, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण की उत्पत्ति होती है।[38] चित्त, बुद्धि, मन तथा अहंकार नाम वाले अन्तःकरण आकाशादि के मिलित सात्विकांशों से उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में पाँचों अपंचीकृत भूतों का योग रहता है।[39] अलग-अलग आकाशादि के राजस अंशों से वागादि कर्मेन्द्रियों का क्रम से जन्म होता है। अपंचीकृत सूक्ष्म आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी के राजस भागों से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ की उत्पत्ति होती है।[40] उक्त उन्नीस तत्त्वों में प्राणादिपंचक, बुद्धि, चित्त और अहंकार को छोड़कर शेष ग्यारह इन्द्रिय-वर्ग में आते हैं। उन्नीस तत्त्वों की व्यष्टि को विश्व तथा समष्टि को वैश्वानर नाम दिया गया है। दोनों भोक्ता हैं और चतुर्दश भोग-साधनों के प्रति अधिष्ठाता देवताओं की व्यवस्था की गई है। स्थूल शरीर की जाग्रत अवस्था में विश्व तथा वैश्वानर सूक्ष्म शरीर के चौदह भाग साधनों द्वारा सभी स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं। इनमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण के नियामक, देवता, क्रमशः दिक्, वात्, सूर्य, वरुण तथा अश्विनीकुमार हैं और उनके भोग्य विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रस तथा गन्ध हैं। कर्मेन्द्रियों में वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ के नियामक क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम तथा प्रजापति देवता हैं और

इनके कर्म क्रमशः वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनंद कहे गए हैं। अन्तःकरणों में मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त के नियन्ता देवता क्रमशः चन्द्र, चतुर्मुख, शंकर तथा अच्युत हैं और इनके अनुभवनीय विषय क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकार तथा चैत्त माने गए हैं।[४१] उल्लेखनीय है कि यहाँ चारों अन्तःकरणों को अन्तरिन्द्रिय कहा गया है और कभी-कभी पूरे अन्तःकरण को मन कहा जाता है। इस दशा में अधिष्ठाता देवता और संकल्पवृत्ति में विसंगति आती है।

बौद्ध दर्शन- सर्वास्तिवाद से विज्ञानवाद तक इन्द्रिय पर जो विचार हुआ है वह उक्त परम्परा से सर्वथा भिन्न है। तथापि नाम बहुत कुछ वे ही हैं। मूल संख्या बाइस है। ये हैं-चक्षुरिन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, कायेन्द्रिय, मनीन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, दुखेन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, सौमनेस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतिन्द्रिय, समाधीन्द्रिय, प्रज्ञेन्द्रिय, अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, प्रज्ञेन्द्रिय, अज्ञातावीन्द्रिय।[४२]

इनमें प्रथम छः चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, कायेन्द्रिय एवं मनीन्द्रिय परम्परा प्राप्त इन्द्रिय नाम हैं। केवल त्वगिन्द्रिय के स्थान पर कायेन्द्रिय कहा गया है। प्रकारान्तर से कुछ का समावेश अष्टादश धातुओं में देखा जा सकता है। ये हैं-चक्षुर्धातु, रूपधातु, चक्षुविज्ञानधातु, श्रोत्रधातु, शब्दधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणधातु, गन्धधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाधातु, रसधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायधातु, स्पष्टव्यधातु, कायविज्ञानधातु, मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञानधातु।[४३] इन धातुओं में छह त्रिक हैं और प्रत्येक में एक इन्द्रिय, उसका विषय और विषय का विज्ञान लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि मुख्य इन्द्रियाँ छः ही हैं जिन्हें द्वादश आयतनों में परिगणित किया गया है। इन्द्रियों को आध्यात्मिक या आन्तरिक और विषयों को बाह्य आयतन कहा गया है, अतः छः युग्म बनते हैं-

क्र०सं०	आध्यात्मिक आयतन	बाह्य आयतन
१.	चक्षु	रूप
२.	श्रोत्र	शब्द
३.	घ्राण	गन्ध
४.	जिह्वा	रस
५.	काय	स्पर्शष्य
६.	मन	धर्म

द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद के अन्तर्गत विज्ञानकाय के छः भेद परिगणित हैं और षडायतन में छः इन्द्रियों का ही परिगणन है। उन्हीं के छः विषयों की तृष्णा कही गयी है। रूप स्कन्ध में पाँच इन्द्रिय आदि गिनाये गये हैं। पाँच इन्द्रिय, उनके अर्थ और उनके विषय में इन्द्रियों की पाँच अविज्ञप्तियाँ सम्मिलित रूप से रूप स्कन्ध हैं।[४४] इनके साथ पाँच विज्ञानों के आश्रय एवं रूप प्रासादों को चक्षुरादि कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि चक्षुर्विज्ञानादि से पृथक् जो-जो चक्षुरादि कहे जाते हैं वे विज्ञानों के आश्रय हैं। इन्द्रियग्राह्य न होने वाले पदार्थों को रूपप्रसाद कहा गया है और इन्द्रिय भी रूपप्रसाद है क्योंकि उनका स्वयं ग्रहण नहीं हो पाता। प्रतिविषय की विज्ञप्ति को विज्ञान कहते हैं जिसके छः भेद मनोविज्ञान सहित बताये गए हैं। मन इन्द्रिय मन-आयतन है। इस प्रकार छः विज्ञान और मन ये धातु हैं। छः विज्ञानों के अव्यवहित पश्चात् तथा अतीत का विज्ञान मन है। वर्तमान विषयक मनोविज्ञान षडायतन में परिगणित है। चक्षुरादि विज्ञानों का आश्रय मन आयतन है। इसे सिद्ध करने के लिए मन को मनोविज्ञान से पृथक् सप्तम धातु माना गया है। इस प्रकार स्कन्ध, आयतन और धातु से एक ही समुदाय में सबका संग्रह हो जाता है।[४५] उपरोक्त जिन बाइस इन्द्रियों का दिग्दर्शन किया गया है उनमें पाँच का बौद्धों की अष्टांगिक साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। ये हैं- श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतिन्द्रिय, समाधीन्द्रिय और प्रज्ञेन्द्रिय।[४६] बोधिसत्त्व के दैनिक आचरण पर श्रद्धा प्रथम सोपान है। उसकी पूर्ण प्रतिपत्ति से अन्यत्र गमन या प्रतिकूल आचरण की इच्छा नहीं होती। यह निःस्पृहता द्वितीय सोपान है। तृतीय सोपान में सभी बुद्ध धर्मों के प्रति श्रद्धा और चतुर्थ में उनका प्रोत्साहन आता है। इस प्रकार श्रद्धा इन्द्रिय का योग वीर्य इन्द्रिय से बनता है। जिन धर्मों को श्रद्धेन्द्रिय से श्रद्धा

में लाया जाता है उनको वीर्येन्द्रिय से अनुप्राणित या प्रोत्साहित करना होता है। श्रद्धा के विषयीभूत धर्मों का प्रोत्साहन जिस इन्द्रिय से किया जाता है उसे वीर्येन्द्रिय कहा गया है।[४७] वीर्येन्द्रिय से प्रोत्साहित धर्मों को प्रणष्ट न होने देने का कार्य स्मृतिन्द्रिय से होता है।[४८] एकाग्रता लाने वाला इन्द्रिय समाधीन्द्रिय है जो स्मृतीन्द्रिय द्वारा नष्ट होने से बचाये हुए धर्मों को एकाग्र बनाता है। समाधीन्द्रिय द्वारा एकाग्र किये हुए धर्मों का जिस इन्द्रिय से पुनरीक्षण करता है उसे प्रज्ञेन्द्रिय कहते हैं। इससे पुरुष उन धर्मों को इस प्रकार अपने से प्रतिबद्ध या अनुस्यूत कर लेता है कि प्रतिवेक्षण उसका प्रकार या स्वभाव बन जाता है। मन का मन्तव्य विषय धर्म कहा गया है। श्रद्धा से प्रज्ञा पर्यन्त पांच इन्द्रियों का समुच्चय साधना-मार्ग की विशेष अवस्थाओं का ऐश्वर्य देता है। अत: इन्द्रिय नाम की सार्थकता है- अपने विषय में आधिपत्य करना इन्दन है और इन्दन क्रिया के कर्ता को इन्द्रिय कहते हैं। उक्त पाँच में श्रद्धा अधिष्ठान है जिसके विषय में कहा गया है- श्रद्धावान् फलप्राप्ति हेतु उत्साहशील होता है। जिसके कारण विक्षेप नहीं आता और चित्त एकाग्र एवं समाहित हो जाता है। समाधि से एकाग्र किया हुआ चित्त यथार्थ एवं सम्यक्- ज्ञान प्राप्त करता है। चित्त की निष्कलुषता को श्रद्धा, शुभ वस्तु के प्रति उत्साह को वीर्य, श्रद्धा तथा उत्साह के आलम्बन के घनीभाव को स्मृति, चित्त की एकाग्रता को समाधि और समाहित चित्त से धर्मसंचय को आज्ञा कहते हैं।[४९] षडायतन में परिगणित इन्द्रिय व्यावहारिक ज्ञान के साधन हैं। किन्तु श्रद्धादि इन्द्रिय पंचक से धर्मसंचय का फल उपलब्ध होता है। इसके क्रमिक साधनों के रूप में इनकी व्यवस्था है। जिसके द्वारा श्रद्धान् क्रिया की जाती है या जो स्वयं उस क्रिया को करती है अथवा जो स्वरूपत: श्रद्धान् क्रिया ही है। उसे श्रद्धा कहा गया है। उसका स्वरूप श्रद्धा अथवा अवकल्पन है जिसका अर्थ जल को निर्मल करने वाली मणि के समान मन का निर्मलीकरण रूप प्रसादन है। प्रवाह को तैर कर पार करने के समान उसका कार्य प्रस्क्रन्दन या कलुषों का अतिक्रमण है। वह काल से प्रतिबद्ध वस्तुओं से भिन्न तत्त्व या मुक्ति के प्रति उपस्थित होती है। इसका अधिष्ठान श्रद्धेय वस्तु अथवा उसके लिए किए जाने वाले श्रवणादि एवं स्रोत आपत्ति के अंग हैं।[५०] वीरभाव या वीरता को वीर्य कहा गया है जिसका स्वरूप उत्साह और कार्य सहायक भावों का उपस्थापन है। वह अवसानभाव का प्रतिबन्धक है। शब्द में व्यक्त हुआ वीर्य संवेग में प्रतिष्ठित रहता है। अथवा वे पदार्थ उसका आलम्बन है जिनमें वीर्य का आरम्भ होता है। यह वीर्य सम्यक् आरम्भ किया जाय तो सभी सम्पत्तियों का मूल बनता है।[५१] स्मरण क्रिया का करण अथवा स्वयं स्मरणकर्ता या स्मरण-क्रिया स्मृति है जिसका स्वरूप अभिलापन या शब्दसंसर्गयोग्यता है। उसका कार्य अनुभूत विषय का असंप्रमोष या रक्षण है। इसके कारण वह अनुभूत की अरक्षा के प्रतिकूल उपस्थित होती है अथवा विषय के अभिमुख भाव के प्रति उपस्थित उसका कार्य है। स्थिर संज्ञा अथवा कार्यादि की स्मृति उसका पदस्थान है। यह कार्यारम्भ में दृढ़प्रतिष्ठित होने से स्मृति दासी या नेत्र द्वारादि की रक्षा में तत्पर द्वारपाल के समान होती है।[५२]

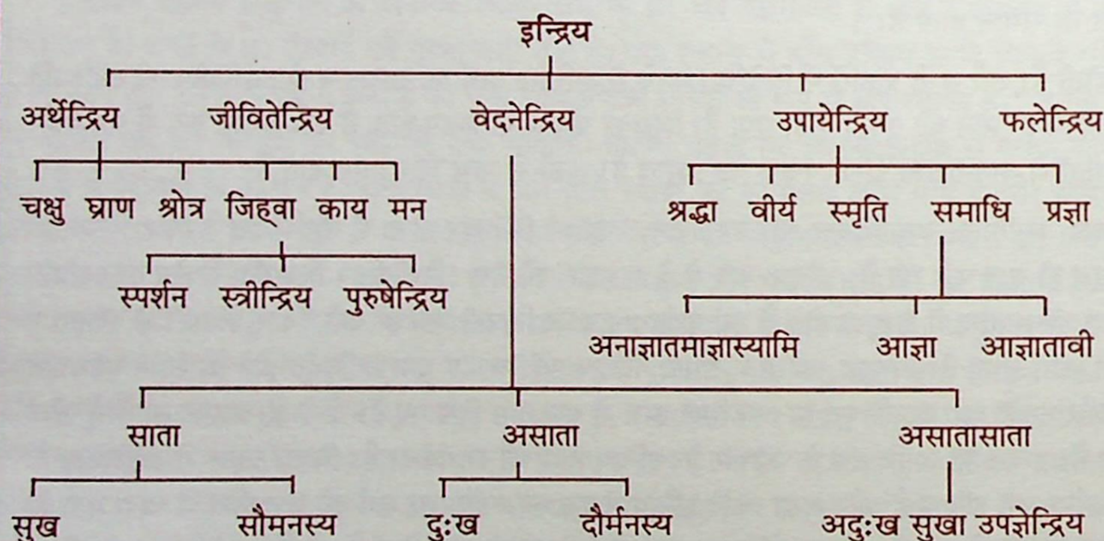
आज्ञा बहुविध होती है। उसे सभी प्रकारों में विवेचित करने से अभिप्रेत अर्थ का साधन न होकर विक्षेप की उपस्थिति से सम्यक् प्रयुक्त 'विपश्यना' ज्ञान को आज्ञा कहा गया है। जिसका प्रभुत्व या इन्दन होता है उसे इन्द्रिय रूप में यह दर्शन लेता है। अष्टांगिक मार्ग में अनन्तरोक्त इन्द्रियपंचक का प्रभुत्व है। उन्हीं से पांच बल प्रसूत होते हैं-

श्रद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल और आज्ञाबल।[५३] इसकी निबन्धन टीका में वीर्यश्रीदत्त ने स्पष्ट किया है- श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रिय ही बल कहे गए हैं। इन्द्रिय-रूप से वे अश्रद्धा, कौसीध (निर्वीर्यता) विस्मृति, विक्षेप तथा संप्रज्ञा नाम वाले विपक्षों द्वारा बीच-बीच में सम्पृक्त होते हैं एवं पूर्णतया उन पर विजयी नहीं हो पाते, किन्तु विपक्षों से व्याहत न होने से उन्हीं को बल कहा जाता है। अश्रद्धा, कौसीध, प्रमाद, विक्षेप एवं सम्मोह द्वारा अभिभूत होने के साथ आधिपत्य के अर्थ से 'इन्द्रिय' और उनके द्वारा अनभिभूत या अकम्पित अर्थ से बल नाम दिये गए हैं। दोनों ही श्रद्धादि नामों से पाँचों इन्द्रिय एवं पाँच बल हैं। इन्दन या आधिपत्य के आधार पर इन्द्रिय नाम की सार्थकता है। विषय ग्रहण में आधिपत्य के कारण चक्षुरादि मनपर्यन्त छह इन्द्रिय है और श्रद्धा आदि इन्द्रिय पंचक का अधिपत्य धर्म की उपलब्धि में माना गया है। इन ग्यारह का विवरण हो चुकने पर शेष ग्यारह में आठ उक्त दोनों के मध्य परिगणित हैं, ये हैं- स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, दुखेन्द्रिय, दौर्मनस्येन्द्रिय, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय और उपेक्षेन्द्रिय। अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, आज्ञेन्द्रिय

तथा आज्ञातावीन्द्रिय अन्त में लिए गए हैं।

चक्षुरादि पाँच इन्द्रियों को अपने-अपने विषय की उपलब्धि में आधिपत्य है और मन का आधिपत्य सभी अर्थों की उपलब्धि में रहता है। अतः इन छः में प्रत्येक को इन्द्रिय कहा गया है।[५४] प्रश्न यह है कि विषयीभूत अर्थों का भी आधिपत्य होने से क्या उन्हें भी इन्द्रिय आधिपत्य कहते हैं जो चक्षुरादि में ही है, रूपादि उपलब्धि में चक्षुरादि सामान्य कारण है और उनकी तीव्रता या मन्दता से उपलब्धि में अंतर आता है। रूपादि विषयों का वैसा अधिपत्य न होने से इन्द्रियत्व अमान्य है। इसी प्रकार मनपर्यन्त सभी छह इन्द्रियों को जानना चाहिए। स्त्रीन्द्रिय तथा पुरुषेन्द्रिय-कायेन्द्रिय के ही भाग हैं। वे अर्थान्तर नहीं है। उसका ही एक भाग उपस्थ आदेश इन दो इन्द्रियों की संज्ञा प्राप्त करता है। क्योंकि उन पर पृथक्-पृथक् स्त्री तथा पुरुष का आधिपत्य रहता है। इस प्रकार कायेन्द्रिय को त्वगीन्द्रिय से पृथक् मान करके उसी में उपस्थेन्द्रिय का दो रूपों में मान्य किया गया है। आधिपत्य की विविधता से दो इन्द्रिय मान्य हैं- शरीररूप निकाय की स्थिति, क्लेश तथा व्यवदान के आधिपत्य से क्रमशः जीवितेन्द्रिय, वेदनेन्द्रिय पंचक और श्रद्धादि पंचक की व्यवस्था है। व्यवदान मलशोधन को कहा गया है। सुखा, सौमनस्य, दुखा, दौर्मनस्य तथा उपेक्षा ये पाँच वेदनारूप इन्द्रिय हैं जिनसे संसार-क्लेश का संवेदन होता है। ये वेदनाएं तीन में विभक्त हैं-सुखा, दुःखा, अदुःख-सुखा।[५५] सुखा वेदना में राग, दुःखा में द्वेष और अदुःख-सुखा में अविद्या अनुसरण करती है। इनमें तृतीय उपेक्षा नामक इन्द्रिय है। इन्हीं को क्रमशः साता, असाता और असातासाता कहा गया है। प्रथम दो विशेष रूप सौमनस्य तथा दौर्मनस्य हैं-

असाताकायिक वेदना को दुःखेन्द्रिय और उसी मानसी वेदना को दौर्मनस्य कहते हैं। तृतीय ध्यानावस्था में साता वेदना सुखेन्द्रिय तथा प्रथम दो ध्यानों तथा अन्य स्थितियों में वही सौमनस्य है। साता तथा असाता के मध्य में आने वाली उपेक्षा इन्द्रिय मानी गयी है।[५६] यहाँ तक १९ इन्द्रियों का विवरण हुआ जिनमें छः अर्थेन्द्रिय, पाँच वेदनेन्द्रिय और पाँच श्रद्धादि इन्द्रिय आते हैं। तीन इन्द्रियाँ अन्य विवेचित हैं-जीवित, स्त्री एवं पुरुष इन्द्रिय अन्तिम तीन इन्द्रियों का विवरण इस प्रकार है-निर्वाणादि में उत्तरोत्तर लाभ के आधिपत्य के कारण तीन इन्द्रियों की व्यवस्था है-अनाज्ञातमाज्ञास्यामि, आज्ञा और आज्ञातावी।[५७] आज्ञातावी की प्राप्ति में 'आज्ञा' इन्द्रिय का आधिपत्य है। आज्ञातावी अन्तिम है। आज्ञातावी इन्द्रिय का निर्वाण में अधिकार है क्योंकि चित्तमुक्ति के बिना परिनिर्वाण असंभव है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तिम आठ इन्द्रिय साधनापरक हैं जिनसे पूर्व चौदह का सम्बन्ध काम से है। अन्तिम तीन में 'आज्ञातावी' निर्वाण का इन्द्रिय है। अतः श्रद्धा से आज्ञातावी पर्यन्त सोपानक्रम है।



इन २२ में से प्रथम चौदह स्पर्शाश्रय, प्रादुर्भाव, आधार तथा संयोग के इन्द्रिय हैं और शेष आठ स्वर्ग तथा अपवर्ग के

कारण हैं। असङ्ग मैत्रेय ने प्रकारान्तर से बाइस इन्द्रियों की व्याख्या की है।[५८]

ग्रहण (प्रत्यक्ष), स्थान (स्थिति या धृति), सन्धान (वंशानुक्रम, भोग) और लौकिक शुद्धि तथा लोकोत्तर शुद्धि आयोजन है जिनके आधिपत्य से बाइसों इन्द्रियों की व्यवस्था है।[५९] वसुवन्धुकृत भाष्य एवं स्थिरमति की भाष्यटीका के आधार पर विवरण इस प्रकार है-

इन्द्रिय वर्ग	अधिपत्य	फल	संख्या
अर्थेन्द्रिय	सत्त्व-अनुभव	स्पर्श	६
स्त्री-पुरुष	सत्त्व वैचित्र्य	प्रादुर्भाव	२
जीवित	धृति	आधार	१
वेदनेन्द्रिय	क्लेश	संभोग	५
उपायेन्द्रिय	मार्गोपाय	स्वर्ग	५
प्रज्ञेन्द्रिय	फलप्राप्ति	अपवर्ग	३

षडायतन में परिगणित छः इन्द्रियों का रूपादि विषयों के ग्रहण में आधिपत्य है। अधिक ऐश्वर्य को आधिपत्य कहा गया है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा धर्म विषय है। नील-पातादि सभी रूपों, मधुर-कटु आदि सभी रसों, सुरभि-दुरभि आदि गन्धों, शीतोष्णादि विविध स्पर्शों, वर्ण-पदादि शब्दों और अनेक विध धर्मों पर क्रमशः चक्षु, जिह्वा, घ्राण, काय, श्रोत्र तथा मन का सामान्य एकाधिपत्य है।

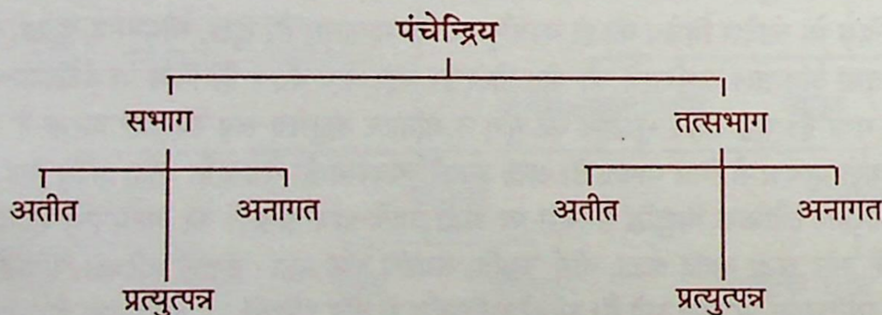
स्थान या धारण में जीवेन्द्रिय के आधिपत्य के कारण 'आमरण' का अनुभव होता है जो पूर्व कर्मों से उत्पाद लेने वाले निकाय (शरीर) की क्षणिक अवयवों के साथ (सभाग) अनुवृत्ति का बोध है। कर्म की वासनाओं का क्षणिक प्रवाह (सन्तान) चलता है। यह सन्तान पूर्व-पूर्ण की सजातीयता के कारण उत्तरोत्तर क्षणों में जब पार्थक्य अनुभव नहीं होने देता तब ऐसा क्षण संघात एकीभाव का प्रत्यय देता है। जिसमें प्रतिक्षण पार्थक्य होते हुए भी अपार्थक्य जान पड़ने से मरण का अनुभव नहीं होता। इससे जीवन प्रतीत होता है। इस प्रकार जीवितेन्द्रिय अवस्थान का आधिपत्य भागी है। इसमें अन्य इन्द्रियों का आधिपत्य नहीं हो सकता क्योंकि वे संज्ञा के क्षणों में अनुभव देते हैं किन्तु संज्ञा तथा असंज्ञा के क्षणों में मरणाभाव का प्रत्यय सभी से पृथक् होने से पृथक् इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है।

बौद्ध दर्शन में सब कुछ क्षणिक है। किसी स्थायी चैतन्य की व्यवस्था न होने से जीवन का अनुभव कैसे बनता है? इसका समाधान जीवितेन्द्रिय में निहित है। क्षणभंगवाद प्रतिक्षण मरण का नाम है, किंतु सजातीय क्षण सन्तान का एकीभूत प्रत्यय जीवन कहा जाता है। जो अमरण का प्रत्यय है। इसका अधिपति जीवितेन्द्रिय है। अवयवी का सत्ता अमान्य होने से अवयव-पुंज का प्रत्यय यहाँ अभिप्रेत है इसमें स्थिति का अनुभव होता है। कुल की व्यवस्था में स्त्रीन्द्रिय तथा पुरुषेन्द्रिय का आधिपत्य है। वंशधारा का विच्छेद न होने में इन इन्द्रियों के अभाव के कारण पुत्रप्रसव का सामर्थ्य न होने से वंशानुक्रम का विच्छेद देखा जाता है। कुल-सन्धान जीवन के समान ही जातीय अमरण का बोधक है। अतः इन दोनों इन्द्रियों की व्यवस्था है। कायेन्द्रिय के आदेश विशेष का ही कार्यानुसार यह नामान्तर है। सुख, सौमनस्य, दुःख, दौर्मनस्य तथा उपेक्षा इन्द्रियों से कुशल तथा अकुशल कर्मफलों का भोग होता है। यही भोग वेदना है। जिस पर आधिपत्य होने से इन पांचों को वेदनेन्द्रिय कहा गया है। यह दर्शन सुखादि को गुण न मानकर अनुभव रूप स्वीकार करता है और उसे चक्षुरादि इन्द्रियपंचक से होने वाले प्रत्यक्ष से भिन्न मानता है। अतः इनकी व्यवस्था है। वेदना के साता आदि भेद ऊपर आ चुके हैं। लौकिक क्लेशों का परिहार लौकिक विशुद्धि है जिस पर श्रद्धा आदि पांच इन्द्रियों का आधिपत्य माना गया है। अश्रद्धा आदि लौकिक क्लेश है और श्रद्धा आदि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा- उनकी प्रतिपक्ष भावना से बनते हैं। ये लोक और लोकोत्तर के सन्धिभाग पर माने गये हैं। लोकोत्तरविशुद्धि में तीन इन्द्रियों का आधिपत्य है- अनाज्ञातमा ज्ञास्यामि, आज्ञा और आज्ञातावी।

जो विशुद्धि उपलब्ध होती है उसका अवन या रक्षण करने से अन्तिम इन्द्रिय को 'आज्ञाताविन्' कहा गया है। अष्टांगिक लोकोत्तर मार्ग द्वारा क्लेशों का परिहार लोकोत्तर विशुद्धि है। लोकोत्तर मार्ग तीन प्रकार का है- दर्शन, भावना तथा अशैक्ष। तीन इन्द्रियों की तीन मार्गों में क्रमशः व्यवस्था है और प्रत्येक इन्द्रिय में नौ पूर्वोक्त इन्द्रिय सम्मिलित है। श्रद्धादि पंचक, मन, सुख, सौमनल और उपेक्षा। 'अशैक्ष' मार्ग अन्तिम है जिसमें दर्शन एवं भावना के शिक्षा रूप अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती है।

योगाचारों के अनुसार अन्तिम नवेन्द्रियात्मक है। किन्तु प्रथम दो में दौर्मनस्य इन्द्रिय का योग रहने से वे दशात्मक हैं। इस प्रकार माध्यमिकों तथा योगाचारों में अल्प अन्तर है। अन्तिम तीन इन्द्रिय पूर्ववत इन्द्रियों के संघात रूप हैं। यह तथ्य दोनों में समान है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तिम आठ इन्द्रिय मोक्षमार्ग में अपेक्षित है। जिनके साथ सुख, सौमनस्य तथा उपेक्षा अहेय है और योगाचारों के अनुसार दौर्मनस्य भी अत्याज्य है। इनमें श्रद्धा आदि पांच इन्द्रियों का मोक्ष-मार्ग में विशेष महत्त्व है। वे ही बल रूप ग्रहण करते हैं। असंग ने कहा है- मोक्ष-मार्ग की दृढ़ताओं में छन्द या अभिलाष, प्रयोग या प्रोत्साहन, आलम्बन के असम्प्रमोष, अविसाररूप विज्ञेपाभाव तथा विचय या धर्म संचय पर अधिपति के कारण क्रमशः श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और आज्ञा इन्द्रियों की व्यवस्था है।[६०] कोई इन्द्रिय एकाकी नहीं रहता। श्रद्धादि पंचक का क्रम है, किन्तु चक्षुरादि पंचक में वैसा क्रम नहीं देखा जाता और ऐसा ही वेदनेन्द्रियों के विषय में यथार्थ है। मन तथा जीवित इन्द्रिय के साथ कायेन्द्रिय और उसके प्रदेश रूप स्त्री तथा पुरुष इन्द्रियों में एक सर्वत्र अनिवार्य है। इसकी व्यवस्था इस प्रकार है- अर्हत्व की प्राप्ति में एक ही अर्हत् के एकादश इन्द्रिय संभव है- मन, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, आज्ञा, अनाज्ञातमाज्ञास्यामि, आज्ञातावी तथा सौमनस्य। उपेक्षा, मन, और जीवित में से जो एक जीवितेन्द्रिय को जोड़कर १२ इन्द्रियों की व्यवस्था है। सुख तथा कायेन्द्रिय में से एक से मुक्त होने पर जीवित, मन और उपेक्षा सहित चार इन्द्रियों वाला होता है। चक्षुरादि पांच इन्द्रियों में किसी एक से युक्त पुरुष जीवित, मन, उपेक्षा तथा कायेन्द्रिय के साथ पाँच इन्द्रियों वाला बनता है।[६१] सौमनस्य इन्द्रिय वाले में जीवित, मन, उपेक्षा तथा काय सहित पाँच इन्द्रिय साथ-साथ रहते हैं। दुःखी, जीवित, मन, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा और श्रद्धा आदि पंचक मिलाकर ग्यारह इन्द्रिय होते हैं। अनाज्ञातमाज्ञास्यामि इन्द्रिय वाले में उक्त दश के अतिरिक्त कायेन्द्रिय तथा दुःख जोड़कर तेरह इन्द्रिय मान्य हैं।[६२] यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि एक साथ कितने इन्द्रिय कार्यकारी होते हैं। पात्र-भेद से उनकी व्यवस्था है।

परवर्ती बौद्ध प्रमाण-मीमांसा में छः इन्द्रियों का ही ग्रहण किया गया है। शून्यवाद की परम्परा उन्हीं पर विचार करती है। नागार्जुन ने इन्द्रिय परीक्षा में उन्हें इस प्रकार लिया है। नेत्र से मन पर्यन्त छः इन्द्रियों के क्रमशः दृश्य, श्रव्य, श्रातव्य, रसनीय, स्पर्शनीय तथा धर्मरूप मननीय विषय कहे गये हैं।[६३] इनके अनुसार जब चक्षुरादि अपना दर्शनादि नहीं कर सकते तब किसी का दर्शन आदि कैसे कर सकते हैं? तात्पर्य यह है कि सब कुछ निःस्वभाव है जिसे दृश्य, दर्शन और द्रष्टा कह लिया जाता है। सर्वास्तिवाद में इन्द्रियों के 'सभाग' एवं 'तत्सभाग' भेद किए गये हैं। कार्य-कारिता से युक्त इन्द्रिय सभाग और उससे रहित तत्सभाग कहे जाते हैं। जैसे रूप देखता हुआ नेत्र सभाग तथा न देखता हुआ तत्सभाग इन्द्रिय है।[६४]



इन्द्रियों के भेद इस प्रकार हैं-

१. प्रत्युत्पन्न सभाग चक्षु रूप देखता है। श्रोत्र शब्द सुनता है। घ्राण गन्ध सूँघता है। जिह्वा रस चखती है और कार्य स्प्रष्टव्य का स्पर्श लेता है।

२. अतीत सभाग इन्द्रियों ने अपने विषय ग्रहण किये थे।

३. अनागत सभाग इन्द्रियविषय ग्रहण करेंगे।

प्रत्येक इन्द्रिय का चार-चार कार्यों में आधिपत्य है- वे शरीर शोभा बढ़ाते हैं, अपने द्वारा शरीर की रक्षा करते हैं, इनसे चक्षुर्विज्ञानादि धातुओं की उत्पत्ति होती है और ये अपने असाधारण विषय का ग्रहण करते हैं।

अभिधर्मदीप में वर्णित इन्द्रियों के स्वरूप के अनुसार मन, चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रिय-अप्राप्यकारी हैं जो दूर तथा समीप के विषय को समानरूप से ग्रहण करते हैं। शेष तीन घ्राण, त्वक् और जिह्वा प्राप्यकारी हैं।[६५]

यहाँ अप्राप्यकारिता से यह आपत्ति लाना निराधार है कि सभी का दर्शनादि संभव होगा। अयस्कान्त के समान विषयों का दर्शन अभिमत है। अप्राप्यकारिता से इन्द्रियों की व्यापकता का आशय लेना भी असंगत है क्योंकि जिस प्रकार तिल में तैल की व्याप्ति होती है किन्तु बाहर नहीं इसी प्रकार इन्द्रिय केवल शरीरव्यापी है। किन्तु उनकी बहिर्व्याप्ति नहीं है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अयस्कान्त का आकर्षण क्षेत्र होता है इसी प्रकार अप्राप्यकारी इन्द्रियों का विषय ग्रहण क्षेत्र मान्य है।

जैन दर्शन- जैन दर्शन की मान्यता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं- चाक्षुष, श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन। यहाँ मन को अनिन्द्रिय कहकर उसे इन्द्रियों से पृथक् प्रतिपादित किया गया है। इन्द्रिय एवं मन को पुद्गल (जड़द्रव्य) से निर्मित होने के कारण क्रमशः द्रव्येन्द्रिय एवं द्रव्य मन कहा जाता है तथा चेतनायुक्त होकर जब वे बाह्यार्थ का ज्ञान करती हैं तब उन्हें क्रमशः भावेन्द्रिय एवं भावमन कहा जाता है। परमार्थतः तो आत्मा ही भावमन एवं भावेन्द्रिय है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि श्रोत्र, घ्राण, रसना एवं स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ पदार्थ को प्राप्त कर अर्थात् पदार्थ का संयोग प्राप्त कर पदार्थ का ज्ञान कराती है। इसलिए ये चारों प्राप्यकारी हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय एवं मन पदार्थ का संयोग प्राप्त किए बिना, पदार्थ से कुछ दूर रहकर उनका ज्ञान कराने में समर्थ हैं, अतः ये दोनों अप्राप्यकारी हैं।[६६] न्याय दर्शन में जहाँ मन आत्मा से संयुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होती हैं; तभी बाह्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ जैन दर्शन में आत्मा को मात्र मन के द्वारा, इन्द्रियों के बिना भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला माना गया है। इन्द्रियों के द्वारा जहाँ अपने-अपने विषयों का ज्ञान होता है वहीं मन समस्त इन्द्रियों के विषयों को जान सकता है। जैन दर्शन में मन को व्यापक या परमाणुरूप नहीं मानकर मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन में कर्मेन्द्रियों को नहीं माना गया है। इनके अनुसार वागादि क्रिया साधनों को इन्द्रिय नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपयोग साधनों के लिए ही 'इन्द्रिय' पद का व्यवहार उचित है। अन्यथा सिर आदि अङ्गोपाङ्गों को भी क्रिया साधनता के आधार पर इन्द्रिय कहने की अनवस्था होगी।[६७]

व्याकरण दर्शन- व्याकरण दर्शन प्राप्यकारिता के प्रतिकूल अप्राप्यकारिता का सिद्धान्त अपनाकर इन्द्रियों की व्याख्या करता है। तदनुसार व्यावहारिक ज्ञानमात्र बुद्धि विपरिणाम है। इन्द्रियरूप प्रणाली द्वारा प्रविष्ट वासनोद्दीपक विषय बुद्धि में जो परिणाम लाते हैं वही प्रत्यक्ष है। यह विपरिणाम सदैव शब्दानुविद्ध रहा करता है। इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष अस्वीकृत होने से प्राप्यकारिता को अमान्य किया गया है। जड़ीभूत इन्द्रियों की जड़ता का निराकरण कर चिकने एवं मधुर पदार्थ द्वारा उन्हें स्वरूपस्थ बनाया जाता है। इन्द्रियों को उनके स्वरूप में लाने वाले पदार्थ को राग एवं व्यंजन कहते हैं जिनकी व्यंजनकत्वशक्ति से इन्द्रियगत रसादि की अभिव्यक्ति होती है।[६८] भर्तृहरि ने कहा है कि वृत्तिनिरोध तथा व्यंजनादि द्वारा इन्द्रिय का संस्कार किया जाता है जिससे तद्गत विषय की बाह्यविषयकारता स्पष्ट हो सके, किन्तु घ्राणादि द्वारा गन्धादि के ग्रहण हेतु विषय का संस्कार करके घ्राण को प्रत्यक्ष योग्य बनाया जाता है। मनोयुक्त इन्द्रिय ही स्वतन्त्र कारक है, बाह्य विषय उद्दीपनमात्र हैं, अतः विषय चाहे जैसे हों किन्तु इन्द्रिय द्वारा विचित्र प्रत्यय होते हैं।[६९] जिस प्रकार इन्द्रियशक्ति विविध संसर्ग लेकर विषय को विचित्रता में भासित करती है। इसी प्रकार शब्द से अर्थ की (अभिधेयमात्र

की) प्रतिपत्ति न होकर अनेकधा प्रतीति होती है। यहाँ इन्द्रिय के दृष्टान्त से स्पष्ट है कि अर्थ द्वारा व्यंजना मात्र होती है जिससे शक्ति व्यक्त होकर विचित्र बोध कराती है।[७०] यह बोध बुद्धि का कार्य है। मन द्वारा प्रेरित इन्द्रिय उपलब्धि के कारण बनते हैं, किन्तु मन के असानिध्यता से प्रमाता प्रत्यक्ष नहीं कर पाता। यह असन्निधान विषयान्तर द्वारा मन के आकृष्ट या मद आदि द्वारा मन्द होने से घटित होता है।

इन दर्शन में मन ही प्रेरक है, अतएव इन्द्रियों को अप्राप्यकारी माना गया है, तदनुसार मन इन्द्रिय नहीं है। उक्त भाष्य को स्पष्ट करते हुए उद्द्योतकार ने कहा है कि वैयाकरणों तथा पातन्जलयोग दार्शनिकों के अनुसार यद्यपि अन्त:करण स्वरूपत: व्यापक है तथापि प्रत्यक्षकाल में विषयाकार मन:परिणामविशेष देर तक स्थित रहते हुए मध्यमपरिमाण रूप लेने वाला संकोच-विकासशील तत्त्व है और वही परिणत मन ज्ञान का कारण होता है जिससे सर्वदा एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते किन्तु कभी-कभी ज्ञानों का सहभाव भी पाया जाता है, जब व्यापक मन एक साथ अनेक विषयों में आकारपरिणाम लेता है। व्यापक होने के कारण गतिहीन मन प्राप्यकारी नहीं हो सकता।

यहाँ द्रष्टव्य है कि बोध इन्द्रियों का कार्य नहीं है, अत: इन्द्रियों तथा बुद्धि के कर्म भिन्न हैं- इन्द्रियों का कार्य समासादन और बुद्धि का व्यवसाय या निश्चय है।[७१] समासादन अनागत का होता है। किन्तु व्यवसाय में सदैव वर्तमान काल की सम्प्रतिसत्ता बनी रहती है भूत तथा भविष्यत् भी वर्तमान आकार लेकर ही अतीतादि की कल्पना में उतरते हैं। इन्द्रियसापेक्षता से अतीत और अनागत नाम के बुद्धिविपरिणाम होते हैं। मूलत: बुद्धि वर्तमान आकार को सदैव निश्चय में लेती है। बुद्धि में वर्तमान की सम्प्रतिसत्ता के आधार पर अतीत और आगत की व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, 'पाटलिपुत्र तक जाने वाले मार्ग में कूप होगा' यह भविष्यत प्रयोग समासादन से पूर्व अनागत 'कूप' है। प्रयोग अतीत तथा अनागत के मध्य वर्तमानार्थक है, किन्तु समासादन के अनन्तर अतिक्रमण हो चुकने पर 'कूप था' प्रयोग समासादन की सापेक्षता में अतीत है, परन्तु बुद्धि में वह भी वर्तमान निश्चय का विषय रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय के समासादन कर्म की अपेक्षा में त्रिकालविभाग बनते हैं और बुद्धि के व्यवसाय-कर्म को लेकर सदा वर्तमान रहता है।[७२] यहाँ इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता यही है कि उनके द्वारा काल-विभाग बनता है, किन्तु निश्चयात्मक बोध बुद्धिकर्म है जिसमें त्रिकाल की वर्तमानता व्यवस्थित है। बुद्धि द्वारा वही निश्चित होता है जो आकार मन द्वारा उस तक इन्द्रियरूप द्वार से पहुँचाया जाता है।

इस दर्शन में सम्प्रतिसत्ता एक है जो विद्यमान वस्तु के इन्द्रियसम्बन्ध से भूत तथा भावी में विशिष्ट रूप लेती है, क्योंकि भेद से सत्ता का व्यवहार वस्तु का इन्द्रियसम्बन्ध होने पर होता है। वस्तुमात्र का अस्तित्व सदा वर्तमानरूप से बुद्धि द्वारा ग्राह्य बनता है और व्यवसायात्मक बोध में समासादन की अपेक्षा होने वाला भेद शब्द के अभिधेय का भाग नहीं बनता। तात्पर्य यह कि 'कूप था' तथा 'कूप होगा' जैसे प्रयोग समासादन के पूर्व तथा पश्चात् की वस्तु का अस्तित्व बताते हैं।[७३] इन्द्रियसम्बन्ध और समासादन यहाँ एकार्थ हैं। सन्निकर्ष से तात्पर्य न होकर वस्तुरूप के अन्त:प्रयोग का आशय है। इन्द्रियानुरन्जन से वस्तु यथावत रहकर भी बुद्धि में अनुरन्जित रूप लेती है।

महाभाष्य (पासू ४/२/३) में इन्द्रियदौर्बल्य को अनुपलब्धि के छह कारणों में अन्यतम माना गया है।[७४] सूक्ष्म वस्तुओं का ग्रहण इसी से नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त भ्रमादि का वही कारण है। प्रदीपकार ने इन्द्रिय-दौर्बल्य का अर्थ तिमिरावरण आदि किया है। उद्घोतकर ने उसे 'ग्राहकशक्तिहीनता' अर्थ में कर लिया है। वस्तुत: इन्द्रियों में ग्राहकता औपचारिक है, यथार्थत: वे द्वार मात्र हैं। दोषावृत इन्द्रिय के द्वार से विषय का सदोष प्रकार चेतना में प्रतिफलित होगा, यह आशय प्रदीप से निकलता है। औपचारिक प्रयोगों के कारण ही इन्द्रियाभिमानवश 'मैं कहाँ हूँ (अहं ब्रवीमि)' तथा 'हम कहते हैं (आवां ब्रूव:, वयं ब्रूम:)' इत्यादि की व्याख्या होती है। इस सन्दर्भ में महाभाष्यकार ने कहा है- शरीर में आत्माभिमानवत् इन्द्रियात्माभिमानरूप अहंकार की उत्पत्ति से हम बोलते, देखते आदि का प्रयोग होता है। जब उन्हें स्वतन्त्र रूप से कर्ता बनाकर आत्मा को उपसर्जन कर दिया जाता है, तब मेरी आँख देखती तथा कान सुनता आदि कहा जाता है। परन्तु करणार्थक प्रयोग में आत्मा स्वतन्त्र किन्तु इन्द्रिय परतन्त्र हो जाता है और तब मैं आँख से देखता तथा कान से सुनता हूँ इत्यादि कहा जाता है। यहाँ कर्मेन्द्रियों में वाक् को ही लिया गया है। उक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्याकरणदर्शन ज्ञान

के साक्षात् साधन के रूप में इन्द्रियों को अमान्य करता है। शरीर के अवयवरूप अधिष्ठानों से पृथक् उनकी भौतिक या आहंकारिक सत्ता नहीं है- न्यायादि के समान यहाँ कार्यद्रव्यों के भेद के रूप में इन्द्रियों को स्वीकृति नहीं दी जाती है। भौतिक शरीर के अङ्गरूप में वे द्वारमात्र हैं जिनसे होकर विषयाकार मन में प्रवेश करता है। द्वाररूप से ही उनका कार्य समासादन कहा गया है। मीमांसा के प्रत्यक्षलक्षण का 'सत्सम्प्रयोग' और न्याय-वैशेषिक का 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' समासादन से भिन्न है, क्योंकि वे दोनों दर्शन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों की साक्षात्कारणता मान्य करते हैं, परन्तु यहाँ मन ही साक्षात्कारण है जो वस्तुप्रतिबिम्बरूप बौद्ध आकार को उजागर करता है। उक्त महाभाष्य के सन्दर्भों की उद्‌धोत टीका में नागेश ने संकेत दिया है कि इन्द्रिय आहंकारिक हैं, परन्तु पातंजल महाभाष्य तथा वाक्यपदीय से ऐसा समर्थित नहीं होता है।

भौतिक शरीरावयरूप गोलक से भिन्न इन्द्रियों को मान्य न करने के कारण व्याकरण दर्शन में सन्निकर्ष-व्यवस्था नहीं है। चित्तप्रवेश की प्रणालीमात्र होने से इन्द्रियों के विषय-सन्निकर्ष का अनुरंजन भ्रम और प्रमा में अन्तर लाता है। कहा गया है चित्तवृत्ति अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम है। वह इन्द्रिय के साथ चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती है, जिसके कारण रसनागत तथा नेत्रगत पित्त से गुड़ की कटुता तथा शंख की पीतता का भ्रम व्याख्या पाता है। यह प्रतिबिम्ब केवल बुद्धिविपरिणाम है।[७५]

उक्त समस्त विवेचन से सिद्ध है कि रूप-रस आदि का वस्तुगत होना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। वे सब व्यंजकमात्र हैं जिनसे इन्द्रियगत रूपरसादि व्यक्त होते हैं और बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो वैसा बोध देते हैं यदि बुद्धि में वे न हों तो प्रतीति असंभव है, अतः इन्द्रियों द्वारा समासादन से विषयाकार बुद्धिविपरिणाम होता है जिसे 'व्यवसाय' कहा गया है। शब्दप्रत्यक्ष के विषय में उपलब्धि और निर्ग्रहण का प्रयोग भाष्यकार ने किया है। आकाशदेश में स्थित शब्द की उपलब्धि श्रोत से होती है, वह बुद्धि द्वारा निग्राह्य होकर ध्वनिप्रयोग से व्यन्जित होता है।[७६] आकाश के एकत्व और श्रोत्र के आकाशरूप होने से शब्द का प्रत्यय कैसे हो सकता है? इस विषय में प्रदीपाकार का मत है कि-

आकाशरूप होने से श्रौत्र निष्क्रिय है, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा असम्बद्ध विषय का ग्रहण असंभव होने से शब्द की स्थिति आकाश में मानी गयी है। पूर्व-पूर्व ध्वनियाँ नष्ट होती जाती हैं और उन्हें बुद्धि ग्रहण करके समस्तता देती हैं। यहाँ 'उपलब्धि' से प्राप्यकारिता का आशय नहीं है, क्योंकि भौतिक इन्द्रिय द्वारमात्र है। विषयाकार मन के साथ उनका सम्बन्ध ही इन्द्रियसम्बन्ध है, अतएव उद्योतकर ने श्रोत्र और शब्द दोनों का गमन अमान्य किया है। आकाश, आकाशरूप श्रोत्र और आकाशस्थ शब्द के व्यापक होने से श्रोत्र में अभिव्यक्त होकर उसके द्वारा उसका ग्रहण होता है। अतः यहाँ प्राप्यकारिता मान्य नहीं है, क्योंकि विषय और करण दोनों व्यापक हैं। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय भूत हैं उसी प्रकार श्रोत्र भी। 'दिशः श्रोत्रम् (ऐउ १/२/४)'[७७] आदि श्रुतिवाक्यों की संगति हेतु दिक् तथा आकाश को एक ही मानना चाहिए, अतः श्रोत्र द्वारा दिग्देश का ज्ञान भी हो जाता है। व्याकरण इन्द्रियों को भूतरूप या भौतिक मानता है, आहंकारिक नहीं, परन्तु सांख्यानुसार इन्द्रिय आहंकारिक है। इसमें भी यही मानना होगा कि इन्द्रियों के अधिष्ठानरूप भूतों में रिक्त गुणों का इन्द्रियों से ग्रहण होता है। इन्द्रियों की भौतिकता का आशय यहाँ न्यायादि के आशय से भिन्न है- यहाँ इन्द्रियगत भूतगुण की व्यंजना विषयाकार मन से होती है और उसकी बुद्धि-विपरिणामरूप तदाकारता चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती है। अतएव कहा गया है कि विषयसंस्कार से विशिष्ट अन्तःकरण से संयुक्त वैसे ही विषयसंस्कार से विशिष्ट श्रोत्र द्वारा स्फोट शब्द का प्रत्यक्ष होता है।

इसी प्रकार अप्राप्यकारिता की व्याख्या होती है। इन्द्रिय भौतिक होने से 'पादिसंस्कारविशिष्ट रहते हैं, उस भूतविशेष का रूपविशेष ही इन्द्रिय है। मनोरूप अन्तःकरण भी विषयाकार होकर उन संस्कारों से विशिष्ट हो जाता है। दोनों के संस्कार एकीभूत रूप से बुद्धि में प्रतिबिम्बरूप वृत्तिपरिणाम घटित करते हैं। विषय तक इन्द्रियों की गति नहीं होती और विषय भी इन्द्रियों को प्राप्त नहीं करते, किन्तु इन्द्रिय में स्वतः रहते हैं जो मानस विषयाकार के साथ कार्यकारी होते हैं।

निष्कर्ष- वेदों में 'इन्द्रिय' शब्द प्रायः विशेषण पद है जो इन्द्र सम्बन्धी जैसा अर्थ देता है। अथर्ववेद में एक बार पाँच

या छः इन्द्रियों का उल्लेख मिलता है। इससे बाइस इन्द्रियों की व्यवस्था क्षणभङ्गवाद की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। विशेष तथ्य यह है कि 'इन्द्र' की अधिष्ठानभूत सत्ता के नैरात्म्यविरुद्ध होने से इन्द्रियों को ही इन्द्ररूप अधिपति माना गया है। शेष प्रस्थानों में उपनिषदों की परम्परा प्रभावी रहा है। जैन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। जिसमें पाँच इन्द्रियों के साथ मन को अनिन्द्रियरूप ईषत् इन्द्रिय माना गया है। प्रत्येक प्रस्थान की तत्त्वमीमांसा में भेद होने से पाँच, छः, दस, ग्यारह या बारह इन्द्रियों की स्थापना मिलती है। 'इन्द्रिय' शब्द की दो परम्पराएं स्पष्ट हैं– वैदिक और बौद्ध। बौद्धधारा में 'इन्द्र' और 'इन्द्रिय' एकार्थक देखे जाते हैं। सरलार्थ की दृष्टि से इन्द्रिय शरीरव्यापी शक्ति विशेष का नाम है जो अध्यात्मतत्त्व है। आध्यात्मिक या आन्तरिक शक्ति का बहिर्मुखी विषयग्राही प्रसार देखकर 'इन्द्रिय' की कल्पना हुई है–शरीरव्यापी त्वगिन्द्रिय की एकमात्र इन्द्रिय मानने वाला चार्वाकीय सिद्धान्त उसी की विविध शक्तियों के आधार पर विविध ज्ञानों की कल्पना करता है। प्राप्यकारिता की दृष्टि से इसे बहुत स्थूल भी नहीं कहा जा सकता। उस दशा में शरीरस्थ गोलकों को इन्द्रिय मानते हुए चक्षुरिन्द्रिय का बहिगर्मन अमान्य कर, विषय का नेत्र गोलक में प्रतिबिम्बन स्वीकार किया गया है। इस दर्शन में मन इन्द्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका चैतन्य से पृथक् अस्तित्व नहीं बनता। व्याकरण, प्रत्यभिज्ञा और जैन दर्शन पंचेन्द्रियवादी हैं। इनके अनुसार मन इन्द्रिय नहीं है और कर्मेन्द्रिय की सत्ता नहीं बनती। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन मन सहित छः इन्द्रिय स्थापित करते हैं। यहाँ मन नित्य है और शेष भौतिक है। व्याकरण भी इन्द्रियों को भौतिक ही मानता है परन्तु प्रत्यभिज्ञा में वह प्राकृत तत्त्व है। आयुर्वेदादि दर्शन दशेन्द्रियवादी हैं, किंतु सांख्ययोग आदि में मन सहित एकादश इन्द्रिय मान्य है। वेदान्त की सभी धाराओं में यही संख्या स्वीकृत है। परन्तु मध्वाचार्य ने बुद्धि सहित द्वादश संख्या निर्धारित की है। शाक्त दर्शन मन को एक मात्र इन्द्रिय मानता है। तदनुसार गोलकों से भिन्न चक्षुरादि की सत्ता नहीं है। उनका इन्द्रियत्व मनोधीन है। बौद्धधारा पृथक् महत्त्व रखती है।

संदर्भ:

१. *पाणिनीसूत्र, ५/२/९३*

२. *गोपथब्राह्मण*

३. *कठोपनिषद्, ३/४*

४. *बृहदारण्यक उपनिषद्, ३/२/२-९*

५. *वही, ३/२/५*

६. *प्रश्नोपनिषद्, ४/८*

७. *एतरेय उपनिषद्, २/४*

८. *सांख्यकारिका (२५-२७), ईश्वर कृष्ण रचित,*

बुद्धिन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्र घ्राण रसनत्वगाख्यानि।

वाम्पाणि पाद पायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाहुः।।

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।

९. *युक्तिदीपिका–*

बुद्धेरिन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि..........

शब्दादि विषय प्रतिपत्तौ द्वारम्।

तस्माद् मुक्तमुक्तम्-बुद्धे र्बाह्यविषय-

प्रतिपत्तौ द्वारभूतत्त्वाद् बुद्धीन्द्रियाणीति।

१०. सांख्यकारिका, २८-२९

११. वृहदारण्यक उपनिषद्, ३/२/१३

१२. वही, २/२१

१३. वही, २/२३

१४. वही, २/२४

१५. योगसूत्र, व्यासभाष्य- २/१९

१६. वृहदारण्यक उपनिषद्

१७. न्यायसूत्र, भाष्य- १/१/९, भोग साधनानीन्द्रियाणि।

१८. न्यायसूत्र - १/१/१२, घ्राण-रसन-चक्षु-स्त्वक्श्रोत्राणिन्द्रियाणि भूतेभ्यः।

१९. न्यायसूत्र, भाष्य- जिघ्रत्येनेनेति घ्राणं गन्धं गृहणातीति.............।

२०. न्यायवार्त्तिक, १/१/१२

२१. न्यायसूत्र, ३/१/३३

२२. वही, ३/१/५४

२३. वही, ३/१/५६-५७

२४. न्यायसूत्र - ३/१/६२

२५. न्यायसूत्र, ३/१/६३, भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्य।

२६. वैशेषिक सूत्र- ४/२/१८, इन्द्रियत्वं च स्मृत्यजनकज्ञानकारणं मनः संयोगाश्रयत्वम्।

२७. प्रशस्त पादभाष्य, पृ० ४४२

२८. शास्त्रदीपिका, पृ० ४३, यत् स्व सम्प्रयुक्तेर्थे विशदावभासं- ... तदिन्द्रियमित्युच्यते।

२९. मानमेयोदय, पृ० ९

३०. प्रकरण पञ्चिका- पृ. ३२४, श्रोत्रं प्राप्यकारि बहिरिन्द्रिय- त्वान् ... त्वगिन्द्रियवत्।

३१. प्रकरण पञ्चिका, पृ. ३२४, न च गुणस्य शब्दस्य संयोगलक्षणा प्राप्तिह्यपद्यते इति समवाय लक्षणैव तस्य प्राप्तिः।

३२. विवेकचूडामणि, ९४, बुद्धिन्द्रियाणि श्रवणे त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा विषयाववबोधनात्। वाक् पाणिपादं गुदमप्युपस्थ कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु।।

३३. विवेकचूडामणि, ९५, मनस्तु संकल्प विकल्पनादिभि ...।

३४. पंचदशी, २/६-७

३५. वही, २/१०

३६. वही, २/११

३७. वही, २/१८

३८. वेदान्तसार, पृ० ६१

३९. वही, पृ. ६१-६२

४०. वही, पृ. ६३

४१. वही, पृ. ७५

४२. अर्थविनिश्चयसूत्र-७

४३. वही, ३

४४. अभिधर्मकोष, २/९
४५. वही, १६/१८
४६. अर्थविनिश्चयसूत्र-१६
४७. वही
४८. वही
४९. वही-७ वीर्य श्री दत्त कृत निबन्ध टीका
५०. विसुद्धिमग्ग, १४/१४०
५१. वही, १४/१३७
५२. वही, १४/१४१
५३. अर्थविनिश्चयसूत्र- १७
५४. अभिधर्मकोष भाष्य- २/२
५५. वही, २/३
५६. वही, २/७-८
५७. वही, २/४
५८. अभिधर्मदीप, २/८०
५९. मध्यान्तविभागशास्त्र, ३/२०
६०. मध्यान्तविभागशास्त्र, ४/६-७
६१. अभिधर्मकोष, २/१७-१८
६२. वही, २/१८-१९
६३. मध्यमक शास्त्र, ३/१
६४. पंचवस्तुकविभाषा, पृ० २५
६५. अभिधर्मदीप, १/४५-४६
६६. अभिधर्मकोश, २/४३, अप्राप्तान्यक्षिमनः श्रोत्राणि त्रयमन्यथा।
६७. तत्त्वार्थसूत्र, २/१५/६, न वागादीनामिन्द्रियत्वमस्ति, उपयोगसाधनेषु हीन्द्रियव्यपदेशो युक्तो न क्रिया साधनेषु ...।
६८. महाभाष्य पाणिनीसूत्र, ८/२/४९
६९. वाक्यपदीय, १/७९
७०. वही, २/१/१३४
७१. महाभाष्य पाणिनीसूत्र, ३/३/१३३
७२. वही
७३. वाक्यपदीय- ३/९/११२-११३
७४. महाभाष्य पाणिनीसूत्र- ४/२/३
७५. लघुमंजूषा, पृ० २९८
७६. महाभाष्य नवाह्निक १/१/२/१
७७. ऐतरेय उपनिषद्- १/२/४

***

महाकवि कालिदास पर शैवदर्शन का प्रभाव

धीरज कुमार दुबे

संस्कृत साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षक महाकवि कालिदास के काव्यों में न केवल साहित्यिक तत्त्व ही अपितु दार्शनिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। भारतीय दार्शनिक मनीषियों ने 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के अनुसन्धान में जो बहुमूल्य मणिरत्न प्राप्त किये हैं वे सभी कालिदास की रचनाओं में सन्निविष्ट हैं। इस दृष्टि से जब हम इनकी रचनाओं की ओर देखते हैं तो हमें भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति स्मरण हो आती है- 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम' अर्थात् जो मुझे जिस रूप में देखते हैं तथा भजते हैं, मैं उनके लिए वैसा ही रूप धारण कर लेता हूँ।" ठीक यही बात महाकवि की रचनाओं में उपन्यस्त है।

महाकवि कालिदास के काव्यों के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि ये शिव के परमभक्त एवं उपासक थे। महाकवि कालिदास शिव एवं शक्ति की स्तुति अपने ग्रन्थों के आरम्भ में करते हैं। बार-बार शिव का संकेत करने से यह प्रतीत होता है कि महाकवि स्वयं शिव के उपासक तथा शैव धर्म के अनुयायी थे। उदाहरणस्वरूप रघुवंश के मंगलपद्य को लिया जा सकता है। यहाँ शिवस्तुति इस प्रकार की गई है-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।[१]

इस पद्य में शब्दार्थतत्त्व के साथ-साथ काव्यधारा में सफलतापूर्वक प्रवृत्त होने की कामना से महाकवि ने शब्द और अर्थ की भाँति परस्पर अद्वैतभाव से सम्पृक्त संसार के माता-पिता, पार्वती-परमेश्वर की प्रार्थना की है। तन्त्र के आचार्यों ने 'वाक्' के चार भेद स्वीकार किये हैं। यथा- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। वास्तव में यह वाक्-तत्त्व, विद्वानों के मत से छत्तीस तत्त्वों से समन्वित भगवती 'संवित्' रूप ही है। जिस प्रकार इस 'संवित्' से विश्वसृष्टि होती है, उसी प्रकार वाक् में ही काव्य की भी सृष्टि होती है। संभवतः दृष्टि से महाकवि ने ग्रन्थारम्भ में वन्दना की है।

तुलसीदास ने भी महाकवि कालिदास की इस शैली का अपने 'रामचरितमानस' में समावेश करके शिव की स्तुति से ग्रन्थ का आरम्भ किया है। यथा-

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।[२]

प्रायः सभी आलोचकों ने महाकवि कालिदास के ऊपर शैव के पाशुपत मत का प्रभाव माना है। महाकवि द्वारा किया गया पशुपति[३] भूतनाथ[४] भूतेश्वर[५] स्थाणु[६] शिव तथा शक्ति आदि का वर्णन उदाहरण रूप में लिया जा सकता है।

शैवदर्शन में तीन पदार्थ हैं-

१. पति (ईश्वर), २. पशु (जीव), ३. पाश (बन्धन)

चार प्रकार के पाद हैं-

१. विद्या, २. क्रिया, ३. योग, ४. चर्या

त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह विस्तरतः पुनः।।[७]

महाकवि कालिदास के अनुसार पशुपति (जिसे यहाँ स्थाणु शब्द से अभिहित किया गया है) वह देव है जो दृढ़ भक्ति और ध्यान के द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभोनिःश्रेयसायाऽस्तुवः।।[८]

शैवागम में छत्तीस तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। जिनमें आठ तत्त्व तो- भगवान् शिव की आठ मूर्तियाँ हैं। इन्हीं से समस्त सृष्टि की रचना हुई है। ये मूर्तियाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, होता, आकाश, वायु के रूप में विद्यमान हैं। इस बात का समर्थन महाकवि ने प्रस्तुत पद्य में किया है-

या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[९]

जलमयी मूर्ति ब्रह्मा की सर्वप्रथम सृष्टि है। अग्निमयी मूर्ति वैदिक विधान से हवन की हुई (सामग्री)उन देवताओं के पास पहुँचाती है। ईश्वर की होत्री यजमान स्वरूपा है। चन्द्रसूर्यात्मक दो मूर्तियाँ दिन तथा रात करती रहती हैं। श्रवणेन्द्रिय का विषयीभूत शब्दों का आश्रय, आकाशमयी मूर्ति सारे विश्व में व्याप्त होकर विद्यमान रहती है। क्षितिमयी मूर्ति सब प्रकार के अन्नों की बीजस्वरूपा है, जिससे संसार के सब प्राणी जीवित रहते हैं। वायुमयी मूर्ति भगवान् शंकर का मूल स्वरूप ही है जिसे 'प्राण' कहा जाता है।

कुमारसम्भव के शिव विवाह प्रकरण में महाकवि कालिदास द्वारा शिव की मूर्ति का पूर्ण चित्रण इस प्रकार किया गया है। सभी अङ्गो में भस्म लपेटे हुए हैं, इनके मुकुट पर सदा रहने वाला चन्द्रमा चूड़ामणि का काम करता है। यथा-

बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः।।[१०]
दिवापि निष्ठयूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूड़ामणेः किं ग्रहणं हरस्य।।[११]

महाकवि कालिदास के अनुसार सृष्टि में जो कुछ है और जो कुछ उसका कारण है। वह सब 'शिव' है। संहार के अध्यक्ष होते हुए भी भगवान शिव सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा सृष्टि रक्षक विष्णु के भी आराध्य माने गये हैं।

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
गुरोरपीदं घनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्।।[१२]

शैव दर्शन के अनुसार त्रिमूर्ति रूप में भगवान शिव ही सभी सजीव तथा निर्जीव पदार्थों के सर्जन, पालन तथा संहार के कारण हैं। इन तीनों में अन्तिम संहार (प्रत्यवहार) अर्थात् जगत् का प्रलय इनका मुख्य कार्य है। उनकी यह मूर्ति जल

में व्याप्त कही जाती है। प्रलय के अन्त में जब शिव का प्रभाव होता है तो पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। शिव का यह जलमयी रूप विश्वमूर्ति है।

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।।[१३]

शैव दर्शन में 'पति पदार्थ' को शिव कहा गया है। शिव ही ईश्वर है। यथा-

तत्र पति पदार्थः शिवोऽभिमतः ...
इत्यनुमानवशाल्परमेश्वर प्रसिद्धि रूपपद्यते।।[१४]

महाकवि कालिदास अपने काव्यों में प्रकृति का बराबर उल्लेख करते हैं। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की समष्टि ही प्रकृति है। सत्त्वगुण, शान्ति, सरलता, सन्तोष, पूर्णकामना, दयालुता, तुष्टि, धैर्य और आनन्द आदि रूप में परिलक्षित होता है। आनन्द इसका मुख्य स्वरूप है। शोक, कष्ट, वियोग, उत्तेजना, चिन्ता, छिद्रान्वेषण और इसी प्रकार के दूसरे विकारों के कारण रजोगुण के अनन्त परिणाम हैं। वस्तुतः दुःख इसका मुख्य स्वरूप है। तम के भी निद्रा, आलस्य, मोह आदि अनेक कार्य हैं। निरोध और गुरुत्व इसके मुख्य स्वरूप हैं।

दर्शनशास्त्र में मानव जीवन में वृत्तियों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, वासनाओं तथा कामनाओं के साथ सभी प्रकार के कर्म तीन गुणों से उत्पन्न माने गए हैं। महाकवि कालिदास भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में मालविकाग्निमित्रम् का यह श्लोक दृष्टव्य है। यथा-

देवानाभिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रूद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे त्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रेगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्।।[१५]

कालिदास के काव्यों में समाधि शब्द का प्रयोग बहुलता से प्राप्त होता है। समाधि से व्यक्ति अपनी कामनाओं को पूर्ण कर सकता है। समाधि से शरीर छोड़ने वाली दक्षसुता सती को दूसरे जन्म में भगवान् शिव की प्राप्ति होती है। द्रष्टव्य है कुमारसम्भव का यह श्लोक। यथा-

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्।।[१६]

अनन्य सेवा से शिव को प्रसन्न करने में विफल पार्वती जी ने भगवान शिव को प्राप्त करने के लिए समाधि लगाकर घोर तपस्या की। यथा-

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृश्यः।।[१७]

पद्मासनस्थित पार्वती की शारीरिक तपस्या के समय सर्वथा स्थाणुरूप हो गयी थी। आगम तन्त्र में लिखा है- 'देवो भूत्वा देवं यजेत।' अर्थात् तपश्चर्या में तपस्वीजन देह की चिन्ता का पूर्णरूपेण त्याग कर देते हैं। परन्तु कष्ट की अनुभूति तो होती ही है। अतएव महाकवि ने लिखा है- 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधते।'[१८] पार्वती ने इतनी कठोर तपस्या की जो ऋषि मुनियों के लिए सम्भव नहीं थी। फलतः उसे त्रैलोक्य सुन्दर शिव पतिरूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार समाधि दशा में स्थाणु रूप में स्थित वे सदाशिव सदैव अपने 'आशुतोष' रूप से भक्तों को निःश्रेयस् की प्राप्ति कराया करते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार महाकवि के काव्यों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि उनके काव्य शैवदर्शन से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं। यही कारण है कि इनकी अधिकांश रचनाएं शिव की वन्दना से ही प्रारम्भ होती हैं।

वार्गर्थाविव सम्पृक्तौ ... पार्वतीपरमेश्वरौ।[१९]
अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा ...।।[२०]
या सृष्टि स्त्रष्टुराद्या ... वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।[२१] इत्यादि।

कुमारसम्भव महाकाव्य का कथानक तो पूर्ण रूप से शिव से ही सम्बन्धित है। इन तथ्यों के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि कविकूल गुरु महाकवि कालिदास शैवदर्शन के प्रभाव से प्रभावित हैं। साथ ही 'पति' अर्थात् भगवान् सदाशिव के परम उपासक महाकवि है।

सन्दर्भः

१. रघुवंश, १/१
२. रामचरितमानस (बालकाण्ड), श्लोक-२
३. कुमारसम्भवम्, ६/९५, पू. मेघ. श्लोक- ४०, ६०
४. रघुवंश, २/५८
५. वही २/४६
६. कुमारसम्भवम्, ३/१७
७. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २७४
८. विक्रमोर्वशीयम्, १/१
९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/१
१०. कुमारसम्भव, ७/३२
११. वही, ७/३५
१२. रघुवंश,२/४४
१३. कुमारसम्भवम्, ५/७८
१४. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २७७
१५. मालविकाग्निमित्रम्, १/४
१६. कुमारसम्भवम्, १/२२
१७. वही, ५/२
१८. वही, ५/८६
१९. रघुवंश, १/१
२०. कुमारसम्भवम्, १/१
२१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/१

***

प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद में जीव एवं ईश्वर

दिव्या राय

भारतीय चिन्तन परम्परा में वेदान्तदर्शन रूपी महासागर के अजस्र मंथन का निर्मल नवनीत अद्वैतवेदान्त है। अद्वैतवेदान्त के नाममात्र से ही यथार्थ सत्ता विशेषज्ञ महिमामण्डित आचार्य शङ्कर का स्मरण हो जाता है। यद्यपि अद्वैतवेदान्त में एक मात्र परमतत्त्व ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार्य है, भगवती श्रुति भी 'नेह नानास्ति किञ्चन'[१] से नानात्व का निराकरण कर 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म'[२], 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[३] इत्यादि वाक्यों से अद्वैत तत्त्व का ही प्रतिपादन करती है, तथापि ईश्वर, जीव, माया इत्यादि की व्यावहारिक सत्ता दृष्टिगोचर होती है। अद्वैत के अवबोधक इन तत्त्वों के प्रतिपादनार्थ विभिन्न सिद्धान्त अन्वित है यथा, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद, 'दृष्टिसृष्टिवाद', 'सृष्टिदृष्टिवाद' इत्यादि। इनमें प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद के अनुसार जीव एवं ईश्वर स्वरूप का इस शोध-पत्र में प्रतिपादन किया गया है।

प्रतिबिम्बवाद- अद्वैत के प्रतिपादक सिद्धान्त 'प्रतिबिम्बवाद' में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से ईश्वर के जीव स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक विवरणकार 'प्रकाशात्मयति' हैं। इस मत में शुद्ध चैतन्य को बिम्ब तथा जीव को प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिपादित किया गया है। यथा ग्रीवास्थ मुख का जब दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तो ग्रीवास्थ मुख बिम्ब तथा दर्पणस्थ मुख प्रतिबिम्ब कहलाता है, किन्तु ग्रीवास्थ मुख का दर्पण से सन्निधानाभाव होने पर दर्पणस्थ मुख रूप प्रतिबिम्ब पृथक् नहीं, प्रत्युत् ग्रीवास्थ मुख मात्र ही रह जाता है, तथापि शुद्ध चैतन्य का अविद्या में प्रतिबिम्ब पड़ता है तो शुद्ध चैतन्य बिम्ब एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य प्रतिबिम्ब (जीव) कहलाता है, किन्तु अविद्या उपाधि की निवृत्ति होने पर प्रतिबिम्ब पृथक् नहीं, अपितु बिम्बमय अर्थात् ब्रह्म रूप हो जाता है।

आचार्य शङ्कर प्रतिबिम्बवाद के समर्थन में ब्रह्मसूत्र के 'उभयलिङ्ग' अधिकरण में 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (२/३/१८) सूत्र के भाष्य में कहते हैं यथा स्वयं ज्योति स्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, तथापि शुद्ध चैतन्य एक होते हुए भी उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है-

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।।[४]

स्वमत की पुष्टि आचार्य शङ्कर श्रुति वाक्य से करते हुए कहते हैं, एक ही भूतात्मा अनेक रूपों में अवस्थित है, वह एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र की तरह अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है-

एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।[५] (ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १२)

प्रातेबिम्बवाद में जीव एवं ईश्वर

प्रतिबिम्बवादी कुछ अद्वैतवेदान्ती ईश्वर एवं जीव दोनों को प्रतिबिम्ब रूप मानते हैं तथा कुछ प्रतिबिम्बवादी ईश्वर को

बिम्ब तथा जीव को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करते हैं। ईश्वर को बिम्ब एवं जीव को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करने वाले प्रकाशात्मयति हैं, तो शुद्ध चैतन्य को बिम्ब तथा जीव एवं ईश्वर को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करन वाले सर्वज्ञात्ममुनि हैं।

विवरणकार का मत है कि स्वतन्त्र्यादि गुणों से युक्त होने के कारण ईश्वर बिम्ब स्थानापन्न है। परतन्त्र्यादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है। विवरणानुवादियों के मत को उद्धृत करते हुए अप्पय दीक्षित कहते हैं-

अविद्यायां चिदाभासो जीवो बिम्बचिदीश्वरः।
स्वातन्त्र्याद्युपपद्यत्तेरित्याहुर्विवरणानुरागः।।[६]

विवरणकार के मत को उद्धृत करते हुए सिद्धान्तबिन्दुकार मधुसूदन सरस्वती कहते हैं, अज्ञान से उपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर तथा अन्तःकरण और अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञान प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव है। यह विवरणकार का मत है-

अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञान-प्रतिबिम्बवितं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः।[७]

विवरणकार जीव और ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्ब रूप नहीं स्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक उपाधि में एक ही प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। दो प्रतिबिम्ब के लिए दो उपाधि का होना आवश्यक हैं, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञानरूप उपाधि तो एक ही है। अतः ईश्वर और जीव दोनों को प्रतिबिम्ब रूप मानना अयुक्त ही है।

बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरयोर्विभागः, नोभयोरपि प्रतिबिम्बभावेन। उपाधिद्वयमन्तरेणोभयोः प्रतिबिम्बत्वायोगात्। तत्रापि प्रतिबिम्बो जीवः। बिम्बस्थानीयः ईश्वरः।[८]

प्रतिबिम्बवादी संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि '**कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः**' श्रुति के आधार पर शुद्ध चैतन्य को बिम्ब एवं ईश्वर को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करते हैं। सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अप्पयदीक्षित संक्षेपशारीरककार के मत को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं-

संक्षेपशारीरके तु- 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतिमनुसृत्याऽविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः।[९]

तात्पर्य है अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर है एवं अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है। सिद्धान्तबिन्दुकार मधूसुदन सरस्वती संक्षेपशारीरककार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि अज्ञान में प्रतिबिम्बत चैतन्य ईश्वर तथा बुद्धि में प्रतिबिम्बित जीव और अज्ञानोपाधिरहित शुद्धचैतन्य ही बिम्ब है। यह संक्षेपशारीरककार का मत हैं।

अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः, अज्ञानानुपहितं तु बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककाराः।[१०]

इस प्रकार संक्षेपशारीरककार ब्रह्म को बिम्ब तथा ईश्वर एवं जीव को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करते हैं।

यद्यपि विवरणकार प्रकाशात्मयति एवं सर्वज्ञात्ममुनि दोनों प्रतिबिम्बवादी हैं, तथापि दोनों मत में भेद है। विवरणकार ईश्वर को बिम्बोपहित चैतन्य मानते हैं। यहाँ पर शङ्का उपस्थित है, कि यदि ईश्वर और जीव दोनों प्रतिबिम्ब रूप ही हैं, तो जीव प्रतिबिम्ब की भाँति ईश्वर में अविद्या प्रयुक्त दोष क्यों नहीं आते? समाधान है यद्यपि ईश्वर अविद्योपहित है, तथापि उसमें अज्ञानावरण से आवृत्त न होने से अविद्या प्रयुक्त दोष ईश्वर में नहीं होते।

पञ्चदशीकार विद्यारण्य 'पञ्चदशी के 'तत्त्वविवेक' प्रकरण में ब्रह्म को बिम्ब और ईश्वर एवं जीव को प्रतिबिम्ब रूप स्वीकार करते हैं। माया और अविद्या में भेद ग्रहण कर माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर और अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव कहते हैं। इनके मत में माया शुद्ध सत्त्व प्रधान है एवं अविद्या मलिन सत्त्व प्रधान है।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।।[११]

ईश्वर और जीव एक उपाधि होने पर भी उपाधि रूप माया की शुद्धता एवं मलिनता के कारण ईश्वर सर्वज्ञ एवं जीव अल्पज्ञ है।

जीव सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि जीव एक है या अनेक। कुछ अद्वैताचार्य जीव को एक मानते हैं। उनके मत में अविद्या रूप उपाधि के एक होने से जीव एक है तथा कुछ अद्वैताचार्य अविद्या के एक होने पर भी नाना अन्तःकरण को लेकर एक ही शुद्ध चैतन्य में नाना जीव भावापन्न स्वीकार करते हैं। ये अनेक जीववादी हैं।

प्रतिबिम्बवादी सर्वज्ञात्ममुनि एक जीववाद का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब जीव है। अविद्या एक है अतः जीव भी एक है, अन्तःकरण के द्वारा अविद्या में प्रतिबिम्बत एक जीव नाना रूपों में प्रतिभासित होता है।

अवच्छेदवाद- अवच्छेदवाद के प्रतिपादक वाचस्पति मिश्र हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं 'जीव', अनवच्छिन्न चैतन्य 'ईश्वर' है। घटकाशादि के दृष्टान्त से ईश्वर एवं जीव स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है-

घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः तदनवच्छिन्नं चैतन्यं ईश्वरः।[१२]

यथा घटाकाश के रूप में महाकाश प्रतीत होता है, तथापि अविद्या के कारण शुद्ध चैतन्य जीव रूप में प्रतीत होता है। तात्पर्य है कि परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति महाकाश से उत्पन्न घटाकाश के समान ही है परमार्थतः नहीं। निरवयव, निर्विकारी आकाश एक घट से अविच्छिन्न होने पर घटाकाश को उत्पन्न करता है, वस्तुतः घटाकाश उत्पन्न होता नहीं अपितु प्रतीति मात्र होती है, तथापि आत्मा के विभिन्न शरीर मन अन्तःकरणादि से अवच्छिन्न होने पर जीव रूप में उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है, किन्तु आत्मा निरवयव होने से उत्पन्न नहीं होता अज्ञान के कारण ही प्रतीति होती है।

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घाटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।[१३]

एवं महाकाश उपाधि रहित है, किन्तु घट से अवच्छिन्न होने पर 'घटाकाश' कहा जाता है, किन्तु घटाकाश महाकाश से पृथक् अस्तित्व वाला नहीं होता, क्योंकि घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है, एवं दृष्ट्या परमात्मा अज्ञान रूप उपाधि से उपहित होकर जब अन्तःकरण से अविच्छिन्न होता है तो 'जीवात्मा' कहलाता है, किन्तु जीवात्मा परमात्मा से पृथक् नहीं, अपितु परमात्मरूप ही होता है। अन्तःकरण उपाधि के नाश होने पर जीवात्मा अन्ततोगत्वा परमात्मा में विलीन हो जाता है। आचार्य शङ्कर स्पष्ट रूप से कहते हैं, कि अन्तःकरण उपाधि के नष्ट हो जाने पर घटाकाश रूप जीव महाकाश रूप ब्रह्म में विलीन हो जाता है-

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमेव भवति स्फुटम्।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्।।[१४]

एवं स्पष्ट है कि जब तक घट का अस्तित्व रहता है तब तक घटाकाश रहता है। घट की भग्न दशा में घटाकाश पृथक् अस्तित्ववान नहीं रहता है, प्रत्युत् महाकाश में विलीन हो जाता है, तथापि जब तक अविद्या की स्थिति है तभी तक अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का जीव। रूप में व्यवहार होता है। अविद्या की निवृत्ति होते ही जीव ब्रह्म रूप ही हो जाता है-

घटादि प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।[१५]

सिद्धान्तबिन्दुकार मधुसूदन सरस्वती वाचस्पति मिश्र के मत को उद्धत करते हुए कहते हैं- अज्ञान का विषयी भूत चैतन्य ईश्वर एवं अज्ञान का आश्रयी भूत चैतन्य जीव है। अवच्छेदवादी अज्ञान के नाना होने से जीव को नाना मानते हैं-

अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पति मिश्राः।[१६]

अवच्छेदवादी अज्ञान के नाना होने से जीव को नाना मानते हैं। प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भी पृथक्-पृथक् है। जीव अज्ञानोपहित होने से संसार का उपादान कारण है। प्रपञ्च का अधिष्ठान होने से ईश्वर में जगत् कारणत्व का उपचार मात्र है। यही अवच्छेदवाद है-

अस्मिंश्चपक्षे अज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपञ्चभेदः जीवस्यैवाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चाति सादृश्यात्। ईश्वरस्य च सप्रपञ्चजीवाविद्याधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव अवच्छेदवादः।[१७]

यहाँ सहज ही शङ्का उपस्थित होती है कि एक ही उपाधि जीवत्व प्रापक है एवं ईश्वर की भी वही उपाधि है। ऐसी स्थिति में उपाधि के एकता होने पर जीव और ईश्वर में भेद कैसे? समाधान है कि यद्यपि दोनों की उपाधि एक ही है, तथापि एक ही प्रकार से नहीं है, अपितु अविद्या विषयता सम्बन्ध से ईश्वर की उपाधि है, तथा आश्रयता सम्बन्ध से जीव की उपाधि है। ईश्वर केवल अविद्या का विषय है आश्रय नहीं। अविद्या का आश्रय तो जीव है अविद्या का आश्रय होने से जगत् जीव कृत है, ईश्वर कृत नहीं।

इस मत के अनुसार जीव स्वाज्ञानोपहिततया जगत् का उपादान कारण है। यथा लोक में तुला विद्या से उत्पन्न होने वाला रजताभास स्थल में अविद्या के विषयीभूत शुक्ति रजत को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती, अपितु अविद्याश्रित जीव ही अविद्या की सहायता से रजत की कल्पना कर लेता है, तथापि चेतन ईश्वर भी अज्ञान का विषय होने से जगत् की उद्भावना करने में समर्थ नहीं, प्रत्युत जीव ही अविद्या की सहायता से जगत् की कल्पना कर लेता है।

यहाँ पुनः शङ्का होती है कि जीव अविद्या का आश्रय होने से जगत् जीवकृत है। यदि अविद्या ही जगत् उत्पादन का बीज है तो ईश्वर का क्या प्रयोजन है? भामतीकार वाचस्पतिमिश्र समाधान में कहते हैं कि कोई भी जड़ पदार्थ चेतन से अधिष्ठित हुए बिना समग्र कार्य का सम्पादन कर ले यह सम्भव नहीं है। अतः जड़ रूप अविद्या अपने कार्य सम्पादन के लिए निमित्त कारण एवं उपादान कारण के रूप में परमेश्वर का आश्रय लेती है। अर्थात् जगत् रूप कार्य के लिए ईश्वर को निमित्त एवं उपादान रूप से आलम्बन करती है। यथा सर्प भ्रम का अधिष्ठान भ्रान्त व्यक्ति नहीं रज्जु होती है, तथापि प्रपञ्चविभ्रम का अधिष्ठान ईश्वर है-

नह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं कार्याय पर्याप्तमिति स्वकार्यं कर्तुं परमेश्वरं निमित्ततयोपादानतया चाश्रयते, प्रपञ्चविभ्रमस्य हीश्वराधिष्ठानत्वमहिविभ्रमस्येव रज्जवधिष्ठानत्वं तेन यथाऽहिविभ्रमो रज्जूपादान एवं प्रपञ्चविभ्रम ईश्वरोपादानः।[१८]

प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद में जीव एवं ईश्वर उपन्यस्त है

१. अवच्छेदवाद के अनुसार अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव एवं अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है।

२. अवच्छेदवाद के अनुसार ईश्वर निरूपाधिक होने से शुद्ध चैतन्य है, प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ईश्वर अज्ञान रूप उपाधि से युक्त है।

३. अवच्छेदवाद के अनुसार अज्ञान के नाना होने से जीव भी नाना है, प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या के एक होने से उसमें प्रतिबिम्बित जीव भी एक ही है, अन्तःकरण के भिन्न-भिन्न होने से जीव भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिभासित होता है।

४. अवच्छेदवाद के अनुसार जगत् जीव कृत है, ईश्वर कृत नहीं। ईश्वर में तो जगत् कारणत्व का उपचार मात्र है, जबकि प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जगत् कारणता ईश्वर में है जीव में नहीं। शुद्ध सत्त्व प्रधान माया रूप उपाधि से युक्त सर्वज्ञ है वही जगत् का कर्ता है।

५. अवच्छेदवाद के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव एवं विषय ईश्वर है। यदि अविद्या का आश्रय ईश्वर को माना जाय तो ईश्वर में भी अज्ञता की प्रसक्ति होगी। अतः अज्ञ जीव को अविद्या का आश्रय मानना युक्त है। प्रतिबिम्बवादी के मत में अविद्या का आश्रय एवं विषय शुद्ध चैतन्य है, क्योंकि अविद्या की उपाधि लगने के बाद ही जीव की संज्ञा होती है। उसके पूर्व अविद्या का आश्रय शुद्ध चैतन्य ही हो सकता है अविद्या पूर्व सिद्ध है-

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी, निर्विभागाचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो, नाऽऽश्रयो भवति नापि गोचरः।।[१९]

अतः अविद्या का आश्रय जीव एवं विषय ब्रह्म है यही युक्त है। जीव और ईश्वर विभाग वास्तविक नहीं अपितु व्यावहारिक है। अज्ञान के कारण ही है, क्योंकि अज्ञान की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर जीवात्मा परमात्मा में भेद नहीं रह जाता है-

विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति।।[२०]

अस्तु, इन दोनों मत के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि, ये मत जीव-ईश्वर के सम्बन्ध को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित करते हैं। यदि यह कहें कि कोई भी एक मत सर्वथा युक्त है और अन्य मत अयुक्त है तो यह समीचीन नहीं, क्योंकि जिस मत से जिस पुरुष को अविनाशी सत् तत्त्व का अवबोध हो वह मत उस पुरुष के लिए समीचीन है। इन मतों के उपाय मात्र ही भिन्न हैं उपेय नहीं, उपेय तो सत् तत्त्व का ही प्रतिपादन है। अतः दोनों मत समीचीन है। आचार्य सुरेश्वर कहते भी है-

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिःप्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वी सा चानवस्थिता।।[२१]

सन्दर्भ:

१. *बृहदारण्यकोपनिषद् ३/१, शाङ्करभाष्य, गोरखपुर, गीताप्रेस*

२. *छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१, शाङ्करभाष्य, गोरखपुर, गीताप्रेस*

३. *वही, ३/४/१*

४. *आचार्य शङ्कर, (१९८८), व्या. स्वामी श्री हनुमानदासजी षट्शास्त्री, ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, सू० ३/२/१८, पृ. ७२९*

५. *वही, पृ. ७२९*

६. *अप्पयदीक्षित, (२००७), व्या. पं० श्री मूल शंकर व्यास, सिद्धान्तलेशसंग्रह, वाराणसी, चौखम्भा, विद्या भवन, का. ४०*

७. *मदुसूदन सरस्वती, (२००२), सिद्धान्त बिन्दु, वाराणसी, श्री दक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन, पृ० १८३*

८. *सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० १०३-१०४*

९. *वही, पृ० ८५*

१०. *सिद्धान्तबिन्दु, पृ० १८३-१८४*

११. *विद्यारण्य मुनि, (१९९५), व्या. रामावतार विद्या भाष्कर, पञ्चदशी, दिल्ली, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, १/१६*

१२. *सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ. १११*

१३. गौड़पादसार, (माण्डूक्य-उपनिषद्-कारीका-व्याख्या), व्या० परमहंस परिव्राजकाचार्य, वाराणसी, श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, ३/३

१४. आचार्य शङ्कर, (२०११), (परमहंसी व्याख्या) विवेकचूड़ामणि, गुजरात, द्वारका, शारदापीठ विद्यासभा, का. ५६६

१५. गौड़पादसार ३/४

१६. सिद्धान्तबिन्दु, पृ. १८५

१७. वही, पृ. १८५

१८. वाचस्पति मिश्र (१९९५), व्या. परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री ऋषिरामशिष्यस्वामीयोगीन्द्रानन्द, भामती प्रथम भाग, वाराणसी, चौखम्बा विद्या भवन, पृ. ४६५

१९. सर्वज्ञात्म मुनि, (१९८७), व्या. श्री स्वामी रामानन्द, संक्षेपशारीरकम्, वाराणसी, चौखम्बा विद्या भवन, १/३१९

२०. विद्यारण्य मुनि, (२०१२), श्री ललिता प्रसाद, विवरणप्रमेयसंग्रह, दिल्ली, वाराणसी, भारतीय विद्या प्रकाशन, पृ. १७३

२१. आचार्य सुरेश्वर, (१९८३), वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक, वाराणसी, महेश रिसर्च इंस्टीट्यूट, १/४/४०२, पृ. ३४२

***

२. नीति एवं आचार : तात्त्विकता से सात्त्विकता की ओर

संकल्प-स्वातंत्र्य एवं नैतिक उत्तरदायित्व (भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ में)

अरुण कुमार सिंह

संकल्प-स्वातंत्र्य की चर्चा करने एवं समझने के पहले आवश्यक है कि अशुभ की समस्या समझने का प्रयास करें। धर्म-दर्शन में अशुभ दो प्रकार के बताये गये हैं- भौतिक या प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ। यह दोनों अशुभ अलग होते हुये भी आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि शारीरिक या मानसिक दुःख के रूप में संसार में अशुभ सर्वत्र व्याप्त है। अशुभ मनुष्य के दुराचार या मानवीय कारणों या प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न वह शारीरिक या मानसिक दुःख है, जिसके अनुभव हम सभी प्राणी करते हैं, भले ही हम स्वयं उत्तरदायी न हो। विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों- बाढ़, सूखा, भूकम्प, तूफान आदि तथा अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों के फलस्वरूप उत्पन्न उस दुःख को प्राकृतिक अशुभ की संज्ञा दी जाती है, जिसके मूल कारणों पर प्राणियों का कोई नियन्त्रण नहीं है, इसीलिये वह इसके लिये उत्तरदायी भी नहीं है।

लेकिन प्राकृतिक अशुभ के अतिरिक्त नैतिक अशुभ भी है, जिसका क्षेत्र मानव जगत् तक ही सीमित है- ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध, लालच, वासना, दूसरों को दुःख पहुँचाने की स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा आदि। ये समस्त दुर्गुण ही नैतिक मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों के विरुद्ध आचरण करने के लिये प्रेरित करते हैं। यह नैतिक अशुभ ही पाप है, इसका ही अर्थ है ईश्वरीय आदेशों का उल्लंघन करना। किसी व्यक्ति द्वारा किया गया अपराध जो कि अन्यों को या समाज को दुःख पहुँचाता है तो वह नैतिक अशुभ ही कहलाता है। जैसे घूस-खोरी के कारण यदि कोई पुल, भवन आदि गिर जाता है, जिसके कारण बहुत से लोग मर जाते हैं या घायल हो जाते हैं तो नैतिक अशुभ ही हैं।

यदि इस प्रकार देखा जाये तो नैतिक व प्राकृतिक अशुभ में पर्याप्त सीमा तक भिन्नता है। प्राकृतिक अशुभ के विपरीत नैतिक अशुभ के लिये व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने प्रयास से इस अशुभ से मुक्त भी हो सकते हैं। नैतिक मूल्यों व आदर्शों के विपरीत आचरण करने के कारण ही इसे नैतिक अशुभ कहते हैं। मनुष्य के दुर्गुणों के कारण ही विश्वयुद्ध जैसे भयंकर परिणाम राष्ट्रों को भुगतना पड़ता है। इस प्रकार देखा जाये तो नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ से ज्यादा घातक दिखता है।

यद्यपि दोनों अशुभ एक-दूसरे से भिन्न हैं फिर भी दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध भी देखा जा सकता है। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को उत्पन्न कर सकता है। जैसे बाढ़ व अकाल के समय व्यक्ति केवल अपने बारे में ही सोचता है। यहाँ तक कि माता-पिता अपनी जान बचाने के लिये अपनी संतान तक को बेच देते हैं। यह नैतिक आदर्शों व मूल्यों को पूर्णतः नष्ट कर देना ही तो है। यहा कारण है कि प्राकृतिक अशुभ, नैतिक अशुभ को उत्पन्न कर देता है।

ठीक इसी प्रकार नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ को उत्पन्न करता है। मनुष्य अपनी लालच के कारण प्रकृति के खिलाफ ऐसा खिलवाड़ कर रहा है, जिसके कारण प्राकृतिक संतुलन पूर्णरूप से छिन्न-भिन्न हो गया है। औद्योगिकीकरण,

वनों की कटाई, पहाड़ों की खुदाई आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि अशुभ की समस्या जिस रूप में ईश्वरवादियों के लिये उत्पन्न होती है, उस रूप में अन्यों को नहीं। इसलिये इस पर हमें विशेष रूप से विचार करना पड़ेगा और सर्वप्रथम तो यह है कि इस संसार का रचयिता ईश्वर है, वह सर्वशक्तिमान, प्रेममय, शुभ और दयालु है। फिर यह कि इस संसार में मानवीय दुर्गुणों के कारण दु:ख है, अशुभ है तो समस्या यह है कि जब सब कुछ का कर्ता-धर्ता ईश्वर है और वह सर्वशक्तिमान, शुभ, दयालु एवं संसार का रचयिता है तो अशुभ के लिये जिम्मेदार भी तो उसी को होना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि यह अशुभ आया कहाँ से? क्या ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता ने अशुभ को उत्पन्न किया? यदि ईश्वरवादी अपना उत्तर हाँ में देते हैं तो फिर ईश्वर के जो गुण हैं वे निरर्थक सिद्ध होंगे, इसलिये ईश्वरवादी इस तर्क को स्वीकार नहीं करते और न ही इसका उत्तर संतोषजनक ढंग से नहीं दे पाते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही ईश्वरवादियों के लिये अशुभ की समस्या जटिल बनी हुयी है। लेकिन बहुत से दार्शनिक इस समस्या पर विचार करते रहे हैं जैसे एपिक्यूरस, ऑगस्टाइन एवं एक्वीनस आदि। आधुनिक दर्शन में अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम ने अपनी कृति 'ए डायलाग्ज कन्सर्निंग नैचुरल रिलीजन' में इस समस्या पर विस्तार से विवेचना की है। वर्तमान में भी नैल्सन पाइक, जे.एल. मैकी, मैकलास्की आदि अनेक दार्शनिकों ने इस समस्या पर विचार किया। इसके बावजूद यह समस्या अनसुलझी जैसी लगती है।

इन सबके बावजूद कुछ मुख्य समाधान दिये जा सकते हैं। कुछ ईश्वरवादी यह मानते हैं कि संसार में शारीरिक तथा मानसिक दु:ख के रूप में जो अशुभ है वह वस्तुत: मनुष्य के अपने पाप के कारण ही है। ईश्वर उसे उसके पापों का दण्ड देने के लिये ही अशुभ उत्पन्न करता है। अनेक ईश्वरवादी धर्म परायण विचारक इसी सिद्धान्त के आधार पर अशुभ के अस्तित्व की व्याख्या करते रहे हैं।

कुछ ईश्वरवादियों का यह मानना है कि प्राकृतिक आपदायें हमें ईश्वर की महानता एवं सर्वशक्तिमत्ता की पहचान कराता है। जब हम अपार कष्ट में होते हैं तो हमें ईश्वर की ही याद आती है, क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि इन सारे दु:खों से मुक्ति केवल ईश्वर ही दिला सकता है।

कुछ ईश्वरवादी यह मानते हैं कि हमें सुख की अनुभूति तभी होती है, जब दु:ख अपने ऊपर पड़ता है। ठीक इसी तरह यदि हमें शुभ को जानना है तो अशुभ का होना अनिवार्य है। बहुत से दार्शनिकों का यह मानना है कि दु:ख हमें धैर्य, साहस एवं आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है। इसी कारण निवेन, विलियम टैम्पल एवं जी. एस. जायस आदि भौतिक एवं मानसिक दु:ख को मानव जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक मानते हैं। लेकिन इन तर्कों के बावजूद भी हम अशुभ के लिये ईश्वर को उसके उत्तरदायित्व से नहीं बचा सकते।

अभी तक हम केवल प्राकृतिक अशुभ की ही चर्चा कर रहे थे, जबकि नैतिक अशुभ के कारण भा संसार में अत्यधिक पीड़ा है। ईश्वरवादियों के लिये अशुभ की ऐसी व्याख्या करना अनिवार्य हो जाता है जो अशुभ के लिये ईश्वर को जिम्मेदार न माने। यह उचित है कि ईश्वर ने ही संसार की रचना की है। उसी ने प्राणी पशु-पक्षी आदि सबकी रचना की, लेकिन यह मनुष्य का यह सौभाग्य है कि उसने मनुष्य को विवेक भी दिया। साथ ही यह स्वतंत्रता भी दी कि वह गलत व सही का चुनाव कर सके। यह संकल्प-स्वातंत्र्य ही व्यक्ति को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करती है। यदि ईश्वर संकल्प-स्वातंत्र्य न प्रदान करता तो मनुष्य कठपुतली बन कर रह जाता। यह संकल्प-स्वातंत्र्य ही नैतिकता का मूल आधार माना जाता है। मनुष्य जो नैतिक अशुभ करता है, वह संकल्प-स्वातंत्र्य के दुरूपयोग के कारण करता है। वह अपने स्वार्थ, लाभ, लोभ, मोह, क्रोधादि के कारण जानबूझ कर अशुभ का चुनाव करता है। इसी कारण संसार में नैतिक अशुभ दिखाई पड़ता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझे- एक पिता यदि अपने पुत्र को फीस के लिये पैसे देता है, लेकिन पुत्र उस पैसे से सिनेमा देख आता है तो क्या पिता इसके लिये जिम्मेदार हुआ? क्योंकि पैसे तो पिता ने ही दिया था। किन्तु यदि देखा जाये तो पुत्र ने अपने

विवेक के आधार पर गलती की, इसलिये इस कृत्य के लिये वही उत्तरदायी हुआ, न कि पिता। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर कहीं भी किसी भी प्रकार से नैतिक अशुभ के लिये उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि उसने मनुष्य को संकल्प-स्वातंत्र्य दिया, न कि कठपुतली बनाया।

वैसे भी ईश्वर मानव को सदैव शुभ का चुनाव करने के लिये बाध्य नहीं करना चाहता, क्योंकि उसके ऐसा करने से मानव की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। जैसा कि डेविड टूब्लड अपनी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ रिलीजन' में कहते हैं कि 'पाप करना हमारा दोष है, ईश्वर का नहीं, अशुभ वह मूल्य है जो हम नैतिक स्वतन्त्रता के लिये देते हैं।'

इस प्रकार यदि देखा जाये तो अशुभ के समस्त कारणों के विश्लेषण से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयास द्वारा अशुभ के कारणों का निराकरण करके दुःख को पर्याप्त सीमा तक कम कर सकता है और इसके लिये ईश्वर की सहायता की न तो आवश्यकता पड़ेगी और न ही हम ईश्वर को किसी भी प्रकार जिम्मेदार ठहरा सकते हैं।

अब हम संकल्प-स्वातंत्र्य के सन्दर्भ में नैतिकता एवं नैतिक उत्तरदायित्व के विश्लेषण का प्रयास करेंगे।

जब हम नैतिकता पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इसका उद्गम व विकास समाज से ही है, समाज से पृथक् इसकी न तो कोई सम्भावना है और न ही आवश्यकता। मनुष्य भी स्वभावतः सामाजिक प्राणी है, क्योंकि समाज से पूर्णतः पृथक् जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य के आचरण को नैतिक या अनैतिक कहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। नैतिकता नियमों, सिद्धान्तों, मूल्यों एवं आदर्शों से सम्बन्धित एक सामाजिक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तिगत कल्याण तथा सामाजिक हित के लिये उसके आचरण का नियमन, नियंत्रण, मूल्यांकन तथा मार्गदर्शन करना है और जिसे वह सामाजिक दबाव या स्वयं अपनी इच्छा से स्वीकार करता है। 'जब हम व्यावहारिक या सामाजिक जीवन में किसी व्यक्ति के कर्मों या आचरण को अच्छा अथवा बुरा या उचित या अनुचित ठहराते हैं तो उसका आधार व्यक्ति का, समाज का या दोनों का अधिकतम कल्याण को ही मापदण्ड मानते हैं।'

नैतिकता की तरह कानून भी मनुष्य के आचरण का नियमन एवं मार्गदर्शन करता है तो फिर इन दोनों में अन्तर क्या है ? यह ठीक है कि नैतिकता और कानून दोनों ही सैद्धान्तिक शास्त्र न होकर व्यावहारिक शास्त्र हैं, क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है, किन्तु मानवीय आचरण के प्रति इन दोनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। कानून मानवीय आचरण के बाह्य पक्ष को नियंत्रित करता है जब कि नैतिकता बाह्य व आंतरिक दोनों पक्षों को। दूसरी बात यह भी है कि हम कानून को दण्ड के भय के कारण मानते हैं, जबकि नैतिकता आत्मारोपित होती है, क्योंकि नैतिक नियमों के उल्लंघन के कारण हमें मन में अपराध बोध का अनुभव होता है। एक और अन्तर यह भी है कि कानून किसी देश, संस्था, विशेष समय में, विशेष समुदाय के लिये बनाये जाते हैं। जबकि नैतिकता सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सभी के लिये होती है। इस आधार पर यदि हम देखें तो नैतिक नियमों की कुछ आधारभूत विशेषतायें होती हैं।

प्रत्येक नैतिक नियम सभी के लिये अनिवार्यतः होता ही है अर्थात् वह समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है। दूसरी बात सार्वजनीन होने के साथ-साथ प्रत्येक नैतिक नियम परामर्शात्मक भी होता है। अर्थात् यदि हम कहते हैं अमुक कर्म उचित है तो कहने का तात्पर्य यही है कि वह कर्म सभी को करना चाहिये। इस परामर्श के कारण हम मार्गदर्शन देकर उनको आचरण के लिये प्रेरित करते हैं। नैतिक नियमों की यह भी विशेषता है कि इनके उल्लंघन के कारण हमें अपराध बोध होता है, आत्मग्लानि का अनुभव होता है। यही कारण है कि हम अपने जीवन में इन नियमों को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर उसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। हम जानते हैं कि नैतिक नियमों को हम सामाजिक हित के लिये ही स्थापित करते हैं, ताकि समाज में सामंजस्य स्थापित रह सके।

भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ में यदि हम धर्म और नैतिकता का विश्लेषण करेंगे तो कुछ बाते ध्यान में आयेंगी। भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द का प्रयोग इसके प्रचलित सामान्य अर्थ से भिन्न और बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है।

वेद, उपनिषद्, स्मृति, भगवद्गीता, महाभारत तथा भारतीय दर्शन में धर्म शब्द की सविस्तार व्याख्या की गयी है एवं इसके भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गये हैं, जैसे ऋग्वेद में कहा गया है कि 'धर्म ही विश्व का मूल तत्त्व या आधार है।'[१]

उपनिषदों में धर्म को सत्य और कर्तव्य से जोड़कर उसे अनिवार्यत: नैतिकता से संबद्ध कर दिया गया। बृहादरण्यक उपनिषद् के अनुसार 'सत्य तथा धर्म मूलत:'[२] एक ही हैं। उपनिषदों में वर्णाश्रम धर्म का भी उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप समस्त कर्तव्यों का पालन करना चाहिये।'[३] अन्य धर्मशास्त्रों में भी धर्म का यही अर्थ स्वीकार किया गया है। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को इसी अर्थ में स्वधर्म पालन की शिक्षा दी है। बौद्ध दर्शन में भी शील एवं आष्टांगिक मार्ग को धर्म के अन्तर्गत मान कर उसके नैतिक पक्ष को विशेष महत्त्व दिया गया है। भारतीय मनीषियों ने धर्म को एक ऐसी जीवन-पद्धत्ति के रूप में ग्रहण किया है, जिसके अनुसार मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है और जिसमें स्व-कर्तव्य पालन का सर्वाधिक महत्त्व है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र एवं मनु ने अपनी मनुस्मृति में तथा महर्षि व्यास ने महाभारत में भी धर्म के स्व-कर्तव्य पालन सम्बन्धी इसी पक्ष पर चर्चा की है। महाभारत में राजधर्म, मित्रधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि का जो उल्लेख मिलता है उसमें धर्म का अर्थ अपने कर्तव्य का पालन ही है।[४] स्व-कर्तव्य पालन तथा आचार सम्बन्धी धर्म के इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए मनु ने उसके चार मूल स्रोत बताये हैं- १. श्रुति (वेद), उपनिषद् आदि। २. स्मृति, धर्मशास्त्र आदि। ३. सदाचार महापुरुषों द्वारा दिखाया गया मार्ग। ४. आत्म-तुष्टि।[५] मनु ने धर्म के अनिवार्य दस लक्षणों को भी इसी अर्थ में स्वीकार किया है। धृतिक्षमादमोअस्तेयम्शौचंमिन्द्रियनिग्रहधीर्विधासत्यमक्रोधो दशकम् धर्मलक्षणं।[६]

इस प्रकार हम पाते हैं कि धर्म और नीतिशास्त्र का व्यापक और घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि दोनों ही नीति नियामक एवं आदर्शमूलक विज्ञान हैं। धर्म व्यक्ति के आंतरिक व बाह्य गुणों का विश्लेषण करता है तो नीतिशास्त्र मानव में गुण, धर्मों व कर्तव्यों को विकसित कर उन्हें सामाजिक व धार्मिक बनाने का कार्य करता है। इस प्रकार दोनों के अन्तर्गत मानव जीवन के आदर्शों और मूल्यों का अध्ययन किया जाता है। नैतिक कर्तव्य धार्मिक संस्कारों को मानव में विकसित कर उन्हें धार्मिक बनाने की संस्कृति को विकसित करते हैं, जबकि धर्म संस्कृति का विकास कर मानव को एक अच्छा नागरिक बनाता है, साथ ही समाज में उच्च कोटि के आदर्श मूल्यों की स्थापना कर उन्हें नैतिकता का पाठ पढ़ाकर भाईचारे की भावना को विकसित करता है। इस प्रकार धर्म और नीतिशास्त्र मूल्यों, आदर्शों के कारण अभिन्न है। नीतिशास्त्र धर्म-दर्शन की आत्मा है, धर्म-दर्शन नीतिशास्त्र का चक्षु है। नीतिशास्त्र धर्म को आत्मसात करता है और धर्म नीतिशास्त्र के लिये एक विकसित व्यवस्था का निर्माण कर नैतिक नियमों का सृजन करता है। नैतिक नियम सत् (धर्म) मार्ग पर चलने के लिये दण्डसंहिता का निर्माण करते हैं। जैसा कि मनु ने राजा को दण्डाधारी नियुक्त कर उसको पापियों, भ्रष्टों व सभी दुराचारियों के त्रास देने के लिये कहा है।[७] ऐसा कार्य जो भी नृप करता है वह चन्द्रावत के समान प्रशंसनीय है।[८] जिससे समाज में शुभ शान्ति की स्थापना होती है। यही धर्म, नीति, मूल्यों का रूप है। जबकि नैतिक मूल्य धर्म मूल्यों का परिणाम है। 'जिससे राजा भय के समान मित्र शत्रु का भेद छोड़कर सभी लोगों को दण्डात्मक शक्ति द्वारा नियंत्रण में रखे।''[९] और वायु के समान गुप्तचरों के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र में भ्रमण कर भ्रष्ट लोगों को दण्डित करे।[१०] लेकिन भ्रष्ट कानून-प्रथा एवं दण्ड सामाजिक नियंत्रण के साधन नहीं हैं, अपितु समाज व समष्टिगत प्रबंधन करने वाले धर्म एवं नीति हैं जो सबके रूपों को प्रभावित करने वाली सर्वाधिक नियंत्रक शक्तियाँ है। यह समान भाव से सभी प्राणियों को पृथ्वी की तरह धारण कर उनका भरण पोषण करता है।[११] यदि हम इन्हें भली-भाँति जान सकेंगे तो समाज में व्याप्त असन्तोष को नहीं मिटा सकते। इसलिये धर्म एवं नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों का दार्शनिक विश्लेषण करना अनिवार्य हो जाता है।

संकल्प-स्वातंत्र्य धर्म एवं नैतिकता के सन्दर्भ में हमें नैतिक उत्तरदायित्व पर भी विचार करना पड़ेगा। हम किसी भी कर्म के लिये किसी को भी उत्तरदायी मान सकते हैं या नहीं मान सकते? अर्थात् मनुष्य अपने उसी कर्म के लिये उत्तरदायी है जिसे वह किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार करता है। इस प्रकार ऐसे ही कर्मों के लिये वह

प्रशंसा या निन्दा का पात्र हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने चरित्र के निर्माण व विकास के लिये काफी हद तक स्वयं ही उत्तरदायी है। हाँ! यह भी सत्य है कि अन्य व्यक्ति या परिस्थितियाँ भी उसके निर्माण में सहायक होती हैं, फिर यह भी महत्त्वपूर्ण है कि संकल्प-स्वातंत्र्य एवं नैतिक उत्तरदायित्व के लिये तथा चरित्र निर्माण एवं विकास के लिये व्यक्ति स्वयं भी उत्तरदायी है।

एक बात और हमें सदैव याद रखनी चाहिये कि संकल्प की स्वतंत्रता नैतिकता के लिये अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में हम मनुष्य को उसके किसी भी कर्म के लिये अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित अर्थात् नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। इसलिये अपनी इच्छानुसार कर्म करने अथवा न करने की स्वतंत्रता को ही संकल्प-स्वातंत्र्य कहते हैं। इस प्रकार हमारे समस्त कर्म सम्बन्धी नैतिक निर्णयों का मूल आधार संकल्प की स्वतंत्रता है। अनेक दार्शनिकों ने संकल्प-स्वातंत्र्य के लिये कुछ तत्त्वों को अनिवार्य माना है जिनके अभाव में मनुष्य के संकल्प को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।

प्रथम तो किसी भी व्यक्ति के उसी कर्म के सम्बन्ध में हम सार्थक नैतिक निर्णय दे सकते हैं जिसे करने में वह शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टि से समर्थ हो अर्थात् वह चाहे तो उस कर्म को कर सके। जैसे किसी डूबते हुये को हम तभी बचा सकते हैं जब हम तैरना भी जाने अन्यथा चाहते हुये भी हम उसे डूबने से बचा नहीं सकते। इसलिये हम इस कर्म के लिये नैतिक निर्णय नहीं दे सकते। इसलिये कर्म करने की क्षमता के लिये शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से समर्थ होना आवश्यक है।

द्वितीय बात यह है कि यदि कोई व्यक्ति अज्ञानवश और बिना किसी उद्देश्य के किसी कर्म को कर देता है तो उसे उसके लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को केवल उन्हीं कर्मों के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, जिसे वह जानबूझ कर सोद्देश्य करता है।

तीसरी बात यह है कि यदि व्यक्ति को कर्म करने का विकल्प नहीं है तो भी हम उसे नैतिक या अनैतिक नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वह तो वही एक कर्म करने के लिये मजबूर है। हम उसे उत्तरदायी तभी मान सकते हैं जब उसे किसी अन्य कर्म को करने की स्वतंत्रता है। मूर कहते हैं कि इस सम्बन्ध में यह निश्चित है कि यदि हमें संकल्प की स्वतंत्रता प्राप्त है तो किसी न किसी अर्थ में यह अवश्य सत्य होना चाहिये कि हम कुछ अवसरों पर वह भी कर सकते थे, जो हमने नहीं किया।[१२] इसी मत का समर्थन नावेल स्मिथ भी करते हैं। 'यदि कोई मनुष्य उस कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं कर सकता था जो उसने किया तो अपने उस कर्म के लिये उसे दोषी नहीं माना जा सकता।'[१३]

इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व के लिये हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति स्वयं अपने प्रति तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति अपने नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति करना ही नैतिक उत्तरदायित्व है। सच तो यह है कि कर्तव्य के विचार में उत्तरदायित्व का विचार भी निहित है। अत: दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता है। यदि कोई कर्म द्वारा नैतिक कर्तव्य नहीं है तो उसे करने के लिये हम न तो नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है और न ही बाध्य है। अत: हम कर्म न करने के लिये दोषी भी नहीं माने जा सकते हैं।

यहाँ एक बात और है कि हम मनुष्य होने के नाते, विवेकशील होने के नाते अपने नैतिक उत्तरदायित्व के लिये कितना यथासम्भव अधिकतम प्रयास करते हैं। कार्य के परिणाम की सफलता या असफलता अपने स्थान पर है। बस यदि कुछ महत्त्वपूर्ण है तो हमारा प्रयास।

इस प्रकार अशुभ की समस्या नैतिकता एवं धर्म तथा संकल्प की स्वतन्त्रता, ईश्वरवाद, नैतिक उत्तरदायित्व आदि पर विचार के पश्चात् निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने प्रयास से इन कारणों का निराकरण करके दु:ख या अशुभ को पर्याप्त सीमा तक कम कर सकता है और इसके लिये हम ईश्वर को न ही दोषी ठहरा सकते हैं और न ही हमें किसी अन्य दैवी शक्ति की सहायता की आवश्यकता महसूस करनी चाहिये।

पाद टिप्पणी

१. ऋग्वेद १, १८७

२. बृहदारण्यक उपनिषद् १, ४, १४

३. तैत्तरीय उपनिषद् १, ११

४. महाभारत, अनुशासन पर्व तथा उद्योग पर्व

५. मनुस्मृति, २, ६, १२

६. वही, ६, १९

७. वही, ९, ३१०, पृ. ३५२

८. वही, ९, ३१०, पृ. ३५२

९. वही, ९, ३०७, पृ. ३५२

१०. वही, ९, ३०६, पृ. ३५२

११. वही, ९, ३११, पृ. ३५२

१२. जी.ई. मूर, एथिक्स पृ. १३१

१३. पी.एच. नॉवेल-स्मिथ, एथिक्स, पृ. २३९

***

कानून और नैतिकता : एक विमर्श

आभा सिंह

राज्य मानवीय सम्बन्धों की संगठित व्यवस्था है। संगठन का कार्य न्याय का है। कानून न्याययुक्त व्यवस्था में मूल्यों को संगठित या संश्लिष्ट करने का कार्य करता है। मानवीय सम्बन्धों की व्यवस्था में कई मूल्य आवश्यक होते हैं जिनमें स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व प्रमुख हैं। व्यवस्था के अधीन कानून इन मूल्यों को जोड़ने का कार्य अपने 'न्याय' तत्त्व के माध्यम से करता है। प्रत्येक कानूनी व्यवस्था में समाज द्वारा स्थापित अन्य मूल्य अवश्य विद्यमान रहते हैं। किन्तु इनका अनुपात घटता-बढ़ता रहता है तथा उनके दावों के बीच समालोचना, पुनर्समायोजन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। न्याय राजनैतिक मूल्यों का समायोजक है। अरस्तू के अनुसार 'न्याय' समग्र सौजन्य के तुल्य है। यह सामूहिक रूप में अपने पड़ोसी के प्रति सौजन्य का व्यवहार है। 'न्याय' सम्पूर्ण मूल्यों से युक्त, मूल्यों का नियंत्रक, समायोजनकर्ता एवं पूर्ण मूल्य है। कानून की प्रामाणिकता न्याय के आधार पर ही स्थापित होती है। न्याय पूर्ण होने के कारण ही कानून बाध्यकारी बन जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'न्याय' में यह प्रामाणिकता तथा बाध्यता की शक्ति आती कहाँ से है? इस प्रश्न के चार उत्तर हमें प्राप्त होते हैं- **क.** न्याय तथा इसकी शक्ति का उद्‌गम धर्म से होता है, **ख.** प्रकृति से होता है, ग. आर्थिक व्यवस्था से होता है तथा घ. सदाचार व्यवस्था से होता है। विषयांतर से बचने के लिए हम 'न्याय' के सदाचार व्यवस्था से उद्‌भूत होने के मत का विवेचन करेंगे।

किसी भी समुदाय का नैतिक मापदण्ड सामान्य नैतिक अन्तर्भावना में सन्निहित होता है और उसी से न्याय विषयक विचार का उद्‌गम होता है। 'न्याय' की धारणा में मूल्यों की एक व्यवस्था अन्तर्विष्ट होती है। न्याय ही कानून में मूल्यों को अधिरोपित करता है और निश्चयात्मक कानून का अवैयक्तिक स्रोत बनकर कानून को मूल्य-सम्पन्न बनाता है। अत: कानून को विधिमान्य तथा मूल्यवान होने के लिए न्याय और सत्य से परिपूर्ण होना आवश्यक है, क्योंकि न्याय और सत्य सामान्य नैतिक अन्तर्भावना की माँग है। कानून की विधिमान्यता के लिए यह पर्याप्त है कि वे समुदाय के समक्ष प्राधिकार द्वारा निर्मित किए गए हों किन्तु मूल्यवान होने के लिए आवश्यक है कि वह यथासंभव नैतिक अन्तर्भावना की अभियाचना के अनुरूप नियम का पालन करे तो न्याय की सामान्य अवधारणा में अभिव्यक्त है। अत: मूल्यवान कानून नैतिक व्यवस्था से व्युत्पादित नियमों को मानवीय सम्बन्धों अभिव्यक्त तथा साकार करने की दिशा में कार्य करना चाहिए। तथापि कानून तथा नैतिकता के स्वरूप में भिन्नता है। कानून स्वयं सदाचार नहीं है और न ही कानून का पालन नैतिकता। कानून का सम्बन्ध बाह्य कार्यों से है। कानून केवल शारीरिक बाध्यता के कार्य उपलब्ध करा सकता है जबकि नैतिक व्यवस्था की आवश्यकताएं तब तक पूरी नहीं होती जब तक बाह्य कार्य के साथ-साथ आन्तरिक अभिप्राय विद्यमान न हों। जब तक एक कार्य कानून की आवश्यकता के अनुरूप है तब तक वह वैध है, चाहे उसका अभिप्राय कुछ भी हो। दूसरी ओर कोई कार्य नैतिक तभी हो सकता है जब उसे प्रेरित करने वाला कोई आन्तरिक अभिप्राय हो, यद्यपि उसका बाह्य रूप कैसा भी हो। कानून एवं नैतिकता में इस भिन्नता के बाद भी समानता है। दोनों 'क्या होना चाहिए' के विचार से आबद्ध है तथा आदेशात्मक भाव में अभिव्यक्त होते हैं। दोनों मुख्यत: जीवन के समान क्षेत्रो में व्यवहृत होते हैं। कानून कार्य का समरूप

नियम है जो सबों के लिए समान रूप से पालनीय है। सामान्यतः मनुष्य नैतिक व्यवस्था के सम्पूर्ण क्षेत्र में क्रियाशील रहता है। इसमें विभिन्न मनुष्यों में केवल स्तर का अन्तर है। कोई तुलनात्मक रूप से नैतिकता के निम्न स्तर पर तो कोई उच्च स्तर पर। कानून नैतिकता का निम्नतम स्तर निश्चित करता है जिसे सभी लोग सम्पन्न कर सकें तथा जिसे सबके लिए क्रिया समरूपी नियम बनाया जा सके। क्योंकि कानून का सतत् कार्यकारी होना अनिवार्य है। कानून नैतिकता का इतना ऊँचा स्तर निर्धारित कर दे जिसे सामान्यतः सभी लोग सम्पन्न न कर सकें तो वह कानून सर्व कार्यकारी नहीं रह सकेगा और कानून सही मायने में कानून नहीं होगा। दूसरों के प्रति सहानुभूति नैतिक लक्ष्य है और अंधेरे में साइकिल में लैम्प जलाकर चलने का कानून इस दिशा में न्यूतम नैतिकता का स्तर। वस्तुतः यह नैतिकता अपने पूर्ण रूप में मेरे अन्दर आएगी, यह कोई आवश्यक नहीं है किन्तु न्यूनतम स्तर अनिवार्य बनकर मेरी नैतिक प्रवृत्ति को अवश्य जागृत करती है। इसके साथ ही न्यूनतम के पालन को अनिवार्य बनाने के लिए दण्ड का विधान भी है। यदि हमारी प्रवृत्ति नैतिकतापूर्ण नहीं है और ऐसा कानून केवल दण्ड के भय से हमें न्यूनतम नैतिकता के पालन के लिए बाध्य करता है। कानून यहाँ एक अध्यापक के रूप में प्रकट होता है जो बलयुक्त नियंत्रण एवं क्रिया अभ्यास से हमें नैतिकता के निकट लाता है। इस व्यवस्था से ऐसा प्रतीत होता है कि कानून तथा नैतिकता एक ही स्तम्भ पर निम्नतर तथा उच्चतर के भेद के साथ विद्यमान हैं। इस मत की यह कहकर आलोचना की जाती है कि यदि कानून तथा नैतिकता में केवल स्तर का भेद है अर्थात् केवल मात्रात्मक भेद है न कि गुणात्मक तो हम कानून का कार्यकारी मापदण्ड निम्नतर नैतिक स्तर पर क्यों रखते हैं? यदि प्रारम्भ से ही उच्चतर नैतिक मापदण्ड स्थापित किया जाए तो पूर्ण नैतिकता प्राप्त करने में आसानी होगी। साथ ही, यदि कानून सारतः नैतिकता है तो इसके प्रदर्शन के लिए दण्डबल जैसे अनैतिक साधन का प्रयोग हम क्यों करते हैं? क्यों नहीं नैतिकता की प्राप्ति के लिए शिक्षा तथा सुधार जैसे नैतिक साधनों का ही प्रयोग करते हैं

कानून तथा नैतिकता के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए एक दृष्टिकोण यह भी है कि कानून मनुष्यों के व्यवहार का क्रिया समरूपी नियम है तथा सब लोग उससे सामान्य रूप से बाध्य हैं। किन्तु कानून मनुष्य के केवल बाह्य आचरण को नियंत्रित कर सकता है, क्योंकि कानून का बल केवल बाह्य शक्ति है। नैतिकता की गति आंतरिक है, कानून की बाह्य। अतः कानून और नैतिकता का सम्बन्ध बाह्य और अंतरिक का हो सकता है। अर्थात् कानून आंतरिक यानी नैतिक क्रिया के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ उपलब्ध कराता है, जिसके अंदर नैतिक अन्तर्भावना अत्यंत सुगमता तथा स्वतंत्रता से क्रियाशील हो सकती है। इस दृष्टिकोण से भी कानून नैतिकता के स्तम्भ का निम्नतम स्तर नहीं है वरन् यह नैतिक क्षेत्र का सुरक्षा कवच है जिसके परिणामस्वरूप, नैतिकता सुगमतापूर्वक अपनी पूर्ण ऊर्जा के साथ विकसित हो सकती है। कानून का यह कर्तव्य है कि नैतिक विकास में रूकावट डालने वाले प्रत्येक प्रतिरोध एवं बाधाओं को दूर करें। उदाहरण के लिए हम यहाँ इंग्लैण्ड के शिक्षा सम्बन्धी कानून का दृष्टांत रख सकते हैं। व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए शिक्षा अनिवार्य है किन्तु शिक्षा के क्रम में – विद्यालयों का अभाव, माता-पिता की बच्चों को स्कूल भेजने की अनिच्छा, धन का अभाव यदि बाधाएँ संभाव्य हैं। अतः कानून द्वारा विद्यालय स्थापित कर, बच्चों को स्कूल भेजना अनिवार्य बनाकर शिक्षा को निःशुल्क और इस प्रकार अनिवार्य बना दिया गया। इस प्रकार बालकों के विकास में जो बाधाएँ खड़ी थीं, सरकार ने उन्हें हटा दिया।

उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है कि परम उद्देश्य बालक का विकास ही था। पर क्या कानून यह सब करके इस उद्देश्य की पूर्ति कर सका? यदि हाँ! कहें तो हम केवल इतना कह सकते हैं कि कानून ने इस उद्देश्य के मार्ग में व्याप्त प्रतिरोधों को हटाने का कार्य किया और विकास की बाह्य परिस्थितियाँ निर्मित कीं। किन्तु विकास वस्तुतः भीतर से ही हो सकता है। इसका स्वतः चालित तथा स्वतःस्फूर्त होना अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण से कानून का विकास की क्रिया-विधि से हस्तक्षेप या नियंत्रण संभव नहीं है। कानून तथा कानूनी प्राधिकार का कार्य यह है कि वह क्रिया-विधि की बाह्य परिस्थितियों को उपलब्ध करे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नैतिकता स्वैच्छिक आत्म-निर्णय का क्षेत्र है तथा कानून समरूप नियमों द्वारा नियंत्रित बाह्य कार्यों का क्षेत्र है। सम्बन्ध के रूप में कानून का कार्य नैतिकता के क्षेत्र की सुरक्षा एवं विस्तार करना है। इस

विस्तार का एक आयाम यह है कि कानून तथा नैतिकता में संतुलन कायम रहना चाहिए। कानून के क्षेत्र का विस्तार नैतिकता के क्षेत्र में अतिक्रमण न करे यह सदैव सुनिश्चित किया जाना चाहिए। यह केवल नैतिकता के अस्तित्व के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् कानून के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि कानून नैतिकता या आत्मनिर्णय के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो न वह स्वयं कानून रह जाता है और न ही नैतिकता अपने रूप में गतिमान रह सकती है। किन्तु यदि कभी ऐसा होता है तो उसे उच्चतर लक्ष्य के लिए किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ अनिवार्य शिक्षा माता-पिता के अबाध सौजन्य के क्षेत्र को प्रभावित करती है, किन्तु उसके पीछे उच्चतर लक्ष्य को प्रभावित करती है, किन्तु उसके पीछे उच्चतर लक्ष्य बालक के विकास का है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उच्चतर मूल्य की प्राप्ति के लिए कानून अपनी परिधि का अतिक्रमण भी कर सकता है, किन्तु संतुलन विकास की ओर रहना चाहिए जो नैतिकता की परिधि में आता है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज के नियमों का लक्ष्य नैतिक विकास है। नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ सुनिश्चित करने के लिए कानून बनाए जाते हैं। कानून बाह्य क्रिया को नियंत्रित करते हैं जबकि नैतिकता आन्तरिक रूप से गतिशील होती है, जिस पर कानून या कानूनी प्रक्रिया का सीधा नियंत्रण नहीं है। परन्तु कानून नैतिक विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ पैदा कर नैतिकता के विकास का मार्ग निर्बाध बनाता है।

***

गाँधी, वेदान्त एवं जैन-व्यवहार विचार बिन्दु

मुकुल राज मेहता

यदि जैन धर्म-दर्शन से वेदान्त की कुछ अवधारणाओं की तुलना करें तो कुछ सिद्धान्तों में काफी साम्य प्रतीत होता है, जैसे वेदान्त की विदेह एवं सदेह मुक्ति एवं जैन मत की अरिहन्त एवं सिद्ध की अवधारणा। अरिहन्त को सशरीर, सदेह मुक्त एवं इसी जीवन की अवस्था में रहते हुए अन्य प्राणियों के कल्याण हेतु मार्गदर्शक बताया गया है। इसी प्रकार सिद्धों को अशरीरी, शुद्ध आत्मरूप, विदेहमुक्त एवं उनके गुणों से लोक में स्थित प्राणियों के कल्याण की कामना की गयी है। वेदान्त में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक स्तर का वर्णन ठीक उसी प्रकार मिलता है, जिस प्रकार जैन मत में व्यवहारनय एवं निश्चयनय की चर्चा की गयी है। वेदान्त में व्यावाहारिक स्तर पर जिस प्रकार दृश्य जगत् को माया के प्रभाव के कारण बन्धनयुक्त स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार जैन दर्शन में भी अज्ञान के कारण व्यवहारनय से बंधनरूप संसार को स्वीकार किया गया है। पारमार्थिक स्तर पर वेदान्त में जिस प्रकार ज्ञान के प्रकाश के कारण जीव को अध्यात्म से युक्त बताया गया है उसी प्रकार जैन दर्शन में भी निश्चयनय द्वारा प्रत्येक जीवन को अनन्त चतुष्टययुक्त कहा गया है।

स्वतंत्र विचार का बड़ा महत्त्व है। दृष्टिकोण में भेद होता ही है। इस विचार-स्वातंत्र्य की परिणति अनेकान्त-दृष्टि में होती है, इसकी अस्पष्ट स्वीकृति तो सभी में है, लेकिन गाँधी जी ने तो स्पष्ट कहा है कि इसी अनेकान्तवादी समन्वयकारिणी दृष्टि ने संकुचित राष्ट्रप्रेम के बदले अन्तर्राष्ट्रीयता और सभी धर्मों के प्रति समादर का भाव जाग्रत किया। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में अनुयायी प्रणालियाँ बनाते हैं, संगठन बनाते हैं और ऐसा करने के समय वे मूल सिद्धान्तों को कठोर, स्थिर, एक पक्षीय और कट्टर बना देते हैं जिससे उनकी मौलिक ताजगी और धारावाहिकता नष्ट हो जाती है, जो कि जीवन की निशानी है।[१]

इसीलिए गाँधी जी ने 'वाद' पर कभी विश्वास नहीं किया और स्पष्ट कहा 'गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और न मैं अपने पीछे कोई समुदाय छोड़ जाना चाहता हूँ।'[२] उनका जीवन ही उनका संदेश और उनके विचार की खुली किताब थी। उनकी भाषा कार्य की भाषा थी, वाद के विवाद में उन्हें कोई रस नहीं था। इसीलिए 'सत्य के प्रयोग' ही उनकी आत्मकथा एवं 'अहिंसा का कर्मयोग' ही उनका जीवनचरित बन गया। संक्षेप में, विचार, वाणी एवं व्यवहार[३] में एकता ही उनका जीवन-दर्शन था। इसीलिए उन्होंने कभी यह दावा नहीं किया कि उन्होंने किसी नए तत्त्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। वे सदैव जीवन के शाश्वत सत्य को व्यावहारिक जीवन के पृष्ठों पर उतारने का प्रयास करते रहे। यह अलग बात है कि कराँची काँग्रेस के समय अपने कार्यक्रम की आलोचना करने वालों को उत्तर देते हुए उन्होंने बलपूर्वक घोषणा की थी, 'गाँधी मर सकता है, लेकिन गाँधीवाद अमर रहेगा।'[४] किन्तु, यह तो महामानव का आत्म-विश्वास मुखरित हो रहा था। यह किसी वाद की प्रतिष्ठा का उपक्रम नहीं था। यही कारण है 'गाँधीवाद' या 'गाँधीमत' कहने की अपेक्षा मशरुवाला ने 'सर्वोदयवाद' और 'सत्याग्रह-दर्शन',[५] काका कालेलकर ने 'सर्वोदयकारी समाज व्यवस्था'[६] कृपलानी जी ने 'गाँधी-दृष्टिकोण' या 'गाँधीमार्ग'[७] कहना ज्यादा पसंद किया है। यह अलग बात है कि गाँधी द्वारा इतने स्पष्ट विरोध के बाद भी गाँधीजी के श्रद्धाशील भक्तों ने उनके विचारों को गाँधीवाद नाम दे ही दिया है। अपनी 'आत्मकथा' की प्रस्तावना में उन्होंने यहाँ तक स्पष्ट किया है कि 'मेरा निवेदन है कि मेरे लेखों को प्रमाणभूत न मानें।' उन्होंने कभी किसी नए तत्त्व या सिद्धान्त

का आविष्कार नहीं किया। जो राय मैंने कायम की है, जिन निर्णयों पर पहुँचा हूँ वे भी अंतिम नहीं हैं। हो सकता है कल उन्हें बदल दूँ।[८] अतः कहा जा सकता है कि गाँधीजी का विचार कोई जड़ या स्थिर पदार्थ नहीं, बल्कि एक प्रवहमान तथा प्रगतिशील जीवन-दृष्टि तथा आचार-धर्म है। वस्तुतः जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग कोई वाणी का विषय या बुद्धि-विलास नहीं, बल्कि अभ्यास एवं व्यवहार का विषय है।

सर्वोदय : प्राचीन वैदिक संस्कृत-साहित्य में यह शब्द नहीं मिलता, जहाँ तक सर्वोदय के सामान्य एवं शाश्वत रूप का प्रश्न है, वह निर्विवाद रूप से 'अद्वैत' और 'अध्यात्मवाद' को स्वीकार करता है। सृष्टि के अन्दर शाश्वत नैतिक व्यवस्था में सर्वोदय का अखंड विश्वास है। विरोधी के हृदय को 'अन्तःकरण की आवाज' के प्रति जाग्रत करना सर्वोदयी का साध्य है। विनोबा जी ने हृदय-परिवर्तन के तत्त्वज्ञान की सामाजिक त्रिपुटी प्रस्तुत की है- हृदय-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन तथा स्थिति-परिवर्तन। यह त्रिविध क्रान्ति है। कोई भी मान्यता, आदर्श, आकांक्षाएँ जो-जबर्दस्ती या दंड-भय से नहीं बदली जा सकती हैं, उनके लिए एक मात्र प्रेम और विचार-प्रचार का रास्ता है। हिंसा एवं दंडशक्ति के उपयोग से क्रान्ति के पीछे प्रतिक्रान्तियाँ होती हैं, जिनका कभी अन्त नहीं होता। हिंसा या दंडशक्ति से क्रान्ति नहीं, भ्रान्ति होती हैं। अतः जितनी ही अधिक अहिंसा होगी, उतनी ही कम भ्रान्ति होगी।

स्वार्थ और परार्थ में विरोध हो, तो परार्थ को ही प्रधानता दी जाए, यही विश्व-सुख भावना के विकास की पृष्ठभूमि है जो सर्वोदय का सिद्धान्त-दर्पण है। यों सर्वोदय की यह भावना भारतीय संस्कृति के मूल वेदान्त में है। 'सर्व भूत हिते रताः' 'वसुधैवकुटुम्बकम्' या 'सर्वेभवन्तु सुखिनः', 'सर्वे सर्व भूतेषु' आदि उद्गारों में वस्तुतः सर्वोदय की ही भावना है। यही नहीं, उपनिषद्-वेदान्त और गीता में 'आत्मौपम्य' 'साम्य' या 'एकत्व' की भावना में सर्वोदय की झलक मिलती है। बौद्ध संस्कृति में भी 'संघ' और 'बोधिसत्व' की कल्पना का आधार भी सर्वोदय की भावना है। किन्तु यह बात विचित्र है कि वैदिक एवं प्राचीन बौद्ध वाङ्मय में सर्वोदय की भावना भले ही रही हो, लेकिन 'सर्वोदय' शब्द का व्यवहार नहीं मिलता है। किन्तु विक्रम की सातवीं शताब्दी के जैन दार्शनिक समन्तभद्र ने 'युक्त्यानुशासन' की ६१वीं कारिका में 'सर्वोदय तीर्थमिदं तथैव' का उल्लेख कर भगवान महावीर के अनेकान्तात्मक प्रकथन को ही 'सर्वोदय तीर्थ' माना है।

व्युत्पत्ति और विग्रह से स्पष्ट है कि 'सर्वोदय एक ऐसा अर्थधन शब्द है जिसका जितना अधिक चिंतन और प्रयोग हम करेंगे, उतना ही अधिक अर्थ उसमें से पाते जायेगे।[९] 'सर्वोदय' शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं-'सबों का उदय'[१०] और 'सब प्रकार से उदय।'[११] 'सब प्रकार से उदय' का अर्थ ह- सर्वांगीणविकास। यह ठीक है कि 'सर्वांगीणविकास' की कल्पना दृष्टि-भेद से भिन्न-भिन्न होगी। जैसे विशुद्ध भौतिकवादी के लिए 'आवश्यकता की वृद्धि की पूर्ति के राग में रत रहना' ही सर्वांगीण विकास माना जायेगा, जबकि विशुद्ध अध्यात्मवादी के लिए 'ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति' ही परम पुरुषार्थ है। प्रचलित अर्थ में 'सर्वोदय' शब्द गाँधीजी का दिया हुआ है। इसमें 'सर्वभूतहितेरताः' की भारतीय कल्पना, सुकरात की सत्य-साधना, बाइबिल से प्रभावित रस्किन की अन्त्योदय की अवधारणा, सब एक साथ समन्वित है। भले ही 'गाँधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है,' और 'मैं अपने पीछे कोई पंथ या सम्प्रदाय नहीं छोड़ना चाहता हूँ कह कर गाँधी जी ने मत जंजाल से बचने के लिए नम्रतावश एक नई परम्परा बनायी लेकिन आज सर्वोदय एक समर्थ जीवन-दर्शन ही नहीं, अपितु ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा, सौंदर्यमीमांसा की संभावनाओं से परिपूर्ण एक समग्र दर्शन के रूप में उपस्थित है।

जब कोई आग्रही मतवाद की मदिरा से मत्त होकर अपने अभिप्राय के अनुसार युक्ति खींचने का दुष्प्रयत्न करता है, तो वह सचमुच सत्य का अपमान करता है। 'सत्य से मेरा' न कि 'जो मेरा सो सत्य।' इसीलिए हरिभद्र ने सुझाया है-'पक्षपात रहितस्यतु युक्तिर्यत्र मतिरेति निवेशम्।' फिर मानव-मस्तिष्क की प्रकृतिगत विभिन्नता एवं उसकी विभिन्न परिस्थितियों के कारण इतना मानने भर की विनम्रता तो होनी ही चाहिए कि 'जो मेरे लिये सत्य है, वह दूसरों के लिए सत्य नहीं हो सकता है।' यह जैनों की अनेकांत-दृष्टि हुई। स्वयं गाँधी जी ने कई बार अपने को 'अनेकांतवादी' या 'स्याद्वादी' कहा है। गाँधी का मत है कि-

(१) **अनेकान्तावद :** सत्ता अनेकधा है। उसमें अनन्त मूलगुण हैं। उसके अनन्त लक्षण हैं– अनन्तधर्मात्मकं वस्तु। 'मैं इस सिद्धान्त को बहुत अधिक पसन्द करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे सिखाया कि मुसलमान को उसकी ही दृष्टि से स्वमतेन जाँचना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से।'[१२]

(२) **स्याद्वाद :** जैन तर्कशास्त्र में प्रत्येक निर्णय को नय कहते हैं। यह दुर्नय, नय या प्रमाण नय हो सकता है। दुर्नय सर्वथा गलत है और नय साधारणतः सही समझा जाता है, पर तर्कतः गलत है और प्रमाण नय सर्वथा तर्कतः सही है। प्रमाण नय के अनुसार प्रत्येक निर्णय को स्याद्पूर्वक कहना चाहिए। स्याद् का अर्थ है वह संकेत जो उन परिस्थितियों को बतलाता है जिनमें कि वह निर्णय तर्कतः सही है। गाँधी जब स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं तो वे प्रमाण नय को न लेकर नय को ही लेतें हैं। पर इसका अर्थ वे ठीक लगाते हैं कि प्रत्येक निर्णायक अपनी दृष्टि से सही है और दूसरों की दृष्टि से गलत और इस प्रकार सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से सही है।[१३] इस सिद्धान्त ने गाँधी को लोगों को समझने में बड़ी मदद दी।

(३) **सप्तभंगीनय :** जैन दर्शन में प्रमाण, नय और दुर्नय तीनों के सात-सात प्रकार हो सकते हैं। गाँधी सिर्फ प्रमाण नय वाले सप्तभंगिनय का एक स्थान पर उल्लेख करते हैं। इसके अनुसार किसी वस्तु को अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्यम्, अस्ति च अवक्तव्यम्, नास्ति च अवक्तव्यम् और अस्ति-नास्ति च अवक्तव्यम्- इन सात दृष्टियों से देखा जा सकता है। तर्कतः ये सब दृष्टियाँ सिर्फ प्रमाण-नय वाले सप्तभंगीनय में ही ठीक है, नय और दुर्नय में नहीं। गाँधी का विचार है कि 'सभी रचनाओं में लेखक की दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है। पर हर बात कम से कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय में एक ही मौके पर सही नहीं हुआ करती।'[१४] यहाँ पर वेदान्त एवं जैन दर्शन में स्याद्ववाद एवं अनेकान्तवाद को लेकर कई विषमताओं को भी प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु आचार्य शंकर की सप्तानुपपत्तियाँ एवं उस पर जैन दर्शन का मत सर्वविदित है अतएव यहाँ पर अनावश्यक विस्तार अनुपयुक्त होगा। (४) जैनियों ने भी योग की तरह पाँच महाव्रतों पर जोर दिया और अहिंसा को तो अपने धर्म-दर्शन का केन्द्र ही बनाया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाँधी ने स्याद्वाद, अनेकान्तवाद और अहिंसा के जैन-दर्शनगत अर्थों को काफी व्यापक बनाया, न कि उनको घटाया या कम किया। वे जैन धर्म-दर्शन को भी हिन्दूधर्म का अंग समझते थे। इस प्रकार चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों से गाँधी ने कुछ न कुछ लिया।[१५] जीवन एक सतत् विकासशील प्रक्रिया है, जिसमें पूर्वाग्रहयुक्त वैचारिक निरंकुशता का कलुष नहीं है। अतः सर्वोदय का सत्यान्वेषण पूर्ण, व्यवधानमुक्त तथा सतत् वृद्धिष्णु है।

गाँधीजी का अहिंसा पर पूर्ण विश्वास था। वे सत्य और अहिंसा को एक सिक्के के दो पहलू समझते थे। उनके विचार में अहिंसा द्वारा ही सत्य की सिद्धि तथा जगत् में उसकी अभिवृद्धि सम्भव है। ये अहिंसा को पाशविक शक्ति से अधिक बलवती समझते थे। वे स्वीकार करते थे कि जगत् में हिंसा फैली हुई है, पर कहते थे कि विनाशकारी हिंसा के मध्य में जीवन का अस्तित्व बना है, अतः अहिंसा का विधान हिंसा से ऊँचा है। वे अहिंसा को ही मानव स्वभाव तथा मानव जाति का आधारभूत नियम मानते थे और उसे मानव का परम कर्तव्य समझते थे। उनके विचार में अहिंसा पर आधारित निर्माण ही स्थायी हो सकता है। गाँधीजी साधन और साध्य के घनिष्ठ संबंध पर विश्वास करते थे। मानवोचित साधनों द्वारा ही शुभ साध्य की सिद्धि हो सकती है। अमानुषिक तथा अनैतिक उपायों द्वारा एक सुन्दर साध्य का सृजन नहीं हो सकता। उनके विचारों में साधनों की क्षमता तथा शुचिता पर ध्यान देना साध्य की चिन्ता से अधिक आवश्यक है।[१६] कानून निषेधात्मक ही होते हैं। कानून से दया, मित्रता, सहानुभूति, वात्सल्य आदि मानवीय गुणों का विकास नहीं हो सकता। दण्ड से व्यक्तित्व का विकास खण्डित होता है।

गाँधी[१७] ने तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे को अपने प्रार्थना-प्रवचन में कहते हुए माना कि जगत् और देह के साथ गुण-दोष लगे हुए हैं-

जड़ चेतन गुन दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहि प्य, परिहरि वारि विकार।।

अर्थात् कर्ता परमात्मा ने विश्व को जड़-चेतनमय और गुण-दोषमय बनाया है। इसमें गुण और दोष दूध तथा पानी की तरह घुले-मिले हैं। संतों का कर्तव्य है कि वे हंस की तरह पानी-रूपी विकार या दोष त्याग करके गुण को ग्रहण करें। गाँधी का विचार था कि इस सत्यमेव जयते, नानृतम् अर्थात् सत्य की, भलाई की जीत होती है, झूठ या बुराई की नहीं।

कोई भी संस्कृति एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् रहकर नहीं जी सकती। इसलिए सांस्कृतिक विकास के लिए भी गाँधीजी संस्कृति-समन्वय चाहते थे। यंग इण्डिया (२६.१२.२४) में उन्होंने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है, 'पश्चिम से हमें जो एक अच्छी चीज अवश्य ग्रहण करनी चाहिए वह है जन-स्वास्थ्य का विज्ञान। मेरी देशभक्ति संकुचित नहीं है और इसमें किसी दूसरे के लिए किसी प्रकार का वैर-भाव नहीं है। इसलिए यद्यपि मैं पाश्चात्य भौतिकवाद से बराबर सशंकित रहता हूँ। फिर भी, पश्चिमी सभ्यता में जो अच्छाइयाँ हैं, उनका मै सदैव स्वागत करता हूँ।' मानव-प्रेम ने ही गाँधीजी को राष्ट्र प्रेम और विश्वप्रेम सिखाया। इसलिए उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए कभी भी किसी जाति या वर्ग के प्रति घृणा नहीं रखी।

गाँधीजी[१८] लिखते हैं, 'पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना का अर्थ यह नहीं है कि हमारा देश सबसे अलग स्वतंत्रता का उपभोग करे, बल्कि विश्व के राष्ट्रमंडल में उनका एक-दूसरे से स्वस्थ एवं सम्मानपूर्ण सहयोग रहे। हमारी स्वतंत्रता किसी दूसरे राष्ट्र के लिये कोई खतरा नहीं बनेगी। जिस प्रकार हम अपना शोषण नहीं होने देंगे, ठीक उसी प्रकार हम किसी दूसरे का शोषण नहीं करेंगे। अतः हम अपने स्वराज्य के द्वारा संपूर्ण विश्व की सेवा करेंगे। 'इसलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है[१९]- 'मैं भारत को स्वतंत्र एवं शक्तिशाली इसलिए देखना चाहता हूँ कि यह विश्वकल्याण के लिए निःस्वार्थ त्याग करने को उद्यम रहे। जिस प्रकार स्वतंत्र व्यक्ति परिवार के हित के लिए, अपने व्यक्तिगत हित का बलिदान करता है, उसी प्रकार परिवार जनपद के लिए जनपद संपूर्ण जिले के लिए, जिला संपूर्ण प्रान्त के लिए, प्रान्त संपूर्ण देश के लिए और देश संपूर्ण विश्व के लिए अपना बलिदान करे।' इस प्रकार गाँधीजी के लिए, राजनीति भी धर्म एवं आध्यात्म के समान पवित्र बन गयी। राष्ट्रीयता विश्वप्रेम का साधन बन गयी।

गाँधी का विचार था कि 'यदि हमें प्रगति करनी है तो केवल इतिहास की पुनरावृत्ति ही नहीं करनी होगी, हमें नये इतिहास का निर्माण करना होगा। हमारे पूर्वजों ने जो परम्पराएँ बनायी हैं, उनमें कुछ अपना भी अवदान हमें देना होगा। यदि हम पश्चिम का अंधानुकरण करने में ही लगे रहेंगे तो फिर हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकल जायेगा। इसके अपवाद भी हो सकते हैं, किन्तु अपवाद नियम नहीं बन सकते। यह जरूरी नहीं कि पहले हमारा अधःपतन हो जाय, उसके बाद ही हम अध्यात्म का अमृत पीकर मानव बनें।'[२०]

इसी प्रकार हिन्दू अवतारवाद एवं जैन धर्म-दर्शन में प्रस्तुत तीर्थंकर परम्परा में भी मूलभूत अन्तर द्रष्टव्य है। जहाँ हिन्दू परम्परा में एक ही आत्मा का विभिन्न रूपों में एक निश्चित उद्देश्य हेतु अवतार रूप में प्रकट होना स्वीकार किया गया है, वहीं जैनमत में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र आत्माओं का तीर्थंकर के रूप में तप एवं कठिन आचार द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्ति एवं जीवनमुक्ति की अवस्था को बताया गया है। जहाँ वेदान्त के अनुसार परमतत्त्व में आत्मा का विलय मोक्षावस्था है, वही जैनमत मोक्षावस्था में भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करती है। इसी प्रकार जैनमत में केवल मात्र कर्म को ही बन्धन का कारण एवं संवर तथा निर्जरा को ही बन्धन से मुक्ति का उपाय बताया गया है, किन्तु वेदान्त में परमतत्त्व के कृपा की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। जैनमत में कर्मकाण्ड को अथवा यज्ञ आदि को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि वेदान्त में ये मान्यताएं भी किसी न किसी रूप में स्वीकृत हैं। तथापि वेदान्तिक व्यवहार एवं दर्शन से जैन धर्म-दर्शन को पूर्णतः अछूता नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जहाँ गाँधी के विचार वेदान्त परम्परा, ईसाई परम्परा एवं जैन परम्परा के द्वारा प्रभावित दिखते हैं वहीं पर कई बिन्दुओं पर गाँधी, वेदान्त एवं जैन परम्परा में काफी समानता प्रतीत होती है। यह सर्वविदित है कि मानवता हेतु सर्वाधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण बिन्दु अहिंसा को वेदान्त, गाँधी एवं जैनमत में सर्वोपरि स्थान दिया गया है जिसको गाँधी ने जैन एवं वैदिक आचार के समान ही अपने व्यवहार में भी सर्वोच्च स्थान देकर कई प्रयोग किये। जैन आचार के पंचमहाव्रत- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह भी गाँधी द्वारा वेदान्तिक परम्परा का सम्मान करते हुए समान रूप से स्वीकार

किये। गाँधीजी के संपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोग, मानव-प्रकृति एवं मानव-समाज के नैतिक आधार की मान्यता पर टिके हुए हैं। मानवता की प्रगति तो व्यक्ति, समाज और देश की नैतिक प्रगति पर निर्भर है जिसका अर्थ है सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की दिशा में हमारी प्रगति।

संदर्भ:

१. *आचार्य कृपलानी, गाँधी-मार्ग, पृ. ५०*

२. *गाँधी जी, हरिजन। १.५.१९३७, २.५.१९४०*

३. *गाँधी ने अहिंसा-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखने की प्रार्थना अस्वीकार करते हुए कहा था 'सत्याग्रह एक ऐसा विज्ञान है, जिसका निर्माण हो रहा है।' हरिजन, २४.९.३८*

४. *पट्टाभिसीतारमैय्या, काँगेस का इमिहास, पृ. ४६०*

५. *गाँधीवाद : समाजवाद, पृ. २३*

६. *उपरिवत्, ... पृ. १८१-१८२*

७. *उपरिवत्, पृ. ५०*

८. *नारायण सिंह, मार्क्स और गाँधी का साम्य-दर्शन, (प्रयाग, १८८५ सं), पृ. ७३.७४*

९. *विनोबा भावे, हरिजन-सेवक, १७.४.१९४९*

१०. *मो. क. गाँधी, सर्वोदय, प्रस्तावना, पृ. १ हिन्दी-नवजीवन, ९.१२.५६*

११. *किशोरलाल मशरुवाला, हरिजन-सेवक, २७.३.१९४९*

१२. *Hindu Dharma, p. 62*

१३. *वही पृ. ६२*

१४. *आत्मकथा, पृ. ३३७*

१५. *गाँधी का दर्शन : डॉ. संगमलाल पाण्डेय*

१६. *महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, मुकुट बिहारी लाल, प्रज्ञा, १९६९*

१७. *गाँधी का दर्शन : डॉ. संगम लाल पाण्डेय*

१८. *यंग इण्डिया (२६.३.३९)*

१९. *उपरिवत्, १७.९.२५*

२०. *उपरिवत्, ६.५.१९२६*

***

गीता में संकल्प-स्वातंत्र्य

ऋषि कान्त पाण्डेय

गीता का मूल प्रतिपाद्य क्या है- नियतिवाद (Determinism) या संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of will), इस पर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। एक ओर कुछ दार्शनिक मानते हैं कि गीता नियतिवाद का प्रतिपादन करती है जिसमें व्यक्ति के संकल्प-स्वातंत्र्य का कोई स्थान नहीं है तो दूसरी ओर कुछ दार्शनिक मानते हैं कि गीता में संकल्प-स्वातंत्र्य का मुखर रूप से समर्थन किया गया है। नियतिवादी मत के समर्थक कहते हैं कि गीता में मनुष्य के कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी घटित होता है वह पूर्व निर्धारित है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि इस जगत् में पेड़ का एक पत्ता भी हिलता है तो वह मेरे आदेश से। ऐसी परिस्थिति में संकल्प-स्वातंत्र्य की बात करना वृथा ही है। पुनः १८वें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से शरीर रूपी यंत्र पर आरूढ़ होकर सम्पूर्ण प्राणियों को उनके स्वभावानुसार भ्रमण कराता रहता है।

ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्येशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।[१]

पुनश्च, तीसरे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये गये हैं तो भी अहंकार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष, मैं करता हूँ ऐसा मान लेता है। यहाँ पर भी मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य की उपेक्षा की गई है।

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।[२]

इसी प्रकार चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! किसी भी कर्म के लिए पाँच तत्त्व उत्तरदायी होते हैं। अतः तू अपने आप को कर्ता क्यों मान लेता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथकग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्।।[३]

अधिष्ठान का अर्थ है शरीर और बिना शरीर के कर्म नहीं हो सकता है। कर्ता जीव को कहते हैं। यदि शरीर रहे परन्तु जीव नहीं रहे तो भी कोई कार्य नहीं हो सकता है। करण का अर्थ है इन्द्रियाँ। यदि शरीर एवं आत्मा रहे, फिर भी बिना इन्द्रियों के कर्म नहीं हो सकता है। चेष्टा का अर्थ है प्रयास। शरीर, जीव एवं इन्द्रियाँ इन सबके होते हुए भी यदि मनुष्य प्रयास न करे तो भी कार्य सम्पादित नहीं होगा। अन्ततः भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! इन चारों के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और वह है 'दैवीय अनुकम्पा'। सब कुछ होते हुए भी जब तक ईश्वरीय अनुकम्पा नहीं होगी तब तक कार्य नहीं हा सकता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गीता नियतिवाद का प्रतिपादन करती है। गोस्वामी तुलसीदास भी 'रामचरितमानस' में लिखते हैं कि "होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।।"[४] इन्हीं पक्षों पर बल देते हुए कुछ दार्शनिक यह आक्षेप करते हैं कि गीता के अनुसार सब कुछ पूर्व निर्धारित है, अतः इसमें संकल्प-स्वातंत्र्य

के लिए कोई स्थान नहीं है।

लेकिन यदि गीता में प्रतिपादित कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि यहाँ संकल्प-स्वातंत्र्य का उल्लंघन नहीं, बल्कि इसका समर्थन किया गया है। संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ है अपनी इच्छानुसार कर्म करने या न करने की स्वतंत्रता। इस प्रकार संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं-

१. कर्म करने की क्षमता
२. कर्म करने के उद्देश्य का ज्ञान
३. विकल्पों की उपस्थिति

संकल्प-स्वातंत्र्य की प्रथम शर्त यह है कि हमारे अन्दर कार्य करने की क्षमता हो। यहाँ कर्म करने की क्षमता का तात्पर्य शारीरिक एवं बौद्धिक सामर्थ्य से है। यदि ऐसा नहीं है तो हमारे कर्म करने के सम्बन्ध में कोई भी नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है। माना कि हम नदी में डूबते हुए किसी बालक को बचाना चाहते हैं, परन्तु यदि हम स्वयं ही तैरना नहीं जानते हों तो हम चाहकर भी उसे बचा नहीं सकते हैं। अस्तु, यहाँ पर संकल्प-स्वातंत्र्य का उल्लंघन नहीं हुआ है। इस प्रकार संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए कर्म करने की क्षमता का होना आवश्यक है।

दूसरा, संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए कर्म करने की क्षमता के साथ-साथ कर्म करने के उद्देश्य का ज्ञान भी अपेक्षित है अर्थात् व्यक्ति सोच-विचारकर उद्देश्यपूर्ण ढंग से उस कार्य का चयन करे। यदि अज्ञानवश या किसी बाह्य शक्ति से बाध्य होकर कोई कर्म करता है तो उस पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता, यथा माना कि कोई व्यक्ति 'क्लेप्टोमेनिया' अर्थात् अज्ञानवश निरूद्देश्य चोरी करने के रोग से ग्रस्त है। ऐसी स्थिति में उसे चौर्य-वृत्ति के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है।

तीसरा, संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए विकल्पों की उपस्थिति भी आवश्यक है। यदि हमारे पास उस कर्म को करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प हो ही नहीं तो उस पर नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता है। माना कि हम रास्ते में अकेले जा रहे हैं इसी बीच कुछ अपराधी तत्त्व बलात् ढंग से हमसे कोई अनुचित कार्य करा लेते हैं तो उस कार्य का परिणाम अनुचित होते हुए भी उस परिणाम के लिए हम उत्तरदायी नहीं हैं, क्योंकि उस परिस्थिति में हमारे पास कोई अन्य विकल्प नहीं था। इस मत का समर्थन जी.ई. मूर, नावेल स्मिथ तथा सी.एल. स्टिवेन्सन करते हैं। मूर के अनुसार 'इस सम्बन्ध में यह निश्चित है कि यदि हमें संकल्प की स्वतंत्रता प्राप्त है तो किसी न किसी अर्थ में यह अवश्य सत्य होना चाहिए कि हम कुछ अवसरों पर वह भी कर सकते थे जो हमने नहीं किया।'[५] इसका समर्थन करते हुए नावेल स्मिथ लिखते हैं कि 'यदि कोई मनुष्य उस कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं कर सकता था जो उसने किया तो अपने उस कर्म के लिए उसे दोषी नहीं माना जा सकता था।'[६] इस प्रकार यदि उपर्युक्त तीनों शर्तें पूरी हों रही हों तो हम कह सकते हैं कि वहाँ संकल्प-स्वातंत्र्य का उल्लंघन नहीं हुआ है।

यदि गीता के परिप्रेक्ष्य में इन तीनों शर्तों का अवलोकन किया जाए तो हम पाते हैं कि ये तीनों शर्तें गीता में पूर्णरूपेण पायी जाती हैं, यथा- कर्म करने की क्षमता। तिलक जी ने 'गीता रहस्य' में स्पष्ट ढंग से लिखा है कि गीता का परम साध्य किंकर्तव्यविमूढ़ एवं मोहग्रस्त अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश करना था। गीता में कर्म शब्द का प्रयोग मूलतः चार अर्थों में किया गया है-

- यदा-कदा कर्म का तात्पर्य साधारण कर्म से है (इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयान्)।[७]
- कभी-कभी कर्म का प्रयोग ईश्वरीय पूजा तथा उससे सम्बन्धित कर्मकाण्ड आदि के अर्थ में भी किया गया है (अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव)।[८]
- कहीं-कहीं इसका प्रयोग यज्ञ के अर्थ भी हुआ है (यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः)।[९] प्राणियों के कल्याण के लिए किया गया प्रत्येक प्रयत्न यज्ञ है।

- लेकिन गीता में कर्म का प्रयोग मुख्यत: वर्णधर्म के अर्थ में किया गया है (ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप)।[१०]

पुनश्च, योग का अर्थ है कर्मों में कुशलता प्राप्त करना (योग: कर्मसु कौशलम्)।[११] इस प्रकार गीता के अनुसार कर्मयोग का अर्थ है अपने आप को सामाजिक कर्तव्यों में पूरी निष्ठापूर्वक लगाना। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त दायित्वों को पूरी निष्ठा के साथ निर्वहन करता है तो ऐसा करके ही वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

कर्मयोग सामान्यत: प्रवृत्तिमार्ग है, लेकिन गीता कर्मयोग में प्रवृत्तिमार्ग एवं निवृत्तिमार्ग का अद्भुत समन्वय करती है। प्रवृत्तिमार्ग वैदिक कर्मकाण्ड का मार्ग है। इसके अनुसार वैदिक कर्मकाण्डों के द्वारा ही लौकिक तथा पारलौकिक हितों की प्राप्ति संभव है। निवृत्तिमार्ग त्याग या संन्यास का मार्ग है। इसके अनुसार सभी प्रकार के कर्म बंधनकारी होते हैं। कर्मों के द्वारा भले ही कुछ समय के लिए लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो जाय परन्तु ज्योंही कर्मार्जित फलों की समाप्ति होती है, पुन: बंधन की स्थिति आ जाती है। अत: प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति ही श्रेयस्कर है। गीता में प्रवृत्तिमार्ग से कर्म का सिद्धान्त तथा निवृत्तिमार्ग से त्याग का सिद्धान्त इन दोनों का समन्वय किया गया है। इसके अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा, साथ ही साथ त्याग भी आवश्यक है। परन्तु त्याग कर्म का नहीं, बल्कि 'कर्म से उत्पन्न फलाकांक्षा का'। इसे प्रो. हिरियन्ना कहते हैं कि 'गीता कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म में त्याग का संदेश देती है।' यही 'कर्म में अकर्म' की स्थिति है जहाँ साधक कर्म करते हुए भी अकर्ता बना रहता है, क्योंकि आसक्ति रहित कर्म ही अकर्म कहलाता है। गीता के अनुसार बंधन का कारण कर्म नहीं, बल्कि आसक्ति है। अस्तु, अनासक्त होकर कर्म करने से बंधन की स्थिति नहीं होती है। स्पष्टत: गीता का यह सिद्धान्त अरस्तू के 'स्वर्णिम मध्यम' (The Theory of Golden Mean) के समान मध्यम मार्ग है। गीता के अनुसार कर्म का त्याग सम्भव नहीं क्योंकि-

- जब तक शरीर है उसके रक्षार्थ कुछ न कुछ कर्म करना आवश्यक है (शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण:)।[१२]

- इन्द्रियाँ सदैव विषयोन्मुख होती हैं। अत: कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता है (न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्)।[१३]

- जगत् कर्मों से बंधा हुआ है। अस्तु, बिना कर्म के लोक की स्थिति भी सम्भव नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति कर्म का परित्याग कर दे, तो लोक का ही उच्छेद हो जायेगा (यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रित:। ... संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमा: प्रजा:।।)[१४]

- पुनश्च, भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा कोई भी कार्य अवशिष्ट नहीं है (तस्य कार्यं न विद्यते)[१५], फिर भी मैं लोकसंग्रह के लिए (लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि)[१६] कर्म करता हूँ (वर्त एव च कर्मणि)।[१७]

जब स्वयं भगवान को लोकसंग्रह के लिए कर्म करना आवश्यक है तब साधारण मनुष्य कर्म से विमुख कैसे हो सकता है? इस प्रकार जब तक जीव का देह से सम्बन्ध है, कर्म से असंपृक्त नहीं हो सकता है। अब यदि प्रवृत्तिमार्ग के अनुसार कर्म करना वास्तव में अभीष्ट है अस्तु, गीता में अनासक्ति कर्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इसी कारण भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हारा कर्म पर ही अधिकार है, फल पर नहीं। अत: तुम फल को कर्म का हेतु मत बनाओं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।[१८]

इसका अर्थ नहीं है कि कर्म बिना फल के विचार से किया जाता या कर्म करने से फल प्राप्ति नहीं होगी। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि कर्म करने का हेतु कर्मफल नहीं होना चाहिए, क्योंकि फलासक्ति से कर्मबंधन दृढ़ होता है (फलेसक्तो निबध्यते)।[१९] इसीलिए गीता में फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गयी है। गीता के अनुसार फल की इच्छा रखने वाला व्यक्ति कृपण होता है (कृपणा: फलहेतव:)।[२०]

लेकिन अनासक्ति कर्म के लिए 'अहंकार' एवं 'आसक्ति' का परित्याग आवश्यक है। प्राय: जीव अज्ञानवश विभिन्न जीवों के प्रति राग-द्वेष का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है जिसके परिणामस्वरूप कर्मफल में स्वभावत: आसक्ति हो जाती है और आसक्तिवश किया गया कार्य फल के लिए किया गया कार्य होता है, जो बंधनकारी होता है। इसीलिए गीता आसक्ति-रहित होकर कार्य करने का उपदेश करती है। यहाँ अनासक्ति का तात्पर्य इच्छा-रहित (Disireless) से न होकर आसक्ति-रहित (Disintereted) है, क्योंकि जब तक शरीर है इच्छाएँ तो रहेंगी ही। पुनश्च, 'अहंकार' का तात्पर्य है मैं एवं मेरा का भाव है। यदि व्यक्ति अहंकार एवं आसक्ति का परित्याग कर दे तब वह दु:ख में रहते हुए भी दु:खी नहीं रहेगा, क्योंकि दु:खों का कारण कर्म नहीं बल्कि फलाकांक्षा है। अत: यदि फलाकांक्षा से रहित होकर कर्म किया जाय तो दु:खों से मुक्त हुआ जा सकता है। दूसरे, आसक्ति या स्वार्थवश व्यक्ति उचित कर्म का चुनाव नहीं कर पाता है। यदि संयोगवश उचित कर्म का चुनाव कर भी ले तो लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होने पर वह हताश एवं निराश होकर या तो कर्म का ही परित्याग कर देता है या फिर दु:खों से आक्रांत रहेगा।

गाँधीजी भी मानते हैं कि गीता अनासक्ति योग का प्रतिपादन करती है जिसका तात्पर्य कर्म का त्याग नहीं, बल्कि आसक्ति का परित्याग है। अनासक्त कर्म का अर्थ बताते हुए वे कहते हैं कि 'तब कर्म करते हुए भी मनुष्य बंधन मुक्त कैसे रहे? जहाँ तक मुझे मालूम है इस समस्या को जिस तरह गीता ने हल किया है, वैसे दूसरे किसी भी धर्मग्रंथ ने नहीं किया है। गीता का कहना है 'फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो।' 'आशारहित होकर कर्म करो।' 'निष्काम होकर कर्म करो।' यह गीता की वह ध्वनि है, जो भुलाई नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड़ता है, वह चढ़ता है। फलत्याग का अर्थ नहीं है कि परिणाम के सम्बन्ध में लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान आवश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन में तन्मय रहता है। वह फलत्यागी है। ... गीता के अनुसार 'जो कर्म ऐसे हैं कि आसक्ति के बिना हो ही न सकें, वे सभी त्याज्य हैं।'[२१]

गाँधीजी के अनुसार अनासक्ति योग में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, आसक्ति-रहित होकर कर्म करना, क्योंकि बंधनकारी कारण कर्म नहीं आसक्ति है। परन्तु कर्ममात्र में कुछ दोष तो है ही, मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्मबंधन में से अर्थात् दोष-स्पर्श में से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजी ने निश्चयात्मक शब्दों में दिया है 'निष्काम कर्म से यथार्थ कर्म करके, कर्म फल त्याग करके...।' दूसरा, सत्य तथा अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन किये बिना अनासक्ति कर्म असम्भव है।

इन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि अर्जुन युद्ध करने में असमर्थ नहीं था, बल्कि उसमें कार्य करने की पूर्ण सामर्थ्य थी। एक अवस्था आती है, जब वह युद्ध करने से साफ मना कर देता है, लेकिन इसका अर्थ नहीं है कि वह 'भयवश' युद्ध करने से मना करता है। वास्तविकता यह है कि उसने भयवश नहीं, बल्कि 'मोहवश' युद्ध करने से मना किया। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में कौरव एवं पाण्डव की सेनाएं आमने-सामने थीं तभी अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से यह विनय करता है कि हे प्रभु! आप हमें यह बताएं कि मेरे विपक्ष में कौन-कौन से महारथी आएं हैं। इस पर भगवान श्रीकृष्ण रथ को ले जाकर दोनों सेनाओं के मध्य में स्थित करके अर्जुन का परिचय एक-एक महारथियों से कराते हैं। यह सब देखकर अर्जुन के मन में अचानक मोह उत्पन्न होता है। वह कहता है कि हे केशव! जिस पितामह भीष्म के गोद में पलकर बड़ा हुआ उसी को तुम मारने की बात करते हो। जिस गुरु द्रोणाचार्य ने बाण चलाना सिखाया उसी को बाण से छलनी करने की बात करते हो। हे केशव! मैं यह युद्ध नहीं करूँगा, क्योंकि यदि मैं इस युद्ध में विजयी हो भी गया तो भी अपने भाई-बांधवों के रक्त से रंजित राज सुख का भोग मैं कैसे कर पाऊँगा। पुनश्च, यदि युद्ध में महाविनाश हुआ तो इस महाविनाश जनित पापों का भोग कौन करेगा? इन्हीं सब परिस्थितियों की कल्पना करके अर्जुन के मन में अचानक मोह उत्पन्न होता है और वह युद्ध करने से मना कर देता है। यही नहीं, यदि अर्जुन असमर्थ होता तो भगवान श्रीकृष्ण उसे कुरुक्षेत्र के नायक के रूप में क्यों स्वीकार करते।

यदि कोई यह कहे कि अर्जुन इन महारथियों को देखकर भयवश युद्ध करने से मना कर दिया तो यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या

उठती है कि अर्जुन को तो युद्ध के बारे में पहले से ही ज्ञान था, क्योंकि युद्ध की तैयारी तो बहुत पहले से ही चल रही थी। यही नहीं उसे यह भी पता था कि इस युद्ध में उसके प्रतिपक्ष में कौन-कौन से महारथी होंगे। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि अर्जुन ने भयवश युद्ध करने से मना कर दिया तब हम अर्जुन के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं। पुनश्च, यदि अर्जुन भयवश युद्ध करने से मना किया होता तो युद्ध का आरम्भ ही नहीं होता, क्योंकि आरम्भ होने से पहले ही अर्जुन मना कर दिया होता। यथार्थतः अर्जुन युद्ध क्षेत्र में अपने भाई-बन्धुओं को देखकर मोहवश युद्ध करने से मना कर देता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्जुन न तो अकर्मण्य था और न ही असमर्थ। उसमें कर्तव्यपरायण था जो संकल्प-स्वातंत्र्य के लिए अपरिहार्य है।

संकल्प-स्वातंत्र्य की दूसरी शर्त यह है कि व्यक्ति जानबूझकर उद्देश्यपूर्ण ढंग से कर्म का चयन करे। अब यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो पाते हैं कि गीता के संदर्भ में यह शर्त भी पूरी हो रही है। अर्जुन इस तथ्य से अवगत था कि युद्ध क्यों अपरिहार्य हो गया है अर्थात् इसका परिणाम क्या होगा। भगवान श्रीकृष्ण चौथे अध्याय के सातवें और आठवें श्लोक में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि-

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।[२२]

अर्थात् हे भारतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अपने आप को साकार रूप में प्रकट करता रहूँगा अर्थात् अधर्मियों का विनाश करके धर्म की संस्थापना के लिए मैं बार-बार अवतार ग्रहण करता रहूँगा। पुनश्च, भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।।[२३]

अर्थात् साधुओं की रक्षा करने के लिए तथा दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म की भली-भाँति स्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में प्रकट हुआ करता हूँ। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि भगवान श्रीकृष्ण का परम साध्य धर्म की संस्थापना करना था और इस बात का ज्ञान अर्जुन को पहले से ही था।

जहाँ तक 'विकल्पों की उपस्थिति' की बात है यह भी गीता में स्पष्ट रूप से मिलती है, क्योंकि अर्जुन को युद्ध करने या न करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता थी। तभी तो सम्पूर्ण गीता का उपदेश करने के उपरान्त अन्ततः भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! इस गुह्य से भी गुह्यतर शरणागति का उपदेश मैंने तुझे दिया। अब उन पर तुम अच्छी तरह से विचार करके यह निश्चय करो कि तुझे क्या करना है अर्थात् युद्ध करना है या नहीं (यथेच्छसि तथा कुरु)।[२४] गीता में संकल्प-स्वातंत्र्य का इससे बड़ा उदाहरण नहीं मिलता है। इस पर अर्जुन कहता है कि हे केशव! आपकी असीम अनुकम्पा से मेरा मोह विनष्ट हो गया अतः अब मैं वहीं करूँगा जो आप कहेंगे।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।।[२५]

इसका तात्पर्य यह है कि गीता में पूर्ण संकल्प-स्वातंत्र्य का उद्घाटन हुआ है। कोई यह कह सकता है कि जब अर्जुन भगवान द्वारा कहे गये मार्गों का ही अनुसरण करता है तो उसमें संकल्प-स्वातंत्र्य कैसे हो सकता है? यद्यपि यह अक्षरशः सत्य है कि अर्जुन अन्ततः भगवान श्रीकृष्ण द्वारा बताये गये मार्ग का ही अनुसरण करता है, परन्तु वहाँ भी उसकी पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह उनकी बातों को माने या न माने। वास्तव में स्वतंत्रता के दो रूप हैं- बाह्य एवं आन्तरिक। बाह्य स्वतंत्रता का अर्थ है बाह्य बाधाओं से रहित होना, जबकि आन्तरिक स्वतंत्रता का अर्थ है तुच्छ विचारों अर्थात् अज्ञान से रहित होना। यद्यपि आन्तरिक बन्धन या अज्ञान सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है लेकिन इसकी अभिव्यक्ति 'अहंकार' एवं 'आसक्ति' के रूप में होती है। यहाँ पर व्यक्ति अपनी वासनाओं तथा निम्न प्रवृत्तियों का गुलाम होता है अतः यहाँ पर भी

वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है।

आसक्ति का अर्थ होता है अपने-पराये का भेद अर्थात् इच्छाओं से युक्त होना (Attachment with desire), जबकि अहंकार का अर्थ होता है मैं और मेरा (Ego) का भाव। आसक्ति एवं अहंकार का मूर्त रूप कुरुक्षेत्र के युद्ध में दिखाई देता है, जब कौरव और पाण्डव की सेना आमने-सामने थी। इसे देख अर्जुन के मन में अचानक आसक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उसने कहा कि हे केशव! मैं युद्ध नहीं लड़ूँगा। भगवान कृष्ण ने पूछा कि ऐसा क्यों? अर्जुन ने कहा कि मुझे युद्ध से कोई परहेज नहीं है, लेकिन मैं अपने भाई-बान्धवों के साथ युद्ध नहीं लड़ूँगा। यही आसक्ति है।

अहंकार का अर्थ है- कर्तापन का भाव (I am doer)। युद्धोपरान्त सभी महारथियों को यही लग रहा था कि मैंने ही युद्ध जीता है। भगवान श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि चलो बर्बरीक के पास चलते हैं। बर्बरीक ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जिसने कुरुक्षेत्र के युद्ध को आँखों देखा है। बर्बरीक, घटोत्कच का पुत्र और घटोत्कच भीम का पुत्र था। युद्ध शुरू होने के पूर्व कुरुक्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण की मुलाकात बर्बरीक से हुई। भगवान कृष्ण ने बर्बरीक से पूछा कि तुम यहाँ क्या कर रहे हो? उसने कहा कि मैं युद्ध लड़ने आया हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा कि किसकी तरफ से युद्ध लड़ोगे। बर्बरीक ने कहा कि दुर्योधन की तरफ से। श्रीकृष्ण ने पूछा ऐसा क्यों? बर्बरीक ने कहा कि मेरी माँ ने कहा कि जो कमजोर हो उसी की ओर से युद्ध लड़ना। भगवान कृष्ण ने कहा कि लेकिन तुम्हारा पितामह भीम तो दुर्योधन के विपक्ष में है। अतः यदि तुम्हें युद्ध लड़ना ही है तो पाण्डवों के पक्ष से लड़ना चाहिए, अन्यथा तटस्थ रहना चाहिए। बर्बरीक ने कहा कि वास्तव में मैं युद्ध लड़ने नहीं, बल्कि देखने आया हूँ कि युद्ध में होता क्या है। यदि मैं युद्ध लड़ूँगा तो क्षण मात्र में यह युद्ध ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि मैं एक ही बाण मारूँगा और सब मर जायेंगे। भगवान श्रीकृष्ण ने सोचा कि यह तो अहंकारी लगता है, अतः इसकी परीक्षा आवश्यक है। उन्होंने कहा, बर्बरीक मैं इसे तब मानूँगा जब तुम इस पेड़ पर बाण चलाओ और वह बाण एक साथ सारे पत्ते को वेध दे। बर्बरीक ने कहा कि ठीक है। जब उसने ध्यान किया तब भगवान श्रीकृष्ण ने उस पेड़ का एक पत्ता तोड़कर अपने पैर के नीचे दबा लिया। जब बर्बरीक ने बाण चलाया तो वह बाण एक साथ पेड़ के सारे पत्तों को वेधकर श्रीकृष्ण के पैर के चारों तरफ घूमने लगा। श्रीकृष्ण ने पूछा बर्बरीक यह क्या हो रहा है? बर्बरीक ने कहा कि यह बाण पेड़ के पत्तों को वेधने के लिए मारा है, तुम्हारे पैर को बेंधन के लिए नहीं। देखिए कहीं आपके पैर के नीचे कोई पत्ता तो नहीं दबा है। ज्योंही श्रीकृष्ण ने अपना पैर उठाया, उस बाण ने उस पत्ते को भी वेध दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि यह युद्ध का पाँसा पलट सकता है। लेकिन बर्बरीक बहुत ही न्यायप्रिय था। उससे अन्याय बर्दाश्त नहीं होता था और महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण को तो छल भी करना था। अतः श्रीकृष्ण ब्राह्मण के वेश में बर्बरीक के पास गये और दक्षिणा के रूप में उसका सिर माँग लिया। बर्बरीक ने कहा कि मैं तो युद्ध देखने आया हूँ, यदि तुम्हें सिर दे दूँगा तो युद्ध कैसे देखूँगा। श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं इसकी व्यवस्था कर दूँगा। बर्बरीक का सिर लेकर भगवान कृष्ण ने उसे कुरुक्षेत्र की सबसे ऊँची पहाड़ी पर रख दिया और कहा कि तुम यहीं से युद्ध देखो। युद्धोपरान्त श्रीकृष्ण पाण्डवों के साथ बर्बरीक के पास गये और कहा कि बर्बरीक हम लोग तो कुरुक्षेत्र में युद्ध लड़ रहे थे। अतः यह देख नहीं पाये कि युद्ध में क्या हुआ। तुम तो तटस्थ रूप से केवल युद्ध देख रहे थे। तुमने युद्ध में क्या देखा? बर्बरीक ने कहा कि हमने तो यह देखा कि केवल एक ही व्यक्ति है जो पीताम्बर पहने हुए है और वही सबको मार रहा है, बाकी तो सभी मर ही रहे थे। मैंने ही युद्ध जीता, यही अहंकार है।

जब व्यक्ति आसक्ति और अहंकार से रहित होता है तब वह अपने आप को स्वयं में स्थित पाता है, तभी वह सच्चे अर्थ में संकल्प-स्वातंत्र्य से युक्त माना जा सकता है। जब तक वह अहंकार और आसक्ति में फंसा हुआ है वह निम्न प्रवृत्तियों (Lust desires) का दास होता है, क्योंकि वह उन्हीं निम्न प्रवृत्तियों के द्वारा नियंत्रित होता रहता है। काण्ट ने ऐसे व्यक्ति को जो अपनी इच्छानुसार कोई भी कार्य करता है, उसे स्वतंत्र नहीं बल्कि गुलाम कहते हैं, क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपनी निम्न प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने में असमर्थ रहता है। उसके अनुसार स्वतंत्र तो केवल वह व्यक्ति है जो 'सार्वभौमिक बुद्धि' के अनुसार कार्य करे। जब व्यक्ति अपनी निम्न प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर कार्य करता है तो यह भी नियंत्रण की ही अवस्था है। गीता न तो नियंत्रण (Determinism) की और न ही अनियंत्रण (Indeterminism) की

बल्कि यह आत्म-नियंत्रण (Self-determinism) की वकालत करती है। नियंत्रण का तात्पर्य बाह्य नियंत्रण से है जबकि अनियंत्रण का तात्पर्य आंतरिक स्वच्छंदता से है, जहाँ व्यक्ति अपनी निम्न प्रवृत्तियों का गुलाम होता है। यहाँ ऊपरी तौर पर तो स्वतंत्रता दिखाई देती है, परन्तु आन्तरिक तौर पर यह भी एक प्रकार की दासता ही है। इस प्रकार नियंत्रण एवं अनियंत्रण दोनों ही किसी न किसी रूप में नियंत्रण की ही अवस्था है। नियंत्रण के अंतर्गत व्यक्ति बाह्य शक्तियों से नियंत्रित होता है जबकि अनियंत्रण में आंतरिक निम्न प्रवृतियों के द्वारा। ऐसी परिस्थिति में आत्म-नियंत्रण ही वास्तविक स्वतंत्रता है जहाँ व्यक्ति आत्म-अवस्थित होकर स्व-विवेक के अनुसार कार्य करता है। यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इसी प्रकार जब भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तू सब कुछ छोड़कर मेरे शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त करूँगा।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[२६]

पुनश्च, हे अर्जुन! तू मेरा भक्त हो जा, मेरे में ही अपने मन को लगा, मेरा ही पूजन करने वाला हो जा और मुझे ही नमस्कार कर। मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मुझे ही प्राप्त हो जायेगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[२७]

स्पष्टतः यहाँ पर भी संकल्प-स्वातंत्र्य बाधित नहीं हो रहा है, क्योंकि यदि अर्जुन में संकल्प-स्वातंत्र्य नहीं होता तो यह कहने कि आवश्यकता ही क्या थी कि 'यदि तू सबको छोड़कर मेरे शरण में आ जाता है तो मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा।' स्पष्टतः यह एक वैकल्पिक न्यायवाक्य (Hypothetical Syllogism) है, जो निरूपाधिक न होकर सोपाधिक होता है। सोपाधिक, सशर्त (Conditional) होता है अर्थात् 'यदि तू मेरी शरण में आता है तो मैं तुझे पापों से मुक्त कर दूँगा।' इसका अर्थ यह भी है कि 'यदि तू मेरी शरण में नहीं आता है तो मैं तुझे पापों से मुक्त नहीं करूँगा।' यही तो संकल्प-स्वातंत्र्य है।

पुनश्च, माना कि भगवान श्रीकृष्ण निरपेक्ष रूप से यह कहते हैं कि 'यदि तू सबको छोड़कर मेरे शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा।' परन्तु यहाँ पर भी संकल्प-स्वातंत्र्य बाधित नहीं हो रही है। जब व्यक्ति का सीमित संकल्प ईश्वर के असीमित संकल्प में समाहित हो जाए तो यह हमारे संकल्प-स्वातंत्र्य का न तो पराभव है और नहीं उसका उल्लंघन बल्कि यह उसका उत्कर्ष एवं उन्नयन है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति की सीमित एवं तुच्छ प्रवृत्तियाँ परिष्कृत एवं परमार्जित होकर असीमित एवं उत्कृष्ट हो जाती हैं, ठीक वैसे ही जैसे नाले का सीमित एवं गंदा जल, समुद्र में मिलकर असीमित एवं पवित्र हो जाता है। यही अवस्था पूर्ण आत्म-नियंत्रण की अवस्था है। जहाँ साधक निर्भय होकर तुच्छ प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करते हुए आत्म-रमण करता है। गीता का परम साध्य आसक्ति एवं अहंकार से युक्त अर्जुन को आत्मावस्थित करना था। अस्तु, गीता में संकल्प-स्वातंत्र्य का खण्डन नहीं बल्कि उसका मण्डन किया गया है।

संदर्भः

१. *श्रीमद्भगवद्गीता, १८/६१*

२. *वही, ३/२७*

३. *वही, १८/१४*

४. *गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, ५१/४*

५. *मूर, जी.ई. (१९१२): एथिक्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, पृ. संख्या, १३१।*

६. नावेल-स्मिथ, पी.एच. (१९५४): एथिक्स, पेंगुइन प्रेस, पृ. संख्या, २३९।

७. श्रीमद्भगवदगीता, ५/८-९

८. वही, १२/१०

९. वही, ३/१४

१०. वही, १८/४१

११. वही, २/४८

१२. वही, ३/८

१३. वही, ३/५

१४. वही, ३/२३-२४

१५. वही, ३/१७

१६. वही, ३/२०

१७. वही, ३/२२

१८. वही, २/४७

१९. वही, ५/१२

२०. वही, २/४४

२१. गाँधीजी (१९८९): अनासक्ति योग, पृ. १-१०।

२२. श्रीमद्भगवदगीता, ४/७

२३. वही, ४/८

२४. वही, १८/६३

२५. वही, १८/७३

२६. वही, १८/६६

२७. वही, १८/६

***

पं. नेहरू और महात्मा गाँधी के नैतिक विचारों पर एक तुलनात्मक दृष्टि

ज्ञानञ्जय द्विवेदी

आधुनिक भारत के जिन दो विचारकों के नैतिक विचारों पर एक तुलनात्मक दृष्टि प्रस्तुत आलेख में उल्लिखित किया जा रहा है, वस्तुत: वे अपने आपमें दो स्वतंत्र व्यक्तित्व हैं। इनमें पारस्परिक सम्बन्ध भी रहे हैं। पर मेरे विचार में इनके नैतिक विचारों को एक ही श्रेणी में रखकर इनका सामूहिक मूल्यांकन करना उपयुक्त नहीं होगा। यद्यपि इन दोनों ने ही भारत की स्वतंत्रता के लिए मिलकर संघर्ष किया, किन्तु इन दोनों की अवधारणाएँ, मान्यताएँ और इनके नैतिक विचार प्राय: भिन्न-भिन्न थे। स्वतंत्रता के सम्पूर्ण संघर्ष के दौरान हमें प्रतीत होता है कि इस आन्दोलन में सभी प्रकार के नैतिक विचारों का समावेश था। ये विचार आपस में टकराते तो अवश्य थे पर इस आन्दोलन के जनतांत्रिक स्वरूप पर कभी आघात नहीं पहुँचा, क्योंकि इन सभी का मूलमंत्र तो स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त सर्वे भवन्तु सुखिन: का था। भले ही उनके नैतिक विचार भिन्न-भिन्न रहे हों।

इन दो मनीषियों को जब हम उनके नैतिक विचारों की दृष्टि से देखते हैं तो इनके बीच समानताएँ कम और एक गहन अन्तर्विरोध का आभास ज्यादा दिख पड़ता है। जैसे- गाँधीजी मूलत: एक धार्मिक संत थे तो नेहरू एक यथार्थवादी चिन्तक। गाँधी की मूल अवधारणाएँ आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत थी और नेहरू की वैज्ञानिकता से। गाँधी यथार्थ का विश्लेषण अपने आदर्शों के अनुरूप करते थे तो नेहरू का यथार्थ चिन्तन वस्तुवादी था। यही कारण था कि जब कभी भी नैतिक आदर्शों का प्रश्न उठता तो नेहरू अपने को गाँधी से भिन्न पाते थे और गाँधी भी इस बात को स्वीकार करते थे कि उनके बीच नैतिक आदर्शों में भिन्नता है। जैसा कि १९२८ में नेहरू अपने पत्र में गाँधी को लिखते हैं कि- 'यंग इण्डिया में आपके अनेक लेख और आत्मकथा आदि पढ़ने से ऐसा लगता है कि मेरे विचार आपसे सर्वथा भिन्न हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि आप अपने निर्णयों में जल्दबाजी करते हैं। और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि आप घटनाओं के घट जाने के बाद उन्हें उचित सिद्ध करने के लिए जो भी प्रमाण मिल जाता है उसी को तर्क बना देते हैं।' इस पत्र के उत्तर में गाँधी ने नेहरू के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा- 'तुम्हारे और मेरे मध्य जो अन्तर है वे मुझे इतने गहरे और व्यापक लगते हैं कि हमारे पास वार्तालाप के लिए कोई समान स्थल नहीं है।' गाँधीजी १९४५ में एक बार फिर नेहरू को भेजे पत्र में लिखा कि- 'तुम्हारे और मेरे मध्य अन्तर है। और यदि यह अन्तर मौलिक है तो इसे जनता के सम्मुख रखना चाहिए। इस तथ्य को जनता से छिपाना स्वराज्य के कार्य के लिए हानिकारक होगा।'

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट होता है कि गाँधी के चिन्तन की आध्यात्मिक अवधारणाओं से नेहरू की असहमति अवश्य थी, पर जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, नेहरू नैतिकता के प्रबल पक्षधर थे। वे किसी भी अवस्था में नैतिक मूल्यों की अवहेलना करने के पक्ष में नहीं थे। जैसा कि स्पष्ट है कि गाँधी की ईश्वर सम्बन्धी अवधारणाओं से नेहरू सहमत नहीं होते हुए भी वे एक परम सत्ता की अनुभूति को नकार न सके। नेहरू ने उस अनुभूति को एक रहस्य के रूप में स्वीकार किया और उसके उद्घाटन का न तो प्रयत्न किया और न ही इसकी आवश्यकता ही महसूस की। अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ

इण्डिया' में नेहरू लिखते हैं कि– 'जब भी मैं इस विश्व की ओर देखता हूँ तो अज्ञात गहराईयों और रहस्यों का आभास होता है। यह चीज वास्तव में क्या है? मैं नहीं जानता। मैं उसे ईश्वर नहीं कहता, क्योंकि ईश्वर का बहुत कुछ अर्थ ऐसा है जिसमें मेरा विश्वास नहीं है। मैं किसी देवता या किसी अज्ञात सर्वोच्च सत्ता जिसका स्वरूप मानव जैसा हो, की कल्पना की क्षमता अपने में नहीं पाता, एक व्यक्तित्व और सगुण ईश्वर का विचार मुझे अजीब-सा लगता है। बौद्धिक दृष्टि से मैं कुछ सीमा तक अद्वैतवादी विचारधारा का समर्थन करता हूँ और वेदान्त के अद्वैत की ओर मेरा आकर्षण भी है। किन्तु वेदान्त तथा इस प्रकार के दृश्य जगत् के विषय में विचार (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) मेरे मानस में भ्रान्ति भी उत्पन्न करते हैं।'

नेहरू के उपरोक्त कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं– पहली यह कि नेहरू स्वयं को अद्वैतवादी होने का संकेत दे रहे हैं, और दूसरी यह कि अद्वैतवादियों द्वारा प्रतिपादित दृश्य जगत् की बातें उन्हें संशय में डाल रही हैं। अर्थात् अद्वैतवादी दृश्य जगत् की यथार्थता यह कहकर नकार रहे हैं कि यह जगत् मिथ्या है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गाँधी जिन मूलभूत आध्यात्मिक मूल्यों की बात कहते हैं उनका सीधा सम्बन्ध नेहरू से नहीं है। परन्तु जहाँ तक नैतिक विचारों का प्रश्न है, नेहरू अवश्य ही गाँधी के नैतिक मूल्यों के कायल थे। हम यह भी कह सकते हैं कि उन पर गाँधी के नैतिक विचारों का गहरा प्रभाव अवश्य था, किन्तु वे धर्मांधता के कट्टर विरोधी थे। वे धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकते थे। वे धर्मनिरपेक्ष के कट्टर पक्षपाती थे। देश के विभाजन के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा था। किन्तु वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक हमेशा बने रहे। उनका विचार था कि राष्ट्रवाद की स्थापना धर्म पर आधारित नहीं की जा सकती। वे भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बनाना चाहते थे। नेहरूजी स्पष्ट कहते हैं कि – 'यदि राष्ट्रीयता का आधार धर्म है तो भारत में न केवल दो वरन् तमाम राष्ट्र मौजूद हैं। भारत की राष्ट्रीयता न हिन्दू है न मुस्लिम, यह तो विशुद्ध भारतीय है।'

गाँधीजी के सम्पूर्ण विचारों की आत्मा अहिंसा और सत्य में निहित है। इन दोनों सन्दर्भों की चर्चा इन मनीषियों को लेकर करें तो हम पाते हैं कि गाँधीजी के अहिंसा सिद्धान्त को नेहरू पूर्णतया नहीं मानते थे। वे मानते थे कि अहिंसा एक उच्च नैतिक विचार अवश्य है पर इसका अनुसरण एक निश्चित सीमा तक ही किया जा सकता है। हम यह भी पाते हैं कि जिन संदर्भों में गाँधी हिंसा की बिल्कुल आज्ञा नहीं देते नेहरू यह मानकर चलते हैं कि इन सन्दर्भों में शायद हिंसा का सहारा लेना पड़े। नेहरू अपराधी को क्षमा करने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु गाँधी अपराधी को क्षमादान के द्वारा सही रास्ते पर लाने के समर्थक थे। नेहरू के विचार में अहिंसा व्यक्तिगत अधिक है। अत: कोई सरकार मात्र अहिंसा के आधार पर नहीं चलायी जा सकती।

सत्य की अवधारणा पर विचार करें तो हम पाते हैं कि गाँधीजी की सत्य की अवधारणा आध्यात्मिकता लिए हुए थी। अर्थात् वे पारलौकिक सत्य पर विशेष बल दिया करते थे। परन्तु नेहरू पारलौकिक सत्य की अपेक्षा यथार्थ के सत्य को स्वीकारते थे। जैसे नेहरू के विचार में भारत की गरीबी सत्य है, अंग्रेजों द्वारा भारत का शोषण सत्य है, सारे भारतीय समाज में व्याप्त असमानता सत्य है। हमारे जीवन की समस्त विकृतियाँ सत्य हैं, भारतीय समाज में छूआछूत अपनी चरमसीमा पर है यह सत्य है और इस प्रकार के सत्यों की पकड़ से ही हम उन्नत्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। अर्थात् भारत उन्नति तभी कर सकता है जब वह उपरोक्त प्रकार के सत्यों पर विजय पा ले। यद्यपि नेहरू गाँधीजी के साथ सत्याग्रह में हिस्सा लिया करते थे, किन्तु वे गाँधी के हृदय परिवर्तन की अवधारणा से सहमत नहीं थे। वे विशुद्ध सामाजिक सुधारवादी थे और उनका लक्ष्य था मानवतावाद। नेहरू के शब्दों में– 'मानव की गरिमा को स्वीकार करना, उनकी क्षमताओं का आदर करना और उनकी प्रगतिशीलता पर विश्वास करना यही सत्य का सच्चा अनुसरण है। सत्य को अदृश्य ईश्वर से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति नेहरू में नहीं थी। मानव के कल्याण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना यही उनके सत्य की पराकाष्ठा थी। नेहरू की दृष्टि जहाँ एक ओर भारत के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण की थी, वहीं दूसरी ओर उनकी चिन्ता भारत को उन्नतिशील देशों की बराबरी पर लाने की भी थी। नेहरू इन नैतिक आदर्शों के बाहर जाकर अपना समय नष्ट नहीं करना चाहते थे। नेहरू भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत संकीर्णताओं के विरोधी थे और उसको समूल विनष्ट कर देना चाहते थे। इस प्रकार गाँधी धार्मिक दृष्टि वाले तो नेहरू वैज्ञानिक दृष्टि वाले व्यक्ति थे। गाँधी को धार्मिक दृष्टि वाले व्यक्ति और नेहरू को वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्ति कहने का आशय यह है कि गाँधी समस्याओं का समाधान अदृश्य सत्ता द्वारा करने का प्रयास करते थे तो

नेहरू दृश्य सत्ता द्वारा। नेहरू धर्म पर आधारित आस्थाओं पर सीधी चोट किया करते थे। वे समस्त जातिगत सम्प्रदायगत और धर्म पर आधारित संकीर्णताओं से ऊपर उठकर एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे जो अपनी अन्तर्राष्ट्रीय की भूमिका सचमुच निभा सके।

पं. नेहरू, गाँधी की ही भाँति एक स्वप्नद्रष्टा भी थे। दोनों भारत के समुन्नत विकास का स्वप्न देखा करते थे और उस पर गहन चिन्तन-मनन भी किया करते थे। परन्तु दोनों के चिन्तन में अन्तर था। गाँधी का चिन्तन आध्यात्मिक था, जबकि नेहरू का चिन्तन व्यावहारिक, नेहरू महान जीवन-मूल्यों अथवा आदर्शों से अपरिचित नहीं थे, किन्तु आध्यात्मिकता की गूढ़ समस्याएं उनको आकर्षित नहीं करती थीं। नेहरू रूढ़िवादिता के प्रबल शत्रु थे, किन्तु ऐसा इसलिए था कि वे रूढ़िवादिता और दकियानूसीपन को भारत की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा मानते थे। नेहरू का विश्वास था कि अगर हम अपना इहलोक न संभाल सके तो परलोक क्या संभालेंगे। इसलिए बार-बार कहते थे कि हमारी परम्परा में जो भी बातें समयानुकूल न हों उनको हमें बेदर्दी से उखाड़ फेंकना चाहिए, जिन चीजों अथवा विचारों की हमें आवश्यकता हो उनकी हमें रक्षा करनी होगी, किन्तु वे विचार जिनका कोई तार्किक आधार नहीं है, उनको हमें छोड़ देना चाहिए। यहाँ यह स्पष्ट है कि नेहरू की इस प्रकार की नीतियाँ प्राचीन भारत को आधुनिकता की तरफ ले जाना चाहती है।

गाँधी को पश्चिमी सभ्यता कभी रास नहीं आयी, अतः भारत को इससे दूर ही रखना चाहते थे, पर नेहरूजी, गाँधीजी के इस विचार से सहमत नहीं थे कि भारत को पश्चिमी सभ्यता की आवश्यकता नहीं है। वे बिना अन्तर्राष्ट्रीय के भारत की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। उनका विचार था कि विज्ञान ने जो परिवर्तन किए हैं उनकी वजह से भारत अब अकेले में नहीं जी सकता। इस प्रकार नेहरू ने औद्योगिक नीति का सूत्रपात किया। वे गाँधी के इस विचार को नहीं मानते थे कि भारत को बड़े उद्योगों तथा बड़ी मशीनों की आवश्यकता नहीं है। उनका विश्वास था कि जब तक भारत का बड़े पैमाने पर ओद्योगीकरण नहीं होगा, अब तक दुनिया के बड़े राष्ट्रों के समक्ष भारत नहीं खड़ा हो सकता। नेहरू की आस्था थी कि उद्योगों का लाभ किसी क्षेत्र विशेष के लिए नहीं, बल्कि समस्त देश के लिए होना चाहिए और उस उद्देश्य की पूर्ति छोटे उद्योग नहीं कर सकते। इसके लिए यह आवश्यक है कि बड़े-बड़े उद्योगों की संख्या को धीरे-धीरे बढ़ाया जाए, ताकि देश की आर्थिक स्थिति उस सीमा तक पहुँच जाए, जहाँ औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोपीय देश पहुँच चुके हैं। नेहरू की स्पष्ट नीति थी कि मात्र कुटीर उद्योगों से रोजी-रोटी की समस्या भले ही किसी हद तक सुलझ जाए किन्तु देश, उन्नतिशील देशों की श्रेणी में नहीं आ सकता। पर यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि नेहरू का उद्देश्य ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योगों को भी बड़े पैमाने पर विकसित करना था। उनका स्पष्ट कहना था कि हमारा उद्देश्य अधिक धन कमाना, और अधिक उत्पादन ही नहीं है, अपितु हमारा लक्ष्य तो इंसान को अच्छा इंसान बनाना है।

मेरी दृष्टि में नेहरू की नीतियों की एक खास बात यह थी कि वे किसी सिद्धान्त का शास्त्रीय प्रतिपादन करने में आनन्द का अनुभव करते थे। किन्तु वे कभी भी नहीं भूलते थे कि सिद्धान्तों की वास्तविक महत्ता उसके व्यावहारिक पक्ष में निहित है जिसके कारण नेहरू यह महसूस करते थे कि भारत में व्याप्त समस्याओं का कारण यहाँ की गरीबी और असमानता है। एक ओर अमीरी का हिमालय खड़ा है तो दूसरी ओर गरीबी की गहरी खाई। जब तक इस विषमता को समूल विनष्ट नहीं किया जाएगा तब तक राष्ट्रीय एकता या समानता की बातें करना व्यर्थ है। जब गाँधी जी आर्थिक एकता की बात करते थे, सत्य और अहिंसा जैसे विशुद्ध विषयों की चर्चा करते थे तो नेहरू जी को ये बातें पसन्द नहीं आती थीं। वे बार-बार दुराते रहते थे कि भारत के गरीबों का पेट बड़ी-बड़ी आध्यात्मिक बातों व नीतिगत उपदेशों से नहीं भरेगा। जो व्यक्ति भूखा है उससे नैतिक आदर्शों जैसी बातें करना व्यर्थ है।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचनोपरान्त निष्कर्षतः और संक्षेपतः हम पाते हैं कि गाँधी की धर्म पर आधारित आध्यात्मिकता नेहरू की मानसिक वृत्तियों के प्रतिकूल थी, वे उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना ही नहीं कर सकते थे जिसकी अवधारणा गाँधी के विचारों की रीढ़ है। गीता की उक्ति 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः', अर्थात् केवल सत्य ही विद्यमान है। उसके बाहर सब कुछ एक प्रकार का यथार्थ होते हुए भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं- गाँधीजी का यह विचार नेहरू के गले उतर सकना संभव नहीं था, नेहरू की नैतिकता बौद्धिक थी, उनका यथार्थ ज्ञान भौतिकवादी था। गाँधी के

लिए आध्यात्मिकता परम ध्येय थी, राजनीति मात्र एक आवश्यकता। नेहरू के लिए राजनीति एक लक्ष्य था, नैतिकता राजनीति को सही दिशा में ले जाने का एक आवश्यक मार्ग, गाँधी अगर राजनीति में न आते तो वे एक सन्त होते पर नेहरू राजनीति में न आते तो एक विचारक।

अन्ततः एक बात यह भी स्पष्ट करना चाहूँगा कि नेहरू गाँधी के विशद् आदर्शवाद की सीमाएं बांधना चाहते थे। उनका विचार था कि कोरे आध्यात्मिक आदर्शवाद से भौतिक जगत् की समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हो सकता। गाँधी की दृष्टि उपरोक्त यथार्थ को स्वीकारती अवश्य थी, परन्तु वे चाहते थे कि उनका समाधान भौतिकता के आधार पर न होकर आध्यात्मिकता के आधार पर हो।

उपरोक्त तमाम नैतिक विचारों के अन्तरों के बावजूद भी नेहरू और गाँधी ने मिलकर जो कार्य किया उसके महत्त्व को भूलाया नहीं जा सकता। दोनों विचारक एक-दूसरे के ईमानदारी जैसी नीति के कायल थे और इसी पारस्परिक समन्वय के कारण ही दोनों साथ रहकर एक महान् लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। अन्त में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि भारत के इन दोनों विचारकों के नैतिक विचारों में भिन्नता होने के बावजूद भी दोनों का एक साथ एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होना भारतीयता की सबसे बड़ी पहचान है। निष्कर्षतः मेरी दृष्टि में नेहरू के विचार भारत को समृद्ध बनाना चाह रहे थे तो गाँधी के विचार भारत को संस्कृतिपूर्ण बनाना चाहते थे और जब विश्व सिमटकर एक हो रहा है, ऐसे में दोनों ही महान् विचारकों के नैतिक विचारों को विश्व के मनस पटल पर रखना अनिवार्य है, ताकि नेहरू की नीतियाँ भारत को समृद्धिपूर्ण बनाए और गाँधी की नीतियाँ भारत को संस्कृतिपूर्ण।

***

सद्गुण विचार एवं आध्यात्मिक मूल्य

सुनील कुमार सिंह

दर्शनशास्त्र जीवन और जगत् के प्रति मानवीय दृष्टिकोण का परिचायक रहा है और नीति-दर्शन भी दर्शनशास्त्र की एक शाखा के रूप में इस भावना को अनुप्राणित करता रहा है। नैतिक दर्शन के विकासात्मक पक्ष पर विहंगम दृष्टि डालने पर यह आभास मिलता है कि मानव संस्कृति के विकास के साथ ही साथ नैतिकता की समस्याएँ अपने विभिन्न आयामों के साथ मुखरित हुई हैं। नैतिक दर्शन अपने प्रारंभिक रूप में रीति-रिवाज (Ethios) का अध्ययन प्रतीत होता है। बाद में यह सैद्धांतिक रूप ग्रहण करता है जिसमें विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों; जैसे-सुखवाद, उपयोगितावाद, बाह्यनियमवाद, पूर्णतावाद, कठोरतावाद आदि सिद्धान्तों की प्रतिस्थापना, प्रत्येक सिद्धान्तों की समर्थक युक्तियाँ एवं विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन की बात हम देख पाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में पूर्णतावाद नामक नैतिक सिद्धान्त शिखर पर दृष्टिगोचर होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानों सैद्धान्तिक नीतिशास्त्र एक विराम बिन्दु पर पहुँच चुका है। परन्तु कोई भी विषय, जिसका विकासात्मक पक्ष प्रबल रहता है, विराम बिन्दु पर पहुँचकर किसी न किसी रूप में नई दिशा प्राप्त करने का प्रयास करता है। आज हम नीतिशास्त्र को अधिनीतिशास्त्रीय चिन्तन के रूप में अपने भिन्न-भिन्न आयामों के साथ करीब पचास वर्षों से विभिन्न धाराओं के प्रवाहित होते हुए पाते हैं। नैतिक-दर्शन में करीब पच्चास वर्षों का इतिहास अधिनीतिशास्त्र के उतरोत्तार विकास और क्रमिक ह्रास का इतिहास है। बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तथा इसके पश्चात् नैतिक दर्शन के क्षेत्र में अधिनैतिक चिन्तन के ह्रास का क्रम दिख पड़ता है। वस्तुतः इसे अधिनैतिक चिन्तन का अवरोहण काल माना जा सकता है। यहाँ नैतिक दर्शन के व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना नैतिक दार्शनिकों के लिये चिन्ता का विषय बन जाता है और यहीं से प्रारंभ होता है जान रॉल्स (John Rawls) द्वारा न्याय के समुचित वितरण की बात और इसी के साथ-साथ एक अन्य धारा भी प्रवाहित होते दिखायी देती है जिसमें नैतिकता के व्यावहारिक पक्ष को अतिप्रमुख स्थान दिया गया है। यह वैसी नैतिक समस्याएँ हैं जो बीसवीं शताब्दी के अंतिम बीस-तीस वर्षों में वैज्ञानिक क्षेत्र की सर्वाधिक विस्मयकारी प्रगति एवं तकनीकी क्षमता में अप्रत्याशित विस्तार के परिणामस्वरूप उठ खड़ी हुई है जहाँ गर्भपात, भ्रूण-हत्या, पशु-अधिकार, समलैंगिकता, पर्यावरणीय चिन्ताएँ, मृत्युदण्ड, नाभिकीय युद्ध जैसे विशिष्ट विवादास्पद मुद्दों के परिणामस्वरूप उत्पन्न नैतिक दुविधाओं के निराकरण का प्रयास अथवा उनके संबंध में परिचर्चा उपलब्ध होती है।

नैतिक प्रश्नों का समाधान प्रत्येक युग में मनुष्य को कुरेदता रहा है और इस क्रम में विविध नीतिशास्त्रीय विवेचन उपलब्ध है। नीतिशास्त्र का विभाजन मुख्य रूप से वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं आदर्शमूलक के बीच किया जाता है। वर्णनात्मक नीतिशास्त्र में व्यक्ति वस्तुतः किस प्रकार व्यवहार करता है, का अध्ययन किया जाता है, जबकि विश्लेषणात्मक नीतिशास्त्र या अधिनीतिशास्त्र में नैतिक प्रत्ययों की उत्पत्ति का, उनके अर्थों एवं कार्यों का अध्ययन होता है। आदर्शमूलक नीतिशास्त्र की रुचि इस बात में होती है कि मानव व्यवहार कैसा होना चाहिये। पुनः आदर्शमूलक नीतिशास्त्र के अन्तर्गत कर्तव्याकर्तव्य, नैतिक उद्देश्य/परिणाम और सद्गुण के आलोक में अध्ययन होता है। कर्तव्याकर्तव्य से संबंधित नैतिक व्यवस्था स्वतंत्र नैतिक नियमों या कर्तव्यों की वकालत करती है तथा प्रतीकात्मक रूप में हमारे कर्तव्यों, नियमों और

हमारी गतिविधियों को ईश्वराधीन कर देती है और इस प्रकार नैतिक होने के लिये ईश्वर के आदेशों/नियमों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। उद्देश्यमूलक नैतिक व्यवस्था कर्मों के परिणाम पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है अर्थात् यहाँ इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि किसी कर्म का नैतिक मूल्य उसके परिणाम द्वारा निर्धारित किया जाता है। इन दो प्रचलित धाराओं से अलग सद्‌गुण विचार से संबंधित नीति-दर्शन नियम या परिणाम की जगह चरित्र को महत्त्व देता है। इसकी यही विशेषता अन्य नैतिक सिद्धान्तों की तुलना में इसे श्रेयस्कर बनाती है।

चरित्र की उत्कृष्टता ही सद्‌गुण है तथा चरित्र-दोष दुर्गुण। व्यक्ति में चरित्र की उत्कृष्टता तभी संभव है जब वह अपने विचार को उच्च एवं पुनीत रखते हुये निरन्तर अभ्यास द्वारा उसे आचार में परिलक्षित करे। वस्तुतः देखा जाय तो मानव का जीवन उसके विचारों का प्रतिबिम्ब है। एक-सी परिस्थिति तथा एक-सी सुख-सुविधा समृद्धि से युक्त दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व में भी विचारों की भिन्नता के कारण असाधारण अन्तर पड़ जाता है। संसार की प्रायः सभी शक्तियाँ जड़ होती है, किन्तु विचार-शक्ति चेतन शक्ति है जो अन्य शक्तियों को गति देती है। अधोगामी विचार मन को चंचल, क्षुब्ध एवं असंतुलित बनाती हैं जिससे बुरे चरित्र का विकास होता है तथा व्यक्ति नारकीय यन्त्रणाओं का अनुभव करता है, जबकि सद्-विचारों के अवलम्बन से उच्च चरित्र का विकास होता है तथा जिससे विपरीतताओं में भी व्यक्ति सनातन सत्य के आनन्द का अनुभव करता है। गीता में इसी सत्य का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि मन ही मनुष्य का बन्धु है और वही शत्रु भी – 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन'। मानव का चरित्र विचार और आचार दोनों से मिलकर बनता है। संसार में बहुत से लोग होते हैं जिनके विचार बड़े ही उदात्त, महान और आदर्शपूर्ण होते हैं, किन्तु उनकी क्रियाएँ उनके अनुरूप नहीं होती। इसी प्रकार बहुत से लोग ऊपर से बड़े ही सत्यवादी, आदर्शवादी एवं धर्म-कर्म वाले दिखते हैं किन्तु भीतर ही भीतर कलुषपूर्ण विचारधारा बहती रहती है। सच्चा चरित्रवान वही है जो विचार और आचार दोनों को समान रूप से उच्च और पुनीत रखकर चलता है। ऐसे सद्‌गुण सम्पन्न व्यक्ति का आन्तरिक साम्य बना रहता है।

पाश्चात्य जगत् में सद्‌गुण आधारित नीतिशास्त्र यूनानी दार्शनिकों, विशेषकर अरस्तू के चिन्तन से उद्‌भूत माना जाता है। अरस्तू की प्रसिद्ध उक्ति है- 'ज्ञान सद्‌गुण है (Knowledge is Virtue)। यहाँ ज्ञान उस सत्य या नैतिक नियम के अस्तित्व में विश्वास का आधार है जिसकी सत्यता वस्तुनिष्ठ है तथा जो अपने अस्तित्व के लिये किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा और संवदेना पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार सुकरात के अनुसार ज्ञान में ही नैतिकता निहित है। सामान्य जीवन में अनेक सद्‌गुणों की चर्चा की जाती रही है जिसमें दया, उदारता, सहिष्णुता आदि प्रमुख हैं। किन्तु सुकरात के अनुसार सारे सद्‌गुणों के रूप एक ही सद्‌गुण अर्थात् ज्ञान से निःसृत होते हैं। अतः ज्ञान या विवेक ही एक मात्र सद्‌गुण है जिसके अन्तर्गत सारे सद्‌गुण समाहित हैं।[1] ये सद्‌गुण देश, काल एवं परिस्थिति से निरपेक्ष होते हैं तथा बौद्धिक एवं मानसिक आनन्द के जनक होते हैं। इनका स्पष्ट कथन है कि उत्तम स्वास्थ्य, धन तथा भौतिक वस्तुएँ प्राप्त कर लेने से ही कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो जाता, बल्कि वास्तविक आनन्द की उपलब्धि तो मनुष्य को मन की शांति एवं आत्मा की शुद्धि से ही होती है।[2] सुकरात के अनुसार सद्‌गुण को शिक्षा के द्वारा प्रसारित किया जा सकता है। किन्तु यह शिक्षा वैसे उपयुक्त शिक्षक, जिन्हें सद्‌गुण की धारणा का ज्ञान है, के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार यहाँ एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह रह जाती है कि शिक्षा द्वारा सद्‌गुण का प्रसार कौन करेगा।

सुकरात के परम मेधावी शिष्य प्लेटो का भी मानना है कि 'ज्ञान ही सद्‌गुण है'। ये सद्‌गुण के मुख्यतः चार प्रकार मानते हैं- विवेक (Wisdom), साहस (Courage), संयम (Temperance) तथा न्याय (Justice)। अन्य सभी सद्‌गुण इन्हीं चारों से व्युत्पन्न होते हैं, इसलिये इन्हें 'मुख्य सद्‌गुण' कहा गया है। प्लेटो के अनुसार जब मनुष्य विवेकपूर्वक आचरण करता है, साहस द्वारा बाधाओं पर विजय प्राप्त करता है और अपनी भावनाओं, इच्छाओं, वासनाओं आदि पर नियंत्रण रखता है तभी उसके जीवन में 'न्याय' सद्‌गुण का समावेश होता है। मुख्य सद्‌गुण के आधार पर इन्होंने राज्य के सभी नागरिकों को तीन वर्गों में विभक्त किया है- शासक, रक्षक तथा श्रमिक। विवेक शासक का प्रधान सद्‌गुण है जिससे

वह राज्य में प्रशासनिक कार्य-भार का निर्वहन करता है, साहस रक्षकों का प्रधान सद्‌गुण है जिससे वह राज्य की आन्तरिक व्यवस्था करते हुये बाह्य आक्रमण से उसकी रक्षा करता है तथा इसी प्रकार संयम श्रमिकों का प्रधान सद्‌गुण है जिससे वह राज्य में स्थित भौतिक वस्तुओं का उत्पादन तथा उसकी समृद्धि के लिये परिश्रम करता है। प्लेटो का न्याय सभी वर्ग के व्यक्तियों का पूर्ण रूप है, आदर्श है। इन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि वही राज्य पूर्ण है जिसमें न्याय हो अर्थात् जिसके नागरिकों में सभी सद्‌गुण हो। प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्तिगत चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति है।[3] यदि राज्य के सभी नागरिक अपने स्वरूप को पहचाने, अपने स्वाभाविक कार्य को करे तथा दूसरों के कार्यों में बाधा उत्पन्न न करे तो उस राज्य में न्याय होगा।[4] इस प्रकार न्याय सभी सदगुणों का सामंजस्य है, सर्वोच्च है।

मनुष्य के बौद्धिक तथा भावनात्मक – दोनों पक्षों के पूर्ण समन्वय पर आधारित जीवन को ही प्लेटो संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण जीवन मानते हैं। इनके अनुसार इन्द्रिय सुख तथा मानसिक आनन्द का समन्वय ही जीवन की सुव्यवस्था (Harmonious life) है। यह सुव्यवस्थित जीवन ही कल्याणमय (Well-being) है तथा इसे ही ये परमशुभ मानते हैं। इनके अनुसार इन्द्रिय सुख तथा मानसिक आनन्द के संतुलन में मात्रा का निर्णय विवेक (Wisdom) के अधीन है।[5] इस प्रकार जो व्यक्ति सदैव सद्‌गुणों के अनुसार आचरण करते हुये अपने विवेक के मार्ग-दर्शन में इन्द्रिय-सुख तथा मानसिक-आनन्द प्राप्त करता है उसी का जीवन वास्तव में संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण है, कल्याणमय है।

यूनानी नीति-दर्शन में प्लेटो के बहुप्रतिभाशाली शिष्य अरस्तू के नैतिक चिन्तन में सद्‌गुण-विचार पुष्पित होकर दर्शन-जगत् को सुभाषित किया है। इन्होंने सद्‌गुण विचार को व्यावहारिक धरातल पर उतारकर तर्क की कसौटी पर खड़ा किया है। प्लेटो के विचार को समर्थन करते हुये ये भी आनन्द को सर्वोच्च शुभ के रूप में स्वीकार करते दिखाई देते हैं जहाँ इन्होंने यह माना है कि 'आनन्द' (Eudaimonia) अपने आपमें निरपेक्ष है तथा यह स्वत:साध्य शुभ के रूप में प्रतिष्ठित है। अरस्तू प्रयोजनवादी विचारधारा को सम्बल प्रदान करते हुये मानते हैं कि व्यक्ति के लिये उसके क्रिया-कलाप का लक्ष्य ही 'शुभ' है। इस प्रकार शुभ व्यक्ति का साध्य है जो दूसरी परिस्थिति में अन्य उच्च शुभ का साधन बन सकता है। इस प्रकार अरस्तू एक वैसे व्यापक शुभ की बात करते हैं जो सर्वसमावेशी, निरपेक्ष तथा स्वत:पूर्ण है। यह सर्वाधिक शुभ या नि:श्रेयस (Summum Bonum) की अवस्था 'Eudaimonia' की अवस्था है जिसे 'Happiness' या 'Well-being' या 'Prosperity' की अवस्था कहा जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुये अरस्तू ने माना है कि यह वह शांतिपूर्ण मानसिक स्थिति है जिसे सदैव सद्‌गुण युक्त जीवन व्यतीत करने के परिणामस्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है। अरस्तू के अनुसार किसी वस्तु का अच्छा गुण या सद्‌गुण वह है जिसके अनुसार वह वस्तु अपना काम सुचारु रूप से करती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य के सद्‌गुण वे गुण हैं जो कर्तव्यपालन या बुद्धिसंगत आचरण और फलस्वरूप वास्तविक आनन्द (Eudiamonia) की अवस्था की प्राप्ति में सहायक हैं। अरस्तू के अनुसार सद्‌गुण का उद्देश्य शुभ की प्राप्ति है तथा वह शुभ सुख है। इस प्रकार सुख ही साध्य है। परन्तु कोई कार्य इसलिये नैतिक नहीं कि उससे सुख की प्राप्ति होती है, वरन् वह कार्य नैतिक है जिससे सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सुख नैतिक मूल्य का परिणाम है।[6]

अरस्तू मानवीय आत्मा के दो पक्ष मानते हैं- विवेकी (बुद्धि प्रधान) और अविवेकी (भावना प्रधान)। मनुष्य चिन्तनशील है और संवेदनशील भी है। पहला मनुष्य का वैचारिक पक्ष है और दूसरा भावनात्मक पक्ष। अत: मनुष्य विवेकशील पशु है। इसी के अनुरूप दो प्रकार के सद्‌गुण है- बौद्धिक सद्‌गुण (Intellectual Virtue) तथा नैतिक सद्‌गुण (Moral Virtue)। बौद्धिक सद्‌गुण में बुद्धि या ज्ञान की प्रधानता है। यह सर्वोच्च सद्‌गुण है तथा इसका सम्बन्ध दार्शनिक जीवन से है। अरस्तू इसे डायनोटिक (Dionotic) कहते हैं। यह शुद्ध विवेक पर आधारित सद्‌गुण है। इस सद्‌गुण का विकास समुचित शिक्षा के द्वारा हो सकता है। परन्तु यह सर्वोच्च विवेकपूर्ण नैतिक जीवन थोड़े व्यक्तियों के लिये है, क्योंकि अधिकांश लोग बुद्धिप्रधान नहीं, वरन् भावनाप्रधान हैं। इन भावनाप्रधान व्यक्तियों के लिये नैतिक सद्‌गुण है तथा जो विवेक और भावना का समन्वय है, विवेकशीलता और पशुता का समन्वय है। मानव में राग-द्वेष, काम-क्रोध,

इच्छा-भावना आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ अवश्य हैं जिनका निराकरण संभव नहीं, किन्तु नियमन या नियंत्रण अवश्य हो सकता है। अतः नैतिक सद्गुण में हम भावनाओं को निर्मूल नहीं कर सकते, क्योंकि ये हमारे स्वभाव के अंग हैं। हम इनका विवेक या विचार से नियंत्रण अवश्य कर सकते हैं। अतः नैतिक दृष्टिकोण से सद्गुणी व्यक्ति वह है जो वासनाओं का विवेक से नियंत्रण कर जीवन-यापन करता है। इस प्रकार भावना और बुद्धि दोनों नैतिकता के अंग है। भावना सद्गुण का द्रव्य है तथा बुद्धि इसका स्वरूप है। सद्गुण इन दोनों अन्तों का परिहार है तथा दोनों के बीच मध्यम मार्ग है। पूर्ण असाक्ति भी त्याज्य है तथा विरक्ति भी त्याज्य है। मानव के लिये दोनों के बीच का मार्ग ही श्रेयस्कर है। यह महात्मा बुद्ध के मध्यम-प्रतिपत् का स्मरण कराता है।[७] यही गीता का युक्ताहार विहार का मार्ग है।[८] इस मध्यम-मार्ग का निर्णय तो व्यक्ति की निर्णय-शक्ति पर है। व्यक्ति अपनी प्रतिभा से ही मार्ग का निश्चय करता है। इसके लिये कोई बाह्य मापदण्ड नहीं है।

अरस्तू के अनुसार सद्गुण विवेकमूलक तथा अभ्यासजन्य है। सद्गुण मनुष्य में एकाएक उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके लिये सतत् प्रयास की आवश्यकता है। सतत् प्रयास भी मनुष्य तभी कर सकता है जब वह सद्गुणों के प्रति आस्था रखता हो तथा इस आस्था के अनुरूप सर्वदा आचरण करता हो। प्रयास और आचरण मिलकर स्वभाव या आदत बन जाते हैं। सद्गुण तो मानव का शाश्वत स्वभाव है जिसकी अभिव्यक्ति ही मानव की ऐच्छिक क्रियाओं में होती है। ऐच्छिक क्रिया विवेकजन्य होने से केवल मध्यम मार्ग की ओर इंगित करती है। इस प्रकार अरस्तू मानते हैं कि जिस मनुष्य में व्यावहारिक विवेक (Practical Wisdom) होगा, वही ऐच्छिक कर्म कर सकता है तथा मध्यम-मार्ग का अनुसरण कर सकता है।

इस प्रकार अरस्तू ने सद्गुण को वैज्ञानिक और गत्यात्मक स्वरूप दिया। किस परिस्थिति में किस व्यक्ति के लिये क्या मध्य होगा, इसका निर्णय स्वयं मनुष्य की बुद्धि करेगी। फिर भी, अरस्तू द्वारा सद्गुण को सुनहरा माध्यम चुनने की आदत कहना सर्वथा दोषहीन नहीं है। प्रत्येक सद्गुण दो दुर्गुणों का महत्त्व बिन्दु होता है। यह कैसे निश्चित किया जाय कि मानव की प्रज्ञा किस सीमा तक सद्गुण है तथा कहाँ पर वह दुर्गुण बन जाती है, इसकी कोई कसौटी नहीं है। इसे अस्वीकारा नहीं जा सकता कि पाश्चात्य जगत् में अरस्तू का आचारशास्त्र अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा जिसका प्रभाव बाद के आचारशास्त्रीय विचारधाराओं पर भी विशिष्ट रूप से देखने को मिलता है। फिर भी, रसेल जैसे दार्शनिक ने इनके आचारशास्त्रीय विचारों में संवेगात्मकहीनता का पुट माना है। अरस्तू ने मानवीय व्यापारों के सम्बन्ध में जो अनुमान किया है उसमें भावात्मक अभिरुचि का सर्वथा अभाव है जिसके कारण अरस्तू के आचारशास्त्र में आभ्यन्तरिक महत्त्व का अभाव देखा जा सकता है। चूँकि नैतिकता का आधार मन की शक्ति में निहित है, जो सभी मानव समुदाय में देखे जाते हैं तथा मानव जीवन का विकास उसके विवेक के विकास में निहित है। यहाँ विवेक एवं इच्छा अथवा वासनाओं के बीच विरोध देखा जा सकता है। अरस्तू की यह धारणा कि नैतिकता एवं संघर्ष अवियोज्य रीति से लिपटे हुए हैं तथा ऐसी स्थिति में यह मानना कि आदर्श मानव जीवन का कोई चित्र बन सकता है तथा अनिवार्य मानव-अभिरुचियों के बीच सामंजस्य हो सकता है – स्वीकारा नहीं जा सकता। भारतीय चिन्तनधारा में सद्गुण विचार को आध्यात्मिक आधार प्रदान करते हुये व्यावहारिक धरातल पर उतारा गया है। भारतीय जीवन-दर्शन में मानव जीवन के चार उद्देश्य बतलाये गये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष पारलौकिक जीवन से सम्बद्ध है जबकि धर्म, अर्थ और काम इहलौकिक जीवन से। धर्म, अर्थ और काम को सम्मिलित रूप में 'त्रिवर्ग' की संज्ञा दी गई है। देखा जाय तो इस त्रिवर्ग में 'काम' अर्थात् इन्द्रिय-सुख ही मुख्य पुरुषार्थ है तथा इसके हेतु स्वरूप 'अर्थ' पुरुषार्थ है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यहाँ काम और अर्थ धर्ममूलक होने पर ही पुरुषार्थ रूप में मान्य है। इस प्रकार भारतीय जीवन में मानव के भावनात्मक पक्ष को प्रमुखता देते हुये इसे 'धर्म' के अधीन रखा गया है। 'काम' यहाँ मानव व्यक्तित्व के भावनात्मक पक्ष का द्योतक है जबकि 'धर्म' उसके बौद्धिक पक्ष का। यहाँ 'धर्म' को एक व्यापक अर्थ देते हुये परिभाषित किया गया है- 'ध्रियते यः स धर्मः' अर्थात् जिसे धारण किया जाय वही धर्म है। मानव के संदर्भ में देखा जाय तो वैसे अच्छे गुण अर्थात् सद्गुण को धारण करना है जो व्यक्ति के इहलौकिक जीवन में पूर्णता प्रदान करते हुये अन्ततः उसे परलौकिक जीवन की पूर्णता की ओर अग्रसारित कर दे- 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस

सिद्धिः स धर्मः।'[९] इस प्रकार 'धर्म' यहाँ आध्यात्मिक मूल्य का द्योतक है। प्रायः सभी धर्म-दार्शनिक विद्वान् 'धर्म' को आन्तरिक जगत् का संचालक मानते हैं तथा इनके नियम को ही नैतिक नियम की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार बाह्य जगत् की संचालिका प्रकृति है तथा उसके संचालक नियमों को प्राकृतिक नियम कहते हैं उसी प्रकार आन्तरिक जगत् का संचालक धर्म है और इसके नियम को नैतिक नियम कहते हैं। इन नियमों का पालन करना मानव का कर्तव्य है। इन सद्‌कर्मों या शुभ-संकल्पों का निरन्तर अभ्यास व्यक्ति के व्यक्तित्व पर या मन पर कुछ संस्कार छोड़ जाते हैं।, इन संस्कारों के स्थायी दृढ़ ऐक्य को 'सद्‌गुण' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार कर्तव्य बाह्य कर्मों की ओर संकेत करता है जबकि सद्‌गुण आन्तरिक चरित्र की ओर।

आज के नीतिवादी सिर्फ सैद्धान्तिक धरातल पर ही देखे जाते हैं। परिणामतः उनकी नीति किसी भी क्षण नष्ट हो सकती है। बाह्य प्रलोभन के कारण ऐसे नीतिवादी का आन्तरिक साम्य बिगड़ जाता है तथा उससे लड़ने की भीतरी शक्ति हार जाती है। फलस्वरूप नैतिकता किसी भी क्षण टूट जाती है। स्पष्टतः, नैतिकता में प्रतिष्ठित होने के लिये आन्तरिक शक्ति को जागृत किया जाना चाहिये जिससे प्रतिक्षण अपने अन्दर के विरोधी भावों से लड़कर आन्तरिक साम्य ठीक रखा जा सके। ऐसी स्थिति में ही बाह्य साम्य या नैतिकता स्थापित की जा सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य का लक्ष्य यदि सिर्फ नीतिवाद हो तो उसमें आपेक्षिता का दोष रह जाता है, क्योंकि चोरी न करने देने की अपेक्षा चौर्यभाव को दूर करना ज्यादा सार्थक एवं श्रेयस्कर है। यह तभी संभव है जब नीतिवाद का आदर्श आध्यात्मवाद हो। नीतिवाद का आदर्श आध्यात्मवाद होने पर व्यक्ति को सद्‌गुण के पथ से विचलित होने की संभावना क्षीण हो जाती है, क्योंकि वहाँ आपेक्षिता का दोष नहीं रह जाता तथा चौर्य, मिथ्या आदि जैसे अशुभ वृत्तियों का स्वतः धीरे-धीरे क्षय हो जाता है।

सामान्यतया आध्यात्मवाद को मानवतावाद के विरोधी सिद्धान्त के रूप में माना जाता है तथा यह कहा जाता है कि आध्यात्मवाद में मानव को केन्द्र में रखकर उससे अलग आध्यात्मिकतारूपी पारलौकिक विश्व की रचना की गई है और मानव को उस पर बलिदान कर दिया गया है। वस्तुतः इस दृष्टिकोण के पीछे भौतिकवादी धारणा ही अधिक प्रबल दिखाई देती है। मानवतावादी दृष्टिकोण ऐहिक जीवन तक ही अपना ध्यान सीमित रखना चाहता है तथा प्रकृति के सिद्धान्तों के अनुरूप अपने आचरण को ढ़ाल लेना ही मानव का नैतिक कर्तव्य मानता है। मानवतावादी नीति-दर्शन मनुष्य को एक मनो-भौतिक एवं सामाजिक प्राणी के रूप में देखता है। उसकी दृष्टि में नीतिवाद या तो समाजशास्त्र की एक शाखा है या मनोविज्ञान का एक विभाग। लेकिन यदि मनुष्य प्राकृतिक नियमों के अधीन है तो नैतिक सद्‌गुण, यथा- आत्म-त्याग एवं आत्म-बलिदान, जैसे प्रत्ययों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है जिसे खिलाया-पिलाया, ओढ़ाया-पहनाया या आवासित किया जाय। वह आत्मा भी है जिसकी कुछ उच्च आकांक्षाएँ हैं। जिन लोगों को भौतिक सभ्यता की नियामकें तथा सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, आज वे लोग भी हताश एवं कुंठित हैं, क्योंकि विकास की प्रक्रिया बिना किसी निरपेक्ष उद्देश्य के उत्साहहीन एवं निरर्थक हो जाती है। मानव केवल इस तथ्य से संतुष्ट नहीं हो सकता कि केवल प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ढ़ालकर वह अपने को भौतिक साधनों से पूर्ण कर ले तथा अपने को परोपकार एवं करुणा जैसी भावनाओं पर उत्सर्ग कर दे। समानता तथा विकास जैसे प्रत्यय अपने आपमें सापेक्ष एवं अपूर्ण लक्ष्य हैं जिन्हें कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यदि शुभेच्छा, विशुद्ध प्रेम और वैराग्य हमारे आदर्श हैं तो हमारी आचार-नीति की जड़ पारलौकिता की भावना में होनी चाहिये।[१०]

भारतीय चिन्तन-परम्परा में चार्वाक को छोड़कर सभी नास्तिक-आस्तिक धर्म-दर्शनों का आदर्श आध्यात्मिक उत्कृष्टता की प्राप्ति है तथा इसके लिये आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में विभिन्न योग-मार्गों का विधान किया गया है। ऐसा आरोप लगता रहा है कि ये योग-मार्ग पारलौकिक नैतिकता को स्थापित करते रहे हैं, किन्तु इनका व्यावहारिक पक्ष इस तथ्य का साक्षी है कि यदि यहाँ पारलौकिक नैतिकता के भाव हैं भी तो उसके मूल में सद्‌गुण विचार ही प्रखर है, जो वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का आधार है। सद्‌गुण विचार, जो आन्तरिक शुभत्व का प्रतीक है, भारतीय जीवन-दर्शन में इस तरह

गुम्फित है कि पारलौकिकता की ओर अग्रसर होने के क्रम में भी इसके अनुपालन की अनिवार्यता है।

जैन धर्म-दर्शन में 'अर्हत्' की प्राप्ति मानव जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकारा गया है तथा इसके लिये 'त्रिरत्न' की सम्यक्-साधना आवश्यक मानी गयी है- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'[११] जैन आचार्यों ने मानवीय चेतना के तीन पहलुओं- भाव, ज्ञान एवं संकल्प के आधार पर त्रिविध साधना-मार्ग का विधान किया है। चेतना के भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पनात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिये क्रमशः सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र का विधान किया गया है।[१२] रत्नत्रय में भी यहाँ सम्यक्-चारित्र का विशेष महत्त्व है जिसकी सिद्धि के लिये पंचमहाव्रतों - अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पालन का विधान है।[१३] जैन धर्म-दर्शन में इन सद्गुणों की सूक्ष्म व्याख्या की गई है।[१४]

बौद्ध धर्म-दर्शन में 'बोधिसत्व' की प्राप्ति को जीवन का आदर्श रूप माना गया है तथा इसके लिये 'त्रिरत्न'[१५] - शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है जो आर्य-आष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत आ जाता है। आष्टांगिक मार्ग का पथिक 'शील' द्वारा शारीरिक शोधन करता है, जिसके अन्तर्गत समस्त सात्त्विक कर्म समाहित है। शील का अभ्यास करते हुये साधक को अपने कार्य और वचन का पूरा संयम रखना होता है। उसे प्राणियों की हिंसा, चोरी करना, मिथ्याचार, असत्य भाषण और मादक द्रव्यों से विरत रहना होता है। बौद्ध धर्म में साधक को शील का किसी भी प्रकार से परित्याग करना निषिद्ध माना गया है। इस प्रकार सद्गुणों को धारण कर साधक 'बोधिसत्व' को प्राप्त करता है। बोधिसत्व का 'स्वार्थ' इतना विस्तृत होता है कि उसके 'स्व' की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। उसके प्रधान गुण होते हैं- महामैत्री तथा महाकरुणा।[१६]

हिन्दू धर्म में भी आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति मानव जीवन का परम उद्देश्य है। हिन्दू धर्म वस्तुतः अनुभूतिमूलक धर्म है और एकतत्त्वता के अभेदमूलक भाव का सृजन ही इसका चरम लक्ष्य है। यहाँ यह माना गया है कि ईर्ष्या से परे, कल्याण करने के भाव को प्रेरित करने से ही आध्यात्मिक ज्ञान का उदय सम्भव है और आध्यात्मिक ज्ञान के उदय से ही अभेदमूलक भाव समृद्ध हो सकता है। हिन्दू धर्म में आध्यात्मिक पूर्णता का चाहे कोई भी मार्ग क्यों न हो, बिना आत्म-नियंत्रण की नैतिक-सम्पदा तथा आत्म-संतोष अथवा दुःख सहने की शक्ति जैसे सद्गुणों को धारण किये व्यक्ति इस आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार यहाँ आन्तरिक शुभत्व को ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का आधार माना गया है। हिन्दू धर्म में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य जितना प्रखर है उतना शायद किसी अन्य धर्म में प्रखर नहीं है और वह है त्याग द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति- 'त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः।' चाहे कोई भी धर्म-विधि क्यों न हो, उसके द्वारा चरम लक्ष्य की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसमें त्याग का भाव न हो। हिन्दू-धर्म में आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में निहित ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग तथा ध्यानयोग भी त्याग पर ही आधारित है। अतः त्याग द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति वास्तविक अर्थ में सम्भव है। यही सनातन धर्म का मूलमंत्र है जिसे हिन्दू धर्मावलम्बी आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के क्रम में अनिवार्य रूप से धारण करते हैं।

भारतीय धर्म-ग्रन्थों में आध्यात्मिक मूल्य के रूप में स्थापित सद्गुण-विचार मानव के लिये आज भी उतना ही आवश्यक है जितना उस प्राचीन युग में था। अत्याधुनिकता के इस युग में मूल्यों का मूल्यान्तरण हो रहा है जिसके कारण सारे मूल्य टूट रहे हैं। मूल्यों के क्षरण के कारण ही सर्वत्र अशांति व्याप्त है। इन नैतिक मूल्यों का, जो सफल जीवन की कुंजी है तथा मानवता का आधार है, महत्त्व कम होने के कारण ही आज समाज एवं राष्ट्र में अस्त-व्यस्तता एवं भ्रष्टाचार-दुराचार व्याप्त है। नैतिक मूल्यों से रहित होते जा रहे इस विश्व में कुंठारहित एवं शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिये मानव को अपने सांसारिक-जीवन एवं आध्यात्मिक-जीवन में समरूपता लाते हुये आध्यात्मिक-जीवन के अनुरूप ही आचरण को धारण कर चलना ही एकमात्र विकल्प है, क्योंकि जब तक हम अपने जीवन में इन महानतम नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान नहीं देंगे तब तक मानव तो प्रगति करेगा, मानवता नहीं।

आज विज्ञान एवं प्रौधोगिकी की उपलब्धियों ने मानव के भौतिक-सुखों के लिये आवश्यक सभी संसाधनों को सुलभ

बना दिया है। किन्तु इसके साथ ही इन उपलब्धियों ने मानव की कल्पना-शक्ति, उसके विचारों, भावनाओं आदि को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है, जिसके कारण वह पूर्णत: भौतिकवादी हो गया है। उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण में ह्रास तथा मूल्यों में गिरावट के कारण आज वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो गई है। सांसारिक सुख-सुविधा देनेवाली वस्तुओं के प्रति उसकी कभी खत्म न होनेवाली चाहत बढ़ती ही जा रही है तथा सत्य, सहिष्णुता, दया एवं त्याग जैसे सद्गुणों का महत्त्व घटते जा रहा है। आज मानव हिंसा के कांटों से जकड़ा हुआ है। वह क्षेत्रियता, नृजातियता, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक रूढ़िवादिता, नक्सलवाद तथा अपराधीकरण जैसे बहुकांटेदार हिंसा का सामना कर रहा है। भ्रष्टाचार शिष्टाचार का रूप ग्रहण करते जा रहा है तथा दुराचार सारे पवित्र रिश्तों को मुँह चिढ़ा रहा है। ऐसी स्थिति में संवैधानिक नियमों में परिवर्तन लाकर तथा नित्य नये आयुधों का सृजन-संगठन करके शांति-स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु आन्तरिक-शुभत्व, जो हमारे जीवन-दर्शन का आधार है, का शोधन-संगठन नहीं हो पाने के कारण ही आज शांति की खोज मृग-मरीचिका की तरह हो गई है। नियमों एवं आयुधों के आधार पर तो दल-विशेष पर शासन किया जा सकता है, लेकिन उससे प्राप्त शांति में स्थायित्व नहीं हो सकता, सद्गुण-विचार से तो दिल पर शासन होता है और जिससे प्राप्त शांति में स्थायित्व होता है।

विचार और आचार जीवन-रथ के दो चक्र हैं जो अन्योन्याश्रित हैं। दोनों के सम्यक् एवं संतुलित विकास द्वारा ही व्यक्ति में सद्गुण का संचार तथा व्यक्तित्व का विकास संभव होता है। आचार द्वारा पूरित होने पर ही कोई विचार नैतिकता की परिधि में आता है। यदि विचार आचार द्वारा अनुप्राणित नहीं है तो वह विचार उस व्यक्ति के सन्दर्भ में नैतिक-विचार न होकर अमूर्त्त विचार है तथा ऐसे विचार को नैतिकता की परिधि में नहीं रखा जा सकता। महाभारत में दुर्योधन का यह कहना कि 'जानामि धर्मं नचमेप्रवृत्तिः, जानामि अधर्मं नचमेनिवृत्तिः' अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है, मैं अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है – उसका यह विचार, आचार से पुरित नहीं होने के कारण उसके सन्दर्भ में अमूर्त विचार है तथा नैतिकता की परिधि से बाहर है। आज हम भ्रष्टाचार एवं दुराचार जैसे ज्वलंत विषयों पर अपनी आवाज बुलंद करते हैं, किन्तु जब आचार की बारी आती है तो हम अपने-आपको अपने विचारों से काफी दूर पाते हैं। अत: विचारों को जानना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उसे मानना महत्त्वपूर्ण है। 'जानना' तो संज्ञानात्मक (Cognative) अवस्था है जबकि 'मानना' संवेगात्मक (Imotive) अवस्था। जब हम किसी विचार को आत्मसात करते हैं तो उसे न केवल जानते हैं, बल्कि मानते भी है, उसके अनुरूप हमारा आचार भी होता है। जब सद्-विचार संज्ञानात्मक धरातल से संवेगात्मक धरातल पर आरूढ़ होता है तो वह लोक-जीवन में वैसे ही संचारित होकर सुव्यवस्था एवं शांति स्थापित करता है जैसे सुगन्ध फूलों से संचारित होकर अपने निकटस्थ वातावरण को सुभाषित करता है। विचार जब लोगों के बीच पहुँचता है तो वह एक भौतिक-शक्ति बन जाता है। भारतीय धर्म-दर्शन में आध्यात्मिक मूल्य के रूप में स्थापित सद्गुण विचार को आचार में लाकर यदि लोक-जीवन में संचार किया जाय तो सद्गुण के विचार-आचार-संचार रूपी त्रिवेणी से शांति की स्थपना संभव हो सकती है।

संदर्भ:

१. *डब्लू टी. स्टेस, ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, पृ. १४९.*

२. *वही, पृ. १४३.*

३. *जे. एस. श्रीवास्तव, ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, पृ. १०९.*

४. *आर. सी. रोगर्स, ए सार्ट हिस्ट्री ऑफ एथिक्स, पृ. ४५.*

५. *वही, पृ. ६१.*

६. *डब्लू टी. स्टेस, ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, पृ. १३५.*

७. महावग्ग, १.१.७.

८. श्रीमद्भगवद्गीता, ६.१७.

९. वैशेषिक सूत्र, १.२.

१०. डॉ. एस. राधाकृष्णन, प्राच्य धर्म एवं आध्यात्मविचार, पृ. २७-१००.

११. तत्त्वार्थसूत्र, १.१.

१२. डॉ. डी. डी. बंदिष्टे, भारतीय दर्शनिक निबन्ध (सम्पा.), म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ. २६६

१३. तत्त्वार्थसूत्र, ९.७.

१४. नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन (सम्पा.), उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. १३५.

१५. सुत्तनिपात, २८.८.

१६. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणासी, पृ. १३०.

***

निरपेक्ष और सापेक्ष नैतिकता : भगवद्गीता के सन्दर्भ में

राकेश कुमार सिंह

प्राचीन काल से नैतिकता का प्रश्न एक विवादास्पद विषय के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते आ रहा है और आज भी इस समस्या के निदान के लिए इस पर विचार विमर्श चल रहा है। नैतिकता सापेक्ष है अथवा निरपेक्ष, यह पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों क्षेत्रों के दार्शनिकों का प्रमुख विषय रहा है। एक ओर जहाँ प्रमुख जर्मन विचारक कान्ट नैतिकता को निरपेक्ष मानते हैं, वहीं पर हॉब्स, सिजविक, मिल नैतिकता को सापेक्ष मानते दिखाई देते हैं। कान्ट का मानना है कि नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं जो देश, काल, परिस्थिति अथवा व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित नहीं होते हैं। इस संबंध में कान्ट का कथन है कि केवल उस सिद्धांत के अनुसार आचरण करो जिसे तुम उसी समय एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।[१] अतः निरपेक्ष नैतिकता वैसी विचारणा को कहा जा सकता है जो यह स्वीकार करती है कि नैतिकता निरपवाद एवं देश, काल, परिवेश और व्यक्तिगत तथ्यों से निरपेक्ष है। इसके विपरीत नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणाएँ नैतिक नियमों को बाह्य परिस्थिति सापेक्ष मानती हैं जिनके अनुसार नैतिक आचरण सअपवाद एवं देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तनशील है। जो कर्म एक अवस्था में नैतिक हो सकता है, वही कर्म दूसरी अवस्था में अनैतिक भी हो सकता है। कर्म जिस परिस्थिति में सम्पन्न होता है उसी परिस्थिति में उसका मूल्यांकन भी किया जाता है। परिस्थिति में अगर परिवर्तन हो जाये तो कर्म के मूल्य भी बदल जा सकते हैं। समान कर्म या आचरण भी विभिन्न परिस्थितियों में नैतिक मूल्य की दृष्टि से भिन्न हो जाते हैं।[२]

नैतिकता के क्षेत्र में इस प्रकार के विरोध भारतीय परम्परा में भी स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं। नैतिक कर्मों की अपवादत्मकता तथा निरापवादत्मकता की चर्चा के स्वर वेदों एवं अन्य पौराणिक साहित्य[३] में ही नहीं, बल्कि सामान्य भारतीय दृष्टिकोणों में भी देखने को मिलते हैं। भारतीय परम्परा में नीतिशास्त्र को धर्मशास्त्र के साथ जोड़कर देखा गया है। यहाँ कर्म ही धर्म है, के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है। धर्म का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण से है और आचरण व्यक्ति के कर्म में अभिव्यक्त होता है। अतः धर्म में निरपवादत्मकता के साथ-साथ अपवादत्मकता भी दिखाई देती है। धर्म का सम्बन्ध जहाँ नियमों के पालन से है, वहाँ धर्म चरित्र का भी परिचायक है। एक ओर जहाँ यह कर्तव्य की विवेचना करता है तो दूसरी ओर परमश्रेय की प्राप्ति के साधनों को भी बतलाता है। इस प्रकार धर्म के अनेक रूप हमें देखने को मिलते हैं। देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार जैसे-जैसे आचार के नियम बदलते रहते हैं वैसे-वैसे धर्म के रूप में भी परिवर्तित होते रहते हैं। लेकिन इन विभिन्न रूपों में समन्वय के तत्त्व भी हमें दिखाई देते हैं। मनु ने धर्म के लक्षणों का समन्वय कर इसकी निरपेक्षवादी व्याख्या करने का प्रयास किया है तथा बतलाया है कि वेद एवं स्मृति की आज्ञाओं का पालन, सदाचार और आत्मवत व्यवहार ही धर्म है। इस तरह की पृष्ठभूमि में भगवद्गीता में सापेक्ष एवं निरपेक्ष नैतिकता को प्रस्तुत शोध-पत्र में विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय चिंतन के इतिहास में भगवद्गीता अपने नैतिक सिद्धांतो तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध रहा है। मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराकर उसे जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर, कर्तव्य पथ पर अग्रसर

करा देना ही इसका उद्देश्य है। निर्वाण को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाकर गीता उसके प्राप्ति के व्यावहारिक मार्गों एवं साधनों का भी स्पष्टीकरण करती है। पवित्र एवं समुन्नत जीवन के निष्पादन के लिए यहाँ नीतिपूर्ण जीवन या आचारपूर्ण जीवन को अरिहार्य माना गया है, यही वह आधार है जिस पर पवित्र जीवन की अधिरचना, अपनी पराकाष्ठा, निर्वाण या मुक्ति या मोक्ष के रूप में प्रकट की जाती है।

गीता के नीतिशास्त्र संबंधी विचार इसके तात्त्विक एवं ईश्वरपरक विचारों से ही व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं। यहाँ सांसारिक भोगों की क्षणभंगुरता को स्पष्ट करते हुए इन्द्रिय-भावनाओं से ऊपर उठकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करने की सलाह दी गयी है[४] क्योंकि इन्द्रिय-वस्तु सम्पर्क से उत्पन्न तृष्णा ही दुःख का कारण है। अर्जुन को संबोधित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी निःसंदेह दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अंत वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता -

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। ५/२२।।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवद्गीता सांसारिक वस्तुओं को क्षणभंगुर बतलाते हुए उनमें आसक्ति को दुःखपूर्ण मानती है तथा संसार एवं सांसारिक व्यवहार में अनासक्त होने की शिक्षा देती है।

गीता में आत्म-विचार एक प्रमुख स्थान रखता है। दूसरे शब्दों में कहें तो गीता का सम्पूर्ण तात्त्विक एवं ईश्वरपरक विचार आत्मविचार पर आधारित है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। तात्त्विक रूप से यह आत्मा सर्वोच्च सत्ता या ब्रह्म के सदृश दृष्टिगोचर होती है,[५] तथा ईश्वरमीमांसीय रूप में यह ईश्वर की अभिव्यक्ति लगती है[६] इसलिए यहाँ आत्मा का ब्रह्म के साथ सारूप्यता[७] या ईश्वर के साथ योग की प्रतीति[८] को ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बतलाया गया है तथा इसी तात्त्विक या ईश्वरपरक लक्ष्य से इसका संपूर्ण नीतिशास्त्र अनुदेशित प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि गीता का नैतिक दर्शन उपनिषदों के नैतिक दर्शन की भाँति मूलतः अध्यात्मवादी है। उपनिषदों पर आधारित होने के कारण गीता उन सभी नैतिक दार्शनिक सिद्धांतों को स्वीकार करती प्रतीत होती है जिनका विवेचन उपनिषदों में किया गया है। नित्य के अनुभव को ही यहाँ जीवन का उद्देश्य बतलाया गया है तथा यह भी बतलाया गया है कि केवल दृढ़प्रतिज्ञ या अध्यवसायी योगी ही इस आत्मतत्त्व का अनुभव प्राप्त कर सकता है, अज्ञानी या अविवेकी नहीं-

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नाऽनुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। १५/१०।।

शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थिर हुए को अथवा विषयों को भोगते हुए को तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञान रूप नेत्र वाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं। इस प्रकार, इस अविनाशी एवं चिरस्थायी आत्मा के ज्ञान के आधार पर अर्जुन युद्ध में कृष्ण द्वारा कर्तव्यपालन के लिए प्रोत्साहित किये जाते हैं।[९]

गीता अपने नीतिपरक शिक्षा को तात्त्विक एवं आनुभविक चिंतन के आधार पर स्थापित करना चाहती है। दूसरे के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख के समान समझना श्रेष्ठ योगी का लक्षण माना गया है। जैसा कि यहाँ कहा गया है 'सर्वव्यापी अनंत चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभाव से देखनेवाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।'[१०] इसी विचार को अगले श्लोक में ईश्वरमीमांसीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है, जिसमें बतलाया गया है कि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अंतर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। अतः तात्त्विक एवं ईश्वरमीमांसीय आधार पर सभी जीवों में एकत्व एवं समानता दिखलाकर उपरोक्त नैतिक सारतत्त्व का निष्पादन इस श्लोक में किया गया लगता है - "हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति

संपूर्ण भूतों से सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ है।[११]

प्रत्येक जीव में ईश्वर का वास है, इसी आधार पर आत्मदमन की प्रक्रिया को यहाँ निन्दनीय माना गया है। कहा गया है – 'जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त है, तथा जो शरीर रूप से स्थित भूत-समुदाय को और अंत:करण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर-स्वभाववाले जान।[१२] अत: भगवद्गीता का आचारशास्त्र परमसत्ता की पृष्ठभूमि से प्रस्फुटित होता हुआ प्रतीत होता है जो विभिन्न रूपों में इसके नैतिक सिद्धांतों के लिए आधार प्रदान करता है। आत्मा को यहाँ अंतर्ज्योति (भगवद्गीता, ५/२४) माना गया है जो मानव को उसके उचित कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। यह जगत् का नीति-निर्देशक तथा नियंता है। जैसा कि श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि 'मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान भक्तजन मुझ परमेश्वर को ही निरंतर भजते हैं' तथा 'निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असंमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना, मन का निग्रह तथा सुख-दु:ख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति-ऐसे ये प्राणियों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही होते हैं।'[१३] नैतिकता के ऐसे नियमों का पालन निरंतर अभ्यास एवं ज्ञान द्वारा संभव हो पाता है। धर्मग्रंथों के द्वारा भी कर्तव्याकर्तव्य का विचार किया जा सकता है। अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधि से नियत कर्म ही करने योग्य है (भगवद्गीता, XVI, २४)। अत: अपने नीतिशास्त्र की वैधता को स्थापित करने के लिए भगवद्गीता विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाजों के अलावे अंतर्ज्ञान[१४] का सहारा भी लेते हुए प्रतीत होती है।

इस बात से इन्कार नहीं किया सकता कि गीता में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया गया है, किन्तु वास्तव में उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान करना ही प्रतीत होता है। अपने प्रियजनों के प्रति मोह और ममता के कारण अर्जुन जब क्षात्र धर्म के अनुरूप युद्ध सम्बन्धी अपने कर्तव्यों से विचलित हो जाते हैं और युद्ध क्षेत्र में उपस्थित अपने गुरुजनों तथा प्रियजनों की हत्या करना उन्हें महापाप के समान दृष्टिगोचर होता है, तब उनके इस प्रकार की भावनात्मक दुर्बलता को दूर करने तथा अन्याय के विरुद्ध अपने क्षात्र-धर्म सम्बन्धी मूल कर्तव्य का पालन करने के लिए भगवान कृष्ण ने उनको गीता का ज्ञान कराया। सम्पूर्ण गीता का प्रमुख उद्देश्य मोहासक्त एवं कर्तव्य पथ से विचलित अर्जुन को क्षात्र-धर्म के अनुसार अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध लड़े जानेवाले युद्ध सम्बन्धी अपने कठोर कर्तव्यों में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त कराना ही प्रतीत होता है। इसी क्रम में मनुष्यों का विभाजन उनके गुणों तथा कर्मों के आधार पर किया गया है।[१५] इनमें किसी वर्ण का व्यक्ति अन्य वर्ण के व्यक्ति की अपेक्षा ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। वह अपने गुणों तथा कर्मों के अनुसार ज्ञान, सुरक्षा, वाणिज्य तथा कृषि और सभी प्रकार के श्रम में संलग्न होकर ही क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाता है। इसी वर्ण-व्यवस्था के आधार पर गीता में प्रत्येक व्यक्ति को उन सभी कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करने के लिए प्रेरित किया गया है जिनका पालन करना उसके वर्ण के लिए अनिवार्य है। वर्णाश्रम के अनुसार निष्ठापूर्वक कर्तव्य पालन को ही यहाँ स्वधर्म कहा गया है। कोई व्यक्ति अनासक्त भाव से अपने कर्तव्यों को करता है तथा आजीविका का उपार्जन करता है, वह पूर्णता को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। भगवद्गीता स्पष्ट कहती है- 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्-प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है .... जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।[१६] राधाकृष्णन के इन विचारों से भी इस बात की पुष्टि की जा सकती है, तथा इसी के द्वारा मनुष्य ईश्वर के प्रति सम्मान प्रकट कर सकता है।[१७] कर्म का निर्धारण ईश्वर के द्वारा होता है, अत: उसमें कहीं दोष भी हो तो इसी कारण से उसका त्याग करना उचित नहीं। 'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।'[१८]

मनुष्य अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी पूर्णत: निष्क्रिय नहीं रह सकता। सत्व, रजस और तमस इन तीनों गुणों से परिपूर्ण प्रकृति मनुष्य को प्रति क्षण कोई न कोई कर्म करने के लिए निरंतर प्रेरित करती रहती है। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से किसी भी स्थिति में कर्मों का त्याग करने के लिए न कहकर सभी स्थितियों में केवल कर्म-फलाशक्ति का त्याग करने के लिए ही कहा है। मनुष्य के लिए कर्म-त्याग अनावश्यक ही नहीं अपितु पूर्णतया असंभव भी है। उसकी प्रकृति उसके निश्चित कर्म को करने के लिए बाध्य करती है। वह स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ पराधीन व्यक्ति है तथा उसके न चाहने पर भी उसे स्वकर्म करना पड़ता है। आसक्ति ही कर्म का मूल है। इसी के वशीभूत होकर सुख-प्राप्ति तथा दु:ख-परिहार के लिए कर्म किया जाता रहा है तथा असक्ति कर्म के लिए प्रेरणा प्रदान करती रही है। कर्मयोगी को इसी आसक्ति पर विजय प्राप्त कर, अनासक्त होकर कर्म करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है। साधारण मनुष्य सर्वदा लाभ के लिए कर्म करता है। कर्मयोगी के लिए स्वकर्म ही स्वधर्म है। वह सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय रूपी द्वन्द्व से ऊपर उठकर कर्म करता है। श्रीकृष्ण ने इसी कर्मयोग का उपदेश देते हुए अर्जुन को बतलाया है कि वह सुख-दु:ख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर युद्ध में प्रवृत्त हो जाए, क्योंकि इस प्रकार युद्ध करने से उसे पाप की प्राप्ति नहीं होगी। इस प्रकार यहाँ निरपेक्ष नैतिकता की ओर संकेत किया गया है।

नैतिक विचारणा के क्षेत्र में भगवद्गीता में विवेचित निष्काम कर्म गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है जो निरपेक्ष नैतिकता को दर्शाता है। संसार के सभी कर्मों में समता और आसक्ति का सर्वथा त्याग ही निष्काम कर्म का आदर्श है। निष्काम कर्मयोग के अनुसार आचरण करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों को संयमित करे और अपने मन पर पूर्ण नियंत्रण रखे। गीता में कर्मयोगी के लिए इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के पूर्ण संयम को अनिवार्य माना गया है तथा इन्द्रिय-संयम के महत्त्व को बतलाते हुए कहा गया है कि 'जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।'[१९] मन को संयमित किए बिना इन्द्रियों को विषय-भोग से नहीं हटाया जा सकता, इसलिए इन्द्रिय-संयम के साथ-साथ मन के संयम को भी यहाँ अत्यावश्यक माना गया है। यद्यपि मन अत्यंत चंचल है और उसकी गति वायु की गति से भी अधिक तीव्र है, फिर भी निरंतर अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा उसे वश में करना संभव है। समस्त इन्द्रियों तथा मन को नियंत्रित करके फलाशक्ति के बिना कर्म करने वाले मनुष्य को गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है। स्थितप्रज्ञ मनुष्य का लक्षण बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भलि-भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है, तथा दु:खों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा नि:स्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है। और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।'[२०] इन्द्रियों तथा मन पर पूर्ण नियंत्रण रखने वाला ऐसा स्थितप्रज्ञ मनुष्य ही निष्काम कर्मयोग के अनुसार आचरण कर सकता है। ऐसे स्थितप्रज्ञ मनुष्य की संयमित एवं स्थिर बुद्धि को, जो नाना प्रकार की वासनाओं तथा इच्छाओं, लाभ-हानि, सुख-दु:ख, जय-पराजय में सदैव समत्व भाव रखती है, गीता में निष्काम कर्मयोग का पालन करने के लिए अत्यावश्यक माना गया है। निष्काम-कर्म तृष्णा रहित कर्म है। तृष्णा के अभाव में मनुष्य कर्म करते हुए कर्म-फल का कारण नहीं बनता। गीता में श्रीकृष्ण ने बार-बार अर्जुन को यह समझाया है कि उसे कर्मों के परिणामों की चिंता किए बिना तथा फलाकांक्षा का त्याग करके केवल अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए समस्त कर्म करने चाहिए। उन्होंने अर्जुन से स्पष्ट कहा है – 'तेरा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फलों में कभी नहीं। सिद्धि-असिद्धि में समत्वभाव रखना अर्थात् विचलित न होना ही योग है। अत: इसी योग के अनुसार फलाकांक्षा का त्याग करके सफलता-असफलता को समान मानते हुए ही तुम कर्म करो।'[२१] मनुष्य कर्म करने में ही स्वतंत्र है, फल भोगने में नहीं। यह कर्मबंधन का साधक नहीं बल्कि बाधक है, नाना योनियों में भ्रमण करने का मूल कारण इस कर्म-बंधन को ही बतलाया गया है।[२२] इसीलिए कर्मों में ममता एवं आसक्ति का त्याग वांछनीय है। निष्काम कर्म न तो काम्य-कर्मों का त्याग है और न निषिद्ध कर्मों का ही। स्त्री, पुत्र धन आदि के लिए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म काम्य कर्म हैं तथा चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि कर्म निषिद्ध कर्म है। निष्काम कर्म का अर्थ है संसार के सभी कर्मों

में ममता एवं आसक्ति का सर्वथा त्याग। कर्म तो प्रकृति के तीन गुण-सत्त्व, रज और तम से ही मन, बुद्धि, अहंकार, श्रोत्रादि दस इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय उत्पन्न होते हैं। इन गुणों के कारण ही अन्त:करण और इन्द्रियों का विषय ग्रहण करना आदि कार्य होते हैं। बुद्धि विषय का निश्चय करती है, मन मनन करता है, कान सुनता है, आँखें देखती हैं इत्यादि। सभी कार्य गुणों के द्वारा ही सम्पादित किये जाते हैं। यथार्थत: सभी कार्य प्रकृति प्रसूत हैं। कर्मों का ईश्वरार्पण करने से या भगवदर्थ कर्म करने से उसमें आसक्ति नहीं होती। तदर्थ कर्म में ममता अवश्य होगी, परन्तु भगवदर्थ कर्म में ममता या आसक्ति का सर्वथा अभाव होता है। यह सब कुछ भगवान का है, मैं भगवान का हूँ, मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे सब भगवान के हो हैं; भगवान ही मुझ कठपुतली से सब कुछ करा रहे हैं। इस प्रकार की भावना से, भगवान की आज्ञा से, भगवान की ही प्रसन्नता के लिए शास्त्रविहीत कर्म किए जाते हैं।[२३] यह अकर्मण्यता नहीं, बल्कि ईश्वरार्थ कर्म है। ईश्वरार्थ कर्म ही अनासक्त कर्म है। अनासक्त कर्म ही बंधन का बाधक एवं मोक्ष का साधक है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा है कि 'जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता।'[२४] अनासक्त हो कर्म करने वाला योगी ही परमात्मा को प्राप्त करता है। यही कर्मयोग का लक्ष्य है, परमात्मा तक पहुँचने का सोपान या मार्ग है।[२५] जनक आदि राजर्षियों ने निष्काम-कर्मयोग से ही सिद्धि-लाभ किया था।[२६]

निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्ति (सापेक्ष) मार्ग तथा निवृत्ति (निरपेक्ष) मार्ग इन दोनों विरोधी विचारधाराओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि इसमें मनुष्य को स्वधर्म पालन के लिए सभी आवश्यक कर्म करते हुए उनसे प्राप्त होने वाले फल की इच्छा का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। इस सम्बन्ध में महान संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के विचार का प्रसंग निर्देश किया जा सकता है। उनके अनुसार- 'प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही कर्मस्वरूप हैं। एक असत् कर्म है और दूसरा सत्। निवृत्ति ही सारी नीति एवं सारे धर्म की नींव है और इसकी पूर्णता ही संपूर्ण 'आत्मत्याग' है, जिसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य दूसरों के लिए अपना शरीर, मन, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। तभी मनुष्य को कर्मयोग में सिद्धि प्राप्त होती है।'[२७] अत: भगवद्गीता यथार्थ कर्ममय जीवन जीने का उपदेश देती है। यथार्थ कर्ममय जीवन ही पूर्णता के प्राप्ति का साधन या मार्ग है। भगवद्गीता कहती है 'योग में आरूढ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए निष्काम कर्म ही साधन बन जाता है।'[२८] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जब तक व्यक्ति योग की साधनावस्था में रहता है, निष्काम कर्म उसके लिए साधन का कार्य करता है, लेकिन जब वही व्यक्ति सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब योग ही निष्काम-कर्म के लिए साधन बन जाता है। इस प्रकार से भगवद्गीता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती प्रतीत होती है जो निरपेक्ष नैतिकता की परिचायक है।

भगवद्गीता सक्रिय सांसारिक जीवन जीने का उपेदेश देती है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के विभिन्न दृष्टिकोणों से फलासक्ति का त्याग कर, कर्म करने की प्रेरणा देना ही इसका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। नैतिकता के क्षेत्र में गीता का यह कर्मयोग का उपदेश नैतिक सापेक्ष माना जा सकता है। इस संबंध में बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी, राधाकृष्णन जैसे विद्वानों के विचार उद्धृत किये जा सकते हैं जहाँ क्रमश:-'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य', 'अनासक्ति योग' तथा 'भगवद्गीता' में उन्होंने निष्काम कर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बतलाया है। प्रोफेसर हिरियन्ना भी स्वीकारते हैं कि 'गीता की शिक्षा का केन्द्रीय-बिन्दु सक्रियतावाद' ही है।[२९] जो कुछ भी हो कर्म (प्रवृत्ति) यहाँ संन्यास (निवृत्ति) के साथ समझौता करता प्रतीत होता है, तथा स्वगुणार्थ रूप धारण करता है (भगवद्गीता,V.३, VI.१,२, XVIII.२)। अत: कर्म, संन्यास का त्याग के साथ संयुक्त रूप से भगवद्गीता का केन्द्रीय संदेश संस्थापित करता है। यहाँ कर्म के संन्यास पर नहीं बल्कि, जैसा कि प्रोफेसर हिरियन्ना कहते हैं 'कर्म में संन्यास'[३०] पर जोर दिया गया लगता है। 'कर्म में त्याग' ही अनासक्त या निष्काम कर्म है जिसकी शिक्षा भगवद्गीता फल की चिंता किये बिना ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के विभिन्न दृष्टिकोणों से देती रही है।

भक्ति के साधन द्वारा भी अनासक्ति का उपदेश दिया गया प्रतीत होता है। भक्ति कर्म-त्याग पर बल नहीं देता बल्कि

स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के त्याग पर बल देता है। भगवद्गीता ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण आत्मत्याग की शिक्षा देने की कोशिश करती रही है। नि:स्वार्थ होकर कर्तव्यों का पालन करने से भक्त उसके पुण्य-पाप के परिणामों से प्रभावित नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर। इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान को अर्पण होते हैं ऐसे संन्यासयोग से युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन से मुक्त हो जाएगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'[३१] यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अर्जुन जो एक भक्त भी है, को कर्म त्याग रूपी अनुशासन में बद्ध होकर करने की सलाह दी जाती है। अत: भक्ति के विधि द्वारा भी भगवद्गीता 'कर्म में त्याग' की आवश्यकता पर बल देती है। एक ओर अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर होने के लिए कहा जाता है तो दूसरी ओर संन्यासी बना रहने के लिए भी प्रेरित किया जाता है (भगवद्गीता, V.3; VI.१)। उन्हें कहा जाता है-'मुझ अंतर्यामी परमात्मा में लगे हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संताप रहित होकर युद्ध कर।'[३२] इसलिए 'हे अर्जुन! तू सब समय में निरंतर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू नि:संदेह मुझको ही प्राप्त होगा।'[३३] अत: भगवद्गीता के अनुसार, संन्यास तथा भक्ति वस्तुत: समान हैं जो निष्काम कर्म करने की ही माँग करते हैं। कर्म को ही यहाँ ईश्वर के प्रति पूजा माना गया है जिसके द्वारा व्यक्ति पवित्रता को प्राप्त कर सकता है।

स्पष्ट है कि भगवद्गीता ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के मार्ग द्वारा 'कर्म में त्याग' की ही शिक्षा देती है। निष्काम कर्म या अनासक्त कर्म ही वह मूल भाव है जिसमें सभी मार्ग अभिसरित होते प्रतीत होते हैं। ज्ञान और भक्ति एक ही तत्त्व तक पहुँचने का दो विभिन्न मार्ग है, जहाँ उसे निर्गुण तथा सगुण के रूप में देखा जाता है। भगवद्गीता दोनों ही के लिए एक ही 'अध्यात्म'[३४] नाम का प्रयोग करती है। भगवद्गीता, ज्ञान तथा कर्म मार्ग के परम्परागत असंगतियों को दूर करते हुए ज्ञान तथा कर्म के संश्लिष्ट सिद्धांत 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद' का प्रतिपादन करती है। स्पष्ट है कि भगवद्गीता के तीनों मार्ग एक ही विराम स्थान पर पहुँचते हैं। ये तीनों आपस में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यद्यपि प्रारम्भ में ये अलग-अलग दिखते हैं लेकिन तत्त्वत: तथा अंततोगत्वा ये भिन्न-भिन्न नहीं हैं। यह व्यक्ति के रुचि पर निर्भर करता है कि उसे कौन-सा मार्ग पसंद है। सभी मनुष्य समान नहीं होते, उनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। शरीर त्रिगुणात्मक है। गुणों की प्रधानता के कारण ही मनुष्य की प्रकृति में भेद उत्पन्न होता है। कोई निवृत्तिमार्ग को चाहता है तो कोई प्रवृत्तिमार्ग को। किसी को कर्म करने में सुख मिलता है तो किसी को कर्म छोड़ने में ही सुख मिलता है और किसी को भक्ति में ही महान आनंद प्राप्त होता है। तीनों मार्ग योगियों की रुचि के अनुकूल हैं। जैसा कि भगवद्गीता कहती है- 'कितने ही मनुष्य तो परमात्मा को सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इस प्रकार गीता के आचारशास्त्र में नैतिक मान्यताओं का तात्त्विक विवेचन, आचरण का विश्लेषण और आचार-मार्ग का निर्देशन सभी समाविष्ट हैं तथा भक्ति, ज्ञान एवं कर्म के सभी पक्ष एक साथ समाहित हैं। वस्तुत: गीता के चिंतन में नीतिशास्त्र का एक व्यापक स्वरूप दृष्टिगत होता है। यही कारण है कि इसे सम्पूर्ण जीवन का आधार और लोकस्थिति का व्यवस्थापक माना गया है। धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों का मूल और मोक्ष का प्रदाता कहा गया है। लोकस्थिति की व्यवस्था के लिए आचार के जिन नियमों का प्रतिपादन गीता में किया गया है उसे देशगत एवं कालगत ही माना गया है तथा अवपाद को स्थान दिया गया है। गीता में जिस प्रकार कार्याकार्य व्यवस्थिति का प्रतिपादन किया गया है उसका प्रयोजन यही है कि कर्तव्य का निश्चय देश और कालगत परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए, क्योंकि गीता यह स्वीकार करके चलती है कि कर्तव्याकर्तव्य का निरपेक्ष रूप में निश्चय कर पाना कठिन है।[३५] एक ही कर्म एक अवस्था में नैतिक और दूसरी अवस्था में अनैतिक भी हो सकता है। देश और काल नैतिक निर्णय को प्रभावित करता है। गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति देश, काल और पात्र का विचार करके दान देता है वही सात्त्विक होता है अर्थात् आचरण के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय देश, काल और व्यक्ति की अवस्थाओं पर निर्भर है। लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'गीता रहस्य' में इस बात को

स्वीकारा है कि कार्याकार्य को व्यवस्था देने वाला गीता जैसा प्राचीन ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में नहीं दिखाई देता।[३६] उन्होंने गीता रहस्य में 'कर्मजिज्ञासा' नामक अध्याय में नैतिक नियमों की अपवादिता और सापेक्षिकता को स्पष्टत: स्वीकारा है। गीता में जिस कार्याकार्य व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है उसका भी प्रयोजन यही दिखता है कि कर्तव्य का निश्चय देश व कालगत परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। गीता का स्वधर्म ही स्वकर्म है और यह स्वधर्म का सिद्धांत नैतिक सापेक्षता का सबसे बड़ा प्रमाण माना जा सकता है जो वैयक्तिक गुणों की भिन्नता के आधार पर आचार के नियमों की विभिन्नता स्वीकार करता है। भारतीय वर्णधर्म का विधान पात्र की योग्यता के आधार पर निर्भर है। योग्यता के आधार पर पात्र पर सामाजिक कर्तव्य का दायित्व डालना ही वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता का नैतिक दर्शन देश, काल एवं व्यक्ति सापेक्ष माना जा सकता है।

इसी प्रकार हिन्दू आचारशास्त्र जिसका कि मुख्य आधार गीता ही है, में भी आचार के नियम देशगत, कालगत एवं परिस्थितिजन्य ही दिखाई देते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म पितामह को यह स्पष्टत: कहते दिखाया है कि ऐसा कोई आचार नहीं मिलता जो हमेशा सबके लिए समान रूप से हितकारक हो। एक ही आचार एक अवस्था में एक व्यक्ति के लिए सुखदायक मालूम पड़ता है और वही आचार दूसरी अवस्था में दु:खदायक प्रतीत होने लगता है। एक अवस्था में उसी कर्म को सत्य और दूसरी अवस्था में असत्य करार दे दिया जाता है। यदि किसी एक आचार को स्वीकार कर लिया जाता है तो दूसरा आचार उससे भी श्रेष्ठ प्रतीत होता है। एक आचार का दूसरे आचार से विरोध भी हो जाता है।[३७] महाभारत में यह स्पष्टत: कहा गया है कि कभी धर्मरूप कर्म ही अधर्मरूप और कभी अधर्मरूप दिखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है। अत: भलीभाँति सोच-विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार के किसी एक निरपेक्ष रूप का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। कालभेद एवं देशभेद से आचार में परिवर्तन होते रहते हैं। मनु ने भी इस बात को स्वीकारा है कि देशगत एवं कालगत भेद के कारण आचार के नियम बदलते रहते हैं। युगों के अनुरूप अर्थात् कालगत भेदों के कारण सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलयुग में आचार के नियम बदलते देखे गए हैं।[३८] एक ही प्रकार का कर्म देश या काल भेद से धर्म या अधर्म हो जाता है। जो धर्म होता है वह अधर्म हो जाता है और जो अधर्म होता है वह धर्म हो जाता है। चोरी, झूठ, हिंसा इत्यादि कर्म, अवस्था विशेष में धर्म-अधर्म में बदलते रहते हैं। गीता में अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना धर्म ही माना गया है, जबकि युद्ध को किसी भी स्थिति में हिंसाविहीन नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार हिन्दू आचारदर्शन में भी नैतिक आचरण देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। अत: यहाँ नैतिक आचरण को व्यक्तिसापेक्ष ही माना जा सकता है।

इस रूप में देखा जाए तो गीता का स्वधर्म का सिद्धांत नैतिक सापेक्षता का सबसे बड़ा प्रमाण माना जा सकता है जो कि वैयक्तिक गुणों की भिन्नता के आधार पर आचार के नियमों की विभिन्नता स्वीकार करता है। गीता में वर्णधर्म का जो विधान है वह पात्र की योग्यता के आधार पर ही निर्भर है। वस्तुत: योग्यता के आधार पर पात्र पर सामाजिक कर्तव्यों का दायित्व डालना ही वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है। यद्यपि गीता अपने तत्त्वमीमांसीय अवधारणा में निरपेक्षता को रूपायित करती प्रतीत होती है तथापि गीता के आचार दर्शन में नैतिक आचरण को देश, काल और व्यक्ति सापेक्ष ही माना गया है।

सन्दर्भ:

१. *कान्ट, ग्रेट ट्रेडीशन्स इन एथिक्स, पृ.-२१८.*

२. *थॉमस, इंग्लिशहिल : कण्टेम्परिर एथिकल थ्योरीज, मैकमिलन कं., न्यूयार्क १९६०, पृ. १६०.*

३. *तिलक, बाल गंगाधर : गीता रहस्य, अध्याय २, कर्म जिज्ञासा, तिलक मन्दिर, पूणा, १९६२.*

४. *मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:। आगमापायिनोऽनित्यास्तान तितिक्षस्व भारत ।। गीता, २/१४*

५. *वही, XIII-२, १७, २२; XV-१५*

६. *वही, X-२०; XIII-२७; XV-७; XVIII-६१*

७. वही, *IV*-३५; *V*-२०, २४; *XIII*-२०

८. वही, *IV*-९; *VII*-२३ ; *VIII*-७, ८ ; *IX*-३४; *XI*-५५; *XII*-८; *XVIII*-६५, ६८

९. वही, *II*-११, २५

१०. वही, *VI*-२९

११. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुख वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। वही, ६/३२

१२. वही, *XVII* - ५, ६

१३. वही, *X*-८, ५

१४. इनसाइक्लोपीडिआ ऑफ रिलिजन एंड एथिक्स, वॉल्यूम-७, पृ. ३९७-३९८

१५. भगवद्गीता, *IV*-१३

१६. वही, *XVIII*-४५, ४६

१७. राधाकृष्णन,एस. : द भगवद्गीता,(अनु.) विराज, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६२, पृ.-३६८

१८. भगवद्गीता, *XVIII*-४७

१९. वही, *III*-७

२०. वही, *II*-५५, ५६, ५७

२१. वही, *II*-४७, ४८

२२. श्वेता. उप., ५/११

२३. भगवद्गीता, *II*-३०

२४. वही, *V*-१०

२५. वही, *III*-१९

२६. वही, *III*-२०

२७. कर्मयोग,(दशम संस्करण), पृ.-९३

२८. वही, पृ.-९४

२९. हिरियन्ना, एम. : आउटलाइंस ऑफ इण्डियन फिलासफी जॉर्ज एलेन एण्ड अनवीन, लंदन १९५१, पृ.-११८.

३०. वही, पृ.-१२१

३१. भगवद्गीता, *IX*-२७, २८

३२. वही, *III*-३०

३३. वही, *VIII*-७

३४. वही, *XI*-१

३५. गीता, *IV*-१७

३६. तिलक, बालगंगाधर; 'गीता रहस्य', तिलक मन्दिर, पूणा, १९६२, पृ.-५१

३७. महाभारत, शांतिपर्व, २५९/१७-१८

३८. मनुस्मृति, १/८५

***

बौद्ध नीतिशास्त्र का वैशिष्ट्य : त्रयधि शिक्षा समग्र नीतिशास्त्र के आलोक में

नागेन्द्र मिश्र

प्रस्तुत शोध-आलेख में सम्पूर्ण बुद्ध-उपदेश को त्रयधि शिक्षा के रूप में समग्र नीतिशास्त्र के आलोक में विवेचित करने का एक प्रयास किया जाना है। समग्र नीतिशास्त्र का आलोक किसी सागर तट के असंख्य लहरों के समान है जिन पर आरूढ़ अनेक समुद्री जीव-जन्तुओं के समान नीतिशास्त्र के विविध प्रतिमानों की चर्चा होती है, जिसे अति संक्षिप्त रूप में एक आलेख में सीमित करना उसकी पूर्णता को अपूर्णता से कलुषित करने के समान है। अतएव ब्राह्मण व श्रमण परम्परा की तत्त्वशास्त्रीय नैतिक प्रतिमानों को वैयक्तिक व व्यावहारिक रूप में रखने का प्रयास करते हुए बुद्ध-उपदेश की अति महत्त्वपूर्ण दृष्टि त्रयधि शिक्षा को ही बौद्ध नीतिशास्त्र की विशेषता के रूप में चित्रित करना मेरा अभीष्ट है व तदनुकूल एक लघु प्रयास। समस्त नीतिशास्त्र का आधार तत्त्वशास्त्रीय दृष्टिकोण ही रहा है। व्यवहार में यह बहुआयामी होकर नीतिशास्त्र के अनेक व्यावसायिक शाखाओं के रूप में हमारे चिन्तन में आता है तथा विश्लेषित होकर स्थापित होता है। मानव जीवन के प्रमुख दोनों पक्षों- आचार एवं विचार की परस्पर निष्ठता से ही समग्र नीतिशास्त्र का दृश्य निर्मित होता है। विचारनिष्ठ आधार तथा आधारनिष्ठ विचार ही समग्र नीतिशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता है। परमश्रेय, शुभ-अशुभ आदि के प्रतिमान इसके वैचारिक अवयव हैं। इन अवयवों की वैचारिक समष्टि से सर्वमान्य व सार्वभौम नीतिशास्त्र का निर्माण होता है जिसका प्रतिफल उचित तरीके से सर्वकल्याण होता है।

नीतिशास्त्र तथा इसके सिद्धान्त अपने आप में साधन मूल्य के साथ-साथ साध्य मूल्य भी होते हैं। परमार्थ दृष्टि से सभी तथ्य साध्य होते हैं तथा व्यवहार-दृष्टि से साधन के रूप में होकर किसी व्यष्टि साध्य की सिद्धि करते हैं। देश व काल के प्रभाव से जब परमार्थ तथा व्यवहार-दृष्टि के बीच आचरगत असंतुलन उत्पन्न होता है, जिसके जड़ में तृष्णा, स्वार्थतृप्ति व प्रज्ञाहीनता होती है, तब सर्वकल्याण की भावना खतरे में पड़ जाती है, जैसा कि बुद्ध के आविर्भाव के समय ब्राह्मण धर्म की अधोगति की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। धर्म के नाम पर हिंसा, क्रूरता, भोग-विलासिता तथा स्वार्थ-तृप्ति के आचार से समाज के किसी भी वर्ग का कल्याण संभव नहीं है, जबकि यही स्थिति तत्कालीन समाज की हो चली थी। बुद्ध का समग्र उपदेश उक्त आचार को परिमार्जित करने का एक सशक्त प्रयास था जो तत्कालीन समाज के विश्वसनीय विचार स्तम्भों के विरुद्ध अनित्य अनात्म तथा दुःख[1] के तथ्यपरक स्तम्भों पर आधारित रहा। बौद्ध नीतिशास्त्र की विशिष्टता इस बात में है कि इनके चारों आर्यसत्य में, प्रतीत्यसमुत्पाद तथा परमश्रेयस के साधक के रूप में अष्टांगिक मार्ग तथा अन्य नीति प्रतिपादन में न तो भौतिकवाद का समर्थन मिलता है न ही ईश्वर तथा शाश्वतवाद की प्रपंचात्मक आध्यात्मिकता की वाचालता उपलब्ध होती है।

अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म की आचारमीमांसा का चरम साधन है।[2] इसमें शील के रूप में सम्यक्- वचन, सम्यक्-कर्मान्त तथा सम्यक्-आजीविका का निर्देश, समाधि के रूप में सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि का उपदेश तथा प्रज्ञा के रूप में सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प का उपदेश आता है। बुद्ध-उपदेश में शील, समाधि तथा प्रज्ञा-त्रयधि शिक्षा के रूप में प्रतिष्ठित हैं जो उनके समस्त उपदेशों का सार है। त्रिपिटक के सारे तत्त्व इन्हीं तीन शिक्षाओं में

समाविष्ट हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ शील वह आचार है जिससे पालन करने वाले के साथ-साथ शेष जन के लिए भी हित की सिद्धि होती है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट समाधि भी चित्त के क्लेशों एवं उसके विकल्पों की साक्षात् विरोधी होती है। अतएव यह निर्वाण प्राप्ति का प्रशस्त साधन है। उक्त शील तथा समाधि सामान्य शील व समाधि न होकर विशिष्ट यानी अधि-शील तथा अधि-समाधि कही जाती है। यहाँ प्रज्ञा की भी अपनी विशिष्टता है जिसके कारण अधि-प्रज्ञा के नाम से इसे पुकारा जाता है। इस प्रज्ञा की पूर्णता से पुद्गल की समस्त आसक्तियाँ उच्छिन्न हो जाती है तथा सम्पूर्ण क्लेशों का नाश हो जाता है। यहाँ दो आत्म-दृष्टियाँ होती हैं- पुद्गलात्मक और धर्मात्मक। आवरण भी दो प्रकार के होते हैं- क्लेशावरण और ज्ञेयावरण।

उक्त क्लेशावरण का सम्बन्ध पुद्गलात्मक दृष्टि से तथा ज्ञेयावरण का सम्बन्ध धर्मात्मक दृष्टि से होता है। इन दृष्टियों एवं आवरणों के कारण पुद्गल न तो आसक्तियों से मुक्त हो पाता है और न इसके क्लेश और अज्ञान का ही सर्वथा विनाश हो पाता है। बुद्ध की प्रज्ञा उपर्युक्त दोनों प्रकार की दृष्टियों एवं आवरणों का सर्वथा विनाश करती है। इस प्रकार प्रज्ञा की विशिष्टता सिद्ध है। इस प्रकार यहाँ बौद्ध त्रयधि शिक्षा अपनी विशिष्टता के साथ अधि उपसर्ग से युक्त होकर व्यक्त होती है। इसका अलग-अलग संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित प्रतीत हो रहा है जो इस प्रकार है-

अधिशील शिक्षा

कहा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी सम्पूर्ण लोक का आधार होती है उसी प्रकार शील भी समस्त गुणों का आधार होता है।[३] शील तीन प्रकार के हैं- प्रतिमोक्ष, बोधिसत्त्व और गुह्यतन्त्र।

प्रतिमोक्ष शील के पालन से पुद्गलों को सांसारिक दुःखों से मुक्ति मिलती है। यह शील किसी भी प्रकार की सांसारिक इच्छा यथा भय से रक्षा, मान-प्रतिष्ठा या पारलौकिक सुख की प्राप्ति आदि के निहितार्थ न होकर एक मात्र मोक्ष की इच्छा से समुत्थित होता है। इस शील के पालन करने वाले पुद्गलों के आठ प्रकार बताये गये हैं। इस प्रकार इस शील के भी आठ प्रकार बताये गये हैं-उपवसथ, उपासक, उपासिका, श्रामणेर, श्रामणेरिका, शिक्षमाणा, भिक्षु एवं भिक्षुणी। इस शील को संवर कहा जाता है तथा इन अष्टविध पुद्गलों का शील अष्टजाति प्रतिमोक्ष संवर कहलाता है।

बोधिसत्त्व शील तथा गुह्यतान्त्रिक शील महायान के असाधारण शील हैं जहाँ बोधिसत्व संवर उपलब्ध होने के पश्चात् १८ मूल पातकों एवं ४६ दुश्चरितों से रक्षा करनी पड़ती है। गुह्यतांत्रिक शील प्राप्त होने पर १४ मूल पातकों और आठ स्थूल पापों से रक्षा करनी होती है। इन तीनों शील की थाती १० अकुशलों से विरत होने के लिए 'विरति शील' है। इन १० अकुशल कर्मों[५] को तीन श्रेणियों में- यथा, कायकर्म जिसमें प्राणातिपात (हिंसा), अदत्तादान (चोरी) तथा मिथ्याचार (व्याभिचार) आता है जिनका कुशल रूप अहिंसा, अचौर्य तथा अव्यभिचार है। दूसरी श्रेणी वाचिक-कर्म में मृषावचन (झूठ), पिशुनवचन (चुगली), परुषवचन (कटुवचन) तथा संप्रलाप (बकवास) आता है जिनका कुशल रूप अमृषा वचन, अपिशुन वचन अकटु वचन तथा असंप्रलाप है। तृतीय श्रेणी में मानस-कर्म में अभिध्या (लोभ), व्यापाद (प्रतिहिंसा) तथा मिथ्यादृष्टि (झूठी धारणा) आता है जिनका कुशल रूप क्रमशः अलोभ, अप्रतिहिंसा तथा अमिथ्यादृष्टि है। उक्त दस कुशल कार्यों के अनुष्ठान से तथा इन दस अकुशल कर्मों के परित्याग से पुद्गल अपनी ही जड़ खोदता है।[६] यानी वह इन कर्मों के परित्याग तथा कुशल कर्मों के धारण से आत्मदमन कर निर्वाण को प्राप्त करता है।[७] बुद्ध ने तत्कालीन पाँच प्रकार के व्यापार को अयोग्य कहा था।[८] वे हैं- हथियार, प्राणी, मांस, मद्य-शराब तथा विष का व्यापार। इस प्रकार शील शिक्षा अनेक प्रकार से व्याख्यायित होता है। उक्त दस अकुशल कर्मों से विरति ही इसका मूल स्वरूप है।

अधिसमाधि शिक्षा

बौद्ध दर्शन का अधिशील शिक्षा का व्यावहारीकरण ही अधिसमाधि शिक्षा प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करता है। यहाँ समाधि चित्त की एकाग्रता है जिसे शीलवान पुद्गल का जीव ही प्राप्त कर सकता है। समाधि दो प्रकार की है- लौकिक तथा अलौकिक।

पुनः लौकिक समाधि भी रूपी (रूपावचर) तथा अरूपी (अरूपावचर) दो प्रकार की होती है। लौकिक समाधि वह है जिसका क्षेत्र लोक से ऊपर नहीं होता। इसके आलम्बन तथा फल जागतिक होते हैं। जागतिक का तात्पर्य- कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु से है। भूमियाँ भी तीन प्रकार की होती हैं- कामभूमि, रूपभूमि तथा अरूपभूमि। रूपभूमि में स्थित चित्र लौकिक समाधि का रूपी तथा अरूपभूमि में स्थित चित्र अरूपावचर है। अलौकिक समाधि लोकोत्तर समाधि है। यह मोक्ष की ओर अभिमुख होती है इसका आलम्बन निःस्वभावता तथा नैरात्म्य है। इन समाधियों को सिद्ध करने हेतु पहले शमथ तदनन्तर विपश्यना उत्पन्न होना अपेक्षित है।[९] पुनः इन दोनों को एक भाव में करने वाली शमथ-विपश्यनायुगल समाधि की आवश्यकता होती है। चित्त की चंचलता तथा क्लेशों का शमन शमथ समाधि में होता है तथा धर्मों के अनित्य, नैरात्म्य आदि स्वभावों को जानने वाली प्रज्ञा विपश्यना है जो काल क्रम में शमथ के बाद आती है तथा आगे चलकर दोनों एकाकार होकर समाधि उत्पन्न करती हैं।

शमथ प्राप्ति के बाधक के रूप में पाँच धर्म हैं जिन्हें निस्तेज करने हेतु आठ प्रतिपक्ष धर्मों का अभ्यास करने को बताया गया है।[१०] इन पाँच धर्मों में कौसीद्य, मुषित स्मृतिता, निमग्नता और औद्धत्य, संस्कार सेवन तथा संस्कार सेवन आता है। ये धर्म चित्त को समाधि की स्थिति प्राप्त करने में लगातार बाधा उपस्थित करते रहते हैं। शमथ सिद्धि के दौरान चित्त की ९ अवस्थाएँ होती हैं। इनमें चित्त को आकृष्ट कर उसे आलम्बन में बद्ध करने वाला 'चित्तस्थापन', प्रथम चित्तावस्था से किञ्चित् ऊपर चित्त को धरावाहिक रूप में प्रवृत्त करने वाला 'चित्तप्रवाहसंस्थापन', चित्त की विक्षिप्तावस्था में उन्हें तत्काल जानकर पुनः-पुनः आलम्बन में लगाने वाला 'चित्तप्रतिहरण', चित्त को विस्तृत न होने देकर उत्तरोत्तर उसकी सूक्ष्मता को बढ़ाने वाला 'चित्तोपस्थापन', समाधि के गुणों को जानकर उसमें सुख का अनुभव करने वाला 'चित्तदमन' समाधि में अरति को रोकनेवाला 'चित्तशमन', सूक्ष्म भी निमग्न-औद्धत्य के उत्पन्न होने पर तत्काल प्रहाण करने वाला 'चित्तव्युपशमन' विपक्षों से अपराजित समाधि को धरा के रूप में प्रवाहित करने वाला 'चित्तैकोतीकरण' तथा स्मृति और सम्प्रजन्य के सेवन के लिए बिना प्रयत्न के चित्त को आलम्बन में स्वभावतः प्रवृत्त करने वाला 'समाधन' ये चित्त की नौ अवस्थाएँ हैं। इन चित्तावस्थाओं की सिद्धि छः बलों द्वारा होती है। इनमें श्रुतिबल द्वारा प्रथम चित्तावस्था, आशयबल द्वारा द्वितीय चित्तावस्था, स्मृतिबल द्वारा तृतीय और चतुर्थ चित्तावस्था, सम्प्रजन्य बल द्वारा पंचम व षष्ठ चित्तावस्था, वीर्यबल द्वारा सप्तम तथा अष्टम चित्तावस्था एवं सम्परिचय बल द्वारा नवम चित्तावस्था की सिद्धि होती है। इन चित्तावस्था में चार मनस्कारों की अवस्था भी आती है। प्रथम तथा द्वितीय चित्तावस्था के समय 'मनोनिवेशप्रवर्तकमनस्कार', तृतीय से लेकर सप्तम चित्तावस्था पर्यन्त 'विछिन्नप्रवर्तकमनस्कार', अष्टम चित्तावस्था के समय 'अविछिन्नप्रवर्तकमनस्कार' तथा नवम चित्तावस्था के समय 'अयत्नप्रवर्तकमनस्कार' की अवस्था होती है।

इस प्रकार बौद्ध ग्रंथों में मन को स्थिर तथा अचंचल रखने के लिए तथा चार आर्यसत्यों के प्रति प्रतिबद्धता के लिए 'ध्यान' का उपदेश किया गया है। ध्यान की चार अवस्थाएँ होती हैं। चौथी अवस्था में पहुँचकर पुद्गल का जीव शोक-आनन्द, सुख-दुःख, उल्लास-संताप आदि भावनाओं से ऊपर उठकर पूर्णतः परिशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। यही अवस्था समाधि है जहाँ मन के समस्त विकार, संकल्प-विकल्प आदि विविध सभी प्रकार की बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं तथा योगसिद्धि स्वभावतः हो जाती है।

अधिप्रज्ञ शिक्षा

प्रज्ञा का अर्थ ज्ञान होता है। इस ज्ञान का विस्तार तथा नैतिक पराकाष्ठा एवं इसके स्रोतों का अपारम्परिक आधार ही बौद्ध दर्शन की अधिप्रज्ञ शिक्षा की विशेषता है। बुद्ध स्वयं ज्ञानी थे। प्रतीत्यसमुत्पाद तथा मध्यमा प्रतिपद के रूप में वे अपने विशिष्ट ज्ञान सम्बन्धी विचारों को प्रकट करते हैं। समाधि में चित्त की एकाग्रता पूरित होती है तथा इस एकाग्रता से प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम है विपश्यना यानी अपरोक्ष ज्ञान। इस ज्ञान को उत्पन्न करने में समाधि की महिमा है।[११] प्रज्ञा के तीन भेद हैं। पाँच विद्यास्थानों-शब्द विद्या, हेतु (प्रमाण) विद्या, आध्यात्मिक विद्या, चिकित्सा विद्या और

शिल्प विद्या को जानने वाली 'संवृत्तिपरिच्छेदक प्रज्ञा' और तत्त्व को जानने वाली परमार्थपरिच्छेदक प्रज्ञा तथा जीवों के कल्याणकारी धर्मों को जानने वाली सत्त्वार्थपरिच्छेदक प्रज्ञा सहित इसके अन्य कई प्रकार हैं, परन्तु बौद्ध दर्शन की विशिष्ट प्रज्ञ शिक्षा जो ज्ञेयावरणों तथा क्लेशावरणों पर प्रहार करके उन आवरणों को मिटा देती है जो शून्यता को समझने में बाधक होती हैं। इस शून्यता का आधार बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद है। शून्यता को समझ लेने के पश्चात् संसार का कोई पदार्थ अज्ञेय नहीं रह जाता। शून्यता को नहीं समझने वाले संसार के किसी भी पदार्थ को नहीं जान सकते।[१२] इस प्रकार सम्पूर्ण धर्मों की वास्तविक स्थिति को शून्यता कहा जाता है। यह बुद्ध की कृपा या जीवों के कर्मवश निष्पन्न नहीं होता वरन् सभी धर्म शून्यता-स्वभाव से ही विद्यमान होते हैं। यह शून्यता व्यक्ति के अहम् या अज्ञान के कारण आसानी से समझ में नहीं आती। साधारण बुद्धि के अनुसार किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय में चार ही कोटियों का प्रयोग संभव दिखता है-आस्ति (विद्यमान है), नास्ति (विद्यमान नहीं है), तदुभयं (आस्ति व नास्ति एक साथ), नोभयं (न च आस्ति न च नास्ति)। इन चार कोटियों से वस्तु के सांसारिक पक्षों का ज्ञान होता है। परन्तु वस्तु के यथार्थ या पारमार्थिक पक्षों का ज्ञान इन चार कोटियों से नहीं हो पाता। पारमार्थिक पक्ष परम तत्त्व से सम्बन्धित होता है जो सदैव अनिर्वचनीय होता है। इसलिए नागार्जुन इसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहते हैं।[१३] सभी प्रकार के संभावित विकल्पों से शून्य होकर जब हम परमतत्त्व को जानने की कोशिश करते हैं तो मन में भावाभिव्यक्ति की शून्यता ही मात्र प्रतीत होती है। यह शंकर के वेदान्त से भिन्न इस अर्थ में है कि इसमें ब्रह्म, ईश्वर, माया आधारित मोक्ष व बन्धन का विधान न होकर बुद्ध उपदिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद ही आधार होता है तथा धर्मों के अनित्य, नैरात्म्य आदि भाव का बोध होता है। इसे शमथ और विपश्यना के माध्यम से जाना जाता है।

उपर्युक्त त्रयधि शिक्षा में अल्प-अधिक महत्त्व की दृष्टि से उत्तर-उत्तर शिक्षा श्रेष्ठ है। शील की अपेक्षा समाधि तथा समाधि की अपेक्षा प्रज्ञा श्रेष्ठ है। इस शिक्षात्रय के अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। यह व्यष्टि में अर्हत् पद का प्रतीक है जो हीनयान का परमादर्श है तथा मैत्री व करुणा से आनीत बोधिचित्तोत्पाद से संगृहीत शिक्षात्रय के अभ्यास से श्रेष्ठ मोक्ष यानी बोधिसत्त्व की प्राप्ति होती है जो बुद्ध के सम्पूर्ण जीवन के समग्र प्रयास से चित्रित होता है तथा महायान का परमादर्श है।

त्रयधि शिक्षा की विशिष्टता

बुद्ध की समग्र शिक्षा सदाचार यानी नैतिकता के लिए है। इसका साररूप त्रयधि शिक्षा है। ज्ञातव्य है कि बुद्ध श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसे ब्राह्मण परम्परा का विरोधी तथा खंडनकर्ता समझा जाता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में इनके दर्शन की कोटि नास्तिक दर्शन की कोटि में आती है, परन्तु बुद्ध दर्शन की नास्तिकता ब्राह्मणवादी नैतिक मूल्यों के खंडन या निषेद्य नहीं कर पाती। ब्राह्मणवादी सिद्धान्तों के नैतिक तथ्यों को फिर से व्यावहारिक बनाने का कार्य करना तत्कालीन परिस्थिति में बुद्ध के लिए आवश्यक था। अतः शील, समाधि तथा प्रज्ञा को जागृत करने में मानव मात्र के प्रयासों को बुद्ध ने सक्षम करार दिया। त्रयधि शिक्षा की प्राप्ति के लिए अलग से किसी आध्यात्मिक प्रतीक या अनुष्ठान को उन्होंने पूर्णतः अनुपयोगी सिद्ध कर उपनिषद् के तत् त्वम् असि के बदले उन्होंने त्वम् त्वम् असि सिद्ध किया। यही बुद्ध की शिक्षा की विशिष्टता है। इनकी इस शिक्षा से तार्किकता, पारदर्शिता तथा न्यायिक समानता गोचर होती है। इस उपदेश में परम् श्रेयस की प्राप्ति के लिए जिन त्रयधि शिक्षा- शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान है वह मानवकृत तथा पूर्ण सफल व्यावहारिक उपदेश है। यही त्रयधि शिक्षा की विशिष्टता है। मैत्री व करुणा भाव से मानव एक वैसे सदाचार का वाहक बन जाता है जिसके प्रभाव व प्रयास से पूरे विश्व की हर एक इकाई बोधि (मोक्ष) प्राप्त करती है। इसे हम देवी भागवत के इन पंक्तियों में व्यक्त कर सकते हैं-

आचारवान सदा पूतः सदैवाचारवान सुखी।
आचारवान सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद।।[१४]

सन्दर्भः

१. अंगुत्तरनिकाय ३६१६३४

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ०-५१

३. शील तथोक्तो जगता गुणानाम भूराश्रयः सर्व चराचराणाम्, आ. नागार्जुन कृत सह्यलेख

४. अभिधर्म कोश ४, १४

५. सम्मादिट्ठिसुत्त मज्झिमनिकाय

६. धम्मपद, १८- १२.१३

७. धम्मपद १२-१४

८. अंगुत्तरनिकाय-५

९. आ. शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार पृ. १३७

१०. आर्य मैत्रोयनाथ कृत मध्यान्तविभाग पृ. १३० तथा १२९

११. आ. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन- मीमांसा, पृ. ११५

१२. विग्रहव्यावर्तिनी- ७ वीं कारिका

१३. माध्यमिककारिका १/७

१४. देवी भागवत ११/२४/९८

***

बौद्ध धर्म की नैतिक विश्व दृष्टि : विसुद्धिमग्ग के संदर्भ में

मृत्युंजला कुमारी सिन्हा

बौद्ध धर्म में दृष्टि की विशुद्धता को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध धर्म व्यावहारिक धर्म है एवं नैतिकता की सर्वोच्च श्रेणी पर अवस्थित है। यहाँ दृष्टि का तात्पर्य साधारण नग्न आँखों से दृश्य जगत् को देखना नहीं है, बल्कि दृष्टि की शुद्धता से तात्पर्य है- अदृश्य सत्ता के विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर लेना। संकीर्ण दृष्टि सदैव साधना के लिए बाधक होती है। वस्तुतः इसका त्याग ही नैतिक विश्व दृष्टि है। दृष्टि का शुद्ध होना साधना की शुद्धता को दर्शाता है। निर्वाण अर्थात् अज्ञान को दूर कर ज्ञानदीप में प्रवेश हेतु बुद्ध ने सर्वप्रथम दृष्टि-विशुद्धता की बात कही है जिसका अष्टांग-मार्ग में सम्यक्-दृष्टि के रूप में वर्णन है। इस लेख का भी उद्देश्य दृष्टि-विशुद्धता का अर्थ-निरूपण थेरवाद सम्प्रदाय के सन्दर्भ में करना है। यह सर्वविदित है कि थेरवाद अर्थात् हीनयान शाखा बौद्ध धर्म का प्रारंभिक रूप है। तथागत बुद्ध की वाणी में लेशमात्र भी परिवर्तन नहीं करने के कारण इसे कठोरवादी भी कहा गया, किन्तु इसका लक्ष्य कठोरवाद नहीं है। यहाँ अर्हत् की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है। व्यवहारवादी दृष्टि से भी स्वहित की भावना को बल मिलता है, यहाँ स्वहित की भावना का तात्पर्य स्वार्थवादी होना कदापि नहीं लगाना चाहिए। स्वहित का तात्पर्य है- आध्यात्मिक जीवन के लिए स्वयं को विकारों से मुक्त करना। कोई भी व्यक्ति स्वहितवादी तभी हो सकता है जब वह विकारशून्य हो और विवेकयुक्त हो। इसके लिए सर्वप्रथम इन्द्रियों का तृष्णारहित होना आवश्यक है। चूँकि चक्षुर्विज्ञान के कारण ही मनुष्य तृष्णा से आबद्ध होता है इसलिए दृष्टि की शुद्धि आवश्यक है।

वर्तमान समय में स्वहित अर्थात् कुशल प्रयत्न की भावना लगभग समाप्त हो चुकी है। जिस प्रकार समाज और उस समाज के उपभोक्ताओं ने अपनी नैतिकता खोयी है वह स्वार्थवाद ही कहलाएगा, स्वहित नहीं। औद्योगिकीकरण के इस युग में संचार माध्यम की सहायता से सभी भेद समाप्त हो चुके हैं, दूरीयाँ मिट चुकीं हैं; परन्तु आज तक ऐसा कोई यंत्र नहीं बना जो मनुष्य के चित्त को कषायमुक्त कर सके। परिवार, समाज, राष्ट्र, संसार आदि में स्वयं को ऊँचे पद पर बनाए रखने की आकांक्षा से मानव के नैतिक पतन में तेजी आई है। परिणामतः वह अपनी गरिमा को भी बनाए नहीं रख पाता है। इसका एक मात्र कारण है- दृष्टि की अशुद्धता। अन्य को देखकर उससे घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, आदि रखना दृष्टि की अशुद्धता है। सभी परिस्थितियों में सबके प्रति दया, करुणा, भावना रखना ही दृष्टि-विशुद्धता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि में पूर्णता अथवा सम्यक्ता का भाव रखे तो कहीं कोई विवाद नहीं होगा, सभी भेद-भाव समाप्त हो जायेंगे। अतः लौकिक दृष्टि से भी वैश्विक दृष्टि प्रासंगिक है।

प्रस्तुत आलेख थेरवाद सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग पर आधारित है। इसका प्रारम्भ संयुक्तनिकाय की दो गाथाओं से होता है, जो कि प्रश्नोत्तर शैली में है। सर्वप्रथम,

अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि- को इमं विजटये जटं:।। ति।।

अर्थात् अंदर भी जंजाल है, बाहर भी जंजाल है, यह सारा संसार जंजाल से कैसे छुटकारा पा सकता है? अर्थात् यह समग्र संसार भवबंधन में जकड़ा हुआ है, कौन किस उपाय से इससे मुक्त हो सकता है।

द्वितीय- सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सोइमं विजटये जटं ति।।

अर्थात् शील में प्रतिष्ठित होकर जो प्रज्ञावान पुरुष जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तब वह उद्योगी तथा ज्ञानवान पुरुष भिक्षु (त्यागी) होकर इस जंजाल (भवबन्धन) को सुलझा लेता है।

इस प्रकार, विसुद्धिमग्ग बुद्धशासन की शील, समाधि और प्रज्ञा से संबंधित ग्रन्थ है। कहा गया है कि शील शासन की आदि कल्याणकारी, समाधि मध्य कल्याणकारी तथा प्रज्ञा अन्तःकल्याणकारी है। शील से अपाय (दुर्गतिविनिपात) का अतिक्रमण, समाधि से काम धातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है। वैश्विक दृष्टि का सम्बन्ध प्रज्ञा से ही है; जहाँ समभाव का आर्विभाव होता है। जब चित्त सभी क्लेशों से शून्य हो जाता है तब दृष्टि विशुद्ध हो जाती है, तृष्णा समाप्त हो जाती है, घृणा, द्वेष का अंत हो जाता है। सभी दिशाओं में मैत्री, करुणा, अहिंसा आदि की सविरल धारा बहने लगती है तब सम्यक्-दृष्टि का उदय होता है। भिक्षु (त्यागी पुरुष) प्रज्ञासम्पन्न कहा जाता है।

सम्यक्-दृष्टि अर्थात् दृष्टि-विशुद्धि साधक के लिए प्रज्ञाभूमि को प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण उद्योग है। दृष्टि-विशुद्धि का अर्थ है- पंचस्कन्धों के अनित्य, अनात्म एवं दुःखरूप होने का ज्ञान होना। पंचस्कन्ध अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के वशीभूत होकर देखने से सभी सांसारिक उपकरण हर्ष के अपार भंडार दिखायी देते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सत्त्व तृष्णा के जाल से आबद्ध है, संवृत्तिवादी दृष्टि का अंत अभी नहीं हुआ है। इस दृष्टि के उपशांत होने पर ही परमार्थ दृष्टि का उदय होता है। ज्ञानी पुरुष को संसार की प्रत्येक वस्तु दुःखमय प्रतीत होती है। वह सब कुछ में दुःख का बोध करता है। यहाँ तक कि अपने निजी रूप में भी नामरूप का प्रत्यक्ष करने लगता है। उसे इसका भाव हो जाता है कि शरीर इन दोनों के संयोग का प्रतिफल है। जिस प्रकर डण्डे की चोट से नगाड़े से ध्वनि निष्कासित होती है; परन्तु नगाड़ा और शब्द दोनों में कोई सामन्जस्य नहीं है। दोनों एक-दूसरे से शून्य है। नामरूप का संयोग भी ऐसा ही संयोग है। जिस साधक की दृष्टि सम्यक् होती है वह इस बात को भली-भाँति समझ लेता है। उपनिषदों में भी इसका वर्णन है कि 'जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियां अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नामरूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होते हैं।' अतः नामरूप को यथार्थतः सम्यक् रूप से जानना ही दृष्टि-विशुद्धि है।

नामरूप की व्याख्या में पर्याप्त मतभेद है। यह शब्द उपनिषदों से लिया गया है, परन्तु बुद्ध ने इसके अर्थ को परिवर्तित कर प्रयोग किया है। रूप से अभिप्राय 'शरीर' से है और नाम से तात्पर्य 'मन' से है। अतः नाम नामरूप दृश्यमान् शरीर तथा मन से संवलित संस्थान विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। जब साधक दृष्टि-विशुद्धि के मार्ग का निश्चय करता है तो वह रूपावचर एवं अरूपावचर ध्यानों से ऊपर उठकर वितर्क आदि ध्यान के अंगों को तथा तत्सम्प्रयुक्त धर्मों के लक्षण एवं कृत्य आदि को सम्यक् रूप में जान लेता है। पुनः उसे ज्ञान हो जाता है कि ये सब आलम्बन की ओर झुकने वाले स्वभाव का होने के कारण नाम कहलाते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने घर में छिपे सर्प को देखकर उसे भगाने के उद्देश्य से उसका पीछा करते हुए उसके बिल को देख लेता है उसी प्रकार साधक भी नाम के आश्रयभूत हृदयरूप की पहचान करता है। तत्पश्चात् हृदय रूप के निश्रय बने भूतों की तथा उन भूतों के निश्रय बने शेष उपादेय रूपों की पहचान करता है। इस तरह वह रूप का परिग्रह करता है। अंत में उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि यह सब नमन स्वभाव होने से नाम नाश होने के कारण रूप कहलाता है। अतः वह नामरूप को जान लेता है।

बौद्ध धर्म में पंचस्कन्धों का मिश्रित रूप ही नामरूप है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान ही पंचस्कन्ध है। भिक्षु चार स्कन्धों से उत्पन्न चार धातु, उनसे मिश्रित वर्ण, गंध, रस, ओज एवं चक्षु प्रसाद आदि पांच प्रसाद, वस्तुरूप, भाव,

जीवितेन्द्रिय, (ऋतु एवं चित्त) दो से उत्पन्न शब्द १७ रूप निष्पन्न तथा रूपारूप होने के कारण सम्मर्शन के योग्य है। किन्तु कायविश्रप्ति, वाग्विज्ञप्ति, आकाशधातु, रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जड़ता एवं अनित्यता- ये सभी दस रूप सम्मर्शन के योग्य नहीं हैं; क्योंकि ये केवल आकार, विकार, अन्तर एवं परिच्छेद हैं, न निष्पन्न हैं, न रूपारूप हैं। पुनरपि रूपों के केवल आकार, विकार, अन्तर एवं परिच्छेद होने से रूप कहे जाते हैं। ये २७ रूप स्कन्ध हैं, ८१ लौकिक चित्तों के उत्पन्न वेदना वेदना-स्कन्ध है, तत्संप्रयुक्त संज्ञा संज्ञा-स्कन्ध है, संस्कार संस्कार-स्कन्ध है, विज्ञान विज्ञान-स्कन्ध है- इस प्रकार रूप-स्कन्ध रूप कहलाता है तथा चार अरूप-स्कन्ध नाम कहलाते हैं। इसी प्रकार पंचस्कन्धों के विश्लेषण से बार-बार देखने पर अनित्य, अनात्म एवं दुःख रूप होने का ज्ञान जब हो जाता है तो नामरूप का ज्ञान भी हो जाता है। इसे एक उपमा के द्वारा सहजता से समझा जा सकता है। जैसे कोई व्यक्ति मलिन आईने में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है उसे दृष्टिदोष नहीं होने के बाबजूद भी अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखता है। तब वह 'प्रतिबिम्ब नहीं दिखेगा' ऐसा सोचकर आईना तोड़ नहीं देता या फेंक नहीं देता है, बल्कि उस दर्पण को स्वच्छ कपड़े से बार-बार साफ करता है। वह ऐसा तब तक करता है, जब तक कि प्रतिबिम्ब स्वतः स्वच्छ नहीं दिख जाता है। वह अपना उत्साह नहीं छोड़ता और उद्योग में रत रहता है। इसी प्रकार, दृष्टि-विशुद्धि के मार्ग पर आरूढ भिक्षु को भी उत्साह न छोड़कर रूप का पुनः-पुनः सम्मदर्शन करना चाहिए; चिन्तन परिग्रह एवं विश्लेषण करना चाहिए। ऐसा करने से जैसे-जैसे रूप सुविशुद्ध होता जायेगा समस्याएँ सुलझती जायेंगी रूप के विरोधी क्लेश क्षीण होते जायेंगे। अतः इस लोक-व्यवहार के प्रहाण हेतु सत्त्व सम्मोह को त्यागने के लिए तथा असम्मोह भूमि पर चित्त को स्थिर करने के लिए नामरूप के प्रति सम्प्रजन्यता बनाए रखना आवश्यक है।

नामरूप के दो परस्पर आश्रित प्रत्यय है। एक के नष्ट होने पर दोनों प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में दोनों की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। किन्तु उनके संयोग को व्यवहार में नाम दे दिया जाता है। जैसे- रथ के पहिये, धुरी, पंजर, हरिस आदि का समग्र रूप में रथ नाम दे दिया जाता है, हाथ की अंगुलियों के बंध जाने पर उसे 'मुष्टि' नाम से पुकारा जाता है, छोटी-बड़ी शाखाओं, पत्र एवं पुष्प आदि की सामाग्री को वृक्ष कहा जाता है। परमार्थ में, एक-एक धर्म पर विचार किये जाने पर 'मैं हूँ' यह अभिमान या 'मैं' यह आत्मा का अस्तित्व ऐसा ग्रहण किये जाने योग्य वस्तु वहाँ कोई है ही नहीं। अंत में, वह नामरूप मात्र ही सिद्ध होता है। ऐसे विचारवाले साधक की दृष्टि ही यथार्थ-दृष्टि अथवा यथाभूतदर्शन कहलाता है। भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है कि - **'द्वीहि भिक्खवे, दिट्ठिगतेहि पटियुट्ठिता देवमनुस्सा ओलीयन्ति एके, अतिधावन्ति एके, चक्खुमन्तो व पस्सन्ति।'**[३]

अतः जैसे मनुष्य और नौका दोनों एक-दूसरे के सहारे से समुद्र में जाते-आते रहते हैं वैसे ही नाम एवं रूप दोनों ही एक-दूसरे पर आधृत हैं। इसलिए आवश्यकता है- नामरूप के विनाश धर्म के दर्शन की; जिस क्षण में 'मैं' और 'मेरा' का भाव समाप्त हो जाएगा, उसी क्षण हृदय में करुण और मृदुल वातावरण का संचार स्वतः होना आरंभ हो जाएगा। अस्तु, उसका चित्त पंचशीलों और ब्रह्मविहारों जैसे सद्गुणों से प्रफुल्लित हो उठेगा। वह चार आर्य सत्यों को सम्यक् रूप से जान सकेगा।

स्पष्ट है कि शरीर एवं मन का समन्वय ही सभी दुःखों का हेतु-प्रत्यय बनता है। इसीलिए काय के प्रति सम्प्रजन्य बनाए रखना आवश्यक है तथा मन में कुशल प्रवृत्तियों के प्रवेश पर बुद्ध ने बल दिया है। बोधिचर्यावतार[४] में कायानुस्मृति से संबंधित कई गाथाएँ कही गई हैं। धम्मपद[५] एवं सुत्तनिपात[६] में भी इसका उल्लेख है। मन की शुद्धता बनाए रखने के लिए शील का सम्यक् अनुपालन आवश्यक है। मन में कुशल प्रवृत्तियों का समावेश होने देना, मन से अकुशल प्रवृत्तियों का निष्कासन करना, मन में पूर्व से व्याप्त कुशल प्रवृत्तियों का संरक्षण करना तथा अकुशल मानसिक प्रवृत्तियों को पुनः मन में समावेश नहीं होने देना ही शील का मूल आधार है। पुनः बुद्ध ने यह भी बताया है कि इसके लिए कठोर मार्ग अपनाने की आवश्यकता नहीं है। अपितु व्यवहार को संयमित मन से कार्य करना ही दृष्टि-विशुद्धि का लाभ कराने में सक्षम है। सदाचारी होना, दुराचार से विरत रहना, बुद्ध द्वारा निर्देशित ब्रह्मविहारों का पालन करना ही शीलवान होना है। जो कि

प्रज्ञावान होने की पहली शर्त है। ये मार्ग सर्वसुलभ एवं सर्वबोधगम्य है। इनका पालन वचन, कर्म एवं मन सभी से होना चाहिए। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि भिक्षुओं! जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहचान लेता है तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है। तब यह समझना चाहिए कि उसकी इस धर्म में अचल श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है और वह इस धर्म में आ गया है।[७] ये सदाचरण निम्नवत् हैं-

अहिंसा- अहिंसा का तात्पर्य है- प्राणातिपात विरमण। अहिंसा का तात्पर्य हिंसा पर मात्र रोक लगाना नहीं है, बल्कि अन्य सभी जीवों के प्रति दया-भावना का विकास होना है। विषम परिस्थितियों में एक-दूसरे की सहायता के लिए प्रयत्नशील होना भी अहिंसा का ही एक रूप है। इससे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय की भावना को बल मिलता है। सुत्तनिपात में अहिंसा के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि-

मता यथा नियं पुत्तं आयुसा एक पुत्तमनुरक्से।
एवंऽपि सब्बूभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं।।[८]

अर्थात् जिस प्रकार माता अपने जान की परवाह न करके भी इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राणिमात्र के प्रति असीम प्रेम भाव बढाना चाहिए।

अचौर्य- अचौर्य अर्थात् अदत्तादान विरमण। स्वामी की आज्ञा के बिना उसकी वस्तु का उपभोग करना चौर्य कहलाता है और उसका सर्वथा त्याग अचौर्य कर्म है। चोरी, ठगी, लूट इत्यादि चौर्य एवं निम्न कर्म है। इसके विपरीत, चोरी का सर्वथा त्याग अचौर्य कर्म है। दीघनिकाय में कहा गया है कि नियमपूर्वक सदैव प्रयत्नशील होते हुए धनोपार्जन करना चाहिए।[९] शुभ धन से बुद्धि भी शुद्ध होती है तथा बुद्धि का विकास कुशल कर्म के लिए होता है। बौद्ध धर्म में यहाँ तक कहा गया है कि जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करता है, वह श्रमण पद से च्युत हो सकता है।[१०]

अव्यभिचार- अव्यभिचार का अर्थ है- मिथ्याचार विरति। इसका तात्पर्य है, व्यभिचार अर्थात् काम सुखों का त्याग करना। दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य का पालन ही अव्यभिचार है। भगवान् बुद्ध ने पराभवसुत्त में मिथ्याचार को शील के पतन का कारण बताया है। वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति स्त्रियों के पीछे पड़ा रहता है, शराबी और जुआड़ी है, कमाये हुए धन को नष्ट कर देता है, उसका पतन निश्चित है।[११] व्यभिचारी पुरुष का मन कभी शान्त नहीं होता है। वह सदैव अतृप्त रहता है। मृत्यु उसका आलिंगन उसी प्रकार करती है, जैसे बाढ़ सोये ग्राम को नष्ट कर देती है। धम्मपद में भी उल्लिखित है-

पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्त को कुरुते वसं।।[१२]

अर्थात् काम भोग रूपी पुष्पों को चुनने वाले आसक्तियुक्त पुरुष को काम भोगों में अतृप्त हुए ही मृत्यु अपने वश मे कर लेती है।

अमृषावाद- असत्य वचन का त्याग करना अमृषावाद कहलाता है। दूसरे शब्दों में सत्य का पालन ही अमृषावचन है। सत्य वाणी के साथ वाणी का हितकर होना भी आवश्यक है। अहितकारी सत्य वचन नहीं बोलना चाहिए परन्तु जो सत्य है, वह प्रिय हो या अप्रिय हितकारी दृष्टि से बोलना आवश्यक है तो उसे बोलना चाहिए।[१३] इससे स्पष्ट है कि वाणी तर्कपूर्ण तथा शुद्ध होनी चाहिए। असत्य वचन करने से मनुष्य नरक का भोग करता है। इसीलिए असत्य भाषण वृषल कर्म माना गया है। असत्यवादी एवं करके नहीं किया कहने वाला दोनों की गति समान होती है। दोनों प्रकार के प्राणी की गति नरक की ओर होती है। अतः जान-बूझकर असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। इससे वाणी दूषित होती है। वाणी की अशुद्धता कर्म एवं मन दोनों को प्रभावित करती है। एक गाली देने वाले व्यक्ति का मन सदैव दूषित होता है। वह कुण्ठित तथा चिंतित रहने वाला होता है। उसके विचार में तुच्छता होती है, जिससे उसका कर्म भी निम्न कोटि का होता है इसलिए मृषावचन के त्याग पर बल देना चाहिए। वस्तुतः सत्य का पालन मानव जीवन का परम आदर्श होना चाहिए। इसे ही भगवान् बुद्ध ने सभी रसों में स्वादिष्टतर कहा है।[१४] अष्टांगिक मार्ग का सम्यक्-वाक् सत्य का अनुमोदन करता है।

अपिशुनवचन- अपिशुनवचन यानी चुगली का निषेध करना। इसके विपरीत चुगली करने वाले व्यक्ति को पिशुनवादी कहा जाता है। चुगली का अर्थ है- एक पक्ष की बात को दूसरे पक्ष के समक्ष कहना। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बात की हेरा-फेरी करने वाला ही पिशुनवादी है। चुगली दो व्यक्तियों के मध्य द्वेष उत्पन्न करने का साधन है। किसी को खुश करने के लिए तथा अपना कार्य साधने के लिए लोग चुगली का सहारा लेते हैं। यह शुद्ध एवं स्वच्छ चित्त को भी मलिन कर देता है। इसलिए चुगली सर्वथा त्याज्य है। बौद्ध धर्म में कहा गया है कि चुगली करने वाला कभी-भी लोक में सुखपूर्वक विहार नहीं करता है। चुगली नहीं करना भिक्षुओं का आचरणीय धर्म है। जो इसका त्याग करता है, जो अपिशुनवादी है, उसका चित्त सदैव खिले कमल के समान होता है। अतः वाणी में संवर का होना आवश्यक है।

अकटुवचन- वाणी से क्रोध, घमण्ड, द्वेष, ईर्ष्या आदि का सर्वथा त्याग अकटुवचन के अन्तर्गत आते हैं। वाणी द्वेष रहित होना चाहिए। 'मैं', 'मेरा' जैसे भावों से विरत होना चाहिए, मधुर भावों से युक्त वाणी श्लाघ्य होती है। संवाद में मधुरता होने से बिगड़े कार्य भी सुलभ हो जाते हैं। इसीलिए अपमानजनक एवं कठोर वचन का त्याग हमेशा करना चाहिए। अंगुलीमाल जैसे डाकू भी भगवान बुद्ध के मधुर वचन को सुनकर बर्फ के समान पिघल गया। वह उनके चरणों में जा गिरा और अंततः भिक्षु-संघ का पालन करते हुए निर्वाण को प्राप्त किया। अतः वैर से वैर कभी शांत नहीं होता है। अवैर ही वैर को दूर करने का उपकरण है। कटुवचन के प्रयोग से प्रतिवाद का जन्म होता है, क्योंकि जैसा व्यवहार एवं वचन का प्रयोग हम करते हैं, हमें वापस भी वही मिलता है। कटुवचन झगड़े को जन्म देने वाला होता है जो अत्यन्त पीड़ादायक होता है, इसलिए इसका त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। भगवान बुद्ध ने भी कहा है कि-

सचे नरेसि अत्तानंकंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बानं सारम्भो ते न विज्जति।।[१५]

अर्थात् अपने को टूटे कांसे के समान निःशब्द कर लेने से निर्वाण सुलभ हो जाता है, वहाँ प्रतिवाद के लिए कोई अवकाश नहीं होता है। प्रतिवाद नहीं होने से दुःख नहीं होता है। जब दुःख नहीं है, तब इसका अर्थ है कि सम् दृष्टि का उदय हो चुका है और साधक निर्वाण मार्ग पर आरूढ़ हो चुका है।

असम्प्रलाप- आवश्यकता से अधिक नहीं बोलना चाहिए। सोच-समझ कर एवं पूर्ण विचार करके बोला गया शब्द सार्थक होता है। निरर्थक बोलने वाले एवं बकवाद करने वाले से सभी दूर रहना चाहते है। बहुत बोलने वाला न तो पण्डित कहलाता है और न ही धर्मधर। इसलिए कहा गया है कि-

यो च गाथासतं भासे अनत्तपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यों यं सुत्वा उपसम्मति।।[१६]

अर्थात् अनर्थ पदों से युक्त सौ गाथाओं को कहने से कोई लाभ नहीं है। इससे बेहतर धर्म का एक सार्थक पद कहना है जिसे सुनकर मन उपशांत हो जाता है।

वस्तुतः सर्वदा शुद्ध, अर्थपूर्ण, तर्कपूर्ण तथा मूल्यांकन करके ही बोलना चाहिए। विनयपिटक के पाचित्तीय धम्म में इसका सविस्तार वर्णन है।[१७] धम्मपद में भी उल्लिखित है कि-

यो मुखसञ्ञतो भिक्खु मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्तं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं।। धम्मपद, २५/४

अर्थात् जो मुख में संयम रखता है, मनन करके बोलता है, उद्धत नहीं होता है, अर्थ और धर्म को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है। अतः बहुवाक् का त्याग आवश्यक है।

अलोभ- लोभ का विपरीत शब्द अलोभ है। लोभ के कारण आसक्ति का उदय होता है। अज्ञानतावश हम किसी वस्तु को पाने की इच्छा रखते हैं। वह वस्तु जो अएषणीय है, उसमें हमारी आसक्ति होती है। हम उसे पाने की लालसा में पड़े

रहते हैं। नाना प्रकार के दुःख भोग करते हैं। ऐसा सोचते हैं कि एक दिन वह वस्तु मिलेगी और हम सुख भोग करेंगे, परन्तु जब वह मिलती है तब उसमें भी दुःख, अनित्य एवं अनात्म का अंश दिखाई देता है। इसलिए लोभ को छोड़ना उचित एवं श्रेष्यकर है। वास्तव में, बौद्ध धर्म में 'निजी' जैसी कोई वस्तु या सत्ता है ही नहीं सब कुछ सार्वजनिक होता है। मेरा पुत्र, मेरा धन ऐसा जानने वाला मूर्ख होता है, ऐसा समझना दुःख उत्पन्न करता है। जब मनुष्य अपना आप नहीं है तो पुत्र और धन उसके कहाँ तक होंगे?[१८] इसीलिए ऐसा लोभ करना व्यर्थ है। यह पतन का कारण है।

अतः वस्तु के प्रति लोभ की भावना का नहीं होना ही अलोभ है। किसी वस्तु के प्रति लालच जैसी तुच्छ भावना का त्याग ही अलोभ है। लोभयुक्त साधक श्रमण नहीं हो सकता है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि **'इच्छा लाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति'** अर्थात् इच्छा-लाभ से भरा पुष्प श्रमण नहीं हो सकता है।

अ-प्रतिहिंसा अर्थात् अद्वेष। द्वेष की भावना का त्याग अद्वेष है। यदि कोई वैर भाव रखता है, तब भी उसके लिए अवैर रखना ही अ-प्रतिहिंसा है, क्योंकि अवैर ही वैर को दूर करने का उपयोगी शस्त्र है, न कि प्रतिहिंसा। बौद्ध धर्म में द्वेष को चित्तमलों का कारण माना गया है। इसलिए इसे पंच-निवरण में भी स्थान प्राप्त है। इसी से इसके त्याग की भावना को बल मिलता है। इसकी पुष्टि बुद्ध के शब्दों से भी होती है। जब वे कहते हैं कि – 'नत्ति दोससमो कलि' अर्थात् द्वेष के समान कोई मल नहीं है। द्वेष से मुक्त चित्त साधना-मार्ग पर सहजता से विचरण करता है। अतः अ-प्रतिहिंसा कुशल मानसिक कर्म है।

अ-मिथ्यादृष्टि- झूठी धारणा का त्याग ही अ-मिथ्या दृष्टि है। शाश्वत् को शाश्वत् समझना, दुःख को दुःख रूप जानना अ-मिथ्यादृष्टि है। इसके विपरीत आत्मा में विश्वास करना तथा किसी भी पदार्थ को सुख और नित्य समझना मिथ्या दृष्टि का द्योतक है। संसार की प्रत्येक वस्तु दुःख रूप है। उस पर सुख का मिथ्या आवरण है। यह धेय और ध्याता के मध्य मिथ्यात्व की अग्नि को प्रज्वलित करती है। मिथ्या दृष्टि से मुक्त साधक पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।[१९] मिथ्यादृष्टि मुख्य रूप से शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि के साथ दो प्रकार की होती है। कहीं-कहीं यह ६२ प्रकार की बताई गई है। बौद्ध धर्म में इन दोनों मिथ्या दृष्टियों को छोड़कर मध्यम-मार्ग अपनाया गया है। वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि सब कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न है। वह न तो पूर्णतः बना रहता है और ना ही पूर्णरूपेण उसका उच्छेद होता है, बल्कि चित्त की संतति प्रतीत्यसमुत्पन्न होकर एक योनि से दूसरी योनि में प्रवाहित होती है। जिस प्रकार पहले प्रहर की प्रदीप शिखा दूसरे प्रहर में बिल्कुल वही नहीं रहती है और न अत्यंत भिन्न हो जाती है, उसी प्रकार जन्म लेने वाला न तो बिल्कुल वही है और न भिन्न, किन्तु उसका तादात्म्य संगतिगत है। वस्तु को प्रतीत्यसमुत्पन्न समझने से मिथ्या दृष्टि का शमन हो जाता है। सभी वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न है, ऐसा मानने से मानसिक क्लेश का नाश हो जाता है। धम्मपद में उल्लिखित है कि पंचस्कन्धों की उत्पति और विनाश का मनन न करने वाले के सौ वर्ष के जीवन से उत्पति और विनाश का मनन करने वाले का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।[२०]

इस प्रकार कुशल एवं अकुशल कर्म को जानकर कर्म करने वाला साधक मेधावी होता है। वह दुराचरण से दूर हो जाता है तथा सदाचरण से विज्ञ होकर सदैव शुद्ध मार्ग पर चलता है। मार्ग के शुद्ध होने से उसका गौरव बढ़ता है। वह गौरान्वित होता है। उसकी प्रशंसा होती है। सभी प्रकार के कायिक, वाचिक एवं मानसिक सदाचार को अपनाकर वह काय से संयत हो जाता है। उसके सभी क्लेश समाप्त हो जाते हैं। वह दुःख को जान लेता है। दुःख को जानने के पश्चात् उससे मुक्त होने का प्रयास करता है तथा अर्हत् पद को पाने योग्य बनता है। उसकी दृष्टि में सम्यक्ता का भाव स्पष्ट झलकने लगता है। एक भिखारी और एक राजा में वह कोई भेद नहीं करता है। उसके लिए तृण और महल एक हो जाते हैं। अतः ये सभी कुशल कर्म को करने वाले साधक का व्यक्तित्व स्व-प्रकाशित हो जाता है। धम्मपद में लिखा है कि जो धीर पुरुष काय से संयत, वाणी से संयत और मन से संयत रहते हैं, वे ही पूर्ण रूप से संयत हैं।[२१] नामरूप का ज्ञान एवं नैतिक विश्वदृष्टि के उदय के पश्चात् व्यक्ति पारमार्थिक दृष्टि को अपनाने योग्य हो जाता है।

अतः पारमार्थिक दृष्टि की उपलब्धि के लिए आवश्यक है कि व्यवहार में सद्गुणों को अपनाया जाए जिससे चित्त की शुद्धि होती है। भौतिकवाद के इस युग में व्यवहार को शुद्ध करना अत्यंत आवश्यक है। आज जब मनुष्य पुरुषार्थों में केवल

अर्थ और काम के पीछे शीघ्रता से भाग रहा है, मोक्ष की अवधारणा लुप्त प्राय हो चुकी है, नैतिक पतन तेजी से हो रहा है, तब भगवान् बुद्ध के ये सद्विचार ही मानव-जाति को बचा सकती है। औद्योगिकीकरण के इस काल में विज्ञान ने भले ही चाहे जितनी भी उन्नति कर ली हो किन्तु उसका बुरा प्रभाव भी मानव जीवन पर पड़ा है। मशीनीकरण के युग में जीते हुए वह भी मशीनवत व्यवहार करता है। सम्बन्धों में कटुता आई है, वाणी में कठोरता आई है, तब आज यह संभव है कि बुद्ध के ये उपदेश उनके अंत:करण को जागृत करें। 'मैं' और 'मेरा' का विचार क्षणिक है, दु:खरूप है जिस समय यह भाव समाप्त हो जाएगा उसी क्षण विश्व में स्वत: शान्ति स्थापित हो जाएगी।

संदर्भ:

१. मुण्डोपनिषद्, ३/२/८ तथा प्रश्नोपनिषद्, ६/५

२. विसुद्धिमग्गो, ३/१८/१

३. इतिवुत्तक, पृ. २०७-२०८

४. बोधिचर्यवितार, ८/३०-३२

५. धम्मपद, २१/१०, ३/११

६. सुत्तनिपात

७. बुद्धवचन, पृ. २

८. मज्झिमनिकाय, सम्मादिट्ठि सुत्त

९. सुत्तनिपात, ८/७

१०. दीघनिकाय, ३/८/४

११. विनयपिटक, पृ. ८

१२. इत्तिधुत्तो सुराधुत्तो, अक्खधुत्तो च यो नरो।
लद्धं लद्धं विनासेति, तं पराभावतो मुखं।। सुत्तनिपात, ६/६

१३. धम्मपद, ४/५

१४. मज्झिमनिकाय, २/८/१-३; पृ. ६७-७१

१५. सच्चे हवे सादुतरं रसानं। सुत्तनिपात, १०/२

१६. धम्मपद, १०/६

१७. वही., ८/३

१८. विनयपिटक पचित्तिय धम्म, पृ. २३-२५

१९. धम्मपद, ५/३

२०. सुत्तनिपात, ८/१०

२१. यो च वस्ससतं जीवे अपससं उदयब्बयं।
एकाहं सेयूयो पस्सतो उदयब्बयं।। धम्मपद, ८/४

***

जैन धर्म-दर्शन का प्राणतत्त्व : अहिंसा

नवीन कुमार श्रीवास्तव
दीपक रंजन

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण-परम्परा का धर्म है। सामान्यतया इसे व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है, किन्तु जैनधर्म को एकान्त रूप से व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता है। यह सत्य है कि उसका विकास निवृत्तिमार्गी संन्यास प्रधान श्रमण-परम्परा से ही हुआ है, किन्तु मात्र इस आधार पर उसे व्यक्तिवादी धर्म मानना एक भ्रान्ति ही होगी। जीवन में दुःख की यथार्थता और दुःखमुक्ति का जीवन आदर्श, यह जैन परम्परा का अर्थ और इति है। किन्तु दुःख और दुःखमुक्ति के ये सम्प्रत्यय मात्र वैयक्तिक नहीं हैं, उनका एक सामाजिक पक्ष भी है। दुःख-मुक्ति का उनका आदर्श मात्र वैयक्तिक दुःखों से मुक्ति नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत् के दुःखों की विमुक्ति है और यही उन्हें समाज से जोड़ देता है। श्रमणधारा में धर्म और नीति को अवियोज्य माना गया है और धर्म तथा नीति की यह अवियोज्यता भी उसमें सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर देती है।

अहिंसा जैन धर्म-दर्शन का प्राण है। जैन धर्म-दर्शन में अहिंसा वह धूरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैन आगमों में अहिंसा भगवती है। उसकी विशिष्टता का वर्णन करते हुए सूत्रधार कहते हैं कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृप्तियों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषधि और वन में जैसे सार्थवाह का साथ, आधारभूत है वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है।[१] अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[२] वही मात्र ऐसा शाश्वत है जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं।

जैन वाङ्मय पर यदि हम अपनी दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि जैनधर्म इस भूलोक में रहकर ही निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक बल दिया गया है। उसके इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों पर ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिए आवश्यक है। जैनधर्म के प्रवर्तक आचार्यों ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन है।[३] एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अतः इनके दुरूपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है।[४] दूसरे ये स्वयं भी जीवन हैं, क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है। क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नितत्त्व)के अभाव में जीवन की कल्पना भी कर सकते हैं? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं। अतः इनका दुरूपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है। इसलिए जैन धर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है। हिन्दू धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देवरूप माना गया है, उनका आधार भी इनके जीवन का अधिष्ठान रूप होना ही है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की वह अवधारणा उपस्थित थी। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक- ऐसे षड्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है। आचारांग (ई.पू. ५वीं शती)

का तो प्रारम्भ ही इन षड्जीव निकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से होता है। इन षड्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गए हैं।

जब हम जैन आगमों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि सम्पूर्ण जैन आगम ग्रन्थ एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रियों जीवों के संरक्षण और सुरक्षा के लिए संकल्पित परिलक्षित होती है। जब हम आचारांग सूत्र का अवलोकन करते हैं तो हम देखते हैं कि आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम ही शस्त्रपरिज्ञा है। शस्त्र का अर्थ है 'हिंसा के उपकरण या साधन'। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है वह उसके लिए शस्त्र है।[५] चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य शस्त्र हैं। राग-द्वेष युक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र हैं। परिज्ञा का अर्थ है- ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते हैं- ज्ञ-परिज्ञा द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा द्वारा हिंसादि के हेतुओं का त्याग। हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर अहिंसा में आस्था दृढ़ होती है तथा अहिंसा का सम्यक् पालन किया जा सकता है। अब हम क्रम से पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रस-काय-हिंसा निषेध की चर्चा विस्तार से करेंगे।

पृथ्वीकायिक जीवों के बारे में आचारांगसूत्र में कहा गया है- 'पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीर में आश्रित रहते हैं अर्थात् वे प्रत्येक शरीरी होते हैं।[६] पुनः भगवान् महावीर कहते हैं कोई व्यक्ति इस जीवन के लिए प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए जन्म, मरण तथा मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतिकार करने के लिए स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है वह (हिंसावृत्ति) उसके अहितकर होती है। वह उसकी अबोधि अर्थात् ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि की अनुपलब्धि के लिए कारणभूत होती है।[७] पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा के बारे में आगे कहा है- वह साधक (संयमी) हिंसा के दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। कुछ मनुष्यों को भगवान के या अनगार मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि यह जीव-हिंसा ग्रन्थि है, यह मोक्ष है, यह मृत्यु है और यही नरक है।[८] भगवान महावीर को वनस्पतिकाय जीवों की पीड़ा का पूर्ण अनुभव था। वे तो सदैव कहा करते थे जैसे हमें पीड़ा या कष्ट का अनुभव होता है वैसे ही सभी ऐन्द्रिक जीवों को होता है। उन्होंने कहा है- जैसे कोई किसी जन्मान्ध व्यक्ति को (मूसल, भाला आदि से) भेदे, चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा की अनुभूति होती है वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकाय जीवों को होती है।[९] जैसे कोई किसी को गहरी चोट मारकर मूर्च्छित करे या प्राण-वियोजन ही कर दे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझनी चाहिए। उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के मन में पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति कितनी दया थी।

अप्काय को सजीव सचेतन मानना जैन धर्म-दर्शन की मौलिक मान्यता है। भगवान महावीर कालीन अन्य दार्शनिक जल को सजीव नहीं मानते थे, किन्तु उसमें आश्रित अन्य जीवों की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'वर्षा' को जल का गर्भ माना जाता है और जल को प्रजनन-शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रजनन-क्षमता सचेतन में ही होती है, अतः सचेतन की धारणा का प्रभाव वैदिक चिन्तन पर पड़ा है ऐसा माना जा सकता है।[१०] किन्तु मूलतः अनगार दर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जल को सचेतन नहीं मानते थे। अनगार में जल के तीन प्रकार बताये गए हैं। १. सचित्त- जीव सहित, २. अचित्त- जीव रहित और ३. सजीव-निर्जीव मिश्रित जल। जैन दर्शन केवल अचित्त जल को स्वीकार करने पर बल देता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है- बुद्धिमान मनुष्य यह जानकर स्वयं जलकाय का समारम्भ न करें, दूसरों से न करवायें और उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करें।[११] पुनः कहा है जिसको जल सम्बन्धी समारम्भ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञात कर्मा (मुनि) होता है।[१२]

जलकाय जीवों की हिंसा को 'अदत्तादान' कहने के पीछे एक विशेष कारण है। तत्कालीन परिव्राजक आदि कुछ संन्यासी जल को सजीव तो नहीं मानते थे, परन्तु अदत्त जल का प्रयोग नहीं करते थे। जलाशय आदि के स्वामी की

अनुमति लेकर जल का उपयोग करने में वे दोष नहीं मानते थे। अतः जल के जीवों का प्राण हरण करना हिंसा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी भी जीव की हिंसा, हिंसा के साथ-साथ अदत्तादान भी है। अहिंसा के सम्बन्ध में यह बहुत ही सूक्ष्म एवं तर्कपूर्ण चिन्तन है।

जैनधर्म अग्निकायिक जीवों के प्रति भी अपनी अहिंसक दृष्टि रखते हैं। आचारांग में कहा है- वह (जिज्ञासु साधक) कभी भी स्वयं लोक (अग्निकाय) के अस्तित्व का अर्थात् उसकी सजीवता का अपलाप (निषेध) न करे। वह अपनी आत्मा के अस्तित्व का अपलाप न करे क्योंकि जो लोक (अग्निकाय) का अपलाप करता है, वह अपने आप का अपलाप करता है। जो अपने आप का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है।[१३]

जो दीर्घलोक शस्त्र (अग्निकाय) के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र (संयम) का स्वरूप भी जानता है। जो संयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घलोक शस्त्र का स्वरूप भी जानता है। इसी क्रम में भगवान महावीर ने अग्निकायिक जीव-हिंसा निषेध पर भी विस्तृत चर्चा की है। उन्होंने कहा है जो अग्निकाय जीवों पर शस्त्र प्रयोग करता है, वह इन आरम्भ-समारम्भ क्रियाओं के कटु परिणामों से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दुःखद परिणामों से छूट नहीं सकता है। जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारम्भ नहीं करता है, वास्तव में वह आरम्भ का ज्ञाता अर्थात् हिंसा से मुक्त हो जाता है[१४] तथा जिसने यह अग्नि-कर्म-समारम्भ भली प्रकार समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी) है।[१५] इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्निकाय-जीवों पर सम्यक् अहिंसक दृष्टि जैन धर्म-दर्शन में उपलब्ध होती है।

जैनधर्म में वनस्पतिकाय जीवों पर भी अहिंसक दृष्टि प्रस्तुत की गयी है एवं इनके संरक्षण की बात कही गयी है। भगवान महावीर ने कहा है कि इस जीवन के लिए प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतिकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है, यह उसके अहित के लिए होता है, यह उसकी अबोधि के लिए होता है।[१६] पुनः भगवान महावीर ने कहा है- यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए। भगवान से या त्यागी अनगारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है- यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।[१७] पुनः भगवान महावीर ने कहा है- यह जानकर मेधावी स्वयं वनस्पति का अनुमोदन न करें, न दूसरों से समारम्भ करवाएँ और न समारम्भ करवाने वालों का अनुमोदन करें।[१८] फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारम्भ करता है और वनस्पतिकाय का समारम्भ करता हुआ अन्य प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है। जैनधर्म में इस तरह की हिंसा का पूर्ण त्याग बतलाया गया है।

जैन आचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत् के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ चैत्य-वृक्ष को जोड़ दिया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गयें। समवायांगसूत्र के अनुसार तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्ष की सूची इस प्रकार है[१९] -

१. ऋषभदेव- न्यग्रोध (वट)२. अजितनाथ- सप्तपर्ण ३. सम्भवनाथ- शाल ४. अभिनन्दननाथ- प्रियाल ५. सुमतिनाथ- प्रियंगु ६. पद्मप्रभ- छत्राह ७. सुपार्श्व- शिरीष ८. चन्द्रप्रभ- नागवृक्ष ९. पुष्पदन्त- साली १०. शीतलनाथ- पिलंखुवृक्ष ११. श्रेयान्सनाथ- तिन्दुक १२. वासुपूज्यनाथ- पाटल १३. विमलनाथ- जम्बू १४. अनन्तनाथ- अश्वत्थ (पीपल) १५. धर्मनाथ- दधिपर्ण १६. शान्तिनाथ- नन्दीवृक्ष १७. कुन्थुनाथ- तिलक १८. अरनाथ- आम्रवृक्ष १९. मल्लीनाथ- अशोक २०. मुनिसुव्रतनाथ- चम्पक २१. नमिनाथ- बकुल २२. नेमिनाथ- वेत्रसवृक्ष २३. पार्श्वनाथ- धातकीवृक्ष २४. महावीर (वर्द्धमान)- शालवृक्ष।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते थे इससे भी उनकी प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजगता प्रकट होती है। अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर उपदेश देने का निहितार्थ यही होगा कि इससे वृक्षों के प्रति जनमानस की श्रद्धा बढ़े जिससे इन वृक्षों को

संरक्षित करने के लिए प्रयासरत हो। यह मानव प्रकृति है कि जिस वस्तु को हम अपनी आस्था से जोड़ लेते हैं उसके लिए हम अच्छा ही सोचते हैं। कहीं न कहीं भगवान् महावीर ने जनमानस की इन भावनाओं को समझा और उनका यह प्रकृति प्रेम प्रकृति संरक्षण के रूप में विकसित हुआ। कहीं न कहीं उस समय की ये परिस्थिति निश्चित रही होगी कि लोग वृक्षों, वनों के प्रति निर्मम रहे हों जिसके फलस्वरूप वनों एवं वृक्षों के संरक्षण के लिए जैनधर्म में प्रत्येक तीर्थंकर के साथ चैत्य-वृक्षों को जोड़ दिया गया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गयें। प्राचीनकाल में जैन मुनियों को वनों में ही रहने का निर्देश था। फलत: वे प्रकृति के अत्यधिक निकट होते थे। कालान्तर में जब कुछ जैन मुनि चैत्यों या बस्तियों में रहने लगे तब इनके दो विभाग हो गयें- १. चैत्यवासी २. वनवासी।

किन्तु इसमें भी चैत्यवासी की अपेक्षा वनवासी मुनि ही अधिक आदरणीय बने। जैन परम्परा में वनवास को सदैव ही आदर की दृष्टि से देखा गया।

भारत के सभी दार्शनिकों ने प्राय: वनस्पति को सचेतन माना है, किन्तु वनस्पति में ज्ञान चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नहीं किया। जैन-दर्शन में वनस्पति के विषय में बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, वह आज के वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीश चन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा सिद्धि कर बताई थी तब से जैन दर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक-सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

उपरोक्त दृष्टिकोण को ही ध्यान में रखकर जैन तीर्थङ्करों नें समवसरण सभा की परिकल्पना की है जो कि अर्हत् भगवान् की उपदेश देने की सभा का नाम है। इस सभा में तिर्यञ्च, मनुष्य व देव और पुरुष तथा स्त्रियाँ सब वहाँ पर बैठकर भगवान् के उपदेश को सुनते हैं। इस सभा की रचना विशेष प्रकार से देवलोक करते हैं। इसकी प्रथम सात भूमियाँ बड़ी आकर्षक हैं, यथा- पुष्पवाटिकाएँ, नाट्यशालाएँ, वापियाँ, चैत्यवृक्ष इत्यादि। मिथ्या दृष्टि अभव्य जीव इसी को देखने में उलझ जाते हैं अर्थात् यहाँ पर पुष्पवाटिकाएँ, चैत्यवृक्ष आदि के मनोरम दृश्य के प्रति अभव्य जीवों की उनमें आसक्ति के कारण पर्यावरण (वृक्ष इत्यादि) की रक्षा की परिकल्पना जागृत होती है। अत्यन्त श्रद्धालु एवं भावुक व्यक्ति अष्टभूमि में प्रवेश करके भगवान् के दर्शन पाते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में वर्णित है कि 'इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्य ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसीलिए जानकार गणधरादि देवों ने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है।'[२०] वहीं पर वर्णित है कि वहाँ पर जिन भगवान के महात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तथा तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं होती हैं।[२१] अर्थात् यहाँ पर यह दशर्निं का प्रयास किया जा रहा है कि इस स्थान पर बैर, तृष्णा आदि के समाप्त हो जाने से सब जीवों का सब जीवों के प्रति समभाव का उदय होता है जिससे वे मैत्री-भावना के साथ रहते हुए अहिंसा के पथ पर अग्रसर होते हैं, जहाँ पर विश्वबन्धुत्व की भावना दृष्टिगोचर होती है। समवसरण की परिकल्पना मुख्यत: सभी जीवों में अहिंसा की भावना को उत्पन्न करना है जिस कारण सभी जीव (पशु-पक्षी, मानव, देव इत्यादि) एक ही जगह पर एकत्रित होकर जिनवाणी का श्रवण करते हैं जो अहिंसा की महत्ता को दर्शाता है।

जैन दर्शन में उपर्युक्त पञ्चकाय जीवों की अहिंसा के अतिरिक्त त्रस एवं स्थावर जीवों के प्रति भी अहिंसक दृष्टि का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जैनधर्म प्रारम्भ से ही अहिंसक धर्म रहा है। इसमें पशु-पक्षी इत्यादि को पूज्य के रूप में स्वीकार कर इनकी रक्षा करने का प्रसंग आता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण राजा अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के विवाह के प्रसंग में देखने को मिलता है। अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) ने विवाह केवल इस कारण से नहीं किया कि उनके बारात में आये यदुवंशी राजा और राजकुमारों के स्वागत-सत्कार में पशुओं का वध किया जाएगा और उनके मांस से राजाओं के भोजन की सामग्रियाँ तैयार होंगी। अरिष्टनेमि से उनके सारथी ने कहा- ये सभी भद्र प्राणी आपके विवाह कार्य में आये हुए बहुत से लोगों (मांसभोजियों) को खिलाने के लिए पकड़े गए हैं।[२२] इन शब्दों को सुनकर भगवान अरिष्टनेमि के मन में पशु-पक्षियों के प्रति अत्यन्त वेदना हुई और उन्होंने पशु-पक्षियों को मुक्त कर, विवाह करने से इन्कार कर निर्ग्रन्थ बनने चल पड़े। ऐसे कई उदाहरण जैन धर्म में मिलते हैं जिनमें तीर्थंकर आगे बढ़कर अहिंसा का एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

इसी क्रम में धरणेन्द्र और पद्मावती (नाग-नागिन) का प्रसंग पार्श्वनाथ से जोड़कर देखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि कमठ के उपसर्गों से धरणेन्द्र और पद्मावती ने पार्श्वनाथ को बचाया और उनके केवल ज्ञानप्राप्ति के साधन बने। भगवान पार्श्व का कमठ (महिपाल) से नाग-नागिन को बचाने की गुहार करना उनके जीव-जन्तुओं प्रति अहिंसकवृत्ति को दर्शाता है। जैनधर्म में यत्र-तत्र जीव-जन्तुओं की रक्षा के लिए भाँति-भाँति के तीर्थंकरों के साथ उन्हें रखा जाता है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए जिन प्रतीक चिह्नों (साधनों) का प्रयोग किया जाता है उनमें भी वन्य जीवों को ही प्राथमिकता मिली है। यथा-

तीर्थंकर	लांक्षन
ऋषभदेव	बैल
अजितनाथ	गज
सम्भवनाथ	अश्व
अभिनन्दननाथ	कपि
सुमतिनाथ	क्रौंच
पुष्पदन्तनाथ	मकर
वासुपूज्य	महिष
विमलनाथ	वराह
अनन्तनाथ	श्येनपक्षी
शान्तिनाथ	मृग
कुंथुनाथ	छाग
सुव्रतनाथ	कूर्म
पार्श्वनाथ	सर्प
महावीर	सिंह

इन लांक्षनों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैनधर्म पशु-पक्षियों के लिए कितनी श्रद्धा का भाव रखता है। लांक्षनों के रूप में पशु-पक्षियों को रखने का कारण इनके संरक्षण की भावना को विकसित करना है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन धर्म-दर्शन में उपलब्ध होता है अन्यत्र कहीं नहीं । सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणियों के संरक्षण की परिकल्पना जैन धर्म-दर्शन में दृष्टिगोचर होती है। स्वयं महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि उन्होंने अहिंसा का पाठ जैन दर्शन से ही सीखा है। अहिंसा का जितना सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप जैनधर्म में दृष्टिगत होता है अन्यत्र कहीं नहीं होता

सन्दर्भ:

१. *अहिंसा भगवती- एसा सा भगवती अहिंसा। प्रश्नव्याकरणसूत्र, २/१/२१-२२*

२. *आचारांगसूत्र, सम्पा.- आत्मारामजी, जैन स्थानक लुधियाना, ४/१२७*

३. *तं परिण्णाय मेहावी णेव संय छज्जीव-णिकायं-सत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा। आयारो, आचार्य तुलसी, १/१७६*

४. से बेमि........संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा। आयारो, आचार्य तुलसी, १/५४।

५. जं जस्स विणासकारणं तं तस्स सथं भण्णति। नि.चू. ३०१, अभिधानराजेन्द्र भाग-७, पृ. ३३१।

६. संति पाणा पुढो सिआ। आचारांगसूत्र, प्रथम अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, सूत्र-११

७. आचारांग, प्रथम अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, सूत्र-१३,

८. वही, सूत्र, १४

९. वही, सूत्र, १५

१०. श्री पुष्कर मुनि, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. ३४६

११. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारभेज्जा, णेवण्णेहिं उदयसत्थं समारभंते वि अण्णे ण समषुजाणेज्जा। आचारांगसूत्र, प्रथम अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, सूत्र ३०

१२. जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि। वही, सूत्र ३१

१३. णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइखेज्जा।

जे लोगं अभाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति जे लोगं अब्भाइक्खति। वही, सूत्र ३२

१४. एत्थ सत्थं सभारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असभारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति। वही, सूत्र ३८

१५. जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि। वही, सूत्र ३९

१६. इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतु से सयमेव वणस्सतिसत्थं सभारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति। तं से अहियाए, तं से अबोहीए। वही, सूत्र ४३

१७. एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए। वही, सूत्र ४४

१८. तं परिण्णाए मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वणस्सतिसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा। वही, सूत्र ४७

१९. समवायांगसूत्र, मधुकर मुनि, परिशिष्ट ६४६

२०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. ३२९

२१. वही, पृ. ३३०

२२. अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो।

तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोयावेउं बहुं जणं।। उत्तराध्ययन सूत्र, २२/१७

***

३. धर्म एवं साधना : ऊर्जा का आरोहण

अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में सापेक्ष अर्थशास्त्र एवं सन्तुलित विकास

आचार्य कनकनन्दी

धर्म केवल धर्मस्थल, धर्म-चर्चा, धार्मिक पर्व, धार्मिक ग्रन्थों का ही विषय नहीं है, बल्कि धर्म तो सदा-सर्वदा आचरण का विषय है। जिस प्रकार जीवन जीने के लिये श्वासोच्छ्वास चाहिये उसी प्रकार जीवन्त धर्म को जीवन में धारण करने के लिये धर्म का आचरण भजनालय (धर्मस्थल) से लेकर भोजनालय, धर्मशाला से लेकर कार्यशाला (कार्यालय ऑफिस) जिनागम से लेकर अर्थागम (धन उपार्जन के मार्ग) ऋषि से लेकर कृषि तक में होना चाहिये। धनार्जन भी धर्म के अनुसार होना चाहिये। कहा भी है- 'न्यायोपात्तधनो यजन्' अर्थात् न्याय से धनार्जन करना चाहिये। यदि धनार्जन के लिये धर्म का मार्ग छोड़ दिया जाता है तब उसमें अनर्गल रूप में अनेक पापों का अवगमन हो जाता है। स्वयमेव परिग्रह, धन की इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा परिग्रह पाप है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है- मूर्च्छा परिग्रहः।(११७) अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है।

बाह्याभ्यन्तर उपाधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और राग-द्वेषादि आभ्यन्तर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कार आदि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं।

इस धनार्जन के लिये झूठ बोलते हैं, मायाचार करते हैं और दोनों स्वयंमेव पाप है, हिंसा है। यथा- असदभिधानमनृतम्।(१४) अर्थात् असत् बोलना अनृत है। माया तैर्यग्योनस्य।(१६) अर्थात् माया तिर्यंचायु का आस्रव है।

शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना, मिथ्यात्व से रहित, अधर्मों का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर को बनाना, झूठे नाप-तौल के बाँट-तराजू तथा कूट आदि का चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदि का बनाना, वर्ण, गन्ध, रस आदि को बदलकर अन्य रूप देना, छाछ, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों का मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा नील लेश्या से युक्त होना, तीव्र आर्त्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यंच आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।

स्तेनप्रेयागतदाहृतादान विरुद्ध राज्यातिक्रमहीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार- ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

• **स्तेनप्रयोग-** चोर को चौर्य कर्म में स्वयं प्रयुक्त करना स्तेनप्रयोग है। अर्थात् चोरी करने वाले को स्वयं प्रयोग (उपाय) बतलाना व दूसरों के द्वारा उसकी मन से प्रशंसा करना, चोरी करना अच्छा मानना ये सब स्तेनप्रयोग है- ऐसा जानना चाहिये।

• **तदाहृतादान-** चोर के द्वारा लाये गये द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है। अपने द्वारा जिसके उपाय नहीं बताये गये हैं और न जिसकी अनुमोदना ही की है- ऐसे चोर के, चोरी करके लाये हुए द्रव्य को खरीदना तदाहृतादान है- ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न- तदाहृतादान में क्या दोष है?

उत्तर : चोरी का माल खरीदने (तदाहृतादान) से, पर-पीड़ा, राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसके विरुद्ध राज्यातिक्रम आदि भी जानना चाहिये। अर्थात् राज्य के विरुद्ध कार्य करने पर भी पर-पीड़ा राजभय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

• **विरुद्धराज्यातिक्रम-** उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। उचित न्यायभाग से अधिक भाग दूसरे उपाय से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। विरुद्धराज्य (राज्य के नियम विरुद्ध) राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्य वाली वस्तुओं को अधिक मूल्य की बताना। अर्थात् अल्प मूल्य प्राप्त वस्तु को महामूल्य में देने का प्रयत्न विरुद्धराज्यातिक्रम है।

• **हीनाधिकमानोन्मान-** क्रय-विक्रय प्रयोग में कूटप्रस्थ, तराजू को हीनाधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। प्रस्थादि मान कहलाता है और तराजू आदि उन्मान। दूसरों को देते समय कम बटखरा से देना और लेते समय अधिक वजन वाले बटखरे का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान कहलाता है।

• **प्रतिरूपक व्यवहार-** कृत्रिम सुवर्ण आदि बनाना प्रतिरूपक व्यवहार है। कृत्रिम सुवर्ण आदि के द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना अर्थात् कृत्रिम वस्तुओं को असली वस्तु में मिला कर दूसरों को ठगना प्रतिरूपक व्यवहार कहलाता है।

• **मिथ्योपदेश-** मिथ्या, अन्य परिवर्तन या यथार्थ क्रियाओं का छिपाना मिथ्योपदेश है। अभ्युदय और निःश्रेय सार्थक क्रियाओं में अन्यथा प्रवृत्ति करा देना या उनके प्रति उल्टी बात करना मिथ्योपदेश कहलाता है।

• **रहोभ्याख्यान-** संवृत्त (गुप्त) का प्रकाशन रहोभ्याख्यान है। स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकान्त में किये गये रहस्य (संकेत, बातचीत आदि) का उद्घाटन करना रहोभ्याख्यान है- ऐसा जानना चाहिये।

• **कूटलेखक्रिया-** परप्रयोग से अनुक्त पद्धत्तिकर्म कूटलेखक्रिया है। किसी के नहीं कहने पर भी किसी दूसरे की प्रेरणा से यह कहना कि- 'उसने ऐसा कहा है या ऐसा अनुष्ठान किया है' इस प्रकार वंचन के निमित्त (ठगने के लिये) लेख लिखना कूटलेख क्रिया है। अर्थात् दो नम्बर की बही-खाता लिखना आदि।

• **न्यासापहार-** हिरण्य आदि निक्षेप में अल्पसंख्या का अनुज्ञावचन न्यासापहार है। सुवर्ण आदि गहना रखने वाले द्वारा भूल से अल्पशः (कम) माँगने पर जानते हुए भी 'जो तुम माँगते हो ले जाओ' इस प्रकार अनुज्ञावचन कहना, उसका कम देना न्यासापहार नामक अतिचार कहलाता है।

• **साकारमन्त्रभेद-** प्रयोजन आदि के द्वारा पर के गुप्त अभिप्राय का प्रकाशन साकारमन्त्रभेद है। प्रयोजन, प्रकरण, अंगविकार अथवा भूक्षेप आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

स्वयमेव परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है और उस परिग्रह के निमित्त से झूठ बोलना, मायाचारी करना, डराना, चोरी का माल लेना व देना आदि पाप भी किये जाते हैं। इतना ही नहीं परिग्रह के कारण एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक की हिंसा हो जाती है व की भी जाती है। इसलिये परिग्रह संचय में पाँचों पाप हो जाते हैं। इतना ही नहीं परिग्रह के कारण जीव क्रोध भी करता है, परिग्रहरूपी पाप बढ़ने पर अर्थात् धन बढ़ने पर उस पाप के लिये (धन के लिये) घमण्ड भी करता है, उसकी सुरक्षा के लिये मायाचारी भी करता है, परिग्रह अर्जन करने के लिये लोभ करता है और परिग्रह बढ़ जाने पर लोभ और भी बढ़ जाता है। इसलिये जैन धर्म में नरकगति के लिये परिग्रह को मुख्य कारण बताया गया है। यथा-

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।(१५)

बहुत आरम्भ और परिग्रह वाले का भाव नरकायु का कारण आस्रव है।

प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बाह्यारम्भ परिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव हैं।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् परस्पर सहायता करना यह जीवों का उपकार है। कृषक खाद्य-वस्तु देकर, तो श्रमिक श्रम देकर, तो बुद्धिजीवी बुद्धि से जब दूसरों को सहायता पहुँचाते हैं तो दूसरों से भी उनकी धन, व्यवस्था, उपकरणदि रूप से सहायता प्राप्त करते हैं। इतना ही नहीं, प्रकृति के समस्त जीव, जन्तु पदार्थ भी परस्पर उपकार करके ही सहावस्थान करते हैं। जैसा कि वृक्ष से फल, लकड़ी, प्राणवायु, बीज आदि प्राप्त होता है, गाय आदि दूधारु-पशु से दूध प्राप्त होता है। इस सहयोग, आदान-प्रदान के कारण व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। जैसा कि गाय को तो उचित रूप में भोजनादि देकर उससे उंचित रूप से दूध प्राप्त करना योग्य है। परन्तु भोजनादि न देकर उससे अधिक दूध शोषण करना अयोग्य है। वैसा ही धर्मार्जन में भी होना चाहिये।

व्यापारियों का कर्तव्य है कि उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति करके उपभोक्ताओं से उचित पारिश्रमिक रूप से उन वस्तुओं के मूल्य से कुछ अधिक मूल्य ले न कि शोषण, मिलावट, नकली वस्तु रूप से। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारी प्राइवेट कर्मचारी से लेकर न्यायाधीश, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति तक सब लोक सेवक हैं। वे अपने-अपने कार्यक्षेत्र में लोगों की सेवा करके उसके परिवर्तन में पारिश्रमिक रूप से धन प्राप्त करना न्यायोचित है। परन्तु रिश्वत/घूस लेकर कार्य करना महान्-अन्याय है, पाप है, भ्रष्टाचार है। इससे कार्यों में व्यवधान होता है, प्रामाणिकता घटती है, कर्तव्यनिष्ठा नष्ट होती है, राष्ट्र का हनन होता है, खाद्यवस्तु के मिलावट से जनता के स्वास्थ्य नष्ट के साथ-साथ अनेकों की मृत्यु तक हो जाती है। वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार, हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके धन कमाते हैं और उससें दानादि करके धर्म करना चाहते हैं। परन्तु उन्हें जान लेना चाहिये कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता है, बल्कि पाप मनसा, वाचा, कर्मणा भी होता है। हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ-साथ पर्यावरण भी दूषित हो जाता है। विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से हिंसा व अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिये उपर्युक्त निषिद्ध व्यापार जो करता है वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता।

अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच (शुद्धता, निर्लोभता, पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (संयम), दान, दया, दम (दुष्प्रवृत्तियों को रोकना), क्षान्ति (क्षमा धारण करना) ये सब धर्म के लिये साधन स्वरूप हैं।

पातंजल योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने भी अष्टांग योग का वर्णन करते हुए यम को प्रथम स्थान दिया है। बिना यम आगे के सात अंगों से भी योग (ध्यान) की सिद्धि नहीं हो सकती। जैन धर्म में जिसको पंचव्रत कहा है उसको पतंजलि ने यम कहा है। पाँच यम यथा-

अहिंसासत्यस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह्य यमाः।।(३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहे जाते हैं।

पवित्र भाव होना भाव अहिंसा है और भाव अहिंसा-सहित स्व-पर का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमति से क्षति नहीं पहुँचाना द्रव्य अहिंसा है। इससे स्व-पर की समग्रता से सुरक्षा, समृद्धि होती है। स्व-पर तथा भाव अहिंसा होने पर ही स्व-पर तथा द्रव्य-अहिंसा का पालन हो सकता है। अहिंसा के कारण राग-द्वेष, अपना-पराया, भेद-भाव, ऊँच-नीच, ईर्ष्या, कलह, युद्ध, आतंकवाद, हत्या, आक्रमण आदि का अभाव हो जाता है, जिसके कारण विश्व में सुख-शान्ति-

समृद्धि होती है। इसीलिये 'अहिंसा परमो धर्मः' 'अहिंसामृतम्' है। इससे 'सह-अस्तित्व सुरक्षा' 'पारिस्थितिकी सिद्धान्त' को बल मिलेगा, जिससे विश्व की समस्या स्वरूप बिखराव, भेदभाव, संकीर्ण- कट्टर राष्ट्रवाद, धर्मोन्माद के कारण जायमान हिंसा, आतंकवाद, राष्ट्रीय गृह कलह से लेकर विश्वयुद्ध, पर्यावरण असंतुलन से जायमान अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बवण्डर, चक्रवात, अकाल, बाढ़, मृदा-जल-वायु-ध्वनि-भाव प्रदूषण तथा विभिन्न रोग दूर होंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से स्व-आत्मद्रव्य को छोड़कर अन्य किसी चेतन-अचेतन द्रव्य को ग्रहण करना परिग्रह है। व्यवहार से अनैतिक चेतन-अचेतन द्रव्यों को ग्रहण करना, अतिसंग्रह करना, अति लालसा या गृद्धता रखना परिग्रह है। उपरोक्त परिग्रह से विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् निश्चय से स्व-शुद्ध आत्मा ही अपरिग्रह है और व्यवहारतः आवश्यक वस्तु को छोड़कर अन्य वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना अपरिग्रह है। इससे गरीब-अमीर, शोषक-शोषित, मजदूर- पूंजीपति, नौकर-मालिक, शोषण-मिलावट, चोरी, डकैती, बेईमानी, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, मंहगाई, अभाव, भूखमरी आदि समस्यायें संभव ही नहीं होती हैं।

भगवान् महावीर का अपरिग्रहवाद पूर्ण आध्यात्मिक, नैतिक, साम्यवाद, समाजवाद है। इसके लिये किसी प्रकार बल-प्रयोग, हिंसात्मक कार्यवाही की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि यह सब स्वेच्छा से, आत्मप्रेरणा से होता है। परिग्रह के कारण जायमान बड़े-बड़े उद्योग, फैक्ट्री, यान-वाहन से उपजी ध्वनि-वायु-जल-मृदा प्रदूषण, ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन परत में छिद्र कृत्रिम तापमान की वृद्धि आदि समस्यायें नहीं होती हैं, जिससे अनेक शारीरिक-मानसिक रोग नहीं होते हैं।

'साँई इतना दीजिये, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, अतिथि न भूखा जाय।।'

***

वैश्विक संदर्भ में 'धर्म-दर्शन' की समकालीन उपादेयता

आर. के. देसवाल

धर्म-दर्शन विभिन्न धर्मों के आधारों तथा व्यवहारों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। धर्म-दर्शन उस दार्शनिक क्रिया का नाम है जो धर्म की बौद्धिक विवेचना करती है। धर्म का दार्शनिक विवेचन धर्म-दर्शन कहलाता है। यहाँ हम धर्म-दर्शन एवं उसकी उपादेयता पर विचार करने से पहले धर्म-दर्शन के इतिहास पद का विवेचन करेंगे।

धर्म-दर्शन के इतिहास के सम्बन्ध में जब मैंने धर्म-दर्शन के समकालीन भारतीय एवं पाश्चात्य लेखकों यथा बी. के. लाल, डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, डब्ल्यू. के. राईट, जॉन निकोलसन, ह्यूम, कांट, लोत्से, शैलिंग आदि की पुस्तकों का अध्ययन किया तो मालूम हुआ कि इन लेखकों की सोच एकपक्षीय एवं भेदभावपूर्ण हैं। पाश्चात्य विचारक यदि धर्म के सम्बन्ध में यह बात कहता है कि 'धर्म-दर्शन' का इतिहास मात्र दो सौ साल पुराना है तो उन्हें माफ भी किया जा सकता है परन्तु भारतीय विचारक भी धर्म-दर्शन की पुस्तकों में इसी तरह की बातें बतलाते हैं तो उनकी सोच पर तरस आता है। पाश्चात्य विचारक 'धर्म-दर्शन' को दो सौ साल पुराना विषय मानते हैं। इनके अनुसार दो सदी से पूर्व धर्म-दर्शन नाम का विषय था ही नहीं। यहाँ पर भारतीय विचारक इस तरह की बातों को मान्यता देकर अपनी अज्ञानता एवं पाश्चात्य विचारकों के अन्धानुकरण का परिचय ही देते हैं, इसके साथ-साथ पाश्चात्य विचारकों की भारतीय धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में खोजी प्रवृत्ति की पोल भी खुल जाती है । भारतीय 'षड्-दर्शन' को भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों विचारक 'दर्शन' के ही ग्रंथ मानते हैं तथा इसी षड्-दर्शन की एक शाखा 'मीमांसा-सूत्र' को ये सभी मात्र 'धर्म' की व्याख्या का ही ग्रंथ मानते हैं । स्वयं महर्षि जैमिनी अपने इस ग्रंथ के प्रथम सूत्र में घोषणा करते हैं कि 'अथातो धर्म जिज्ञासा'। दूसरे सूत्र में वे कहते हैं कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि सः धर्मः। तीसरे सूत्र में वे कहते हैं कि 'तदवचनादाम्नास्य प्रामाण्यम्। यदि यह सही है तथा केवल यही सही है तो भारतीय व पाश्चात्य विचारक यह क्यों कहते हैं कि 'धर्म-दर्शन' विषय का इतिहास केवलमात्र दो सदी पुराना है । यह ध्यान रहे कि 'षड्-दर्शन' 'दर्शन' के ग्रंथ हैं और इसी के अंतर्गत 'मीमांसा-सूत्र' की गणना होती है तो पाश्चात्य विचारक एवं उनका अनुगमन करने वाले भारतीय विचारक कुछ भी कपोल कल्पना क्यों करते रहें हैं । परन्तु यह सत्य है कि 'षड्-दर्शन' के अंतर्गत 'धर्म-दर्शन' का इतिहास पाँच हजार दो सौ साल पुराना है तथा यदि वेदों पर विचारें करें तो यह इतिहास काफी पुराना सिद्ध होता है ।

'षड्-दर्शन' पर यदि हम सही तरह से यानी निष्पक्ष रूप से विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि की मूल समस्या के सम्बन्ध में छह ऋषियों को यह कार्य सौंपा गया था कि आप सृष्टि की समस्या पर विभिन्न पहुलओं से विचार कीजिए । इन छह ऋषियों या दार्शनिकों के विचार विरोधी एवं विपरीत लगते हुए भी विरोधी व विपरीत न होकर परस्पर पूरक हैं । तार्किक या बौद्धिक दृष्टिकोण से जो विचार करता है वह 'नैयायिक' है । धार्मिक दृष्टि से जो विचार करता है वह 'मीमांसक' है। तात्त्विक दृष्टि से जो विचार करता है वह 'वैशेषिक या सांख्यिक' है, साधनागत दृष्टि से जो विचार करते हैं वे 'योगी' हैं तथा जो अंतिम परम सत्ता के सम्बन्ध में विचार करते हैं वे 'वेदान्ती' हैं। अब इस 'मीमांसासूत्र' में

महर्षि जैमिनी को 'धर्म' के 'कर्मकांडिक' रूप को स्पष्ट करने को कहा गया था, सो उन्होंने कर दिया। 'धर्म' के भावनात्मक या साधनात्मक या नैतिक रूप को यदि समझना है तो महर्षि पतंजलि रचित 'योगसूत्र' का अध्ययन करना चाहिए। 'षड्-दर्शन' की छह शाखाएं सृष्टि के मूल में निहित छह उद्देश्यों को लेकर आगे बढ़ती हैं। इस दृष्टिकोण से यदि हम विचार करें तो 'धर्म-दर्शन' का इतिहास महाभारत काल से पूर्व यानी कि ५२ सदी पूर्व सिद्ध होता है। 'षड्-दर्शन' के अंतर्गत 'मीमांसासूत्र' ने भली तरह से विचार किया है, चाहे वह कर्मकांडिक ही क्यों न हो।

धर्म का स्वरूप

यदि वेद व उपनिषद् के दृष्टिकोण से या धर्मसूत्रों के दृष्टिकोण से विचार करें तो यह भली तरह से स्पष्ट हो जाता है कि 'धर्म' इस सृष्टि के परम नियम, स्वभाव या स्वयं में स्थिति को कहते हैं। वेदों में इस नियम को धर्म की जगह 'ऋत्' नाम से सम्बोधित किया गया है। इस रूप में यह अस्तित्व का स्वभाव है जिससे समस्त सृष्टि का संचालन, इसकी उत्पत्ति व विनाश होता है। इसको जो अनुभूत कर लेता है (योग-साधना से) वह धार्मिक है । वेदों में जगह-जगह इस परम नियम को जानने, इसके अनुसार चलने या इसको अनुभूत करने की बात कही गई है। ऋग्वेद के कुछ उदाहरणों का अवलोकन करना सही रहेगा- 'ऋत्वाना वृतमा' अर्थात् ऋत् को फैलाने में सहायक बनो। 'ऋत्स्य सदय विचारामि विद्वान्' अर्थात् विचारक या दार्शनिक धर्म या ऋत् के संसार में रहते हैं । 'ऋत्म वोचे नमसा पृच्छ्मान' अर्थात् शिष्यों द्वारा पूछे जाने पर मैं धर्म या ऋत् का ही व्याख्यान करता हूँ । 'न ऋते त्वदमृता मादयंते' अर्थात् तेरी कृपा बिना ऋत् की अनुभूति नहीं होती। 'विप्रा ऋत्स्य वाहका' अर्थात् विद्वान् या दार्शनिक 'ऋत्' के वाहक होते हैं। 'ऋत्स्य नः पथा नय' अर्थात् मुझे 'धर्म' या 'ऋत्' के पथ पर चलना सिखा दो। यहाँ पर ऋग्वेद ने धर्म या ऋत् का अर्थ किसी बाहरी कर्मकांड से न लगाकर साधना द्वारा अपने स्वभाव की अनुभूति बतलाया है । साधना से तात्पर्य यहाँ पर 'षड्-दर्शन' के अंतर्गत 'योगसूत्र' है । 'धर्म' या 'ऋत्' यहाँ पर 'मीमांसा-सूत्र' वर्णित धर्म या 'ब्रह्मसूत्र' वर्णित 'ब्रह्म' है । उपनिषदों का भी यही आशय है। समय के साथ शब्दों में हेर-फेर या बदलाव या उनके अर्थ में अन्तर आ जाता है परन्तु उनके पीछे निहित अर्थ एक ही रहता है । वेद में 'ऋत्', दर्शन ग्रंथों में 'धर्म' भगवान् बुद्ध की देशना में 'धम्म' – इन तीनों में क्या अन्तर है? भारतीय साधनागत या योग के दृष्टिकोण से इनमें अन्तर नहीं है । शब्द अलग-अलग जरूर हैं, परन्तु इनके पीछे अर्थ एक समान हैं । वेद के ऋषि 'ऋत्' को स्वभाव या सृष्टि का परम नियम मानकर सबको उसी की शरण में आ जाने की बात करते हैं ताकि परम-शांति की अनुभूति हो सके। उपनिषद् के ऋषि उस परमानंद, परमशांति या स्वभाव में स्थिति को 'सच्चिदानंद' या 'ब्रह्म' नाम से, कहीं-कहीं 'धर्म' नाम से कह देते हैं । भगवान् बुद्ध अपनी देशना में उसी 'ऋत्' या 'धर्म' को 'धम्म' नाम से सम्बोधित करते हैं। भगवान महावीर ने इसी को एक ऐसी शक्ति के रूप में व्याख्याति किया है जिससे यह जगत् चलायमान रहता है, और तो और भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' में भी इस 'धर्म' को ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । प्रथम अपने पाँच शिष्यों के समक्ष सारनाथ (ऋषिपत्तनमृगद्राव) में दिया गया प्रथम उपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' के नाम से प्रसिद्ध है । इसके अंतर्गत भगवान बुद्ध स्वभाव में स्थित होने की बात कहते हैं । भारतीय धर्मग्रंथों में धर्म के सम्बन्ध में जो विभिन्न सुक्ति-वाक्य प्रचलित हैं वे उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों को स्पष्ट करते हैं । 'आचारो परमो धर्मः', यह धर्म का आचार-पक्ष है । 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः', यह धर्म का कर्तव्य-पक्ष है। 'धर्मेन हीना पशुभि समाना' यह धर्म का वैचारिक पक्ष है। 'अभ्युदयनिश्रेयससिद्धि सः धर्मः', यह धर्म का सर्वांगीण-पक्ष है। इस तरह से धर्म के विभिन्न पक्षों पर भारतीय शास्त्रों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। उनमें से किसी एक को 'धर्म' की परिपूर्ण परिभाषा स्वीकार कर लेना कतई गलत होगा। भारतीय शास्त्रों ने धर्म के कर्मकांडिक, तार्किक या बौद्धिक, भावनागत तथा साधनागत आदि सभी पक्षों को स्पर्श करके इसको परिभाषित करने का प्रयास किया है, जबकि ईसाईयत, इस्लाम व यहूदी आदि तीनों सम्प्रदायों ने 'धर्म' के केवल कर्मकाण्डिक या थोड़ा बहुत नैतिक-पक्ष को ही स्पर्श किया है।

भारतवर्ष में तो षड्-दर्शन के अंतर्गत 'वैशेषिक-सूत्र' ने धर्म की जो परिभाषा 'यतोभ्युदयनिश्रेयससिद्धि सः धर्मः' कहकर दी है वह परिपूर्ण सर्वांगीण एवं वैज्ञानिक परिभाषा है। पाश्चात्य किसी भी धर्म-दार्शनिक की धर्म की परिभाषा इनके

सामने कहीं भी 'ठहरने में समर्थ नहीं है यानी जिसके सम्पन्न करने से व्यक्ति का भौतिक संसार वैभवपूर्ण एवं आध्यात्मिक जीवन तृप्त हो सके, वही धर्म है । इस परिभाषा में धर्म के सभी पक्षों का समावेश हो जाता है- कर्मकांडिक, वैचारिक, भावनापरक व साधनापरक आदि सभी का। इस धर्म ने हम सबको धारण किया हुआ है परन्तु हम इसे भूल चुके हैं । इसके सत्य स्वरूप को इस तरह से अनुभूत करें कि जिससे हमारा भौतिक जीवन भी वैभवपूर्ण बन जाए तथा अपने वास्तविक स्वरूप में हम स्थित हो जाएं।

धार्मिक कैसे बनें?

यह एक अहम् प्रश्न है कि हम धार्मिक कैसे बनें? इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण गहन, वैज्ञानिक एवं सर्वांगीण है, जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण उथला, कर्मकांडिक, अंधविश्वासी एवं अंधानुकरण प्रधान है । धर्म की प्राप्ति, धार्मिक होने या धर्म को अनुभूत करने के सम्बन्ध में सब भारतीय दार्शनिक योगाचार्य, धर्माचार्य व गुरु यह मानते हैं कि आपको साधना करके अपने चित्त पर पड़े मल व विकारों की शुद्धि करनी पड़ेगी। इन मल व विकारों की शुद्धि हेतु साधना की विधि ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, कर्ममार्गी आदि कोई भी हो सकती है। इसके विपरीत पाश्चात्य धार्मिक सम्प्रदायों में इन चित्त पर जमें मल व विकारों की शुद्धि किए बगैर भी कोई व्यक्ति धार्मिक हो सकता है, मात्र ईमान लाकर, विश्वास करके इनका यही रूप संसार में विभिन्न प्रकार के विवादों, मारकाट, नरसंहार, आतंकवाद व युद्धों का कारण बनता है। इनमें न तो किसी प्रकार के तर्क-वितर्क को स्थान है तथा न ही साधना का महत्त्व। धार्मिक व्यक्ति किसी की हत्या कैसे कर सकता है? धार्मिक व्यक्ति नरसंहार कैसे कर सकता है? धार्मिक व्यक्ति जमीन को टुकड़ों में कैसे बांट सकता है? सच्चा धार्मिक तो वही है जो यह जान लेता है कि वह जो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है; उसका आंतरिक, अंतरतम, वही धर्म है । महावीर के लिए धर्म का अर्थ 'रिलिजन' नहीं है । ख्याल रखना महावीर मजहबी नहीं हैं । महावीर के लिए धर्म से मतलब हिन्दू, जैन, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान नहीं है। महावीर कहते हैं धर्म का अर्थ है-- तुम्हारा जो गहनतम स्वभाव है, वही तुम्हारी शरण है। जब तक तुम अपने उस गहनतम स्वभाव को नहीं पकड़ पाते हो, तब तक तुम प्रवाह में भागते रहोगे तथा प्रवाह में जरा व मृत्यु के सिवाय कुछ भी नहीं है। प्रवाह में है मृत्यु। केंद्र पर है अमृत। जिद्दू कृष्णमूर्ति भी ऐसा ही वक्तव्य धर्म के संवंध में देते हुए कहते हैं, 'It is not in the performance of any rituals. It is not in the temples and Churches. It is not in the reading of Bible or Gita. It is not in the repeating of sacred name or in the following of some outer superstition invented by man. None of this is religion. Religion is the feeling of Goodness of that love which is like the river living, moving, ever lastly. In that state, you will find there come a moment when there is no longer any search at all.' धार्मिक बनना नहीं है, अपितु अपने स्वभाव में स्थिति की अनुभूति ही धर्म है । भारत में वेदों से लेकर उपनिषद्, धर्मसूत्र, नीतिसूत्र, दर्शन-सूत्र, महाकाव्य, भगवान् बुद्ध, महावीर, संजय वेलट्टिपुत्त, प्रबुद्ध कात्यायन, गोरखनाथ, संत कबीर और नानकादि तथा समकालीन दार्शनिक जिद्दू कृष्णमूर्ति एवं ओशो रजनीश तक सभी धर्म की इसी बहुआयामी परिभाषा को कहते आए हैं । इसमें धर्म के कर्मकांडिक, तार्किक, भावनापरक एवं साधनापरक सभी रूपों की जरूरत एवं उपयोगिता को दर्शाया गया है । पश्चिम के देशों में यह आज भी नहीं हो पाया है। पश्चिम के सभी विचारक 'धर्म' की स्थापना में 'भय' को मुख्य तत्त्व मानते हैं । भारत में 'धर्म' में भय नहीं अपितु करुणा, प्रेम, समर्पण, मैत्री एवं अद्वैत को 'धर्म' के मुख्य तत्त्व स्वीकार किए गए हैं।

'दर्शन' का स्वरूप

'दर्शन' देखना है परन्तु यह देखना मात्र बाहरी ही नहीं है, अपितु यह भीतर देखना भी है। 'दर्शन' के बाहरी अर्थ यानी बाहरी नेत्रों से देखने को ही यदि 'दर्शन' माना जाए तो इस अभिप्राय: से चित्त में उठने वाली जिज्ञासाओं की वैचारिक शांति ही इसका अर्थ समझा जाएगा, जिससे कि तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ एवं आरोप-प्रत्यारोप के ही ग्रंथ तैयार हो सकते हैं। व्यक्ति इससे केवल वैचारिक कुश्ती ही लड़ सकेंगे, वास्तविक शांति की उपलब्धि इससे नहीं होगी। पश्चिम के सब दार्शनिक जिसे 'फिलॉसफी' कहते हैं, उसी का विकास होगा इससे; 'दर्शन' का नहीं । 'दर्शन' का बाहरी रूप

'फिलॉसफी' है, जबकि यदि इसके साथ भीतरी भी जुड़ जाए तो उसे 'दर्शन' कह सकते हैं हम । देखने वाले द्वारा देखना भी 'दर्शन' कहलाता है, वास्तव में सत्य-दर्शन तो यही है । केवल विषय को देखना व्यक्ति को तार्किक व फिलॉसॉफर बना सकता है, दार्शनिक नहीं। 'दार्शनिक' बनने हेतु बाहर के जगत् को समृद्ध बनाते हुए अपने स्वभाव में स्थित हो जाना है। जो समकालीन पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अंधविश्वासी अनुयायी भारतीय विश्वविद्यालयों के विद्वान् प्राध्यापक यह कहते हैं कि 'दर्शन' को 'दर्शन' ही रहने दीजिए, इसे रहस्यवाद से दूर ही रहने दें- वे वास्तव में भारतीय 'षड्-दर्शन' की मूल भावना से परिचित ही नहीं हैं। यदि 'दर्शन' का अर्थ मात्र वैचारिक ऊहापोह है तो 'षड्-दर्शन' के अंतर्गत महर्षि पतंजलि के 'योगसूत्र' को क्यों सम्मिलित किया गया है? इनके अनुसार तो 'दर्शन' के अंतर्गत केवल 'न्याय-दर्शन' को ही होना चाहिए, क्योंकि तर्क-वितर्क, वाद-विवाद एवं बौद्धिक कुश्ती तो यही खेलता है। वास्तव में 'दर्शन' के अंतर्गत स्थूल से सूक्ष्म की तरफ यात्रा करते हुए न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं वेदांत सारे ही आते हैं।

'धर्म-दर्शन' का स्वरूप

'धर्म' एवं 'दर्शन' दोनों ही अवधारणाएं पहले स्पष्ट हो चुकी हैं। इसके पश्चात् 'धर्म-दर्शन' को स्पष्ट करना सरल होगा । 'धर्म-दर्शन' यानी कि 'धर्म के दर्शन' को स्पष्ट करना । यहाँ पर भी भारतीय एवं पाश्चात्य सोच में भेद है । भारतीय सोच स्थूल से सूक्ष्म की तरफ यात्रा करती हुई सर्वांगीण है, जबकि पाश्चात्य सोच मात्र स्थूलता को लिए हुए ही है । भारतीय संदर्भों में तो 'धर्म-दर्शन' उसे कहा जाना चाहिए जो धर्म के बाह्य व आंतरिक यानी कर्मकांडिक, बौद्धिक, भावनात्मक एवं साधनात्मक सभी स्तरों के दर्शन करवाने में समर्थ हो। हम यदि मात्र धर्म के कर्मकांडिक रूप पर ही रूककर इसी की विभिन्न प्रकार की वैचारिक व्याख्याएं करते रहें तो यह मात्र एक मत, वाद, सम्प्रदाय या रिलिजन ही होगा। इसी को पश्चिम के विचारक तथा उनके नक्शे कदम पर चलने वाले भारतीय विचारक मान्यता देते हैं । ये तथाकथित विचारक रह-रहकर इसके साथ अंधविश्वास, भावना, आस्था व नैतिक-नियमों को भी जोड़ देते हैं। लेकिन यह अंधविश्वास, भावना, आस्था एवं नैतिकता एक कल्पित अदृश्य शक्ति के प्रति ही होती है यानी कि धर्म को गंवारों, देहातियों एवं बुद्धिहीनों की-सी वस्तु सिद्ध करने का इनका प्रयास रहता है । यह इनकी नादानी एवं इनके वैचारिक अंधविश्वास का ही प्रमाण सिद्ध होता है । धर्म को अनुभूत नहीं किया तथा लगे उस पर अंतिम निर्णय देने । 'पदार्थ' यदि खोज का विषय है तो 'धर्म' भी अनुभूति का विषय है । तार्किक, विचारक एवं वैज्ञानिक भी 'धर्म' पर बोलते समय अंधविश्वास, मूढ़ता एवं अवैज्ञानिकता का परिचय देते हैं । 'विषय' को जानना 'विज्ञान' है तो 'विषयी' को जानना 'धर्म' है । 'विषय' को जानने हेतु प्रयोगशाला बाहर होती है, जबकि 'विषयी' को जानने हेतु प्रयोगशाला हमारा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर होता है। 'धर्म' को जानने का साधन 'योग' है, जबकि 'विज्ञान' को जानने का साधन किसी व्यक्ति की 'बुद्धि' एवं 'बाहरी' उपकरण। पता नहीं क्यों पाश्चात्य फिलॉसॉफर 'धर्म' को भी 'विज्ञान' की तरह ही जानना चाहते हैं जो कि असंभव है । भारतीय सनातन दृष्टिकोण से 'धर्म-दर्शन' वह विषय है जिसमें हम 'दर्शन' के माध्यम से 'धर्म' की अनुभूति करते हैं। इसमें बाहरी कर्मकांड, पूजापाठ, बौद्धिक ऊहापोह, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, भावना, आस्था, विश्वास, नैतिकता एवं योग की विभिन्न साधनाएं सम्मिलित होती हैं। यदि 'धर्म' से 'साधना' को निकाल, दिया तो यह 'धर्म' का भवन क्या नहीं ढह जाएगा? 'विज्ञान' विषय प्रयोगशाला के बिना लंगड़ा है तो 'धर्म' विषय भी 'साधना' के बिना अधूरा है । परन्तु धर्म-दर्शन धर्म से सम्बन्धित विश्वासों, मान्यताओं अथवा सिद्धांतों की निष्पक्ष आलोचनात्मक परीक्षा करके उन्हें सत्य प्रमाणित करने का प्रयास करता है, ताकि व्यावहारिक जीवन में धर्म की सार्थकता बढ़ जाए ।

धर्म-दर्शन की समकालीन उपादेयता

पाश्चात्य सभी प्रमुख विचारकों यथा कार्ल मार्क्स, फ्रायड व कोम्ते आदि द्वारा प्रचलित वादों यथा साम्यवाद, मनोविश्लेषणवाद तथा मानवतावाद का ही पश्चिम के देशों तथा उनके अनुगामी भारतीय विचारकों में बोलबाला है । भारत में 'हिन्दी साहित्य' पर भी इन्हीं आयातित परन्तु घातक विचारधाराओं का दुष्प्रभाव है। आज भी यहाँ का 'हिन्दी-साहित्य'

इनके बोझ से दबा हुआ है हालांकि मार्क्सवाद, फ्रायडवाद व मानवतावाद आदि का प्रभाव अब इनके जन्म-स्थान पर भी समाप्त-सा ही है । ये तीनों विचारधाराएं तथा इनको समर्थन देने वाले विचारक यथा मार्क्स, फ्रायड, कोम्ते, स्पैंसर, मिल, बैंथम, सिजविक, रसल, ड्यूई, सार्त्र, सांतायना, मानवेंद्र नाथ राय आदि सभी धर्म के सम्बन्ध में यह मानते हैं (जानते नहीं) कि यह एक ऐसी शक्ति के प्रति लोगों का विश्वास है जिसका वास्तव में अस्तित्व होता ही नहीं है । 'धर्म' का सारा ढांचा उसी अदृश्य लेकिन अस्तित्वहीन शक्ति के चारों तरफ बुना गया होता है। 'धर्म' का भारतीय दृष्टिकोण अंधविश्वासी, कर्मकांड-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान न होकर व्यावहारिक है, साधना से साध्य है। यह दृष्टिकोण देह, मन व बुद्धि से गहराई में जाकर अस्तित्व के एकत्व की अनुभूति करवाता है। इसी की साधना सनातन काल से भारतीय ऋषि, महर्षि, राजर्षि, संत, दार्शनिक, मुनि, योगी, व गुरु करते आ रहे हैं तो धर्म के सम्बन्ध में वैचारिक रूप से ही न सोचे, उसे जीवन में भी उतारें । इसकी साधना व इसके साक्षात्कार से व्यक्ति स्वाधीनता प्राप्त करता जाता है तथा ऐसा भी अवसर आता है कि वह समस्त अस्तित्व से अद्वैत को अनुभूत करके परम स्वाधीनता प्राप्त कर लेता है। पूर्ण स्वाधीनता पाने पर ही हम पूर्णत्व को पा सकते हैं । हम जाने या न जाने, स्वाधीनता पाने की यह चेष्टा ही सब प्रकार की उपासना प्रणालियों की भित्ति है। भारत ने धर्म के इस सत्य स्वरूप को पूरी तरह से साक्षात् किया है, जबकि अन्य अनेक सम्प्रदायों ने धर्म के केवल बाहरी आवरण को ही महत्त्व दिया है। 'धर्म' तब तक 'धर्म' हो ही नहीं सकता जब तक कि कोई उसे अपने जीवन में न उतार ले और उतारे भी ऐसे कि उसकी जीवनचर्या से यह उद्घोष निकले कि 'सब ब्रह्ममय ही है।' धर्म-परिवर्तन, धर्म के नाम पर मारकाट, धर्म का लाभ उठाकर सांप्रदायिक दंगे करवाना व युद्ध करवानादि का इसमें कोई स्थान नहीं हो सकता।

यदि 'धर्म' का अर्थ उसके सर्वांगीण रूप में किया जाता है यानी की भारतीय अर्थ में, तो धर्म की पहली समकालीन प्रासंगिकता यह हो सकती है कि यदि कोई व्यक्ति (क्योंकि यह व्यक्तिगत साधना का विषय है) इसको अपने जीवन में साक्षात् करे तो वह सर्व सृष्टि के प्रति करुणामय, बंधुमय, मैत्रीमय एवं प्रेममय हो जाऐगा। यदि ऐसा हुआ तो झगड़े, वैमनस्य, भेदभाव, साम्प्रदायिकता, नरसंहार एवं युद्ध होंगे ही नहीं। जिसने यह जान लिया कि 'सर्व जगत् ब्रह्ममय है तथा आत्यंतिक रूप से सब एक ही हैं तो वह अपने स्वयं से ही क्यों लड़ेगा? प्रत्येक व्यक्ति इसकी अनुभूति कर ले तो सम्प्रदाय के नाम पर पिछले २००० वर्ष से जो झगड़े, मारकाट, नरसंहार व युद्ध हो रहे हैं, वे होंगे ही नहीं । कुछ व्यक्ति यह प्रश्न कर सकते हैं कि सब व्यक्ति तो ऐसा नहीं कर सकते। विरले ही लोग धर्म को इस भाँति साक्षात करने में सफल हो पाते हैं- कोई पतंजलि, कोई कृष्ण, कोई शंकर, कोई कबीर, कोई नानक, कोई कृष्णमूर्ति, कोई ओशो । लेकिन बात यह नहीं है। तथ्य यह है कि जो भी व्यक्ति धर्म की परिधि तथा उसके केन्द्र- इन दोनों का ख्याल सतत् रखेगा, वह अपने आस-पास के परिवेश में समता, भाईचारे, बंधुत्व, प्रेम, व परस्पर सम्मान को बढ़ाएगा ही। इस हेतु कोई सिद्ध व महायोगी होना ही जरूरी नहीं है। पदार्थ की उन्नति में सहयोग नोबल-सम्मानित भी देते हैं तथा छोटे स्तर के वैज्ञानिक भी। धर्म में भी ऐसे ही होता है तो इस धरा पर शांति, सद्भाव, करुणा, बंधुत्व, प्रेम व परस्पर आदर की भावना का विस्तार केवल मात्र 'धर्म' के साक्षात्कार से ही हो सकता है और यह कार्य धर्म-दर्शन के सहयोग से ही संभव है।

दूसरी 'धर्म' की समकालीन प्रासंगिकता यह हो सकती है कि क्योंकि 'विज्ञान' के शांति स्थापित करने के सारे प्रयास विफल हो चुके हैं तथा पिछली दो सदियों के वैज्ञानिकों के सारे वे दावे हवा हो चुके हैं जिनमें वे यह कहते थे कि विज्ञान से एक समय पर यह धरती स्वर्ग बन जाऐगी। स्वर्ग तो नहीं बनी, परन्तु नरक जरूरत बना दिया है विज्ञान ने इसे । विज्ञान जब-जब अपने स्तर पर एकांगी प्रयास करेगा तो हालत ऐसी ही होनी है। 'विज्ञान' इस धरा को स्वर्ग बनाने में सफल तभी हो सकता है जब वह 'धर्म' को साथ लेकर चले । अन्यथा तो आईंस्टीन जैसे महान् वैज्ञानिक भी अगले जन्म में पलम्बर ही बनना चाहेंगे, वैज्ञानिक नहीं । केवल 'पदार्थ' का विकास अधूरा विकास है, इसके साथ 'चेतना' का विकास भी तो चाहिए, जिसे केवल धर्म-दर्शन के सहयोग से किया जा सकता है । जिस दिन इस धरा की बागडोर वैज्ञानिकों एवं धर्मगुरुओं - दोनों के हाथों में होगी, केवल उसी दिन यह धरा शांतिपूर्ण, प्रेमपूर्ण एवं करुणापूर्ण बन सकेगी।

तीसरी, समकालीन युग की सबसे बड़ी समस्या जिसने भारत को सर्वसाधन संपन्न होने के बावजूद भी एक गरीब एवं

पिछड़ा हुआ देश बनाकर रखा हुआ है, वह है भ्रष्टाचार। इस भ्रष्टाचार का उन्मूलन केवल मात्र विज्ञान के सहारे नहीं हो सकता। इस हेतु 'धर्म' का सहारा लेना ही पड़ेगा। पश्चिम के देशों में तो भ्रष्टाचार न के बराबर है, क्योंकि उन्होंने एशिया व अफ्रीका के देशों को लूटकर अपने खजाने भर लिए हैं तथा वे अब भी लूट कर ही रहे हैं। भारत की भ्रष्टाचार की समस्या को वैज्ञानिक साधनों यथा कम्प्यूटर, सी.सी.टी.वी. कैमरों, मोबाईल तथा अन्य मशीनों से दूर नहीं किया जा सकता। इस हेतु 'धर्म' की मदद लेनी ही पड़ेगी। सत्य धर्म के प्रचार-प्रसार, उसकी साधना, उसकी अनुभूति एवं उसके अंतर्गत नैतिक आचार-विचार के नियम पालन से ही भ्रष्टाचार पर रोक लगाने में काफी सीमा तक सफलता मिल सकती है।

चौथे, नारी-शोषण की समस्या आज भारत में अपने क्रुरतम रूप में खड़ी है। 'शिक्षित व्यक्ति नारी का सम्मान करेगा, इस तरह की घोषणाएं कूड़ेदानों में फेंकी जा चुकी हैं। शिक्षित व्यक्ति ही नारी का अधिक शोषण कर रहे हैं- उससे दहेज मांगकर, उसकी हत्या करके, उससे बलात्कार करके या उसके ऊपर कटाक्ष करके । नारी में भी वही चेतना है जो पुरुष में है । नारी अर्धांगिनी है, नारी जगत् की जननी है, नारी पूजा के योग्य है- आदि, आदि। 'धर्म' के विभिन्न स्तरों की शिक्षाओं व साधना से नारी-शोषण को दूर करने में मदद मिल सकती है । विज्ञान तो भोगवादी है और ऐसे में विज्ञान की सीख लेकर तो व्यक्ति नारी का शोषण ही करेगा । परन्तु विज्ञान यदि धर्म को साथ में लेकर चले तो नारी-गरिमा की स्थापना इस धरा पर सहज ही हो सकती है ।

पाँचवें, वैदिक आर्य हिन्दू सनातन संस्कृति के उद्घोष 'सर्वे भवंतु सुखिन:', 'कृण्वंतों, विश्वमार्यम', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'ओऽम् शांति शांति शांति' आदि की स्थापना हमारे पूर्वजों ने धर्म के सहयोग से ही की थी। आज भी यह सब करने हेतु धर्म की महती जरूरत है। विश्व संस्था 'यू.एन.ओ.' भी विभिन्न षड्यंत्रों, शोषण, युद्धों एवं मल्टी-नेशनल कम्पनियों के हाथ का खिलौना बन चुकी है। एकमात्र आशा केवल 'धर्म' से ही बची है, परन्तु वह 'धर्म' सम्प्रदाय' नहीं अपितु 'धर्म' हो। जो धर्म-दर्शन की प्राथमिकताओं से अनुप्राणित हो।

छठे, धर्म की सही अवधारणा धर्म विषयक किसी भी विश्वास, अवधारणा, रूढ़ि, परम्परा, पूजा-पाठ, धार्मिक अनुभव एवं प्रत्ययों का तार्किक विश्लेषण करके उनकी आलोचनात्मक परीक्षा करने में सहयोगी हो सकती है । इससे धर्म पाखंड, ढोंग, अंधविश्वास, शोषण आदि से दूर रहता है । 'धर्म-दर्शन' का सही अध्ययन इस हेतु हमारे जीवन में काफी सहयोगी सिद्ध हो सकता है । 'धर्म-दर्शन' के सही अध्ययन से 'मेरा ही सम्प्रदाय सही है तथा बाकी सब नरक में ले जाएंगे' - यह सोच दूर की जा सकती है। कहने का आशय यह है कि साम्प्रदायिक कट्टरता की समाप्ति 'धर्म-दर्शन' की शिक्षा के प्रसार-प्रसार से हो सकती है ।

आठवां, 'धर्म-दर्शन' किसी सम्प्रदायवाद, मत या सिद्धांत का अध्ययन न करके मात्र 'धर्म' का अध्ययन करता है । इसका कार्य किसी सम्प्रदाय विशेष का खंडन-मंडन करना नहीं, अपितु सत्य की खोज करना है । समकालीन युग की यही तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जरूरत है। हिंसा, तनाव, ईर्ष्या, कुंठा, बदले की भावना, वासनादि से छुटकारा केवलमात्र 'धर्म-दर्शन' का सत्य अध्ययन व उसकी साधना करना ही हमारी मदद कर सकता है जिससे जीवन में वास्तविक तृप्ति, आनंद, उत्सव एवं उल्लास का संचार होने लगेगा।

अंत में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि धर्म अनेक नहीं होते । धर्म तो एक ही होता है । यदि धर्म कर्मकांड है, यदि धर्म मात्र वाद-विवाद है तथा यदि धर्म अंधविश्वास है तो उसकी संख्या कितनी भी हो सकती है। लेकिन धर्म का यह रूप उसका आवरण मात्र है, उसकी परिधि मात्र है, वास्तविक धर्म नहीं है । कर्मकांड में भेद हो सकता है, परिधि में फर्क हो सकता है तथा विश्वास भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु केन्द्र पर कोई भेद नहीं हो सकता । केंद्र पर या मूल में धर्म मात्र धर्म है । वहां पर पहुंचना साधना से हो सकता है । यह अनुभूतिगम्य है । केंद्र पर धर्म है, परिधि पर सम्प्रदाय हैं । केन्द्र को भूलकर जब-जब परिधि को महत्त्व दिया गया यानी कि धर्म को भूलकर उसके बाहरी रूप कर्मकांड या सम्प्रदाय को महत्त्व दिया गया, तब-तब भयानक नरसंहार हुए हैं । धर्म की प्रासंगिकता इस धरा हेतु तभी सार्थक हो

सकती है जब धर्म में अर्थ को धर्म-दर्शन में सन्दर्भ में समझा जाएगा ।

संदर्भ :

१. महर्षि जैमिनी, मीमांसासूत्र, १/१/१

२. उपरिवत्, १/१/२

३. उपरिवत्, १/१/३

४. ऋग्वेद, १/५१/४

५. उपरिवत्, ३/५५/१४

६. उपरिवत्, ४/१/११

७. उपरिवत्, ७/११/१

८. उपरिवत्, ८/६/२

९. उपरिवत्, १०/१३३/६

१०. सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, धर्म-दर्शन की रूपरेखा, पृ. ३६

११. ओशो रजनीश, महावीर वाणी, भाग-२, पृ. २२

१२. जोशी, कालिदास, जे. कृष्णमूर्ति डिमिस्टफाईड, पृ. ८१

१३. उपरिवत्, पृ. २१

१४. स्वामी विवेकानंद, धर्म-रहस्य, पृ. ६

***

जैन परम्परा में मंत्र-तंत्र-यंत्र विषयक सामग्री का मूल्यांकन

ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

जैन परम्परा में प्राचीन काल से मंत्रों और विद्याओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इनका सम्बन्ध द्वादशांग के बारहवें अंग '**दिट्ठिवाय**' (दृष्टिवाद) से है, जिसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच भेद हैं। इनमें पूर्वगत के उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार ये चौदह भेद हैं। इनमें से विद्यानुवाद नामक दशवाँ पूर्व पन्द्रह वस्तुगत तीन सौ प्राभृतों के एक करोड़ दश लाख पदों के द्वारा अंगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्पविद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं और अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, चिह्न इन आठ महानिमित्तों का कथन करता है। अकलंकदेव ने कहा है- समस्त विद्या अष्टौ महानिमित्तानि तद्विषयो रज्जुराशिविधिः क्षेत्रं श्रेणी लोकप्रतिष्ठा संस्थानं समुद्घातश्च यत्र कथ्यते तद्विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठ-प्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पंचशतानि। अन्तरिक्ष-भौमांग-स्वर-स्वप्न-लक्षण-व्यंजन-छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।[१]

इसी प्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका में कहा गया है- विज्जाणुवादं णाम पुव्वं पण्हारसण्हं वत्थूणं (१५) तिण्णिसयपाहुडाणं (३००) एग-कोडि-दस-लक्खपदेहि (१,१०,०००००) अंगुष्ठ-प्रसेनादीनां अल्पविद्यानां सप्तशतानि रोहिण्यादीनां महाविद्यानां पंचशतानि अन्तरिक्ष भौमांगस्वर-स्वप्नलक्षणव्यंजनछिन्नान्यष्टौ महानिमित्तानि च कथयति।[२]

आचार्य शुभचन्द्र अंगपण्णत्ति में कहते हैं कि-

विज्जाणुवादपुव्वं पयाणि इगिकोडि होंति दसलक्खा।
अंगुट्ठपसेणादी लहुविज्जा सत्तसयमेत्थ।।
पंचसया महविज्जा रोहिणिमुहा पकासये चावि।
तेंसिं सह्ववसत्तिं साहणपूयं च मंतादि।।
सिद्धाण फललाहे भोमंगयणंगसद्दछिण्णाणि।
सुमिणंलक्खणविंजण अट्ठणिमित्ताणि जं कहइ।।[३]

गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका में भी कहा गया है-

विद्यानां अनुवादः अनुक्रमेण वर्णनं यस्मिन् तद्विद्यानुवादं दशमं पूर्व, तच्च सप्तशतानि अङ्गुष्ठ- प्रसेनाद्यल्पविद्याः रोहिण्यादिपंचशतमहाविद्याः तत्स्वरूपसामर्थ्यसाधन-मंत्र-तंत्र पूजाविधानानि सिद्धविद्यानां फलविशेषान् अष्टमहानिमित्तानि (तानि कानि) अन्तरीक्षभौमांगस्वरस्वप्नलक्षणव्यंजन छिन्ननामानि च वर्णयति। तत्र द्विलक्षगुणितपंचपंचाशत्पदानि एककोटिदशलक्षाणीत्यर्थः।[४]

वहाँ इन विद्याओं के साधन की विधि तथा फल का भी वर्णन है। तत्त्वार्थवार्तिक, षट्खण्डागम की धवला टीका,

गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और अंगपण्णत्ति ग्रन्थों में अष्टांग महानिमित्तों का वर्णन विद्यानुवाद पूर्व में कहा गया है। हरिवंशपुराण में लघु और महाविद्याओं को विद्यानुवादपूर्व में तथा सूर्य, चन्द्रमा, आदि ज्योतिषी देवों के संचार और सुरेन्द्र, असुरेन्द्रकृत तिरेसठ शलाकापुरुषों के कल्याण का विस्तृत वर्णन तथा आठ महानिमित्तों और अनेक शकुनों का वर्णन कल्याणवादपूर्व में बताया गया है-

कोटि च दशलक्षाश्च यत्पदानां प्रवर्तिता।
तद्विद्यानुप्रवादाख्यं पूर्व दशममंत्र च।।
लध्वोऽङ्गष्ठप्रसेनाधा विद्याः सतशतानि तु।
रोहिण्याधा महाविद्या प्रोक्ताः पंचशतानि च।।
कोट्यः षड्विंशतिर्यस्मिन् पदानां सुप्रतिष्ठितः।
कल्याणनामधेयं तत् पूर्वमन्वर्थनामकम्।।
ज्योतिर्गणस्य संचारं त्रिषष्टिपुरुषश्रितम्।
सुरासुरेन्द्रकल्याणं वर्णयत्वतिविस्तरम्।।
स्वप्नान्तरिक्षभौमांगस्वरव्यंजनलक्षणम्।
छिन्नमित्यष्टधामिज्ञं निमित्तं शाकुनं तथा।।[५]

दृष्टिवाद का पाँचवाँ भेद चूलिका है। इसके पाँच भेद हैं-१. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता और ५. आकाशगता। जलगता चूलिका में जल में गमन, जल का स्तम्भन, अग्नि का स्तम्भन, अग्नि का भक्षण, अग्नि पर बैठना, अग्नि में प्रवेश करना आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण आदि का वर्णन है। स्थलगता मेरु, कुलाचल, भूमि में प्रवेश करने, शीघ्र गमन करने आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन करती है। मायागता चूलिका में मायावी रूप, इन्द्रजाल (जादूगरी), विक्रिया आदि के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि कहे गये हैं। रूपगता चूलिका सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरण, नर खरगोश, बैल, व्याघ्र आदि रूप परावर्तन के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य, उत्खनन आदि का लक्षण और धातुवाद, रसवाद, खदान आदि वादों का कथन करती है। आकाशगता चूलिका में आकाश में गमन करने के कारण भूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया है। उक्त पाँचों चूलिकाओं में प्रत्येक के दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ (२०९८९२००) पद हैं, जिनमें विभिन्न मंत्र-तंत्रों का विशाल संग्रह किया गया है। षट्खण्डागम की धवला टीका का मूल कथन इस प्रकार है- चूलिया पंचविहा, जलगया थलगया मायागया रूवगया आगासगया चेदि। तत्थ जलगया दो-कोडि-णवलक्खखऊण-णबुइ-सहस्स-वे-सद-पदेहि (२०९८९२००) जलगमण जलत्थंभण-कारण-मंत्र-तंत्र-तवच्छराणिवण्णेदि। थलगया णाम तेत्तिएहिं पदेहि (२०९८९२००) भूमिमगमणकारण-मंत्र-तंत्र तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि-संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि। मायागया तेत्तिएहि चेय पदेहि (२०९८९२००) इंदजालं वण्णेदि। रुवगया तेत्तिएहि चेय पदेहि (२०९८९२००) सीह-हय-हरिणादि-रुवायारेण परिणमणहेदु-मंत-तंत-तवच्छरणणि चित्त-कट्ठ-लेप्प-लेण-कम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि। आयासगया णाम तेत्तिएहि चेय पदेहि (२०९८९२००) आगासगमणमिणित्त मंत-तंत-तवच्छरणणि वण्णेदि।[६]

गोम्मटसार जीवकाण्ड की जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृतटीका में चूलिकाओं के विषय का विवेचन इस प्रकार मिलता है -जलगता चूलिका जलस्तम्भन-जलगमनाग्निस्तम्भाग्निभक्षणाग्न्यासनाग्निप्रवेशजलस्तम्भन-जलगमनाग्नि स्तम्भाग्नि भक्षणाग्न्यासनाग्निप्रवेश मंत्रतंत्रतपश्चरणादीन् वर्णयति। स्थलगता चूलिका मेरुकुलशैलभूम्यादिषु प्रवेशनशीघ्र गमनादिकारणमंतंत्र-तपश्चरणादीन् वर्णयति। मायागता चूलिका मायारूपेन्द्रजाल-विक्रियाकारण-मंत्रतंत्र तपश्चरणादीन्वर्णयति। रूपगता चूलिका सिंहकरि-तुरगरुरुनरतरु-हरिणशशकवृषभव्याघ्रादिरूपपरावर्तन कारण तुरगरुरुनरतरु-हरिणशशकवृषभ व्याघ्रादिरूप परावर्तनकारण चित्रकाष्ठ-लेप्योत्खननादिलक्षण- धातुवादरसवादखन्यावादीचित्रकाष्ठ-लेप्योत्खननादिलक्षण-

धातुवादरसवादखन्यावादी वर्णयति। आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारण- मंत्र-तंत्र-तपश्चरणादीन् वर्णयति।[7]

आचार्य शुभचन्द्र ने चूलिकाओं के वर्णन में मंत्र-तंत्र के साथ यन्त्र का भी उल्लेख किया है-

तच्चूलिया सुभेया पंच वि तह जलगया हवे पढमा।
जलथंभण जलगमणं वण्णदि विण्हिस्स भक्खं जं।।

वेसणसेवणमंतंतंतवचरणपमुहविहिभेए।
णहणहदुगणवअडणवणहदुण्णि पयाणि अंककमे।।

मेरुकुल-सेलभूमीपमुहेसु पवेस सिग्घगमणादि।
कारणमंतंतंतवचरणणिरुवया रम्मा।।

तित्तियप्पमेत्ता हु थलगयसण्णामचूलिया भणिया।
मायागया च तेत्तियपयमेत्ता चूलिया णेया।।

मायारुवमहेंदजालविकिरियादिकारणगणस्य।
मंततवतंतयस्य य णिरुवग्ग कोदुयाकलिदा।।

रुवगया पुण हरिकरिकरितुरंगरुरुणरतरुमियवसहाणं।
ससवग्घादीणं पि य रुवपरावत्तहेदुस्स।।

तवचरणमंततंतयंतस्य परुवगा य वयसिला।
चितकटङ्गलेव्वुवक्खणणादिसु लक्खणं कहदि।।

पारदपरियट्टणयं रसवायं धादुवायक्खणं च।
या चूलिया कहेदि णाणाजीवाण सुहहेदू।।

आयासगया पुण गयणे गमणस्स सुमंततंतयंताइं।
हेदूणि कहदि तवमपि तेत्तियपयमेत्तसंबद्धा।।[8]

इस प्रकार मंत्र-तंत्र के प्रसंग में इनके साथ यंत्र का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य शुभचन्द्र ने अंगपण्णत्ति में किया है। भैरवपद्मावतीकल्पकार ने भी यंत्रों का प्रयोग किया है।

जैन परम्परा का मूलमंत्र 'णमोकार मंत्र' है, जिसे अनादि-निधन कहा जाता है। इसमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, इसलिए इसे नमस्कार मंत्र भी कहा जाता है। इस मंत्र का प्राचीनतम तथा अपूर्ण उल्लेख सम्राट खारवेल के हाथी गुम्फा लेख में उपलब्ध होता है। वहाँ केवल 'नमो अरिहंताणं' और 'नमो सवसिधानं' ये दो पद ही पाये जाते हैं।[9] इसके पांचों पदों का पाठ षट्खण्डागम, प्रज्ञापना, भगवती और कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

ओंकारमय (अरहन्त, अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय और मुनि) णमोकार मंत्र मूलतः विशुद्ध आध्यात्मिक मंत्र है, इसके जाप से साधक को विशेष ऊर्जा प्राप्त होती है। वह ऊर्जा साधक के कर्ममल को जलाकर नष्ट कर देती है, जिससे उसकी आत्मा विशुद्ध हो जाती है और अन्ततः साधक मोक्षसिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस मंत्र का उपयोग स्तंभन, वशीकरण, उपसर्ग निवारण आदि कार्यों में भी होता रहा है। जैन साहित्य में इस मंत्र के अनेक चमत्कारिक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[10]

जैन परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों के शासनदेव स्वीकार किये गये हैं, वे यक्ष और यक्षी युगलरूप होते हैं। ये शासनदेव

तीर्थंकरों के आराधकों के संकटों का निवारण करनेवाले तथा अनेक सिद्धियों के दाता माने गये हैं। जैन परम्परा के मंत्र-तंत्र विषयक साहित्य में पहले तीर्थंकर ऋषभदेव की शासनदेवी चक्रेश्वरी, आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की शासनदेवी ज्वालामालिनी, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका अपरनाम कूष्माण्डिनी और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की आराधना विशेषरूप से की गई है। यहाँ सरस्वती देवी का भी खूब प्रभाव दिखाई देता है। उक्त सभी के कल्प-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। स्तुति मंत्रों के जाप और होम करने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उन सिद्धियों का स्व-पर उपकार के लिए प्रयोग तंत्र और यंत्र के माध्यम से किया जाता है। मंत्र, तंत्र, यंत्र सिद्धि-विधान एवं प्रयोग आदि का विस्तृत विवरण सम्बद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। धवलाटीका (पु. १३,५/५/८२/३४९) में मंत्र-तंत्र के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'जोणिपाहुड' का उल्लेख हुआ है। क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी (जै.सि.को.१, पृ. ३४०) ने उसे धरसेन (ई.४३) द्वारा रचित बताया है। किन्तु दुर्भाग्य से उक्त ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है।

जैन परम्परा के मंत्र-तंत्र और यंत्र विषयक विशेष जानकारी के लिए तत्सम्बन्धी साहित्य का कालक्रम से संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

अनुभवसिद्ध मंत्र द्वात्रिंशिका

इसके कर्ता आचार्य भद्रगुप्त हैं। डॉ. एच.आर. कापडिया ने इसका रचनाकाल विक्रम की सातवीं सदी माना है।[११] इस द्वात्रिंशिका का प्रकाशन 'भैरव-पद्मावती-कल्प' के तीसवें परिशिष्ट के रूप में सन् १९३७ में अहमदाबाद से हुआ है। रचनाकार ने ग्रन्थारम्भ में इसे 'मंत्र द्वात्रिंशिका' तथा अन्त में 'महामंत्र द्वात्रिंशिका' कहा है। इसमें कुल पाँच अधिकार हैं, जिनमें क्रमशः २०, ४२, ४१, ५० एवं २४ पद्य हैं। मंगल पद्य के बाद कहा गया है कि स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जंभन, विद्वेषण, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि को विधि के अनुसार इस शास्त्र में कहूँगा। प्रथम अधिकार के आठवें श्लोक में बताया है[१२] कि 'विद्याप्रवादपूर्व के तीसरे प्राभृत से श्री वीर स्वामी के द्वारा कर्मघात के निमित्त यह उद्धृत किया गया है।' प्रथम अधिकार को 'सर्वकर्मकरण' नाम दिया गया है। द्वितीय अधिकार में अपराजिता देवी की सिद्धि प्राप्त करने वाले को लोक में अपराजित बताया गया है। यहाँ पार्श्वयक्ष की सिद्धि का विधान भी कहा गया है। तृतीय अधिकार में स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन आदि के मंत्र एवं विधियाँ बतलाई गई हैं। यहाँ 'पिशाचिनी' नामक विद्या का सिद्धिविधान भी कहा गया है। तीसवें पद्य में मंत्रविधि को 'परमागमसंप्रोक्तं' कहा है। यहाँ यह भी बताया गया है कि मनुष्य जिस-जिस सांसारिक कार्य का विचार करता है इस मंत्र के प्रभाव से उसे वह सब कुछ प्राप्त होता है।[१३]

चतुर्थ अधिकार में अम्बिका देवी, सरस्वती देवी और पद्मावती देवी की आराधना का विधान बताते हुए उन्हें सर्वकार्य साधिका निरूपित किया है। इस अधिकार के तीसवें पद्य में 'सेतुबन्ध' काव्य का उल्लेख प्राप्त होता है। आगे कहा है कि मनीषियों को सत्पात्रों में सिद्धि का व्यय करते रहना चाहिए, अन्यथा सिद्धि क्षीण हो जाती है। पंचम अधिकार में गुरु-शिष्य दोनों के लिए दिशानिर्देश हैं। अन्त में ग्रन्थकार ने कहा है कि योग्य पात्रों के हित की कामना से मैंने श्रुतसागर का आलोडन करके महारत्नों के समान इन मंत्रों का कथन किया है।[१४]

ज्वालामालिनी कल्प

इसके कर्ता इन्द्रनन्दि हैं। इनके गुरु का नाम बप्पनन्दि या बप्पणनन्दि है। ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार इसका रचनाकाल शक सम्वत् ८६१ (ई. सन् ९३९) है।[१५] इसकी एक हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धांत भवन, आरा में सुरक्षित है। इसका प्रकाशन सन् १९६६ में मूलचंद किसनदास कापडिया, सूरत ने किया है। इसमें स्व. पं. चन्द्रशेखर शास्त्री की भाषा टीका भी छपी है।[१६] इस ग्रन्थ का समीक्षात्मक विवरण अनेकान्त, वर्ष-१, पृ. ४३० एवं ५५५ आदि पर पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने प्रकाशित किया था। इसमें कुल पाँच सौ श्लोक हैं। ग्रन्थ दस अधिकारों में विभक्त है–१. मंत्री, २. ग्रह, ३. मुद्रा, ४. मंडल, ५. कटुतैल, ६. यंत्र, ७. वश्यतंत्र, ८, स्नपन विधि, ९. नीराजन विधि और १०. साधन विधि।

ग्रन्थ में ज्वालामालिनी देवी की स्तुति, मंत्र एवं सिद्धि विधान वर्णित है। प्रथम पद्य में चन्द्रप्रभ की वन्दना की गई है।

यहाँ ज्वालामालिनी देवी का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उसका शरीर श्वेत वर्ण है, वाहन महिष है, यह उज्ज्वल आभूषणों से युक्त है, इसके आठ हाथ हैं, जिनमें क्रमशः त्रिशूल, पाश, मत्स्य, धनुष, मंडल, फल, वरद (अग्नि) और चक्र धारण किये हैं। इस ग्रन्थ में ज्वालामालिनी देवी की सिद्धि विधान का विस्तार से कथन करने के बाद कौमारी देवी, वैष्णवी देवी, बाराही देवी, ऐन्द्री देवी, चामुण्डादेवी एवं महालक्ष्मी देवी की पूजनविधि कही गई है। ग्रन्थ का वैशिष्ट्य दिखाने के लिए विदुषी कमलश्री का वृत्तान्त दिया गया है।[१७] कमलश्री ग्रह-बाधा से पीड़ित थी, जिसे हेलाचार्य (एलाचार्य) ने नीलगिरि के शिखर पर ज्वालामालिनी देवी की आराधना से मंत्र प्राप्त करके दूर किया था।

रिष्ट समुच्चय

यह आचार्य दुर्गदेव की रचना है। इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है। गाथाओं की संख्या २६१ ह। ग्रन्थोल्लेख (२६०-६१) के अनुसार लक्ष्मीनिवास राजा के राज्य में कुम्भनगर के शान्तिनाथ जिनालय म संवत् १०८९ श्रावणशुक्ला एकादशी को मूलनक्षत्र में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसमें अनेक मंत्र आये हैं। वैसे मूलतः यह निमित्त विषयक रचना मन्त्रमहोदधि है। यह ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित है।

विद्यानुशासन

इसके कर्ता जिनसेन के शिष्य मल्लिषेण हैं। ये बड़े मन्त्रवादी थे। महापुराण में इन्होंने स्वयं को 'गारुडमंत्रवादवेदी' लिखा है। विद्यानुशासन मंत्रशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। इसमें चौबीस अधिकार, पाँच हजार मंत्र तथा लगभग सात हजार श्लोक हैं।[१८] डॉ. एच. आर. कापडिया ने इसे संग्रह ग्रन्थ कहा है।[१९] इसमें मल्लिषेण के अन्य ग्रन्थों का अधिकांश भाग पाया जाता है। डॉ. कापडिया ने संभावना व्यक्त की है कि विद्यानुशासन द्राविड़ संघ के मतिसागर की रचना हो सकती है। इस ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन सम्भवतः आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज की प्रेरणा से कुछ वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु प्रयत्नशील रहने पर भी मुझे उसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिल पायी। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १११० के आस-पास है।

भैरव-पद्मावती-कल्प

ग्रन्थानुसार यह भी आचार्य मल्लिषेण (१०/५६) की रचना है। इन्होंने स्वयं को जिनसेन का शिष्य लिखा है (१०/५५) ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्य में इन्हें 'उभयभाषाकविशेखर' कहा गया है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की श्लोक संख्या चार सौ (१०/५५) लिखी है, किन्तु प्रकाशित संस्करण में यह संख्या ३११ है। इस पर बन्धुषेण की संस्कृत टीका है। यह ग्रन्थ प्रो. के. वी. अभ्यंकर द्वारा सम्पादित तथा साराभाई मणिलाल नवाब के गुजराती अनुवाद के साथ सन् १९३७ में अहमदाबाद से तथा मूल एवं चन्द्रशेखर शास्त्री के हिन्दी अनुवाद के साथ मूलचन्द्र किशनदास कापडिया द्वारा १९५२ में सूरत से प्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ जैन सिद्धांत भवन, आरा में संगृहीत हैं।[२०] ग्रन्थकार तथा टीकाकार दोनों ने सर्वप्रथम पार्श्वनाथ को नमन किया है। ग्रन्थ दश अधिकारों में विभाजित है। (१/५)

मन्त्रिलक्षण नामक पहले अधिकार में साधक-मन्त्री की योग्यता का निरूपण किया गया है। दूसरे सकलीकरण अधिकार में अंगन्यास, दिक्बन्धन, ध्यान, अमृतस्थान आदि के विषय में बतलाया गया है। ध्यान के लिए पद्मावती की जिस मुद्रा का अंकन किया गया है, वैसे लक्षणों से युक्त पद्मावती की प्रतिमा ईडर के जैन मन्दिर में बतायी गई है।[२१] तीसरे देव्यर्चनाधिकार में शान्तिकादि षट्कर्मों के निमित्त दिशा, काल, आसन, पल्लव और अंगुलि का विधान कहा गया है। अनन्तर यंत्र लेखन विधि, आह्वानन, स्थितीकरण, सन्निधीकरण, पूजाविधान और विसर्जनरूप पंचोपचारी पूजाविधि वर्णित है। मूलमंत्र के तीन लाख जाप पद्मपुष्पों से करने पर पद्मावती देवी सिद्ध हो जाती है। पश्चात् षडक्षरी, एकाक्षरी मंत्र, होम विधान तथा पार्श्वनाथ-यक्ष को सिद्ध करने की विधि बतायी गयी है। चौथे अधिकार में बारह यंत्रों एवं उनके मंत्रों का कथन है। पाँचवें अधिकार में स्तंभन मंत्रों एवं यंत्रों का विधान है। छठवें अधिकार में अंगनार्षण मंत्र-यंत्र बताये गये हैं। सातवें अधिकार में वशीकरण के अनेक मंत्रों और यंत्रों का वर्णन है। आठवें अधिकार में दर्पण निमित्त मंत्र एवं साधन विधि, दीप निमित्त और कर्णपिशाची की सिद्धि का विधान है। नवमें वशीकरण तंत्र नामक अधिकार में अनेक औषधीय

तन्त्रों का उल्लेख है, जो स्त्री-पुरुषों को आकर्षित करने तथा वश में करने के लिए उपयोगी बताये गये हैं। इनमें जनमोहन तिलक, चूर्ण भक्षण, अंजन विधान, घूतजय योग, जलूका प्रयोग आदि का कथन प्रमुख है। दशवें अधिकार में अष्टांग 'गारुड-विद्या' का प्रतिपादन है। इसमें सर्प को वश में करने, पकड़ने, निर्विष करने आदि के मंत्र हैं। यहाँ नागप्रेषण, स्तम्भन, कुण्डलीकरण, कुंभप्रवेशन, रेखा, विषभक्षण आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में मंत्रदान विधि कही गई है, इसमें सम्यक्त्व रहितपुरुष को मंत्र देने का निषेध है। पूरे ग्रन्थ में ४६ यंत्रों का उल्लेख पाया जाता है।

ज्वालिनी कल्प

इसके कर्ता भी आचार्य मल्लिषेण हैं। डॉ. एच. आर. कापडिया ने इसका रचना काल वि. सं. १११० के लगभग माना है।[२२] पं. जुगल किशोर मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष-१ पृ. ४२८ पर जैनेन्द्र सिद्धांत कोष भाग-१, पृ. ३४३ पर तथा जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३ पृ. २३० पर ज्वालिनी कल्प का उल्लेख है। इसमें ज्वालामालिनी देवी की स्तुति है। यह इन्द्रनन्दि के ज्वालामालिनी कल्प से भिन्न है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति सेठ माणिकचन्द जी बम्बई के संग्रह में होने की सूचना है।[२३]

सरस्वती कल्प

यह भी मल्लिषेण की रचना है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में इनका नामोल्लेख है। ग्रन्थ में 'सरस्वती कल्प' तथा 'भारती कल्प' इन दोनों नामों का भी उल्लेख है। इसमें कुल ७८ पद्य तथा बीच-बीच में कुछ गद्य भी उपलब्ध हैं। यह 'भैरवपद्मावती कल्प' के ग्यारहवें परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित है। इसकी एक हस्त-लिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धांत भवन, आरा के संग्रह में सुरक्षित है।[२४] ग्रन्थ में कहा गया है कि सांख्य, मीसांसक, चार्वाक, सौगत और दिगम्बर ज्ञान प्राप्त करने के लिए सरस्वती की आराधना करते हैं।[२५] सरस्वती के प्रसाद से सांसारिक लोग कवित्व, वाग्मित्व, वादित्व आदि प्राप्त करते हैं।

ग्रन्थ में सरस्वती का स्वरूप, चिह्न, साधक, साधन योग्य स्थान, आसन, सकलीकरण, पीठस्थापन आदि के मंत्र तथा देवी का मूलमंत्र बतलाया गया है। आगे सिद्धि-विधान शान्तिक यंत्र, वश्य यंत्र, द्वादश रंजिका यंत्र, सौभाग्यरक्षा यंत्र आदि की लेखन एवं प्रयोग विधि का विवेचन है। सरस्वती की सिद्धि का प्रयोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण, शान्तिक, पौष्टिक आदि समस्त कार्यों में किये जाने का उल्लेख है।

कामचाण्डाली कल्प

यह मल्लिषेणसूरि की अद्‌भुत रचना है। ग्रन्थोल्लेख के अनुसार वे रचना करते समय पूरी कृति को अपने मन में अंकिम कर लेते थे, जिसे बाद में भूमि के पत्थर पर यथावत लिपिबद्ध करते थे। इससे उनकी स्मरण शक्ति का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। इसका रचना काल भी लगभग वि.सं. १११० स्वीकार किया गया है।[२६] इसका दूसरा नाम सिद्धायिका कल्प भी कहा जाता है। इसके प्रकाशित होने की जानकारी नहीं मिली है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इसकी हस्तलिखित प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई में उपलब्ध हैं।[२७] ग्रन्थ पाँच अधिकारों में विभाजित है-१. साधक, २. देव का आराधन, ३. अशेषजन वशीकरण ४. यंत्र-तंत्र और ५. ज्वालागर्दभ लक्षण। ग्रन्थ में कामचाण्डाली की स्तुति करते हुए उसका स्वरूप इस प्रकार दिया है-

भूषिताभरणैः सर्वैर्मुक्तकेशा निरम्बरा।
पातु मां कामचाण्डाली कृष्णवर्णा चतुर्भुजा।। २।।

फलकांचकलशकरा शाल्मलिदण्डोद्भमुरगोपेता।
जयतात् त्रिभुवनवन्द्या जगति श्री कामचाण्डाली।। ३।।[२८]

अर्थात् जो सब आभूषणों से भूषित है, वस्त्र-रहित नग्न है, जिसके सिर के बाल खुले हुए हैं, ऐसी श्यामवर्णा कामचाण्डाली मेरी रक्षा करे। जिसके हाथ में फल, कांच? और कलश हैं, जो शाल्मलिदण्ड को लिये हुए है और सर्प से युक्त है, वह त्रिभुवन वन्दनीया कामचाण्डाली जयवंत हो।

मंत्राधिराज कल्प

आचार्य सागरचन्द्र ने इसे वि.सं. १२५० के आस-पास रचा था। यह ग्रन्थ 'जैनस्तोत्रसन्दोह,' भाग-२ में प्रकाशित है।[२९] चार सौ चौबीस पद्यों का यह ग्रन्थ पाँच पटलों में विभाजित है। प्रथम पटल में भगवान् पार्श्वनाथ को नमन एवं गुरु वन्दना करके रचना का उद्देश्य जिनभक्ति बताया है। प्रस्तावना के रूप में मंत्रदान विधि का निरूपण है। दूसरे पटल में विषय निर्देश करते हुए मंत्राधिराज के बीजाक्षरों का प्रभाव कहा गया है। इसके पद्य-१३ में आचार्य अभयदेवसूरि का तथा १४ में आचार्य पद्मदेव का नामोल्लेख है। तीसरे पटल में पार्श्वनाथ की स्तुति, १६ विद्यादेवियों, २४ तीर्थंकरों की माताओं, उनके २४ यक्षों और यक्षियों का कथन किया गया है। अनन्तर तीर्थंकरों के लांछन, उनके शरीर का वर्ण और ऊँचाई का निर्देश है। नवग्रहों और दश लोकपालों द्वारा तीर्थंकरों की सेवा करने का उल्लेख है। चौथे पटल में सकलीकरण, भूमि, जल और वस्त्रशुद्धि के मंत्र, पाँच मुद्राएँ, आत्मरक्षा, पार्श्वयक्षिणी, धरणेन्द्र, कमठ, जया, विजया, पद्मावती और क्षेत्रपाल के मंत्र बतलाये गये हैं। अनन्तर ध्यान, पूजन, जप और होम का विधान वर्णित है। पाँचवें पटल में ऋतुओं, योगों, आसनों, मुद्राओं और यंत्रों के विशिष्ट ध्यान आदि का निरूपण हुआ है।

मंत्रराज-रहस्य

आचार्य विबुधचन्द्रसूरि के शिष्य सिंहतिलकसूरि इसके कर्ता हैं। ग्रन्थ का परिमाण आठ सौ श्लोक है। ग्रन्थ प्रशस्ति के अनुसार इसका रचना काल वि.सं. १३३२ है। ग्रन्थ पर लीलावती नामक स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति है। इसमें अनेक गच्छों के सूरिमंत्रों का संग्रह किया गया है। यहाँ सूरिमंत्र के पाँच पीठ बताये हैं। ग्रन्थ में एक हजार मंत्र होने का उल्लेख मिलता है।[३०] जिनरत्नकोष (पृ.३०१) में भी इसका उल्लेख है।

वर्धमान-विद्याकल्प

यह मंत्रराज रहस्य आदि के कर्ता आचार्य सिंहतिलकसूरि की रचना है। इसका रचना काल वि.सं. १३४० के लगभग है। ग्रन्थकार ने इसे अनेक प्रकरणों में विभक्त किया है। पहले तीन प्रकरणों में क्रमशः ८९,७७ और ३६ पद्य हैं। इस कृति में सूरिमंत्र, कलिकुंड पार्श्वनाथ मंत्र, पंचपरमेष्ठी मंत्र, ऋषिमंडल स्तव-यन्त्र और कुछ अन्य मंत्रों का निरूपण किया गया है। वर्धमान विद्या का उपयोग दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि कार्यों में किया जाता है।[३१] जिनरत्नकोष में (पृ. ३४३-४४) भी इसका उल्लेख है।

अद्भुत-पद्मावती-कल्प

इसके कर्ता यशोभद्र उपाध्याय के शिष्य आचार्य श्रीचन्द्रसूरि हैं। डॉ. एच.आर. कापडिया ने इसका रचनाकाल विक्रम की १४वीं सदी लिखा है। ग्रन्थकार ने इसे छह प्रकरणों में विभक्त किया है। इसके आदि के प्रथम दो प्रकरण अनुपलब्ध हैं। शेष 'भैरवपद्मावती कल्प' के पहले परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हैं। तीसरे प्रकरण में सकलीकरण विधान, चौथे में यंत्र सहित पद्मावती देवी की आराधना का क्रम, पाँचवें प्रकरण में योग्य पात्र का लक्षण तथा छठवें प्रकरण में बन्धन मंत्र, परविद्याछेदन मंत्र आदि कहे गये हैं। इसमें प्रत्यंगिरा, अम्बिका, ज्वालामालिनी और चक्रेश्वरी का उल्लेख है। ग्रन्थकार ने 'इन्द्रनन्दि' का भी उल्लेख किया है और उन्हें 'मंत्र-वादिविद्याचक्रवर्तिचूड़ामणि' कहा है। यहाँ पद्मावती के विषय में कहा गया है कि हे देवी! तुम जैन परम्परा में पद्मावती, शैव परम्परा में गौरी, बौद्धागम में तारा, सांख्यागम में प्रकृति, भाट्टपरम्परा में गायत्री, कौलिक सम्प्रदाय में वज्रा हो और सम्पूर्ण विश्व में तुम्हारा यश व्याप्त है, इसलिए तुम्हें मेरा नमस्कार है।[३२] इसी प्रकार का एक पद्मावती स्तोत्र में भी पाया जाता है।

सरस्वती कल्प

यह रचना गद्य-पद्यमय है। इसके कर्ता आचार्य बप्पभट्टिसूरि हैं। प्रारम्भ में सरस्वती की स्तुति की गई है। पश्चात्, अर्चन मंत्र, आत्मशुद्धि मंत्र, सकलीकरण, सारस्वत यंत्रविधि कही गई है। आगे सरस्वती को सिद्ध करने की विधि वर्णित है। साथ में आचार्य बप्पभट्टिसूरिकृत आम्नाय भी है। यहाँ कहा गया है कि मूलमंत्र का एक लाख जप तथा दशांश होम करने से सरस्वती सिद्ध हो जाती है। सरस्वती की सिद्धि से अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त होती है। इसका प्रकाशन 'भैरव पद्मावती कल्प' के परिशिष्ट में हुआ है।

चिन्तामणि कल्प

इसका प्रकाशन 'जैनस्तोत्र-सन्दोह' भाग-२ पृ. ३०-३४ पर हुआ है। इसमें कुल ४७ पद्य हैं। अन्तिम पद्य में रचनाकार का नाम 'आचार्य धर्मघोषसूरि' लिखा है तथा उन्हें आचार्य मानतुंग का शिष्य कहा गया है। इसमें पार्श्वनाथ को प्रणाम करके 'चिन्तामणि कल्प' लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। इसमें साधक का स्वरूप, यन्त्रोद्धार और साधन की विधि बताई है। यह भी कहा है कि वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्वेषण और उच्चटन कर्मों का मन में विचार भी नहीं करना चाहिए, केवल धर्मवृद्धिकारक शान्तिक और पौष्टिकता का ही विचार करना चाहिए। डॉ. एच.आर. कापडिया ने इसका समय १५-१६वीं सदी माना है।

रक्त पद्मावती कल्प

अज्ञात कर्तक यह रचना 'भैरवपद्मावती कल्प' में प्रकाशित है। यह केवल गद्यात्मक है। इसमें मंत्र, यंत्र और पूजा की विशिष्ट विधि बतलाई गई है। यहाँ पद्मावती की सिद्धि को सर्वकर्मकर कहा है और यंत्र को भी आकर्षणादि षट्कर्मकर बताया है। एच. आर. कापडिया ने अनेक मूर्तियों का उल्लेख किया है।[३३] इसकी संवत् १७३८ की हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धांत भवन, आरा के संग्रह में है, जो अन्य प्राचीन प्रति पर से तैयार की गई है।

अम्बिका कल्प

इसके कर्ता आचार्य शुभचन्द्र हैं। यह कल्प सात अधिकारों में विभाजित है। इसकी एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि जैन सिद्धांत भवन, आरा में है।[३४] दिल्ली-जिन-ग्रन्थ-रत्नावली पृ. १२१ एवं जिनरत्नकोष, पृ. १५ पर भी इसकी सूचना है।

भक्तामर स्तोत्र एवं कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी ऋद्धि, मंत्रों और यंत्रों के साथ प्रकाशित हुए हैं। इनमें पद्यानुसार यंत्रों का निर्माण किया गया है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में ४४ पद्य हैं। उन ४४ पद्यों के ४४ यन्त्र भी प्रकाशित पुस्तक में उपलब्ध हैं, ये कब से प्रचार में आये इस विषय में साधकसामग्री के अभाव के कारण निश्चितरूप से कुछ कह पाना श्रेयस्कर नहीं होगा। कल्याणमन्दिर स्तोत्र में मन्त्र शब्द का प्रयोग केवल एक बार ही आया है-आकर्णिते तु तव गोत्र-पवित्र-मन्त्र, किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति।।३५।। इस महिमामय स्तोत्र के सम्बन्ध में यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसका प्रचार-प्रसार समाज में पर्याप्त प्राचीन है। इसके प्रभाव से लोगों को अचिन्तित और इच्छित फल की प्राप्ति तो होती ही रही है।

इसके अतिरिक्त आचार्य मानतुंग का भक्तामर स्तोत्र, आचार्य मलयकीर्ति का सरस्वती कल्प, गणधरवलय, घंटाकर्णवृद्धिकल्प, प्रभावती कल्प, आचार्य जिनप्रभसूरि का रहस्य कल्पद्रुम और शारदा स्तवन (सारस्वतमन्त्र गर्भित), आचार्य दुर्गदेव का मंत्र महोदधि, आचार्य हेमचन्द्रसूरि का सिद्धसारस्वत स्तव, आचार्य शुभसुन्दर गणिकृत यन्त्रमन्त्रभेषजादिगर्भित युगादिदेव स्तव, आचार्य भद्रबाहु का उपसर्गहर (उवसग्गहर) स्तोत्र, आचार्य मानतुंगसूरि का नमिऊण अपरनाम भयहर स्तोत्र, आचार्य पूर्णकलशगणि का स्तम्भनपार्श्वस्तवन, आचार्य मानदेवसूरि का लघुशांति स्तव, अरिष्टनेमि भट्टारक का श्रीदेवता कल्प, अर्हद्दास का सरस्वती कल्प, सिंहनन्दी का नमस्कार मंत्र कल्प, णमोकार मंत्र कल्प, चक्रेश्वरी कल्प, सूरिमंत्र कल्प, श्रीविद्याकल्प, ब्रह्मविद्या कल्प, रोगापहारिणी कल्प तथा पर्याप्त संख्या में मंत्र-स्तोत्र रचे गये हैं। इनमें

अप्रकाशित ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। जिनका सुसम्पादित होकर प्रकाशन अपेक्षित है।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में तिरेपन गर्भान्वय क्रियाओं (३८/६९/३१०) अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाओं (३९/१-८०), सात कर्त्रन्वय क्रियाओं (३९/८१-२०७) का वर्णन किया है। उसके बाद इन क्रियाओं की सिद्धि के लिए मंत्र कहे हैं। भूमिशुद्धि के बाद पीठिका मंत्र, जाति मंत्र, निस्तारक मंत्र, ऋषि मंत्र, सुरेन्द्र मंत्र, परमराजादि मंत्र और परमेष्ठी मंत्र लिखे गये हैं। आगे कहा गया है कि गर्भाधानादि क्रियाओं की विधि करने में ये मंत्र 'क्रिया मंत्र' कहलाते हैं (४०/७८) तथा विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मंत्र संध्याओं के समय तीनों अग्नियों में देव-पूजनरूप नित्य कर्म करते समय 'आहुति मंत्र' कहलाते हैं। (४०/७९)। इसके बाद गर्भाधानादि सोलह क्रियाओं के स्वतन्त्र मंत्र लिखे गये हैं। श्रावकों के सामाजिक-जीवन रीति-रिवाजों एवं धार्मिक क्रियाओं में काम आने वाले ये मंत्र आचार्य जिनसेन ने ही रचे थे, क्योंकि इससे पूर्व उनका क्या स्वरूप था, यह ज्ञात कर पाना आसान नहीं है।

जैन परम्परा के विद्यानुवादपूर्व, कल्याणावादपूर्व एवं चूलिकाओं में उल्लिखित प्राचीन मंत्र-तंत्र और विद्याएँ तो प्रायः लुप्त हो गईं। तद्विषयक जो साहित्य आज उपलब्ध हैं, वे तांत्रिक युग की देन हैं। भारत के इतिहास का वह ऐसा समय था जब चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता था। उस काल में जैन परम्परा पोषक भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाये। परिणाम स्वरूप उन्होंने भी शक्तिधारक देवी-देवताओं (यक्ष-यक्षियों) की आराधना एवं सिद्धियाँ प्राप्त करके अनेक चमत्कार दिखलाये और साहित्य रचना भी की, उपलब्ध कृतियाँ इसके आदर्श उदाहरण माने जा सकते हैं। इससे जैन धर्मावलम्बियों को एक सूत्र में बांधकर रखा जा सका। सम्प्रति मंत्र-तंत्र और यंत्रविद्या के साधकों का जैनों में अभाव होता जा रहा है। पुनः इस विद्या के विलुप्त होने का संकट बढ़ता जा रहा है। इसकी रक्षा एवं विकास करना समाज का पुनीत कर्तव्य है।

सन्दर्भः

१. *अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, १/२० पृ. ७५ (ज्ञानपीठ संस्करण)*

२. *वीरसेन, षट्खण्डागम, धवलाटीका पृ. १. १२१. (प्रथम संस्करण)*

३. *शुभचन्द्र, अंगपण्णत्ति, २/१०१-१०३.*

४. *गोम्मटसार जी., जी. त. प्रदी. गा.३६५-६६ पृ. ६१०-११ (ज्ञानपीठ संस्करण)*

कसायपाहुड, जयधवलाटीका भाग-१, पृ. १४४ (प्रथम संस्करण)

५. *जिनसेन, हरिवंशपुराण-१०/११३-११७.*

६. *(क) षट्खण्डागम, पुस्तक-१, पृ. ११३.*

(ख) जलगया जलत्थंभण-जलगमणहेदुभूदमंत-तंत-तवच्छरणाणं अग्गित्थंभण-भक्खणा सणपवणादिकारण पओए च वण्णेदि। थलगया कुलसेल-मेरु-महीहर-गिरि-वसुंधरादिसु चटुलगमणकार- णमंत- तंत- तवच्छरणाणं वण्णणं कुणइ। मायागया पुण माहिंदजालं वण्णेदि। रुवगया हरि-करि-तुरय-रुरु-णर-तरु-हरिण-वसइ-सस-पसयादिसरुवेण परावत्तणविहाणं णरिंदवायं च वण्णेदि। जा आगासगया सा आयासगमणकारणमंत-तंत-तवच्छा-णाणि वण्णेदि।- कसायपाहुड, भाग-१, पृ. १३९.

७. *गोम्मटसार जीवकाण्ड, जी. त. प्र. टीका, गाथा-३६२ पृ. ६०२ (ज्ञानपीठ संस्करण)*

८. *शुभचन्द्र, अंगपण्णत्ति, ३/१-९.*

९. *प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पृ. २५०.*

१०. *मंगलमंत्र णमोकार : एक अनुचिन्तन, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृ. १३२.*

११. *जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३, मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, सन् १९७०, पृ.-२२४.*

१२. विद्याप्रवादपूर्वस्य तृतीयप्राभृतादयम्। उद्धृतः कर्मघाताय श्रीवीरस्वामिसूरिभिः।। १/८.

१३. यद् यद् विचिन्त्यते कार्यं मनुजैरैहिलौकिकम्।
तत् तत् सम्पद्यते सद्यो मंत्रस्यास्य प्रभावतः।। ३/४०.

१४. अधिकार-५., श्लोक-१७.

१५. अष्टशतस्यैकषष्टि (८६१) प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्यखेटकटके पर्वण्यक्ष (य) तृतीयायाम्।।-ग्रन्थप्रशस्ति अनेकान्त, वर्ष-१, पृ. ४३१ पर उद्धृत।

१६. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३, पृ. २२८.

१७. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-३ पृ. १८३.

१८. (क) अनेकान्त, वर्ष-१, पृ. ४२९, वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज दिल्ली.
(ख) जिनरत्नकोश, पृ. ३५५.

१९. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३ पृ. २२४-२५.

२०. डॉ. ऋषभचन्द्र जैन, 'फौजदार', जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली, भाग-१, क्रमांक-७१९, भाग-२, क्रमांक-१३११.

२१. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३, पृ. २३२.

२२. वही, पृ. २३०.

२३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-३, पृ. १७६.

२४. जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली, भाग-१, क्रमांक-७६५.

२५. सांख्यभौतिकचार्वाकमीमांसकदिगम्बराः।
सौगतास्तेऽपि देवि! त्वां ध्यायन्ति ज्ञानहेतवे (१९)

२६. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३, पृ. २३४.

२७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-३, पृ. १७७.

२८. अनेकान्त, वर्ष-१, पृ. ४३० पर उद्धृत।

२९. जैनस्तोत्र सन्दोह, भाग-२, सम्पादक मुनि चतुर विजय, प्रकाशक-साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, सन्-१९३६.

३०. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग-३ पृ. २३९.

३१. वही, पृ. २४०.

३२. अद्भुत पद्मावतीकल्प, ५/६.
पद्मावतीस्तोत्र, पद्य-१९. (भै.प.क., पृ. १५०)

३३. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग,-३, पृ. २४३.

३४. जैन सिद्धांत भवन ग्रन्थावली, भाग-१, क्र. ५५०/पृ.-९४ तथा २००.

***

धर्म : स्वरूप, मीमांसा और समाज

अशोक कुमार जैन

भारत धर्मप्रधान देश है। यहाँ पर अनेक महापुरुषों ने धर्म में शाश्वत स्वरूप का निरूपण कर जन-जन को कल्याण पथ पर अग्रसर किया। जहाँ पाश्चात्य जगत् में धर्म को आवश्यक नहीं माना गया वहीं भारतवर्ष में स्वकल्याण और विश्वकल्याण के लिए उसे आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया गया। न्यायमूर्ति एम. जी. नियोगी ने धर्मतत्त्व के समर्थन में लिखा है- 'यदि इस जगत् में धर्म का वास न रहे तो शांति के साधन स्वरूप पुलिस आदि होते हुए भी वास्तविक शांति की स्थापना नहीं की जा सकती। जैसे पुलिस तथा सैनिक बल के कारण साम्राज्य का संरक्षण घातक शक्तियों से किया जाता है, उसी प्रकार धर्मानुशासित अन्तःकरण के द्वारा आत्मा उच्छृंखल तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियों से बचकर जीवन तथा समाज निर्माण के कार्य में उद्यत होता है।'

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है-'धारण करना'। आचार्य रविषेण ने लिखा है-

धारणार्थो धृतो धर्मशब्दो वाचि परिस्थितः। पद्मचरित, १४/१०३

जो धारण करे सो धर्म है। 'धरतीति धर्मः' यह उसका निरुक्त्यर्थ है। धर्म की आवश्यकता के सम्बन्ध में लिखा है-

पतन्तं दुर्गतौ यस्मात्सम्यगाचरितो भवन्।
प्राणिनं धारयत्यस्माद्धर्म इत्यभिधीयते।। वही, १४/१०४

अच्छी तरह से आचरण किया हुआ धर्म दुर्गति में पड़ते हुए जीव को धारण कर लेता है, बचा लेता है इसलिए वह धर्म कहलाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै।। ज्ञानार्णव, २/१

जिस धर्म से जगत् पवित्र किया जाता है तथा उद्धार किया जाता है और जो दयारूपी रस से आर्द्रित (गीला) और हरा है, उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिए मेरा नमस्कार है।

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम्।
सुखामृतपयः पूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत्।। वही, २/६

धर्म, कष्ट के आने पर समस्त जगत् के त्रस, स्थावर जीवों की रक्षा करता है और सुखरूपी अमृत प्रवाहों से समस्त जगत् को तृप्त करता है।

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधि पुरन्दराः।
अभी विश्वोपकारेषु वर्तन्तेधर्मरक्षिताः।। वही, २/७

मेघ, पवन, सूर्य चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये सम्पूर्ण पदार्थ जगत् के उपकार रूप प्रवर्तते हैं और वे सब ही धर्म

द्वारा रक्षा किए हुए प्रवर्तते हैं। धर्म के बिन ये कोई भी उपकारी नहीं होते।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं बिना।। वही, २/११

धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है और धर्म ही बिना कारण अनाथों की प्रीतिपूर्वक रक्षा करने वाला है। इस प्राणी को धर्म के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है।

आचार्य रविषेण ने लिखा है-

धर्मो मूलं सुखोत्पत्तेरधर्मो दुःखकारणम्।
इति ज्ञात्वा भजेद्धर्ममधर्मं च विवर्जयेत्।। पद्मचरित, १४/३१०

धर्म सुखोत्पत्ति का कारण है और अधर्म दुःखोत्पत्ति का, ऐसा जानकर धर्म की सेवा करनी चाहिए और अधर्म का परित्याग।

धर्म की परिभाषा- आचार्यों ने धर्म शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। यथा प्रवचनसार में लिखा है-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।। प्रवचनसार, १/७

निश्चयकर अपने में अपने स्वरूप का आचरणरूप जो चारित्र, वह धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव है। जो स्वभाव है, वह धर्म है। इस कारण अपने स्वरूप के धारण करने से चारित्र का नाम धर्म कहा गया है। जो धर्म है, वही समभाव है और उद्वेगपने से रहित आत्मा का परिणाम समभाव है।

मनुस्मृति में भी 'आचारः परमो धर्मः' कहा गया है, किन्तु मनुस्मृति के आचार रूप परमधर्म में और कुन्दकुन्द के चारित्र में बहुत अन्तर है। आचार क्रियाकाण्डरूप है; किन्तु चारित्र उसकी निवृत्ति से प्रतिफलित आन्तरिक प्रवृत्ति रूप है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धत्ति।। रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १/३

जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को धर्म कहा है और उनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग हैं। स्वामी कार्तिकेय ने लिखा है-

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

वस्तु का स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमादिरूप भाव दस भेदरूप धर्म है। रत्नत्रय धर्म है और जीवों की रक्षा करना धर्म है। इन चारों में धर्म के सब जिनागम सम्मत अर्थों का समावेश हो जाता है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने लिखा है-

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सदृगवगमचारित्ररूपा। अर्थात् आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति सत्य-श्रद्धा, सत्य-ज्ञान तथा सत्याचरण परिणाम धर्म हैं। परमात्मप्रकाश में लिखा है-

भाउविसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणे विणु लेहु।
चउगइदुक्खहिं जो धरइ जीउ प उतउडंएउ।। परमात्मप्रकाश, २/६८

आत्मा का मिथ्यात्व रागादि से रहित विशुद्ध भाव ही धर्म है, ऐसा मानकर उसे स्वीकार करो। जो संसार में पड़े हुए जीव को उठाकर मोक्ष में धरता है। इसकी टीका में ब्रह्मदेव ने लिखा है- यहाँ धर्म शब्द से निश्चय से जीव का शुद्ध परिणाम ही लेना चाहिए। उसमें वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा रचित नए विभाग से सभी धर्मों का अन्तर्भाव होता है। भाव यह है कि धर्म का लक्षण अहिंसा है। वह भी जीव के शुद्ध भाव के बिना संभव नहीं है। गृहस्थ और मुनिधर्मरूप धर्म भी शुद्धभाव के बिना नहीं हो सकता। उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकार का धर्म भी जीव के शुद्ध भाव की अपेक्षा रखता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप धर्म भी शुद्ध भाव रूप ही है। राग, द्वेष, मोहरहित परिणाम को धर्म कहा है, वह भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही है। विचार करने पर धर्म की ये सब परिभाषायें 'वत्थु सहावो धम्मो' में ही समाविष्ट हो जाती है।

अनगारधर्मामृत के प्रथम अध्याय में धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए सुख और दुःख से निवृत्ति- ये दो पुरुषार्थ बतलाए हैं और उनका कारण धर्म को कहा है अर्थात् धर्म से सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति होती है। जो पुरुष मुक्ति के लिए धर्माचरण करता है उसको सांसारिक सुख तो स्वयं प्राप्त होता है। सांसारिक सुख की प्राप्ति की भावना से धर्माचरण करने से सांसारिक सुख की प्राप्ति निश्चित नहीं है, किन्तु मुक्ति की भावना से जो धर्माचरण करते हैं उन्हें सांसारिक सुख अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु वह धर्म 'सम्यग्दर्शनादि यौगपद्यप्रवृत्तैकाग्रतालक्षणरूप शुद्धात्मपरिणाम' अर्थात् आत्मा के स्वरूप का विशेष रूप से निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में लीनता सम्यक्-चारित्र है। ये तीनों एक साथ एकाग्रतारूप जब होते हैं तो उसे ही शुद्धात्म परिणाम कहते हैं और यथार्थ में यही धर्म है।

धर्म परिपालन में परिणामों की विशुद्धता आवश्यक है प्रवचनसार में लिखा है-

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो।। प्रवचनसार, १/८

जिस समय जिस स्वभाव से द्रव्य परिणमन करता है उस समय उसी स्वभावमय द्रव्य हो जाता है। इस कारण वीतरागचारित्र (समताभाव) रूप धर्म से परिणमता यह आत्मा धर्मरूप होता है।

धर्म के भेद- तत्त्वार्थसूत्र में संवर के साधक तत्त्वों में धर्म को स्वीकार किया है। उसके भेदों को बताते हुए लिखा है- उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्याभाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः। अर्थात् उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है। यद्यपि धर्म एक है, किन्तु उसके दस रूप माने गए हैं। ये दसों धर्म मोक्ष के मार्ग भी हैं। साथ ही व्यावहारिक जगत् में इन धर्मों को अपनाने से मनुष्य का जीवन अत्यन्त नैतिक, पवित्र और महान् बन जाता है। जैसा पूर्व में कहा गया है कि जैनधर्म में भावों का विशुद्धि में अत्यन्त महत्त्व है। अतः विशुद्धि के कारण में बाधक तत्त्वों का हटाना आवश्यक है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः
मायायाः सङ्गसंन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात्।। ज्ञानार्णव, २/६

क्रोध कषाय का क्षमा शत्रु है तथा मान कषाय का मृदुभाव, माया कषाय का ऋजुभाव और लोभ कषाय का परिग्रह त्यागभाव इस प्रकार अनुक्रम से शत्रु है।

धर्म धारण करने में या आत्मविकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का अधिकार नहीं है। जो कोई धर्म के अनुष्ठान के लिए यत्न करता है, वह उदार मनुष्य संसार में सबका आदरणीय बन जाता है। धर्मरूप वृक्ष की अहिंसा जड़ है। साम्यभाव उसका स्कन्ध है तथा सत्य भाषण सम्भाषण, स्तेयवर्जन, मैथुन परिहार और अपरिग्रहपना ये उस धर्मरूपी वृक्ष की चार शाखाएं हैं, छह आवश्यक जिसके फल हैं, शीलव्रत जिसके पत्र हैं और ईर्या, भाषा आदि समितियाँ जिसकी छाया रूप हैं, ऐसा यह श्रीमान् परम उदार धर्म रूप कल्पवृक्ष सदा जयवन्त रहे।

वर्तमान में समाज में धार्मिक कार्यों के प्रति दिन-प्रतिदिन उदासीनता परिलक्षित हो रही है। भौतिकवाद की चकाचौंध

में हम अपने आवश्यक धार्मिक कार्यों से विमुख हो रहे हैं। आध्यात्मिक पर्व दशलक्षण तथा अष्टाह्निक जैसे पवित्र पर्वों पर बाह्य प्रदर्शन को करके हम अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। वास्तव में इन मांगलिक अवसरों पर आत्मालोचन करना चाहिए। क्रिया करते समय विवेक-बुद्धि रखें तथा धर्म के द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुणों को विकसित कर कल्याण को प्राप्त करें। पर्वों पर स्वच्छन्दता, संकीर्णता तथा कलुषता का परित्याग कर वास्तविक प्रभावना करें जिसका लक्षण आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है-

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्मयप्रकाशः स्यात्प्रभावना।। रत्नकरण्डक श्रावकाचार, १/१८

अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिनशासन के महात्म्य को प्रकट करें, क्योंकि पाप ही जीव का शत्रु है और धर्म ही जीव का हितकारी है। इस प्रकार निश्चय करता हुआ श्रावक यदि आगम को जानता है तो वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता होता है।

***

निरयावलिया-कल्पिका की बौद्धदृष्टि से समीक्षा

सुधा जैन

प्राचीन काल से आगमों का विभाजन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में सर्वमान्य है। उपांग अंगबाह्य साहित्य है जिसको आचार्य देववाचक ने कालिक और उत्कालिक के रूप में विवेचन किया है। बारह अंगों की भाँति बारह उपांगों का उल्लेख भी प्राचीन आगमों में उपलब्ध नहीं होता। नन्दीसूत्र[१] में कालिक और उत्कालिक रूप में उपांगों का उल्लेख मिलता है। उपांग शब्द भी नन्दी के पश्चात् ही प्रयुक्त हुआ है। नन्दी में तो उपांग के अर्थ में अंगबाह्य शब्द आया है। आचार्य उमास्वाति ने जिनका काल पं. सुखलालजी ने पहली से चौथी शताब्दी के मध्य माना है।[२] तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है। उपांग से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगमों से ही है।[३] आचार्य जिनप्रभ ने ई. सन् १३०६ में विधिमार्गप्रपा[४] ग्रन्थ में आगमों की स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है जिसमें ग्रन्थों के नाम मिलते हैं। इसी के अन्तर्गत 'इयाणिं उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका उल्लेख किया गया है।[५] यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि अंग ग्यारह ही हैं और बारहवाँ अंग उपलब्ध नहीं है तो उसके उपांग की आवश्यकता ही नहीं है, अतः भगवती के दो उपांग मान कर ग्यारह अंग और बारह उपांग की संगति बैठाने का प्रयत्न किया है।[६] पं. बेचरदास जी दोशी के अनुसार चूर्णि साहित्य में भी उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है जो कालिक श्रुतान्तर्गत एवं उत्कालिक श्रुतान्तर्गत आया है।[७] परन्तु उपांग आगम ग्रन्थों का निर्धारण कब हुआ यह स्पष्ट नहीं हो सका है। मूर्धन्य मनीषियों का मानना है कि आगम पुरुष की कल्पना के साथ ही अंग स्थानीय शास्त्रों की कल्पना भी हुई होगी। उस समय उपांग भी अमुक-अमुक स्थानों पर प्रतिष्ठापित करने के लिए परिकल्पित किए गए होगें। यद्यपि कुछ आचार्यों ने अंगों और उपांगों का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है, लेकिन विषय आदि की दृष्टि से इनमें कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। द्वादश उपांग सम्बन्धी उल्लेख ईसा की बारहवीं शताब्दी के पूर्व ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता है।[८]

जैसा कि हम जानते हैं कि अंग-साहित्य की रचना गणधरों ने की थी जिनके अपने स्वतंत्र विषय थे। उपांग-साहित्य की रचना स्थविरों के द्वारा हुई थी उनके भी अपने स्वतंत्र विषय थे। अतः यह स्पष्ट है कि विषय, वस्तु-विवेचन आदि की दृष्टि से अंग उपांगों से भिन्न हैं। नन्दीसूत्र की चूर्णि में श्रुतपुरुष की कल्पना की गई है।[९] पुरुष के शरीर में जिस प्रकार बारह अंग होते हैं, जैसे- दो पैर, दो जंघाएँ, दो उरु, दो गात्रार्थ (उदर, पीठ), दो भुजाएँ, गर्दन और सिर। इसी प्रकार श्रुतपुरुष के भी बारह अंग हैं।[१०] इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

क्रम संख्या	अंग	द्वादशांग
१.	दाँया पैर	आचारांग
२.	बाँया पैर	सूत्रकृतांग
३.	दायीं जंघा	स्थानांग
४.	बायीं जंघा	समवायांग

५.	दायां उरु	भगवती
६.	बायां उरु	ज्ञाताधर्मकथा
७.	उदर	उपासकदशा
८.	पीठ	अन्तकृत्दशा
९.	दायीं भुजा	अनुत्तरौपपातिक
१०.	बायीं भुजा	प्रश्नव्याकरण
११.	गर्दन	विपाक
१२.	सिर	दृष्टिवाद[११]

श्रुतपुरुष की कल्पना आगमों के वर्गीकरण की दृष्टि से एक सुन्दर कल्पना है। आज भी प्राचीन ज्ञान भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्तरचित अनेक कल्पना चित्र प्राप्त होते हैं। द्वादशांग अंगों की रचना के पश्चात् श्रुतपुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की भी कल्पना की गई, क्योंकि अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध उपांग सूत्रों के द्वारा ही होता है।[१२] प्रत्येक अंगों के उपांग इस प्रकार हैं- आचारांग का उपांग औपपातिक है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग का राजप्रश्नीय, स्थानांग का जीवाभिगम, समवायांग का प्रज्ञापना, भगवती का जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा का सूर्यप्रज्ञप्ति, उपासकदशा का चन्द्रप्रज्ञप्ति, अन्तकृत्दशा का निरयावलिया-कल्पिका, अनुत्तरौपपातिकदशा का कल्पावतंशिका, प्रश्नव्याकरण का पुष्पिका, विपाक का पुष्पचूलिका और दृष्टिवाद का उपांग वृष्णिदशा है। उपांग का विषय, विश्लेषण, प्रस्तुतीकरण आदि की दृष्टि से अंग के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, परन्तु इस प्रकार का कोई सम्बन्ध इनमें नहीं है। जहाँ तक इनकी रचना का प्रश्न है तो ऐसा लगता है कि जैन धर्म-दर्शन के गम्भीर अर्थ को समझने के लिए ही उपांगों की रचना की गई होगी।

प्रस्तुत आलेख में उपांग-साहित्य के आठवें उपांग निरयावलिया-कल्पिका का वर्णन किया गया है। निरयावलिका श्रुतस्कन्ध में पाँच उपांग समाहित किए गए हैं- कल्पिका, कल्पावतंशिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा। मनीषियों का यह मानना है कि पहले ये पाँचों निरयावलिका के ही नाम से जाने जाते थे परन्तु बाद में बारह अंगों के साथ बारह उपांगों के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए इन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया गया। जिस आगम में नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन हो वह निरयावलिका है। (निरय+आवलि = नरक की आवलिका का जिसमें वर्णन हो)। इस आगम में एक श्रुतस्कन्ध, पाँच वर्ग, बावन अध्ययन (१०,१०,१०,१०,१२) तथा ११०० श्लोक प्रमाण मूलपाठ हैं। इसमें निरयावलिया के प्रथम वर्ग में दस अध्याय हैं। जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह, महासेनकण्ह का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही प्रथम अध्याय में कूणिक (अजातशत्रु) का जन्म, कूणिक का अपने पिता श्रेणिक (बिम्बसार) को जेल में डालकर स्वयं राजसिंहासन पर बैठना, श्रेणिक की आत्महत्या, कूणिक का अपने छोटे भाई वेहल्ल कुमार से सेचनक हाथी और हार को लौटाने के लिए अनुरोध तथा कूणिक और वैशाली के गणराजा चेटक के युद्ध का वर्णन है। (दीघनिकाय के महापरिनिव्वाणसुत्त में वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के युद्ध का वर्णन है।) इस उपांग से प्राचीन मगध के इतिहास की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसमें सम्राट श्रेणिक के राज्य का वर्णन किया गया है। सम्राट श्रेणिक का उल्लेख जैन एवं बौद्ध परम्पराओं में क्रमशः 'श्रेणिक भिम्भसार' और 'श्रेणिक बिम्बिसार' के रूप मे मिलता है। जैन दृष्टि से श्रेणिक की स्थापना करने से उनका नाम श्रेणिक पड़ा।[१३] बौद्ध दर्शन के अनुसार पिता के द्वारा अट्ठारह श्रेणियों का स्वामी बनाए जाने के कारण वे श्रेणी बिम्बिसार के रूप में प्रख्यात हुए।[१४] जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में श्रेणियों की संख्या अट्ठारह मानी गई है।[१५] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में तो श्रेणियों के नौ नारूक और नौ कारुक-अट्ठारह भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जैसे-कुम्भकार, पटेल-ग्रामप्रधान, सुवर्णकार, सूपकार, संगीतकार, नापित, चर्मकार, दर्जी, ग्वाले आदि। 'महावस्तु' में श्रेणियों के तीस नाम मिलते हैं।[१६] ये नाम जम्बूद्वीपप्रतिज्ञप्ति में वर्णित नामों से मिलते-जुलते हैं। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने भी विविध ग्रन्थों के आधार पर श्रेणियों के सत्ताईस नाम बताए हैं।[१७] विद्वानों का तो यह भी मानना है कि राजा श्रेणिक के पास बहुत बड़ी सेना थी और वे सेनिय

गोत्र के थे, इसलिए उनका नाम श्रेणिक पड़ा।[१८]

जैन साहित्य में राजा श्रेणिक की रानियों के पच्चीस नाम मिलते हैं। जिनमें से अन्तकृतदशा[१९] में २३ रानियों के नाम मिलते हैं– नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दिसेणिया, मरुता, सुमरुया, महामरुता, मरूदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनायिका, भूतदत्ता, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितुसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा। ज्ञाताधर्मकथांग में धारिणी नाम की रानी का भी उल्लेख मिलता है।[२०] दशाश्रुतस्कन्ध में महारानी चेलना का वर्णन मिलता है।[२१] निशीथचूर्णि में अपतगन्धा को भी श्रेणिक की रानी बताया गया है।[२२] बौद्ध साहित्य के विनयपिटक में भी राजा श्रेणिक की ५०० रानियों का उल्लेख किया गया है।[२३] परन्तु यहाँ पर उनके नाम नहीं दिए गए हैं। जातक के अनुसार कोशला देवी भी उनकी रानी थी, जो रानियों में मुख्य थी।[२४] थेरीगाथा अट्ठकथा में उनकी रानी खेमा का नाम मिलता है। इनके अतिरिक्त पद्मावती, वासवी, शीलवा अम्बपाली, जयसेना आदि रानियों के नाम मिलते हैं।[२५] जैन साहित्य में उल्लेखित राजा श्रेणिक की रानियों के नाम एक-दूसरे से भिन्न हैं। संभवत: यह भेद परम्परा की दृष्टि से भी हो सकता है।

राजा श्रेणिक के पुत्रों के बारे में भी जैन साहित्य में अनेक नाम मिलते हैं, जैसे– जाली, मयाली, उवयाली, पुरिमसेण, वारिसेण, दीहदन्त, लट्ठदन्त, वेहल्ल, वेहायस, अभयकुमार, दीहसेण, महासेण, लट्ठदन्त, गूढदन्त, सुद्धन्त, हल्ल, दुम, दुमसेण, महादुमसेण, सीह, सीहसेण, पुण्णसेण, कालकुमार, सुकालकुमार, महाकालकुमार, कृष्णकुमार, सुकृष्णकुमार, महाकृष्णकुमार, वीरकृष्णकुमार, रामकृष्णकुमार, सेणकृष्णकुमार, महासेणकृष्णकुमार, मेघकुमार, नन्दिसेन, कूणिक आदि। बौद्ध साहित्य में भी श्रेणिक बिम्बिसार के पुत्रों के नाम मिलते हैं, जैसे– अजातशत्रु, अभय, सीलव, देवदत्त, विमलकोण्डञ्ञ, जयसेन, वेहल्ल आदि।[२६]

जैन साहित्य के अनुसार राजगृह के राजा श्रेणिक के महारानी चेलना से कूणिक, काली से कालकुमार, महाकाली से महाकाल आदि पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें कूणिक जब बड़े हुए तो राज्य प्राप्ति हेतु अपने पिता श्रेणिक को कारागृह में बन्दी बनाकर स्वयं राजसिंहासन पर विराजमान हो गए। श्रेणिक कारागृह में आत्महत्या कर लेते हैं चेलना अपने पुत्र को पिता-प्रेम व दोहद की घटना सुनाती है कि किस प्रकार उसके गर्भ में आने पर राजा श्रेणिक के उदर का माँस खाने का दोहद पैदा हुआ जिसे राजा न अभय कुमार की सहायता से पूर्ण किया और मेरे द्वारा तुम्हें उकरड़ी पर फेंक दिए जाने पर कुकुक्ट ने तुम्हारी अँगुली पर चोंच मार दी और उसमें घाव हो गया। राजा को इस बात का पता चलते ही तुम्हें तुरन्त मँगवा लिया। वेदना से पीड़ित होने पर राजा स्वयं तुम्हारा मवाद चूस कर फेंक देते और तुम चुप हो जाते। माता से पिता के प्रेम की बात जान वह कुठार लेकर उन्हें मुक्त करने जाता है, लेकिन उसे देखते ही श्रेणिक तालपुट विष खाकर अपने प्राण त्याग देते हैं।[२७] बौद्ध साहित्य में भी यह प्रसंग मिलता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि इसमें रानी को राजा के घुटने का रक्तपान करने का दोहद हुआ था, जिसे राजा ने वैद्य की सहायता से रक्त निकलवा कर पूर्ण किया था।[२८] बच्चे के जन्म के पश्चात् राजा स्वयं उसे रानी से दूर कर देते हैं कि कहीं वह उसको कोई नुकसान न पहुँचा दे। कुछ समय पश्चात् राजा स्वयं पुत्र को माता को सौंप देते हैं जिससे उसमें मातृ-प्रेम जागृत हो जाता है और वह उसका पालन करती है। एक बार अजातशत्रु की अँगुली में फोड़ा हो जाता है। बालक की वेदना पर स्वयं राजा पुत्र की अँगुली से मवाद चुस लेता है और बालक शांत हो जाता है।[२९] बड़े होने पर महत्त्वाकांक्षी अजातशत्रु को देवदत्त उकसाता है और वह अपने पिता बिम्बिसार को तापनगृह में डालकर स्वयं राजा बन जाता है। राजा से मिलने केवल अजातशत्रु की माता ही जा सकती थी। वह अपने बालों में भोजन छिपाकर ले जाने लगी। बाद में अपने शरीर पर सुगंधित जल लगाकर जाने लगी जिसे चाट कर राजा अपनी क्षुधा शान्त कर लेता था। अजातशत्रु को जब इस बात का पता चला तो उसने माता का मिलना बन्द कर दिया और गुस्से में आकर राजा के पैरों को काटकर तेल और नमक लगाकर तलने का आदेश दिया जिससे राजा की मृत्यु हो गई। उसी समय पुत्र जन्म का समाचार सुन पिता पुत्र-प्रेम से आह्लादित हो अपने पिता की स्थिति का अनुभव करता है। वह अपने पिता को तापनगृह से मुक्त करना चाहता था, परन्तु उनके तो प्राणों का अन्त हो चुका था।[३०] पिता की मृत्यु का संवाद सुन वह अत्यन्त दु:खी होता है।

कूणिक जन्म समय का दोहद, अँगुली में व्रण, पिता को कारागृह में डालना आदि का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में कुछ भिन्नताओं के साथ मिलते हैं। क्योंकि जैन परम्परा की घटना निरयावलिया की है और बौद्ध परम्परा में ये घटनाएँ अट्ठकथाओं में मिलती है। पं. दलसुख भाई मालवणिया ने निरयावलिया की रचना वि.सं. के पूर्व की मानी है।[३१] अट्ठकथाओं का समय विक्रम की ५वीं शती है।[३२] कूणिक की क्रूरता का वर्णन दोनों परम्पराओं में है, परन्तु जैन परम्परा के अनुसार श्रेणिक को कारागृह में डाला गया था तथा श्रेणिक ने स्वयं मृत्यु का वरण किया। बौद्ध परम्परा में तो राजा को तापनगृह में डालकर क्षुधा से पीड़ित कर मारा गया है और उसे मरवाने वाला स्वयं अजातशत्रु है।[३३]

जैन परम्परा के अनुसार कूणिक अपनी रानी पद्मावती के कहने पर अपने छोटे भाईयों हल्ल कुमार और वेहल्ल कुमार से पिता द्वारा दिया गया सेचनक हाथी व अट्ठारहसरा हार (अट्ठारह लड़ी वाला) भी ले लेना चाहता है, क्योंकि ये दोनों श्रेणिक के पूरे राज्य के बराबर थे।[३४] अत: दोनों भाई हाथी-हार और अपने अन्त:पुर को लेकर अपने नाना महाराज चेटक के पास वैशाली आते हैं। कूणिक को जब यह पता चलता है तो वह अपना दूत भेजता है। चेटक कहते हैं कि शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है। यदि कूणिक हाथी और हार के बदले आधा राज्य दे तो हम हार और हाथी लौटा सकते हैं। कूणिक को जब यह संदेश प्राप्त हुआ तो उसे अत्यन्त क्रोध आया। वह अपने दसों भाईयों की सेना को लेकर वैशाली पहुँच जाता है। कूणिक की सेना में ३३ सहस्र हाथी, ३३ सहस्र घोड़े, ३३ सहस्र रथ और ३३ करोड़ पदाति थे।

राजा चेटक ने नौ मल्ल के, नौ लिच्छवी- इन अट्ठारह काशी-कोशल राजाओं को बुलाकर उनसे परामर्श किया। सभी ने कहा- शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का कर्तव्य है। वे सभी युद्ध के मैदान में आए। चेटक की सेना में ५७ सहस्र हाथी, ५७ सहस्र घोड़े, ५७ सहस्र रथ और ५७ करोड़ पदाति सैनिक थे। राजा चेटक भगवान महावीर का परम उपासक था। उसने श्रावक के द्वादश व्रत ग्रहण किए थे। चेटक ने एक विशेष नियम भी ले रखा था कि मैं एक दिन में एक ही बार बाण चलाऊँगा। उसका बाण कभी भी निष्फल नहीं जाता था।[३५] प्रथम दिन अजातशत्रु कूणिक की ओर से कालकुमार सेनापति होकर सामने आया। उसने गरूड़व्यूह की रचना की। राजा चेटक ने भी शकटव्यूह की रचना की। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। राजा चेटक ने अमोघ बाण का प्रयोग किया जिससे कालकुमार जमीन पर गिर पड़ा और मरकर नरक में गया। पहले अध्ययन में इसके साथ ही कूणिक का जन्म चेलना का दोहद और चेलना का कूणिक को पूर्व घटना बताकर पिता के प्रति प्रेम जागृत करने का भी वर्णन है।

इसी तरह एक-एक कर दस भाई सेनापति बनकर क्रमश:पहले दिन कालकुमार, दूसरे दिन सुकाल कुमार, तीसरे दिन महाकाल कुमार, चौथे दिन कृष्णकुमार, पाँचवे दिन सुकृष्ण कुमार, छठे दिन महाकृष्ण कुमार, सातवें दिन वीरकृष्ण, आठवें दिन रामकृष्ण, नौवें दिन पितृसेनकृष्ण और दशवें दिन महासेनकृष्ण युद्ध क्षेत्र में आए और क्रमश: वे सभी राजा चेटक के अचूक बाण से मर कर नरक में गए। इस प्रकार क्रमश: नौ अध्यायों में नौ भाईयों का वर्णन किया गया है।

बौद्ध साहित्य में भी यह प्रकरण कुछ भिन्न प्रकार से मिलता है। गंगा-तट के एकपट्टन के सन्निकट पर्वत में रत्नों की खान थी।[३६] अजातशत्रु और लिच्छवियों में यह तय हुआ कि आधे-आधे रत्न परस्पर में ले लेंगे। अजातशत्रु ढ़ीला था तथा समय पर नहीं पहुँचने पर लिच्छवी सभी रत्न लेकर चले गए। उसे क्रोध आया और वह गणतंत्र के साथ युद्ध कैसे किया जाए विचार करने लगा, क्योंकि उनके बाण कभी निष्फल नहीं जाते।[३७] यही सोचकर वह हर बार युद्ध का विचार स्थगित करता रहा, परन्तु अत्यधिक परेशान हो जाने पर उसने मन में निश्चय कर लिया कि मैं वज्जियों का अवश्य विनाश करूँगा। उसने अपने महामंत्री वस्सकार को बुलाकर तथागत बुद्ध के पास भेजा।[३८] तथागत बुद्ध ने कहा- वज्जियों में सात बातें हैं- १.सन्निपात-बहुल है अर्थात् वे अधिवेशन में सभी उपस्थित रहते हैं। २. उनमें एकमत है जब सन्निपात भेरी बजती है तब वे चाहे जिस स्थिति में हो सभी एक हो जाते हैं। ३. वज्जी अप्रज्ञप्त (अवैधानिक) बात को स्वीकार नहीं करते और वैधानिक बात का उच्छेद नहीं करते। ४. वज्जी वृद्ध व गुरुजनों का सत्कार-सम्मान करते हैं। ५. वज्जी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों के साथ न तो बलात्कार करते हैं और न बलपूर्वक विवाह करते हैं। ६. वज्जी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। ७. वज्जी अर्हतों के नियमों का पालन करते हैं, इसलिए अर्हत् उनके वहाँ पर आते रहते हैं। ये सात नियम जब तक

वज्जियों में हैं और रहेंगे तब तक कोई भी शक्ति उन्हें पराजित नहीं कर सकती।[39] प्रधान अमात्य वस्सकार ने आकर सारी बात अजातशत्रु से कही और कहा कि जब तक उनमें भेद नहीं होगा उन्हें कोई भी शक्ति हानि नहीं पहुचा सकती। अजातशत्रु ने वस्सकार को आरोपित कर अमात्य पद से हटा दिया और वस्सकार वज्जियों के बीच रहने लगा। तीन साल बाद उनमें मतभेद उत्पन्न कर अन्त में अजातशत्रु को सूचित करता है। अजातशत्रु ससैन्य आक्रमण करता है और वैशाली गणराज्य का नाश कर देता है।[40]

जैन एवं बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में मगध विजय और वैशाली के नष्ट होने के विवरण मिलते हैं। जैन दृष्टि से चेटक १८ गण देशों के नायक थे। बौद्ध परम्परा उन्हें केवल प्रतिपक्षी ही मानती है। जैन दृष्टि कूणिक के पास ३३ करोड़ सेना थी तो चेटक के पास ५७ करोड़ सेना थी। दोनों ही युद्धों में एक करोड़ अस्सी लाख मानवों का संहार हुआ। बौद्ध दृष्टि से युद्ध का निमित्त रत्न राशि है और जैन परम्परा में सेचनक हाथी और हार। जैन परम्परा में जैसे चेटक का प्रहार अमोघ बताया है वैसे ही बौद्ध ग्रन्थों की दृष्टि से वज्जी लोगों के प्रहार अचूक थे। नगर की रक्षा का मूल आधार जैन दृष्टि से स्तूप को माना है तो बौद्ध दृष्टि से पारस्परिक एकता, गुरुजनों का सम्मान बताया गया है। इसका जितना व्यवस्थित वर्णन जैन परम्परा में है उतना बौद्ध परम्परा में नहीं हो पाया है। वैशाली की पराजय में दोनों ही परम्पराओं में छद्म भाव का उपयोग हुआ है। वैशाली का युद्ध कितने समय तक चला इस सम्बन्ध में जैन दृष्टि से एक पक्ष तक तो प्रत्यक्ष युद्ध हुआ और कुछ समय प्राकार-भंग में लगा। बौद्ध दृष्टि से वस्सकार तीन वर्ष तक वैशाली में रहा और लिच्छवियों में भेद उत्पन्न करता रहा। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी के अभिमतानुसार युद्ध की अवधि (५६२-५४६ ई० पू०) कम से कम १६ वर्ष तक की है।[41]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातशत्रु कूणिक को दोनों ही परम्पराएँ अपने धर्म का अनुयायी मानती हैं। संभवतः शुरू में वह जैन था। जैन ग्रन्थों में उसकी धार्मिक भक्ति की प्रशंसा भरी पड़ी है। पितृ हत्या के दोष के जघन्य पाप से वह जैन परम्परा में मुक्त है। कूणिक अपनी रानियों और विपुल परिजनों के साथ नातपुत्त से प्रायः मिलने जाता था। वैशाली और चम्पा में वह महावीर के सम्पर्क में आया और जैन संघ के प्रति अपना सुंदर भाव प्रकट किया।[42] परन्तु बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वह बाद के जीवन में जैन धर्म के बजाय बौद्ध धर्म का भक्त हो गया था। अपने पिता का घात करने के पश्चात् वह शान्ति के लिए बुद्ध के पास गया और प्रार्थना की- 'भगवान मेरे इस अपराध को स्वीकार करें जिससे भविष्य में मैं उससे निवृत्त हो सकूँ।' बुद्ध ने उसके इस पाप निवेदन को स्वीकार किया। इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि वह बौद्ध बन गया था।[43]

यह वर्णन चम्पानगरी में भगवान महावीर से कुमारों की माताएँ पूछती हैं और भगवान महावीर उसका कथन करते हैं। ये दसों कुमार मरकर नरक में जाएंगे और वहाँ से निकल कर महाविदेह में जन्म लेंगे। वहाँ वैराग्य और श्रमण धर्म स्वीकार करके उत्कृष्ट साधना कर मुक्ति को प्राप्त करेंगे। इनके अन्य भ्राता (२३ भाई) श्रमण धर्म को स्वीकार कर स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त हुए थे। उनकी माताएँ भी श्रमण धर्म को स्वीकार कर मुक्त हुई थीं। इसमें पुत्र और माताओं के नाम भी एक सदृश हैं। इस प्रकार निरयावलिया कल्पिकासूत्र की कथा यहा पर सम्पन्न होती है।[44] इस उपांग में मगधनरेश श्रेणिक और उनके वंशजों का विस्तृत वर्णन है, कूणिक का जीवन परिचय है, वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक के साथ कूणिक के युद्ध का वर्णन है, पुत्र के प्रति पिता का अपार स्नेह भी इसमें वर्णित है। इस प्रकार यह उपांग बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक बन गया है।

सन्दर्भ:

१. *नन्दीसूत्र, ४४, सम्पा.-युवाचार्य मधुकर मुनि, प्रकाशक- आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, १९८२*

२. *तत्त्वार्थसूत्र, पृ.-९, विवे- पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६*

३. *अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांमगशः समुद्रप्रतरणवद्दुश्ध्यवसेयं स्यात् । तत्त्वार्थभाष्य, १-२०*

४. *विधिमार्गप्रपा, पृ. ४८-५७, मुनि जिनविजयेन, प्रका. श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार, सूरत, १९४१*

५. जैन सा. बृ. इतिहास, भाग-१, प्रस्ता., पृ०-३९, पं. दलसुख मालवणिया, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६

६. वही, पृ.-३९

७. वही, पृ.-३०-३१

८. हिस्ट्री ऑव कैनोनिकल लिटरेचर ऑव जैनाज, पृ.-२९, ३४ हीरालाल र कापडिया

९. नन्दीचूर्णि, पृ. ४७, मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६

१०. नन्दीवृत्ति, २३, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६६

११. नन्दीसूत्र, मलयगिरिवृत्ति, पृ. २०३

१२. अंगार्थस्पष्ट बोधिविधायकानि उपांगानि, औपपातिक टीका।

१३. श्रेणीः कायति श्रेणिको मगधेश्वरः। अभिधानचिन्तामणिः, स्वोपज्ञवृत्ति, मर्त्यकाण्ड, ३७६, सम्पा. श्री विजयधर्मसूरि, प्रका.- नत्थालाल लक्ष्मीचंद वकील, भावनगर, वीर सं. २४४१

१४. स पित्राष्टादशसु श्रेणि स्ववत्तारितः, अतोऽस्य श्रेष्यो बिम्बिसार इति ख्यातः।। विनयपिटक, गिलगिट मांस्क्रपट।

१५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/८३ सम्पा.- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८६ तथा जातक, मूगपक्ख जातक भाग-६, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् १९८८

१६. महावस्तु, भाग-३, ४४२-४४३, डॉ. एस. बागचि, मिथिला संस्थान, दरभंगा, १९७०

१७. *Corporate Life in Ancient India, Dr. R. C. Majumdar, Cosmo Publication, New Delhi, 1994, p. 4*

१८. *Dictionary of Pali Proper Names, Vol.-ii, Page-285, 1284*

१९. अन्तकृतदशासूत्र, ७/१-१३ तथा ८/१-१०, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रका. समिति, ब्यावर, १९८१

२०. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, १/१६, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१

२१. दशाश्रुतस्कन्ध, दशवीं दशा, उपाध्याय आत्मारामजी, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६

२२. निशीथचूर्णि, सभाष्य, भाग-१, पृ. १७

२३. विनयपिटक, अनु. राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्र. सं. १९३५, महावग्ग, ३/८/१/१, पृ.- २६९

२४. जातक, भाग-४/४०३, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सम्वत् २०११, *Dictionary of Pali Proper Names, Vol.-ii, Page--286*

२५. *Dictionary of Pali Proper Names, Vol.-ii, Page--286*, थेरीगाथा-अट्ठकथा, १३९-१४३

२६. थेरगाथा, ३/२६, २७/६०९, भिक्षु धर्मरत्न, भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद्, लखनऊ, १९८८, पृ. १०, १४३, *Dictionary of Pali Proper Names, Vol.-ii, Page--286*

२७. निरयावलिकासूत्र, ११-२१, पृ. १२-२४, सम्पा. मधुकर मुनि, आगम प्रका. समिति, ब्यावर, १९८५

२८. दीघनिकाय, अट्ठकथा, १, पृ. १३३, भि. जगदीश कश्यप, पाली प्रका. संस्था, बिहार सरकार, १९५८

२९. हिन्दू सभ्यता, पृ. १८६, डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५

३०. दीघनिकाय- अट्ठकथा-१, पृ.-१३५, हिन्दू सभ्यता, पृ. १९८

३१. आगम युग का दर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, संस्करण १९६६, पृ. २९

३२. आचार्य बुद्धघोष, महाबोधिक सभा, सारनाथ, वाराणसी, संस्करण-१९५६

३३. धर्मकथानुयोगः एक समीक्षात्मक अध्ययन, प्रस्तावना, पृ. ११७, संकलनकर्ता- मुनि श्री कन्हैयालाल कमल एवं दलसुख मालवणिया, आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९८३ तथा हिन्दू सभ्यता, पृ. १८६

३४. आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्द्ध, पत्र १६७, श्रीमद् जिनदासगणि महत्तर, श्वेताम्बर संस्था, वि. सं. १९८६

३५. चेटकराजस्य तु प्रतिपन्नं व्रतत्वेन दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति अमोघबाणश्च। निरयावलिका (सटीक), पत्र ६-१

३६. बुद्धचर्या, पृ०-५२०, राहुल सांकृत्यायन, शिवप्रसाद गुप्त सेवा उपवन, काशी, वि. सं. १९८८

३७. वही, *Dr. B.C. Law, Buddhaghosa, P. III,* हिन्दू सभ्यता, पृ. १८८।

३८. वाज्जीनं सत्त अपरिहानिया धम्मा। दीघनिकाय, महापरिनिव्वाणसुत्त, २/३/१

३९. वही

४०. दीघनिकाय- अट्ठकथा-१, पृ. ५२३, हिन्दू सभ्यता, पृ. १८६

४१. हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५५, पृ. १८९

४२. औपपातिकसूत्र, १२-२०, पृ. १४-२३, सम्पा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२

४३. हिन्दू सभ्यता, पृ. १९०-१९१

४४. निरयावलियासूत्र, १/३/१०/३६

***

विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अंक में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा का विश्लेषण

समणी संगीत प्रज्ञा

महाकवि कालिदास के दैदीप्यमान स्वरूप से कौन परिचित नहीं है। संस्कृत साहित्याकाश में वे एक नक्षत्र की भाँति अपने आलोक से परवर्ती साहित्यकारों का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। महाकाव्य हो या खण्डकाव्य या नाटक सभी विधाओं में कालिदास ने अपनी लेखनी का जादू विखेरा है। इन विधाओं में लिखी गई कृतियों का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जितने सिद्धहस्त वर्णनात्मक चित्रण करने में थे उतने ही कुशल वे भाषा के प्रयोग में भी थे।

किसी भी कवि की भाषा सम्बन्धी विश्लेषण या विशेषता सिद्ध करनी हो तो उसके रचित नाटकों से किया जाना उपयुक्त होता है, क्योंकि नाटकों में कथोपकथन और पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग कवि करता है। जैसा पात्र और दृश्य वैसी ही भाषा, यही कवि के भाषा-वैचित्र्य को प्रकट करता है और महाकवि कालिदास ने तो अपने तीनों नाटकों में ही भाषा की उत्कृष्टता को सिद्ध किया है। उनके द्वारा रचित नाटकों के सम्यक् अध्ययन के उपरान्त यह तो सिद्ध हो जाता है कि जितना उच्च कोटि का इनको संस्कृत का ज्ञान था उतना ही स्पष्ट प्राकृत का भी ज्ञान था और फिर हो भी क्यों नहीं क्योंकि तत्कालीन भाषा का प्रभाव तो प्रत्येक कवि पर पड़ता ही है और प्राकृत उस समय की जैनभाषा के रूप में प्रचलित थी।

यद्यपि उनके द्वारा नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा के विश्लेषण हेतु उनके तीनों नाटकों का अध्ययन अवश्यक है तथापि यहाँ शोधालेख के विषय को ध्यान में रखते हुए विक्रमोर्वशीयम के चौथे अंक में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का ही रूप 'अपभ्रंश भाषा' का विश्लेषण किया जाना अभिधेय है।

अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति

अपभ्रंश संस्कृत भाषा का तत्सम शब्द है। संस्कृत के विभिन्न शब्दकोशों में इसकी अर्थ-सीमा का विस्तार लगभग समान रूप से मिलता है। शब्दकल्पद्रुम में 'अप+भ्रंस्+घञ्' खण्ड करके इसे एक ग्राम्य भाषा बतलाया या है और उल्लेख किया गया है कि 'अपभाषा' इसका पर्याय है- 'अपभाषा-तत्पर्यायः।' शब्दार्थ चिन्तामणि के प्रथम भाग में अपभ्रंश शब्द की व्याख्या 'अपभ्रंश' कहकर की गई है और कहा गया है कि 'अशास्त्रशब्दे। असंस्कृशब्दे। ग्राम्य भाषायाम्। आपटे ने अपने संस्कृत कोष में अपभ्रंश शब्द की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि यह एक भ्रष्ट शब्द का अर्थ होता है। उनके मत से जो शब्दअशुद्ध या संस्कृत व्याकरण के नियमों के विरुद्ध है उसे 'अपभ्रंश' या अपशब्द कहा जाता है।हिन्दी के शब्दकोषों में भी यही अर्थ दुहराया गया है। हिन्दी शब्दसागर में 'अपभ्रंश' का अर्थ इस प्रकार दिया गया है- 'संज्ञा पु. (सं.) नीचे गिरना, पतन, बिगाड़ शब्द का विकृत रूप, प्राकृत भाषाओं का परवर्ती रूप, जिससे उत्तर भारत की आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति मानी जाती है।

इस अर्थ में भी स्पष्टतः 'अपभ्रंश' शब्द उस भाषा रूप का ही वाणी सिद्ध होता है, जिसकी ओर संस्कृत कोशों में संकेत किया गया है। अमरकोश के अनुसार, अपभ्रंशोऽपशब्दः स्यात्। हिन्दी विश्वकोष में उल्लेख है कि 'अपभ्रंश (सं.पु.) अपभ्रंश-घञ्।

वस्तुतः 'अपभ्रंश' शब्द 'भ्रंश' धातु में 'अप्' उपसर्ग लगने से बना है। सिद्धान्त कौमुदी में 'भ्रंशु अद्यः पतने' कहकर 'भ्रंशु' शब्द की जो व्याख्या की गई है, वह 'अप्' उपसर्ग लगा देने से अत्यधिक सार्थक हो जाती है।

अपभ्रंश का समय

साहित्यकारों ने अपभ्रंश भाषा का समय ७वीं से १२वीं शताब्दी माना है, परन्तु यह समय अपभ्रंश की साहित्य रचना के अनुसार निर्धारित किया गया है। मूलतः अपभ्रंश तो ई.पू. प्रथम शताब्दी से या उससे पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी। भरत के नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीयम् में भी इसका प्रयोग मिलता है। इसके अनुसार हम अपभ्रंश भाषा का अस्तित्व ईसा की प्रथम शताब्दी में मान सकते हैं। भले ही अपभ्रंश भाषा में स्वतंत्र रूप से काव्य रचना ६वीं शताब्दी से शुरु होकर निरन्तर १६वीं शताब्दी तक चलती रही।

प्राचीन साहित्य में अपभ्रंश

अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य भाषा की अंतिम अवस्था का नाम है। पर इस अवस्था को यह नाम क्यों दिया गया, इसका समय कब से कब तक माना जाए, भाषा और साहित्य के प्रचृन भारतीय आलोवकों का इसके बारे में क्या अभिमत है इत्यादि प्रश्न उठते हैं। सारे प्रश्नों को दो रूपों में विभक्त करके उनके समाधान दिए जा सकते हैं–

१. प्राचीन उल्लेखों के आधार पर अपभ्रंश की विकास-रेखा।

२. प्राकृत वैयाकरणों द्वारा व्याकृत अपभ्रंश का विचार।

प्राचीन उल्लेख तीन प्रकार के हैं–

क. वैयाकरणों का उल्लेख।

ख. साहित्य आलोचकों के उल्लेख।

ग. अपभ्रंश लेखकों के उल्लेख।

क. अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है किन्तु वहाँ यह शब्द भाषा वैज्ञानिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर अपाणिनीय पद के लिए प्रयुक्त हुआ है। पतञ्जलि के समय तक अपभ्रंश भाषा की प्रवृत्तियाँ देशभाषाओं में प्रस्फुटित नहीं हुई थी।

अपभ्रंश के जन्मकाल में पाणिनीय व्याकरण का नियंत्रण शब्दों पर था, जो शब्द इस नियंत्रण के अंतर्गत नहीं आते थे, वे अपठनीय रहने के कारण अपभ्रंश कहे जाते ते। पराकृत वैयाकरण चण्ड ने भी अपभ्रंश का उल्लेख किया है- 'न लोपोऽपभ्रंशेऽधो रेफस्य' सूत्र में अपभ्रंश का भाषा के रूप में उल्लेख किया है। उसके बाद त्रिविक्रम, सिंहराज, लक्ष्मीधर, शेषकृष्ण और मार्कण्डेय ने भी प्राकृतों के साथ इसका नाम गिनाया है। चण्ड ने 'संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशम पैशाची, मागधी और शौरसेनी भाषाएं गिनायी हैं- 'वररुचि ने प्राकृतों का विचार करने के अनन्तर 'दाढ़ादयो बहुलम् कहकर, अपभ्रंश के विचार को छोड़ दिया है। 'अभिधान चिंतामणि' में संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश के नाम आए हैं।(२/९९)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहेम व्याकरण में प्राकृतों के बाद अपभ्रंश का भी व्याकरण दिया है। संस्कृत-प्राकृत व्याकरणों में यही उल्लेख मिलते हैं, इनके आधार पर ये निष्कर्ष निकालते हैं–

१. भारतीय वैयाकरण प्रायः साहित्यरूढ भाषा पर विचार करते हैं, लोक भाषाओं पर उन्होंने कु भी नहीं लिखा।

२. संस्कृत और पराकृत साहित्य में थी, अतः उनका व्याकरण लिखा गया।

३. अपभ्रंश भाषा में (विशेषतः नाटकों में) प्रयुक्त नहीं हुई थी, अतः उसकी उपेक्षा हुई।

४. बोलचाल के रूप में जब वह अस्तित्व में आयी तो केवल उनके नाम का उल्लेख कर देना ही आवश्यक समझा गया।

५. १२वीं सदी में जब इनका भी साहित्य समृद्ध और रूढ़ हो गया तो इसका व्याकरण लिखने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

६. हेमचन्द्र जिस समय साहित्यरूढ अपभ्रंश का विचार कर रहे थे उस समय लोक में नयी भाषाएं नाम रूप ग्रहण कर रही थीं।

७. पतंजलि ने 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं किया

अपभ्रंश से उनका अर्थ संस्कृत से भिन्न शब्द है। इसके आधार पर इतना ही हम कह सकते हैं कि पतञ्जलि के समय में ये शब्द काफी संख्या में प्रचलित हो रहे थे। अतः प्राकृत वैयाकरणों के के उल्लेखों से अपभ्रंश के सम्बन्ध में हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती।

ख. यह आश्चर्य की बात है कि वैयाकरणों की अपेक्षा संस्कृत साहित्य आलोचक अपभ्रंश का उल्लेख अधिक करते हैं। भरतमुनि (नाट्यशास्त्र, १७/४८-५५) ने लिखा है कि नाटकों में प्राकृतों के साथ उकारबहुला भाषा भी प्रयुक्त होती है। भाषा के वे तीन भेद करते हैं- अतिभाषा, आर्य भाषा और जातिभाषा। इनमें पहली देवों की और दूसरी राजाओं की है। जातिभाषा से उनका तात्पर्य प्राकृत भाषाओं से है, इसके अन्तर्गत उन्होंने तीन प्रकारों के शब्दों का विचार किया है, तत्सम, विभ्रष्ट (उद्भव) और देशी। जातिभाषा के भी उन्होंने दो भेद किए हैं। इनमें एक तो म्लेच्छादि शब्दों से भरपूर है परन्तु दूसरी का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। हमारी धारणा है कि शायद यह शिष्ट प्राकृत होगी। इसके अनन्तर वह प्रयोग तथा प्रांतों के ाधार पर भाषा और विभाषाओं के नाम गिनाते हैं। किस आधार पर उन्होंने ऐसा किया, यह हमें नहीं मालूम। लेकिन प्रादेशिक दृष्टि से वह बोलियों को निम्न रूप में विभक्त करते हैं-

१. विन्ध्याचल और समुद्र के बीच स्थित देशों में आयोजित द्रविड़ और शाबरी भाषाओं का प्रयोग होता है।

२. गंगा और समुद्र (पूर्वी) के बीच के देशों में एकारबहुला भाषा का प्रयोग होता है।

३. हिमवान, सिन्धु, सौवीर प्रदेशों में उकारबहुला भाषा का प्रयोग है।

अतः भरत के समय भौगोलिक दृष्टि से भाषाएं इस प्रकार थीं। पूर्व में एकार वाली, पश्चिम में उकारवाली और दक्षिण में द्रविड़ बोलियाँ, परन्तु उनके समय अभीरोक्ति भी दक्षिण में पहुँच गयी थी।

भरतमुनि का समय अनिश्चित है, फिर भी ह चौथी सदी के पूर्ववर्ती तो हैं ही। भामह बोली का नहीं किन्तु अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करते हैं। जैसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। दण्डी चार प्रकार के काव्यों की चर्चा करते हैं- संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित। रुद्रट कहते हैं कि प्राकृत ही अपभ्रंश है। आचार्य वामन भाषाओं का विचार तो नहीं करते फिर भी वह अत्यन्त प्रयुक्त देशी भाषा पद के प्रयोग को वांछनीय मानते हैं।

इस प्रकार ६ठी से लेकर १४वीं सदी तक के उक्त साहित्यिक संदर्भों से निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं-

१. भरत मुनि के समय, अपभ्रंश एक बोली के रूप में अवश्य थी, तभी उन्होंने नाटकों में उसके भी प्रयोग की बात लिखी।

२. भरत मुख्य रूप से नाटकों के आलोचक हैं। पर शुद्ध साहित्य आलोचक भामह और दण्डी भी अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख करते हैं।

३. दण्डी आभीरी की पहचान अपभ्रंश से कराते हैं।

४. एक दल, अपभ्रंश को प्राकृत मानता था, फिर भी काव्य में उसका स्वतंत्र अस्तित्व आरम्भ से ही रहा। रुद्रट, आभीरी ग्राम्य और उपनगर में विकासक्रम दिखलाना चाहते हैं। नमि साधु उसे महाराष्ट्री के निकट देखते हैं।

५. भरत, रुद्रट और राजसेखर अपभ्रंश का अस्तित्व पश्चिम में मानते हैं। पर धीरे-धीरे उसका प्रभाव दक्षिण और मगध में पहुँच गया। भोज के अनुसार गुर्जर अपने अपभ्रंश से संतुष्ट होते हैं इससे यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कई रूप होने चाहिए, किन्तु इस भिन्नरूपता को जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है।

६. हेमचन्द्र और वाग्भट्ट ग्राम्य अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक नई बोलियाँ विकसित होने लगी थीं, शिष्ट अपभ्रंश की तुलना में ये ग्राम्य ही थीं। पर यह बोलियों का उल्लेख है, उसके साहित्य का नहीं क्योंकि अपभ्रंश का प्रभाव हेमचन्द्र के अनन्तर भी बना रहा।

ग. उपलब्ध अपभ्रंश काव्यों में आए हुए उल्लेखों से भी हमें अधिक जानकारी नहीं होती, तो भी इतना निश्चित है कि अपभ्रंश के दो रूप अवश्य थे- शिष्ट और ग्राम्य। स्वयंभू ने पउमचरिउ की भाषा को गामिल्ल भाषा से रहित माना है, यह भी ज्ञात होता है कि जिन मंदिरों में बहुचरित पोथियां रहती थीं उनकी रचना और अभिनय का भी प्रचलन था। वटवृक्ष और उपाध्याय के रूपक से यह भी ज्ञात होता है कि स्वयंभू के समय इसका पठन-पाठन भी होने लगा था। महापुराण (१/८६)के अनुसार ऋषभ ने भी अपनी पुत्रियों को अपभ्रंश की शिक्षा दी।

इससे यह धारणा कि अपभ्रंश कवियों ने इस भाषा को अपभ्रंश नहीं कहा क्योंकि यह नाम संस्कृत वैयाकरणों ने रखा था, इससे उन्हें अरुचि थी - निर्मूल हो जाती है। अपभ्रंश कवियों के इन संदर्भों से केवल यही जानकारी मिलती है कि उक्त अवधि में अपभ्रंश भाषा और साहित्य की पढाई भी शिक्षा का अंग मानी जाती थी।

अपभ्रंश भाषा की विशेषताएं

६ठी शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने साहित्य का रूप धारण कर लिया तब व्याकरणाचार्यों ने उसे भी व्याकरणबद्ध किया। यहाँ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित अपभ्रंश के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं-

शब्दरूप

१. अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के एकवचन में अकारान्त शब्दों का उ होता है। यथा, दशमुखः- दसमुहु।

२. तृतीय विभक्ति के एकवचन में अन्तिम अ के स्थान पर ए होता है। यथा, नखेन - नहे।

३. तृतीया विभक्ति में बहुवचन में अन्त्य अकार के स्थान पर विकल्प से एकार आदेश होता है। यथा, लक्षैः-लक्खेहिं।

४. अकारान्त शब्दों से पंचमी विभक्ति के एकवचन में हे और हु तथा बहुवचन में हुँ प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यथा, वृक्षात् - वच्छहे, वच्छहु, गिरिश्रृंगेभ्यः - गिरिसिहुँ।

५. षष्ठी विभक्ति एकवचन में सु ह्वा-स्स होता है तथा बहुवचन में हं प्रत्यय होते हैं। यथा, तस्य-तस्सु दुर्लभस्य - दुल्लहो, तृणानाम् - तणंह।

६. इकारान्त और उकारान्त शब्दों में आम् प्रत्यय के स्थान पर हुं और हं आदेश होते हैं। यथा, शकुनीनाम् - सयइणहं, सउणिहें।

७. इकारान्त और उकारान्त पंचमी एकवचन, बहुवचन और सप्तमी के एकवचन में क्रमशः हे, हुं और हि आदेश होते हैं। यथा, गिरेः, गिरिहे, तरुभ्यः - तरुहं, कलौ-कलिहि।

८. इकारान्त और उकारान्त तृतीया विभक्ति के एकवचन में एं, णं और अनुस्वार होते हैं। यथा, अग्निना-अग्गिएं, अग्गिणं।

९. स्त्रीलिंग में वर्तमान शब्द से परे आने वाले ङस् और ङसि के स्थान में 'हे - होता है। यथा, मध्यायाः - मज्झहे, धन्यायाः -धणहे।

१०. स्त्रीलिंग में भ्यस् और आम् के स्थान में हु होता है। यथा, - वयस्याभ्यः - वयंसिअहु।

११. नपुंसक लिंग में प्रथम द्वितीया के बहुवचन में इं होता है। यथा, कमलानि - कमलईं।

क्रियारूप

१२. अपभ्रंश में संस्कृत व्यंजनान्त धातु में प्रत्यय जोड़कर रूप बनाए जाते हैं। यथा, कह+अ+इ

१३. मध्यम पुरुष एकवचन में सि, हि और बहुवचन में हु ह प्रत्यय जोड़े जाते हैं – करोसि – करहि, करसि।

विक्रमोर्वशीयम के चतुर्थ अंक में प्राप्त अपभ्रंश के कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं–

१. अकार के स्थान पर उकार– हउं पुच्छिमि ... अगवरु ... तरविरु। महुअरु, अविचल्लु, कोलु, महिअरु, सेहरु, मणोहरु, निज्झरु।

२. विभक्ति लोप–उद्योत: उज्जुअ, प्रियतमां–पिअअम्। क्रियारूप – मध्यम पुरुष में हि, ह का प्रयोग–पश्यत:– पेक्खह, दर्शय–देक्खावहि सर्वनाम–मम को महु।

अपभ्रंश में उँ का प्रयोग बहुलता से होता है। विक्रमोर्वशीयम में भी कुछ उदाहरण दिकायी पड़ते हैं– हउं, हउँ, अहं। पइँ या पइं आदि शब्दों का प्रयोग भी विक्रमोर्वशीयम में है। तृतीया में मम का मइं रूप चतुर्थ अंक श्लोक नं २ में मिलता है। विक्रमोर्वशीयम में अपभ्रंश की जितनी गाताएं हैं उसमें अपभ्रंश भाषा के अन्य नियमों की अपेक्षा उकार का ही प्रयोग मुख्यतया प्राप्त होता है– विणु, पुणि–विना पुन:, णइ–न, विहिजोएँ–विधियोगेन, तां–ताह, ह्रदयेन–हिअएँ। इसी प्रकार अपभ्रंश में दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। बिक्रमोर्वशीयम में भी यह नियम दिखलाई पड़ता है– निर्भ्रान्ति–णिभंती।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा के नियमों का उल्लेख करते हुए अंत में शौरसेनीवत् (४/४४६)कहते हैं, इससे सिद्ध होता है कि शौरसेनी भाषा के जो नियम हैं वे भी अपभ्रंश में प्रयुक्त होंगे। अत: विक्रमोवेशीयम में भी अपभ्रंश के साथ शौरसेनी भाषा के नियम उपलब्ध भी होते हैं।

सामान्यतया जब संस्कृत नाटकों का अध्ययन किया जाता है तो यह देखा जाता है कि प्राकृत की अन्य भाषाओं की अपेक्षा शौरसेनी भाषा का ही प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। अत: कालिदास विक्रमोर्वशीयम में भी शौरसेनी भाषा का प्रयोग बहुलता से हुआ है। यद्यपि याकोबी, एस.पी. पंडित आदि विद्वान् विक्रमोवेशीयम के चतुर्थ अंक में प्राप्त अपभ्रंश की कुछ गाथाएं प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु डॉ. ए.एन. उपाध्ये और डॉ. तगारे इन गाथाओं की प्रामाणिकता में आशंका नहीं करते हैं। यदि यकोबी, एस.पी. पंडित आदि इन गाथाओं के प्रक्षिप्त मानने का कारन इसके साहित्य का आरम्भ ६ठी से ७वीं शताब्दी होने के कारण मानते हैं तो यह उचित नहीं क्योंकि प्रत्येक युग में साहित्यिक भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा अवश्य रहती है और यही देशी भाषा उस साहित्यिक भाषा को नया जीवन प्रदान कर सदैव विकसित करती रहती हैं। छान्दस् से प्राकृत भाषा का विकास हुआ और प्राकृत को भी अपने रुढ़ि बंधनों को दूर करने के लिए लोकभाषा की सहायता लेनी पड़ी। फलत: भारतीय आर्य भाषा में अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई और वह कालिदास के समय में भी प्रचलित थी।

सन्दर्भः

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, महाकवि कालिदास, राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर, १९९९।

२. काव्यादर्श, भाग–८, आचार्य दण्डी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८८।

३. तुलसीमंजरी, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती लाडनूं।

४. नलविलासनाटकम्, रामचन्द्रसूरि, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६

५. नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, ारिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९५

६. प्राकृतप्रकाश, वररुचि, संस्कृत पुस्तक भंडार, कलकत्ता, १९९८

७. भासनाटकचक्रम, भास, गोपालमंदिर लेन वाराणसी, वि. सं. २०५५

८. मृच्छकटिकम्, शूद्रक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९

९. विक्रमोर्चशीयम्, महाकविकालिदास, कलकत्ता महानगर, १९२५

धर्म का भविष्य : एक विमर्श

श्याम रंजन प्रसाद सिंह

धर्म के भविष्य को लेकर, आज विश्व की स्थिति अत्यन्त ही विचारणीय है। विज्ञान की प्रगति और उसमें लोगों की बढ़ती आस्था से यह अनुमान लगने लगा है कि 'धर्म' का कालक्रम में तिरोहण हो जायेगा। क्योंकि विज्ञान ने न केवल मनुष्य के संस्कार, आचार-विचार और चिन्तन-पद्धत्ति को प्रभावित किया है, बल्कि उसने मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। विलियम जुरडीग ने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में ठीक ही कहा कि 'आज के युग में धर्मानुसरण करना सांस्कृतिक पिछड़ेपन की निशानी है।'[१] यही कारण है कि आज की परिस्थिति में हर चिन्तनशील व्यक्ति के मन में धर्म के भविष्य के सम्बन्ध में आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लोग आस्था के विषय धर्म को, तर्क की तुला में तौलने लगे हैं। ऐसी परिस्थिति में हमारे समक्ष धर्म के भविष्य और महत्त्व का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य इसी प्रश्न का उत्तर खोजना है।

लेकिन प्रारम्भ में ही हम यह बताना आवश्यक समझते हैं कि यहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ कोई खास धर्म के लिए नहीं, अपितु यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है। आज धर्म का संप्रत्ययन धर्म-तर्कबुद्धि का द्वन्द्व, आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ द्वन्द्व, धर्म और विज्ञान द्वन्द्व तथा धर्म और दर्शन का द्वन्द्व के रूप में बदल गया है। इन्हीं द्वन्द्वों के कारण आम लोग धर्म को मृतप्राय समझने लगे हैं। परन्तु प्रस्तुत निबंध में हम इन्हीं द्वन्द्वों का समीक्षात्मक विमर्श करने का प्रयास करेंगे और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि ये सारे द्वन्द्व बिल्कुल ही आकस्मिक एवं बाह्य हैं, स्थायी एवं आन्तरिक नहीं। क्योंकि धर्म का लक्ष्य मानव के समक्ष एक सुस्पष्ट मार्ग प्रस्तुत करना है, जिसमें मानव का सर्वांगीण विकास निहित है। इस तरह अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि धर्म का भविष्य उज्ज्वल है। क्योंकि इसके साक्ष्य भी वर्तमान में अनेक दिशाओं से प्राप्त हो रहे हैं। धार्मिक ग्रंथों और फिल्मों की लोकप्रियता तथा मन्दिरों, चर्चों की उपस्थिति से यह प्रमाणित हुआ है कि धर्मों में लोगों की आस्था आज भी कायम है। जैसा कि मेरी लिऑन[२] ने कहा है 'आधुनिक व्यक्ति असुविधापूर्वक अपने-आप से हर घड़ी कहता है कि धर्म में कुछ है जरूर।' इस तरह धर्म स्वयं उसकी समस्याओं का केन्द्र बन गया है।[३]

प्रायः कुछ लोगों की यह अवधारणा है कि धर्म अंधविश्वासों एवं आस्था तक ही सीमित है। धर्म का तर्कबुद्धि से दूर-दूर तक का रिश्ता नहीं है। इनका विश्वास है कि आवश्यक रूप से धर्म का कार्य दैवी अभिव्यक्ति है जिसका सम्बन्ध तर्कबुद्धि से नहीं है। धर्मों के सम्बन्ध में कहा भी जाता है कि धार्मिक निष्ठा साधु, मुल्ला तक ही सीमित है, क्योंकि वे अपनी युक्तियों को तार्किकता की कसौटी पर रखना उचित नहीं समझते। साथ ही, दैवी अभिव्यक्ति की सामंजस्यता मानव की व्यावहारिकता से बिल्कुल नहीं बैठती है। कारण कि धर्म को ये लोग अंधविश्वासों का अजायबघर मानते हैं। यहाँ पर धर्म के पक्ष में जो युक्तियाँ साधु या मुल्ला द्वारा दी जाती है वह रहस्यों से भरी होती है, जिसे आम लोग सीधे मान लेते हैं। अब यदि इसी परिप्रेक्ष्य में धर्म को हम मंदिर के पुजारियों, मस्जिद के मुल्लाओं एवं गिरजाघर के अधिवक्ताओं तक ही सीमित रखें, तो निश्चय ही धर्म का भविष्य अंधकारमय है।

लेकिन तर्कबुद्धि अपने व्यापक स्वरूप में सिर्फ तर्कीय अनुगमन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह अपने अन्दर धर्म

के क्रियात्मक, भावात्मक एवं ज्ञानात्मक तीनों पहलुओं को समाविष्ट करता है। इस रूप में हम इसे एक तर्कबुद्धिपरक धर्म के सम्बन्ध में सोच सकते हैं। यदि एक धार्मिक निष्ठावान व्यक्ति ईश्वरीय श्रुति को तर्कबुद्धि की सहायता लेकर अपनाता है तो उसे हम धर्मविरोधी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि तर्कबुद्धि धर्म के अपरिमित सत्य का विरोधी नहीं, बल्कि पूरक है। इस रूप में तर्कबुद्धि का कार्य धर्म के अंधविश्वासों को हटाकर धार्मिक संप्रत्ययन का परिशोधन करना है। इस क्रम में धर्म, मानव के व्यावहारिक पक्ष को भी ग्रहण करती है। इस अर्थ में तर्कबुद्धि, धर्म के साथ-साथ चलते दिखती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम परिमित सत्ता और अपरिमित सत्ता की भिन्नता को अस्वीकार कर दें। ईश्वर एक अपरिमित सत्ता है जबकि हम मानव एक सीमित सत्ता। परन्तु यदि एक परिमित सत्ता एक अपरिमित सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, तो इससे कोई विरोध नहीं दिखता : क्योंकि तर्कबुद्धि यह स्वीकार करती है कि उस अपरिमित सत्ता का मूल्य परिमित के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकती है; और यह व्यावहारिक भी है। यही कारण है कि गुह्य ईश्वर का हम मानव अपने विचारों, संवेगों, भावनाओं एवं आचरणों द्वारा बोध पा सकते हैं। इस तरह एक मानव स्वेच्छा एवं तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर का बोध पा सकता है।[४]

तर्कबुद्धि सर्वप्रथम ईश्वर का ही गुणधर्म है और बाद में यह ईश्वर सायुज्य से मानव का गुणधर्म हो जाता है। यहाँ जब हम गुणधर्म को ईश्वर के साथ व्यवहार में लाते हैं तो इसका सदा व्यापक अर्थ होता है। इसी अर्थ में हम ईश्वर को तर्कबुद्धिपरक अपरिमित सत्ता मान सकते हैं।[५] इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय विचार तर्कबुद्धि और आस्था दोनों के लिए हितकर है। इस तरह धर्म और तर्कबुद्धि के बीच विरोध नहीं, बल्कि सामंजस्य है और इस परिप्रेक्ष्य में धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

प्रायः व्यक्ति 'ईश्वर' को आत्मनिष्ठ प्रत्यय मानता है। अर्थात् ईश्वर का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित है, वस्तुनिष्ठ जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।[६] लेकिन वास्तव में धर्म के सम्बन्ध में यह द्वैत खड़ा कर धर्म को विवादास्पद बनाना उचित नहीं है। क्योंकि जो व्यक्ति इन सत्यों में विश्वास करता है, वह यह भी विश्वास करता है कि यह आस्था सिर्फ उसी के साथ नहीं है, बल्कि यह आस्था दूसरों के लिए भी मान्य है। इस तरह धर्म के सम्बन्ध में आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ का द्वैत अनुचित प्रतीत होता है।[७] फिर 'ईश्वर के प्रत्यय' का व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके कारण धर्म को सिर्फ आत्मनिष्ठ कहना उचित नहीं है। हमारे व्यावहारिक जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पर हम ईश्वर की दया की याचना करते हैं। आपातकाल में सभी व्यक्ति चाहे वे वैज्ञानिक हो, दार्शनिक या धार्मिक ईश्वर की दया की याचना करते हैं। यह अलग बात है कि धर्म को सिर्फ आत्मनिष्ठ मानने वाले इसे व्यक्त नहीं करते हैं जबकि धार्मिक व्यक्ति अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म आत्मानिष्ठ ही नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ भी है और इस अर्थ में भी धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

आज के आधुनिक युग में विज्ञान के अध्ययन का महत्त्व और उपयोगिता इतनी बढ़ी है कि धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि विषय नेपथ्य में चले गये हैं। कल तक जो स्थान और महत्ता इन विषयों को प्राप्त थी, वह आज विज्ञान को प्राप्त है। फलतः धर्म की महत्ता और उपयोगिता संदेहास्पद होती जा रही है। इसी विज्ञान एवं मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण मार्क्स और फ्रायड दोनों ही यह मानते हैं कि धर्म का निकट भविष्य में अन्त हो जायेगा। मार्क्स के अनुसार धर्म अफीम के नशे की तरह है, जिसके प्रभाव में निर्बोध श्रमिक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो जाता है और पूँजीपतियों के वर्ग द्वारा शोषित होता रहता है। उनके अनुसार धर्म में विश्वास का कारण हमारी अज्ञानता है। विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के प्रसार से जब यह अज्ञान दूर हो जायेगा, तो धर्म का स्वयं लोप हो जायेगा और एक आदर्श वर्गहीन समाज की रचना होगी। विज्ञान के द्वारा ही मानव प्रगति कर सकता है, सुसंस्कृत बन सकता है। धर्म इस प्रगति में बाधा डालता है, अतः इसका उन्मूलन होना चाहिए।[८] इस तरह हम देखते हैं कि मार्क्स का दिचार है कि मनुष्य का जीवन मानवता के नैसर्गिक सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट होना चाहिए, किसी अतिप्राकृतिक तत्त्व में विश्वास करना धोखा होगा। उनकी स्पष्ट दृष्टि है कि धार्मिक विचार स्वतः कोई अर्थ नहीं रखता। क्योंकि धार्मिक विधान के सभी स्वाभाविक संदर्भ और मूल्य द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद के आधार पर अस्वीकृत हो जाते हैं।

लेकिन उपरोक्त विचार के उत्तर में हम कह सकते हैं कि मार्क्स धर्म की प्रवृत्ति और उसके उद्देश्य को कम करके देखते हैं। धार्मिक अनुभूति एक स्वतंत्र अनुभूति है, आश्रित अनुभूति नहीं। मनुष्य की विशिष्ट अनुभूतियों से इसका सहज सम्बन्ध है। यह इसकी महत्ता और उपयोगिता का प्रमाण है। मार्क्स ने पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर अनुपयुक्त ढंग से इसके दावे को अस्वीकृत करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि धार्मिक अनुभूतियाँ प्रवृत्ति से गौण अस्तित्व वाली है। इनका कोई अपना अर्थ और संदर्भ नहीं है, ये इतिहास की उत्पादक शक्तियों का परावर्तन-मात्र हैं। मार्क्स ने धार्मिक अनुभूतियों के उस पक्ष के साथ भी न्याय नहीं किया है, जहाँ दूसरे सांस्कृतिक कार्यकलापों से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक अनुभूतियाँ, कई अन्य मानवीय अनुभूतियों को अलग करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि मार्क्स धर्म के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं।

मार्क्स की भाँति फ्रायड भी इस युग में धर्म के सबसे बड़े आलोचक माने जाते हैं। फ्रायड धर्म को वर्तमान संस्कृति और जीवन को प्रभावित करने वाला निश्चित तत्त्व नहीं मानते हैं। वे धर्म को मनोवैज्ञानिक समस्या मानते हैं। मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने बतलाया है कि धर्म एक प्रकार का मानसिक रोग है, जिसका कारण सुरक्षाजनित मानव की स्वभाविक इच्छा है।[९] बाल्यावस्था से मानव एक सबल संरक्षण की आवश्यकता अनुभव करता है, जो उसे अज्ञात खतरों से बचाये। उस अवस्था में यह सुरक्षा उसे पिता से मिलती है। परन्तु बड़े होने यथा-प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने के बाद भी वह किसी-न-किसी रूप में सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करता है। यही आवश्यकता उसे धर्मरूपी भ्रम को अंगीकार करने को बाध्य करती है। फ्रायड के लिए यह मानव की मनोविकृति है। उनकी दृष्टि में धर्म का मानव-जीवन में वही स्थान है, जो सर्प के जीवन में केंचुए का। जिस प्रकार एक अवस्था पहुँचने पर साँप केंचुए का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मानव का बौद्धिक विकास होने पर उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान अवश्य हो जायेगा। अन्त में विकास की एक ऐसी अवस्था आयेगी जहाँ पहुँचने पर मानव धर्म का परित्याग अवश्य कर देगा ऐसी भविष्यवाणी की जा सकती है।[१०]

लेकिन फ्रायड के धर्म-सम्बन्धी विचार के उत्तर में हम कह सकते हैं कि उनका यह विचार धार्मिक अनुभूतियों का लौकिक रूप-मात्र है तथा इसे धर्म के सम्बन्ध में चर्चा का मनोवैज्ञानिक तरीका-मात्र कहा जा सकता है, जिसमें विवाद के लिए पर्याप्त स्थान है। जैसा कि फ्रायड धार्मिक अनुभूति को आरोपित मान कर उसकी वस्तुपरकता को अस्वीकार करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन यहाँ यह कहा जा सकता है कि आरोपन चूँकि विमर्श का विषय मात्र है, अतः इसमें धार्मिक अनुभूतियों को उत्पादित करने की क्षमता नहीं है। धार्मिक जगत् को इच्छा का संसार मानने की फ्रायड की धारणा प्रकृत्या-इम्पीरियोजेनिक की अपेक्षा मेथोजेनिक अधिक है। एक पवित्र और प्रतिबद्ध आत्मा के अस्तित्व एवं उसके समस्त क्रिया-व्यापार को जिन्हें हम धार्मिक अनुभूति कहते हैं, मात्र मनोवैज्ञानिक पद्धत्ति से सही-सही नहीं समझा जा सकता है। यहाँ हम मनोवैज्ञानिक समस्या और धार्मिक अनुभूति को यदि अलग-अलग समझने का प्रयास करें तो दोनों के अन्तर को सही रूप में समझ सकते हैं। सांसारिक दुःखों का वास्तविक निवारण वास्तविक ढंगों से होता है, धर्मों के ढंगों से नहीं। परिणाम यह होता है कि धार्मिक प्रवचनों की नवीनता से आकर्षित मानव अपनी सारी उम्मीदों को उसी पर लगा बैठता है। किन्तु कालान्तर में उसकी आँखें खुलती है, वह वास्तविकता को देख पाता है और उसे धार्मिक ढंगों की कल्पनिकता समझ में आ जाती है। इसीलिए सन्तायना के अनुसार धर्म की विफलता का कारण वास्तविक रोगों के लिए धर्म का काल्पनिक निदान देना है।[११] इस तरह हम निष्कर्षतः कह सकते हैं कि मार्क्स की तरह फ्रायड ने भी धर्म को भीतर से समझने की चेष्टा नहीं की है। यहाँ तक कि उसके लौकिक संदर्भ को भी सही रूप से देखा नहीं है। इसलिए वे भी मार्क्स की भाँति धर्म के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं।

आज का युग निश्चित रूप से विज्ञान का युग है। विज्ञान के इस युग में धर्म एवं धार्मिक कृत्यों का महत्त्व नगण्य ही नहीं, हास्यास्पद भी हो गया है। फ्रायड की तरह ही हॉगवेन ने भी माना है कि धर्म और विज्ञान में घोर वैषम्य है। विज्ञान के प्रसार के कारण धर्म का लोप हो रहा है।[१२] वास्तव में धर्म और विज्ञान के विरोध का प्रमुख कारण है- तर्कीय तर्कबुद्धि। धर्म विरोधी विचारकों का मानना है कि धर्म का संबंध तर्कबुद्धि से नहीं है, जबकि आज तर्कबुद्धि को चिन्तन का केन्द्र-

बिन्दु माना जाता है। इस आधार पर विज्ञान धार्मिक विचारों का विरोध यह कह कर करता है कि धर्म अनुभवातीत सत्य से सम्बन्धित है, जो तर्कमूलक नहीं है। क्योंकि जो सत्य अनुभवजन्य नहीं है, वह अर्थहीन है। इसी अर्थ में धर्म और धर्म सम्बन्धी वाक्य चूँकि इन्द्रियजन्य अनुभूति से परे हैं, अतः अर्थहीन है।

परन्तु विज्ञान के इस दावे को हम स्वीकार नहीं कर सकते; क्योंकि कुछ ऐसे वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने धर्म को अपने वैज्ञानिक जीवन में अपनाया है। प्रो. ल्यूबा[13] का विचार हॉगबेन के बिल्कुल विपरीत है। वे विज्ञान और धर्म में विरोध नहीं पाते। उनकी धारणा है कि विज्ञान की परिणति धर्म में लय हो जाने में ही है। धर्म से उनका तात्पर्य गुह्य धर्म से है और विज्ञान से रहस्यानुभूति की तकनीकों में सुधार की अपेक्षा करते हैं। प्लैंक एवं आइन्स्टाइन आदि प्रमुख वैज्ञानिक भी विज्ञान को धर्म विरोधी नहीं मानते हैं। हालाँकि इन्होंने जीवन के प्रारम्भ में धर्म के प्रति अनिष्ठा का भाव व्यक्त किया, परन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में इन दोनों ने धार्मिक विचारों में आस्था व्यक्त की। प्लैंक[14] यह मानते हैं कि मानव जीवन के संतुलित विकास में दोनों आवश्यक है। वास्तव में दोनों में विरोध नहीं है। आइन्स्टाइन[15] ने धर्म और विज्ञान के बीच गहरा सम्बन्ध माना है। वे दोनों को एक-दूसरे की प्रगति के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका विचार है कि 'धर्म के बिना विज्ञान अंधा है और विज्ञान के बिना धर्म पंगु।' फिर भी उनका विचार 'व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर' के प्रति उदार नहीं है। उनका परामर्श है कि धर्म से यदि इस कल्पना का बहिष्कार कर दिया जाये तो धर्म का हित ही होगा। धर्म का उद्देश्य उन बौद्धिक उद्देश्यों एवं परमशुभ की प्राप्ति है, जिनसे जीवन का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठता है। वे ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करते जो मानव का 'भाग्य-निर्माता' है बल्कि वैसे ईश्वर का स्थान देते हैं, जो स्पिनोजा के ईश्वर की तरह अपने को विश्व में प्रस्फुटित करता है।[16] पुनः उनका मानना है कि भौतिक विज्ञान अमूर्त है और ये अपरिमित सत्य तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसलिए उनके अनुसार सत्य-बोध हेतु एक अन्य मार्ग अवशेष रह जाता है, जिसे वे गुह्य मानते हैं।[17]

उपर्युक्त वैज्ञानिकों की चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि वास्तव में धर्म और विज्ञान का विरोध उतना उग्र नहीं है जितना दिखाया जाता है। वस्तुतः विज्ञान का विरोध धर्म की पारलौकिकता को लेकर है। अतींद्रिय ईश्वर, मृत्यु के बाद स्वर्ग और नर्क में जाने की कल्पना, अमरता आदि बातें विज्ञान को मान्य नहीं हैं। लेकिन साथ ही विज्ञान को अपनी सीमितता का भी बोध है। क्योंकि ये समझते हैं कि इनका अविष्कार सिर्फ सीमित वस्तुओं तक ही सीमित है और इस तरह अनुभव करते हैं कि एक असीमित एवं अपरिमित सत्य की बात रह ही जाती है, जिसकी प्राप्ति सिर्फ धर्म के द्वारा ही संभव है। इन विवेचनों को आधार मानकर हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि धर्म और विज्ञान दोनों अपनी सीमा का ख्याल करते हुए एक-दूसरे के पूरक का काम करें तो मानव का संतुलित विकास हो सकता है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म का उद्देश्य केवल अतींद्रिय विषयों का ज्ञान देना ही नहीं है, अपितु धर्म हमारी धार्मिक प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने की कला है। जिसे प्राप्त करने के लिए हम नाना प्रकार की धार्मिक क्रियायें करते हैं।

जब तक हमारा बौद्धिक स्तर नीचा था, तब तक हम धर्म द्वारा प्रदत्त ईश्वर, आत्मा, अमरता आदि को उसके कहे अनुसार मान कर संतुष्ट हो जाते थे, किन्तु अब जब विज्ञान ने हमारा बौद्धिक स्तर ऊँचा कर दिया है तब उक्त ज्ञान की परिभाषा लौकिकता के आधार पर करने की कोशिश की जा रही है। लेकिन हमारा अनुभव कहता है कि लौकिकता की एकछत्रता बहुत दूर तक संभव नहीं है। इसे अन्तिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। इसलिए जहाँ तक धर्म और विज्ञान में विरोध अलौकिता और लौकिकता को लेकर है, वहाँ मेरा विचार है कि इस विरोध का अर्थ सर्वथा विलगाव न है और न कभी हो सकता है। यह केवल सापेक्षिक और सामयिक हो सकता है। क्योंकि धर्म कोई संकुचित प्रणाली नहीं है। यह तो उपखंडों में सम्पूर्ण का दर्शन है, जीवन के क्रियाकलापों और आन्तरिक शक्तियों को शुद्ध और प्रौढ़ बनाने वाला तत्त्व है। धर्म के आलोक में ही मानव अपने लौकिक जीवन का पुनर्मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन में उसके व्यवसाय और जीवन-यापन का साधन भी सम्मिलित है।

इस दृष्टि से देखें तो धर्म विज्ञान से विरोधी नहीं सिद्ध होता। बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि विज्ञान, कला, दर्शन आदि ने धर्म की प्रगति में योगदान दिया है। यदि धर्म में ऐसी प्रगतिशील दृष्टि न हो, तो वह सभी नवीन मूल्यों को अपने

में आत्मसात् करने में सक्षम नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से धर्म को इसी रूप में देखा गया है। वैशेषिक दर्शन में उसकी परिभाषा देते हुए कहा भी गया है- 'यतो अभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि ततो धर्मः।' अतः भारतीय दृष्टि से धर्म की अर्थगत व्याप्ति लौकिक से पारलौकिक सिद्धियों तक फैली है। इस तरह स्पष्ट है कि अगर धर्म का अर्थ केवल मूर्तिपूजा, भ्रमजाल और अन्धविश्वास है, तो निश्चय ही इसका कोई भविष्य नहीं है। अगर उसका अर्थ भारतीय शब्दावली में अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि है, तो फिर धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

धर्म और दर्शन में विरोध सर्वविदित है। विज्ञान से प्रभावित और अनुभव को ही सभी प्रकार के चिंतन का केन्द्र मानते हुए तार्किक प्रत्यक्षवादियों एवं भाषा दार्शनिकों की धारणा है कि जो अनुभवजन्य नहीं है, वह अर्थहीन है। धर्म और धर्म सम्बन्धी वाक्य चूँकि इन्द्रियजन्य अनुभूति से परे हैं, इसलिए वे अर्थहीन हैं। भाषा दार्शनिकों का कहना है कि धर्म पर विचार करना समय नष्ट करना है। तार्किक प्रत्यक्षवाद एवं तर्कीय विश्लेषणवाद ने एक सिद्धांत की स्थापना की है, वह है-सत्यापन-सिद्धांत। सत्यापन सिद्धांत के अनुसर वे ही कथन या प्रकथन सार्थक एवं उपयोगी हैं, जिनका आनुभविक सत्यापन संभव है। इस सिद्धांत को मानने वाले दार्शनिकों का कहना है कि चूँकि धार्मिक प्रकथनों का आनुभविक सत्यापन संभव नहीं है इसलिए ये निरर्थक एवं अनुपयोगी हैं। समकालीन दर्शन में हम पाते हैं कि दार्शनिकों का ध्यान धर्म-दर्शन के क्षेत्र में इसकी परम्परागत समस्याएँ, जैसे-ईश्वर के तात्त्विक गुण क्या हैं, ईश्वर में आस्था या अनास्था किन-किन तर्कीय आधारों पर सुदृढ़ किया जा सकता है, आदि प्रश्नों से हटकर धार्मिक भाषा की सार्थकता की ओर ज्यादा-से-ज्यादा आकृष्ट होता जा रहा है। इसका स्पष्ट आभास हम विट्गेंस्टाइन तथा रसेल के विचारों में पाते हैं और इसका समुचित विकास मौरिज्लिक, रुडॉल्फ कारनैप, ए.जे. एयर तथा कई अन्य दार्शनिकों की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है। इन लोगों की दृष्टि में केवल वैसी ही भाषा या कथन को अर्थपूर्ण स्वीकार किया जा सकता है जो कम से कम सिद्धांत रूप में सत्यापनीय है।[१८] प्रारम्भ में सत्यापन सिद्धांत जब प्रचलित हुआ तब तार्किक भाववादियों ने इसी आधार पर धार्मिक भाषा की अर्थपूर्णता को अस्वीकार किया। किन्तु बाद में पर्याप्त वाद-विवाद के उपरान्त यह स्वीकार किया गया कि धार्मिक भाषा सर्वथा निरर्थक नहीं है।

यह निर्विवाद सत्य है कि धर्म मानव-संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है तथा धार्मिक कथन, प्रार्थना, उक्तियाँ आदि मनुष्य के द्वारा प्रयुक्त भाषा का प्राचीनतम रूपों में से एक है। इसका प्रयोग जन-समूह शताब्दियों से, सार्थक ढंग से करता आ रहा है। अतः धार्मिक भाषा की अर्थपूर्णता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। दूसरे धार्मिक भाषा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उसकी अर्थपूर्णता एक विशेष प्रकार की होती है। धार्मिक उक्तियाँ न विश्लेषणात्मक होती हैं और न संश्लेषात्मक ही। विश्लेषणात्मक वाक्य वैसे वाक्य हैं, जिनके विधेय में उद्देश्य का विश्लेषण मात्र पाया जाता है। ऐसे वाक्य आवश्यक या अनिवार्य वाक्य रहते हैं; क्योंकि इनमें विधेय को उद्देश्य के प्रसंग में निषेध करना, अपने को बिना आत्म विरोध की स्थिति में लाए हुए असंभव है। यद्यपि धार्मिक वाक्य में भी अनिवार्यता पायी जाती है; फिर भी इसे विश्लेषणात्मक नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता या असत्यता मुख्यतः उनमें प्रयुक्त पदों की परिभाषा पर निर्भर करती है, जो बात धार्मिक उक्तियों के साथ नहीं है। कहने का अर्थ है कि विश्लेषणात्मक वाक्य की अनिवार्यता तर्कनापूर्ण है; क्योंकि यह पदों के सुनिश्चित प्रयोग पर आधारित होता है, जबकि धार्मिक वाक्य ही अनिवार्यता मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि यह कहने वालों के संप्रत्यय पर निर्भर करता है।

फिर धार्मिक वाक्यों को संश्लेषणात्मक भी नहीं माना जा सकता है। संश्लेषणात्मक वाक्य वह है कि जिसका विधेय उद्देश्य का विश्लेषण मात्र नहीं है। इसके विधेय में उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई नई बात अवश्य कही जाती है। ऐसा वाक्य इन्द्रियानुभूति पर आधारित होने के कारण सत्यापनीय होता है। चूँकि धार्मिक वाक्य इन्द्रियानुभूति पर आधारित नहीं होता, उसे सत्यापित भी नहीं किया जा सकता है। हम 'चिड़ियाखाने में जेबरा है'-वाक्य की तरह 'ईश्वर सर्वव्यापी है'-वाक्य को सत्यापित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त संश्लेषणात्मक एवं आनुभविक वाक्यों का अर्थ 'मैं, यह' सम्बन्ध में अभिव्यक्त हो पाता है, जो अनुभवकर्ता के व्यक्तित्व के बाहरीपन को सूचित करता है, जबकि धार्मिक वाक्यों का अर्थ

'मैं, वह' सम्बन्ध में अभिव्यक्त होता है, जो विश्वासकर्ता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की उलझन का द्योतक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्कीय प्रत्यक्षवाद एवं तर्कीय विश्लेषणवाद धार्मिक कथनों को निरर्थक साबित करने में सफल नहीं हो पाते हैं। पुन: एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या दर्शन का कार्य यही एक मात्र है? हमारा उत्तर निषेधात्मक होगा, क्योंकि दर्शन के अन्य भी कार्य हैं। इस संदर्भ में प्रो. एन. वी. बनर्जी का कथन बहुत कुछ प्रासंगिक दिख पड़ता है, क्योंकि दर्शन का यह कार्य दर्शन के लक्ष्य का मात्र साधन ही बन पाता है, स्वयं लक्ष्य नहीं।[१९] वास्तव में दर्शन एक शैक्षिक निग्रह है, जिसके अनुसार इसका कार्य मानव को उसकी उलझनों से मुक्त करना है तथा सम्पूर्ण व्यक्तियों के बीच बंधुत्व की उत्पत्ति भी करना है।[२०] इससे स्पष्ट होता है कि दर्शन का धर्म से कोई विरोध नहीं है क्योंकि धर्म का कार्य भी एक आत्मा और दूसरी आत्मा के बीच अनुलोम सायुज्य तथा एक आत्मा और दूसरी आत्मा के बीच पार्षदभाव की उत्पत्ति करना है। इस तरह धर्म, दर्शन की भाँति सम्पूर्ण मानव की विषमताओं, विपदाओं एवं भयावह सर्वनाश से मुक्त करने में सतत् प्रयत्नशील है।

पुन: सत्यापन का सिद्धांत एक मजबूत सिद्धांत नहीं है, क्योंकि जिस सिद्धांत को लेकर यह अग्रसर होता है, वह सिद्धांत इस पर ही लागू नहीं होता। फिर धार्मिक कथन अगर सत्यापनीय नहीं है, तो इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जा सकता कि ये बिल्कुल ही निरर्थक एवं अनुपयोगी हैं। ब्रेथवेट, जो एक समकालीन धार्मिक विश्लेषणवादी है, ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धार्मिक प्रकथन न तो आनुभविक सत्यापनीय है और न ही पुनरूक्तियाँ। फिर भी ये निरर्थक नहीं है, क्योंकि ये किसी-न-किसी तरह हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में धार्मिक प्रकथनों का एक अपना विशेष उपयोग है और अगर ये उपयोगी है, तो फिर ये अर्थपूर्ण भी है।[२१] इसी संदर्भ में प्रो. हीक ब्रेथवेट से भी आगे बढ़ते दिखते हैं, जब वे कहते हैं कि धार्मिक कथनों का आनुभविक सत्यापन संभव है। उनके अनुसार मृत्यु के उपरान्त Survival की बात आती है। यहाँ पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अर्थपूर्ण भी है कि मन का शरीर से विलगाव होता है। प्रो. हीक कहते हैं कि तर्कीय विलक्षणता द्वारा भी इसकी संपुष्टि की जा सकती है। इसलिए वे कहते हैं कि धार्मिक प्रकथन सत्यापन योग्य हैं और अर्थपूर्ण भी हैं।

इस तरह उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम यह कह सकते हैं कि यदि धार्मिक प्रकथन सत्यापनीय न भी हैं तो भी इनका सम्बन्ध चूँकि मानव-जीवन के व्यावहारिक पहलू से है, ये मानव जीवन को एक स्पष्ट मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं, इसलिये ये निरर्थक एवं अनुपयोगी नहीं है। तो इस अर्थ में दर्शन से इसका कोई विरोध नहीं है। क्योंकि दर्शन का भी सम्बन्ध मानव-जीवन से है। यदि यह कहा जाए कि धर्म और दर्शन का विरोध आकस्मिक एवं बाह्य है स्थायी एवं आन्तरिक नहीं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस तरह धर्म और दर्शन के विरोध के परिप्रेक्ष्य में भी धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

वास्तव में धर्म का क्षेत्र विज्ञान और दर्शन से अधिक व्यापक है। अत: हमारी समझ में विज्ञान और दर्शन अगर धर्म के क्षेत्र में घुसपैठ करते हैं, तो इससे धर्म को कोई हानि नहीं पहुँचती : क्योंकि विज्ञान और दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मानव जीवन को उन्नत बनाना तथा मुक्ति प्रदान करना है और यही मनोवृत्ति धर्म का भी है। धर्म का आधार आस्था है, परन्तु अगर तर्कबुद्धि इस आस्था के साथ घुसपैठ करती है तो इससे आस्था को कोई हानि नहीं पहुँचती, बल्कि इससे आस्था की निश्चितता की संभावना और भी अत्यधिक हो जाती है। इस तरह धर्म की विश्वसनीयता ही बढ़ती है। यदि मानव होने के नाते सम्पूर्ण मानवता को सर्वनाश से बचाने के विषय में तनिक भी सोंचते हैं तो हमें विज्ञान, दर्शन एवं धर्म को एक ही परिप्रेक्ष्य में रखना होगा तथा तीनों को अतिव्यापक दृष्टिकोण को भी अपनाना होगा। क्योंकि यह पहले ही हमने जता दिया है कि तीनों का अंतिम लक्ष्य मानव-जीवन को हित पहुँचाना है। धर्म भी इसे स्वीकार करता है। कारण, धर्म मानव-जीवन के प्रति एक अभिवृत्ति है, जिसमें मानव जीवन की तर्कमूलक अभिज्ञा पूर्णरूपेण प्रकाशित होती है। धर्म के प्रति विज्डम का भी यही ख्याल है।[२२]

इस तरह हम कह सकते हैं कि धर्म, दर्शन और विज्ञान तीनों के बीच कोई विरोध नहीं है, इस अर्थ में तीनों का लक्ष्य एक ही है– मानव जीवन का एक स्पष्ट मार्ग प्रस्तुत करना तथा इस क्रम में मानव को हित पहुँचाना। इस परिप्रेक्ष्य में भी धर्म का भविष्य उज्ज्वल ही दिखता है।

इस प्रकार हम उपर्युक्त विभिन्न द्वन्द्वों के समीक्षात्मक विमर्श से इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि कुछ निष्कर्ष निकाल सकें। प्रथमत: कुछ लोग धर्म को सैद्धांतिक कहकर इसका भविष्य अंधकारमय जताया है, परन्तु यह तभी सत्य होगा, जब धर्म मंदिर, मस्जिद एवं गिरिजाघर तक सीमित रहेगा। हमने यह दिखाने का प्रयास किया कि धर्म सिर्फ मंदिर, मस्जिद एवं गिरिजाघर में ही सीमित नहीं है, ऐसा इसलिए कि तर्कबुद्धि और धर्म के बीच कोई स्थायी विरोध नहीं है। अन्त:प्रज्ञा द्वारा धार्मिक विचारों का व्यावहारिक निदर्शन भी संभव है। द्वितीयत: कुछ लोगों ने धर्म को आत्मनिष्ठ कहकर इसके भविष्य पर प्रश्नचिह्न उत्पन्न किया है, परन्तु हमने यहाँ यह बतलाने का प्रयास किया है कि वस्तुत: आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ का द्वैत ही गलत है। तृतीयत: कुछ लोगों ने धर्म और विज्ञान में विरोध बताकर धर्म के भविष्य को अंधकारमय जताया है। परन्तु हमने यह बताने का प्रयास किया है कि दोनों में विरोध स्थायी नहीं है; क्योंकि दोनों का गन्तव्य एक ही है। चतुर्थ, कुछ लोगों ने धर्म और दर्शन के बीच प्रतिभाव दिखाकर धार्मिक कथनों को ही निरर्थक घोषित करने का प्रयास किया है, परन्तु तार्किक विश्लेषणवाद की समीक्षा से हमने पाया कि धर्म और दर्शन का यह प्रतिभाव आकस्मिक एवं बाह्य है, स्थायी एवं आंतरिक नहीं। इस तरह इन परिप्रेक्ष्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म का विरोध न तो तर्कबुद्धि से, न तो विज्ञान और न ही दर्शन से है; बल्कि यह सभी के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए मानवहित की कामना करता है। इस अर्थ में मुझे धर्म का भविष्य उज्ज्वल दिखता है। धर्म के उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास रखने वाले कुछ विद्वानों का कहना है कि धर्म के प्रति वर्तमान अनास्था अस्थायी है और धर्म का पुनरूत्थान निकट भविष्य में होना निश्चित है। गीता में भी कहा गया है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।[२३]

इसी तरह धर्म के उज्ज्वल भविष्य में आस्था रखते हुए ब्रॉन्स्टीन[२४], परिगणनात्मक तथ्यों का सहारा लेकर कहते हैं कि धर्म में अनास्था का युग अब समाप्त हो रहा है और लोगों का झुकाव पुन: धर्म के प्रति होने लगा है। उनकी धारणा धर्म–सम्बन्धी चलचित्रों की लोकप्रियता, गिरिजाघर में बढ़ती उपस्थिति एव धर्म के प्रति विद्यार्थियों की आस्था आदि पर आधारित है।

अत: निष्कर्षत: हमारा यह कहना आत्म–केन्द्रित, पक्षपातपूर्ण तथा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि धर्म का भविष्य उज्ज्वल है।

संदर्भ:

१. *विलियम जुरडीग, 'ऐन एनालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रिलिजन', एलेन एण्ड अनविन द्वारा प्रकाशित पुस्तक की प्रस्तावना, १९५९, पृ. ७*

२. *मेरी लिऑन, 'रेलिजस लैंग्वेज', दि हिब्बर्ट जर्नल, अक्तुबर १९६२, पृ. १७५*

३. *बर्नार्ड बोसांक्वे, 'ह्वाट रेलिजन इज', मैकमिलन, १९३१, पृ. ६*

४. *एच.डी. भट्टाचार्या, 'रीजन एण्ड रेलिजन', फिलॉसफीकल क्वार्टली, Vol. VI, १९३० पृ.१०*

५. जेम्स हास्टरींग सम्पादित, 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' Vol VII, न्यूयार्क, १९५६, ए.बी., पृ. ३७८

६. ह्वाइटहेड, 'रिलिजन इन मेकिंग', कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३०, पृ. ५

७. बर्नेट, 'ट्रू रेलिजन', Vol. III, लंदन, १९६४, पृ. ४०६

८. कार्ल मार्क्स एण्ड एफ. इन्जेल्स, 'ऑन रिलिजन', प्रोगेस पब्लिशर्स, मास्को, पृ. ७-९

९. फ्रायड, 'सिविलाइजेशन एण्ड इट्स डीस्कॉनेन्ट्स', १९३०, पृ. २३

१०. डब्ल्यू. डी. स्कॉट द्वारा अनूदित एवं लियोनार्ड ऐण्ड वर्जीनय बुल्फ, लंदन द्वारा प्रकाशित 'फ्यूचर ऑफ इल्युजन', पृ. ७६

११. सन्तायना, 'द लाइफ ऑफ रिजन' : रिजन इन रिलिजन, कान्स्टेबल एण्ड कं. लिमिटेड, १९०५, पृ. १२

१२. हॉगवेन, 'द नेचर ऑफ लिविंग मैटर, केगन पाल, लंदन, १९५०, पृ. २६३

१३. प्रो. ल्यूबा, 'गॉड ऑफ मैन', हेनरी हाल्ट कं., न्यूयार्क, १९३३, पृ. २४८

१४. मैक्स प्लैंक, 'बेयर इज साइंस गोइंग ?' लंदन, १९३३, पृ. १६८

१५. आइन्स्टीन, 'एप्रोचेज टु दि फिलॉसफी ऑफ रिलिजन', प्रेन्टिस हॉल, न्यूयार्क, १९५४, पृ. ७१

१६. पी.ए. स्लीप, सम्पा., अल्वर्ट आइन्स्टीन, 'फिलॉस्फर-साइंटीस्ट्', न्यूयार्क, १९५९, पृ.-६५९-६०

१७. जॉन मैक्यूरी, 'टवैन्टीथ सेन्चूरी रेलिजीयस थॉट', लन्दन, १९६३, पृ. २४७-४८

१८. ए.जे. एयर, 'लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लौजिक' १९३६, पृ. ९

१९. प्रो. एन.वी. बनर्जी, एन. के. दोरजी सम्पादित - 'द कॉन्सेप्ट ऑफ फिलॉसफी' प्रोसीडिंग ऑफ द फर्स्ट ऑल इण्डिया सेमिनार, द सेन्टर ऑफ एडवान्स स्टडी इन फिलॉसफी, बी.एच.यू., वाराणसी, १९६५, पृ.-२-३

२०. वही, पृ. १२

२१. आर.बी. ब्रेथवेट, 'एन एम्पीरीसिस्ट्स व्यू ऑफ द नेचर ऑफ रेलिजीयस वीलीफ', कैम्ब्रीज, १९५५, पृ. १०

२२. विज़डम, सम्पा. इरॉल हैरी, 'रीवीलेशन थ्रॉट साइन्स एण्ड फिलॉसफी', लंदन, १९५८, पृ. २८

२३. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/७-८

२४. ब्रान्स्टीन और स्कुलविल द्वारा संकलित 'ऐप्रोचेज टु दि फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, प्रेन्टिस हॉल, यू.एस.ए. १९५४, पृ. १.

***

प्रणामी सम्प्रदाय का समन्वयात्मक धर्म-दर्शन

सुभाष चन्द्र शाक्य

भूमिका

भारत में अनेक प्रकार के धर्मों का प्रचार व प्रसार है। सभी धर्म अपने-अपने समुदाय के अनुसार महान् होते हैं, सभी धर्मों की अलग-अलग मौलिकता है। वहीं भारत में १६वीं शताब्दी के आरम्भ में प्रणामी धर्म का उदय हुआ, इस धर्म का भारत में उदय होना अपेक्षित था, क्योंकि १६वीं शताब्दी में औरंगजेब का शासन कट्टरवादी मुसलमान परम्परा के अधीन था। औरंगजेब राज्य के सिद्धान्तों और आदर्शों को दृढ़तापूर्वक पालन करता था। ऐसे समय में एक मानव-धर्म की आवश्यकता थी और उसी समय प्रणामी-धर्म मानव-धर्म के रूप में उदय हुआ। प्रणामी धर्म में किसी धर्म विशेष की बात नहीं की जाती है और न ही किसी समाज की। प्रणामी धर्म में केवल मानव की पूर्णता देखी जाती है। भारतीय समाज के एकीकरण के लिए प्रणामी सम्प्रदाय का योगदान था। सारी दुनिया को एक रस करने के बारे में महामति कहते हैं कि 'ईसा रूह अल्लाह (देवचन्द्रजी) दुनिया में ४० वर्ष तक राज्य करेंगे। जब सारी दुनिया एक रस हो जायेगी तब अन्तिम १० वर्षों में ब्रह्मात्माओं का जागरण होगा'[१] और यही प्रणामी धर्म का मानव-धर्म होगा।

'प्रारम्भ में महामति प्राणनाथ पर भागवत में वर्णित गोपियों की रागानुराग भक्ति का प्रभाव था पर सूफियों के 'इश्क हकीमी' तथा ईसाईयों के ईश्वरीय प्रेम होने पर भी अनिर्वचनीय है तथा शुद्ध प्रेमानुभूति ही पुरुषार्थ की चरम अवस्था है।'[२]

महामति प्राणनाथ का सम्पूर्ण दर्शन तारतम मंत्र, तारतम ज्ञान, तारतम दृष्टि में समाहित है। छः चौपाईयों से युक्त तारतम मंत्र उसके सम्पूर्ण ज्ञान, उसके लक्ष्य एवं दृष्टिकोण का प्रतीक है। हरिद्वार कुम्भ मेले में आये हुए चारों प्रमुख सम्प्रदायों के आचार्यों, षटनामी तथा दशनामी संन्यासियों से जो उन्होंने निजानन्द सम्प्रदाय की व्याख्या की उससे और अधिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। प्रणामी सम्प्रदाय का कुलजम स्वरूप है जिसे तारतम सागर भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ महामति प्राणनाथ के विचारों, उपदेशों तथा वाणियों का बृहद् संकलन है। प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

ब्रह्म

महामति प्राणनाथ के अनुसार ब्रह्म के क्षर, अक्षर और अक्षरातीत तीन रूप हैं। क्षर नाशवान है, अक्षर अविनाशी है और अक्षरातीत इन सबके ऊपर उत्तम पुरुष है। अक्षरातीत को ही प्रणामी मानते हैं और यही उनका उपास्य है। प्राणनाथ ने अक्षरातीत को परब्रह्म (सच्चिदानन्द ब्रह्म) भी कहा है, क्योंकि उसमें सत्- चित्-आनन्द का स्वरूप है जो अनादि और अनन्त है। प्राणनाथ ने अक्षरातीत ब्रह्म को 'श्रीराज' भी कहा है। यह अक्षरातीत ब्रह्म अनन्त होते हुए भी स्वलीला के लिए दैत्य रूप धारण कर लेते हैं। प्रणामा परमात्मा को किशोर और दिव्य मानते हैं। श्रीकृष्ण प्रणामियों के श्रीराज हैं तथा उनकी महारानी (श्यामा) राधा उनका आनन्द अंश है, उसी प्रकार श्यामजी का आनन्द अंश बारह हजार सखियाँ (गोपियाँ) हैं जिन्हें प्रणामी ब्रह्मनाएँ, ब्रह्मसृष्टि, ब्रह्ममुनि आदि के नाम से पुकारते हैं। 'प्रणामी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव ब्रह्म की सत्ता के अन्तर्गत हैं। अक्षर ब्रह्म का निवास वैकुंठ है, सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होता है। महामति यह मानते हैं कि अक्षर ब्रह्म अक्षरातीत ब्रह्म से उत्पन्न होता है तथा अक्षर ब्रह्म प्रतिदिन

अक्षरातीत ब्रह्म को नमन करता है।'[३]

प्रणामी श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं, कृष्णावतार के सम्बन्ध में उनके विचार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों से भिन्न हैं। ये कृष्ण के तीन रूप मानते हैं। प्रत्येक प्रारूप में कृष्ण के स्वरूप और उनकी शक्ति का महत्त्व भिन्न-भिन्न माना गया है। कृष्ण की त्रिधा लीला को भी प्रणामी सम्प्रदाय में मान्यता है। महामति की त्रिधा लीला का वर्णन इस प्रकार है-

१. 'जन्म से पूर्व वसुदेव देवकी को, वैकुंठवासी विष्णु ने चतुर्भुजी कृष्ण के रूप में दर्शन दिया था तथा जन्म लेने वाले बालक को नन्द-यशोदा के घर पहुँचाने का निर्देश देकर वे अन्तर्ध्यान हो गये थे।

२. गोकुल में नन्द के घर आने वाले कृष्ण का स्वरूप गोलोक (ईश्वर) का था। उनकी आत्मा अक्षर ब्रह्म की थी तथा आवेश अक्षरातीत ब्रह्म का था।

३. बाललीला और रासलीला करने वाले कृष्ण का स्वरूप ब्रह्म का था। ग्यारह वर्ष और बावन दिन तक ही कृष्ण में पूर्व ब्रह्म का आवेश था।'[४]

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कृष्ण की विभिन्न तीन शक्तियों को प्रणामी स्वीकार करते हैं। वे कृष्ण में गोलोक, अक्षर और अक्षरातीत शक्तियों को मानते हैं। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रणामी ग्यारह वर्ष और बावन दिन की कृष्णलीला को ही प्रमुखता देते हैं।

परमधाम

महामति के अनुसार परमधाम आनन्दमय लीलाधाम है। इसे दिव्य ब्रह्मपुर, ब्रह्मलोक, अक्षरातीत धाम, अर्शे अज़ीज आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। परमधाम में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सर्वत्र पूर्ण ब्रह्म का ही विस्तार दृष्टिगोचर होता है। परमधाम की प्रत्येक वस्तु प्रकाशयुक्त, चैतन्य, शाश्वत्, सुगन्धित और आनन्दमय है। संसार में सर्वोच्च वैकुंठ-क्षर पुरुष है, क्षर से परे अक्षरधाम है और अक्षरधाम से परे परमधाम है। इस नश्वर सीमित संसार के पार, अविनाशी सत्ता है जिसके परे अक्षर ब्रह्म है। अक्षर ब्रह्म के पार परमधाम है। आप स्वयं जागकर अपनी सूरत को वहाँ ले जाओ-

हद पार बेहद, बेहद पार अक्षर।

अक्षर पार वतन, जागिये इन घर।।[५]

'परमधाम में कोई भी वस्तु नाशवान नहीं है, यहाँ इच्छामात्र से ही वस्तु उपस्थित हो जाती है। महामति ने इस परमधाम को निजधाम कहा है जहाँ श्रीराज श्यामा (कृष्ण-राधा) का युगल स्वरूप विराजमान है।'[६]

इस अखण्ड अलौकिक धरातल पर अपनी आत्मा को जगाकर ले जाना, इस चिन्तन का परम लक्ष्य है। हरिद्वार के कुम्भ मेले में महामति ने धर्माचार्यों को स्पष्ट कहा था कि यह दिव्य ब्रह्मपुर धाम है जहाँ अक्षरातीत निवास करते हैं।[७]

जगत्

प्रत्येक धर्म में जगत् या सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी अपना विशिष्ट सिद्धान्त उपलब्ध है। प्रणामी सम्प्रदाय में मानते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति का पहला कारण अक्षर ब्रह्म की अक्षरातीत स्वामी की अन्तरंग लीला देखने की इच्छा तथा दूसरा कारण सखियों की अक्षर ब्रह्म की सृष्टि-रचना देखने की इच्छा। इनमें ये इच्छाएँ अक्षरातीत ब्रह्म की इच्छा से उत्पन्न हुई हैं। 'इसके पूर्व मोह, अहंकार, निर्गुण, सगुण, शून्य, निरंजन, ईश्वर, मूल प्रकृति आदि कुछ भी नहीं था।'[८] 'अक्षर ब्रह्म और सखियों की इच्छापूर्ति के लिए धणी ने सृष्टि का निर्माण कराया। मोह का जन्म हुआ तथा माया का खेल विस्तार हुआ। इसी अवसर पर अक्षर ब्रह्म की सूरत के विलास से पाँच तत्त्व और चौदह भुवनों का निर्माण हुआ।'[९] ये चौदह (भुवन) इस प्रकार माने गए हैं- सात लोक -भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक एवं सात पाताल-

अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल और पाताल। प्रणामी सम्प्रदाय में अष्टावरणों की भी कल्पना की गई है, ये हैं – पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। चार प्रकार के प्रलय की भी मान्यता है, ये हैं – नित्यप्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और अत्यान्तिक प्रलय। अन्तिम प्रलय में सृष्टि का अन्त हो जाता है।'[१०]

जीव

महामति ने शास्त्रों का प्रमाण देकर तीन प्रकार की आत्मा का उल्लेख किया है, ये हैं– जीवात्मा, ईश्वरीय आत्मा और ब्रह्मात्मा। क्रमानुसार इनका स्थान अलग-अलग है। 'जीव सृष्टि का वैकुंठ से, ईश्वरीय सृष्टि का अक्षर ब्रह्म से और ब्रह्म सृष्टि का अक्षरातीत ब्रह्म से सम्बन्ध है।'[११] इसी क्रम में इन्हें कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम आत्मा कहा गया है। उत्तम प्रकार के जीव भक्ति के नियमों का पालन करते हैं, मध्यम श्रेणी के जीव सकाम-वृत्ति से धार्मिक कार्य तो करते हैं लेकिन माया के वशीभूत होने के कारण आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। कनिष्ठ जीव पाप कर्मों में लीन रहते हैं, फलतः चौरासी लाख योनियों का भ्रमण करते रहते हैं। प्रणामी सम्प्रदाय में ब्रह्म जीव को विशेष महत्त्व दिया गया है।

माया

प्रणामी धर्म में माया को ईश्वर और व्यक्ति के बीच का परिन्दा माना गया है। माया मनुष्य को भ्रम में डाल देती है और माया को ही अज्ञान का मूल कारण कहा गया है। माया के आवरण को हटाने के लिए प्रणामी सम्प्रदाय में कर्म, ज्ञान और भक्ति का महत्त्व बतलाया गया है। 'इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय दमन के स्थान पर इन्द्रियनिग्रह को, देहशुद्धि के स्थान पर आत्मा की शुद्धि को महत्त्व दिया गया है।'[१२] प्रणामी धर्म में उपासना को सत्कर्म मानते हैं। वे व्रत को उपासना नहीं मानते। इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने को वे शारीरिक उपवास मानते हैं। महामति ने वैराग्य को उपासना से श्रेष्ठ कहा है। वैराग्य का अर्थ गेरुए वस्त्र धारण करना नहीं है, वरन् सांसारिक माया जाल से विरक्त होना है। परमात्मा से प्रेम करना ही वैराग्य है, मानसी पूजा को उपासना और वैराग्य से भी श्रेष्ठ कर्म कहा गया है। ईश्वर के प्रति हर क्षण ध्यान लगाना ही मानसी पूजा है।

मोक्ष

'प्रणामी सम्प्रदाय वाले भी मुक्ति या मोक्ष पर विश्वास रखते हैं। इसके चार प्रकार बतलाए गए हैं– सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य मुक्ति से अभिप्राय आत्मा का ईश्वर के लोक में निवास करना है। सामीप्य मुक्ति में आत्मा का ईश्वर के सान्निध्य में रहना है। सारूप्य मुक्ति का अर्थ आत्मा का दिव्य रूप होकर ब्रह्मवत हो जाना तथा सायुज्य मुक्ति का अर्थ आत्मा और परमात्मा का एकात्म हो जाना है। आत्मा की मुक्ति सायुज्य मुक्ति से ही संभव है और प्रणामियों का लक्ष्यबिन्दु है।'[१३]

तारतम ज्ञान

प्रणामी तारतम ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ ज्ञान मानते हैं, उनकी दृष्टि में परमधाम की प्राप्ति इसी ज्ञान से सम्भव है। इसी से मनुष्य आवागमन के चक्र से छुटकारा पा सकता है। इस प्रकार यह मनुष्य को तारने वाला ज्ञान भी कहलाता है। इसे तारक मंत्र भी कहते हैं। तारक मंत्र इस प्रकार से है (हिन्दी रूपान्तरण)–

१. क्षर (नाशवान् जगत्) एवं अक्षर अविनाशी सत्ता से भी परे अक्षरातीत ब्रह्म का निज नाम 'श्रीकृष्णजी' है। वे इस संसार के निजधाम के अखण्ड वैभव के साथ प्रकट हुए हैं।

२. वे अपनी अर्धांगिनी, आनन्द संग श्यामा के अच्छे पति हैं और सदा अविनाशी आनन्द प्रदान करने वाले हैं। हे वल्लभ (प्रियतम)! आपसे मेरी एक विनय है कि आप मुझ अंगरूपी आत्मा को अंगीकार करें।

३. मेरे प्रियतम की यह तारतम्य वाणी इस संसार से निराली है, इसे जगत् के पार, शून्य निरंकार से भी परे, अक्षर ब्रह्म से भी आगे जो अक्षरातीत ब्रह्म है, उन्होंने स्वयं प्रकट किया है।

४. मुझ अँगना के मन में यह उत्कृष्ट अभिलाषा उत्पन्न हुई है और मैंने विचारपूर्वक यह निर्णय लिया है कि इस सत्य वाणी का मंथन करके, इसके संसार को हृदय में धारण कर लूँ।

५. इस संसार को ग्रहण करने में कई शाश्वत् सुख (नित्य आनन्द) प्राप्त होते हैं। इस तारतम के द्वारा मुझे सत्य और झूठ का निर्णय करके निश्चित मार्ग निर्धारण करना है। इस अखण्ड सुख को मैं अपनी संगी आत्माओं को भी दे दूँ तभी मैं अपने प्रियतम की अर्धांगिनी सिद्ध होती हूँ।

६. जब इस नित्य अखण्ड आनन्द का अनुभव अंग-प्रत्यंग में होने लगता है तब माया (और इन्द्रियों की आसक्ति) से उत्पन्न सभी विकार छूट जाते हैं। मेरे अक्षरातीत स्वामी के घर, परमधाम का आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है।[१४]

गुरु

प्रणामी सम्प्रदाय में गुरु को उच्च स्थान दिया गया है। वे यह मानते हैं कि गुरु के बिना परमधाम की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्वयं महामति ने गुरु की महिमा का अनेक स्थानों पर वर्णन किया है। गुरुकृपा से ही उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। प्रणामी यह मानते हैं कि गुरु के बिना मोह-माया से छुटकारा मिलना सम्भव नहीं है। इहलोक और परलोक सम्बन्धी समस्याओं का निदान गुरु ही कर सकता है। 'सच्चा गुरु वेद-शास्त्र का ज्ञान रखने वाला, हद-बेहद को समझाने वाला, निर्गुण-सगुण, व्यक्त-अव्यक्त के मर्म को जानने वाला तथा शिष्य को ईश्वर तक पहुँचाने वाला होता है। ऐसे ही गुरु को 'सत्गुरु' के नाम से पुकारते हैं।'[१५]

भक्ति

ईश्वर की आत्मा के लिए मनुष्य ईश्वर से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य जोड़ लेता है। संतों ने भक्ति को ईश्वर और मनुष्य के बीच की एक कड़ी माना है। भक्ति नौ प्रकार की मानी गई है - श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। श्रीमद्भगवद् में भक्ति के ये नौ लक्षण बताए गए हैं। प्रणामी सम्प्रदाय में गोपीकृष्ण की माधुर्य भाव से युक्त सखीभाव की भक्ति स्वीकार की गई है। सखीभाव में ईश्वर और भक्त का सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में माना जाता है। इस सम्बन्ध में मनुष्य और ईश्वर के बीच कोई अन्तर नहीं रह जाता है। 'महामति ने अक्षरातीत परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार कर उसकी अर्धांगिनी के रूप में अपना अस्तित्व समाहित कर दिया है, यही माधुर्य भाव प्रधान प्रेमलक्षणा भक्ति है।'[१६]

प्रणामी सम्प्रदाय का समन्वयात्मक सम्बन्ध

सभी धर्मों की मौलिकता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए जिस एक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की उसे निजानन्द सम्प्रदाय के प्रवर्तक देवचन्द्र से जाना गया और जो कालान्तर में प्रणामी सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित हुआ। इस सम्प्रदाय का विश्व के समस्त धर्मों से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध है क्योंकि इस सम्प्रदाय में सभी धर्मों के मौलिक सिद्धान्त समाहित हैं। इसी तथ्य को लालदासजी अपनी बीजक में लिखते हैं कि इसकी साक्षी वेद-पुराण, उपनिषद् और भागवत् और कतेव - तौरेत, जबूर, जलील और कुरान आदि धर्मग्रन्थों में अनेक प्रकार के संकेतों और रहस्यमय शब्दों और भाषाओं में लिखा है-

सोई बेद कतेव मे, इनकी लिखी साख।
और उपनिषद् भागवत् में, लिखी वाणी के भाव।

लालदास अपनी बीजक में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि सारे संसार में एक ही परमात्मा की उपासना हो, एक धर्म हो जाये। लोगों को एक परमात्मा, एक धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए वेद और कतेव की साक्षी दो -

एक दीन होय एक का, सब भजन करें भगवान्।
छेओ वेद कतेव की साहिदी, ज्यों लावें सब ईमान।।[१७]

श्रीमती विमला मेहता के शब्दों में – 'उन्होंने कट्टर शराअ और हिंसा के आधार पर प्रचार करने वाले इस्लाम का शुद्ध रूप दिखाया और कर्मकाण्ड और आचार-विचार में फँसे हुए बहुदेव और मूर्तिपूजक हिन्दुओं के ऐकेश्वर ब्रह्म की उपासना का आग्रह किया। इस प्रकार उन्होंने धर्म की विशाल, सहिष्णु, अहिंसा और आत्मजागृति पर आधारित वह स्वरूप प्रतिष्ठित किया जिसे किसी भी धर्म को मानने वाला अपने धर्म का शुद्ध रूप कहने में गौरव अनुभव करता है।'[१८]

निष्कर्ष

महामति प्राणनाथ का दार्शनिक चिन्तन यह है कि वे समन्वय के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और इसलिए इस सम्प्रदाय में ऐकेश्वरवाद की प्रधानता है। उन्होंने कर्मकाण्ड, जप-मंत्र, मूर्तिपूजा का विरोध किया और कर्म को प्रधानता दी है। कर्मकाण्ड धर्म का स्थूल पक्ष है, अतः उन्होंने इस विधा की उपेक्षा की एवं आध्यात्मिक पक्ष को धर्म-दर्शन का मूल मंत्र निरूपित किया। उन्होंने विभिन्न धर्मों की दार्शनिकता को भी एकीकार करने का प्रयास किया।

इस प्रकार प्रणामी सम्प्रदाय सबसे भिन्न कोई अलग सम्प्रदाय या विचारधारा नहीं, वरन् सभी धर्मों के सिद्धान्तों पर परिष्कृत समन्वयी रूप है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के लिए वेद और कतेब दोनों के उदाहरण दिए गए हैं। यह सम्प्रदाय संसार के सभी धर्मग्रन्थों के ग्राह्य अभिप्रेत अर्थ बताकर उनके सिद्धान्तों में तालमेल बैठाने और समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह करता है।

महामति प्राणनाथ के सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक चिन्तन के बारे में शास्त्रों को लोकमत बनाना महामति की वाणी का अनिवार्य अंग है। प्राणनाथ आत्मा के धनी, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, उच्चकोटि के दार्शनिक, समाज सुधारक, नीतिकार थे। महामति प्राणनाथ का दार्शनिक चिंतन आध्यात्मिक आनंदानुभूति की झलकियाँ देता है और हमारे मन को प्रकाशित करता है उनकी दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यतायें आज भी हमारी भटकी हुई मानवता को पथ प्रदर्शित करने में पूर्णतः सक्षम एवं वर्तमान में प्रासंगिक हैं।

सन्दर्भः

१. *महामति प्राणनाथ और सर्वधर्मसमन्वय, डॉ. प्रताप सिंह मुखारया, पृ.सं. १५७, श्री प्राणनाथ मिशन, नई दिल्ली, २००१.*
२. *संतमत और संतसाहित्य, डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ.सं. ७३.*
३. *प्रणामी सम्प्रदाय एवं साहित्य, डॉ. नरेश पड्या, पृ.सं. २२८.*
४. *कुलजम स्वरूप, प्रकाश, पृ.सं. ३७, चौपाई २१-४.*
५. *वही, पृ.सं. ३१, चौपाई १६५.*
६. *वही, पृ.सं. ३७, चौपाई २.*
७. *लालदास की बीजक, पृ.सं. ३७, चौपाई ८३.*
८. *कुलजम स्वरूप, प्रकाश, पृ.सं. ३७, चौपाई ६, ८-९.*
९. *वही, चौपाई १७-१८.*
१०. *पूर्व उद्धृत्, डॉ० नरेश पड्या, पृ.सं. २४०.*
११. *कुलजम स्वरूप, किरंतन, पृ.सं. ७३, चौपाई २२-२३.*
१२. *वही, पृ.सं. १३२, चौपाई १-२.*
१३. *महामति प्राणनाथ और सर्वधर्मसमन्वय, डॉ. प्रताप ।सिंह मुखारया, पृ.सं. १३८.*
१४. *कुलजम स्वरूप, प्रकाश, पृ.सं. ३६ के पश्चात् और पृ.सं. ३७ के पहले।*
१५. *कुलजम स्वरूप, किरंतन, पृ.सं. ५, चौपाई १२-१३.*
१६. *कुलजम स्वरूप का परिचय, प्रो० माताबदल जायसवाल, पृ.सं. १०.*
१७. *लालदास की बीजक, पृ.सं.. २, चौपाई २१.*
१८. *श्रीमती विमला मेहता, भूमिका, बीतक अनुशीलन, लालदास की बीजक, भाष्यकार मणिकलाल धामी, १९८३, पृ.सं. ४२.*

गाँधी दर्शन में अहिंसा की अवधारणा

किरन वरूण

सामान्य अर्थ में हिंसा किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देना ही है, किन्तु इस अर्थ में पूर्ण अहिंसा प्रायः असंभव ही है, क्योंकि हमारा जीवन ही किसी न किसी रूप में हिंसा पर आधारित है।[१] जाने या अनजाने हम स्थूल हिंसा के बिना जी ही नहीं सकते।[२] इसलिए पूर्ण अहिंसा ज्यामितिशास्त्र के यूक्लिड द्वारा किए गए बिन्दु या रेखा की परिभाषा के समान एक जैविक अनिवार्यता है। अपने जीवन और आश्रितों के समुचित संरक्षण के लिए हमें किसी न किसी अनुपात में हिंसा करनी ही पड़ती है। कभी-कभी किसी प्राणी को जो अवश्यम्भावी रूप से मरने ही वाला है, उसकी मर्मान्तिक पीड़ा और दारूण दुःख को दूर करने के लिए भी हिंसा करनी पड़ती है, लेकिन यह हिंसा काफी हद तक अहिंसक समझी मानी जाती है।

जिस प्रकार हिंसा का जन्म मानव मस्तिष्क में होता है, उसी प्रकार अहिंसा का भी जन्म मानव मस्तिष्क में ही होता है। अहिंसा को पूर्ण होने के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा तीनों तरह से युक्त होना चाहिए। कर्म का अधिष्ठान भी मानव-मन ही है। उसी प्रकार वचन भी हमारी मानसिक स्थिति को ही अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए अहिंसा के पूर्ण पालन के लिए हमें मनसा-वाचा हिंसा का परित्याग करना चाहिए।

राजनीति और मानव जीवन में अहिंसा की शिक्षा और व्यवहार गाँधी जी की सबसे बड़ी देन है। सन् १९२० में उन्होंने एक स्थान पर लिखा था कि-

'जिस प्रकार हिंसा पशुओं की विधि है, उसी प्रकार अहिंसा मानव जाति की विधि है। यह वह लक्ष्य है, जिसकी ओर मानव समाज स्वाभाविक और अनजाने तौर पर बढ़ता जाता है। मेरे लिए अहिंसा केवल दार्शनिक सिद्धान्त ही नहीं है। यह जीवन का ताना-बाना है। यह मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की चीज है।' गाँधी जी के अनुसार- 'अहिंसा का अर्थ है- हिंसा को छोड़ने का प्रयत्न, जो जीवन में अनिवार्य है। अहिंसा का लक्ष्य है मनुष्य को शारीरिक बंधन से छुड़ाना ताकि वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर सके जिसमें नाशवान शरीर के बिना जीवन संभव हो।'

व्यक्ति मोक्ष के स्थान के रूप में अहिंसा को स्वीकार करने के साथ-साथ गाँधीजी ने अहिंसा का प्रयोग बड़े पैमाने पर राजनीतिक और सामाजिक अन्याय से लड़ने के लिए किया। उन्होंने अहिंसा को सामाजिक क्रांति का एक शक्तिशाली साधन बनाने का प्रयत्न किया।

अहिंसा के सम्बन्ध में पारम्परिक धारणा निषेधात्मक है, जिसके अनुसार अहिंसा का अर्थ है-

१. किसी प्राणी की हत्या न करना।

२. किसी को शारीरिक कष्ट न पहुँचाना।

३. किसी को मानसिक कष्ट न पहुँचाना।

४. किसी के प्रति अपने मन में घृणा अथवा द्रोह का भाव न रखना।

अर्थात् संसार के किसी प्राणी को मनसा-वाचा-कर्मणा कष्ट न पहुँचाना। इसका तात्पर्य है कि कठोर शब्द न बोलना; कड़ी बात न कहना; ईर्ष्या, क्रोध, घृणा और क्रूरता से बचना। विशेषतया इसका अर्थ है- अपने शत्रु के प्रति भी बुरे विचार न रखना और न बुरा व्यवहार करना। साकारात्मक रूप में अहिंसा का सर्वोच्च रूप सब मनुष्य व प्राणियों के प्रति सक्रिय प्रेम एवं सद्भावना रखना है।

यदि अहिंसा को हम निषेधात्मक अर्थों में ही सीमित रखना चाहें तो भावात्मक रूप से इसे गाँधीजी 'सक्रिय प्रेम और व्यापक करुणा' कहते हैं।[४] इस दृष्टि से अहिंसा के साथ क्रोध, घृणा, प्रतिहिंसा आदि की भावनाओं का मेल नहीं बैठता, क्योंकि वे अप्रकट रूप में हिंसा ही है। अहिंसा और घृणा दोनों हमारे हृदय में साथ-साथ नहीं रह सकते हैं।[५] इसलिए गाँधीजी के असहयोग आंदोलन के मूल में जिनके प्रति असहयोग किया जाता था, उनके लिए घृणा नहीं, बल्कि प्रेम ही था।[६] यह अहिंसा की भावात्मक व्याख्या है जिसमें भगवान् बुद्ध की मैत्री और करुणा; महावीर की मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ और हिन्दू धर्म की जीवदया की भावनाएँ हैं। इसी को ईसा मसीह भी अपनी भाषा में कहते हैं- दुश्मनों से प्यार करो।[७] प्रेम और करुणा केवल हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्मों की ही चीज नहीं, यह तो सभी धर्मों की समान रूप से दुर्लभ सम्पत्ति है।[८]

महात्मा गाँधी अहिंसा को मानव का प्राकृतिक गुण मानते हैं। उनका विश्वास था कि मानव स्वभाव से ही अहिंसाप्रिय है तथा परिस्थितियों वश वह हिंसावान बनता है। मनुष्य की अहिंसात्मक प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है कि आदिम काल का नरभक्षी आदमी आज सभ्य और सुसंस्कृत प्राणी बन गया है। इसका सीधा-सा प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि जब भी किन्हीं कारणों से कोई व्यक्ति हिंसा पर उतारु होता है तो अनेकों हाथ उसे ऐसा करने से रोकते हैं। अंत में हिंसा करनेवाले को ही पछताना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य जाति में अहिंसा की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

गाँधीजी ही वह महापुरुष हैं जिन्होंने अहिंसा को शस्त्र का रूप प्रदान करने का महाप्रयास आरम्भ किया। यही गाँधीजी की विशेषता है कि उन्होंने अहिंसा को नए रूप और नए कलेवर में जगत् के सामने उपस्थित किया। उनका अहिंसा का स्वरूप पलायन नहीं प्रतिरोध है। उनका अहिंसा का प्रयोग अनैतिकता के विरुद्ध मानवता को, अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध न्याय तथा निर्भयता को प्रबल करने के लिए हुआ। मानव जीवन के लिए अहिंसा का आदर्श न तो नया है और न उसकी पवित्रता तथा महत्ता में किसी को संदेह हो सकता है, पर अहिंसा को इस रूप में सामने लाने की चेष्टा कदाचित् इतिहास की अभिनव घटना है।

बापू अहिंसा की कल्पना शक्ति के रूप में करते हैं। वह उसे वही स्थान प्रदान करना संभव समझते हैं जो की हिंसात्मक शक्ति को प्राप्त है। गाँधीजी के अनुसार किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक सूक्ष्म, अधिक उपयुक्त, अधिक सार्थक तथा अधिक प्रभावकारी और शक्तिमती दिखायी देती हैं। अहिंसा के सम्बन्ध में गाँधीजी की इस मौलिक और सूक्ष्म दृष्टि को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में व्यापक भ्रांति फैली हुई है जिसके फलस्वरूप लोग साधारण गाँधी के अहिंसा सिद्धान्त को समझ नहीं पाते। कभी-भी अहिंसा का अर्थ, बुराई को न रोकना या उसके सामने झुक जाना या चुपचाप अन्याय को सहन करते रहना समझा जाता है। यह धारणा गलत है। अहिंसा किसी भी रूप में या परिस्थिति में बुराई या अत्याचार को सहन करने या उसके सामने समर्पण करने का नाम नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक बल द्वारा अन्याय का प्रतिरोध करने का आदेश है। कोई यह समझता है कि गाँधी किसी भी दशा में सशस्त्र प्रतिकार को अनैतिक मानते हैं, अतः वे उसके त्याग पर जोर देते हैं। कोई यह समझता है कि असहाय के लिए अहिंसा के आलम्बन का अर्थ दब्बूपन की प्रवृत्ति है जिसमें खतरा उठाने का अभाव है। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि गाँधी की अहिंसा का अर्थ अन्याय और अत्याचार को अप्रतिरोध भाव से सहन कर लेना है।

इस धारणा के विरुद्ध गाँधीजी का यह मानना था कि निर्भयता और आत्मबल चल नहीं सकती।[९] इसमें प्रतिहिंसा की भावना नहीं, अपितु क्षमा की भावना रहती है। प्रतिहिंसा भी एक प्रकार की दुर्बलता की ही द्योतक है। इस प्रकार अहिंसा

की परम्परागत भावना में गाँधीजी ने वीरता भी दी है। उन्होंने स्पष्ट दिखाया है कि अहिंसक प्रतिकार में हम वस्तुतः हिंसा का प्रतिकार नहीं करते, बल्कि हम दुर्बलता से जुझते हैं। दुर्बल व्यक्ति के लिए धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य का कोई अर्थ नहीं है।[१०] कायरतापूर्ण शांतिवाद से वीरतापूर्ण युद्ध अच्छा है। अतः अहिंसा दुष्टता के सामने कायरतापूर्ण आत्मसमर्पण नहीं है, बल्कि दुष्टता और अन्याय के प्रतिकार के लिए यह अत्यन्त सक्रिय, आक्रामक एवं प्रभावशाली उपकरण है। गाँधीजी ने इस बात पर बराबर बल दिया है कि अहिंसा और कायरता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकती।[११] उन्होंने कहा है कि कायरता से हिंसा अच्छी है।[१२] इसलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यदि उन्हें कायरता और हिंसा के बीच वरण करना होगा तो निश्चय ही हिंसा को वरण करेंगे[१३] और कायरतापूर्ण नरमेघ को देखते रहने की अपेक्षा वह महाविध्वंसक युद्ध का भी स्वागत करेंगे।[१४] अहिंसा वीरों का गुण है और इसे हम निष्क्रिय, दुर्बल और असहायपूर्ण अधीनता की संज्ञा नहीं दे सकते हैं।

गाँधीजी हिंसा के विरोधी इसलिए नहीं हैं कि वह उसे सदा सब काल में सारी परिस्थितियों में अनैतिक ही समझते हैं। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जब हिंसा करना सहज ही नैतिक और उचित हो सकता है। जीव हिंसा की आवश्यकता समाज को सदा से ही पड़ती रही है। यह जरूरी नहीं कि यह हिंसा केवल हिंसा के लिए ही की जाती रही हो। गाँधी जी ने अहिंसा को सब शक्तियों से अधिक शक्तिशाली माना है। यह आत्मिक एवं आध्यात्मिक बल का प्रतीक है। अहिंसा में कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति है। बड़ी से बड़ी हिंसा का अहिंसा से मुकाबला किया जा सकता है।

गाँधीजी का विश्वास था कि अहिंसा के सफल प्रयोग के लिए हमेशा जनसमूह की आवश्यकता नहीं होती। उनके अनुसार एक व्यक्ति भी इसका प्रयोग उसी तरह कर सकता है जिस तरह लाखों व्यक्ति। आत्मबल और नैतिक साहस वाला एक व्यक्ति हजारों व्यक्तियों का काम कर सकता है।

भारतीय संस्कृति ने राजाओं से अधिक संतों को और तलवार से अधिक शांति और सरलता को महत्त्व दिया है। गाँधीजी के अनुसार किसी की हत्या कायरता की निशानी है। इसलिए यद्यपि वे सरदार भगत सिंह या धीगरा की देशभक्ति का सम्मान करते थे, किन्तु उनकी पद्धत्ति को अस्वीकार करते हुए उसे अन्ततोगत्वा दुःखदायी मानते थे। फिर शस्त्रशक्ति से जो प्राप्त होता है, उसे टिकाए रखने के लिए उसी प्रकार की शस्त्र-शक्ति आवश्यक होती है। असल में गाँधीजी का मानना था कि अच्छे साध्य के लिए अच्छा साधन भी जरूरी है। हम जिसका बीज रोपेंगे, उसी का फल मिलेगा। इतिहास में यदि शस्त्र-क्रांति के उदाहरण हैं तो अहिंसक असहयोग एवं सविनय अवज्ञा के चमत्कार भी मिलते हैं। तथाकथित क्रांतिकारी हिंसा के दबाव के पीछे विद्वेष और क्रोध हावी होता है, जबकि अहिंसा अधिक प्रभावकारी एवं अधिक स्थायी होती है। हिंसा अस्थायी रूप से तो अच्छा दिखता है, उसका लाभ तो तात्कालिक होता है, लेकिन उससे जो नुकसान है वह स्थायी होता है। यदि हम बलपूर्वक कोई परिवर्तन लाते हैं तो वह क्षण अस्थायी होता है, जबकि हृदय परिवर्तन, समझा-बुझाकर जो कुछ होता है वह स्थायी होता है।

गाँधीजी के लिए अहिंसा, समाज और जगत् से परे कोई चीज नहीं थी। उनका मानना था कि यदि अहिंसा हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन की बुराईयों का निराकरण नहीं कर सकती है, तो बेकार है। गाँधीजी की अहिंसा केवल नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र की कोई अच्छी एवं व्यावहारिक जीवन के लिए व्यर्थ चीज नहीं है, यह तो शत-प्रतिशत व्यावहारिक और बिल्कुल समाज उपयोगी चीज है। अहिंसा को यह गाँधी की देन है कि उन्होंने इसे धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों के अलावा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उपयोग करके दिखाया।[१५] इसलिए उन्होंने अहिंसा की नई व्याख्या और नई परिभाषा दी। अहिंसा का अर्थ यदि प्रेम होता है तो फिर वहाँ शोषण और उत्पीड़न का स्थान नहीं होगा। प्रेम और परिग्रह[१६] प्रेम और उत्पीड़न, प्रेम और विषमता, प्रेम और शोषण साथ-साथ नहीं रह सकते। गाँधीजी का मानना था कि अहिंसा के आधार पर ही एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना एवं मानव जाति की प्रगति संभव है।

संदर्भः

१. मो. क. गाँधी, हरिजन, २१.७.१९४०

२. मो. क. गाँधी, यंग इण्डिया, २.४.१९३१

३. मो. क. गाँधी, हरिजन, २१.७.१९४०

४. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी (चतुर्थ संस्करण, पृ. ३४६)

५. हरिजन, १७.८.१९३४; यंग इण्डिया, २.४.१०३१

६. यंग इण्डिया, ६.८.१९२५

७. सेंट मैथ्यु, पृ. ५-४४

८. कुरान, ५/३५, २३/६१-६३, २८/६६-७१, २४/२२, ४२/३४-३५, १९/९६

९. बापू के आशीर्वाद, यंग इण्डिया, ३१.१२.१९६१, पृ. ५

१०. उपरिवत्, पृ. १२७

११. हरिजन, १५.७.१९३९

१२. यंग इण्डिया, ११. ८. १९३९

१३. उपरिवत्, ११.८.१९२०

१४. यंग इण्डिया, ४.८.१९२०

१५. टी.जी. कलघटगी, जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी, नि. पृ. १७

१६. मो. क. गाँधी, मॉर्डन रिव्यु, अक्टूबर, १९३५

***

योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में विवेचित समाधि की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन

सरिता कुमारी

शंकराचार्य की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि 'मनः एव मनुष्याणं कारण बंधन मोक्षयोः।' अर्थात् मनस् (चित्त) मनुष्य के बंधन एवं मोक्ष का कारण है। यह कथन मनुष्य की सत्ता के दो स्तरों का संकेतक है। एक आनुभविक स्तर का और दूसरा वास्तविक स्तर का। आनुभविक स्तर मनुष्य के बंधन की स्थिति का द्योतक है। यहाँ मनुष्य का मन (चित्त) सांसारिक भोग-विलास में मग्न रहता है। उनके चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियाँ आविर्भूत होती रहती हैं। चित्त की वृत्तियों के निरोध के बिना मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप की झलक भी नहीं पा सकता है। वास्तविक स्तर पर उसका चित्त शान्त रहता है, लेकिन दोनों ही स्तरों पर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को परम मूल्य या परम पुरुषार्थ के रूप में प्राप्त करना चाहता है।

योग विज्ञान आत्मबोध की इस समस्या को चुनौती के रूप में स्वीकार करता है। यह अनुभव के स्तर पर दो तत्त्वों में भेद करता है। एक वस्तुनिष्ठ एवं परिवर्तनशील विषय है जो बाह्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरा शुद्ध विषयी या चेतना है जो बाह्य विषयों का साक्षी है। 'आनुभविक आत्मा (बद्ध मनुष्य) मन एवं शरीर की जटिल संसृष्टि है। मन स्वयं में शुद्ध चेतना एवं परिवर्तनशील मानसिक स्थितियों (चित्त वृत्तियों) की संसृष्टि है।'[१] चेतना, मन एवं शरीर - ये तीनों अपने सामान्य एवं व्यवहार में ऐक्य का प्रदर्शन करते हैं। योग का उद्देश्य शुद्ध चेतना का विषय से पार्थक्य प्रदर्शित कर आत्मबोध करना है। इसके लिए यह अन्तःअनुभूति की उन विधियों का प्रयोग करती है जो आत्मनिष्ठ संगतता एवं पूर्वानुमीत व्यवहारगत परिवर्तनों की कसौटी पर जाँची जा चुकी है। यह मन की वृत्तियों को शांत कर व्यक्ति को उसके यथार्थ स्वरूप से परिचित कराती है। यही योग का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। इसके अन्तर्गत प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि की क्रियाएँ आती हैं।

वर्तमान आलेख का उद्देश्य दोनों परम्पराओं में योग के मनोवैज्ञानिक आधार के रूप में समाधि के स्वरूप एवं कार्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। वस्तुतः योगसूत्र ब्राह्मण परम्परा की योग का प्रतिनिधित्व करती है तो विसुद्धिमग्ग में बौद्धयोग को व्यवस्थित रूप में विवेचित किया गया है। वर्तमान आलेख का विवेचन इन दोनों ही योग ग्रंथों पर आधारित है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित प्रतीत होता है कि यद्यपि बौद्धयोग श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है एवं योगसूत्र ब्राह्मण परम्परा का, तथापि दोनों का उद्देश्य मानव बंधन का उच्छेद है और दोनों ही परम्पराओं में समाधि को इसके मनोवैज्ञानिक आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। चूँकि दोनों परम्पराओं ब्राह्मण एवं बौद्ध, की धार्मिक एवं तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि पृथक् है। अतः उनमें विवेचित समाधि भावना में अंतर होने की सम्भावना प्रबल है। वर्तमान आलेख में यह भी देखने का प्रयास किया जायेगा कि इन दोनों के समाधि के स्वरूप एवं प्रक्रिया में क्या समानताएँ हैं ? क्या विभेद है ? और अगर है तो इसका कारण क्या है ?

जैसा कि पूर्व विवेचित है कि दोनों ही परम्पराओं में समाधि योग-साधना की मध्यम कड़ी है। इसके समस्त सोपानों के सुदीर्घ एवं सम्यक् अभ्यासोपरांत प्रज्ञा या विवेक ज्ञान का उदय होता है जो प्रकारान्तर से व्यक्ति के बंधनोंच्छेद में

सहायता कर मोक्षप्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। अर्थात् दोनों ही योग परम्पराओं की समाधि भावना का उद्देश्य प्रज्ञा का उदय या विवेकज्ञान की प्राप्ति की स्थितियों का निर्माण करना है और इसके लिए इन दोनों परम्पराओं में समाधि को एक व्यवहारिक विधि के रूप में स्वीकार किया गया है तथा नैतिक आचारों का सम्यक् अभ्यास को इसकी पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

चूंकि चित्त की चंचलता एवं मन विभिन्न विषयों पर भ्रमण करते रहने के कारण व्यक्ति अपनी वास्तविक स्वरूप से अपरिचित और विश्व के प्रलोभनों में भ्रमित रहता है। समाधि भावना का उद्देश्य मन को अनुशासित कर उसकी चंचलता का प्रहाण करना है। जिसके फलस्वरूप प्रज्ञोदय की पृष्ठभूमि का मानवीय मस्तिष्क में निर्माण होता है। इस कारण ही महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है, 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'[२] अर्थात् 'चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।' बौद्ध योग में सामान्य रूप से इसका प्रयोग मानसिक एकाग्रता, वैचारिक एकाग्रता तथा चित्त की एकाग्रता के अर्थ में हुआ है। विशेष अर्थ में इसका प्रयोग किसी विषय विशेष पर ध्यान-केन्द्रित करने से है।[३] समाधि विवेचन के पूर्व समाधि शब्द का अर्थ निरूपण एवं इसके विभिन्न प्रयोगों की संक्षिप्त विवेचना अपेक्षित है।

समाधि शब्द का अर्थ है उचित रूप से एवं पूरी तरह पकड़ कर रखना। इसका अर्थ ठीक करना, संगठित करना एवं सुव्यवस्थित करना भी है। संज्ञा के रूप में इसका अर्थ पूर्ण, योग, मिलन इत्यादि है। यह मिलाने एवं जोड़ने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।[४] सामान्य रूप में इसका प्रयोग मानसिक एकाग्रता, विचारों को एकाग्र करने तथा चित्त की एकाग्रता के अर्थ में हुआ है एवं विशेष अर्थ में किसी विषय पर ध्यान केन्द्रित करने से है। इसका प्रयोग योग ग्रंथों में ध्यान के अर्थ में भी हुआ है।

वस्तुतः दोनों ही योग ग्रंथों में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि समाधि एक प्रक्रिया है जो मन के समस्त प्रकार के विक्षेपों को समाप्त करती है।[५] यह एक मोक्षगामी व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक विधि है जो न मात्र मानसिक क्लेशों का निवारण करती है, अपितु यह मन को शांत, स्थिर एवं एकाग्र बनाती है। साथ ही यह साधक को परम सत्य या विवेकज्ञान प्राप्ति के योग्य भी बनाती है।[६] समाधि की अवस्थाओं में वस्तुतः चेतना को अनुकूलित करने की प्रक्रियाओं का सम्पादन होता है। 'समाधि की व्यापक व्यवस्था के अंतर्गत चेतना का प्रभाव क्षेत्र मन की सीमा से परे भी है और इसके नीचे भी है, जिसे अवचेतन कहते हैं। शरीर में चेतना का विस्तार है। इसका अधिकांश भाग अवचेतना में निहित है। मन स्वयं भी चेतना का माध्यम है। हमारी मानसिक चेतना के पीछे अवचेतन या अर्द्धचेतन है और इसके ऊपर अधिचेतना का क्षेत्र है।'[७] योग दर्शन में मोटे तौर पर मन, बुद्धि और चित्त समानार्थक हैं। चित्त शब्द मुख्यतः योग दर्शन की संज्ञा है। यहाँ समस्त अवचेतन, अर्द्धचेतन एवं अधिचेतन का निधान है। सांख्य सामान्यतः चित्त के लिए बुद्धि शब्द का प्रयोग करता है। यद्यपि दोनों ही शब्द एक ही तत्त्व, 'मन', की ओर इंगित करते हैं किन्तु दोनों मन के दो पृथक् पहलुओं के संकेतक हैं। बुद्धि का तात्पर्य है प्रज्ञा,[८] और चित्त अवचेतन आदि का द्योतक है।

आजकल शरीर एवं मनोविज्ञान सम्बन्धी शोध के अन्तर्गत अर्द्धचेतन जगत् का भी अध्ययन हो रहा है। भारतीय योग ग्रंथों में पूर्व विवेचित अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष यथा, दूरप्रेषण, दूरसंवेदन, पूर्वज्ञान एवं इससे सम्बन्धित अनेक सजातीय प्रयोगों में अवचेतन का अध्ययन होता रहा है। यहाँ पर अवचेतन (Subconscious) एवं अर्द्धचेतन (Subliminal) के मध्य अंतर बताना अपेक्षित है। अवचेतन वस्तुतः सुसुप्ति के कारणों से प्रकट होता है। यह वह चेतना है जो जागने की प्रक्रिया में है। यह क्रियाशीलता एवं कार्य-उत्पादक है, साथ ही जीवन, उसकी चेतना, उसकी क्रियाओं तथा उसकी गतिविधियों पर प्रभाव डालती है। इसके अन्तर्गत फ्रायड का 'Id' जुंग का 'Individual' तथा संग्रहीत अवचेतन Collected unconscious चका आता है। यह वह क्षेत्र है जिसमें हमारी दमित इच्छाएँ अपना आश्रय बनाती हैं।[९] एस. एन. दास गुप्ता के मत में, 'चित्त... अपने आप में संस्कारों एवं पुनर्जन्म की वासनाओं को भी समाहित रखता है।... प्रत्येक वस्तु पूर्वजन्मों में मनुष्य या पशु रूप में अनेक जीवन बिता चुका होता है। इन सभी जीवन में वही चित्त उसके साथ रहता है। चित्त में उन समस्त पूर्वजन्मों की प्रवृत्तियाँ एवं वासनायें संस्कार रूप में निहित रहती है।[१०] स्वप्नकाल में, शारीरिक तथा मानसिक

रुग्णता की स्थिति में यह बलवती होकर बाहर निकलती है। यह हमारी आदतों एवं पूर्वजनित संस्कारों का आगार है। यह उन विचारों, जिन्हें अनुभव एवं भावना के स्तर पर चेतन रूप में अस्वीकृत कर दिया गया है, की पुनरावृत्ति का कारण भी है। वस्तुतः संस्कार के बीज हैं जिनके कारण जीवन की कोई आदत या प्रवृत्ति या कोई आनन्द जिसका अनुभव व्यक्ति ने किसी काल में किया हो अथवा भावनाएँ जो उनमें प्रबल रही हो, पुनर्जागृत हो जाती हैं, चाहे वे उस समय अनुभूत नहीं भी हो रही हों, फिर भी ये प्रवृत्तियाँ चित्त में इस प्रकार रहती हैं कि कभी भी अनायास स्वतः प्रकट हो सकती हैं। क्योंकि ये पहले की अनुभूतियाँ हैं और संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान हैं।[११] संक्षेप में यह चेतना की अंधेरी एवं मूक तरंगों की परत है।

इसके विपरीत अर्धचेतना आंतरिक कोषों का क्षेत्र है। योग विधा के अनुसार स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर का आवरण होता है। उसी प्रकार 'हमारी इच्छाओं, भावनाओं, उथले या गहरे तल तक प्रविष्ट एषणाओं, आकर्षणों एवं विकर्षणों आदि की संसृष्टि के पीछे एक आंतरिक प्राणाधार है। यह हमारे महत्तर एवं बृहत्तर कार्यों का स्रोत है। यह हमारे समान रूप से या कभी-कभी घटित होने वाले अतिमानवीय शक्ति या ऊर्जा विस्फोट का कारण भी है। हमारे अन्वेषण, प्रत्यक्ष निरीक्षण, कल्पना, तर्क करना, धूर्तता एवं व्यावहारिक, श्रमयुक्त या मानसिक कार्यों आदि के पीछे एक विशाल एवं गहन मानसिक चेतना है जो विचारों, प्रतिमाओं, बिम्बों आदि के सम्पूर्ण एवं सुव्यवस्थित लक्षणों से पूर्ण हैं। अर्द्धचेतना को सामान्यतः गुह्य चेतना भी कहते हैं। यह चेतना अलौकिक प्रत्यक्ष, दूर संवेदन एवं अन्य सजातीय संवृत्ति का वाहक है।'[१२]

समाधि भावना के क्रम में दो प्रकार के कार्य सम्पादित होते हैं। प्रथमतः 'यह अवचेतना में संग्रहित संस्कारों का परिष्कार करता है, तो दूसरी ओर मन को एकाग्र कर अर्द्धचेतना के शक्ति एवं ऊर्जा को सक्रिय एवं सारणीबद्ध करता है। फलतः इसके दो परिणाम होते हैं। एक ओर तो यह हमारे अज्ञान को दूर करता है। हमारे अन्दर की वासनाओं, एषणाओं एवं संग्रहीत कुशल एवं अकुशल संस्कारों को सामने लाकर अवचेतना से हटा देता है।'[१३] या फिर संस्कार रूप में उसके बचे हुए बीज को निरंतर अभ्यास द्वारा नष्ट कर देता है और सद्विचारों के बीज को प्रतिपक्ष भावना द्वारा इतना दृढ़ कर कर देता है कि असद्विचारों के संस्कार जाग्रत ही नहीं हो पाते हैं।[१४] फलतः मन शांत, चित्त स्थिर, स्पष्ट, पारदर्शी एवं वृत्तियाँ निरुद्ध प्राय हो जाती हैं। इसमें किसी भी प्रकार की कुंठा, ग्रंथी, अवसाद, हर्ष और विषाद शेष नहीं रहता है। यह प्रज्ञा को वहन करने योग्य हो जाता है। यहाँ पर मैं दोनों ही योगशास्त्रों में वर्णित समाधि एवं इसकी प्रक्रिया में समानता एवं भेदों पर प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी।

दोनों ही योग ग्रंथों ने समाधि को योग-साधना के मध्यम कड़ी के रूप में स्वीकार किया है। दोनों की ही यह स्पष्ट मान्यता है कि समाधि के समस्त चरणों के सुदीर्घ एवं सम्यक् अभ्यासोपरांत ही प्रज्ञा का उदय होता है। यह ही नहीं भगवान बुद्ध को भी सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति समाधि भावना के सम्यक्, गहन एवं सुदीर्घ अभ्यासोपरांत ही हुई थी। महर्षि पातंजलि की यह सुदृढ़ मान्यता है कि विवेक ज्ञान की प्राप्ति समाधि के द्वारा ही संभव है।

दोनों ही योग ग्रंथों में समाधि की क्रिया एक माध्यम है, अपने आप में लक्ष्य नहीं। यद्यपि योग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में कहा है, 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।'[१५] लेकिन इससे यह प्रतिध्वनित नहीं होता है कि योग की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य चित्तवृत्तियों का रूक जाना मात्र ही है, अपितु यह योग की परिभाषा मात्र है। इसका लक्ष्य है मुक्ति की प्राप्ति एवं बंधन का उच्छेद।[१६] बंधन के उच्छेद हेतु ही समस्त योग-प्रक्रिया परिचालित होती है। विसुद्धिमग्ग के प्रारम्भ में ही दो गाथाओं द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि शील, समाधि और प्रज्ञा सांसारिक बंधनों को काटने का साधन मात्र है।[१७] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों ही योगशास्त्रों में समाधि भावना का उद्देश्य प्रज्ञा का उदय होने की स्थितियों को तैयार करना तथा तज्जनित कैवल्य या निर्वाण की प्राप्ति है।

दोनों ही योग ग्रंथों में समाधि को एक व्यावहारिक विधि के रूप में स्वीकार किया है। यह एक विधि है जिसका निरंतर अन्यास मोक्ष प्राप्ति हेतु अनिवार्य है। इस क्रम में यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यम, नियम एवं शील का

अनुपालन समाधि की तरह कोई तकनीकीयुक्त विधि नहीं है। दोनों योग ग्रंथों में वर्णित योग का नैतिक आधार वस्तुतः नीति निर्देश है। यहाँ मात्र विधि एवं निषेधों का पालन किया जाता है। यथा, हिंसा से विरत रहना, मिथ्या भाषण से विरत रहना इत्यादि। यहाँ पर कोई व्यावहारिक क्रिया विशेष का सम्पादन नहीं होता अपितु जो कार्य हम दैनिक दिनचर्या में सम्पादित करते हैं उसमें परिमार्जन है। उसमें शुचिता लाना है और अशुभ कार्यों से विरत रहना है। प्रज्ञा में ज्ञान का उदय होता है, उसके प्रकाश में सत्य आलोकित हो उठता है और मिथ्यात्व का प्रहाण होता है। इसके विपरीत समाधि एक तकनीकी है, एक व्यावहारिक विधि है, जो मन को एकाग्र करने में सहायक है। इसके लिए योगी को अनेक प्रकार की क्रिया का सम्पादन करना पड़ता है।

दोनों ही योग ग्रंथों में मनोनिग्रह एवं चित्त की एकाग्रता हेतु किसी न किसी रूप में प्राणायाम[१८] की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है। विसुद्धिमग्ग ने इसे आनापानसति कमट्ठान कहते हैं। 'आन' का अर्थ 'श्वास लेना' और 'अपान' का अर्थ 'श्वास छोड़ना' है। इन्हें श्वास-प्रश्वास भी कह सकते हैं। स्मृतिपूर्वक श्वास-प्रश्वास की क्रिया जो साधक के द्वारा समाधि में निष्पन्न की जाती है उसे आनापानसति समाधि कहते हैं।[१९] बुद्धघोष के मत में यह चालीस (४०) कमट्ठानों में सर्वोत्कृष्ट है। इसके द्वारा समस्त प्रकार के वितर्कों एवं कुतर्कों का उपशमन हो जाता है। इसी प्रकार योगसूत्र में भी चित्त को एकाग्रता हेतु प्रारंभिक रूप में प्राणायाम को महत्त्व दिया गया है। बुद्धघोष ने सोलह प्रकार के श्वांस-प्रश्वांस की क्रिया का विधान का निर्देश किया है। सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह पातंजलयोग दर्शन प्रणीत प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से मिलता-जुलता-सा प्रतीत होता है। दोनों ही योग ग्रंथों में समाधि मार्ग के व्यवधानों की चर्चा की गयी है। पातंजलयोग दर्शन में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, आलस्य-भूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व आदि नौ प्रकार के विघ्नों की चर्चा की गयी है। ये नौ प्रकार के विघ्न वस्तुतः चित्त विक्षेप हैं। इन्हें अन्तराय भी कहते हैं, विघ्न भी कहते हैं तथा योग की प्रतिपक्षी भी कहा जाता है। इसी से मिलता-जुलता वर्णन विसुद्धिमग्ग में भी दृष्टिगत होता है। यहाँ भी समाधि के पाँच विघ्नों की चर्चा की गयी है। वे हैं - कामछन्द, व्यापाद, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा। विसुद्धिमग्ग में इसे नीवरण की संज्ञा दी गई है। इनका वर्णन भी पातंजलयोग दर्शन के वर्णन से मिलता-जुलता है।

दोनों ही योग ग्रंथों में व्यक्तियों का मनोविश्लेषण करने के उपरांत उसे कई प्रकारों से बांटा गया है। उदाहरणार्थ पातंजलयोग दर्शन के अनुसार व्यक्ति के पाँच प्रकार हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। उसी प्रकार विसुद्धिमग्ग चर्याविधान के अनुरूप व्यक्ति को छः भागों में बांटती हैं। वे हैं - रागचरित, दोषचरित, मोहचरित, सद्धाचरित, बुद्धिचरित एवं वितक्कचरित। विसुद्धिमग्ग में यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि किस प्रकार के व्यक्ति को किस प्रकार के कमट्ठान को ध्यान हेतु प्रदान किया जाए। इस प्रकार दोनों ही योगग्रंथों में साधक का मनोविश्लेषण के आधार पर प्रकार भेद किया गया है। इस प्रकार बुद्धघोष द्वारा किया गया मनोवैज्ञानिक विश्लेषण योगसूत्र की अपेक्षा विस्तृत, वैज्ञानिक एवं अधिक स्पष्ट है।

पातंजल के योगसूत्र एवं बुद्धघोष के विसुद्धिमग्ग में समाधि के लिये मानसिक एकाग्रता आवश्यक है। दोनों ही योग ग्रंथों में मन को एकाग्र करने हेतु उपादानों का उल्लेख हुआ है। योगसूत्र में ध्यान के विषयों का विशद् विवेचन दृष्टिगत होता है। विभूतिपाद में यह स्पष्ट दर्शाया गया है कि किस विषय पर संयम करने से, ध्यान केन्द्रित करने से किस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[२०] समाधिपाद में सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं की चर्चा है।[२१] पातंजलयोगप्रदीपकार ने यह स्पष्ट किया है कि समाधि की उत्तरोत्तर चार अवस्थाओं में संयम का विषय क्या है? क्या वितर्कानुगत समाधि में ध्यान का विषय स्थूलभूत (पंचमहाभूत), स्थूलविषय शरीर, सूर्य, चन्द्र आदि एवं स्थूलइन्द्रियाँ हैं। विचारानुगत समाधि में संयम का विषय सूक्ष्मभूत तन्मात्राएँ, सूक्ष्म इंद्रियाँ (शक्तिरूप) हैं। आनन्दानुगत समाधि का विषय अस्मिता है।[२२] इसके अतिरिक्त अनेक सूक्ष्म विषयों पर ध्यान लगाने की बात योगसूत्र में वर्णित है। समाधिपाद में ३३वें सूत्र में मैत्री, दया, करुणा, हर्ष एवं उपेक्षा को भी ध्यान का विषय बनाकर समाधि भावना करने की बात कही गयी है।[२३] इसी क्रम में जब हम

अपनी दृष्टि विसुद्धिमग्ग पर डालते हैं तो हम पाते हैं कि यहाँ भी ध्यान के विषय के रूप में चालीस कर्मस्थानों (कमट्ठानों) की चर्चा की गयी है। वे हैं- दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविहार, चार आलस्य, एक संज्ञा एवं एक व्यावस्थान। दोनों ही योगशास्त्रों के ध्यान के विषयों पर सम्यक्-दृष्टि डालने पर दोनों में अनेक समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। यथा- योगसूत्र के पंचमहाभूत विसुद्धिमग्ग[२४] के पृथ्वीकसिन, जलकसिन, तेजकसिन, वायुकसिन एवं परिच्छिन्नाकाश और विसुद्धिमग्ग के ध्यान के विषय चार ब्रह्मविहार, मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना करने की बात कही गयी है।[२५]

यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि दोनों ही योग ग्रंथों में ध्यान का जो विषय है वह प्रारंभिक रूप में स्थूल है। लेकिन ज्योंही हम ध्यान या समाधि की गहनता में आगे बढ़ते हैं, ध्यान के विषय उत्तरोत्तर अवस्थाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। उदाहरणार्थ सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्कानुगत समाधि की अवस्था में ध्यान का विषय स्थूलभूत तथा स्थूलविषय शरीर सूर्य, चन्द्र आदि तथा स्थूल इन्द्रियाँ हैं। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय सूक्ष्मभूत, सूक्ष्म इंद्रियाँ (शक्ति रूप) तथा तन्मात्राएँ हैं। आनन्दानुगत अवस्था में ध्यान का विषय अहंकार है तो अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का विषय अस्मिता मात्र है। ठीक उसी प्रकार विसुद्धिमग्ग में ध्यान का विषय प्रारंभिक रूप में स्थूल भौतिक तत्त्व है। यथा, पृथ्वीकसिण, जलकसिण, आदि चालिस कर्मस्थान (कमट्ठान) हैं तो ध्यान की गहराई के क्रम में ध्यान का विषय सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है। यथा अल्प ध्यान की प्रथम स्थिति में साधक अनन्त आकाश को अपने ध्यान का विषय बनाता है। उसके उपरांत अरूप ध्यान की दूसरी अवस्था में अनन्तविज्ञान को ध्यान का विषय बनाता है, तो तीसरी अवस्था में योगावचार विज्ञान के अंकिचन भाव को ही ध्यान का विषय बना कर उस पर अपने चित्त को एकाग्र करता है। अरूप ध्यान की चतुर्थ एवं अंतिम अवस्था में पहुँचकर योगावचर तृतीय ध्यान के विषय को ही शांत एवं प्रणीत समझ कर अपने चित्त को एकाग्र करता है। उसका चित्त अत्यधिक सूक्ष्म हो जाता है और यह विभेद मिट जाता है कि यह विषय है या विषयी। चित्त की दोनों दशा को नेवसंञ्ञा-नसंञ्ञा चित्त कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों ही योगशास्त्र यह सामान्य रूप से मानते हैं कि ध्यान की उत्तरोत्तर अवस्था में ध्यान का विषय सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता चला जाता है।

इस क्रम में यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित प्रतीत होता है कि दोनों ही योग ग्रंथों में ध्यान के विषय को लेकर कुछ अंतर पाया जाता है। विसुद्धिमग्ग में ध्यान के विषय को लेकर चालिस कर्मस्थानों (कमट्ठान) का वर्णन है। इन कमट्ठानों में कुछ ऐसे कमट्ठान हैं जो मनुष्य मन में घृणा का भाव का भी संचार करते हैं। यथा, इसके दस अशुभकमट्ठान अत्यंत ही विभत्स हैं। वे निर्मनिलिखित हैं-१. उद्यमातक (फूला हुआ शव।), २. विनीलक (नीला पड़ चुका शव), ३. विपुब्बक (जिसमे जगह-जगह पर पीव निकल रही हो, ऐसा शव), ४. विच्छिद्दक (कटा हुआ शव), ५. विक्खाचितक (कुत्ते आदि उसके अंग-प्रत्यंग खा लिये गये हो, ऐसा शव), ६. छतविक्खित्तक, जिसके अंग-प्रत्यंग काट-काट कर बिखेर दिये गये हों, ऐसा शव, ७. लोहितक (रक्त से सना हुआ शव), ८. पुलुवक (कृमियों से भरा हुआ शव), ९. कट्ठिक (अस्थि पंजर मात्र), १०. विक्खितक (जिसके अंग-प्रत्यंग इधर-उधर बिखरे पड़े हों)। उपरोक्त कमट्ठानों पर ध्यान केन्द्रित करने का उद्देश्य शरीर के प्रति घृणा, वैराग्य एवं उपेक्षा का भाव पैदा करना है जिससे कि इस नश्वर शरीर के प्रति मोह नहीं रहे तथा अनात्म भाव का संचार हो। इस परिप्रेक्ष्य में जब हम अपनी दृष्टि योगसूत्र पर डालते हैं तो हम पाते हैं कि यहाँ इस प्रकार के ध्यान के विषय नहीं हैं। यद्यपि यहाँ भी शरीर एवं भौतिक वस्तुओं प्रति वैराग्य की बात कही गयी है तथा इस भौतिक शरीर को अनात्म माना गया है फिर भी इनके प्रति मन में वैराग्य संचार हेतु विसुद्धिमग्ग के दस अशुभों के भाँति ऐसे ध्यान के विषय प्रस्तावित नहीं किये गये हैं जो विभत्स हों और मन में घृणा का संचार करते हों।

योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग दोनों ही योग-साधना में लगे हुए साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करके उसे योग-साधना से विचलित करने वाली बाधाओं या नीवरणों की चर्चा हुई हैं। वस्तुतः नीवरण चित्त की चंचलता के आंतरिक कारण हैं। योगसूत्र में भी चित्त को चंचल करने के नौ आंतरिक कारणों की चर्चा करते हुए कहा गया है- व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति (कामछन्द), आलस्य (मिद्ध), अनवस्थिततत्व।[२६] इनमें से अविरति (कामछन्द), आलस्य (मिट्ठ), अनवस्थिततत्व (औद्धत्य), संशय (विचिकित्सा, विचिकिच्छा) ओर स्त्यान (थीन) पांचों नीवरणों में भी पाये

जाते हैं। यह ही नहीं, दोनों ही योग ग्रंथों में दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वांस-प्रश्वांस आदि को भी चित्त की चंचलता तथा एकाग्रता के प्रतिरोधक माना गया है।[२७]

दोनों ही योग ग्रंथों में समाधि भावना के बाधक तत्त्वों के निरोध की बात कही गयी है। क्योंकि जबतक चित्त की चंचलता के तत्त्वों का निरोध नहीं हो जाता है तबतक न तो चित्तवृत्तियों का निरोध संभव है और न ही समाधि भावना का विकास हो सकता है। योगसूत्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि उन विघ्नों को दूर करने के लिये एकत्व का अभ्यास करना चाहिए।[२८] साथ ही वहाँ यह कहा गया है कि उपरोक्त दोनों प्रकार के विक्षेपों एवं अविक्षेपों का निरोध ईश्वरप्रणिधान से होता है तथा उससे प्रत्येक चेतना का ज्ञान भी होता है।[२९]

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम अपनी दृष्टि विसुद्धिमग्ग पर डालते हैं तो पाते हैं कि यहाँ भी नीवरणों के नाश के लिए उपायों का निर्देश किया गया है। यहाँ पर इन नीवरणों के नाश हेतु पंच ध्यानांगो का वर्णन उपलब्ध होता है, वे हैं- वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता इनसे न मात्र नीवरणों का नाश होता है अपितु एकग्रता का उदय भी होता है। ये चित्त से चंचलता का नाश करते हैं तथा ध्यानांगों के उदय होने से समाधि भावना के लिए भूमि तैयार हो जाती है।[३०]

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित प्रतीत होता है कि पंचध्यानांगों में से प्रथम चार का विस्तृत वर्णन योगसूत्र में भी किया गया है। योगसूत्र के समाधिपाद के सत्रहवें श्लोक में यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है- उसे सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।[३१] योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग दोनों ही के क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि एवं रूप समाधि के वर्णन के क्रम में वितर्क, विचार, प्रीति, आनन्द, सुख इत्यादि की भूमिका प्रायः समान है। इन्हें विघ्नकारक तत्त्वों को विनष्ट करने के कारक के रूप में स्वीकारा गया है।

समाधि की स्थितियों का विचार भी योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में बहुत हद तक एक-सा प्रतीत होता है। योगसूत्र में उल्लिखित सम्प्रज्ञात समाधि के चार स्थितियों में से प्रथम तीन विसुद्धिमग्ग के प्रथम ध्यान के तीन स्थितियों से पूर्णतः मिलते हुए से प्रतीत होते हैं। सम्प्रज्ञात योग को परिभाषित करते हुए पतंजलि ने कहा है कि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों से युक्त यह सम्प्रज्ञात योग है। विसुद्धिमग्ग के रूपध्यान में वितर्क, विचार और सुख समाविष्ट हैं जो क्रमशः आगे के ध्यान की अवस्थाओं में बढ़ने पर लुप्त होते जाते हैं।

दोनों में ही सम्प्रज्ञात समाधि एवं रूपसमाधि के चार स्तरों के विवेचन के क्रम में इनकी उपस्थिति एवं अनुपस्थित को प्रायः कुछ हेर-फेर को छोड़ कर एक प्रकार से ही चित्रित किया गया है। उदाहरणार्थ पतंजलि के अनुसार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भाव होता है तो विसुद्धिमग्ग के प्रथम रूपध्यान में पांचों ध्यानांग वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं उपेक्षा उपस्थित रहते हैं। योगसूत्र के विचारानुगत समाधि में वितर्क का अभाव हो जाता है। वहाँ मात्र विचार, आनन्द और अस्मिता उपस्थित रहते हैं तो विसुद्धिमग्ग के द्वितीय रूपध्यान में भी वितर्क और विचार दोनों का अभाव हो जाता है, मात्र आनन्द एवं अस्मिता का ही भाव रहता है। ठीक उसी प्रकार विसुद्धिमग्ग के तृतीय रूपध्यान ने वितर्क और विचार अनुपस्थित हो जाते हैं, मात्र प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ही बने रहते हैं, तो विसुद्धिमग्ग के द्वितीय रूपध्यान में भी वितर्क अनुपस्थित हो जाता है। सम्प्रज्ञात योग के आनान्दानुगत स्थिति में वितर्क और विचार दोनों का अभाव हो जाता है। मात्र आनन्द और अस्मिता का ही भाव रहता है। ठीक उसी प्रकार विसुद्धिमग्ग के तृतीय रूपध्यान में वितर्क और विचार अनुपस्थित हो जाते हैं, मात्र प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ही बने रहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के अस्मितानुगत स्थिति वितर्क, विचार और आनन्द से रहित है तो चतुर्थ रूपध्यान में वितर्क, विचार और प्रीति का लोप हो जाता है, मात्र सुख एवं एकाग्रता बने रहते हैं। विसुद्धिमग्ग में पंचरूपध्यान की भी चर्चा की गयी है। जिसकी चर्चा योगसूत्र में अनुपलब्ध है। पंचम रूपध्यान में आनन्द का भी लोप हो जाता है और मात्र एकाग्रता बनी रहती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि दोनों ही योग ग्रंथों में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, आनन्द अस्मिता एवं एकाग्रता आदि का वर्णन थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ प्रायः समान रूप से उपलब्ध है। योगसूत्र का असम्प्रज्ञात समाधि विसुद्धिमग्ग के अरूपध्यान के अंतिम स्थिति से मिलता-जुलता है। यहाँ कोई भावात्मक आलम्बन नहीं रहता है।

यद्यपि दोनों ग्रन्थों में समाधि की स्थिति को लेकर काफी साम्य पाया जाता है, फिर भी विसुद्धिमग्ग में वर्णित समाधि अनेक अर्थों में योगसूत्र से भिन्न है। उदाहरणार्थ विसुद्धिमग्ग के प्रथम रूपध्यान में वितर्क, विचार एवं सुख के साथ प्रीति रहती है और सम्प्रज्ञात समाधि की प्रथम स्थिति में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता रहती है। पतंजलि के योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि की चार स्थितियाँ हैं, जबकि विसुद्धिमग्ग के रूपध्यान पाँच प्रकार के हैं। अन्तिम को पंचम रूप ध्यान कहते हैं। ठीक उसी प्रकार विसुद्धिमग्ग का अरूपध्यान की अन्तिम स्थिति 'नेवसंञ्ञा संञ्ञा' की है। जबकि पतंजलि के योगसूत्र में वर्णित असम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था चित्तवृत्तियों का निरोध है।

विसुद्धिमग्ग अन्य योग दर्शनों की भाँति गुरु की महत्ता को स्वीकार करता है तथा उस पर विशेष बल देता है। यहाँ उसे कल्याणमित्त की संज्ञा दी गई है। कल्याणमित्त योगावचर की अध्यात्म-साधना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह योगावचर का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करता है। तदुपरांत उसके अनुरूप अमट्ठान का चयन करता है तथा योग-साधना में उसकी सहायता करता है, साथ ही समय पड़ने पर उसका निर्देश भी करता है। पातंजल योगदर्शन में गुरु उनके कार्य तथा योग-साधना में उसकी भूमिका का विसुद्धिमग्गवत सविस्तार वर्णन अनुपलब्ध है। यहाँ ईश्वर को योग-साधना में एक सहायक कारक के रूप में स्वीकार किया गया है जो समय पड़ने पर उसकी समाधि भी सिद्ध कर देता है।[३२]

इस क्रम में यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित प्रतीत होता है कि विसुद्धिमग्ग अनात्मवादी बौद्ध दर्शन पर आधारित होने के कारण ईश्वर को अस्वीकार करता है। इस कारण ही यहाँ ईश्वर प्रणिधान या योग-मार्ग में ईश्वर की अनुकम्पा की चर्चा नहीं की गयी है। यद्यपि यहाँ पर बुद्धानुस्मृति की चर्चा है जो दस अनुस्मृतियों में एक है।[३३] इसमें योगावचर अपने हृदय में श्रद्धा एवं विश्वास को लेकर एकांत स्थान में बैठकर भगवान बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करता है। यथा, 'वह भगवान सम्यक् सम्बुद्ध हैं, अर्हत् हैं, विद्या और चरण से सम्पन्न हैं, सुगत एवं लोकविध हैं। विनयशील पुरुषों के अनुपम सारथी हैं, संसार भवचक्रों को नाश करने वाले हैं, क्लेशों को दूर करने वाले हैं, सम्यक् सम्बुद्ध हैं, महाकारुणिक हैं, इत्यादि।[३४] लेकिन यहाँ बुद्ध को विश्वातीत ईश्वर नहीं मानते हैं, जो किसी पर अहेतुकी कृपा कर मोक्ष प्रदान करें या समाधि को सिद्ध करें। उनके लिए प्रयुक्त 'भगवान' शब्द भी भक्तिमार्ग के ईश्वर का बोधक नहीं है, अपितु यहाँ वह श्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भवचक्रों को भग्न करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस क्रम में योगसूत्र में ईश्वर का वर्णन भी बहुत हद तक बौद्ध विचारों से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। अनीश्वरवादी एवं प्रकृतिवादी सांख्य का सहयोगी दर्शन होने के कारण योगसूत्र में भी ईश्वर की पूर्ण भक्तिपरक कल्पना का वर्णन नहीं किया गया है, अपितु यहाँ ईश्वर को पुरुष की संज्ञा देकर इतिश्री कर दिया गया है।[३५] अत: विसुद्धिमग्ग का योग पातंजल योगदर्शन की भाँति ईश्वरवादी विचारों से रहित है और उसकी परिकल्पनाएँ भी पारलौकिक न होकर इहलौकिक है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग भले ही दो भिन्न परम्परा एवं तत्त्वमीमांसीय परिकल्पनाओं पर आधारित हैं पर उनकी समाधि विषयक परिकल्पना एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् नहीं है। दोनों के आकारगत विषय एवं भिन्नता भी ऐसी नहीं है जो दोनों को एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् कर दे। ये दोनों ग्रन्थ चित्त को एकाग्र करने हेतु प्राय: एक जैसे उपक्रम करते हैं। इन दोनों में जो भिन्नता है वह आंशिक है और वह भी उनके तत्त्वमीमांसीय अन्तर के कारण है। एक ही प्रयोजन, शरीर के प्रति उदासीनता, हेतु ये दो प्रकार का प्रयोग करते हैं। यथा, विसुद्धिमग्ग अशुभ कसिण पर ध्यान आरोपित करने को कहता है जिससे कि योगी को अपने शरीर से घृणा हो जाए तो योगसूत्र शरीर से आत्मा के स्वरूप से पृथक् बतला कर इसके प्रति मोह को खण्डित करने पर बल देता है। चूँकि मन ही समाधि प्रयोग का आधार है इस कारण ही दोनों की समाधि क्रिया में अनेक प्रकार की समानता दृष्टिगत होती है।

संदर्भ:

१. *सरिता कुमारी, योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में आगत योग की अवधारणा, इम्प्रेशन पब्लिकेशन, पटना, २०१०*

२. *योगसूत्र, अध्याय १, सूत्र २*

३. *विसुद्धिमग्ग (हिन्दी रूपांतर सहितो) सम्पादक द्वारिकादास शास्त्री, बुद्धभारती प्रकाशन, वाराणसी ततियो परिच्छेदो, पृ. ४६८*

४. शब्द कल्पद्रुम पृ. ६५-६७

५. अविक्खेण अट्ठेन समाधि, पटिसम्भिदामग्ग पृ. १५९

६. सरिता कुमारी, योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में आगत योग की अवधारणा, इम्प्रेशन पब्लिकेशन, पटना, २०१० पृ०- २९३

७. वही

८. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, १९७८, पृ.-२७१

९. सरिता कुमारी, योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में आगत योग की अवधारणा पृ०- २९४

१०. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ. २६९-७०

११. वही पृ.२७०

१२. सरिता कुमारी, योगसूत्र एवं विसुद्धिमग्ग में आगत योग की अवधारणा पृ. २९४

१३. वही पृ. २९४-२९५

१४. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास पृ. २७०

१५. योगसूत्र, अध्याय १ सूत्र ४९, ५०, ५१, ५२, ५३३; विसुद्धिमग्गो, II, पृ०- २१८-२३३

१६. योगसूत्र अध्याय १, पृ. ३०

१७. विसुद्धिमग्गो, II, पृ. २१८-२३३

१८. योगसूत्र, III, पृ.-१६-४४

१९. धम्मसंगिनी, पृ. २५७-२५९

२०. योगसूत्र, III पृ०-१६-४४

२१. वही, I पृ०-१७

२२. पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस गोरखपुर पृ०-१७७

२३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनाताश्चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र १/३३

२४. विसुद्धिमग्गो, हिन्दी रूपान्तर सहित, संपादक-स्वामी द्वारिका दास शास्त्री पहला भाग, पृ.-८८

२५. मेत्ता, करुणा, मुदिता, उपेक्खाति इमे चत्तारो ब्रह्मविहारा, वही, पृ०-८९

२६. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा-स्तेऽन्तरायाः। योगसूत्र, १/३०

२७. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वनासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। वही १/३१

२८. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः। वही १/३२

२९. ततः प्रत्येक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। वही १/२९

३०. विसुद्धिमग्गो, पहला भाग, पृ. ११५-११८

३१. वितर्कविचारानन्दास्मितारुपानुगमात्सम्प्रज्ञातः। ... योगसूत्र १/१७

३२. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्, योगसूत्र २/४५

३३. विसुद्धिमग्गो, हि. अनु., II, पालि पृ०-१६१-७५

३४. इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्भसारथि सत्था देवमनुस्सान ... अरीनं अरानं ... अरहं ति अनुस्सरति वही, पृ०-१६१-६२ पुरुष विशेष ईश्वरः १ योगसूत्र, I पृ०-२४

***

योग की अवधारणा और समग्र-योग

अनुभव द्विवेदी

भारतीय संदर्भ में योग आन्तरिक अनुशासन के रूप में सभी सम्प्रदायों, सभी उपासनाओं, सभी विद्याओं और सभी कलाओं में समान रूप से अपेक्षित है। यह एक प्रकार से भारतीय सांस्कृतिक प्रक्रिया में अनुस्यूत है। प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम ऋग्वेद में योग शब्द मिलता है। उपनिषदों में प्रयुक्त योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ को संचालित करता है, क्योंकि योग, ध्यान, तप आदि शब्द समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। उपनिषदीय परम्परा में योग का अर्थ एक उच्च अवस्था है, जिसमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन की वृत्तियाँ रुक जाती हैं और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार योग चित्तवृत्ति निरोध की अवस्था है। भागवतपुराण में सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में योग का प्रतिपादन हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि से योग मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकास का क्रम है। योग का लक्ष्य शरीर को मानसिक शांति प्राप्त करने के लिए तैयार करना है जो परमब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत व्याकरण में दो 'युज्' धातुओं का उल्लेख है जिनमें से एक का अर्थ जोड़ना या एक होना है तथा दूसरे का समाधि मनःस्थिरता है। सामान्यतया योग का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा के एकीकरण अथवा मनुष्य के व्यक्तित्व- शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के एकीकरण से लगाया जाता है।

गीता को योग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना गया है। इसमें श्रीकृष्ण को योगेश्वर कहा गया है। गीता के सभी अध्यायों में योग शब्द का प्रयोग किया गया है और योग की भिन्न-भिन्न परिभाषा दी गयी है। एक स्थान पर कहा गया है कि सिद्धि-असिद्धि में सम रहना योग है। 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।' सिद्धि-असिद्धि में सम रहने का तात्पर्य है, सफलता मिलने पर सुखी और सफलता न मिलने पर दुःखी न होना ही योग है। यह तभी संभव है जब साधन युक्त हो चुका हो अर्थात् बाह्य चेतना से युक्त हो चुका हो। गीता की दूसरी परिभाषा के अनुसार योग कर्मों में कुशलता का नाम है-'योगः कर्मसु कौशलम्।' कर्मों में कुशलता का अर्थ है कर्मों को निष्काम भाव से करना जिससे ये मोक्षदायक बन सकें। गीता की तीसरी परिभाषा के अनुसार दुःख के संयोग का वियोग ही योग है-'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'

गीता द्वारा दी गयी योग की यह परिभाषा पातंजल योग की परिभाषा से शाब्दिक रूप से नहीं मिलती परन्तु यह पातंजल योग की परिभाषा के निकट है, क्योंकि पातंजल योग की परिभाषा में जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तो साधक को प्रकृति और पुरुष का ज्ञान हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप पुरुष समस्त दुःखों से रहित हो जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि जब साधक युक्त हो जाता है तभी दुःखों से उसका वियोग हो जाता है।

योग का सामान्य अर्थ युक्त होना है। इसी अर्थ के अनुरूप योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है जीवात्मा और परमात्मा का समान रूपात्मक ज्ञान ही योग है। (संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनो-या स्मृति।) समान रूपात्मक का अर्थ है परमात्मा जो बंधन मुक्त है उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने ज्ञान, वासना, बंधनों आदि से रहित होकर परमात्मा के तुल्य हो जाए अर्थात् परमात्मा से युक्त हो जाए।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन के क्रम में आत्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार या आत्मानुभूति करने का उपदेश दिया गया है

और योग के द्वारा आत्म-दर्शन को परमधर्म माना गया है, 'अयं तु परमोधर्मः योद्योगेनात्मदर्शनम्।' वेदान्त परम्परा में योग स्वानुभूति का परम साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में तत्त्वानुभूति के साधन के रूप में योग के उपायों का अनेक बार उल्लेख किया गया है। वस्तुतः योग शब्द का प्रयोग तत्त्वानुभूति की स्थिति साध्य तथा उसके साधन दोनों अर्थों में किया गया है। योग शब्द का प्रयोग अलभ्य लाभ या अप्राप्त की प्राप्ति के लिए भी किया जाता है, 'योगः अप्राप्तस्य प्रापणम्। गीता ९/२२।

यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में योग का अर्थ भिन्न-भिन्न है फिर भी मोक्षप्राप्ति के मुख्य और गौण, ज्ञान दृष्टि और आचार दृष्टि से जितने भी अध्यात्मशास्त्र निर्दिष्ट साधन (जो परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं) हैं उनका यथाविधि सम्यक्-अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विकास की पूर्णता का नाम योग है।

योग के प्रकार- योग का विषय आरम्भ से अत्यन्त व्यापक रहा है। कालान्तर में इसकी व्यापकता में वृद्धि होती गयी और यह एक बहुचर्चित विषय हो गया। इस प्रकार योग की कोई एक पूर्ण परिभाषा दे पाना कठिन कार्य है। यदि हम आधुनिक समय में चर्चित योग को छोड़ दें तो प्राचीन काल से भारतीय परम्परा में जो भेद किए जा सकते हैं वे निम्न हैं- ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, महायोग, तंत्रयोग, कुण्डलिनी योग।

कर्मयोग कर्म के द्वारा मोक्ष की पद्धत्ति है। भक्तियोग ईश्वर के प्रति भक्ति के द्वारा पूर्णता की प्राप्ति पर बल देता है। ज्ञानयोग ज्ञान के द्वारा मोक्ष को बतलाता है जबकि राजयोग मन तथा मानसिक शक्तियों के प्रशिक्षण का प्रतिपादन करता है। हठयोग शारीरिक नियंत्रण, प्राणायाम और मंत्रों की विधि का विवेचन करता है।

योग की दार्शनिक परम्पराएँ- योगविद्या का आख्यान वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, गीता, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त आदि दर्शनों में परमात्म साक्षात्कार के रूप में अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। दार्शनिक विचारधारा भिन्न-भिन्न होने पर भी भारतीय दर्शन मोक्ष को अपना लक्ष्य मानता है और उसके लिए साधना-पद्धत्ति को भी स्वीकार करता है। योग मुख्य रूप से आध्यात्मिक साधना है अतः स्वभाविक रूप से यह अन्य दर्शनों से सम्बद्ध है।

प्राचीन साहित्य में सर्वप्रथम ऋग्वेद में कहा गया है कि विद्वानों का यज्ञकर्म बिना योग के सिद्ध नहीं होता- 'यस्माद्यते न सिध्यति यज्ञोविपाश्चितश्चन्। स धीनां योगसिवन्ति।' (ऋग्वेद १/१८/७)। वेद वाक्य में योग की महत्ता को बतलाया गया है। योग सिद्धि के लिए भगवान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए ईश्वर के प्रार्थना के क्रम में बतलाया गया है कि हम साधक लोग हर कष्टमय स्थिति में परमेश्वर वाम इन्द्र का आह्वान करते हैं- 'योगे योगे तवस्तरं, वाजे वाजे हवामहे, सखाय इन्द्र भूतये।' (सामवेद २/६/९)। अथर्ववेद में योग को मुक्ति का साधन बताया गया है और योगी पुरुष के तपस्या की सफलता की कामना की गयी है। वेदों में प्राप्त मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि वहाँ योग का निरूपण, पारिभाषित शब्दों के क्रम में नहीं हुआ है फिर भी प्राकृतिक वस्तुओं पर आधारित योग का वर्णन अवश्य ही योग के अस्तित्व का सूचक है।

उपनिषदों में योग और उसकी साधना का विस्तृत वर्णन मिलता है। जिसमें जीव, जगत् और परमात्मा सम्बन्धी चर्चाएँ अनुस्यूत हैं। उपनिषद् में प्रयुक्त योग शब्द आध्यात्मिक अर्थ को संचालित करता है। उपनिषदों में योग शब्द का प्रयोग दर्शन विशेष तथा क्रियात्मक योग दोनों अर्थों में हुआ है, जिसे कठ, मुण्डक, छान्दोग्योपनिषद् आदि में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में क्रियात्मक योग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शरीर को गिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत व सम करके मनसहित इन्द्रियों को हृदय में समावेश करके ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् लोग सभी भयानक प्रवाहों को तर जाएं। इस शरीर में प्राणों को अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्टा हों और प्राण के क्षीण होने पर नासिकाद्वार से श्वांस छोड़ें और इन दुष्ट घोड़ों की लगाम रूपी मन को विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करें। (श्वेता. २/८-९) इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा गया है कि कठिनता से दिख पड़नेवाले गूढ़ स्थानों में अनुप्रविष्ट, बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहनेवाले पुरातनदेव को अध्यात्म-योग की प्राप्ति द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है। (कठो.१/२/१२)

कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों के अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से उपनिषद् हैं जिनमें योग की पर्याप्त चर्चा मिलती है, जिसे 'योगोपनिषद् संग्रह' के नाम से जाना जाता है। इनके अतिरिक्त योगराजोपनिषद् को भी योग का आर्ष ग्रन्थ माना गया है। (कल्याण, योगतत्त्वांक, अप्रैल, १९९१)

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय में उसे योगशास्त्र कहा गया है और प्रत्येक अध्याय का नाम योगांत बताया गया है। यथा- अर्जुन विषाद-योग, सांख्य-योग, कर्मयोग, ज्ञानकर्म संन्यासयोग, कर्मसंन्यास योग, ध्यानयोग आदि योगों का वर्णन गीता में मिलता है। लेकिन गीता में योग शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुअ है- एक 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् विशेष प्रकार के कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है। दूसरा 'समत्वं योग उच्यते' अर्थात् समत्व ही योग है। इन दोनों में एक व्यावहारिक योग है तो दूसरा आध्यात्मिक। एक साधन योग है तो दूसरा साध्य योग। हमारे भौतिक जीवन में जहाँ चेतना और भौतिक जगत् अर्थात् व्यक्ति और वातावरण के मध्य समायोजन की आवश्यकता होती है वहाँ 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि योग कर्म का एक साधन है जो उसकी कुशलता में निहित है, और जब चेतना में चल रहे शुभ-अशुभ रूपी मानसिक द्वन्द्व को पूर्ण मानसिक समत्व की आवश्यकता होती है तब वहाँ योग शब्द 'समत्वं योग उच्यते' के अर्त में प्रयुक्त होता है। अतः जानयोग, भक्तियोह तथा कर्मयोग तीनों साधन-योग के अन्तर्गत आते हैं तथा समत्वयोग साध्य योग के अन्तर्गत।

जैन दर्शन के अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिए जो धर्म-क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है वह धर्म-व्यापार योग है। इसके अतिरिक्त सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चरित्र को मोक्ष के कारणभूत होने पर योग माना गया है। योग-साधना के लिए जैन योग में पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म का वर्णन किया गया है। पंचमहाव्रत का वर्णन अष्टांग योग के 'यम' के अन्तर्गत भी मिलता है। यद्यपि जैन आगमों में योग दर्शन की भाँति प्रत्याहार, धारणा आदि शब्दों का उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु साधना-पद्धत्ति का सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवेचन अवश्य प्राप्त होता है। ध्यान ही साधक की साधना का आदि, मध्य और अन्त है ऐसा वर्णन मिलता है। इस प्रकार जैन दर्शन में साधना के दृष्टिकोण से योग महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

यद्यपि बौद्ध चेतना अथवा आत्मा को क्षणिक मानते हैं, फिर भी इसमें ध्यान, समाधि आदि का वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म में योग का तात्पर्य बोधिसत्त्व की प्राप्ति करना अथवा जगत् की निःसारता का ज्ञान प्राप्त करना है। इस धर्म में तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन स्वीकार किया गया है। विभिन्न बौद्ध ग्रंथों में प्रयुक्त समाधि एवं ध्यान शब्द योग के अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। निर्वाण प्राप्ति के साधन के रूप में योग की महत्ता का प्रतिपादन बौद्ध ग्रथों में किया गया है।

पातंजल योग के अष्टांग-योग की भाँति बौद्ध-साधना में निर्वाण प्राप्ति के लिए अष्टांग-मार्ग-सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि का वर्णन मिलता है। अष्टांग-योग के यम और नियम के पालन का निर्देश बौद्ध योग में मिलता है। संयमित अचार-विचार की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा की स्थापना की। जो योग परम्परा के ही स्रोत और कड़ी हैं। बौद्ध योग में यद्यपि पातंजल योग की तरह व्यवस्थित और क्रमागत योग की चर्चा नहीं हुई है। फिर भी बुद्ध ने बोधिसत्त्व की प्राप्ति के लिए जिन-जिन उपायों का क्रम बताया है वे अवश्य ही आध्यात्मिक और योग-मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। जिन पर चल कर मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आध्यात्मिक) के भिन्न-भिन्न तत्त्वों के नियंत्रण द्वारा पूर्णता प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है। अपने अतीव रूढ़, पारिभाषिक अर्थ में योग 'चित्तवृत्तियों के निरोध' की संज्ञा है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहा गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति - ये पाँच मुख्य चित्तवृत्तियाँ हैं। अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इनका निरोध संभव है (अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः) और कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष अपने

स्वरूप में स्थिर हो जाता है। योगसूत्र चित्त की पाँच अवस्था- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम तीन अवस्थाओं में योग नहीं होती। एकाग्र और निरुद्ध अवस्था मे अविद्यादि पंच क्लेशों एवं कर्म बंधन के शिथिल होने पर क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

पतंजलि ने योगसूत्र में आठ योगांगो का उल्लेख किया है-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि। अष्टांग के पालन से चित्त का विकार नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को जान जाती है, क्योंकि तत्त्वज्ञान में वृद्धि होती है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति होती है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग-योग का पथ निर्विवाद रूप से प्रासंगिक है। वस्तुतः अष्टांग योग कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय नहीं, बल्कि जीवन जीने की संपूर्ण पद्धत्ति है। इस योग को अपनाकर ही वैयक्तिक समरसता, बौद्धिक जागरण, मानसिक शक्ति एवं आध्यात्मिक आनंनद की अनुभूति संभव है।

भारतीय दर्शन के साथ ही योग को मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। भक्ति आन्दोलन में केन्द्रीय पुरुष रामानंद ने स्वयं योग की साधना को महत्त्व दिया है। समकालीन भारतीय दर्शन में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द ने भी योग की महत्ता को माना है। गांधी जी ने एकादश व्रत में अष्टांग योग के यम को समावेशित किया है। स्वामी विवेकानन्द ने भी ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग का वर्णन अपनी रचना में किया है। ओशो का दर्शन भी इससे रिक्त नहीं है। उनके दर्शन का यह व्यावहारिक पक्ष है। इनके दर्शन में ध्यान मोक्षप्राप्ति का मार्ग है। ओशो ने अपने दर्शन में प्रमुखता से स्वीकार कर इसके अर्थ और विस्तार में गहराई ला दी है। इससे वर्तमान युग में इसकी प्रासंगिकता बढ़ गयी है।

श्री अरविन्द का योग के विषय में एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। उनके अनुसार समग्र संसार, प्रकृति का कुल व्यापार, सारा जीवन अपने आप में एक योग ही है। योग अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अवनत अवस्था से उन्नतावस्था की ओर, सीमितावस्था से असीम अनन्त सत्य की ओर प्रगति और उसकी प्राप्ति का प्रयास है। विश्व की प्रत्येक गतिविधि अंततोगत्वा उसी दिशा में होती है। साधरणतः यह प्रक्रिया अव्यवस्थित और धीमी गति से होती है। किन्तु ज़ब यह क्रिया जागृत चेतना द्वारा निश्चित पद्धत्ति से किया जाता है तो उसे विशेष रूप से 'योग' साधना कहते हैं।

सामान्य योग में एक मुख्य शक्ति को अथवा शक्तियों के विशेष समूह को दिव्य की प्राप्ति हेतु साधन या मार्ग बनाया जाता है, जबकि श्री अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिक जीवन की संभावना को जीवन में स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि हम केवल आध्यात्मिक तत्त्व को ही सत् के रूप में स्वीकार न करें बल्कि भौतिक तत्त्व को भी उसकी व्यंजना हेतु समुचित माध्यम के रूप में स्वीकार करें। अर्थात् परम सत् के रूप में स्वीकृत इस आध्यात्मिक तत्त्व तथा माध्यम रूप से समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्त्व का भी उपनिषद् की भाँति समर्थन करें। चित्त की स्वीकृति के अतिरेक में अचित्त को अस्वीकारना नहीं है। श्री अरविन्द का आदर्श समग्र पूर्णता है। इनके दर्शन में विज्ञानवाद एवं भौतिकवाद, वैदिक दर्शन एवं आगमिक दर्शन का मंजुल समन्वय हुआ है। श्री अरविन्द का दर्शन समग्र अद्वैतवाद कहा जाता है।

श्री अरविन्द के सच्चिदानन्द में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों की समग्रता है। यह समग्र अद्वैत है। शांकर वेदांत में शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त शेष सबको अध्यस्त बताकर अद्वैत की रक्षा तो कर ली, किन्तु वह समग्र न बन सका। श्री अरविन्द के अनुसार इस समग्रता हेतु सच्चिदानन्द का आरोहण अन्नमय कोष में होता है। फलस्वरूप जड़-जगत् सच्चिदानन्द की शक्ति से देदीप्यमान हो उठता है। सच्चिदानन्द की यही चित्तशक्ति सत्ता के विभिन्न स्तरों को स्पन्दित करते हुए अपने स्वरूप का साक्षात्कार करती है। यही श्री अरविन्द का दिव्य जीवन है। सच्चिदानन्द का पृथ्वी पर अवरोहण ही जड़-जगत् को दिव्यता प्रदान करता है। इस प्रकार सच्चिदानन्द ही अरविन्द के दर्शन का पूर्णपूर्णता है जिसकी प्राप्ति समग्र योग से ही संभव है।

श्री अरविन्द के अनुसार सत्ता के आठ स्तर है-जड़, प्राण, चैत्य, मन, अतिमन, आनन्द, चित्शक्ति एवं सत्। जगत् का विकास अब तक मन तक हो सका है, परन्तु मन से अतिमन तक की क्रिया एकाएक नहीं सम्पन्न हो पाती। श्री अरविन्द मन से अतिमन के बीच क्रमिक स्तरों का उल्लेख करते हैं। उनके योग की विधि वह विधि है जिसके सहारे 'मन' उच्चतर मन, प्रदीप्त मन, अंतर्दृष्टि, व्यापक मन के सोपानों को पार करता हुआ अतिमानसिक प्रकाश को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो जाता है। इसके लिए श्री अरविन्द तीन प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं-आत्मिकता की प्रक्रिया, आध्यात्मिकता की प्रक्रिया और अतिमानसिकता की प्रक्रिया। ये तीनों समग्र-योग के तीन सोपान हैं। इनमें सभी विधियाँ आंतरिक उत्थान की विधियाँ हैं, क्योंकि इनका लक्ष्य मन को उच्चतर रूप में ले चलना है। इसी कारण श्री अरविन्द के योग को आंतरिक योग भी कहते हैं।

आत्मिकता की प्रक्रिया का लक्ष्य चैत्य पुरुष की केन्द्रीयता को स्पष्ट करता है, जिसमें चेतना अपने जीवात्म रूप में स्पष्ट हो सके। जिससे विश्व के हर पक्ष में (भौतिक, जैविक, मानसिक) मूल चित्त शक्ति 'माँ' का रूप दिखाई दे सके। आंतरिकता में इस प्रकार गहन होने की प्रक्रिया को आत्मिकता की प्रक्रिया समग्र-योग की दूसरी कड़ी है। इसका अर्थ आत्म को विस्तारित करना है। आत्मिकता के फलस्वरूप उत्पन्न परिवर्तन मात्र चैत्य पुरुष के स्तर पर अपना प्रभाव उत्पन्न कर पाते हैं परन्तु आध्यात्मिकता की प्रक्रिया से आत्म स्वतः उन उच्चतर रूपों की ओर उन्मुख हो जाता है। पहले स्तर पर आत्मा की क्रिया सीमित है तथा दूसरे स्तर पर उच्चतर उन्मुख हो जाती है।

अतिमानसिकता की प्रक्रिया समग्र-योग की तीसरी और अंतिम कड़ी है। यह प्रक्रिया हमारे अतिमन तक आरोहण और तदनुकूल अतिमन के हमारे भीतर अवरोहण द्वारा सम्पन्न होती है। अब उसकी चेतना ईश्वरीय हो जाती है तथा सारा दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। अब मानसिकता के स्तर पर सभी झंझावत पूर्णतया शांत हो जाते हैं। इस प्रकार दिव्य का अवतरण ही दिव्य जीवन है। समग्र पार्थिव जगत् समग्र पूर्णता का साक्षात्कार करती है। इस समग्र पूर्णता का आशय इन सबका पूर्ण रूपांतरण है।

हठयोग आसन एवं प्राणायाम के माध्यम से अन्नमय कोष, प्राणमय कोष पर अधिकार कर शारीरिक सुख एवं भोग की तृप्ति मात्र है। किन्तु हठयोगी को साधना में इतना समय देना पड़ता है तथा इतनी सारी वर्जनाएँ हैं कि वह शारीरिक सुख का भी भोग नहीं कर पाता।

राजयोग और आगे तक जाता है, क्योंकि इसका अधिकार मनोमय कोष पर होता है। अष्टांग-योग से व्यक्ति शनैः-शनैः चित्तवृत्ति निरोध कर पाता है, जिसके फलस्वरूप समाधि सिद्ध हो जाती है। समाधि के दो लाभ श्री अरविन्द बताते हैं। प्रथम साधक अतिमानस पर पहुँच कर अपने आध्यात्मिक सत् का साक्षात्कार करता है। द्वितीय साधक को चित्त शक्ति प्राप्त हो जाती है। यही वह शक्ति है जिसके माध्यम से दिव्य व्यापार संसार में संभव होता है। किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार राजयोग और समाधि के अपने अतिरेक में पार्थिव जगत् की उपेक्षा करता है। जबकि श्री अरविन्द का लक्ष्य पार्थिव जगत् को दिव्य जगत बनाने का है।

भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोग की त्रिवेणी राजयोग से उपेक्षित क्षेत्र को आप्लावित करती है। योग के ये प्रकार चित्त संस्था को राजयोग-सी पूर्णता हेतु प्रशिक्षण न कर, कुछ मौलिक सिद्धान्तों को केन्द्रीयभूत बनाकर हृदय, बुद्धि, संकल्पेच्छा के माध्यम से बहिर्मुखता से पृथक् कर दिव्यता पर ध्यान अवस्थित कराते हैं। यह श्री अरविन्द के समग्र-योग से भिन्न है। जिसमें मुख्यतः दो कमी रह जाती है प्रथम वह दिव्य-साक्षात्कार हेतु शरीर एवं मन की उपेक्षा और पवित्रता को ही माध्यम बनाता है। द्वितीय कमी यह है कि इसमें तीनों मार्ग, जो समानान्तर है, उनमें मात्र एक का चयन कर अन्य दो के प्रायः प्रतिकूल आगे बढ़ता है। जबकि दिव्य साक्षात्कार हेतु तीनों मार्गों में संश्लेषणात्मक समन्वय होना चाहिए।

इस प्रकार हठयोग की साधना मनोवैज्ञानिक-शारीरिक है, राजयोग की साधना मानसिक है, ज्ञानयोग की साधना बौद्धिक एवं आध्यात्मिक है, कर्मयोग की साधना संकल्पनात्मक एवं आध्यात्मिक है, भक्तियोग की भावात्मक एवं आध्यात्मिक है। सबकी अपनी-अपनी विशिष्टता है किन्तु सभी शक्तियाँ अन्ततः अपने लक्ष्य में एक हैं, सभी आत्म-शक्तियाँ हैं। सामान्यतः यह आत्मशक्ति बिखरी हुई होने के नाते धूमिल हुई रहती है। एक शक्ति में सारी शक्तियाँ छिपी

रहती है। भौतिक शक्ति, प्राण शक्ति, मानस शक्ति एवं आध्यात्मिक शक्ति ये सभी शक्तियाँ सभी शक्तियों में है। योग के विभिन्न मार्ग अन्तत: उसी आत्मबल को उद्दीप्त एवं जागृत करते हैं। विभिन्न योगों का यही ऐक्य आत्मशक्ति समग्र योग को सार्थकता प्रदान करता है।

श्री अरविन्द विभिन्न प्रकार के योगों का संश्लेषण करना चाहते हैं। इस प्रकार यह संश्लेषण न तो सबके मेल से संभव है और न क्रमिक विकास से ही। यह तभी संभव है यदि यौगिक साधनाओं के प्रकारों एवं उनके बाहरीपन की उपेक्षा कर उनके कुछ सामान्य एवं केन्द्रीयभूत सिद्धान्त को आत्मसात करना संभव हो। श्री अरविन्द के अनुसार भारत में आज भी इस प्रकार की एक यौगिक साधना है जो प्रकृति के केन्द्रीभूत सिद्धांत से प्रारम्भ करता है एवं संश्लेषणात्मक है। किन्तु यह एक स्वतंत्र योग है न कि अन्य योगों का संश्लेषण है। इस योग की विद्या को तंत्र कहते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार तंत्रयोग के विभिन्न मार्गों में अन्तत: सिद्धान्तों का धूमिलपन, प्रतीकों की विरूपता एवं पतन है।

श्री अरविन्द के अनुसार उनके समग्र-योग का वही लक्ष्य है, जो तान्त्रिक विद्या का लक्ष्य है (योगों का संश्लेषण)। किन्तु श्री अरविन्द की साधना-विधि वेदांत की है। तांत्रिक साधना में शक्ति की अहं भूमिका होती है, वेदान्त की साधना में आत्मा की, चित् तत्त्व की अहं भूमिका होती है। श्री अरविन्द की योग-साधना में मनुष्य को आत्मा के रूप में स्वीकार कर जिसे शरीर में चित्त तत्त्व की अपेक्षा मन में चित्त तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। यही चित्त तत्त्व सम्पूर्ण प्रकृति को चिन्मय बना देता है। इस प्रकार श्री अरविन्द के समग्र-योग में ज्ञान, कर्म, भक्ति की साधनायें चित्त तत्त्व में अन्तर्निहित है। समग्र-योग बिना हठयोग के भी संभव है, किन्तु उसके आंशिक प्रयोगों में भी श्री अरविन्द को कोई आपत्ति नहीं। राजयोग मात्र अनौपचारिक ढंग से ही श्री अरविन्द के समग्र-योग में स्थान पा पाता है। इस प्रकार लघु साधना से अत्यधिक व्यापक रूपेण अध्यात्म शक्ति की प्राप्ति एवं मानवीय जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को दिव्य बनाता ही समग्र योग का प्रेरणात्मक लक्ष्य है।

संदर्भ:

१. *याज्ञवल्क्यस्मृति, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथमाला ४६, १९०३-०४, पूना*

२. *श्रीमद्भगवद्गीता, २/४८,५०,६/२३, गीता प्रेस, गोरखपुर*

३. *पातंजल योगसूत्र, १/२*

४. *गीता शांकराभाष्य, ९/२२*

५. *डा. सम्पूर्णानन्द, योग दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रंथ संस्थान, लखनऊ, २००६*

६. *डा. चन्द्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन, आलोचना एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९०*

७. *एम. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की ह्नपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६८*

८. *प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, १९८५*

9. *Haridas Choudhary, Ed. The Integral Philosphy of Sri Aurobindo, George Allen and unwin Ltd. London, 1960.*

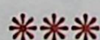
10. *S.K.Maitra,The Philosophy of Sri Aurobindo, Sri Aurobindo Ashram,Pondicherry,1976.*

11. *R.S.Mishra, The Integral Advaitism of Sri Aurobindo, B.H.U. Publication, 1957.*

12. *Sri Aurobindo, The Life Divine, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1955.*

13. *Sri Aurobindo, Basis of Yoga, Arya Publishing House, Calcutta, 1947.*

14. *Sri Aurobindo, The Synthesis of Yoga, Sri Aurobindo Ashram Pondicharry, 1971.*



४. समाज एवं संस्कृति : सामाजिक समता का विकास

भारतीय संस्कृति के उन्नयन में आध्यात्मिक जीवनदृष्टि की भूमिका

सागरमल जैन

संस्कृति जीवनशैली है और दर्शन जीवनदृष्टि है। जीवनशैली के मूल में जीवनदृष्टि होती है, दोनों अवियोज्य है। भारतीय संस्कृति भारतीय दर्शन पर आधारित है, अत: भारतीय संस्कृति का उन्नयन भारतीय दर्शन या भारतीय जीवनदृष्टि पर ही निर्भर है। अत: प्रथम प्रश्न है- भारतीय जीवनदृष्टि क्या है? यद्यपि भारत में अनेक दर्शन पुष्पित एवं पल्लवित हुए हैं, फिर भी उन सबकी जीवनदृष्टि समान है। भारतीय दर्शन अनेक हैं, किन्तु जीवनदृष्टि एक ही है। यहाँ तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शन की जीवनदृष्टि भी भौतिकवादी या भोगवादी न होकर मूलत: आध्यात्मिक ही है, चार्वाक भी एक ऋषि हैं। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ (अध्याय २०) में उन्हें दान्त या विरत कहा गया है, वे भी संसार परिभ्रमण से मुक्ति के आकांक्षी हैं। वे भले ही 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत' की बात कहते हैं, फिर भी वे 'ऋणं कृत्वा मद्यं पिवेत' की बात नहीं करते हैं। जैन और बौद्ध भी चाहे अनीश्वरवादी हों, फिर भी वे भौतिकवादी या भोगवादी नहीं हैं। प्राचीन भारतीय दर्शनों में चाहे वे श्रमण परम्परा के दर्शन हों या वैदिकधारा के दर्शन हों सभी मूलत: भोगवादी नहीं हैं, त्यागवादी हैं।

भारतीय संस्कृति के मूल उपनिषद् हैं, उपनिषदों में भी सबसे छोटा और सबसे महत्त्वपूर्ण मात्र १९ श्लोकों में सीमित एक छोटा-सा उपनिषद् है- 'ईशावास्योपनिषद्।' इसके सम्बन्ध में महात्मा गाँधी ने कहा था कि यदि समग्र भारतीय साहित्य नष्ट हो जाए, किन्तु ईशावास्योपनिषद् का प्रथम श्लोक भी बचा रहा, तो मैं पुन: भारतीय संस्कृति को जीवित कर दूँगा। ऐसा क्या है इस उपनिषद् में? इस उपनिषद् के प्रथम श्लोक का एक वाक्यांश है- 'तेन त्यक्तेन भुंजिथा' अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो, संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे व्यक्ति अपना कह सके। सभी दैवीय, ईश्वरीय या प्रकृतिप्रदत्त हैं।[1] मनुष्य को उनके उपयोग का एक सीमित अधिकार तो है, किन्तु स्वामित्व या मालिकाना हक का अधिकार नहीं है। भारतीय संस्कृति एकान्तत: भोग का निषेध नहीं करती, किन्तु उसमें त्याग की प्रधानता रही है। वह त्यागपूर्वक भोग की बात करती है। अत: भारत का सांस्कृतिक उत्थान त्याग के आध्यात्मिक मूल्यों के विकास में निहित है।

आध्यात्मिक या त्यागपरक मूल्यों के विकास के लिए जीवनदृष्टि में परिवर्तन आवश्यक है। हम सभी विकास या उत्थान की बात करते हैं। इसका अर्थ है, हम वर्तमान से संतुष्ट नहीं हैं, दशा बदलना चाहते हैं, किन्तु जब तक दिशा या दृष्टि नहीं बदलेंगे, दशा बदलने वाली नहीं है। भोगवादी या भौतिकवादी जीवनदृष्टि भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के उत्थान या विकास में सहायक नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा में ही भारत का सांस्कृतिक उत्थान संभव है। जब तक व्यक्ति की भोगप्रवृत्ति, लोभप्रवृत्ति, ममत्वप्रवृत्ति, अहंप्रवृत्ति पर नियंत्रण या संयम का अंकुश नहीं लगेगा, सांस्कृतिक उत्थान कैसे संभव होगा? भौतिक सुख-सुविधाएं, उपभोक्तावादी संस्कृति, अर्थ-प्रधानता आदि हमारे सांस्कृतिक आध्यात्मिक मूल्यों के विकास में सहायक नहीं हो सकते।

आज धर्म और अध्यात्म प्रदर्शनात्मक बन गए हैं, प्रदर्शन की भूख में दर्शन गौण हो गया है। सांस्कृतिक विकास तभी होगा जब हम प्रदर्शन के स्थान पर दर्शन को स्थान देंगे। प्रदर्शन बाह्य है, जबकि दर्शन आन्तरिक या आत्मिक है। प्रदर्शन

बाह्य भौतिक प्रगति का सूचक हो सकता है, किन्तु वह आन्तरिक विपन्नता का सूचक है। भौतिक जीवनदृष्टि हमें दैहिक सुख-सुविधा देकर आर्थिक सम्पन्नता तो दे सकती है, किन्तु उसमें पारस्परिक सौहार्द्र, सहयोग और समर्पण या सेवा के जीवनमूल्य निराकृत हो जाते हैं, अत: भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा ही मर जाती है और फिर उसका उत्थान कैसे संभव होगा?

संस्कृति समाज सापेक्ष है, संस्कृति समाज पर आधारित है और समाज की संरचना त्याग और समर्पण के जीवन-मूल्यों पर आधारित है। समाज परिवारों का समूह है और परिवार उसके सदस्यों की त्याग भावना पर खड़ा होता है। यदि पत्नी के प्रति पति का और पति के प्रति पत्नी का और संतान के प्रति दोनों का त्याग और उनके हित साधन की वृत्ति न हो तो, परिवार बनेगा ही नहीं और परिवार के बिना समाज और समाज के बिना संस्कृति ही नहीं होगी। अत: सांस्कृतिक उत्थान के लिए त्याग और समर्पण के जीवन-मूल्य आवश्यक हैं। इन मूल्यों के प्रति निष्ठा और आत्मसात होने पर ही भारत का सांस्कृतिक उत्थान संभव है।

मानव जाति को दुःखों से मुक्त करना ही भारतीय संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य था। उसने इस तथ्य को गहराई से समझने का प्रयत्न किया कि दुःख का मूल किसमें है। इसे स्पष्ट करते हुए जैनग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दुःखों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति में है।[२] यद्यपि भौतिकवाद मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति के द्वारा दुःखों के निवारण का प्रयत्न करता है, किन्तु वह उस कारण का उच्छेद नहीं कर सकता, जिससे दुःख का यह स्रोत प्रस्फुटित होता है। भौतिकवाद के पास मनुष्य की तृष्णा को समाप्त करने का कोई उपाय नहीं है। वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा मानवीय आकांक्षाओं को परितृप्त करना चाहता है किन्तु वह अग्नि में डाले गए घृत के समान उसे निःशान्त करने की अपेक्षा बढ़ाता ही है। जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चाहे स्वर्ण और रजत के कैलास के समान असंख्य पर्वत भी खड़े हो जाएं किन्तु वे मनुष्य की तृष्णा को पूरा करने में असमर्थ हैं।[३] न केवल जैनधर्म अपितु सभी आध्यात्मिक धर्मों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि समस्त दुःखों का मूल कारण आसक्ति, तृष्णा या ममत्वबुद्धि है, किन्तु तृष्णा की समाप्ति का उपाय इच्छाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। भौतिकवाद हमें सुख और सुविधा से साधन तो दे सकता है, किन्तु वह मनुष्य की आसक्ति या तृष्णा का निराकरण नहीं कर सकता। इस दिशा में उसका प्रयत्न तो टहनियों को काटकर जड़ को सींचने के समान है।[४] जैनागमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है, उसकी पूर्ति संभव नहीं है।[५] यदि हम मानव जाति का स्वार्थ, हिंसा, शोषण, भ्रष्टाचार एवं तज्जनित दुःखों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिकवादी दृष्टि का त्याग करके आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना होगा।

अध्यात्मवाद क्या है?

किन्तु यहाँ हमें यह समझ लेना होगा कि अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्म से है अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। भारतीय चिन्तन के अनुसार अध्यात्मवाद वह दृष्टि है, जो यह मानती है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आर्थिक मूल्यों के परे उच्च मूल्य भी हैं और इन उच्च मूल्यों का उपलब्धि ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जैन विचारकों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ का परममूल्य न मानकर आत्मा को परममूल्य मानना। भौतिकवादी दृष्टि मानवीय दुःख और सुख का आधार वस्तु को मानकर चलती है, उसके अनुसार दुःख और सुख वस्तुगत तथ्य हैं। भौतिकवादी सुखों की लालसा में मनुष्य बाह्य वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु चोरी, शोषण एवं संग्रह जैसी सामाजिक बुराईयों को जन्म देता है। इसके विपरीत अध्यात्मवाद हमें सीखाता है कि सुख और दुःख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा है। सुख-दुःख आत्मकृत है। अत: वास्तविक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर आत्मा से होती है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ही अपने सुख-दुःखों का कर्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। सुप्रतिष्ठित अर्थात् सद्गुणों में स्थित मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित अर्थात् दुर्गुणों में स्थित आत्मा शत्रु है।[६] आतुरप्रकरण नामक जैन ग्रन्थ में अध्यात्म का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन से युक्त शाश्वत

आत्मतत्त्व ही मेरा है, शेष सभी बाह्य पदार्थ संयोग से उपलब्ध हुए हैं। इसलिए वे मेरे अपने नहीं हैं। इन संयोगजन्य उपलब्धियों को अपना मान लेने या उन पर ममत्व रखने के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त होता है।[७] अतः सांयोगिक पदार्थों के प्रति ममत्वभाव का सर्वथा विसर्जन कर देना चाहिए। संक्षेप में अध्यात्मवाद के अनुसार देह आदि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग ही साधना का मूल उत्स है। वस्तुतः जहाँ अध्यात्मवाद पदार्थ के स्थान पर आत्मा को अपना साध्य मानता है, वहाँ भौतिकवाद में पदार्थ ही परममूल्य बन जाता है। अध्यात्मवाद में आत्मा का ही परम मूल्य होता है। अध्यात्मवाद आत्मोपलब्धि के लिए पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का त्याग आवश्यक मानता है। उसके अनुसार ममता के विसर्जन से ही समता (Equanimity) का सर्जन होता है।

अध्यात्मवाद का लक्ष्य आत्मोपलब्धि (स्वरूपोलब्धि)

भारतीय चिन्तन में ममत्व के विसर्जन को ही आत्मोपलब्धि का एकमात्र उपाय इसलिए माना गया है कि जब तक व्यक्ति में ममत्वबुद्धि या आसक्ति भाव रहता है तब तक व्यक्ति की दृष्टि 'स्व' में नहीं अपितु 'पर' अर्थात् पदार्थ में केन्द्रित रहती है। वह 'पर' में स्थित होता है यह पदार्थ केन्द्रित दृष्टि ही या 'पर' में स्थित होना ही भौतिकवाद का मूल आधार है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार 'पर' अर्थात् आत्मेतर वस्तुओं में अपनत्व का भाव और पदार्थ को परम मूल्य मानना, यही भौतिकवाद या मिथ्या दृष्टि का लक्षण है। अध्यात्मवादी व्यक्ति की दृष्टि पदार्थ-केन्द्रित न होकर आत्म-केन्द्रित होती है। वह आत्मा को ही परम मूल्य मानता है और अपने स्व-स्वरूप या स्वभावदशा की उपलब्धि को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाता है। इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यक्-दृष्टि कहा गया है। भौतिकवाद मिथ्या-दृष्टि है और अध्यात्मवाद सम्यक्-दृष्टि है।

आत्मा का स्वरूप एवं साध्य

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठ सकता है कि भारतीय चिन्तन में आत्मा का स्वरूप क्या है? उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इस प्रकार ज्ञात भाव में स्थित होना ही आत्मा का स्वरूप में स्व स्वभाव में स्थित होना है। आधुनिक मनोविज्ञान में चेतना के जो तीन पक्ष माने गए हैं- उनमें भावात्मक आर संकल्पात्मक पक्ष वस्तुतः भोक्ताभाव और कर्ताभाव सूचक हैं। जब तक आत्मा कर्ता (Doer) या भोक्ता (Enjoyer) होता है तब तक वह स्व-स्वरूप को उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि यहाँ चित्त-विकल्प या आकांक्षा बनी रहती है। अतः उसके द्वारा चित्त-समाधि या आत्मोपलब्धि संभव नहीं है। विशुद्ध ज्ञाताभाव या साक्षीभाव ही ऐसा तथ्य है जो आत्मा को निराकुल समाधि की अवस्था में स्थित कर दुःखों से मुक्त कर सकता है।

एक अन्य दृष्टि से भारतीय चिन्तन में आत्मा का स्वरूप-लक्षण 'समत्व (Equanimity)' भी बताया गया है। भगवतीसूत्र में गौतम ने महावीर के सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित किए थे- आत्मा क्या है और उसका साध्य क्या है? महावीर ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिए थे वे धर्म के हार्द को स्पष्ट कर देते हैं। उन्होंने कहा था कि आत्मा समत्व स्वरूप है और समत्व की उपलब्धि कर लेना यही आत्मा का साध्य है। आचारांगसूत्र में भी समता को धर्म कहा गया है। वहाँ समता को धर्म इसलिए कहा गया है कि वह हमारा स्व-स्वभाव है और वस्तु-स्वभाव ही धर्म है (वत्थु सहावो धम्मो)। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। जो हमारा मूल स्वभाव है और स्वलक्षण है वही हमारा साध्य हो सकता है। जैन परिभाषा में नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है।आत्मा का स्व-स्वरूप और आत्मा का साध्य, दोनों की समता है। यह बात जीववैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध होती है। आधुनिक जीवविज्ञान में भी 'समत्व के संस्थापन' को जीवन का लक्षण बताया गया है। यद्यपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद 'समत्व' के स्थान पर 'संघर्ष' को जीवन का स्वभाव बताता है और कहता है कि 'संघर्ष ही जीवन का नियम है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है।' किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। संघर्ष सदैव निराकरण का विषय रहा है। कोई भी चेतन सत्ता संघर्षशील दशा में नहीं रहना चाहती, वह संघर्ष का निराकरण करना

चाहती है। यदि संघर्ष निराकरण की वस्तु है, तो उसे स्वभाव नहीं कहा जा सकता है। संघर्ष मानव इतिहास का एक तथ्य हो सकता है, किन्तु वह मनुष्य के विभाव का इतिहास है, स्वभाव का नहीं।

चैत्तसिक जीवन में तनाव या विचलन हो जाते हैं, किन्तु वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रकिया सदैव ही उन्हें समाप्त करने की दिशा में प्रयासशील है। चैत्तसिक जीवन का मूल स्वभाव यही है कि बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओं और संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर वह समत्व को बनाए रखने का प्रयास करता है। अत: जैन धर्म में समता को आत्मा का, चेतना का स्वभाव कहा गया है और उसे ही धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। यह सत्य है कि भारतीय चिन्तन में धर्म-साधना का मूलभूत लक्ष्य कामना, आसक्ति, राग-द्वेष और वितर्क आदि मानसिक असंतुलनों और तनावों को समाप्त कर अनासक्त और निराकुल वीतराग चेतना की उपलब्धि माना गया है। आसक्ति या ममत्वबुद्धि राग और द्वेष के भाव उत्पन्न कर व्यक्ति को पदार्थापेक्षी बनाती है। आसक्त व्यक्ति अपने को 'पर' में खोजता है। जबकि अनासक्त या स्थितप्रज्ञ दृष्टि व्यक्ति को स्व में केन्द्रित करती है। दूसरे शब्दों में, वीतरागता की उपलब्धि को ही जीवन का परमलक्ष्य घोषित किया गया है। क्योंकि वीतराग ही सच्चे अर्थ में समभाव में अथवा साक्षी भाव में स्थित रह सकता है। जो चेतना समभाव या साक्षीभाव में स्थित रह सकती है वही निराकुल दशा को प्राप्त है और जो निराकुल दशा को प्राप्त होती है, वही शाश्वत सुखों का आनन्द करती है।

भारतीय संस्कृति में आत्मोपलब्धि या स्वरूप-उपलब्धि को, जो जीवन का लक्ष्य माना गया है। वह वस्तुतः वीतराग दशा में ही सम्भव है और इसलिए प्रकारान्तर से वीतरागता को ही जीव का लक्ष्य कहा गया है। वीतरागता का ही दूसरा नाम समत्वभाव ता साक्षीभाव है। यही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही हमारे जीवन का परम साध्य है।

साध्य और साधना-मार्ग का आत्मा से अभेद

भारतीय दर्शन में साधक, साध्य और साधना-मार्ग तीनों ही आत्मा से अभिन्न माने गए हैं। आत्मा ही साधक है, आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधना-मार्ग है। अध्यात्मतत्त्वालोक में कहा गया है कि 'आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है,' जब तक आत्मा मन, कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, संसार है, किन्तु जब वह इन्हें अपने वश में कर लेता है तो मुक्त कहा जाता है।[८] जैन आचार्य हेमचन्द्र ने भी साध्य और साधक में भेद बताते हुए योगशास्त्र में कहा है कि कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा बद्ध और उनको विजित करने वाले आत्मा को ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मुक्त कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा की वासनाओं से युक्त अवस्था ही बन्धन है और वासनाओं तथा विकल्पों से रहित शुद्धात्मदशा ही मोक्ष है। अध्यात्मवाद का कथन है कि साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन उसके अन्दर है। धर्म-साधना के द्वारा जो कुछ पाया जाता है वह बाह्य उपलब्धि नहीं, अपितु निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। हमारी मूलभूत क्षमताएं साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में समान ही है। साधक और सिद्ध अवस्थाओं में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जिस प्रकार बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने की क्षमता रखता है और वृक्ष रूप में विकसित होकर वह अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही आत्मा भी परमात्मदशा को प्राप्त करने की क्षमता रखता और उसे उपलब्ध कर पूर्ण हो जाता है। अध्यात्म के अनुसार अपनी ही बीज रूप क्षमताओं को पूर्ण रूप से करना मुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करनी चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति (अनुचरित) करनी चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग) संवर (संयम) और योग सब अपने आपको पाने के साधन हैं। क्योंकि यही आत्मा ज्ञान में, दर्शन में है, चारित्र में है, त्याग में है, संवर में है और योग में है।'[९]

त्रिविध साधना-मार्ग

संभवत: यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भारतीय चिन्तन में त्रिविध साधना-मार्ग का ही विधान क्यों किया गया? वस्तुतः

त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में भारतीय चिन्तन की एक गहन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं- १. ज्ञान, २. भाव और ३. संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के सम्यक् विकास के लिए ही त्रिविध साधना-मार्ग का विधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक्-दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक्-ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक्-चारित्र का प्रावधान किया गया है।

जैन दर्शन के समान ही बौद्ध दर्शन में भी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधना-मार्ग के तीन अंग हैं- १. शील, २. समाधि और ३. प्रज्ञा।

हिन्दू धर्म के ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी इसी त्रिविध साधना-मार्ग के ही रूप हैं। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधना-मार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है। इसमें प्रणिपात श्रद्धा का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधना-मार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो इनमें श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान के और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परम्परा में भी तीन आदेश उपलब्ध होते हैं- १. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और ३. स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)। पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन आदेश भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चारित्र का तत्त्व उपस्थित है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	हिन्दू धर्म	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य दर्शन
सम्यक्-ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान	परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यक्-दर्शन	समाधि	भक्ति	प्रणिपात	श्रमण	Accept Thyself
सम्यक्-चारित्र	शील	कर्म	सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

त्रिविध साधना-मार्ग और मुक्ति

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधना-मार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से या तिलक मात्र कर्म से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता को स्वीकार नहीं करते हैं। वस्तुतः भारतीय चिन्तन में ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। उत्तराध्यनसूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति नहीं होती है।[१०] इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंग का होना आवश्यक है। गीता इसी बात को विधायक रूप से कहती है कि श्रद्धावान ज्ञान को प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त संयतेन्द्रिय होकर शीघ्र ही आत्मशांति को प्राप्त करता है।

भारतीय चिन्तन में सम्यक्-ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। उपनिषदों का यह कथन सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, उसे ज्ञाता, ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना सकता, क्योंकि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है,[११] ज्ञाता है और ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं बन सकता, अतः आत्मज्ञान दुरूह है। लेकिन अनात्म तत्त्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? इससे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि जो उसके ज्ञान के

विषय हैं, उसके फलस्वरूप नहीं है, वे अनात्म हैं। सम्यक्-ज्ञान आत्मज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना, यही भेदविज्ञान है।

भारतीय अध्यात्मवाद और लोक-कल्याण का प्रश्न

यह सत्य है कि भारतीय धर्म संन्यासमार्गी धर्म है। उनकी साधना में आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय चिन्तन में लोक-मंगल या लोक-कल्याण का कोई स्थान नहीं है। भारतीय धर्म यह तो अवश्य मानते हैं कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन अधिक उपयुक्त है, किन्तु इसके साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। महावीर एवं बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि अनेक वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुनः सामाजिक जीवन में लौट आए। उन्होंने धर्मसंघ की स्थापना की तथा जीवन भर उसका मार्ग-दर्शन करते रहे। भारतीय धर्म सामाजिक कल्याण और सामाजिक सेवा को आवश्यक तो मानते हैं, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति के सुधार से समाज के सुधार की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। व्यक्ति समाज की प्रथम ईकाई है। जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा तब तक समाज नहीं सुधर सकता है। जब तक व्यक्ति के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं होता, तब तक सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और वासनाओं पर नियंत्रण नहीं कर सकता, वह स्वार्थों और द्वन्द्वों से दूर रहे- यह भारतीय आचारसंहिता का आधारभूत सिद्धान्त है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? महावीर की शिक्षा का सार यही है कि वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में प्रवृत्ति का आधार बन सकती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[१२] जैन साधना में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच महाव्रत माने जाते हैं। पतंजलि ने इन्हें ही पंचयम और बौद्ध दर्शन में इन्हें ही पंचशील कहा गया है। वे केवल वैयक्तिक साधना के लिए नहीं हैं, वे सामाजिक मंगल के लिए भी हैं। वे आत्मशुद्धि के साथ ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास भी है। भारतीय दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही महत्त्व दिया है। निवृत्तिमार्गी जैन धर्म में तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली के जो आदर्श स्थापित किए गए हैं और उनमें जो तारतम्यता निश्चित की गई है, उसका आधार विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण और व्यक्ति-कल्याण की भावना ही है। इस त्रिपुटी में विश्व-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। स्थानांगसूत्र में ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की उपस्थिति भी इस बात का प्रमाण है कि जैन साधना केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक ही सीमित नहीं है, वरन् उसमें लोकहित या लोक-कल्याण की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

क्या भारतीय धर्म जीवन का निषेध सिखाते हैं?

भारतीय धर्मों में तप-त्याग की जो महिमा गायी गई है, उसके आधार पर यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि ये धर्म जीवन का निषेध सिखाते हैं। अतः यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि तप-त्याग का अर्थ शारीरिक एवं भौतिक जीवन की अस्वीकृति नहीं है। आध्यात्मिक मूल्यों की स्वीकृति का यह तात्पर्य नहीं है कि शारीरिक एवं भौतिक मूल्यों की पूर्णतया उपेक्षा की जाए। भारतीय धर्मों के अनुसार शारीरिक मूल्य अध्यात्म के बाधक नहीं, साधक हैं। जैन ग्रन्थ निशीथभाष्य में कहा है कि 'मोक्ष का साधन ज्ञान है, ज्ञान का साधन शरीर है, शरीर का आधार आहार है।'[१३] शरीर शाश्वत आनन्द के कूल पर ले जाने वाली नौका है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है, महत्त्व भी है और उसकी सार-संभाल भी करना है। किन्तु ध्यान रहे, दृष्टि नौका पर नहीं, कूल पर होना चाहिए, शरीर की नौका या साधन के रूप में स्वीकृति जैन धर्म और सम्पूर्ण भारतीय अध्यात्म विद्या का हार्द है। यह वह विभाजन रेखा है जो अध्यात्म और

भौतिकवाद में अन्तर करती है। भौतिकवाद में भौतिक उपलब्धियाँ या जैविक मूल्य स्वयंमेव साध्य हैं, जबकि अध्यात्म में वे किन्हीं उच्च मूल्यों के साधन हैं। धर्म की भाषा में कहें तो साधक के द्वारा वस्तुओं का त्याग और ग्रहण, दोनों की साधना का मूल लक्ष्य तो एक ऐसे निराकुल, निर्विकार, निष्काम और वीतराग मानस की अभिव्यक्ति है, जो कि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के समस्त तनावों एवं संघर्षों को समाप्त कर सके। उसके सामने मूल प्रश्न दैहिक एवं भौतिक मूल्यों की स्वीकृति का नहीं है, अपितु वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शांति की संस्थापना का है। अतः जहाँ तक और जिस रूप में दैहिक और भौतिक उपलब्धियाँ उसमें साधक हो सकती हैं, वहाँ तक वे स्वीकार्य हैं और जहाँ तक उसमें बाधक हैं, वहीं तक त्याज्य है। भगवान महावीर ने आचारांगसूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में तथा कृष्ण ने गीता में इस बात को बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है कि जब इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होता है, तब उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप सुखद-दुःखद अनुभूति भी होती है और जीवन में यह भी शक्य नहीं है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क ही न हो और उसके कारण सुखद या दुःखद अनुभूति न हो, अतः त्याग इन्द्रियानुभूति का नहीं, अपितु उसके प्रति चित्त में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष के भावों का करना है। क्योंकि इन्द्रियों के मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषय आसक्तिचित्त के लिए राग-द्वेष (मानसिक विक्षोभों) का कारण बनते हैं, अनासक्त या वीतराग के लिए नहीं।[१४] अतः भारतीय धर्मों की मूल शिक्षा ममत्व के विसर्जन की है, जीवन के निषेध की नहीं।

भारतीय दर्शनों में जीवन के चार मूल्य (पुरुषार्थ)

भारतीय चिन्तकों ने चार पुरुषार्थ माने हैं- १. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष। सभी ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थ और काम पुरुषार्थ को धर्म-अविरुद्ध होना चाहिए और धर्म को सदैव ही मोक्षाभिमुख होना चाहिए। वस्तुतः यह दृष्टिकोण न केवल जैन, बौद्ध और गीता की परम्पराओं का है, वरन् समग्र भारतीय-चिन्तन की इस सन्दर्भ में यही दृष्टि है। मनु कहते हैं कि धर्मविहीन अर्थ और काम को छोड़ देना चाहिए (मनुस्मृति, ४/१७६) महाभारत में भी कहा गया है कि जो अर्थ और काम धर्म-विरोधी हों, उन्हें छोड़ देना चाहिए (अनुशासनपर्व, ३/१८) कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में और वात्स्यायन अपने कामसूत्र में लिखते हैं कि धर्म और अर्थ से अविरोध में रहे हुए काम का ही सेवन करना चाहिए। (१/७)। इस प्रकार, भारतीय चिन्तकों का प्रयास यही रहा है कि चारों पुरुषार्थों को इस प्रकार संयोजित किया जाए कि वे परस्पर अविरोध की अवस्था में रहें। इस हेतु उन्होंने उनका पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने का प्रयास भी किया। ये सभी मूल्य या पुरुषार्थ एक-दूसरे से स्वतंत्र या निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते। मोक्ष या आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए धर्म आवश्यक है और धर्म साधन के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर के निर्वाह के लिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति (काम) आवश्यक है और उनकी पूर्ति के लिए साधन (अर्थ) जुटाना आवश्यक है। इस प्रकार सभी परस्पर सापेक्ष हैं और सभी आवश्यक भी हैं।

अध्यात्म और विज्ञान : सह-सम्बन्ध

औपनिषदिक ऋषिगण, बुद्ध और महावीर भारतीय अध्यात्म परम्परा के उन्नायक रहे हैं। उनके आध्यात्मिक चिन्तन ने भारतीय मानस को आत्मतोष प्रदान किया है। किन्तु आज हम विज्ञान के युग में जीवन जी रहे हैं। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ भी आज हमें उद्वेलित कर रही हैं। आज का मनुष्य दो तलों पर जीवन जी रहा है। यदि विज्ञान को नकारता है तो जीवन की सुख-सुविधा और समृद्धि को खोने का खतरा है। दूसरी ओर अध्यात्म को नकारने पर आत्मशांति से वंचित होता है। आज आवश्यकता है इन ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रस्थापित आध्यात्मिक मूल्यों और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय की। निश्चय ही 'विज्ञान और अध्यात्म' के सह-सम्बन्ध की चर्चा आज प्रासंगिक है।

सामान्यतया आज विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी अवधारणाओं के रूप में देखा जाता है। आज जहाँ अध्यात्म को धर्मवाद और पारलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है, वहीं विज्ञान को भौतिकता और इहलौकिकता के साथ जोड़ा जाता है। आज दोनों में विरोध देखा जाता है, किन्तु यह अवधारणा भ्रान्त है। प्राचीन युग में तो विज्ञान और अध्यात्म ये शब्द भी परस्पर भिन्न अर्थ के बोधक नहीं थे। महावीर ने आचारांगसूत्र में कहा है कि 'जो आत्मा है वही विज्ञाता है

और जो विज्ञाता है वही आत्मा है।'[१५] यहाँ आत्म-ज्ञान और विज्ञान एक ही है। वस्तुतः विज्ञान शब्द वि+ज्ञान से बना है, 'वि' उपसर्ग यहाँ विशिष्टता का द्योतक है। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। आज विज्ञान शब्द केवल पदार्थ-ज्ञान के रूप में रूढ़ हो गया है। वह मूलतः विशिष्ट ज्ञान या आत्मज्ञान ही था। आत्मज्ञान ही विज्ञान है। पुनः अध्यात्म शब्द ही अधि+आत्म से बना है। 'अधि' उपसर्ग भी विशिष्टता का ही सूचक है, जहाँ आत्म की विशिष्टता है, वहीं अध्यात्म है। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। अतः ज्ञान की विशिष्टता ही अध्यात्म है और वही विज्ञान है। फिर भी आज विज्ञान पदार्थ-ज्ञान के अर्थ में और अध्यात्म आत्मज्ञान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। मेरी दृष्टि में विज्ञान साधनों का ज्ञान है, तो अध्यात्म साध्य का ज्ञान। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं रूढ़ अर्थों में विज्ञान और अध्यात्म शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इनमें से एक बाह्य जगत् से जोड़ता है तो दूसरा हमें अपने से जोड़ता है। दोनों 'योग' हैं। एक साधन योग है तो दूसरा साध्ययोग। एक हमें जीवनशैली देता है तो दूसरा जीवन-साध्य देता है। आज हमारा दुर्भाग्य यही है कि, जो एक-दूसरे के पूरक हैं, उन्हें हमने एक-दूसरे का विरोधी मान लिया। आज आवश्यकता इस बात की है कि इनकी परस्पर पूरक शक्ति या अभिन्नता को समझा जाए और यही भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य है।

आज हम विज्ञान को पदार्थ विज्ञान मानते हैं। आज हमने यद्यपि 'पर' या 'अनात्म' के सन्दर्भ में इतना अधिक ज्ञान अर्जित कर लिया कि 'स्व' या 'आत्म' को विस्मृत कर बैठे हैं। हमने परमाणु के आवरण को तोड़कर उसके जर्रे-जर्रे को जानने का प्रयास किया, किन्तु दुर्भाग्य यही है कि अपनी आत्मा के ममत्व के आवरण को भेदकर अपने-आपको नहीं जान सके। हम परिधि को व्यापकता देने में केन्द्र को भुला बैठे। मनुष्य की यह पर-केन्द्रिता ही उसे अपने आपसे बहुत दूर ले गई है। यही आज के जीवन की त्रासदी है।

वह दुनिया को समझाता है, जानता है, परखता है, किन्तु अपने प्रति तन्द्राग्रस्त है। उसे स्वयं यह बोध नहीं है कि मैं कौन हूँ? मेरा कर्तव्य क्या है? वह भटक रहा है। मात्र भटक रहा है। आज से हजारों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों ने मनुष्य की उस पीड़ा को समझा था। उन्होंने कहा था कि कितने ही लोग ऐसे हैं जो यह नहीं जानते कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा गन्तव्य क्या है? यह केवल वैदिक ऋषियों ने कही हो ऐसी बात नहीं है। महावीर एवं बुद्ध ने भी कहा था, 'अत्तानं गवेस्सेथ' अपने को खोजो। औपनिषदिक ऋषियों ने कहा- 'आत्मानं विद्धि'- अपने आपको जानो। यही भारतीय संस्कृति का जीवन परिशोधन का मूल मंत्र है। आज हमें पुनः इन्ही प्रश्नों के उत्तरों को खोजना है। आज का विज्ञान आपको पदार्थ जगत् के सन्दर्भ में सूक्ष्मतम सूचनाएं दे सकता है, किन्तु वे सूचनाएं हमारे लिए ठीक उसी तरह अर्थहीन हैं जिस प्रकार जब तक आँख न खुली हो, प्रकाश का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान प्रकाश है, किन्तु अध्यात्म की आँख के बिना उसकी कोई सार्थकता नहीं है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा था अंधे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या लाभ? जिसकी आँख खुली हो उसके लिए एक ही दीपक पर्याप्त है। आज के मनुष्य की भी यही स्थिति है। वह विज्ञान और तकनीक के सहारे बाह्य जगत् में विद्युत् की चकाचौंध फैला रहा है, किन्तु अपने अन्तर्चक्षु का उन्मीलन नहीं कर रहा है। प्रकाश की चकाचौंध में हम अपने को ही नहीं देख पा रहे हैं, यह सत्य है कि प्रकाश आवश्यक है, किन्तु आँखों को खोले बिना उसका कोई मूल्य नहीं है।

विज्ञान ने मनुष्य को शक्ति दी है। आज वह ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से यात्रा कर सकता है। किन्तु स्मरण रहे विज्ञान जीवन के लक्ष्य का साधन देता है, लेकिन उसका उपयोग किस दिशा में करना होगा यह बतलाना अध्यात्म का कार्य है। पूज्य विनोबा जी के शब्दों में 'विज्ञान में दोहरी शक्ति होती है, एक विनाश की शक्ति और दूसरी विकास की शक्ति। वह सेवा भी कर सकता है और संहार भी। अग्नि नारायण की खोज हुई तो उससे रसोई भी बनाई जा सकती है और उससे आग भी लगाई जा सकती है। अग्नि का प्रयोग घर फूँकने में करना या चूल्हा जलाने में यह अक्ल विज्ञान में नहीं है। अक्ल तो भारतीय संस्कृति के आत्मज्ञान में है। आगे वे कहते हैं- आत्मज्ञान है आँख और विज्ञान है पाँव। अगर मानव को आत्मज्ञान नहीं तो वह अन्धा है। कहाँ चला जाएगा कुछ पता नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो अध्यात्म देखता तो है, लेकिन चल नहीं सकता; उसमें लक्ष्यबोध तो है, किन्तु गति की शक्ति नहीं है। विज्ञान में शक्ति तो है, किन्तु आँख नहीं है, लक्ष्य का बोध नहीं।

जिस प्रकार अंधे और लंगड़े दोनों ही परस्पर सहयोग के अभाव में दावानल में जल मरते हैं, ठीक इसी प्रकार यदि आज विज्ञान और अध्यात्म परस्पर एक-दूसरे के पूरक नहीं होंगे तो मानवता अपने ही द्वारा लगाई गई विस्फोटक शस्त्रों की इस आग में जल मरेगी।

बिना विज्ञान के संसार में सुख नहीं आ सकता और बिना अध्यात्म के शांति नहीं आ सकती। मानव समाज के सुख (Pleasure) और शांति (Peace) के लिए दोनों का परस्पर सहयोग आवश्यक है। वैज्ञानिक शक्यिों का उपयोग मानव-कल्याण में हो या मानव संहार में, इस बात का निर्धारण विज्ञान से नहीं, आत्मज्ञान या अध्यात्म से करना होगा। अणुशक्ति का उपयोग मानव-कल्याण में हो या मानव संहार में, यह निर्णय करने का अधिकार उन वैज्ञानिकों को भी नहीं है, जो सत्ता, स्वार्थ और समृद्धि के पीछे अन्धे राजनेताओं के दास हैं। यह निर्णय तो मानवीय विवेक सम्पन्न निःस्पृह साधकों को ही करना होगा। यह सत्य है कि विज्ञान के सहयोग से तकनीक का विकास हुआ और उसने मानव के भौतिक दुःखों को बहुत कुछ कम कर दिया है। किन्तु दूसरी ओर उसने मारक शक्ति के विकास के द्वारा भय या संत्रास की स्थिति उत्पन्न कर मानव की शांति को भी छीन लिया है। आज मनुष्य जाति भयभीत संत्रास है। आज वह विस्फोटक अस्त्रों के ज्वालामुखी पर खड़ी है, जो कब विस्फोट कर हमारे अस्तित्व को निगल लेगी, यह कहना कठिन है। आज हमारे पास जिन संहारक अस्त्रों का संग्रह है वे पृथ्वी के सम्पूर्ण जीवन को अनेक बार समाप्त कर सकते हैं। अतः आज भारतीय संस्कृति के मूल उत्स अध्यात्म के निर्देश की आवश्यकता है।

पूज्य विनोबा जी लिखते हैं-'जो विज्ञान एक ओर क्लोरोफार्म खोज करता है जिससे करुणा का कार्य होता है। वही विज्ञान अणु अस्त्रों की खोज करता है जिससे भयंकर संहार होता है। उसका एक बाजू सिपाहियों को जख्मी करता है तो दूसरा बाजू उसको दुरूस्त करता है, ऐसा गोरखधन्धा आज विज्ञान की मदद से चल रहा है। इस हालत में विज्ञान का सारा कार्य उसको मिलने वाले मार्गदर्शन पर आधारित है। उसे जैसा मार्गदर्शन मिलेगा, वह वैसा कार्य करेगा।[१६] इस मार्गदर्शन की शक्ति भारतीय संस्कृति के आधार अध्यात्म में ही है।

यदि विज्ञान पर सत्ता के आकांक्षियों का, राजनीतिज्ञों का और अपने स्वार्थ की रोटी सेंकने वालों का अधिकार होगा तो वह मनुष्य जाति का संहारक ही बनेगा। किन्तु यदि इसकी विपरीत विज्ञान पर मानव-मंगल के द्रष्टा अनासक्त ऋषियों-महर्षियों का अधिकार होगा, तो मानव के विकास में सहायक होगा। आज हम विज्ञान के माध्यम से तकनीकी प्रगति की उस ऊँचाई तक पहुँच चुके हैं। जहाँ से लौटना भी संभव नहीं है। आज मनुष्य उस दोराहे पर खड़ा है, जहाँ पर उसे हिंसा और अहिंसा की दो राहों में से किसी एक को चुनना है। आज उसे यह समझना है कि वह विज्ञान के साथ किसको जोड़ना चाहता है, हिंसा को या अहिंसा को। आज उसके सामने दोनों विकल्प प्रस्तुत है- विज्ञान+अहिंसा=शांति। विज्ञान+हिंसा=विनाश। जब विज्ञान अहिंसा के साथ जुड़ेगा तो वह समृद्धि और शांति लाएगा, किन्तु जब उसका गठबन्धन हिंसा से होगा तो संहारक होगा और अपने ही हाथों अपना विनाश करेगा।

आज विज्ञान के सहारे मनुष्य जितना पाशविक बल संग्रहीत कर लिया है। वह उसका रक्षक न होकर भक्षक बन जाए, यह उसे सोचना है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा था, 'अत्थि सत्तेन परंपरं, नत्थि असत्थेन परंपरं।' शस्त्र एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अहिंसा से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। आज सम्पूर्ण मानव समाज को यह निर्णय लेना होगा कि वे वैज्ञानिक शक्तियों का प्रयोग मानवता के कल्याण के लिए करना चाहते हैं या उसके संहार के लिए।

आज तकनीकी प्रगति के कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच की दूरी कम हो गई है। आज विज्ञान ने मानव समाज को एक-दूसरे के निकट लाकर खड़ा कर दिया है। आज हम परस्पर इतने निर्भर बन गए हैं कि एक-दूसरे के बिना जी भी नहीं सकते, किन्तु दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक दृष्टि के अभाव के कारण हमारे हृदयों की दूरी अधिक विस्तीर्ण हो गई है। हृदय की इस दूरी को पाटने का काम विज्ञान नहीं, अध्यात्म ही कर सकता है। विज्ञान का कार्य है विश्लेषित करना और अध्यात्म का काम है संश्लेषित करना। विज्ञान तोड़ता है। विज्ञान वियोजक है, तो अध्यात्म

संयोजक। विज्ञान भौतिकता पर केन्द्रित है तो अध्यात्म आत्मकेन्द्रित। विज्ञान सिखाता है कि हमारे सुख-दुःख का केन्द्र वस्तुएं हैं, पदार्थ हैं, इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का अध्यात्म कहता है कि सुख-दुःख का केन्द्र आत्मा है। विज्ञान की दृष्टि बाहर देखती है, अध्यात्म की यात्रा बाहर से अन्दर की ओर होती है। जब अध्यात्म की यात्रा होती है तभी शांति की प्राप्ति होती है। क्योंकि बहिर्मुखी यात्री शांति कर खोज वहां करता है जहाँ वह नहीं है। शांति अन्दर है, उसकी बाहर खोज व्यर्थ है।

इस सम्बन्ध में एक रूपक याद आता है। एक वृद्धा शाम के समय कुछ सी रही थी। संयोग से अंधेरा बढ़ने लगा, सूई उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ी। महिला की झोपड़ी में प्रकाश का साधन नहीं था और प्रकाश के बिना सूई की खोज असंभव थी। बुढ़िया ने सोचा क्या हुआ? अगर प्रकाश बाहर है तो सूई को वहीं खोजा जाए। वह उस प्रकाश में सूई खोजती रही, खोजती रही, किन्तु सूई वहाँ कब मिलने वाली थी, क्योंकि वह वहाँ थी ही नहीं। प्रातः होने वाला था कि कोई यात्री उधर से निकला, उसने वृद्धा से उसकी परेशानी का कारण पूछा। उसने पूछा अम्मा सूई गिरी कहाँ थी? वृद्धा ने उत्तर दिया- बेटा! सूई तो झोपड़ी में गिरी थी, किन्तु उजाला नहीं था, अतः वहाँ खोजना संभव नहीं था, क्योंकि उजाला तो बाहर था, इसलिए मैं यहाँ खोज रही थी। यात्री ने उत्तर दिया यह संभव नहीं है, क्योंकि जो चीज यहाँ नहीं है वह यहाँ खोजने पर मिल जाए। सूर्य का प्रकाश होने को है, उस प्रकाश में सूई को वहीं खोजे जहाँ वह गिरी है। आज मानव-समाज की स्थिति भी उसी वृद्धा के समान है। हम शांति की खोज वहाँ कर रहे हैं जहाँ वह होता ही नहीं है। भारतीय संस्कृति का निर्देश है, शांति आत्मा में है, अन्दर है? विज्ञान के सहारे आज शांति की खोज के प्रयत्न उस बुढ़िया के प्रयत्नों के समान निरर्थक ही होंगे। विज्ञान साधन दे सकता है, शक्ति दे सकता है, किन्तु लक्ष्य का निर्धारण तो हमें ही करना होगा।

आज विज्ञान के कारण भारतीय संस्कृति के पूर्वास्थापित जीवन-मूल्य समाप्त हो गए हैं। आज श्रद्धा का स्थान तर्क ने ले लिया। आज मनुष्य पारलौकिक उपलब्धियों के स्थान पर इहलौकिक उपलब्धियों को चाहता है। आज के तर्कप्रधान मनुष्य को पदार्थगत सुख और शांति के नाम पर बहलाया नहीं जा सकता। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हम अध्यात्म के अभाव में नए जीवन मूल्यों का सृजन नहीं कर पा रहे हैं। आज विज्ञान का युग है। आज उस धर्म को जो, पारलौकिक जीवन की सुख-सुविधाओं के नाम पर मानवीय भावनाओं का शोषण कर रहा है, जानना होगा। आज तथाकथित वे धर्म परम्पराएं जो मनुष्य को भविष्य के सुनहले सपने दिखाकर फुसलाया करती थीं, अब तर्क की पैनी छेनी के आगे अपने को नहीं बचा सकती। अब स्वर्ग में जाने के लिए नहीं जीना है, अपितु स्वर्ग को धरती पर लाने के लिए जीना होगा। विज्ञान ने हमें वह शक्ति दे दी है। जब स्वर्ग को धरती पर उतारा जा सकता है, तब यदि हम शक्ति का उपयोग धरती पर स्वर्ग उतारने के स्थान पर, धरती को नरक बनाने में करेंगे तो इसकी जवाबदेही हम पर ही होगी।

आज हमें वैज्ञानिक शक्तियों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि वे मानव-कल्याण में सहभागी बनकर इस धरती को ही स्वर्ग बना सके। विनोबाजी ने सत्य ही कहा है- आज विज्ञान का तो विकास हुआ, किन्तु वैज्ञानिक उत्पन्न ही नहीं हुआ। क्योंकि वैज्ञानिक वही होता है जो निरपेक्ष होता है। आज का वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों और पूँजीपतियों के इशारे पर चलनेवाला व्यक्ति है। वह पैसे से खरीदा जा सकता है। यह तो वैज्ञानिक की गुलामी है। ऐसे लोग अवैज्ञानिक हैं, यदि वैज्ञानिक वैज्ञानिक नहीं बना, तो विज्ञान मनुष्य के लिए ही घातक सिद्ध होगा। आज का विज्ञान विज्ञान के पास नहीं, अध्यात्म के पास है। विनोबाजी लिखते हैं कि आज इस युग में विज्ञान की जितनी शक्ति बढ़ेगी, आत्मज्ञान की शक्ति भी उतनी ही बढ़ानी होगी। आज अमेरिका इसलिए दुःखी है कि वहाँ विज्ञान तो है, पर अध्यात्म है नहीं, अतः सुख तो है, शांति नहीं। इसके विपरीत भारत में आध्यात्मिक विरासत के कारण मानसिक शांति तो है, किन्तु समृद्धि नहीं। इसका समाधान अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में निहित है। अध्यात्म शांति देगा, तो विज्ञान समृद्धि। जब समृद्धि और शांति दोनों ही एक साथ उपस्थित होगी, मानवता अपने विकास के परम शिखर पर होगी। मानव स्वयं अतिमानव के रूप में विकसित हो जाएगा। किन्तु इसके लिए प्रयत्न करना होगा। बिना अडिग आस्था और सतत पुरुषार्थ के यह संभव नहीं।'[१७]

आज विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधा और समृद्धि तो प्रदान कर दी फिर भी मनुष्य भय और तनाव की स्थिति में जी रहा है। उसे आन्तरिक शांति उपलब्ध नहीं है, उसकी समाधि भंग हो चुकी है। यदि विज्ञान के माध्यम से कोई शांति आ सकती है तो वह केवल श्मशान की शांति होगी। बाहरी साधनों से न कभी आंतरिक शांति मिली है न उसका मिलना संभव ही है। इस प्रसंग में उपनिषदों का एक प्रसंग याद आ रहा है। नारद जीवन भर वेद-वेदांत का अध्ययन करते रहे। उन्होंने अनेक विद्याएं (भौतिक विद्याएं) प्राप्त कर ली, किन्तु उनके मन को कहीं संतोष नहीं मिला। ये सनतकुमार के पास आए और कहने लगे मैंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। मैं शास्त्रविद् तो हूँ, किन्तु आत्मविद् नहीं। आज के वैज्ञानिक भी नारद की भाँति ही हैं। भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का निर्देश है कि आत्मविद् हुए बिना शांति को नहीं पाया जा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को तिलांजलि दे दें। वैज्ञानिक उपलब्धियों का परित्याग न तो संभव है और न औचित्यपूर्ण। किन्तु अध्यात्म ही विज्ञान का अनुशासक हो तभी एक समग्रता या पूर्णता आएगी और मनुष्य एक साथ समृद्धि और शांति को पा सकेगा। ईशावास्योपनिषद् में दोनों के सम्बन्ध को उचित बताते हुए उसका सम्यक् स्वरूप बताया गया है। वह कहता है- 'जो पदार्थ-विज्ञान या अविद्या की उपासना करता है वह अंधकार में, तमस में प्रवेश करता है, क्योंकि विज्ञान अध्यात्म के बिना अंधा है, साथ ही वह यह भी चेतावनी देता है कि जो केवल विद्या में रत हैं वे उससे अधिक अंधकार में चले जाते हैं। 'अंधन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयं इव ते तमो य उ विद्यायं रताः।।' ईशावास्योपनिषद् ।।९।। वस्तुतः वही जो अविद्या और विद्या दोनों की एक साथ उपासना करता है वह अविद्या (विज्ञान) के द्वारा मृत्यु को पार कर सकता है अर्थात् वह सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाता है और विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त करता है (विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। वही, ११) वस्तुतः यह अमृत आत्मशांति या आत्मतोष ही है। जब विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा तभी मानवता का कल्याण होगा। तब विज्ञान जीवन के कष्टों को समाप्त कर देगा और अध्यात्म आन्तरिक शांति प्रदान करेगा। आचारांगसूत्र में महावीर ने अध्यात्म के लिए 'अज्झत्थ' शब्द का प्रयोग किया है और यह बताया है कि इसी के द्वारा आत्मविशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्म कुछ नहीं है, वह आत्मोपलब्धि या आत्मविशुद्धि की ही एक प्रक्रिया है उसका प्रारम्भ आत्मज्ञान से है और उसकी परिनिष्पत्ति आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट निष्ठा में है। वस्तुतः आज जितनी मात्रा में पदार्थ विज्ञान विकसित हुआ है उतनी ही मात्रा में आत्मज्ञान को विकसित होना चाहिए। विज्ञान के दौड़ में अध्यात्म पीछे रह गया है। पदार्थ को जानने के प्रयत्नों में हम अपने आप को भुला बैठे हैं। मेरी दृष्टि में आत्मज्ञान कोई अमूर्त तात्त्विक आत्मा की खोज नहीं है, वह अपने आप को जानना है। अपने आप को जानने का तात्पर्य अपने में निहित वासनाओं और विकारों को देखना है। भारतीय संस्कृति में आत्मज्ञान का अर्थ होता है- हम यह देखें कि हमारे जीवन में कहाँ अहंकार छिपा पड़ा है, कहाँ और किसके प्रति घृणा और विद्वेष के तत्त्व पल रहे हैं। आत्मज्ञान कोई हव्वा नहीं है, वह तो अपने अन्दर झांककर अपनी वृत्तियों और वासनाओं को पढ़ने की कला है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त तकनीक के सहारे हम पदार्थों का परिशोधन करना तो सीख गए और परिशोधन से कितनी शक्ति किसे प्राप्त होती है यह भी जान गए, किन्तु आत्म के परिशोधन की जो कला अध्यात्म के नाम से भारतीय संस्कृति के ऋषि-मुनियों ने दी थी, आज हम उसे भूल चुके हैं।

फिर भी विज्ञान ने आज सुख-सुविधा प्रदान करने के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा उपकार किया वह यह कि धर्मवाद के नाम पर, जो अंध-श्रद्धा और अंधविश्वास पल रहे थे उन्हें तोड़ दिया है। इसका टूटना आवश्यक भी था, क्योंकि परलोक की लोरी सुनाकर मानव समाज को अधिक समय तक भ्रम में रखना संभव नहीं था। विज्ञान ने अच्छा ही किया, हमारा यह भ्रम तोड़ दिया, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भ्रम का टूटना ही पर्याप्त नहीं है। इससे जो मूल्य रिक्तता पैदा हुई उसे आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठा के द्वारा भरना भी होगा। यह भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक मूल्यनिष्ठा उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा है, जो जीवन को शांति को और आत्मसंतोष प्रदान करती है। अध्यात्म आर विज्ञान का संघर्ष वस्तुतः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष है। भारतीय संस्कृति की शिक्षा यही है कि भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। दैहिक एवं आत्मिक मूल्यों से परे सामाजिकता और मानवता के उच्च मूल्य भी हैं।

भारतीय ऋषियों की दृष्टि में अध्यात्मवाद का अर्थ है पदार्थ को परममूल्य न मानकर आत्मा को ही परममूल्य मानना। पाश्चात्य भौतिकवादी सुखों की लालसा में वह वस्तुओं के पीछे दौड़ता है और उनकी उपलब्धि हेतु शोषण और संग्रह जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म देता है, जिससे वह स्वयं तो संत्रस्त होता ही है, साथ ही साथ समाज को भी संत्रस्त बना देता है। इसके विपरीत भारतीय अध्यात्मवाद हमें यह सिखाता है कि सुख का केन्द्र वस्तु में न होकर आत्मा में है। सुख-दु:ख आत्म-केन्द्रित है। आत्मा या व्यक्ति ही अपने सुख-दु:ख का कर्ता और भोक्ता है। वही अपना मित्र है और दुष्प्रतिष्ठित आत्मा अपना शत्रु है। वस्तुत: आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि पदार्थों से न होकर सद्गुणों में स्थित आत्मा में होती है। अध्यात्मवाद के अनुसार देहादि सभी आत्मेतर पदार्थों के प्रति ममत्वबुद्धि का विसर्जन साधना का मूल उत्स है। ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन यही जीवन का परममूल्य है। जैसे ही ममत्व का विसर्जन और समत्व का सृजन होगा, तो शोषण और संग्रह की सामाजिक बुराइयाँ समाप्त होंगी। परिणामत: व्यक्ति आत्मिक शांति का अनुभव करेगा। अध्यात्मवादी समाज में विज्ञान तो रहेगा, किन्तु उसका उपयोग संहार में न होकर सृजन में होगा, मानवता के कल्याण में होगा।

अन्त में पुन: मैं यही कहना चाहूँगा कि विज्ञान के कारण, जो एक संत्रास की स्थिति मानव समाज में दिखाई दे रही है, उसका मूलभूत कारण विज्ञान नहीं, अपितु व्यक्ति कर संकुचित और स्वार्थदृष्टि है। विज्ञान तो निरपेक्ष है, वह न अच्छा है और न बुरा। उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर करता है और इस उपयोग का निर्धारण व्यक्ति के अधिकार की वस्तु है। अत: आज विज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है उसे सम्यक्-दिशा में नियोजित करने की और यह सम्यक्-दिशा अन्य कुछ नहीं, यह सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की व्यापक आकांक्षा ही है, और इस आकांक्षा की पूर्ति अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय में है। काश मानव इन दोनों में समन्वय कर सके, यही कामना है और इसके लिए उसे सामाजिक चेतना का विकास करना होगा। भारतीय संस्कृति में यह सामाजिक चेतना उसके प्रारम्भ से ही पाई जाती है।

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना का विकास

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक सन्दर्भों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय-प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक-प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक संदर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञानमीमांसीय (Epistemological) चिन्तन से ही संतोष धारण कर लेता है। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसके मूल में दु:ख ही समस्या है। दु:ख और दु:खमुक्ति- यही भारतीय दर्शन का 'अथ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवन-दृष्टि के निर्माण और सामाजिक सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है, वह मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलोसॉफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि-मुनियों के हाथों से निकलकर तथाकथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलत:, उसमें तार्किक-पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिमूलक साधना एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया। सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं-

१. वैदिक युग

२. औपनिषदिक युग एवं

३. जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को दार्शनिक आधार पर प्रस्तुत किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

वैयक्तिकता और सामाजिकता- दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता- दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक है, क्योंकि मानव-व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है, तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्व-हितवादी दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमाक्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तरित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है। किन्तु जब राग का सीमा-क्षेत्र विस्तारित होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहलाता है, किन्तु जब वीतराग या वीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है, किन्तु अपने और पराए भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है, अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। साथ ही, मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। अतः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता।

वेदों और उपनिषदों में सामाजिक चेतना

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक विचारधारा में सामाजिकता के तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित हैं। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'- तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें; अर्थात् तुम्हारे जीवन-व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो।[१८] आगे वह कहता है-

समानो मन्त्रः समिति समानी, समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः, समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

अर्थात् आप सब के निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हों, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करें। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्तवृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एकस्वरूप हो, ताकि आप मिल-जुलकर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।[१९] संभवतः सामाजिक जीवन एवं समाजनिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये सबसे महत्त्वपूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'ण्वंतो विश्वमार्याम्' के रूप में एक सुसभ्य सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था, जबकि वे जन-जन में समाजनिष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में समाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे-

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।[२०]

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज-दर्शन का आदर्श था- 'शत हस्तः समाहर, सहस्रः सीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँटों, किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है, अपितु सामाजिक दायित्वों का बोध

है, क्योंकि भारतीय चिन्तन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इनमें समवितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा- ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है- दानं संविभागं।' जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतंत्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है, वह पापी है। (केवलादो भवति केवलादी)। जैन दार्शनिक भी कहते थे- 'असंविभागी न हु तस्त मोक्खो,' जो संविभागी नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिक-युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं, किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतीकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक चिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेदनिष्ठा का सर्वोच्च तात्त्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जहाँ समाजनिष्ठा बर्हिमुखी थी, वहीं उपनिषदों में आकर अन्तर्मुखी हो गई। भारतीय दर्शन में यह अभेदनिष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[२१]

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह अपनी इस एकात्मता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो जाता है, तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरी सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जिजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है, वह सभी ईश्वरीय है, ऐसा कुछ नहीं है जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं, उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है, अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपभोग करो, संग्रह या लालच मत करो, क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। संभवतः सामाजिक चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गाँधीजी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाए, किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखायी देती है।

गीता में सामाजिक चेतना

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं, तो यहाँ हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज दर्शन पर एक स्वतंत्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में हमें समाज की आंगिक संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। गीता भी इस एकात्मकता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।[२३]

अर्थात् जो सुख-दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है, वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है, जो हमें एकात्मता की अनुभूति कराता है- 'अविभवतं विभवतेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।' वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकात्मकता की अनुभूति ही ज्ञान की सात्त्विकता और हमारी समाजनिष्ठा का एकमात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता 'सर्वभूत हिते रताः' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं-

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।[२४]

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है। जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किए बिना भोग करता है, वह गीताकार की दृष्टि में चोर है (स्तेन एव सः ३/१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है, वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३/१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है, इसलिए उसने संन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि-

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'[२५]

काम्य, अर्थात् स्वार्थयुक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्नि और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है- समाज में रहकर लोक-कल्याण के लिए अनासक्त-भाव से कर्म करता है रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यास च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः।[२६]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोकशिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वांस्तथाऽसक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्)[२७] गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था, वही सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं निश्चित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। वस्तुतः वेदों में एवं स्वयं गीता में भी जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति के रूप में वर्णों की अवधारणा है, वह अन्य कुछ नहीं, अपितु समाज-पुरुष के विभिन्न अंगों की अवधारणा है और किसी सीमा तक समाज के आंगिकता सिद्धान्त का ही प्रस्तुतीकरण है।

सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्यपोनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है-

यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं देहिनाम्।
अधिको योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति।।[२८]

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है। 'योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है, उनका

सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एकमात्र कसौटी है- किसी कर्म का लोकमंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है-

परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

जो लोक के लिए हितकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत, जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है, वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित है।

जैन एवं बौद्ध धर्म में सामाजिक चेतना

यदि हम निवर्तक धारा के समर्थक जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म की ओर से दृष्टिपात करते हैं, तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्तिप्रधान दर्शन व्यक्तिपरक और प्रवृत्तिप्रधान दर्शन समाजपरक होते हैं, किन्तु यह मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध आदि दर्शन असामाजिक हैं या इन दर्शनों में सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखायी देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् जीवनपर्यन्त लोकमंगल के लिए कार्य करते रहें। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक संदर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से समाज रचना एवं सामाजिक दायित्वों के निर्वहण की अपेक्षा समाज जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन के पंचमहाव्रत, बौद्ध दर्शन में पंचशील और योग दर्शन के पंचयमों का सम्बन्ध की अनिवार्यता हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[२९] पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए है। हिंसा झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह)- ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है। हिंसा का अर्थ है- किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है- किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है- किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है- सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है- समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या संदर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादाएं इन दर्शनों ने दी, वे हमारे सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही है।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध और योग दर्शनों की साधना-पद्धत्ति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद करुणा और माध्यस्थ भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। जैनाचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं-

सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विद्धातु देव।।

'हे प्रभु! हमारे मन में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुःखियों के प्रति करुणा तथा दुष्टजनों के प्रति मध्यस्थ भाव सदा विद्यमान रहे।' इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों, यही स्पष्ट किया गया है। समाज के दूसरे लोगों के साथ किस प्रकार जीवन जीएं, यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को सामाजिक जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा के लिए अटूट धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोए खेयन्ने पव्वइये), इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं- 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव,' हे प्रभो! आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त

करनेवाला और सभी का कल्याण (सर्वोदय) करनेवाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म एवं गणधर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटक में भी अनेक संदर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण किया गया है। पारिवारिक और सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वस्तुत: इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था, अत: इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

रागात्मकता और समाज

संभवत: इन दर्शनों को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है, उनमें प्रमुख है- राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्त्व हैं, जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं, अत: भारतीय संदर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम, भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी संभव है, जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की रागभावना ही काम करती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं, तो इन सम्बन्धों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शांतिदेव लिखते हैं-

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण।।
आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते।
तथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते।।[३२]

संसार के सभी दुःख और भय एवं तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब तक ममत्वबुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक इन दुःखों की समाप्ति संभव नहीं है, जैसे अग्नि का परित्याग किए बिना तज्जन्य दाह से बचना असंभव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व-भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र - ये विचार विकसित होते हैं और उनके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और ज़ो किसी पर होता है, वह सब पर नहीं हो सकता है, अत: राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है, उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किए जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें, किन्तु यह भी उतना ही सत्य

है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किए बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव संभव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है। अत: वीतराग या अनासक्त दृष्टि सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति ममत्वभाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्त्व जन्म लेते हैं, अत: यह कहना उचित ही होगा कि इन दर्शनों ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है- यह भारतीय चिन्तन का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुत: आसक्ति या रागतत्त्व की उपस्थिति में सच्ची सार्वभौम सामाजिकता फलित नहीं होती है।

सामाजिकता का आधार राग या विवेक?

संभवत: यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव में सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा? राग के अभाव से तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जाएंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है, अत: राग सामाजिक जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है, किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है। तत्त्वार्थसूत्र में इस बात की चर्चा की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उसमें जहाँ पुद्गल द्रव्य को जीवद्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहीं एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है। 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्'[32] चेतन सत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है तो चेतन सत्ता का ही कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित-साधन, यह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हित-साधना की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक वृत्ति के विकास के दो आधार हैं- एक रागात्मकता और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमें कहीं से जोड़ती है, तो कहीं से तोड़ती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं तो उसके विरोधी के प्रति 'पर' का भाव भी आ जाता है। राग द्वेष के साथ ही जीता है। वे ऐसे जुड़वा शिशु हैं, जो एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं। राग जोड़ता है तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज खड़ा होगा, तो उसमें अनिवार्य रूप से वर्ग-भेद और वर्ण-भेद रहेगा ही। सच्ची सामाजिक चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्व-बोध और कर्तव्य-बोध की चेतना जाग्रत होती है। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती है, वहाँ केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार 'विवेक' होता है, कर्तव्य-बोध होता है। जैन धर्म ऐसी ही सामाजिक चेतना का आधार बनता है, तो मेरे और तेरे की, अपने और पराए की चेतना समाप्त हो जाती है, सभी आत्मवत होते हैं। जैन धर्म में अहिंसा, जो उसका आधार है, का आधार यही आत्मवत दृष्टि है।

सामाजिक जीवन के बाधक तत्त्व : अहंकार और कषाय

सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहंकार भी बहुत कम महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता-निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र

बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मन में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उद्‌भूत होती है, तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, अपहरण करता है। जैन दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक परतंत्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर, जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है, अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतंत्रता के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध दर्शन एक ओर अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैं- १. संग्रह (लोभ), २. आवेश (क्रोध), ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना), जिन्हें जाति धर्म में चार कषाय कहा जाता है। ये चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशांति के कारण बनते हैं।

१. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, स्वार्थपूर्ण-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं।

२. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएं आदि होती हैं।

३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा और क्रूर-व्यवहार होता है।

४. माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है, अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है। यदि हम जैन धर्म में स्वीकृत पाँच महाव्रतों को देखें, तो स्पष्ट रूप से उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, मैथुन-सेवन (व्यभिचार) एवं संग्रहवृत्ति सामाजिक जीवन की बुराइयाँ हैं। इनसे बचने के लिए पाँच महाव्रतों के रूप में जिन नैतिक सद्‌गुणों की स्थापना की गई है, वे पूर्णतः सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं, अतः भारतीय दर्शन ने अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है, वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

संन्यास और समाज

सामान्यतया भारतीय दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज-निरपेक्ष माना जाता है, किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है, किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है? संन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ता,' अर्थात् मैं अर्थ-कामना, संतान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ, किन्तु क्या धन-सम्पदा, संतान-सम्पदा तथा यश-कीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है? वस्तुतः समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाजविमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है, क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं (विनयपिटक-वहवग्ग) इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोकमंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः वह परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि समष्टि का होकर रहे, क्योंकि जो किसी का है, वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है, वह किसी का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोकमंगल का

साधक होता है। संन्यास शब्द 'सम' पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देख-रेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व-भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है।[33] संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है, तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे, तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है, तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रत:' का है।

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है, किन्तु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है, फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का त्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है, जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराए के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराए के विचार से ऊपर हो जाना समाज-विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है, इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है-

अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्वरहित कर्तव्य-भाव की होती है। जैन धर्म में कहा भी गया है-

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल।।

वस्तुत: निर्ममत्व एवं नि:स्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है, जो लोकमंगल के लिए अपने व्यक्तित्व और अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है, वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जागृत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचाकर लोकमंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यास का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है, अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है, वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज-रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

पुरुषार्थ चतुष्टय एवं समाज

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष- इन पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं, तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि संभव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है, किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शांति के लिए ही है, क्योंकि धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजा:' के रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का सूचक है। अत: पुरुषार्थ चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है, जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्त्वमीमांसीय धारणा का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एकरूपता है और न उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है, किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय

मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति- दोनों ही मनुष्य के मनोवेग से सम्बन्धित हैं। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा ममत्व अहम् आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन हैं और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा है कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचार्य शंकर कहते हैं-

'वासनाप्रक्षयो मोक्षः'[३४]

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते हैं तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। संभवतः इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है, तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है, अपितु वह हमारे जीवन में प्राप्तव्य है। जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं-

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः।।[३५]

मरणोत्तर-मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है, उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है, अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन्मुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से हम इन्कार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवन्मुक्त एक ऐसा व्यक्तित्व है, जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अर्हत् एवं बोधिसत्व और वैदिक दर्शन में स्थितप्रज्ञ की जो धारणाएं प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही उस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोकमंगल और मानव-कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है, क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्त्व तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है-

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति।
उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सयेन परात्मनो।।
मुच्य मानुषे सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्।।[३६]

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता है तो करुणापूर्वक उनके दुःख को दूर करना ही अच्छा है। वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि-

प्राणेय देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।।
नैतान् विहाय प्रणान् विमुमुक्षुरेकः।

'हे प्रभु! अपनी मुक्ति की कामना करनेवाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे, किन्तु उनमें परार्थ निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।' यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्गार है। इसी प्रकार, बोधिसत्त्व भी सदैव ही हीन और दुःखीजनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

भवेयमुपजीव्याऽहं यावत्सर्वे न निर्वृत्ता।[३७]

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे ने कहा है- 'जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष- यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।[३८]

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा 'अहं-भाव' से मुक्त होने के लिए हमें अपने-आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शांतिदेव लिखते हैं-

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्ति च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्व वरं सत्त्वेषु दीयताम्।[३९]

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवर्गों के कारण ही है, अतः मुक्ति ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक- दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्तिरूप में मोक्ष की उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन-दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगलकामना है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।

सन्दर्भः

१. *ईशावास्योपनिषद्, १*

२. *उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/९*

३. *वही, ९/४८*

४. *वही ९/४७*

५. *वही, २०/३७ (पूर्वार्द्ध)*

६. *वही, २०/३७ (उत्तरार्द्ध)*

७. *आतुरप्रत्याख्यान, २६, २७*

८. *इच्छा हु आगास समा अनंतिया, उत्तराध्ययनसूत्र*

९. समयसार, २७७
१०. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३०
११. विज्ञातरं अरे केण जिवानीयते।
१२. प्रश्नव्याकरणसूत्र, १/१/२१-२२
१३. निशीथभाष्य, ४७/९१
१४. आचारांगसूत्र, २/१५; उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/१०१
१५. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। आचारांगसूत्र
१६. वही
१७. अध्यात्म और विज्ञान, डॉ.सागरमल जैन, पृ. २३
१८. ऋग्वेद, १०/१९१/२
१९. वही, १०/१९२/३-४
२०. तैत्तिरीय आरण्यक, ८/२
२१. ईशावास्योपनिषद्, ६
२२. वही, १
२३. गीता, ६/३२
२४. वही, १२/४
२५. वही, १८/२
२६. वही, ६/१
२७. वही, ३/२५
२८. श्रीमद्भागवत, ७/१४/८
२९. प्रश्नव्याकरण, १/१/२१-२२
३०. सामायिक पाठ (अमितगति)
३१. बोधिचर्यावतार, ८/१३४-१३५
३२. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१
३३. लेखक इस व्याख्या के लिए हेमेन्द्रमुनि जी का आभारी है।
३४. विवेकचूड़ामणि, ३१८
३५. वही, ५५९
३६. बोधिचर्यावतार, ८/१०५, १०८
३७. वही, ३/२१
३८. आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ. ७१
३९. बोधिचर्यावतार, ३/११

***

नववेदान्तवाद एवं कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद

रमेश चन्द्र सिन्हा

अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है, क्योंकि अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, मान्यवर डॉ. सोहन राज तातेड़ के सम्मान में अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित कर रहा है। डॉ. तातेड़ दर्शन के प्रति प्रतिबद्ध चिन्तक हैं, जिन्होंने अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अधिवेशनों में अहम् भूमिका निभायी है। उनके सम्मान में आलेख प्रेषित करते हुए गर्व का अनुभव हो रहा है।

विवेकानन्द की सार्धशती के उपलक्ष्य में पिनाक के मुख्य सम्पादक डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद ने विशेषांक निकालने की बात की। मोबाइल की घंटी जब बजी तब मैं गोरखपुर विश्वविद्यालय के गेस्ट हाउस में था। डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद जी ने बताया कि विवेकानन्द एवं कार्लमार्क्स पर मुझे लिखना है। विवेकानन्द की पुस्तक 'स्टेट, सोसाइटी एण्ड सोशलिज्म' तथा कार्ल मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' के आधार पर नववेदांतवाद एवं मार्क्सवाद की चिंतनधारा को रेखांकित करने का एक प्रयास मैंने किया है। मुख्य बिन्दु पर आने के पहले विवेकानन्द की चिंतनधारा की पृष्ठभूमि को रेखांकित करना समीचीन लगता है।

सन् १८८१ में विवेकानन्द की भेंट स्वामी रामकृष्ण परमहंस से हुई जिन्होंने उनकी जीवनधारा को ही बदल दिया। विवेकानन्द ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया। रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु १८८६ में हुई और ठीक उसके बाद विवेकानन्द भारत-भ्रमण को निकल पड़े। भ्रमण के क्रम में उन्होंने भारतीय सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन को बहुत करीब से देखा। भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को देखने के बाद विवेकानन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से अत्यंत समृद्ध है। इसका गौरवमय सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास है। किंतु, सामाजिक बुराइयों एवं गरीबी से भारतीय जन-जीवन पीड़ित है। विवेकानन्द ने यह भी महसूस किया कि भारतवर्ष में एक आध्यात्मिक क्रांति की आवश्यकता है। आध्यात्मिक क्रांति के अंतर्गत आर्थिक एवं सामाजिक क्रांति भी अंतर्निहित है। विवेकानन्द की मुक्ति की अवधारणा गरीबी से मुक्ति है।

विवेकानन्द ने हिन्दू समाज की प्राचीन काल से चली आ रही कुरीतियों पर भी कुठाराघात किया है। वे अपने देशवासियों के अभावग्रस्त एवं दरिद्र जीवन से बहुत अधिक अभिभूत हुए। इस बिन्दु पर विवेकानन्द मार्क्स के करीब दिखते हैं। इन्हीं दिनों विवेकानन्द को ज्ञात हुआ कि शिकागो में विश्व-धर्म सम्मेलन हो रहा है। विवेकानन्द विश्व-धर्म सम्मेलन में गए और वहाँ भारतवर्ष की गरिमा को बढ़ाया। विदेश प्रवास में उन्होंने बहुत कुछ सीखा और लौटने के बाद बेलूर में, जो कलकत्ता के समीप है वहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना की। विवेकानन्द ने समाज की सेवा का व्रत लिया। १८९९ में पुनः पश्चिम प्रवास का इन्हें अवसर मिला। विदेश प्रवास में विवेकानन्द ने भारतीय धर्म एवं दर्शन का प्रचार-प्रसार किया।

विवेकानन्द का ऐसा विचार था कि प्राचीन धर्म एवं संस्कृति सदियों से आ रही रूढ़िवादिता की जकड़ में है। समाज में बुराइयाँ व्याप्त हैं। भारत की जनता कट्टरवादिता एवं अंधविश्वास से मुक्त नहीं हो पाई है। उनका ऐसा विश्वास था कि भारत की जनता की रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास का कारण आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास है। अतः विवेकानन्द ने सबसे

पहला प्रयास आध्यात्मिक नवजागरण का किया।

विवेकानन्द के जीवन एवं चिंतन पर वेदान्त का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनका जीवन-दर्शन उपनिषद् तथा वेदान्त पर आधारित है। विवेकानन्द भी शंकराचार्य की तरह एकवादी (monist) दार्शनिक हैं। विवेकानन्द ने शंकराचार्य से माया-विचार ग्रहण किया, परन्तु मायावाद का विखंडन किया है। वेदान्त से उन्होंने जगत् की व्याख्या के लिए व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टिकोणों को अपनाया। विवेकानन्द ने अपने चिंतन को सुव्यवस्थित एवं तर्क-सम्मत बनाने के लिए वेदान्त को आधार माना है। यह सही है कि विवेकानन्द वेदान्ती थे। किंतु उन्होंने सदैव वेदान्त की जीवन और जगत् की नई परिस्थितियों के प्रकाश में व्याख्या करने की माँग की।

विवेकानन्द के दर्शन पर बौद्ध-दर्शन का भी गहरा प्रभाव पड़ा। बौद्ध-दर्शन सर्वप्रथम सर्वमुक्ति का सिद्धांत प्रतिपादित करता है। विवेकानन्द ने भी बौद्ध दर्शन से सर्वमुक्ति के सिद्धांत को ग्रहण किया। विवेकानन्द के सर्वमुक्ति विचार तथा बौद्ध दर्शन के 'बोधिसत्त्व' में गहरी समानता है। पुन: विवेकानन्द बौद्ध धर्म के मानवतावादी तथा परार्थवादी दृष्टिकोण से भी बहुत प्रभावित हैं। बुद्ध का विचार था कि यदि हम तूफानी वेग में नदी को नाव के सहारे पार करते हैं तो उस नाव को दूसरे व्यक्तियों के उपयोग के लिए छोड़ देना चाहिए। महात्मा बुद्ध स्वयं निर्वाण प्राप्ति के बाद संपूर्ण मानव-समुदाय की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। विवेकानन्द ने महात्मा बुद्ध के मानवतावादी दृष्टिकोण को अंगीकार किया है।

बंगाल में प्रचलित ब्रह्म-समाज का प्रभाव विवेकानन्द के विचारों पर पड़ा। उन्होंने प्राचीन रूढ़िवादी, अंधविश्वास तथा धर्म के नाम पर कर्मकांड एवं पाखंड का विरोध किया। यहाँ विवेकानन्द दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व से भी प्रभावित दिखते हैं। *भगवद्गीता* के निष्काम कर्म ने विवेकानन्द को बहुत प्रभावित किया है। मोक्षप्राप्ति के लिए 'गीता' में प्रतिपादित ज्ञान-योग, भक्ति-योग तथा कर्म-योग को विवेकानन्द ने ग्रहण किया।

विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं चिंतन पर वेदान्त, बौद्ध दर्शन, ईसाई धर्म, ब्रह्मसमाज एवं गीता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, किंतु सबसे अधिक विवेकानन्द के जीवन एवं दर्शन पर रामकृष्ण परमहंस की छाप पड़ी। वस्तुत: रामकृष्ण परमहंस द्वारा विवेकानन्द के व्यक्तित्व में अद्भुत परिवर्तन हुआ। रामकृष्ण परमहंस ने आत्मा की अमरता, एकवादी दर्शन तथा सर्व-धर्म-समन्वय की शिक्षा दी। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द के व्यक्तित्व को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख किया। विवेकानन्द ने कांट, हीगेल तथा शंकर की तरह कोई सुव्यवस्थित एवं नई दार्शनिक विधि को प्रतिपादित नहीं किया। विवेकानन्द अपने को नववेदान्ती मानते हैं और सदैव अद्वैत-दर्शन के प्रति ईमानदार रहते हैं।

वेदान्त-दर्शन के अनुसार परम-तत्त्व एक है और उसका स्वरूप आध्यात्मिक है। विवेकानन्द भी परमतत्त्व को एक मानते हैं तथा उसका स्वरूप आध्यात्मिक बतलाते हैं। वेदान्त जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानता है। अद्वैत वेदान्त ने जगत् की व्याख्या करने के लिए विवर्तवाद का सहारा लिया। वेदान्त में जगत् को माया का परिणाम बताया गया है। विवेकानन्द अपने को अद्वैतवादी अवश्य कहते हैं। किंतु तत्त्वमीमांसा के जंजाल तथा तर्क की बारीकियों में फंसना नहीं चाहते।

विवेकानन्द दार्शनिक गुत्थियों में न उलझकर एक सही मानवतावादी की तरह दु:ख-दर्द से पीड़ित सीमांत एवं परिधि के बाहर खड़े मानव की सेवा का आग्रह करते हैं। विवेकानन्द के अनुसार दलित एवं दु:खी मानवता की सेवा ईश्वर की पूजा से किसी अर्थ में कम नहीं है। मानव की सेवा को एक आध्यात्मिक संदर्भ देने का प्रयास विवेकानन्द ने किया है। दु:खी मानवता की सेवा के माध्यम से मनुष्य का आत्मबोध एवं आत्म-विस्तार होता है। महात्मा बुद्ध ने ईश्वर को नहीं माना लेकिन मानवता की सेवा को एक नैतिक आचरण के अन्तर्गत रखा। ईसाई धर्म का कथन है कि पड़ोसी के साथ प्रेम करें, एक सीमित अर्थ रखता है। कौन पड़ोसी है और उसके क्षेत्र की सीमा क्या है, इसे ईसाई धर्म ने स्पष्ट नहीं किया है। विवेकानन्द ने आत्मा और ईश्वर दोनों को पर्यायवाची माना और कहा कि यदि व्यक्ति आत्म-अनुभूति की कामना करता है तो उसे मानवता की सेवा करनी चाहिए। मानवता की सेवा से हमें आत्मबोध होता है। आत्मबोध ईश्वर-बोध से किसी अर्थ में कम नहीं होता। आत्मबोध से आत्म-विस्तार हाता है। लोककल्याण या लोकसंग्रह तभी संभव है जब आत्मबोध

होता है।

कुछ आलोचकों ने अद्वैत वेदान्त को नीति-रहित दर्शन कहा है। विवेकानन्द के अनुसार आलोचकों ने अद्वैत वेदान्त को सही अर्थ में नहीं समझा है। विवेकानन्द आलोचकों की भ्रामक धारणा को दूर करने का प्रयास करते हैं। वेदान्त ने सभी मनुष्यों को ब्रह्म की अभिव्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में एक पापी भी अपने को ब्रह्म कह सकता है। और एक पुण्यात्मा भी अपने को ब्रह्म कह सकता है। परंतु यह आलोचना सही नहीं है। वही पुण्यात्मा हो सकता है जो अपने को स्वार्थ की परिधि से ऊपर उठा सकता है। मानव अपने बंधु-बांधवों की सेवा तभी कर सकता है जब उसे यह विश्वास हो कि ईश्वर सभी जगह व्याप्त है और सभी में वर्तमान है। विवेकानन्द ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि अद्वैत-वेदान्त नीति-रहित नहीं है। वेदान्त नैतिकता को एक आध्यात्मिक आधार (spiritual basis) देता है। विवेकानन्द की मान्यता है कि सभी व्यक्तियों में आध्यात्मिक शक्ति पाई जाती है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर में भेद किया गया है। ब्रह्म को विश्वातीत तथा निर्गुण सत्ता बताया गया है तथा ईश्वर को विश्वव्यापी एवं सगुण सत्ता कहा गया है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म 'मेटाफिजिकल कन्सेप्ट' है और ईश्वर 'रिलीजियस कन्सेप्ट' है। ब्रह्म जब जगत् के सम्पर्क में आता है, तब वह ईश्वर कहलाता है। वह जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता, संहारकर्ता कहलाता है। विवेकानन्द ने अपने नव-वेदान्त दर्शन में अद्वैत के ब्रह्म और ईश्वर के सूक्ष्म भेद को अप्रासंगिक बतलाया है। वस्तुतः उन्होंने अद्वैतवाद तथा ईश्वरवाद दोनों का समन्वय अपने नव-वेदान्त (Neo-Vedantism) में किया है। यही कारण है कि विवेकानन्द के दर्शन में दो विचारधाराएँ एक साथ प्रस्फुटित होती हैं। एक विचारधारा शंकराचार्य के विचारों से मेल खाती है और दूसरी विचारधारा रामानुजाचार्य के विचारों से। विवेकानन्द का कहना है कि ये दोनों विचारधाराएँ वस्तुत: एक ही हैं। चरम सत्ता एक है। उसको देखने के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार चरम सत्ता निर्गुण है और दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार सगुण है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि जब विवेकानन्द कहते हैं कि चरम तत्त्व एक है, तब वे चरम तत्त्व को ब्रह्म-स्वरूप मानते हैं। चरम तत्त्व तक पहुँचने की पद्धत्ति शंकराचार्य तथा विवेकानन्द, दोनों की एक ही है। शंकराचार्य ने भा ब्रह्म को नेति-नेति कहा है और विवेकानन्द ने भी स्वीकार किया है। चरम तत्त्व को शंकराचार्य की तरह विवेकानन्द ने भी 'सच्चिदानन्द' कहा है। शंकराचार्य के सत् और चित् के विचार से विवेकानन्द का सत् और चित् विचार मेल खाता है। किंतु आनंद का विचार बौद्ध दर्शन एवं ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण एक नया रूप ले लेता है। आनन्द (bliss) को विवेकानन्द ने प्रेम (love) के अर्थ में समझा है। विवेकानन्द प्रेम पर बल देते हैं। शंकराचार्य के अमूर्त ब्रह्म को मूर्त रूप देने का प्रयास करते हैं। व्यक्तित्वरहित ब्रह्म के साथ-साथ व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की कल्पना विवेकानन्द ने की है। प्रेम के लिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है। विवेकानन्द इस बात को मानते हैं कि मनुष्य की धार्मिक भावना के संतोष के लिए ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जो व्यक्तित्वपूर्ण हो। वेदान्त ने भी ईश्वर (God) को माना है। किंतु ईश्वर की मायोपाधित सत्ता मानी गई है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से शंकराचार्य ने ईश्वर को मायायुक्त तथा व्यक्तिपूर्ण माना है, तथा पारमार्थिक दृष्टिकोण से मायारहित तथा व्यक्तित्वरहित ब्रह्म को स्वीकार किया है। इस प्रकार शंकराचार्य ने ब्रह्म को दो स्तरों की सत्ता माना है। यहाँ विवेकानन्द शंकराचार्य से भिन्न दिखते हैं। उन्होंने ईश्वर तथा ब्रह्म को दो स्तरों की सत्ता के रूप में नहीं माना है। ईश्वर को विवेकानन्द ने मायोपाधित सत्ता नहीं बतलाया। कुछ आलोचकों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि विवेकानन्द का ईश्वर-विचार वस्तुतः शंकराचार्य के ईश्वर-विचार से भिन्न नहीं है।

आलोचकों का आक्षेप है कि विवेकानन्द ने वेदान्त की नई व्याख्या की है बिल्कुल अर्थहीन बात है। विवेकानन्द का नव-वेदान्तवाद बिल्कुल वेदान्त का ही प्रतिरूप है। आलोचकों का यह मत बिल्कुल सही नहीं जान पड़ता। विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रह्म को उच्च स्तर की सत्ता मानना और ईश्वर को निम्न स्तर की सत्ता मानना शांकर-वेदान्त में संभव है, किंतु विवेकानन्द के नव-वेदान्त के अनुसार यह भेद भ्रामक है। पुनः जहाँ शंकराचार्य ने अमूर्त (निर्गुण ब्रह्म) पर अधिक बल दिया है, वहीं विवेकानन्द ने व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर पर बल दिया है। जहाँ शंकराचार्य ने तत्त्वमीमांसा पर

अधिक बल दिया है वहीं विवेकानन्द ने धार्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। आलोचकों का यह आक्षेप है कि विवेकानन्द का नव-वेदान्तवाद शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन का प्रतिरूप है, उचित नहीं जान पड़ता है। विवेकानन्द ने आनन्द (bliss)की जगह प्रेम (love) पर बल दिया है और 'प्रेम' को सच्चिदानन्द की एक मुख्य विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। शंकराचार्य ने ज्ञानमार्ग के द्वारा चरम सत्ता के साथ तादात्म्य की बात की है परंतु वहीं पर आनन्द (bliss) ने भक्तिमार्ग पर बल दिया है।

विवेकानन्द ने स्पष्ट करते हुए कहा कि व्यक्तित्वपूर्ण तथा व्यक्तित्वरहित का भेद वस्तुतः 'चरम सत्ता' में नहीं है, बल्कि वह हमारे दृष्टिकोण में है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि विवेकानन्द का नव-वेदान्तदर्शन शंकराचार्य के वेदान्त दर्शन का ही प्रतिरूप है। उन्होंने वेदान्त-दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा कहना उचित होगा कि विवेकानन्द ने वेदान्त के मूल सिद्धांतों को आधार मानकर नव-वेदान्त प्रस्तुत किया है।

शंकराचार्य ने जगत् को अज्ञान की उपज़ या माया के कारण उत्पन्न माना है। अतः शंकराचार्य ने विश्व को भ्रम बतलाया है, किंतु विवेकानन्द ने जगत् को भ्रम न मानकर ईश्वर को सत्य एवं उसकी सृष्टि को भी सत्य बतलाया है। विवेकानन्द ने माया को भ्रम (illusion) नहीं माना है। भ्रम सत्य का निषेध करता है। माया शब्द जगत् को भ्रम नहीं बतलाता, बल्कि यह संकेत करता है कि जगत् विरोधपूर्ण है। यहाँ पर हम देखते हैं कि विवेकानन्द ने अपने एकवादी दर्शन की गरिमा को 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' कहा। विवेकानन्द शंकराचार्य की धारणा से अपनी असहमति प्रकट करते हैं। उन्होंने जगत् को मिथ्या नहीं माना है। विवेकानन्द का कहना है कि जगत् सत्य है, उनकी मान्यता है कि वेदान्त दर्शन में भी जगत् को मिथ्या रूप नहीं बतलाया गया है। यह बात अलग है कि शंकराचार्य ने मिथ्या का सही अर्थ प्रकाशित नहीं किया। यही कारण है कि वेदान्त-दर्शन के अन्य विद्वानों ने भी शंकराचार्य की इस व्याख्या से असहमति प्रकट की है। विवेकानन्द ने माया के संदर्भ में भी बिल्कुल नई व्याख्या दी है। विवेकानन्द का कहना है कि माया अज्ञान की शक्ति नहीं है जैसा कि शंकराचार्य ने माना है। माया ईश्वर की एक शक्ति है। माया को शक्ति के रूप में विवेकानन्द ने स्वीकार किया तथा इसे शक्ति माना। शंकराचार्य ने माया को सापेक्ष जगत् तक सीमित माना और पारमार्थिक सत्ता के दृष्टिकोण से माया को नकार दिया। शंकराचार्य के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है जिसके माध्यम से वह विश्व की रचना करता है। माया भ्रमपूर्ण जगत् की अधिष्ठात्री है। श्री अरविन्द ने माया को चिद्शक्ति माना है। विवेकानन्द यहाँ पर श्री अरविन्द के बहुत करीब दिखते हैं जब उन्होंनें इसे दैविक शक्ति कहा। श्री अरविन्द तथा विवेकानन्द दोनों ने माया को अज्ञान की शक्ति नहीं माना, बल्कि ईश्वर की दैविक शक्ति बतलाया है।

विवेकानन्द ने मानव को दो दृष्टिकोण से देखा है- एक, उसका अभिव्यक्त रूप, दूसरा, उसका वास्तविक रूप। पारमार्थिक दृष्टिकोण से मानव तथा ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य है। मानव शुद्ध चैतन्य है। वह मात्र शरीर या मन नहीं है। शंकराचार्य ने मानव के इस रूप पर बल दिया और मानव के शारीरिक तथा भौतिक पक्ष को अलग बतलाया। हालांकि विवेकानन्द मानव का सच्चा रूप शुद्ध चैतन्य मानते हैं फिर भी उन्होंने उसके भौतिक स्वरूप के महत्त्व को नगण्य नहीं माना है। मानव का भौतिक पक्ष उसकी शारीरिक एवं उसकी मानसिक संरचना है। विवेकानन्द कहते हैं कि मानव ही ऐसा जीव है जो शारीरिक स्तर पर भी अन्य जीवों से श्रेष्ठ है। मानव के जो शारीरिक तथा भौतिक पक्ष हैं उसके अंतर्गत भी चेतना रहती है जो उसे अन्य जीवों से भिन्न करती है।

हम यहाँ देखते हैं कि मानव की श्रेष्ठता का कारण उसकी चेतना है। किंतु मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसमें आत्मा है, जो आत्मचेतन या स्वचेतन प्राणी है। मानव की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह अपने शारीरिक स्तर से ऊपर उठना चाहता है। वेदान्त की तरह विवेकानन्द ने मानव के भौतिक पक्ष को अज्ञानमय नहीं माना है। विवेकानन्द शंकराचार्य से भिन्न दिखते हैं, जब उन्होंने मानव के भौतिक पक्ष को स्वीकार किया। मानव की वास्तविकता एवं प्रतिभासिक स्वरूप की व्याख्या करते हुए विवेकानन्द ने कहा है कि दोनों का मूल स्रोत एक ही है। समुद्र में अनेक लहरें बनती है और बिगड़ती हैं, किंतु वस्तुतः समुद्र एक ही है। एक ही सूर्य जल में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिबिंबित होता है, किंतु वास्तव में उसका

स्वरूप एक है, उसी तरह से आत्मा एक है जो शुद्ध चेतन है किंतु, वह भिन्न-भिन्न शारीरिक संरचना के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करता है। विवेकानन्द शंकराचार्य के इस मत से सहमत हैं कि आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य संबंध है। विवेकानन्द और शंकराचार्य में अंतर सिर्फ इतना है कि विवेकानन्द ने मनुष्य की प्रतिभासिक सत्ता को पूर्णत: भ्रम नहीं माना है। जब तक मानव धरती पर है, तब तक उसका अस्तित्व है। जब मानव अपनी वास्तविक सत्ता को पहचान लेता है तो उसका उत्थान होता है न कि उसके ससीम पक्ष का विनाश होता है। इस प्रकार विवेकानन्द के नव-वेदान्त दर्शन में मानव का भौतिक पक्ष भी चरम तत्त्व की अभिव्यक्ति है और उसका वास्तविक पक्ष भी चरम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अंतर सिर्फ इतना है कि भौतिक स्तर में चेतना पूर्ण प्रकाशित नहीं रहती, वह शरीर, प्रकृति एवं भौतिकता की सीमाओं से घिरी रहती है। किन्तु, मानव का वास्तविक स्वरूप शुद्ध चैतन्य या आत्मा है, जिसको अग्नि भस्म नहां कर सकती, बाण भेद नहीं सकते।

विवेकानन्द सही अर्थ में नव-वेदान्ती हैं। इनको नव-वेदान्ती इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इन्होंने वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धांतों को स्वीकार करते हुए उनकी नई व्याख्या प्रस्तुत की है। विवेकानन्द एक सच्चे वेदान्ती की तरह ईश्वर में विश्वास करते हैं, वेद में आस्था रखते हैं और काल-चक्र को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम लोगों ने देखा कि किन बिन्दुओं पर विवेकानन्द शंकराचार्य से भिन्न दिखते हैं।

वेदान्त दर्शन में मोक्ष मानव की अंतिम भवितव्यता के रूप में माना गया है। मानव की भवितव्यता है, मुक्ति। शंकराचार्य विदेह-मुक्ति पर अधिक बल देते हैं, जीवन-मुक्ति को अस्थायी महत्त्व देते हैं। विवेकानन्द जीवन-मुक्ति पर अधिक बल देते हैं। वस्तुत: विवेकानन्द इस बात को दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि वेदान्त-दर्शन ने भी जीवन-मुक्ति पर अधिक बल दिया। वेदान्त दर्शन को नई व्याख्या देने का यह उनका प्रयास उन्हें नव-वेदान्ती बना देता है।

विवेकानन्द इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि जिस व्यक्ति ने आत्म-अनुभूति प्राप्त कर ली है, वही सही अर्थ में मानवतावादी हो सकता है, और सही अर्थ में वही मानव की सेवा कर सकता है। एक मानव दूसरे मानव की सेवा क्यों करे? क्या लोभ, मोह, घृणा, द्वेष आदि में लिप्त मनुष्य समाज की सेवा कर सकता है? क्या वह मनुष्य जो स्वयं पतित है, अर्थ, काम में लिप्त है, वह मानव की सेवा का दावा कर सकता है? विवेकानन्द का कहना है कि ऐसा दावा गलत है। सही अर्थ में जिसने आत्मा को पहचाना है, जो यह जानता है कि एक ही आत्मा सब में वर्तमान है, वही नि:स्वार्थ रूप में समाज की सेवा कर सकता है। जो यह समझता है कि एक ही आत्मा सब में व्याप्त है, वही मानवता की सेवा कर सकता है। विवेकानन्द का आग्रह है कि जो सही अर्थ में वेदान्ती है, वही अपना जीवन मानव-सेवा के लिए अर्पित कर सकता है। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए वेदांत की चिंतन प्रक्रिया का संक्षिप्त आकलन प्रासंगिक प्रतीत होता है। समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने के लिए मार्क्सवाद एवं उसके पतन के इतिहास पर एक नजर डालना समीचीन होगा।

अर्थशास्त्र का ऐतिहासिक विमर्श की विधि को कार्लमार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के विश्लेषण के आकलन के लिए प्रयुक्त किया। मार्क्स के अनुसार समाज की पुरातन व्यवस्था की संरचना का विखंडन अति आवश्यक है। विखंडन की आवश्यकता इसलिए भी हो जाती है क्योंकि हमें नये इतिहास की पुन:रचना करने की आवश्यकता है। सामंती संरचना का विखंडन औद्योगिक क्रांति के ठीक बाद में मार्क्स ने किया। सामंतवाद को विखंडित करने की पृष्ठभूमि मार्क्स ने तैयार की। मार्क्स की मान्यता थी कि पूंजीवाद ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता, क्योंकि इसकी बुनियाद शोषण पर आधारित है। यह सही है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत मानव जीवन-शैली बहुत तेजी से परिवर्तित हुई है। पूंजीवाद के तेवर भी बदले हैं। मार्क्स ने सामाजिक सम्बन्धों को वर्गों में बांट कर समझने की चेष्टा की है। विवेकानन्द ने भारतीय सामाजिक सम्बन्धों को जाति के परिप्रेक्ष्य में देखा। 'कैपिटल' नामक पुस्तक में मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था की आत्महत्या की कहानी को उस व्यवस्था के अन्तर्गत समाहित पाया। अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक संरचना के विश्लेषण की चर्चा कैपिटल में की गयी है।

१८६७ में कैपिटल का प्रकाशन हुआ था। मार्क्स ने कैपिटल की प्रस्तावना में लिखा है कि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी समाज की विकृतियों को उजागर करना है तथा पूंजीवाद के भविष्य की उद्घोषणा है। उनका उद्देश्य यह भी है कि पूंजीवाद का पराभव निश्चित है। कार्ल पॉपर ने अपनी पुस्तक 'द ओपन सोसाइटी एण्ड इट्स एनिमिज' के द्वितीय खंड (ह्वाट लेग एण्ड केगन वॉल से प्रकाशित का हिन्दी संस्करण २००३) के संस्करण को पढ़ा। पॉपर ने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि मार्क्स की भविष्यवाणी सही नहीं हुई। पूंजीवाद का विनाश नहीं हुआ। उत्तर-आधुनिक दार्शनिकों में जापानी मूल के हार्वर्ड प्रोफेसर फ्रांसिस फूकूयामा ने एक बहुचर्चित पुस्तक 'द एण्ड ऑफ हिस्ट्री' में यह बतलाया है कि उदार लोकतंत्र की विजय हुयी है और साम्यवाद का पतन। उत्तर-आधुनिकतावाद को हम तकनीकी युग भी कहते हैं। उत्तर आधुनिक काल में वैश्वीकरण उभर कर आया है। परन्तु विवेकानन्द ने वैश्वीकरण का आधार पूंजीवाद या बाजारवाद नहीं माना है। विवेकानन्द के अनुसार नव-वेदान्त मानव एकता का दर्शन है। नव-वेदान्तवाद मानवतावादी दर्शन है। शोषणविहीन समाज की स्थापना नव-वेदान्त दर्शन पर ही आधारित हो सकती है। विवेकानन्द ने अध्यात्मवादी समाजवाद की परिकल्पना की है जिसमें समानता के भाव का आधार वेदान्त दर्शन होगा, जिसका मूलमंत्र है सभी व्यक्तियों में चेतना का अंश है। शंकराचार्य की 'मनीषा पंचकम्' में एक रोचक प्रसंग आया है। शंकराचार्य बनारस के दशाश्वमेध घाट पर अपने शिष्यों के साथ गंगास्नान के लिए जा रहे थे। रास्ते में भंगी झाड़ू लगा रहा था। शिष्यों ने उस भंगी को अछूत मानकर रास्ते से हटने के लिए कहा था। भंगी ने पूछा कि किसे हटने को कहते हैं- शरीर को या आत्मा को। आत्मा सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान है। अद्वैत दर्शन का मूल उस भंगी के वचनों से शंकराचार्य ने सीखा। सचमुच में छुआछूत एक तरह का नैतिक एवं सामाजिक पतन है। विवेकानन्द ने भी जाति-प्रथा को अभिशाप माना। विवेकानन्द ने सर्वप्रथम यह उद्घोषणा कि थी कि सीमांतक (शूद्र) सबसे पहले रूस में तथा बाद में चीन में उद्भूत होंगे।

विवेकानन्द यह मानते हैं कि शूद्र अपनी शूद्रोचित गुणों के साथ समाज में प्रभावी स्थान बनायेंगे। एम.एन. श्रीनिवासन का मानना है कि संस्कृतिकरण के फलस्वरूप जातियों में विकास होगा।

एक प्रश्न विवेकानन्द ने इस पुस्तक में उठाया है कि शूद्र या सीमांतकों का राज्य पहले क्यों नहीं हुआ? वस्तुतः सीमांतक का कोई मित्र नहीं था। उन्हें आदमी का दर्जा भी नहीं दिया गया। प्राचीन काल में दास-प्रथा का प्रचलन था। सीमांतक मानसिक रूप से गुलाम बन कर रह गये थे। उनके साथ अमानवीय व्यवहार होता था।

यद्यपि शिक्षा का विकास हुआ फिर भी सीमांतकों का उन्नयन नहीं हो सका। श्रेणीबद्ध जाति व्यवस्था के कारण सीमांतक उपेक्षित रहे। उन्हें धन अर्जित करने का अवसर ही नहीं मिलता था। ज्ञान अर्जन का भी अवसर नहीं था। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि यदि हम समतामूलक एवं शोषणविहीन समाज की परिकल्पना करते हैं तो सीमांतकों को शिक्षा प्रदान करना चाहिए। यदि हम समाज परिवर्तन चाहते हैं तो शिक्षा की सुविधा सीमांतकों को उपलब्ध करानी होगी।

***

सामाजिक स्तरण एवं बौद्ध धर्म

अविनाश कुमार श्रीवास्तव

भारतवर्ष में श्रमण परम्परा के अन्तर्गत दो बड़े विचार के केन्द्र उभर कर आए जिसने भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, समाज एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन का श्रीगणेश किया। कालान्तर में वे धर्म के केन्द्र बने लेकिन समाज से गहरे रूप में जुड़े रहने के कारण उनका प्रखर सामाजिक चिंतन तत्कालीन भारतीय समाज को प्रभावित किया। इनके कारण आए सामाजिक कार्यों की प्रतिछाया एवं प्रतिध्वनि आज के वैश्विक समाज में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। वे दो धार्मिक एवं सामाजिक चिन्तन के केन्द्र हैं- जैन एवं बौद्ध धर्म। जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसके चौबीस तीर्थंकर हुए। इनमें से कुछ तीर्थंकर वैदिक काल के भी हैं। लेकिन प्रकारान्तर में भगवान महावीर जो चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर थे, को प्रमुख रूप से जैन धर्म, दर्शन एवं सामाजिक चिन्तन के प्रवक्ता, प्रचारक एवं प्रस्तोता के रूप में भारतीय जनमानस ने स्वीकार किया है। बौद्ध परम्परा का प्रारम्भ राजकुमार सिद्धार्थ के सम्बोधि प्राप्त करने के साथ होता है। अर्थात् सिद्धार्थ के बुद्ध बनते ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव होता है। बुद्ध के आगमन के पूर्व भारतीय सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक चिन्तन अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरा था। ब्राह्मण संस्कृति एवं धर्म से भारतीय जीवन शैली प्रभावित एवं परिचालित थी। यद्यपि उस काल में श्रमण संस्कृति (जैन परम्परा) का अस्तित्व था, लेकिन उसके अनुयायियों की संख्या अत्यन्त ही अल्प थी। वैदिक यज्ञ, याग एवं रीतियों का प्रयोग इहलौकिक एवं पारलौकिक सुखकामना हेतु किया जाता था। भारतवर्ष के बुद्धिजीवियों का समय ईश्वर, स्वर्ग, नर्क, आत्मा, बन्धन, मोक्ष आदि अवधारणाओं की परिचर्चा में ही बीत जाता था। मानव जीवन की जीवंत समस्याओं पर कदाचित् ही विमर्श हो पाता था। उनके बौद्धिक विमर्श का सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं एवं सामाजिक संस्थाओं यथा शिक्षा, शादी, समाज में नारियों का स्थान आदि से दूर तक नहीं था। समाज में धार्मिक रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास अपनी पराकाष्ठा में था। इस कारण लोगों में सामाजिक दायित्वों, कर्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति अज्ञान फैल चुका था। संक्षेप में इसी सामाजिक, धार्मिक परिवेश में बुद्ध का अवतरण हुआ। उन्होंने इस धार्मिक रूढ़ियों की तीव्र भर्त्सना की, अंधविश्वासों पर आधारित कर्मकाण्डों की आलोचना की, लोगों की धार्मिक दासता की निन्दा की, रूढ़ियों एवं अंधविश्वास में जकड़े समाज में सकारात्मक गतिशीलता प्रवाहित करने के लिए जनसामान्य को प्रोत्साहित किया। उन्होंने लोगों में आत्मविश्वास, कर्म के मूल्य, मानव गरिमा का बोध एवं मानवीय समानता का संदेश दिया। उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि- 'तुम अपने कर्मों से ही अपनी स्थिति में परिवर्तन ला सकते हो, तथागत तुम्हारे मार्गदर्शक हैं।[१] वे मात्र एक शिक्षक हैं, परामानव या ईश्वर नहीं।

वर्तमान आलेख का उद्देश्य ६०० वर्ष ईसा पूर्व प्रचलित ब्राह्मण संस्कृति द्वारा सम्पोषित सामाजिक स्तरण में परिवर्तन, परिवर्द्धन, परिमार्जन एवं उसे चुनौती देने में बुद्ध की भूमिका को रेखांकित करना है। यहाँ यह भी प्रयास किया जाएगा कि तत्कालीन प्रचलित सामाजिक स्तरण की व्यवस्था को बुद्ध ने किस हद तक प्रभावित किया है। लेकिन तत्कालीन सामाजिक स्तरण पर बौद्ध प्रभावों की विवेचना के पूर्व सामाजिक स्तरण की अवधारणा की संक्षिप्त व्याख्या अपेक्षित है। यहाँ यह भी विवेचित करने का प्रयास किया जाएगा कि सामाजिक स्तरण का पारिभाषिक शब्दावली में अर्थ क्या है? इससे हम क्या समझते हैं? तथा किस प्रकार के सामाजिक ढ़ाचे का संकेतक है। इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया

ऑफ सोसल साइंस में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है– 'This social concept' refers to the fact that both the individual and the group of individuals are conceived of as constituting higher and lower differentiate strata, or class, in terms of some specific or generalized characteristic or set of characteristics.'[2] इस व्यवस्था में लोगों का उच्च या निम्न, अभिजात्य या सामान्य वर्गों या श्रेणियों में मूल्यांकन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समावेशित है। इस प्रकार के वर्ग या श्रेणियों का निर्धारण अच्छा या बुरा, सामान्य एवं श्रेष्ठतासूचक मूल्यों के मानदण्ड के आधार पर किया जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक स्तरण की अवधारणा में नीतिसापेक्ष मूल्य, समानता एवं असमानता तथा न्याय एवं अन्याय की कोटियाँ भी सम्मिलित होती हैं।[3] इस कारण ही इस अवधारणा का प्रयोग व्यापक रूप से आदर्श पर स्व–नैतिक चर्चाओं एवं विवादों में हुआ है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक एवं सामाजिक विज्ञान के विश्लेषणों में भी सामाजिक स्तरण विस्तार से विवेचित एवं विश्लेषित हुआ है। वर्तमान आलेख को सम्यक् विवेचन हेतु चार भागों में विभक्त किया गया है–

क. बुद्धकालीन संस्कृतिमूलक सामाजिक स्तरण

ख. सामाजिक स्तरण का आधार एवं उद्भव

ग. ब्राह्मण संस्कृतिमूलक सामाजिक स्तरण की आलोचना एवं उनका परिमार्जन

घ. निगमन।

बुद्धकालीन सामाजिक स्तरण– प्राचीन सामाजिक स्तरण की व्यवस्था बुद्ध के काल तक आते–आते जाति–व्यवस्था का रूप धारण कर चुकी थी। इस व्यवस्था के अनुकूल समस्त भारतीय अपने वर्ण विशेष के प्रतीक थे। ब्राह्मण परम्परा में इसे 'चातुर्वर्ण्य' समाज की संज्ञा दी गई थी। इस व्यवस्था के अनुसार सम्पूर्ण समाज चार वर्णों में विभक्त था– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। व्यक्ति की अपनी पहचान उसकी जाति एवं वर्ण ही हुआ करता था। खाद्य–अखाद्य, मेल–जोल, बातचीत आदि का निर्धारण जाति या वर्ण के आधार पर होता था। किनके साथ भोजन करना है, किस व्यक्ति या परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना है आदि के परिचालन सम्बन्धी निर्णय पूर्व स्थापित नियमानुसार अत्यंत ही सूक्ष्मता से होता था। नियम भंग की अवस्था में बड़े कठोर दंड एवं जुर्माना की व्यवस्था थी। इनके पीछे यह विचार था कि ऐसा कर हम वर्णगत शुद्धता बनाए रख सकते हैं और वर्ण संकरता रूपी प्रदूषण एवं इसके दुष्प्रभावों से मुक्त रह सकते हैं। ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था में सर्वोच्च श्रेणी में थे। फलतः सामाजिक कारोबार में उनकी ही श्रेष्ठता स्वीकार्य थी। लेकिन उनकी यह तथाकथित श्रेष्ठता समाज पर लादा गया एक लवादा था। वे स्वयं को समस्त प्रकार की बुराईयों एवं प्रदूषणों के प्रति शोधित होने का दिखावा करते थे। इतना ही नहीं वे मनुष्य एवं भगवान के बीच मध्यस्थ भी माने जाते थे। सामाजिक स्तरण में क्षत्रियों का दूसरा स्थान था। वे मुख्यतः शासक हुआ करते थे। वैश्यों को सामाजिक श्रेष्ठता–क्रम में तीसरा स्थान प्राप्त था। व्यवसाय, कृषि एवं पशुपालन उनका प्रमुख व्यवसाय था। शूद्र चौथे और अन्तिम पादान पर थे। उनका कार्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। चारों वर्णों के व्यक्तियों के व्यवसाय मोटे तौर पर उनके कार्यों से जुड़े थे, न कि उनके जन्म से। लेकिन बुद्ध के काल तक आते–आते वर्ण या जाति का निर्धारण जन्मना हो चुका था, कर्मणा नहीं।

सामाजिक स्तरण के स्रोत– वर्ण–व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जब हम प्राचीन भारतीय साहित्य पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो हम सामाजिक स्तरण के दो सिद्धान्तों से परिचित होते हैं– १. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त और २. आन्तरिक गुण– कर्म का सिद्धान्त।

सामाजिक स्तरण की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त इस तथ्य का संकेत करता है कि समाज में स्थापित वर्ण या जाति–व्यवस्था मानव निर्मित नहीं है। इसकी रचना स्वयं ईश्वर ने की है या किसी दैवी शक्ति के द्वारा हुई है। इस सन्दर्भ में भारतीय धर्म–दर्शन के ग्रन्थों में दो प्रकार की चर्चा देखने को मिलती है। पहला उदाहरण ऋग्वेद में उपलब्ध है। यहाँ एक सुन्दर कथा के माध्यम से चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। लेकिन वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन

यहाँ इहलौकिक तरीके से नहीं किया गया है, अपितु दैवी एवं रहस्यात्मक ढंग से किया गया है। यहाँ यह वर्णित है कि ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं। उसके चार अंगों से चार वर्णों के मनुष्य का उद्भव हुआ है। मानव सृष्टि के क्रम में सर्वप्रथम ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ। फलतः वे सामाजिक स्तरण में सर्वश्रेष्ठ हुए। तदुपरान्त उनकी दोनों भुजाओं से क्षत्रियों का जन्म हुआ। ब्रह्मा की जंघा से वैश्यों का जन्म हुआ और सामजिक व्यवस्था में तीसरे स्थान पर स्थापित हुए। शूद्रों का जन्म ब्रह्मा के पैर से होने के कारण वे समाज में चतुर्थ एवं सबसे नीचे स्तर के माने गए।[४] इसी प्रकर गीता में भी चातुवर्ण्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त भी देखने को मिलता है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अट्ठाहरवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने यह स्पष्टतः कहा है कि मानव समाज के चार वर्णों का निर्माण मैंने स्वयं किया है।[५] ये दो सामाजिक स्तरण के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के विशिष्ट उदाहरण हैं। लेकिन सामाजिक स्तरण के दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध मनुष्य के इहलौकिक गुण एवं कर्म से है। इसके अनुसार सम्पूर्ण मानव जाति अपने-अपने कर्मों एवं अपने अन्तर्निहित गुणों के कारण विभिन्न जातियों एवं वर्णों में विभाजित हैं। इसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। कारण यह है कि इसकी चर्चा प्राचीन भारत के श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में विस्तृत रूप से की गई है। साथ ही प्राचीन एवं आधुनिक समाज दर्शन के चिन्तकों ने भी इस पर गहन विमर्श किया है।

सामाजिक स्तरण का आधार- मोटे तौर पर मार्क्सवादी विद्वानों की यह मान्यता है कि "Man in society are divided by Marx in two strata or classes ... These two classes are the owner of the means of production and the workers, whom they employ."[6] लेकिन मनुष्यों के प्रकार का विभाजन वर्गसंघर्ष को पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लेता है। मार्क्स ने सामाजिक स्तरण या वर्ग या वर्ण विभाजन के अन्य दूसरे आयामों का अनदेखा भी किया है। ये आयाम शैक्षिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सजातीय विषयक शक्ति, सम्मान, प्रतिष्ठा, पद या सामाजिक स्थिति आदि भी हो सकते हैं जो कि व्यक्ति-व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है। परिणामतः सामाजिक वर्ग विभाजित होकर विभिन्न रूपों में विकसित होते हैं। इस पृष्ठभूमि में जब हम बुद्धपूर्व ब्राह्मण संस्कृति के समाज पर अपनी दृष्टि डालते हैं तो हम पाते हैं कि तत्कालीन समाज मोटे तौर पर चार वर्णों में विभक्त था- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भी कहा जाता है। इस व्यवस्था के सूक्ष्म एवं विचारपूर्वक अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि काले मार्क्स के वर्ग विभाजन के एकल आधार के प्रतिकूल यह वर्ण विभाजन बहुआयामी एवं अनेक सैद्धान्तिक सूत्रों पर आधारित है। मार्क्स ने तो इसे मात्र इहलौकिक आधार 'अर्थ' पर आधारित माना गया था जबकि प्राचीन भारतीय सामाजिक स्तरण इसके अतिरिक्त अनेक नियमों, सिद्धान्तों, आदर्शों पर आधारित है। यहाँ वर्ण-विभाजन का प्रत्येक आधार वर्गों के व्यक्तियों के आचार-व्यवहार, कार्यकलापों को न्यायसंगत ठहराता है जिसका प्रदर्शन उनके द्वारा समाज के विभिन्न क्षेत्र एवं आयामों में होता है। वे नियम या आयाम जिन पर ब्राह्मण परम्परान्तर्गत चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आधारित है, वह ज्ञान एवं शिक्षा, धर्म एवं कर्मकाण्ड, शुद्धता, शक्ति, अर्थ एवं श्रम पर भी आधारित है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण वर्ग का विभाजन शिक्षा, ज्ञान, धर्म एवं कर्मकाण्ड की शुद्धता पर आधारित है, क्षत्रिय शक्ति पर, वैश्य धन एवं अर्थतंत्र पर तो शूद्र वर्ग अपने श्रम एवं सेवारत कौशल के आधार पर समाज में स्थापित हुए। इनकी संक्षिप्त विवेचना यहाँ अपेक्षित है।

ब्राह्मण वर्ण- औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा द्वारा अर्जित या प्राप्त ज्ञान की मात्रा व्यक्ति के आचरण एवं कार्य-व्यापार को उसी अनुपात में प्रभावित एवं परिमार्जित करता है जिस अनुपात में वह प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप विशिष्ट परिमाण एवं प्रकार का ज्ञान या अन्य प्रकार के शैक्षिक अनुभव जो विभिन्न मात्रा एवं अनुपात में समाज के मनुष्यों द्वारा वितरित या अर्जित हैं वर्ग स्तरण के कारक हैं। इन्हें सामाजिक स्तरण के आधार के रूप में स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि व्यक्तियों में वितरित ज्ञान की मात्रा एवं अनुपात के कारण व्यक्तियों का विभिन्न वर्ण या वर्ग विशेष में विभाजित होते देखा जाता है। भारतीय समाज में इस प्रक्रिया के फलस्वरूप कालान्तर में ज्ञान के उत्कृष्टता के आधार पर ब्राह्मण वर्ग का उदय हुआ। ज्ञान ब्राह्मणों का विशिष्ट लक्षण मान लिया गया। इस कारण ही श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में ब्राह्मण वर्ण को

परिभाषित करते हुए कहा गया है, 'ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण होना ही ब्राह्मणों का मुख्य लक्षण है।'[७] मनुस्मृति कहती है- 'अध्ययन एवं अध्यापन ब्राह्मणों के कार्य हैं।[८] यह इस तथ्य का संकेतक है कि विद्या एवं ज्ञान विषयक आयाम के कारण ही ब्राह्मणों का मुख्य कार्य-व्यापार अकादमिक जीवन का निर्वहन एवं नियमित रूप से अध्ययन एवं अध्यापन है। लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं होती। ब्राह्मणों के पास दूसरा गुण अवश्य होना चाहिए। यह दूसरा गुण है धार्मिक संस्कारगत शुद्धता। इस गुण के कारण भी ब्राह्मण वर्ण अस्तित्व में आया। धार्मिक दृष्टि से समरूप समाज में व्यक्तियों को उसकी योग्यता के अनुकूल सामाजिक स्तरण की दृष्टि से बने वर्गों में रखने की चेतना तीव्र होती है। ब्राह्मणों के लिए धार्मिक एवं शास्त्रविहित कर्मकाण्डीय पवित्रता सामाजिक स्तरण के अन्य अयामों की तुलना में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस कारण ही ब्राह्मण वर्ण को परिभाषित करते हुए गीता एवं मनुस्मृति एक स्वर में कहती है- 'कर्मकाण्डीय रीतियों का सम्पादन, यज्ञ, याग, ईश्वरपूजा, शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता ब्राह्मण वर्ण का आवश्यक गुणधर्म है।[९] इस कारण ही वे समस्त प्रकार के प्रदूषणों एवं क्लेशों से मुक्त एवं परिशोधित माने जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा, ज्ञान, धार्मिक एक कर्मकाण्डीय शुद्धता आदि ऐसे सूत्र एवं नियम हैं जिसने स्वतंत्र रूप से समाज में व्यक्तियों के आचरण को परिस्कृत एवं प्रभावित किया। इस प्रभाव से परिमार्जित, परिशोधित एवं प्रभावित संस्कार एवं आचरणयुक्त व्यक्तियों की संख्या बढ़ी वे एक साथ रहने लगे और समाज में एक नया वर्ग उभर कर सामने आया। इसे ब्राह्मण वर्ण की संज्ञा मिली। सामाजिक स्तरणान्तर्गत इस वर्ग के सभी व्यक्तियों को उपरोक्त गुणों से युक्त माना जाने लगा। साथ ही धार्मिक संस्कारगत शुद्धता ज्ञान-विज्ञान में रुचि एवं अध्ययन एवं अध्यापन के गुण ब्राह्मण के सारगुण एवं विभेदक गुण बन गया।

क्षत्रिय वर्ण-सामाजिक स्तरणान्तर्गत इस वर्ण का आधारभूत गुण शक्ति है। शक्ति को परिभाषित करते हुए समाजविज्ञान के विश्वकोष में कहा गया है-"It is the capacity for achieving goals in social systems. Power in this sense is obviously functional for all types of socety"[10] इस पृष्ठभूमि में जब हम अपनी दृष्टि विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं पर डालते है तो ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार के समाज एवं उनके संगठनात्मक व्यवस्था के परिचालन में न्यूनाधिक अनुपात में किसी न किसी प्रकार से शक्ति की भूमिका अवश्य रही है। वैधानिक रूप में नैतिक भावनाओं के अनुरूप अगर शक्ति का प्रयोग समाज की व्यवस्था स्थापित करने हेतु किया जाए तो इससे देश एवं समाज का रक्षण होता है तथा प्रशासन को यह आधिकारिक प्रामाणिकता प्रदान करता है। लेकिन इसी शक्ति का उपयोग इसके विपरीत या प्रतिकूल रीति से करने पर इसे अवैधानिक एवं अनाधिकारिक माना जाता है।[११] ऋग्वेद में क्षत्रिय शक्ति के लिए 'ओज' शब्द का प्रयोग किया गया है। शतपथब्राह्मण में इसमें एक और गुण जोड़ दिया गया है, वह है युद्ध में संलग्न रहना।[१२] कालान्तर में शौर्य एवं तेज को क्षत्रिय का विभेदक गुण मान लिया गया। साथ ही इस वर्ग के विशिष्ट लक्षण के रूप में प्रजा पालन, दान एवं धर्मविहित युद्ध में सहभागिता को भी स्वीकार कर लिया गया। इस कारण ही श्रीमद्भगवद्गीता में क्षत्रिय को परिभाषित करते हुए कहा गया है, "वीरता, तेज, धैर्य, युद्ध से पलायन नहीं करना, दान देना एवं स्वाभिमान क्षत्रिय के स्वाभाविक गुणधर्म एवं कर्म हैं।"[१३] उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शक्ति या वीरता सामाजिक स्तरण का एक पृथक् आयाम है जिसके प्रभाव से बुद्ध पूर्व भारतीय समाज में क्षत्रिय वर्ण अस्तित्व में आया।

वैश्य वर्ण- व्यक्ति की समाज में बदलती हुई विभिन्न भूमिकाएं उसे अर्थोपार्जन, पूँजीसंग्रह एवं धनसंचय की अनेक वैकल्पिक संभावनाएं प्रदान करती हैं।[१४] इनमें व्यापार भी एक वैधानिक मार्ग है। वे सारे व्यक्ति जो इस प्रकार के व्यवसाय में संलग्न हैं, अगर सैद्धान्तिक रूप से ही सही, समाज के विभिन्न वर्गों से अलग कर एक साथ संयुक्त कर दिए जाएं तो उनके लिए एक पृथक् नामकरण की अपेक्षा होगी। धन, पूँजी या व्यापार, चाहे वह उत्तराधिकार से प्राप्त या स्वयं अर्जित की गयी हो, के सामाजिक स्तर के दूसरे आयामों से पृथक् एवं स्वतंत्र, का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रतिफलन होता है। इनसे युक्त व्यक्तियों के समुदाय को ब्राह्मण परम्परा के सामाजशास्त्रीय शब्दावली में "वैश्य" की संज्ञा दी गयी है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति कृषि, व्यापार एवं पशुपालन से संलग्न हो अपनी जीविकोपार्जन कर रहे हैं, वे समाज में अपने लिए पृथक् वर्ग का निर्माण कर लेते हैं। उनलोगों को समाज में एक अलग कोटि का स्थान प्राप्त होता है जिसे वैश्य की संज्ञा से

विभूषित करते हैं। वैश्य वर्ण को परिभाषित करते हुए गीता कहती है, "खेती गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।"[१५]

शूद्रवर्ण- कार्ल मार्क्स ने समाज को दो वर्गों में विभाजित किया है- पूँजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग। इनमें से प्रथम उत्पादन की संसाधनों का और दूसरा वर्ग है श्रमिक का जो उक्त संसाधन क्षेत्र (कारखाना) में पारिश्रमिक लेकर काम करता है।[१६] ब्राह्मण संस्कृतिमूलक समाज में क्रमशः इन्हें वैश्य एवं शूद्र की कोटि में रखा जा सकता है। ब्राह्मण समाज में शूद्रों का उत्तरदायित्व सर्वाधिक है। इन्हें अपने से ऊपर के तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करनी पड़ती है, क्योंकि यही इस वर्ण का सहज स्वाभाविक कार्य है। सेवारत कौशल इनका विभेदक गुण है। इसी कारण गीता में शूद्र को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सभी वर्णों की सेवा में संलग्न रहना शूद्र का स्वाभाविक गुण-कर्म है। विभिन्न वर्णों की पारस्परिक निर्भरता एवं अन्योन्य सम्बन्ध - यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि प्राचीन भारतीय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में सृजित मानव समाज में कोई भी वर्ण स्वयं में पूर्ण एवं स्वतंत्र ईकाई नहीं है। इनकी एक-दूसरे पर परस्पर निर्भरता है। एक वर्ण विशेष का अन्य दूसरे वर्णों के साथ आन्तरिक एवं अन्योन्य सम्बन्ध है। इस कारण ही इस व्यवस्था में समाज एक ईकाई है और चारों वर्ण उसके अभिन्न अंग। तथापि इन चारों वर्णों की अपनी स्वायतता बनी रहे इसका पूरा ध्यान रखा जाता है। यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की समाज में आंगिक एकता है जो समाज को एकरूप एवं पूर्ण बनाए हुए है, फिर भी उन सभी वर्ण के लोगों के व्यक्तिगत एवं स्तरित ईकाई रूप जीवन में अपनी व्यक्तिगत एवं वर्णगत पहचान एवं सारूप्यता है। इन चार वर्णों के मनुष्यों की समाज में अपने वर्ण, व्यवसाय स्तरण का आधार कार्य, व्यवसाय एवं उनके अन्तर्निहित गुण हैं जो सामान्यतः एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् हैं, तथापि वे समाज के आंगिक एकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सभी समाज में एक-दूसरे से अवियोज्य रूप से जुड़े हैं। चारों वर्णगत मनुष्य एवं समाज वर्ग भी एक-दूसरे के लिए सम्पूर्ण समाज के लिए अपरिहार्य हैं। एक-दूसरे से अलग होकर कोई भी व्यक्ति या स्तरित वर्ग किसी भी पारिवारिक, सामाजिक या कुछ हद तक वैयक्तिक कार्यों के सम्यक् सम्पादन में असमर्थ है। अपने दैनिक जीवन में इन सबों को एक-दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। ऋग्वेद में चारों वर्ण के कार्य, उनकी परस्पर निर्भरता एवं उनकी अपरिहार्यता का विवेचन अत्यंत ही रोचक रूप किया गया है जो सामाजिक स्तरण या वर्णोत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का पोषक भी है। यहाँ यह उल्लिखित है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। समाज में ये सभी वर्ण अपने सृजक अंगों का प्रतिनिधित्व एवं तदनुरूप कार्य सम्पादन करते हैं। उनका समवेत सामंजस्यपूर्ण कार्य समाज को सुदृढ़ एवं सशक्त आधार उसी प्रकार प्रदान करते हैं जिस प्रकार शरीर की दीर्घजीविता एवं पुष्टता शरीर के सभी अगों के सामंजस्यपूर्ण, समन्वयात्मक एवं समवेत परिचालन से होती है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंगों की अपनी पृथक् भूमिका होती है एवं सभी अपने आप में मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य में स्तरित वर्ग भी स्वयं में मूल्यवान एवं महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि समाज के विकास में समस्त चारों वर्णों की पृथक् एवं समवेत रूप से अपनी पृथक् भूमिका है।

इस क्रम में यह भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासकीय व्यवस्था हेतु किया गया श्रम-विभाजन मात्र नहीं है। चारों वर्णों की वृत्तियाँ, गुण एवं कर्म इस तथ्य के संकेतक हैं कि इसमें मानव जीवन के सर्वांगीण विकास की योजना निहित है। इसका गुणकर्म विभाजन किसी भी समाज के लिए, किसी भी युग के लिए कितना उपादेय है यह देखते ही बनता है। मानव जीवन अगर सम्मिलित जीवन है तो मानव के आदर्श, उसकी क्षमताएं, उसकी उपलब्धियाँ, उसकी श्रेय-साधना इत्यादि सब का सम्मिलित विचार होगा। वही विधान व्यक्तियों के अभाव में आ जाने पर जीवन में व्यवस्था आती है, दक्षता आती है और समाज आगे बढ़ता है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में मानव के सम्मिलित जीवन का पोषण दृष्टिगत होता है। अन्तर जीवन की हृदयगत सम्पन्नता (ब्राह्मण), स्वस्थ सवाल एवं स्वार्थरहित राजनीति (क्षत्रिय) स्वावलम्बी एवं परिपुष्ट अर्थव्यवस्था (वैश्य), सेवारत कौशल (शूद्र) और इन सबों से ओत-प्रोत सर्वहित की आदर्शमयी प्रेरणा किसी भी समाज एवं राष्ट्र के लिए ऐसे सूत्र हैं जिससे उसका सर्वाङ्ग सम्बन्धित हो सकता है। यह किसी भी समाज विशेष की परम्परा मात्र नहीं है और न ही यह किसी जाति विशेष के प्राचीन इतिहास

का विषय मात्र है, अपितु यह आधुनिक मानव समाज में सिद्धान्ततः प्रयोज्य रहेगी जब तक मानव का वर्तमान स्वभाव है।

सामाजिक स्तरण एवं व्यावसायिक सम्मान– प्रारम्भ में ब्राह्मण संस्कृतिमूलक समाज में वर्ण या जातिगत श्रेणिबद्धता नहीं थी। सभी समान थे। लोगों के मध्य वर्णभेद के कारण श्रेणिभेद (ऊँच-नीच का भाव) नहीं था। समाज में सभी वर्णगत व्यक्तियों के महत्त्व, स्थिति एवं सम्मान के प्रति समत्वभाव था। सभी स्तरों के व्यक्तियों के मध्य पूर्णतः सकारात्मक सह-सम्बन्ध था। इस परिप्रेक्ष्य में गीता की उक्ति स्पष्ट है कि "अपने-अपने कार्यों में तत्परता से लगा हुआ व्यक्ति परम सिद्धि को प्राप्त करता है।[१८] लेकिन यह आदर्शपरक स्थिति बहुत दिनों तक भौतिक चिन्तन पर आधारित इहलौकिक एवं आनुभविक यथार्थ के समक्ष टिक नहीं सकी। कालान्तर में समाज में वर्ण या जातिगत श्रेणिबद्धता का उदय हुआ। व्यक्ति एवं उसके परिवार के सदस्यों का राज्य एवं समाज में उनके कल्याणपरक कार्य में उनका अवदान, उपयोग, सहयोग एवं सहभगिता को कोटि एवं अनुपात के आधार पर उच्च एवं निम्न श्रेणियों में मूल्यांकित किया जाने लगा। समाजविज्ञान के शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि व्यक्ति की समाज में पूर्णकालिक भूमिका वैभिन्य कार्य एवं वृत्तिमूलक वैशिष्ट्य श्रेणिविभेदक दृष्टि का उत्पादक है। यद्यपि विभिन्न देश एवं समाज के विभिन्न कालखण्डों में समाज की किसी विशिष्ट उत्पादक भूमिका में संलग्न व्यक्तियों द्वारा अर्जित प्रतिष्ठा के अनुपात में न्यूनाधिक भिन्नता रही है, लेकिन इसका कारण समाज विशेष द्वारा धारित सैद्धान्तिक या वैचारिक आदर्श मात्र नहीं है, अपितु वर्ण या व्यक्ति विशेष की समाज में उत्पादक कार्य की मात्रा अनुपात एवं महत्त्व है।[१९] समाज विज्ञान से अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोष के शब्दों में- "This Varity is a result of a fact that some necessary function in a social system ... may be the same what is differently valued according to the different set of values that provide in different system in different times."[२०] यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि कुछ समाज में सैद्धान्तिक प्रयोजनार्थ मूल्य समूहों का अन्तर इतना बड़ा है कि इसे समाज-विशेष में वर्ग-विशेष के आवश्यक कार्य के महत्त्व को आधार बनाकर उसे महत्त्वपूर्ण रीति से समावेशित कर दिया गया है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण वर्ग अपने अतिरंजित सैद्धान्तिक पाखण्डपूर्ण महत्त्व के कारण समाज के कार्यकलाप एवं श्रेणिबद्धता में शीर्ष पर अवस्थित था। क्षत्रिय या तो सेना में कार्य करते थे या प्रशासनिक कार्यों का निर्वहन कर रहे थे। सामाजिक स्तरण में उनका स्थान दूसरा था। वैश्य वर्ण के लोग कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य, व्यापार में प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। सामाजिक श्रेणिबद्धता में उनका स्थान तीसरा था। शूद्र वर्ण का स्वभाव कर्म अपने से ऊपर तीन वर्णों के व्यक्तियों की सेवा या परिचर्या मात्र था और वे इस श्रेणिबद्ध समाज के चतुर्थ एवं अन्तिम पादान पर अवस्थित थे। समाज में अपने स्थान के आधार पर ही उनकी उच्च या निम्न वर्ण में गणना होती थी एवं तदनुकूल उनकी प्रतिष्ठा थी। यह बात दूसरी है कि प्रारम्भ में प्रत्येक वर्ण का स्वभावज कर्म या स्वधर्म अपने आप में इतना महत्त्वपूर्ण माना जाता था कि गीता में यह स्पष्ट चेतना दी गई है कि 'अच्छे प्रकार से आचरण में लाए हुए दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी अतिउत्तम है।[२१] अपने धर्म में मरना श्रेयस्कर है, दूसरे का धर्म वरण करना भयावह है।'[२२] वस्तुतः उस काल में व्यक्ति या वर्ण का स्वधर्म एवं स्वभाव कर्म की इतनी महत्ता थी कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्ण-कर्म के आधार पर, उच्च या अधम, क्षुद्र या अभिजात्य, वर्ण का नहीं माना जाता था। इस कारण ही गीता की यह सुदृढ़ मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को दोषमुक्त भी स्वभावज कर्म कल्याण नहीं करना चाहिए।[२३] अपने कर्म का सम्यक् सम्पादन ही व्यक्तित्व को इहलौकिक एवं पारलौकिक पूर्णता प्रदान करता है।

स्तरण एवं सामाजिक गतिशीलता– सामाजिक गतिशीलता को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सामाजिक स्तरणान्तर्गत सभी आयामों एवं वर्गों या उच्च, निम्न एवं अधम श्रेणियों में व्यक्तियों की कर्मानुसार गति निहित है।[२४] जहाँ तक सामाजिक गतिशीलता के वेग, अनुपात, मात्रा एवं प्रक्रिया का प्रश्न है यह समस्त स्तरण व्यवस्था में पूर्णता में घटित होता है और व्यक्तियों का स्थानान्तरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग में सहजता से उसके कर्म के परिवर्तनानुरूप होता रहता है।[२५] यह दूसरी बात है कि सभी वर्गों के व्यक्ति समान अनुपात में दूसरे वर्ग में प्रविष्ट नहीं होते हैं। उनकी संख्या या अनुपात का अन्तर हो सकता है।

वैदिक एवं उपनिषद् काल में समाज के चारों वर्णों में यह गतिशीलता दृष्टिगत होती है। सामाजिक गतिशीलता उस काल के अनुरूप वर्ण को प्राप्त करती थी। उच्च या निम्न वर्ण में जन्म उनके वर्णगत स्थानान्तरण को प्रमाणित नहीं करता था। इसका उल्लेख मनुस्मृति, जो अपेक्षाकृत बहुत बाद की रचना है, में भी पाया जाता है। यहाँ यह कहा गया है कि 'जन्म से सभी शूद्र होते हैं और संस्कार से व्यक्ति द्विज (ब्राह्मण) होता है। (जन्मना जायते शूद्रः संस्कारगत द्विज उच्यते)।[२६] वेदों एवं उपनिषदों के आन्तरिक उदाहरण के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि जन्मना शूद्र थे लेकिन विद्योपार्जन एवं शुद्ध सात्त्विक जीवन निवर्हन के कारण उन्हें ऋषिकुल (ब्राह्मण वर्ण) में स्थान मिला। महर्षि वाल्मीकि (डोम) सत्यकाम जावाल (दासीपुत्र), विश्वामित्र क्षत्रिय आदि अनेक ऋषि सामाजिक गतिशीलता के ज्वलंत उदाहरण हैं। इस प्रकार ब्राह्मण संस्कृति के ग्रन्थों के आन्तरिक स्रोतों में सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण विपुलता में उपलब्ध हैं। उस काल में कुलप्रसूत व्यक्ति भी अपने व्यसायिक कर्म के अनुरूप निम्न वर्ण के हो जाते थे। इसके विपरीत निम्न वर्ग के व्यक्ति भी अपने सात्त्विक कर्मों के कारण उच्च वर्ण में प्रविष्ट हो जाते थे।

यद्यपि चारों वर्णों की पारस्परिक गतिशीलता ब्राह्मण संस्कृतिमूलक सामाजिक स्तरण (वर्ण-व्यवस्था) की अपनी विशिष्टता थी जो अन्य संस्कृतियों में अनुपलब्ध है, लेकिन यह विशिष्टता दीर्घ काल तक प्रचलन में नहीं रह सकी। समय के अन्तराल में समाज की यह गतिशीलता अवरुद्ध होने लगी। धीरे-धीरे जो चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो कर्मणा थी वह जन्मना हो गयी। वर्ण जाति में परिणत हो गया। वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति का अपना गुण-कर्म वर्ण का निर्धारक होता था लेकिन जाति-व्यवस्था में वर्ण-निर्धारण व्यक्ति के कुल-गोत्र-जन्म के आधार पर होने लगा। उदाहरणार्थ ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की संतान क्रमशः वैश्य एवं शूद्र कहलाने लगी। इस परिवर्तन के बीच कारण यह था कि ब्राह्मण, जो समाज में शीर्ष पद पर अवस्थित थे, उन्हें अपने संततियों के श्रेणिस्खलन की चिंता सताने लगी। सामाजिक स्तरण की श्रेणिबद्धता में प्रथम स्थान पर बने रहने की लालसा और श्रेणिस्खलन का भय दोनों ही प्रत्यक्षतः या परोक्षतः सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध करने का कारक बना। यद्यपि अपने आदर्शों एवं गुण-कर्म से च्युत होने के कारण ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में निरंतर क्षरण हो रहा था लेकिन वे समाज का अपना श्रेष्ठतम स्थान जिसका वे उचित या अनुचित लाभ उठा रहे थे, को छोड़ना नहीं चाहते थे। समाज में अपना श्रेष्ठतम स्थान सुरक्षित रखने हेतु ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जो अपनी गतिशीलता के लिए प्रसिद्ध थी, को जड़ एवं निश्चित घोषित कर दिया। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों को चारों वर्णों के व्यक्तियों के लिए उनके अपने ही वर्ण तक अपने संततियों को बांध कर रखना अनिवार्य कर दिया गया। फलतः अपने ही वर्ण में शादी-ब्याह तथा बेटी-रोटी का सम्बन्ध रखना अधिदेशात्मक हो गया। कतिपय अप-संस्कृतिमूलक रीति-रिवाज उच्च वर्ग के लोगों (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) को शेष समाज से पृथक् करने का कारक बने। ये रीतियाँ थीं- आकर्षक एवं लावण्यमय जीवन, परम्परा के महत्त्व पर बल, परिवारवाद एवं वंश परम्परा के महत्त्व पर बल, परिवारवाद एवं वंश परम्परा प्रश्रय आदि।[२७] इन समस्त रीतियों की कठोरता से अनुपालित दोनों उच्च वर्ग के व्यक्तियों को अन्य वर्णों से बहुत हद तक पृथक् कर दिया गया। फलतः सामाजिक, सांस्कृतिक सौमनस्यता का क्षरण होने लगा। इसके विपरीत वैश्यों ने मध्यवर्गीय संस्कृति की स्थापना की। इनकी सांस्कृतिक विशेषता वैयक्तिक विकास, सम्मानयुक्त परितोषण, व्यवसायिक सम्पन्नता एवं विकास था।[२८] एक पाश्चात्य सामाजिक चिन्तक जोसफ खली ने इस मध्य वर्ग को दो भागों में विभक्त किया है। वे हैं- उच्च वर्ग (Upper middle class) एवं मध्य वर्ग (Lower middle class)। इनकी विशेषता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं - 'निम्न मध्य वर्ग अपनी प्रतिष्ठा के विषय में अत्यंत ही संवेदनशील होता है। इसकी अभिव्यक्ति सशक्त धार्मिक रुचि एवं गृहस्वामित्व के माध्यम से होती है। उच्च मध्य वर्ग अपनी सफल जीवनवृत्य, पेशा तथा विकास एवं उन्नति में निहित है जिस पर उनके पारिवारिक जीवन की रीति एवं विशिष्टता आधारित है।[२९] निर्बाध सामूहिक कार्य के साथ व्यक्तिगत पहल शक्ति में विश्वास रखता है। भविष्य की योजनाओं एवं तदनुकूल कार्यान्वियन, प्रवीणता एवं व्यावहारिक परिणाम इस वर्ग के लोगों का विशिष्ट लक्षण है।[३०]

मध्य वर्ग की इन विशिष्टताओं की समानता भारतीय चातुर्वर्ण्य व्यवस्थान्तर्गत वैश्य वर्ण की चारित्रिक विशेषताओं

के साथ पायी जाती है। फलतः इस वर्ण के लोगों में विकसित होकर ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण में प्रविष्ट होने में कोई रुचि नहीं थी। ये अपने व्यावसयिक कार्यों में वयस्त रहते थे। इनकी चिन्ता अपने व्यावसायिक जीवन की प्रगति मात्र में ही निहित थी। यद्यपि सामाजिक स्तरण की श्रेणिबद्धता में ये ब्राह्मण एवं क्षत्रिय से नीचे तीसरे स्थान पर थे लेकिन समस्त व्यावहारिक प्रयोजन हेतु ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों ही वैश्य वर्ण पर निर्भर थे। इस कारण भी वैश्य वर्ग अपनी सामाजिक स्थिति को लेकर अत्यंत संतुष्ट थे।

शूद्र वर्ग ब्राह्मणमूलक सामाजिक स्तरण के अन्तिम पायदान पर अवस्थित था। यह निर्धन एवं अल्प सुविधा भोगी वर्ग था। पाशविक आनन्द, यूथाचारिता, हिंसा, सहमति की शादी, वर्तमान जीवितामूलक प्रवृत्ति, अधिकारवादी, सनहशीलता एवं भाग्यवादिता इस वर्ण की मौलिक प्रकृति है।[३१] सगे-सम्बन्धियों के साथ मिल-जुल कर रहना, पति-पत्नी एवं स्वजनों का परिवार बनाकर रहना, स्वैच्छिक संगठनों में सहभागिता का अभाव, अविश्वास, कठोरता, कंजूसी, स्वेच्छाचार एवं अनियंत्रण इस वर्ण का सामान्य लक्षण है।[३२] इन्हीं सारे दुर्गुणों के कारण शूद्र वर्ण की प्रोन्नत्ति एवं विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सका। अपने भविष्य की विकासोन्मुखी योजना बनाने के स्थान पर इनकी रुचि अपने सीमित परिवार एवं निकृष्ट सुखोपभोग में मस्त रहने में थी। इस कारण ही ये अपने सामाजिक उन्नयन, उत्थान का चिन्तन तथा उच्च वर्गों के उत्पीड़न एवं शोषण के विरुद्ध अपना विद्रोह भी प्रकट नहीं किया। यह वर्ग अपना व्यक्तिगत या सामाजिक यथास्थिति बनाए रखने में ही अपना धर्म या कर्तव्य मानते रहे। मज्झिमनिकाय के सामञ्ञलसुत्त में यह स्पष्ट वर्णित है कि शूद्र वर्ण के लोग वर्तमान जगत् एवं इहलौकिक जीवन में अपने कार्य के लौकिक फलोपभोग से ही सुखी संतुष्ट एवं भरपूर आनन्द उठाते थे। ये अपने परिवार, माँ-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्रियों आदि के सुख एवं प्रसन्नता में प्रसन्न एवं मस्त रहते थे।[३३] इनकी यह स्थिति ब्राह्मण वर्ग के लिए सर्वथा सुखकर एवं अनुकूल थी।

काल के परिवर्तन एवं समय के लम्बे अन्तराल के साथ ब्राह्मण वर्ग लालची एवं स्वार्थकेन्द्रित होता चला गया। उनकी अध्यात्मपरक प्रवृत्तियाँ धन के प्रभाव से मंद पड़ने लगी। धर्म के नाम पर वे अनेक अशुभ कार्यों का सम्पादन करने लगे। ब्राह्मण वर्ग जो देश एवं समाज को निष्काम भाव सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करता था वह समाज में कर्मकाण्ड के नाम पर समय-समय पर जादू-टोना का प्रदर्शन कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित कर समाज को छलने एवं ठगने का कार्य कर रहा था। और, इस प्रकार पुरोहित वर्ग अस्तित्व में आया। लेकिन इन्होंने पारम्परिक वर्ग संज्ञा का परित्याग नहीं किया। ये समाज में ब्राह्मण ही कहलाते रहे। इस काल से व्यक्ति की जाति उसके जन्म एवं वंश-परम्परा से ही निर्धारित होती थी, स्व-धर्म, गुण-जाति उसके जन्म एवं वंश-परम्परा से ही निर्धारित होती थी, स्व-धर्म, गुण-कर्म एवं व्यवसाय से नहीं। इस प्रकार ब्राह्मण पुत्र अशिक्षित, उदण्ड, शील-गुणों से स्खलित शूद्रों के गुण कर्मों के पालन करने के उपरांत भी ब्राह्मण की कहलाते थे एवं पूजित होते थे।[३४] ब्राह्मण जाति के व्यक्यिों का प्रभुत्व शेष जातियों पर अनिवार्यतः होता था। ब्राह्मणों का मिथ्या अभिमान एवं अधम जातियों पर उसके द्वारा किए गए शोषण एवं अत्याचार सामाजिक एवं व्यक्तिगत तनाव के कारण थे जो समाज में क्रांति एवं उच्च वर्गों के प्रति सामाजिक विद्रोह की पृष्ठभूमि का निर्माण कर रहे थे। यह वस्तुतः चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में विश्वास करने वाले समाज की अभियोजनात्मक प्रतिक्रिया थी। सामान्य जन को ब्राह्मणों के इस व्यवहार को अपने वैधानिक आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति में बाधक प्रतीत हो रहा था।

बौद्ध धर्म-दर्शन की ओर संक्रमण- उस काल में ब्राह्मणमूलक प्रचलित सामाजिक प्रवृत्तियों एवं व्यवहार के प्रतिकूल एक-दूसरे प्रकार का सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन समानान्तर रूप से चल रहा था। यह श्रमण संस्कृतिमूलक सामाजिक आन्दोलन जो महावीर एवं बुद्ध के नेतृत्व में अन्तरधारा के रूप में प्रवाहित हो रहा था और तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य में अग्रगामी हो उभर कर सामने आ चुका था। कालान्तर में यह सशक्त वेगवत उदीयमान हुआ। बौद्ध धर्म एक विकासशील एवं गत्यात्मक धर्म का पोषक था। इसकी मान्यताएं, विश्वासों एवं की जड़ें सामाजिक वातावरण में गहरे रूप में दृढ़ता से प्रविष्ट एवं स्थापित हो रही थीं। बुद्ध ने जिन सामाजिक मुद्दों को सम्बोधित किया उसका सीधा प्रभाव सामाजिक

क्षेत्र में पड़ रहा था। यह सामान्य जनों को पसंद भी आ रहा था। इसकी व्यापक अभिव्यक्ति पुरानी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत संरचनात्मक अभियोजना स्पष्टतः परिलक्षित हो रही थी। बुद्ध ने प्राचीन काल से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था एवं उसके मूल्यों को उखाड़ फेंकने के लिए एक नूतन सामाजिक विकल्प भी प्रदान किया जो पुरानी व्यवस्था का समुचित रूप से स्थान ग्रहण करने में समर्थ था। क्योंकि यह विकल्प पुरानी व्यवस्था के मूल्यों से पृथक् मूल्यों को अभिव्यक्त कर रहा था। आधुनिक शब्दावली में यह तत्कालीन उत्तर आधुनिक प्रक्रिया थी जो समाज में हाशिए पर खड़े लोगों को केन्द्र में जाने को प्रेरित कर रही थी। इसके बढ़ते प्रभाव एवं नूतन आदर्शों के साथ उभरते हुए प्रतिष्ठानों की स्थापना से केन्द्र में बैठे अभिजात्य वर्ग में अपने स्थान से स्खलित हो हासिए पर आ जाने का भय भी संचारित कर रहा था। यह प्रक्रिया एवं विचार ब्राह्मण-संस्कृतिमूलक समाज के तथा कथित शूद्र वर्ण के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था। तथापि यह विद्रोह की भावना कुछ लोगों एवं अपेक्षाकृत शक्तिविहीन लोगों तक ही सीमित थी। यह भाव उन्हें समाज तथा अपने वर्ग के शेष लोगों से उनके अलगाव का भय भी संचालित कर रहा था। बुद्ध ने इस स्थिति को भांप लिया। उन्होंने समाज के निचल पादान पर खड़े लोग, अधम जाति (शूद्र) एवं हाशिए पर खड़े व्यक्तियों (स्त्रियों) को समाज की मुख्य धारा में लाने का संकल्प लिया। उनकी यह सुदृढ़ मान्यता थी कि ब्राह्मण-संस्कृतिमूलक तत्कालीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था सामाजिक पूर्वाग्रह एवं समाजोन्मुख धार्मिक विकृतियों का प्रतिफलन है। उनके मत में जाति एवं वर्ण निहित पूर्वाग्रह निर्वाण की ओर ले जाने वाले उच्चतर ज्ञान नैतिकता एवं आध्यात्मिक मार्ग की बाधा है।[३५] उन्होंने बिना किसी हंगामे के चुपचाप प्रचलित सामाजिक चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, सामाजिक स्तरण एवं जाति-व्यवस्था पर प्रहार करने की योजना बनायी। तत्कालीन सामाजिक स्तरण के प्रति सुस्पष्ट, मानव मूल्यों के प्रति गहरी संवेदना से युक्त एवं मार्मिक था।[३६] उनके मत में एक जाति विशेष को दूसरी जाति से श्रेष्ठ मानना न केवल मिथ्या है अपितु अशुभ भी है। (पापकम दिट्ठिगतम्)।[३७] उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि सभी वर्ण या जाति समान रूप से शुभ, शुद्ध एवं निर्मल हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं है।[३८] वर्ण या जाति विभाजन के आधार के रूप में गुण-कर्म के स्थान पर जन्म को मानना विप्रगामी है। इस व्यवस्था में संस्कृति निर्धारित महत्त्वकांक्षा और उसकी प्राप्ति तथा समाज संचरित मार्ग के मध्य अन्तराल पाया जाता है। इस कारण ही वे स्तरित समाज में प्रतिष्ठा का आवंटन श्रेष्ठतामूलक प्रतियोगिता के आधार पर करने में विश्वास रखते थे। यह कार्य इस प्रकार सुसंगठित रूप में संचालित होना चाहिए कि प्रत्येक वर्ण या वर्ग के प्रतिष्ठामूलक दायित्व का समर्थन एवं उससे जुड़ने का सकारात्मक पहल सभी वर्गों के लोगों के हृदय में जागरित रहे। इस कारण ही उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित जाति-व्यवस्था एवं उसकी श्रेणिबद्धता की कठोर आलोचना की। यहाँ पर इनका संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

तत्कालीन सामाजिक स्तरण की बुद्ध के द्वारा आलोचना- ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जाति-प्रथाग्रस्त भारतीय समाज में एक गत्यात्मक एवं क्रांतिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। मानव समानता के बौद्ध उद्घोष से ब्राह्मण सामाजिक स्तरण जो जन्मना में परिवर्तित हो चुका था, की जड़े हिलने लगीं। उसका उन्मूलन अवश्यम्भावी लगने लगा। चूँकि धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन उस काल में प्रचलित ब्राह्मण नियामकों के विरुद्ध था, अतः बुद्ध को भी ब्राह्मणों से कठिन चुनौतियाँ मिली और उन्हें भी दुष्कर परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। जैसा कि पूर्व विवेचित है कि विश्वसृजक एवं सर्जक ब्रह्मा के मुख से स्वयं के उत्पन्न मानने वाले ब्राह्मण स्वयं को अन्य वर्णों (ब्रह्मा के निचले अंगों, बांह, जंघा, पैर से उत्पन्न) से श्रेष्ठ मानते थे। ब्राह्मण वर्ण के लोगों का यह मत था कि मात्र वे ही ब्रह्मा की मौलिक संतान हैं। बुद्ध ने उनके इस विश्वास को सिरे से नकार दिया। उनकी यह उद्घोषणा थी कि कोई भी व्यक्ति या जाति न तो उच्च या श्रेष्ठ है और न ही अधम या नीच है और न ही किसी भी वर्ण की कोई दैवी उत्पत्ति है। मानव समाज को चार जातियों में विभाजित एवं श्रेणीबद्ध कर उन्हें मनमामने रूप से श्रेष्ठ या अधम, उच्च या नीच घोषित करना मनुष्यों का ही कार्य है। इस श्रेणीबद्ध सामाजिक स्तरण में व्यक्तियों के बाह्य या आन्तरिक गुणकर्म को ध्यान में नहीं रखा गया है। यह वस्तुतः ब्राह्मण वर्ण के लोगों द्वारा तथा कथित निम्न वर्ग या जातियों के शोषण हेतु बनाया गया भावनात्मक अस्त्र है जिसके आधार पर दीर्घ काल से उनका निर्विरोध शोषण हो रहा है। पालि त्रिपिटक के आन्तरिक स्रोतों के सम्यक् अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने वेदविहित वर्ण की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की प्रखर आलोचना अपने कठोरतम शब्दों में की है। मोटे तौर पर इन्हें

निम्नलिखित तीन शीर्षकों में रख सकते हैं-

क. जीवशास्त्रीय युक्ति पर आधारित आलोचना

ख. समाजशास्त्रीय युक्ति पर आधारित आलोचना

ग. तत्त्वमीमांसीय युक्ति या कर्म सिद्धान्त पर आधारित आलोचना

जीवशास्त्रीय युक्ति पर आधारित आलोचना- यह आलोचना दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय एवं सुत्तनिपात में प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई है। इसमें चातुर्वर्ण्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध तीन पृथक् युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी है। वे निम्नलिखित हैं-

मनुष्य के जन्म पर युक्ति- प्रथमतः बुद्ध ने मानव प्रकृति एवं उसकी जन्म-प्रक्रिया को आधार बनाकर जाति-प्रथा एवं तदनुकूल श्रेणीबद्धता के विरोध में अपनी इस युक्ति का प्रतिपादन किया है। इसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि समस्त मनुष्यों के जन्म की प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है, चाहे वह व्यक्ति ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो। ब्राह्मणों के जन्म-ग्रहण या प्रसूति-क्रिया में ऐसी कोई विष्टिता नहीं है जिसके कारण वे श्रेष्ठ एवं अन्य निकृष्ट माने जाएं। अपनी विशिष्टता के प्रतिपादन के क्रम में उन्हें इस तथ्य का विस्मरण हो जाता है कि किसी भी प्रकार के गर्भधारण एवं परिणामस्वरूप व्यक्ति के जन्म लेने हेतु स्त्री-पुरुष के मध्य यौन सम्बन्ध का होना एक आवश्यक घटना है। बिना रति-क्रिया के सम्पादन के कोई भी स्त्री गर्भधारण नहीं कर सकती है। इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। यही बात ब्राह्मण वर्ग के लोगों पर भी लागू होती है। द्वितीयतः सभी जाति के नवजात शिशु माँ की योनि मार्ग से ही संसार में आते हैं। (बुद्ध काल में आज की भाँति शल्यक्रिया द्वारा प्रसूति कराने का प्रचलन नहीं था)। जब ब्राह्मणों के संतानों के जन्म का कारण स्त्री का गर्भधारण और गर्भधारण का कारण स्त्री-पुरुष के मध्य रतिक्रिया का होना आवश्यक है तो ब्राह्मण लोग किस आधार पर स्वयं को ब्रह्मा के मुख से उद्भूत होने की बात कर सकते हैं।[३९]

शारीरिक संरचना पर आधारित युक्ति- बुद्ध के मत में जीवशास्त्र इस तथ्य का संकेतक है कि सभी मनुष्य एक समान हैं। उनकी शारीरिक संरचना एवं जैविक बनावट की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे से रंग, कद एवं स्वास्थ्य को छोड़कर एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। अगर मानव समाज के अन्तर्गत चारों वर्णों का निर्माण ईश्वर या ब्रह्मा ने किया होता तो उनकी शारीरिक संरचना एक-दूसरे से पृथक् होती। अगर ये विराट पुरुष या ब्रह्मा के शरीर के अलग-अलग भागों से उत्पन्न होते तो उनमें विशिष्ट अंगोपांग के अनुरूप चारों वर्णों के मनुष्यों में अलग-अलग शारीरिक विलक्षणता पायी जाती। साथ ही चारों एक-दूसरे से शारीरिक संरचना की दृष्टि से पूर्णतः पृथक् होते, जैसा कि अन्य जीवों की प्रजातियों में पाया जाता है। पशु, पक्षी, जलचर आदि की शारीरिक संरचना एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् है जैविक एवं शारीरिक संरचनात्मक भिन्नता के कारण ही जीवों की अनेक प्रजातियाँ दृष्टिगत होती हैं। जीवित प्राणियों के प्रजातिगत अन्तर का कारण उनकी संरचनात्मक भिन्नता है। विश्व में जीवों की अनेक प्रजातियाँ यथा कृमी, कीट, पतंग, चौपाया, द्विपद, रेंगनेवाले, जलचर , थलचर, नभचर आदि सभी अपने जैविक एवं शारीरिक संरचनात्मक विशिष्टताओं के कारण एक-दूसरे से पृथक् हैं। इनकी अलग-अलग जैविक एवं शारीरिक बनावट इन्हें एक-दूसरे से प्रजातिगत पृथक्ता प्रदान करती हैं। लेकिन इस प्रकार के चिह्न मानव जाति के सदस्यों में नहीं पाए जाते हैं।[४०] आँख, नाक, केश, सिर, गर्दन, पीठ, पेट, पैर, भौं, छाती, ओठ, पुरुष एवं स्त्री जननांग चारों वर्णों के मनुष्यों में एक प्रकार के होते हैं। यहाँ तक कि इनकी मैथुन-क्रिया एवं प्रजनन एक रीति से सम्पादित होता है।[४१] यद्यपि रंग, कद, मोटा, पतला आदि में ये एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। लेकिन यह कोई महत्त्वपूर्ण भिन्नता नहीं है। इसके कारण एक मनुष्य दूसरे से पृथक् इतना नहीं हो सकता है कि समाज में इसके आधार पर वर्ण या जाति की संरचना कर दी जाए। इस प्रकार बुद्ध की इस युक्ति से यह प्रमाणित होता है कि सभी मनुष्य एक हैं। उनम प्रकारगत भेद नहीं है। अतः जाति संरचना का दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त भ्रान्त एवं मिथ्या है। अतः कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो श्रेष्ठ, अधम या नीच श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जा सकता है। सामाजिक श्रेणीबद्धता एवं जाति विभाजन मानव निर्मित है, ईश्वर निर्मित नहीं।

क. प्रजातियों की वर्णसंकरता पर आधारित युक्ति- बुद्ध के मत में पशु, पक्षी, जलचर आदि के वर्णसंकर प्रजातियों के अलग-अलग नाम होते हैं। यथा- घोड़ा एवं गदहा नर मादा की यौन-क्रियागत संभोग से उत्पन्न पशु न तो गदहा कहलाता है और न ही घोड़ा। उसका इन दो प्रजातियों से पृथक् नामकरण किया गया है- खच्चर। इस प्रकार की बात मानव समाज विजातीय मैथुन-क्रिया से उत्पन्न मनुष्यों में देखने को नहीं मिलती। अगर ब्राह्मण स्त्री से शूद्र सम्भोग करता है या शूद्र स्त्री से ब्राह्मण पुरुष सम्भोग करता है तो उससे उत्पन्न संतान मनुष्य ही कहलाता है। किसी दूसरे नाम से हम उसे सम्बोधित नहीं करते। यही बात चारों वर्णान्तर्गत विजातीय यौन सम्बन्ध पर भी लागू होती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र पुरुष के परस्पर विजातीय सम्बन्ध से उत्पन्न संतति की कोई नयी प्रजाति नहीं होती है। वे मनुष्य ही कहलाते हैं। उसे किसी अन्य प्रजातीय नाम से सम्बोधित नहीं करते। यह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि ब्राह्मणों की कोई दैवी उत्पत्ति नहीं है या उनमें कोई विशिष्टता नहीं है जिसके कारण सामाजिक जातीय श्रेणीबद्धता में उन्हें श्रेष्ठतम स्वीकार किया जा सके।[४२]

ख. समाजशास्त्रीय युक्ति पर आधारित आलोचना- यह युक्ति समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, अपराध एवं दण्ड-व्यवस्था पर आधारित है। बुद्ध का यह विचार है कि प्रत्येक वर्ण या जाति के व्यक्ति एक ही प्रकार से व्यवहार करते हैं तथा समान रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। ब्राह्मणों में वैसा कुछ नहीं है जिसके कारण केवल वे ही ईश्वर की संतान या ब्रह्मा के मानस पुत्र माने जाएं। अगर वे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने वाले एकमात्र संतति होते तो उनमें कोई असाधारण गुण अवश्य होता जो मनुष्य जाति के अन्य वर्णों में नहीं पाया जाता। लेकिन ऐसी बात नहीं है। दैनिक जीवन के कार्य-कलाप, आचार-व्यवहार इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि ब्राह्मण भी अन्य तीन वर्णों के व्यक्यिों के अनुरूप या कार्य सम्पादन में कोई विलक्षणता या असाधारण गुण नहीं पाया जाता है। ब्राह्मण वर्ण के दैवी उत्पत्ति का दावा एवं उनके सामाजिक वर्णगत श्रेष्ठता को खण्डित करने एवं अपने वर्ण समानता सम्बन्धी मत को दृढ़ता प्रदान करने हेतु बुद्ध ने निम्नलिखित चार प्रकार के समाजशास्त्रीय युक्तियों का प्रतिपादन किया है- मनोवैज्ञानिक युक्ति, प्रकृति समरूपता पर आधारित युक्ति, आर्थिक युक्ति और वैधानिक युक्ति।

मनोवैज्ञानिक युक्ति- मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में बुद्ध ने यह स्पष्ट कहा है कि सभी मनुष्यों के मस्तिष्क एक ही रीति से कार्य करते हैं। सभी का मनोविज्ञान एक प्रकार का है। वे ब्राह्मण अस्सलायन से यह प्रश्न करते हैं कि 'ब्राह्मण मानसिक दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं' इस कथन का आधार क्या है? उनके मत में अन्य जातियों की भाँति ब्राह्मण जाति के लोगों का मस्तिष्क भी लोभ, ईर्ष्या, शत्रुता आदि अशुभ विचारों से युक्त है। पुनः मात्र ब्राह्मण वर्ण या जाति के लोग ही मेत्ता भावना पर ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ नहीं है। क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लोग भी मेत्ता भावना या अशुभ कर्मस्थानों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने में समर्थ हैं। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों में ऐसी क्या विलक्षणता है कि वे ब्रह्मा के मानस पुत्र या ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण कहे जाते हैं?[४३]

प्रकृति समरूपता नियम पर आधारित युक्ति- इस युक्ति के माध्यम से बुद्ध ने इस तथ्य को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है कि प्रत्येक मनुष्य समान स्थिति में समान रूप से ही व्यवहार करता ह, क्योंकि सभी व्यक्तियों की प्रकृति में समानता पायी जाती है। प्रकृति में समरूपता है चाहे वह मानव प्रकृति हो या प्राकृतिक परिस्थितियाँ। समान कारण से ही समान कार्य की उत्पत्ति होती है। चाहे वह कारण मनुष्य हो या प्रकृति के अन्य उपादान। इसका कारण यह है कि प्रकृति एक ऐसा तंत्र है जो परिवर्तनशील तत्त्वों एवं तथ्यों के बदलते हुए सम्बन्धों के मध्य भी समरूप व्यवहार करती है। अर्थात् समान कारण से सामान्य कार्य की ही उत्पत्ति होती है। अगर ब्राह्मणों में कोई असाधारण विशिष्टता होती तो वे प्रकृति की प्रक्रिया एवं परिणामों को परिवर्तित करने में समर्थ होते या प्रकृति उनके साथ विशेष व्यवहार करती। लेकिन ऐसी बात नहीं है। ब्राह्मण भी अन्य वर्णों के व्यक्तियों की भाँति सामान्य व्यक्ति हैं। उनमें कोई उत्पत्तिमूलक विशिष्टता नहीं है। इस प्रकार चातुर्वर्ण्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त मिथ्या, निराधार एवं तथ्यों से परे है। बुद्ध अपने व्यंग्योक्ति में अस्सलायन से प्रश्न पूछते हैं कि क्या ब्राह्मण ही गमछा, तेल, साबुन से नदी पर अपने शरीर का मैल छुड़ाने में समर्थ हैं, क्षत्रिय, वैश्य

और शूद्र नहीं? प्रत्युत्तर में अस्सलायन कहते हैं कि ऐसा सभी वर्ण के लोग कर सकते हैं। बुद्ध तत्काल उसी व्यंग्य वाणी में पूछते हैं कि ऐसी अवस्था में ब्राह्मण अपने किस विशेष बल पर स्वयं को ब्राह्मण एवं उनके वास्तविक उत्तराधिकारी मानते हैं।[४४]

वे पुनः अस्सलायन से अपनी जिज्ञासा उसी प्रकार के व्यंग्यमूलक शब्दों में रखते हुए प्रकट करते हैं कि अगर क्षत्रिय कुल, ब्राह्मण कुल या राजन्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति सागवान, साल चन्दन या कमल काष्ठ को अग्नि में प्रज्वलित करें तो दोनों में क्या अन्तर होगा? क्या ब्राह्मण प्रज्वलित अग्नि अधिक प्रखर, प्रभास्वर या तेज होगी और चाण्डाल से या तो अग्नि प्रज्वलित ही नहीं होगी या उसका प्रकाश ब्राह्मण प्रज्वलित लकड़ियों की अपेक्षा मेद, अप्रखर एवं निस्तेज होगी? प्रत्युत्तर में अस्सलायन कहते हैं कि सभी वर्णों द्वारा जलायी गयी लकड़ियों में समान प्रकाश दाहकता, तेज एवं अग्नि कार्य होगा। इस पर पुनः बुद्ध कहते हैं कि ब्राह्मणों के पास ऐसी क्या विशिष्टता है जिसके बल पर वे स्वयं को ब्रह्मा के औरस पुत्र या ब्रह्मामुखोद्भूत ब्रह्मज एवं श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य वर्ग के लोगों को निकृष्ट एवं शीलगुण रहित मानते हैं।[४५] वस्तुतः प्रकृति समान रूप से कार्य करती है। इसमें स्वेच्छाचारिता, सनक या मनमौजीपन नहीं है। अतः प्रकृति से उत्पन्न सभी वर्णों के मनुष्य एक समान हैं, न कोई श्रेष्ठ है और न कोई अधम।

आर्थिक युक्ति– इस युक्ति के माध्यम से बुद्ध तत्कालीन समाज को विशेषकर ब्राह्मण वर्ग को यह संदेश देना चाहते हैं कि आर्थिक दृष्टि से सभी वर्णों के मनुष्य एक समान हैं। न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा है। न कोई श्रेष्ठ है न कोई अधम। किसी व्यक्ति में कोई अन्तर है। समाज में किसी को उच्च या किसी को उच्च या किसी को अधम बनाने में धन की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वे कहते हैं कि किसी जाति या वर्ण का व्यक्ति अगर उसके पास पर्याप्त धन है तो वह दूसरे यहाँ तक कि अपने से तथाकथित श्रेष्ठ जाति या वर्ण के व्यक्तियों से सेवा ले सकता है। एक शूद्र वर्ण का व्यक्ति भी ब्राह्मण जाति के निर्धन व्यक्ति को अपना सेवक या मित्र बना सकता है, और उससे क्षुद्रकार्य भी करवा सकता है।[४६] इस युक्ति से यह निगमित किया जा सकता है कि सभी वर्ण समान हैं। कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के आधार पर दूसरे वर्ण के व्यक्ति से श्रेष्ठ या हीन नहीं माना जा सकता है। वर्णों की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा ब्राह्मणों का ब्रह्मज होने की बात मिथ्या, आधार रहित एवं हास्यास्पद है। यह कथन ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न है[४७] या मैंने चारों वर्णों की सृष्टि उनके गुण–कर्म के आधार पर किया[४८] अर्थहीन कथन है। इन कथनों में किसी भी प्रकार का सत्य या तथ्य का पूर्णतः अभाव है।[४९]

वैधानिक युक्ति– यह युक्ति किसी भी देश के संविधान के अंतर्गत अपराध एवं दण्ड–व्यवस्था के विधि सम्मत प्रावधान एवं नियमों पर आधारित है। जाति या वर्ण की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर कड़ा प्रहार करते हुए बुद्ध उपहासपूर्वक अम्बट्ठ माणवक से प्रश्न पूछते हैं कि क्या ब्राह्मण वर्ग अपने उत्कृष्ट जन्म (ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न) के कारण देश के कानून या वैधानिक नियमों से ऊपर या परे हैं? वे पुनः कहते हैं कि क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र अगर कोई गम्भीर अपराध करते हैं तो उन्हें अपने अपराध के अनुपात में सजा मिलती है। अपराधानुकूल विहित दण्ड की व्यवस्थान्तर्गत उनका सर मुड़वाकर, चेहरे पर कालिख पोतकर उन्हें निर्वासित भी कर दिया जाता है। अगर ब्राह्मण भी उसी प्रकार का अपराध करता है तो उसे भी उसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था है। ऐसी अवस्था में हम किस आधार पर कह सकते हैं कि ब्राह्मण सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने के कारण श्रेष्ठ है और शेष वर्ण या जाति सामाजिक श्रेणीबद्धता में उनसे नीचे या हीन है?[५०]

तत्त्वमीमांसीय युक्ति– प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध विचारों की दार्शनिक पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। यह बौद्ध कर्म–सिद्धान्त या नियम का मेरुदण्ड है। बुद्ध के मत में इस कर्म–सिद्धान्त के समक्ष सभी प्राणी समस्त जातियों के मनुष्य समान हैं और यह समस्त जातियों, वर्णों, धर्म के प्रत्येक व्यक्ति को समान संरक्षण भी प्रदान करता है। तथाकथित रूप से इसी जीवन में दैवी दण्ड या पुरस्कार का निर्धारण व्यक्ति के शुभ–अशुभ, कुशल–अकुशल कर्मों के आधार पर होता है न कि

उसकी जाति या व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर उसी प्रकार अपने कर्मफलानुकूल जनित संस्कार के आधार पर व्यक्ति को मृत्यु के उपरांत स्वर्ग या नर्क की प्राप्ति होती है, न कि उसके वर्ण या जाति के आधार पर।[५१] मधुरसुत्त में प्रत्येक जाति के व्यक्तियों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बुद्ध कहते हैं कि 'अगर ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण का व्यक्ति हिंसा, चोरी या व्यभिचार करता है ... मृत्योपरान्त उसका नर्क में जाना निश्चित है। यही व्यवस्था वैश्य या शूद्र जाति के लोगों पर भी लागू होती है। उसी प्रकार अगर ब्राह्मण या क्षत्रिय वर्ण या जाति के व्यक्ति कुशल एवं शुभ कार्य का सम्पादन करते हैं, वह हिंसा, चोरी, यौनाचार, मिथ्या भाषण, से विरत रहते हैं तो उन्हें मृत्यु के उपरान्त निश्चित रूप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यही बात शेष जातियों, वैश्य एवं शूद्र पर लागू होती है। जब कर्म-सिद्धान्त के समक्ष सभी प्राणी बिना जाति, धर्म, प्रजाति आदि के भेदभाव के समान हैं तो ब्राह्मणों को श्रेष्ठ एवं अन्य जातियों को निम्न, निकृष्ट, हीन या अधम किस आधार पर हम कह सकते हैं।[५२] कर्म-सिद्धान्त पर आधारित इस तत्त्वमीमांसीय युक्ति से यह स्पष्टतः निगमित होता है अगर ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उद्भूत ब्रह्मज होते तो उन पर कर्म-सिद्धान्त के नियम निस्प्रभावी होते। चूँकि कर्म के नियम का कोई अपवाद नहीं है, अतः जाति या वर्ण की उत्पत्ति का कोई दैवी सिद्धान्त नहीं है और ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न नहीं है। वे भी अन्य जातियों के मनुष्यों की भाँति मानव संतति है। इस प्रकार इस युक्ति से सभी जातियों की समानता सिद्ध होती है। द्वितीयतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण के व्यक्ति अगर पंचप्रधानीय अंग (साधनायोग के अंगों)[५४] का सम्यक् अनुपालन करता है तो वे सभी समान रूप से निर्वाण की पुष्टि प्राप्ति करने में समर्थ हैं।[५५] इस बात को लेकर मतान्तर या भेद नहीं है। आगे इस प्रश्न पर कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र चारों वर्णों में से कोई भी पाँचों प्रधान अंग से युक्त होने के साथ सम्यक् प्रधान से भी युक्त हो तो उनमें कोई वैशिष्ट्य या भेद माना जाएगा या नहीं? प्रत्युत्तर में बुद्ध पुनः अग्नि की उपमा देकर कहते हैं कि 'मैं इनमें से विमुक्ति से विमुक्ति प्राप्त करने पर भी कोई भेद या विशिष्टता नहीं मानता जैसे एक सूखे हुए शालकाष्ठ से अग्नि प्रज्वलित करता है, दूसरा शालकाष्ठ से तीसरा आम्रकाष्ठ से और चौथा गूलर की लकड़ी से अग्नि प्रज्वलित करता है। उन चारों काष्ठों से उत्पन्न अग्नि का गुण एक ही प्रकार का होता है। ठीक उसी प्रकार कोई वर्ण के व्यक्ति के उद्योग से जो तेज उत्पन्न होता है उसमें कोई अन्तर नहीं होता।[५६] निष्कर्षतः वे कहते हैं कि कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को लेकर वर्ण एवं जाति का प्रश्न नहीं उठ सकता है। वर्ण या जाति का पूर्वाग्रह निर्वाण प्राप्ति के मार्ग की बाधा है। यह व्यक्ति या साधक के बन्धन की स्थिति का सूचक भी है। दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त से यह स्पष्ट है कि निर्वाण पथ की विद्या एवं आचरण की सम्पदा जातीय पूर्वाग्रह रूपी बन्धन से मुक्त है। जातिवाद पूर्वाग्रह से युक्त व्यक्ति विद्याचरण रूपी निर्वाणगामी पथ पर चलने के लिए योग्य नहीं है। उनका यह मत है कि वर्ण या जातिगत पूर्वाग्रहों के परित्याग के उपरान्त ही निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है।[५७]

इस प्रकार उपरोक्त युक्तियों के आधार पर बुद्ध ने सामाजिक स्तरण की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा उससे जुड़ी सामाजिक बुराईयों एवं तत्कालीन समाज में व्याप्त जाति-प्रथा की भी कठोर आलोचना की। इसके उपरांत ब्राह्मणों की वह भ्रान्त धारण एवं पूर्वाग्रह जो भारतीय समाज में कुल, गोत्र एवं जातिगत शुद्धता के नाम पर प्रविष्ट हो चुकी थी, की कठोरतम शब्दों में निदान एवं आलोचना किया। इनमें एक भ्रान्त धारणा थी कि कुल एवं जाति की शुद्धता की। इन्होंने इस खोखली अवधारणा की कलई खोलने का सार्थक प्रयास भी किया। इस अवधारणा पर ही तत्कालीन मिथ्याभिमानी पण्डितों का अहंकार एवं पूर्वाग्रह आधारित था। साथ ही यह सामाजिक विषमता एवं उथल-पुथल का प्रबल कारण भी था। यहाँ पर कुल, गोत्र एवं जातीय शुद्धता की भ्रांत धारणा खोखले पूर्वाग्रह की बौद्ध आलोच्रना की जिसकी संक्षिप्त विवेचना अपेक्षित है।

जैसा कि पूर्व विवेचित है कि ब्राह्मणों को अपनी सामाजिक श्रेष्ठता का पूर्वाग्रह एवं मिथ्याभिमान था, साथ ही इस स्थान से स्खलन का भय भी उनमें व्याप्त था। फलतः येन-केन-प्रकारेण वे अपनी यथास्थिति बनाए रखना चाहते थे। इस कारण ही उनलोगों ने कुल, गोत्र एवं जातिगत शुद्धता रूपी काल्पनिक अवधारणा का सृजन किया जिसकी यह पूर्व मान्यता है कि ब्राह्मण अगर दूसरे वर्ण या जाति में शादी-ब्याह का सम्बन्ध बनाते हैं तो वर्ण-संकरता एवं रक्त अशुद्ध होने

का भय है। इस कारण अन्तर्जातीय विवाह का विरोध कर अपने ही वर्ण में बेटी-रोटी का सम्बन्ध बनाने पर ब्राह्मणों ने बल दिया। इससे उनके शीर्ष पद की सामाजिक श्रेष्ठता बनी रहे और उनके सामाजिक श्रेणी स्खलन का भय नहीं हो। इस कारण ही उन्होंने यह प्रचारित किया कि अन्तर्जातीय विवाह से उनकी सदियों पुरानी शुद्धता नष्ट हो जाएगी, वर्णसंकरता बढ़ेगी जो किसी भी देश एवं समाज के लिए घातक है। इसे बचा रखने का एक मात्र उपाय है कि ब्राह्मण कुल एवं जाति के लोग अपने संततियों की शादी ब्राह्मण कुल में ही करें। क्योंकि अन्तर्जातीय रक्त-सम्बन्ध विनाशकारी परिणामोत्पादक है।

रक्तशुद्धता विषयक मिथ्या पूर्वाग्रह एवं अहंकारमूलक अवधारणा की निरर्थकता एवं अन्तर्जातीय विवाह की विनाशकारी परिणामों की भ्रामक मान्यता के यथार्थ को जनसामान्य के समक्ष स्पष्ट करने हेतु बुद्ध काले वर्ण के देवल ऋषि की कहानी का उल्लेख करते हैं जिन्होंने रक्त-शुद्धता एवं उस पर आधारित वर्ण, जाति, कुल एवं आध्यात्मिक शुद्धता की अवधारणा का तर्कसंगत खण्डन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः असित देवल को यह बात ज्ञात हुई कि सात ब्राह्मण ऋषियों के मन में ब्राह्मणों की जन्मना सामाजिक श्रेणीबद्ध स्तरीकरण में श्रेष्ठतम होना एवं कुल, जाति तथा रक्त-शुद्धता का अशुभ एवं पापमय विचार (पापकम, दिट्ठिगतम) है तो उन्हें शोक हुआ और दुःखयुक्त मानसिक आघात पहुँचा।[५८] उन्होंने उन सात ब्राह्मण ऋषियों के पास जाकर कुल, जाति एवं रक्त-शुद्धता के विषय में सम्बन्धित प्रश्न पूछे जिनके विषय में उन्हें मिथ्याभिमान था। उन्होंने अशोभनीय रूप से अभद्र शब्दों में उनसे रक्त-शुद्धता विषयक प्रश्न किए- 'क्या आपको निश्चित रूप से विश्वास है कि ब्राह्मण को उत्पन्न करनेवाली ब्राह्मणी ब्राह्मण पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध बना कर ही गर्भवती हुई थी ... उस ब्राह्मण माता की सात पीढ़ियों तक ब्राह्मणियाँ ब्राह्मण के साथ सहवास कर पुत्र उत्पन्न कर रही थीं, अन्य से नहीं। उन सातों ब्राह्मण ऋषियों ने इस पर अपनी अनभिज्ञता प्रकट की।[५९] देवल ऋषि ने उन सातों ब्राह्मण ऋषियों से पुनः अपनी जिज्ञासा प्रकट की, 'क्या आपको यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि इनका पिता कहलाने वाला ब्राह्मण ही इनकी ब्राह्मणी माता के पास सहवास हेतु गया था, अब्राह्मणी के पास नहीं?' इस पर भी उन सातों ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। ऋषि देवल ने पुनः प्रश्न किया, "क्या आप जानते हैं कि इनके पिता, पितामह आदि सात पीढ़ियों तक के पूर्व पुरुषों ने ब्राह्मणी से ही यौन-क्रिया स्थापित कर संतानोत्पत्ति की है, अब्राह्मणी से नहीं? इस पर भी उन सातों का उत्तर निषेधात्मक ही था।[६०] तदुपरान्त देवल ऋषि ने गर्भधारण के विषय में प्रश्न पूछा। इस पर उन सात ब्राह्मण ऋषियों ने बताया कि "माता-पिता के सहवास से जब माता ऋतुमती होती है और तब वीर्य (गंधब्ब) उपस्थित होता है और तीनों का समन्वय होता है तभी माता गर्भवती होती है। तब उन्होंने पूछा कि क्या आप जानते हैं कि यह उत्पादक तत्त्व (वीर्य) किसका था, ब्राह्मण का, क्षत्रिय का, वैश्य का या शूद्र का? क्या आप निश्चित रूप से जानते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में से आप किसके पुत्र हैं।[६१] इस पर ऋषि देवल ने व्यंग्य से कहा कि तब तो आप निश्चित रूप से यह भी नहीं कह सकते हैं कि आप किस जाति के हैं? ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं या शूद्र हैं। इस प्रश्न पर भी सभी निरूत्तर हो गए।[६२] इस विवेचन के आधार पर बुद्ध ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि रक्त या जातिशुद्धता पर विचार वस्तुतः अज्ञान पर आधारित एक भ्रामक पूर्वाग्रह मात्र है। वस्तुतः वर्णसंकरता की संभावना को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। सच्चाई तो यह है कि कोई व्यक्ति किसी माता विशेष का पुत्र है यह सत्य है, लेकिन वह किस पुरुष विशेष की सन्तान है यह उसका विश्वास है। इस प्रकार बुद्ध ने ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता एवं उसके जाति, कुल, गोत्र एवं रक्तशुद्धता की भ्रान्त धारणा की सच्चाई सबों के समक्ष प्रस्तुत किया एवं उसे अप्रमाणित एवं खण्डित भी किया। इसके विपरीत यह वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित तथ्य भी है कि सम्पूर्ण मानव जाति में एक जैविक एकता पायी जाती है, जो इस तथ्य का संकेतक है कि जातिभेद एवं सामाजिक श्रेणीबद्धता एक भ्रान्त एवं आधारहीन अवधारणा है। इससे अधिक जातिगत सामाजिक विभाजन कुछ नहीं है।

उपरोक्त विवेचनाधार पर यह कहा जा सकता है बुद्ध का एकमात्र अभियान सामाजिक स्तरण जनित पूर्वाग्रह, रूढ़ियाँ एवं श्रेणीबद्ध जाति-प्रथा जिसमें मानव असमानता का भाव अपनी पराकाष्ठा पर था, के विरुद्ध था। ये कुरीतियाँ तत्कालीन समाज के प्रायः प्रत्येक व्यक्तियों में नसों में विष की भाँति व्याप्त हो चुका था के उन्मूलनार्थ उनका खण्डन किया, निन्दा

की और जन-जन में इन सामाजिक समस्याओं के प्रति नूतन एवं सकारात्मक दृष्टि जगाने का कार्य किया। Living Buddhism के लेखक के शब्दों में- 'It started to open a fresh breath of extreme positivity in the social psyche and engrained faith entered into the heart of people that they are not incorrigible degraded lot un amendable to correction, but still had the inkling of glimmer to alight for Wuthering heights of Arast.[६३]

इस प्रकार बुद्ध ने यह संदेश दिया कि प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह समाज के सबसे नीचे वर्ण या वर्ग का क्यों न हो, के अन्दर मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति 'अर्हत्' बनने की क्षमता विद्यमान है। इस कारण ही उन्होंने न मात्र मनुष्यों को उसके अपमान जनक एवं दमनात्मक दासता से मुक्त कराया जिसे वे सदियों से झेल रहे थे, अपितु उन्होंने यह संदेश भी दिया मनुष्यों को दूसरी जाति के व्यक्ति को हीन दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। इस क्रम में यह स्पष्ट कर देना अपेक्षित लगता है कि उन्होंने यह अभियान रूढ़िग्रस्त ब्राह्मण संस्कृतिमूलक समाज से आरम्भ किया जो समय के अन्तराल में अनेक प्रकार की बुराईयों से प्रदूषित हो चुका था। बुद्ध का एकमात्र उद्देश्य था इस व्यवस्था को उसके पुराने एवं शुद्ध रूप में लाने की जिसमें वर्ण-व्यवस्था का एक दिन भिन्न प्रारूप एवं प्रक्रिया थी। जिसमें सामाजिक गतिशीलता थी। जहाँ व्यक्ति का वर्ण निर्धारण उसके गुण कर्म एवं व्यवसाय के आधार पर होता था, न कि जन्म के आधार पर। इस कारण ही उन्होंने स्पष्ट कहा है कि नवजात शिशु न तो शूद्र (वसल) होता है और न ही ब्राह्मण होता है। कर्म के आधार पर ही कोई वसल या ब्राह्मण होता है।[६४] उनके मत में श्रेणीबद्धता का कोई स्थान नहीं है। न तो कोई जाति उच्च है या अधम है और न उसका व्यवसायगत कार्य निम्न या ऊँचा है। प्रत्येक वर्ण का कार्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार उन्होंने श्रम का सम्मान एवं गौरव की अवधारणा के क्रियात्मक रूप को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। यही उनका वास्तविक अवदान था।

बुद्ध को सामान्यतया एक आध्यात्मिक व्यक्तिवत सम्मान प्राप्त हुआ। उनके प्रति श्रद्धा उनके पारमार्थिक व्यक्तित्व के रूप में प्रकट कर गई। लेकिन इससे उनका इहलौकिक महत्त्व कम नहीं हो जाता है। बुद्ध ने यह अनुभूत किया कि भारतीय सामाजिक स्तरीकरण (चातुर्वर्ण्य व्यवस्था) दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। उन्हें इसकी भी अवगति थी कि यह सिद्धान्तगत व्यवस्था प्रदूषित होकर चार वर्णों के मध्य श्रेणीबद्धता को जन्म देकर मनुष्यों के मध्य असमानता का भाव भी पैदा कर रही है। इस श्रेणीबद्धता जनित असमानता के आधार पर ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों, उच्च वर्ण, के द्वारा शूद्रों (अधम जाति) के शोषण एवं दमन की परम्परा को जन्म देकर परिचालित रखे हुए है। बुद्ध ने मानव असमानता की अवधारणा पर आधारित सामाजिक व्यवस्थान्तर्गत भेदभावपरक सामाजिक श्रेणीबद्धता का पूर्णतः विध्वंस कर मानव समानता पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था के विकासार्थ कार्य किए। इस नूतन व्यवस्था के अन्तर्गत मेधा, सद्गुण, गुण-कर्म एवं विचारों की शुद्धता को अधिक महत्त्व दिया गया। इस प्रकार वे अपने समय के महान क्रांतिकारी एवं समाज-सुधारक सिद्ध हुए।

इस क्रम में इस तथ्य का उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मण संस्कृति पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण के रोगों के लक्षणों को समझा एवं उसके निषेधात्मक पक्षों को उजागर किया। लेकिन उन्होंने इस सामाजिक रोग के कारण के उन्मूलन एवं निराकरण के रूप में किसी नयी सामाजिक व्यवस्था का प्रस्ताव नहीं किया, अपितु उन्होंने उसी पुरानी व्यवस्था को पटरी पर लाने का, उसका परिमार्जन एवं प्रच्छालन करके उसे सुधारने का सुझाव दिया। मेरी दृष्टि में ऐसे रूढ़िवादी समाज, जहाँ धनाढ्य एवं निर्धन, उच्च एवं अधम तथा सुविधा सम्पन्न एवं सुविधा विपन्न लोग रह रहे थे, को स्थिति में महत्त्वपूर्ण सकारात्मक विकासोन्मुख परिवर्तन की विफलता तत्कालीन समाज की दिशाहीनता या दिशा निर्देश के अभाव का द्योतक है? बुद्ध के इस दिशा में सुधार के प्रस्ताव अपने आप में निवारणात्मक न होकर लाक्षणिक थे। तथापि, बुद्ध द्वारा तत्कालीन समाज के रोगों के लक्षण की भी पहचान अपने आप में एक क्रांतिकारी कदम था। यह उनके समानता शुद्धता एवं सत्यनिष्ठा रूपी आदर्शों पर आधारित था। 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय' का उनके लोकप्रिय उद्घोष में ही उनके कल्याणकारी योजनाओं का मर्म छिपा था। 'बहुजन हिताय' एवं लोकानुकम्पाय'

शब्द अपने आप में अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं एवं अर्थपूर्ण हैं। यहाँ शुभ सुख, हित एवं प्रसन्नता का अवबोध एक दिशायुक्त नए सामाजिक स्तरण का संकेतक था जो तत्कालीन चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था से अलग हटकर पृथक् आधारों पर एवं पृथक् आदर्शों पर आधारित था।

सन्दर्भ:

१. धम्मपद, २०/४

२. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, pp. 228-289*

३. *Ibid*

४. ऋग्वेद, १०/९०/१२; महाभारत (शांतिपर्व), १२२/४-५, मनुस्मृति, १/३१; वायुपुराण, १/१२/६३-६४; मत्स्यपुराण, ४/२८, ब्रह्माण्डपुराण, १/५/१०८

५. गीता, ४/१३

६. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 292.*

७. गीता, १८/४२

८. गनुस्मृति, १२/१०-३४

९. गीता १८/४२

१०. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 295*

११. *Ibid*

१२. शतपथब्राह्मण

१३. गीता, १८/४३

१४. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 295*

१५. गीता, १८/४४

१६. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 289*

१७. गीता १८/४४

१८. गीता १८/४५

१९. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, pp.292-293*

२०. *Ibid*

२१. गीता, १८/४७

२२. वही, ३/३५

२३. वही, १८/४७-४८

२४. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 295*

२५. *Barber Bernard, 'Social stratification: A Comparative Analysis of Structure and Process, New York Harcourt, 1957, pp.14-16*

२६. मनुस्मृति

२७. *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p. 295*

२८. *Ibid*

२९. *Joseph Khali, The American class Structure, New York, Rinehart, 1956, pp. 200-201*

३०. *Ibid*

३१ *International Encyclopedia of Social Science, Vol. 15, Editor David L. Sills, The Macmillan Company, USA, p 336*

३२. *Ibid*

३३. मज्झिमनिकाय, १/५२

३४. पूजित विप्र शील गुण हीना, रामचरितमानस

३५. दीघनिकाय पालि (हिन्दी अनुवाद सहित), प्रधान सम्पा. एवं अनुवादक द्वारिकादास सास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९६, पृ. ९९-१००

३६. अविनाश कुमार श्रीवास्तव ()

३७. *Majjim Nikaya Vol. II (ed. Chalmers), pp. 155-156*

मज्झिमनिकाय, *2/54*

३८. *Ibid, 89*

३९. वही, ३/१४८; दीघनिकाय, २/८२

४०. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त, ७-१४, सम्पादक-अनुवादक : भिक्षु धर्म रक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७७, पृ. १६२०१६३

४१. वही, १५-१८, पृ. १६२-१६५

४२. मज्झिमनिकाय, ३/१५३-१५४

४३. वही, २/१५०-१५१

४४. वही, २/१५१

४५. वही, २/१५२-१५३

४६. वही, मधुरसुत्त, २/८४-८५

४७. ऋग्वेद

४८. गीता, ४/१३

४९. मज्झिमनिकाय, २/८४-८५

५०. दीघनिकाय, १/९७-९९, मज्झिमनिकाय, २/८८

५१. मज्झिमनिकाय, अस्सलायनसुत्त, २२/१४९-१५०

५२. मज्झिमनिकाय, मधुरसुत्त, ८६-८७

५३. वही, ८७-८८

५४. वही, कण्णकस्थलसुत्त, २/१२८

५५. मज्झिमनिकाय, २२/१२९

५६. वही, २/१२९-१३०

५७. दीघनिकायम १/९९-१००

५८. मज्झिमनिकाय, २/१५४-१५५

५९. वही, २/१५६

६०. वही, २.१५६-५७

६१. वही, २/१५७-१५८

६२. एवं सन्ते भो जानाय - के तुम होथा, ति
एवं सन्ते, भो, न मयं जानाम - के मयं हमि' ति।

६३. *Living Buddhism, Avinash Kumar Shrivastava, Impression Publication, Patna, 2011, 105*

६४. सुत्तनिपात, वसलसुत्त, २१, पृ. ३४

***

जैन धर्म और सामाजिक चेतना

रज्जन कुमार

जिन प्रतिपादित जैन धर्म में सामाजिक चेतना के अनेक सूत्र निहित हैं, भले ही वे वैयक्तिक एवं एकाकी जीवन पर अधिक बल देते प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि जैन दर्शन निवृत्तिमूलक विचारों से परिपूर्ण वैयक्तिक मुक्ति का समर्थक है और एकाकी जीवन की साधना को इस हेतु फलदायी मानता है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक चेतना को जागृत करने हेतु हुआ है। जैन तीर्थंकरों का जीवन इस बात के साक्षी रहे हैं सभी ने वैयक्तिक साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग केवल 'स्व' कल्याण के लिए न करके 'पर' कल्याण के लिए ही किया।

जैनधर्म, तीर्थंकर एवं सामाजिक चेतना

जैन धर्म में तीर्थंकर धर्म का सूचक, प्रवर्तक एवं उपदेशक माना जाता है। यद्यपि तीर्थंकर व्यक्तिगत साधना के बल पर चारित्र की चरमावस्था को प्राप्त करता है, लेकिन लोककल्याण एवं लोकहित की कामना को लेकर धर्म-प्रवचन करता है, ताकि उन धर्माचरणों पर चलकर व्यक्ति अपने चारित्र का निर्माण करे। क्योंकि मानव का चरित्र ही उसका समुद्धारक है, अन्य कोई नहीं। तीर्थंकर धर्मप्रवर्तक और धर्मप्रवाचक अवश्य हैं, परन्तु वे किसी के त्राता नहीं हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कृत कर्मों के फलभोग के बिना मुक्ति नहीं होती।[१] प्रत्येक व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा स्वयं ही पूरा करना है। हाँ, तीर्थंकर स्वयं निष्क्रिय होकर साधक को प्रेरणा देते हैं कि तू सक्रिय हो, तेरा उत्थान या पतन मेरे हाथ में नहीं है, तेरे ही हाथ में निहित है।[२] सामाजिक चेतना का इससे बड़ा सूत्र और क्या हो सकता है?

जैनधर्म में सामाजिक चेतना के सन्दर्भ को चिह्नित करते हुए सूत्रकृतांग की टीका में कहा गया है कि तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, पूजा एवं सत्कार के लिए नहीं।[३] जैनागमो में यद्यपि तीर्थंकर को लोकहित करने वाला कहा गया है फिर भी उनका उद्देश्य सज्जनों का संरक्षण एवं दुष्टों का विनाश नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर एक तरफ जैनधर्म के अहिंसा का परमादर्श खंडित होगा तो दूसरी तरफ निवृत्तिमार्गी साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। अतः यहाँ यह अवश्य विचार किया जा सकता है कि फिर किस उद्देश्य से तीर्थंकर धर्म-प्रवर्तन एवं धर्म-प्रवचन करते हैं। वस्तुतः तीर्थंकर सन्मार्ग के उद्देश्य से धर्म-प्रवर्तन करते हैं, न कि दुष्टों का विनाश करके साधकों की रक्षा करते हैं। तीर्थंकर धर्म-संस्थापक होते हुए भी सामाजिक कल्याण के भागीदार नहीं हैं। वे सामाजिक घटनाओं के मूकदर्शक हैं। यही है सामाजिक चेतना का सूत्र जिस पर चलकर साधक आध्यात्मिक एवं सामाजिक जीवन की कुँजी प्राप्त करता है।

जैनधर्म, अध्यात्म और सामाजिक चेतना

अध्यात्म और धर्म दिव्यपथ का बोध कराते हैं जिनमें सामाजिक चेतना के असंख्य संदर्भ सन्निहित हैं। जैनमत में अध्यात्म के तीन रूप माने गए हैं- सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र। ज्ञान और दर्शन का समन्वित रूप दर्शन है। चारित्र धर्म है। दर्शन और धर्म- दोनों जब अध्यात्म से अविच्छिन्न रहते हैं तब सत्य को अभिव्यक्ति मिलती है और वर्तमान जीवन में प्रकाश की रश्मियाँ फूटती हैं। जब दर्शन और धर्म अध्यात्म से विच्छिन्न हो जाता है तब सत्य

आवृत हो जाता है और वर्तमान अंधकार से भर जाता है? धर्म और अध्यात्म का यह चिन्तन काल से प्रभावित हुआ और इसका स्वरूप पारलौकिक बन गया। फलतः यह वर्तमान से कटकर भविष्य से जुड़ गया और विभिन्न प्रकार की मान्यताओं से परिपूर्ण हो गया।

धर्म का यह परिवर्तन जनमानस में इस तरह की धारणाएँ स्थिर कर गया- धर्म से परलोक सुधरता है, स्वर्ग मिलता है, मोक्ष मिलता है। इस तरह की मान्यता ने जनसामान्य को धर्म की वर्तमान कालिक उपलब्धियों से वंचित कर भविष्य के सुनहले स्वप्नों के जगत् में प्रतिष्ठित कर दिया। इसके विपरीत जैनधर्म में इस मत का प्रतिपादन हुआ- धर्म का फल वर्तमान काल में होता है। जिस क्षण में उसका आचरण किया जाता है, उसी क्षण में कर्म का निरोध हो जाता है। जिसके कर्म का क्षय होता है, उसका चित्त निर्मल, वृत्तियाँ शांत, इन्द्रियाँ प्रशांत और व्यवहार पवित्र हो जाते हैं। उसके मन में स्वर्ग का प्रलोभन एवं नर्क का भय जागृत नहीं होता है। वह स्वर्ग, मोक्ष, नर्क जैसी अपरोक्षानुभूति से स्वयं को मुक्त कर धर्म से प्राप्त होने वाले परोक्षानुभूति (शांति) को ज्यादा श्रेष्ठ समझता है।[४]

समाज में एक चिन्तन बहुप्रतिष्ठापित है- मृत्यु के बाद मोक्ष मिलता है। यह समुचित नहीं है। कारण, जो वर्तमान क्षण में नहीं मिलता, वह मृत्यु के बाद किस प्रकार संभव हो सकता है। यदि वर्तमान क्षण में मोक्ष की अनुभूति नहीं तो मृत्यु के बाद भी यह संभव नहीं। इसी जीवन में इसी क्षण में मोक्ष हो सकता है। जैन तीर्थंकर महावीर द्वारा व्याख्यायित यह एक नवीन चिंतन है जिसमें सामाजिक चेतना के अभिनव सिद्धान्त निहित हैं। महावीर ने कहा था- जो व्यक्ति जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य और ज्ञान के मद को निरस्त कर देता है, काम-वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है, कायिक, वाचिक और मानसिक विकृतियों से शून्य हो जाता है, आकांक्षा से मुक्ति पा लेता है, उसे इसी जन्म में और इसी क्षण में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[५]

जैनधर्म, समत्व और सामाजिक चेतना

समत्व जीव का विशिष्ट गुण है जिसमें सामाजिक चेतना के असंख्य रहस्य छिपे हुए हैं। यह मनुष्य की स्थिर दशा का सूचक है और द्वैत का विनाशक। राग-द्वेष, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, जन्म-मरण, मान-अपमान, इस तरह की कई परिस्थितियों से मनुष्य का सामना जीवनपर्यंत होता रहता है। इनसे बचने हेतु नानाविध उपाय भी मनुष्य करता रहता है, लेकिन वह इनसे मुक्त नहीं हो पाता है, अपितु वह ऐसी ही अनेक विपरीत परिस्थितियों में और अधिक फँसता जाता है। जैनधर्म मनुष्य को इनसे मुक्त रहने का मार्ग बताते हुए कहता है-[६] स्व एवं पर में राग-द्वेष से रहित रहना, मान-अपमान में समान भाव रखना, राग-द्वेषादि के कारण आत्मा में विकार उत्पन्न न होने देना, त्रस-स्थावर सभी प्राणियों में समान भाव रखकर जीवन यापन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह की जीवनदृष्टि मनुष्य को मायाचार से मुक्त रखती है। उसमें नवीन किन्तु घनात्मक सामाजिक चेतना का भाव जागृत होता है।

जैनधर्म यह कहता है कि समता ही मनुष्य का धर्म है।[७] उसे किसी भी परिस्थिति में अपने इस धर्म से विमुख नहीं होना चाहिए। विपरीत परिस्थितियाँ समाज में उत्पन्न होगी हीं, क्योंकि समाज एक नहीं अनेक से मिलकर बनता है। यह अनेक कई प्रकार से भिन्न एवं अलग हो सकता है। अतः मनुष्य को अपनी सामाजिकता को छोड़े बिना जैन प्रतिपादित इस विचारधारा का आत्मज्ञान करते हुए सामाजिक चेतना की भावना जागृत किए रहना चाहिए- मन के अनुकूल वस्तु को प्राप्त कर हर्ष से उछलना और वियोग होने पर खिन्न होना समझदारी नहीं है। संसार की क्षणिक वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष न करना ही बुद्धिमानी है।[८]

जैनधर्म, परस्परता और सामाजिक चेतना

पारस्परिक सहयोग सामाजिक चेतना का प्रमुख एवं केन्द्रीय तत्त्व है जिसका उल्लेख जैनधर्म में व्यापक रूप से हुआ है। जैनधर्म परस्परता का उल्लेख करते हुए कहता है-[९] परस्पर एक-दूसरे का सहयोग करना ही जीव का स्वरूप है।

संसारी जीव की बहुत सारी आवश्यकताएं एवं अपेक्षाएं होती हैं। वह इन सबको अकेले पूर्ण नहीं कर सकता। अतः इस हेतु उसे अन्य की सहायता की अपेक्षा होती है। इसी कारण सभी संसारी प्राणियों में परस्पर सहयोग की प्राकृतिक भावनाएं निहित होती हैं जो कई रूपों में प्रदर्शित होती हैं अथवा अपना साकार रूप लेती है- जैसे सेवा, सुषुश्रा, दान आदि। ये सभी तत्त्व अनिवार्य रूप से सामाजिक चेतना को जागृत करते हैं।

प्राणी शरीर और प्राण का धारक होता है। यही प्राण शरीरधारी का जीवन है। जीवन सभी को प्रिय है। इसकी रक्षा सभी जीवदारी करते हैं। सुख सभी चाहता है, दुःख कोई नहीं चाहता।[१०] सुख की यही कांक्षा, जब लालसा, तृष्णा, इच्छा, आश और मूर्च्छा का रूप धारण कर लेती है तब मनुष्य के मन में पनपने वाली परस्परता की भावना का लोप हो जाता है।[११] सहयोग का स्थान असहयोग ले लेता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक चेतना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। मनुष्य को इस विषम स्थिति से बचाने के लिए और सामाजिक चेतना की भावना को जगाए रखने के लिए जैनधर्म सदैव प्रयत्नशील रहा है।

जैनागमों में पारस्परिक सहयोग की भावना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि एक-दूसरे का काम चलाने के लिए वस्तुओं का परस्पर आदान-प्रदान करते थे। यात्रियों की तृषा शांत करने के लिए जगह-जगह पर प्याऊ बनाया करते थे। सभा तथा अन्य सामूहिक कार्यक्रमों के लिए अलग से सामुदायिक केन्द्र बनाए गए थे।[१२] वस्तुतः ये सारे सन्दर्भ सामाजिक चेतना को विभिन्न रूप से जागृत करने के जैन प्रयासों का उल्लेख मात्र है।

जैनधर्म, पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक चेतना

पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्द्धन सामाजिक चेतना का महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिस पर जैनों का विचार मननीय है। पर्यावरण जिसका शाब्दिक अर्थ होता है- चारों ओर का आवरण/घेरा/मंडल आदि। पर्यावरण अपने शाब्दिक अर्थ के अनुरूप मात्र समीपस्थ वातावरण/बाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं है, बल्कि कुछ और भी है। जैनों के अनुसार पर्यावरण उपरोक्त के साथ-साथ मन, विचार, व्यवहार तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण को भी समाहित करता है।

पर्यावरण असंतुलन ही पर्यावरण संरक्षण का जनक है। पर्यावरण असंतुलन का कारण जैनों के अनुसार मानव-आचार व्यवहार है। मानव इच्छाएं अनंत हैं। इन अनंत इच्छाओं का कारण मनुष्य की भोगाकांक्षा है। भोगाकांक्षा की प्रबलता ही मानव आचार-व्यवहार को प्रदूषित करती है जो अंततः पर्यावरण के संतुलन एवं प्रदूषण का कारण बन जाती है जिनका परिणाम न केवल स्वयं मनुष्य के लिए वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए दुःखदायी होता है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु जैनों ने इच्छा-नियंत्रण के साथ-साथ आहार-नियंत्रण एवं जीविकोपार्जन हेतु कुछ सीमाओं का निर्धारण किया है। क्योंकि आहार और जीविकोपार्जन हेतु ही मनुष्य पर्यावरण के घटकों का विनाश करता है और संपोष्य विकास के सिद्धांत पर कुठाराघात करता है। प्रकृति के पंचतत्त्वों में से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति को जीव की श्रेणी में रखकर तथा इनके घात-प्रतिघात को हिंसा-अहिंसा से सम्बद्ध करके जैनों ने सामाजिक चेतना की जो अलख जगाई है, वह पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए अतुलनीय एवं अमोघ है। दिशापरिमाण व्रत, भोगोपभोगपरिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण, देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास व्रत आदि कुछ ऐसे जैन व्रतविधान हैं जो सामाजिक चेतना को अक्षुण्ण रखने के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्द्धन में अभूतपूर्व योगदान करते हैं। कर्मादान के रूप में निषिद्ध अर्थ अर्जन का संदेश जैनों का पर्यावरण संरक्षण एवं सामाजिक चेतना के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। इस प्रकार पर्यावरण संरक्षण की दिशा में जैनों का योगदान असंख्य है परंतु अगर हम इसे सूत्र वाक्य में प्रस्तुत करना चाहे तो कह सकते हैं- [१३] संयम में प्रवृत्ति एवं असंयम से निवृत्ति ही पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्द्धन के साथ-साथ सामाजिक चेतना को जीवंत रखने का जैन संदेश हो सकता है।

जैनधर्म, आत्महित-लोकहित और सामाजिक चेतना

आत्महित और लोकहित सामाजिक चेतना से जुड़ा विपरीत अर्थ का वाचक संप्रत्यय है। आत्महित व्यक्तिगत हित की बात करता है जहाँ सामाजिक हित का प्रश्न गौण रहता है वहीं लोकहित में समाजहित का भाव निहित रहता है तथा व्यक्तिगत हित की उपेक्षा की जाती है। इस सम्बन्ध में जैनों का समन्वय का सिद्धान्त बड़ा ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यद्यपि जैन साधना आत्महित का समर्थन करती अवश्य प्रतीत होती है, लेकिन परहित की उपेक्षा भी नहीं करती है। कहा भी गया है कि आत्महित करो और यताशक्य लोकहित भी करो। परन्तु जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुंठन पर ही लोकहित होता है। वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।[१४] जैनों का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि उससे ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र-पतन अथवा आध्यात्मिक-कुंठन से फलित होता है, कदापि स्वीकार नहीं है।

जैनों का आत्महित सम्बन्धी यह चिंतन सामाजिक चेतना के विपरीत अवश्य लगता है, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि जैन मतानुसार वैयक्तिक उपलब्धियों को लोककल्याण के लिए तो समर्पित किया जा सकता है और यह किया भी जाना चाहिए। कारण सभी प्रकार के भौतिक ऐश्वर्य हमें इस संसार से प्राप्त हुए हैं और सभी संसार की सम्पत्ति है और संसार के लिए भोग्य योग्य है। अतः उन सबका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए। परन्तु आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाना समुचित नहीं है। जैनों का इस सम्बन्ध में कहना है 'परार्थ' के लिए 'स्वार्थ' का विसर्जन तो किया जा सकता है, आत्मार्थ का नहीं। जैन तीर्थंकर इस बात को सिद्ध करते हैं। प्रथम दृष्ट्या सभी तीर्थंकर तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के पूर्व आत्मगुणों के रक्षण हेतु पुरुषार्थ करते हैं। वे सभी अपने इस पराक्रम को तब तक गतिशील बनाए रखते हैं जब तक कि वे आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त न कर लें। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् वे लोकहित में सन्नद्ध हो जाते हैं।[१५] वस्तुतः जैनों के आत्महित में ही लोकहित की भावना एवं विचारणा सन्निहित है। यही भावना सामाजिक चेतना को जीवंतता प्रदान करती है।

इसी आत्महित की साधना को लोकमंगलकारी मानते हुए आचार्य समन्तभद्र[१६] ने तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित संघ को सर्वोत्तम संघ कहा है जहाँ सभी को विकास करने का समान अवसर प्रदान किया जाता था। जिस संघ अथवा समाज में सबको विकास करने का समान अवसर प्रदान किया जाता हो वहाँ आत्महित या आत्मसाधना की बात हो अथवा लोकहित या लोकसाधना की बात हो सभी का एक ही मंतव्य होता है सबका लोकहित अथवा लोकमंगल। ऐसा सिद्धान्त या विचार या साधना या भावना सदैव सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत रहती है जिसकी प्रासंगिकता काल एवं क्षेत्र से कभी बाधित नहीं हो सकती।

सन्दर्भः

१. *कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। उत्तराध्ययन, ४/३*

२. *पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि। आचारांगसूत्र, १/३/३*

३. *सूत्रकृतांगटीका, १/६/४*

४. *स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्त परोक्षमेव मोक्ष सुखम् ।*
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न च व्ययप्राप्तम् । प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति), २३७

५. *निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।*
विनिवृत्तपराशनामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ।। वही, २३८

६. *जं च समो अप्पानं परं य मइय सव्वमहिलासु।*
अप्पियपियमाणादिसु तु समणो सो य सामाइयं ।। मूलाराधना, ५२१ एवं ५२२, ५२६

७. *समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए, आचारांगसूत्र, १/८/३*

८. *समो रागद्वेषयोरपान्तरालवर्ती मध्यस्थ, आवश्यकसूत्र (मलयवृत्ति, ८५४), विशेष द्रष्टव्य-जैन आचार : सिद्धान्त और*

स्वरूप, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ. ६६६

९. परस्परोपग्रहो जीवानाम् । तत्त्वार्थसूत्र, ५/

१०. सव्वे पाणा पिआउआ, सुहसाया दुक्ख पडिकूला ... आचारांगसूत्र, १/२/३

११. प्रश्नव्याकरण, पृ. ७६१

१२. आचारांगसूत्र, १/८/२

१३. एगओ विरउं कुज्ञ, एगओ पवत्तणं। उत्तराध्ययनसूत्र, ३२/२

१४. आत्मसाधना संग्रह (सम्पा.- मोतीलाल माण्डोत) पृ. ४४१

१५. योगबिन्दु, २८५, २८८

१६. सर्वान्तिवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपैक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।। युक्त्यानुशासनम्, ६१

***

राजनीतिक अवमूल्यन एवं गाँधीवादी दृष्टि

श्यामल किशोर

I

वर्तमान समय में न केवल भारत वरन् सम्पूर्ण विश्व के संदर्भ में मानव जीवन व समाज के समस्त क्षेत्रों यथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि में महात्मा गाँधी के विचारों व चिंतन का सर्वाधिक महत्त्व है। गाँधीजी के वैचारिक चिन्तन की यह महत्त्वपूर्ण विशिष्टता है कि उन्होंने उपरोक्त क्षेत्रों का पृथक्-पृथक् रूप में वर्गीकरण नहीं किया, वरन् सभी क्षेत्रों को परस्पर सम्बन्ध्ति व एक-दूसरे के पूरक के रूप में व्याख्यायित एवं विश्लेषित किया है। गाँधी भारत के महान् विचारक, नेता एवं समाज सुधारक ही नहीं, अपितु राजनीतिक चिन्तन को मोड़ देने वाले सक्रिय राजनीतिज्ञ एवं विचारशील चिन्तक भी थे। गाँधी ने सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा एवं भारत छोड़ो आन्दोलन जैसे मौलिक आन्दोलनों का कुशल नेतृत्व किया। साथ ही उन्होंने 'राजनीति के आध्यात्मीकरण' द्वारा राजनीति के प्रमुख निर्णायक तत्त्वों में सत्य, अहिंसा, शांति, लोकनीति की प्राथमिकता, साधनों की पवित्रता आदि के द्वारा मूल्ययुक्त राजनीति को स्थापित करने का आह्वान किया। प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक अवमूल्यन की समस्या के संदर्भ में गाँधीवादी दृष्टि को रेखांकित करना है। इस आलेख में मैं विशेष रूप से राजनीतिक अवमूल्यन का प्रतिफल एवं उसके कारणों पर विचार करते हुए गाँधीवादी दृष्टि से राजनीतिक सहभागिता की शर्तें, नेतृत्व वर्ग के लिए सुझाव तथा राजनीतिक अवमूल्यन के निराकरण पर विचार करूँगा।

II

वर्तमान राजनीतिक स्थिति का आकलन विचार का महत्त्वपूर्ण पक्ष बन गया है। आज की राजनीति में 'नीति' व 'मूल्य' के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। राजनीति राष्ट्रों का जीवन नहीं, बल्कि आज यह आततायियों की क्रीड़ा स्थली बन गयी है।[१] राजनीति के इस अवमूल्यन के दौर में यह एक भयानक प्रवंचना बनकर रह गयी है। धूर्तता और प्रवंचना पर आधारित राजनीति वास्तविकता में अधिकाधिक धूर्तता एवं प्रवंचना फैलाती है। वर्तमान राजनीति स्वार्थलोलुप व्यक्तियों की राजनीति है, जो उन्हीं के द्वारा और उन्हीं के लिए चलायी जाती है। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था तो जनता का, जनता के लिए तथा जनता द्वारा शासित व्यवस्था है। वर्तमान राजनीति इससे कहीं विमुख हो चुकी है जिसमें सिद्धान्त का नहीं, अवसरवादिता का स्थान सर्वोपरि है। ऐसी राजनीति से मूल्ययुक्त व्यक्ति का अलग होना स्वाभाविक है। इसलिए आज राजनीति को नकारात्मक स्वरूप में देखा जाता है। वस्तुतः आदर्श राजनीति भावात्मक रूप में मंगलकारी एवं नैतिक कार्य-कलाप है। प्रो. सोरोकिन ने भी कहा है कि राजनीति का भविष्य मानवता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है।'[२] इसलिए राजनीति की समस्या मूलतः एक नैतिक समस्या[३] या मूल्यों की समस्या है जिसे आर्नल्ड ब्रेचट ने वैज्ञानिक मूल्यात्मक सापेक्षवाद[४] कहा है। इसलिए वर्तमान राजनीति का आध्यात्मीकरण आवश्यक है। आदर्श से आदर्श राजनैतिक व्यवस्था एवं संविधान तभी कारगर हो सकते हैं, जब उसको चलाने वाले लोग नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न होंगे।[५] इसी को 'सम्यक् राजनीति' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। यह सच है कि गाँधीजी को किसी राजनीतिशास्त्री के रूप में नहीं माना जाता है। किन्तु उनके लम्बे राजनीतिक अनुभव के आधर पर इस समस्या के समाधन हेतु उनके विचारों से

लाभ उठाया जा सकता है।

प्रायः सभी राजनीतिक चिंतकों को अपने समकालीन सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति में उत्पन्न विसंगतियों, त्रुटियों तथा गिरावटों का सामना करना पड़ा है, जिससे निबटने के लिए प्रायः राजनीतिज्ञों ने अपने स्तर से सुझाव दिये हैं। चाहे वे आदर्शवादी हों या व्यवहारवादी, उनके सुझावों को नकारा नहीं जा सकता है। सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य आदि सभी को इस स्थिति का सामना करना पड़ा है। मार्क्स, लेनिन, माओ जैसे वामपंथी विचारकों ने भी इसी संदर्भ में अपने सुझाव दिये हैं, योजनायें प्रस्तुत की हैं तथा सिद्धांतों का निरूपण किया है।

III

राजनीतिक अवमूल्यन के दौर में यह विचार का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष होगा कि इस अवमूल्यन का कारण क्या है? यदि इस पर गंभीरता से विचार किया जाए तो इसका मूल कारण वर्तमान शिक्षा-पद्धत्ति ही है। आज मूल्यपरक शिक्षा हाशिए पर है। इसलिए विभिन्न क्षेत्रों में अवमूल्यन का होना स्वाभाविक है, राजनीति भी इससे अछूती नहीं है। 'जो करें कमाई, हो उसी की पढ़ाई', आज का शिक्षा-दर्शन है। नैतिक व मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता सभी ने, सरकार ने भी महसूस की है और इसके लिए कई समितियाँ एवं आयोग भी गठित हुए हैं, जिनकी अनुशंसाएँ अभी तक क्रियान्वित नहीं हो सकी। शिक्षा का दर्शन, शिक्षा का ध्येय, आत्मिक व आध्यात्मिक ज्ञान सभी बेमानी-सी हो गयी है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक अवमूल्यन का होना स्वाभाविक है।

वस्तुतः आज राजनीति को अपरिहार्य बतलाया जाता है, गाँधीजी भी इस विचार से पूर्णतः सहमत हैं कि राजनीति, राज्य, शक्ति और सत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। उन्होंने राज्य को 'एक आवश्यक बुराई'[६] की संज्ञा दी है। हाँ, राजनीति, शक्ति और राज्य की बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया जा सकता है, उसके दुरुपयोग को रोका जा सकता है तथा इसके लिए प्रतिरोध के विभिन्न साधन अपनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार कैटलीन, लासवेल[७] आदि राजनीति को शक्ति पर आधारित मानव व्यवहार बतलाते हैं, उसी संदर्भ में गाँधीजी ने भी राजनीति को समझा है। किन्तु शक्ति के संदर्भ में उनका मौलिक दृष्टिकोण यह है कि : Political power is not an end but one of the means of enabling people to better their condition in every department of lift.[8]

गाँधीजी ने शक्ति को केवल दमन का ही स्रोत नहीं माना है, बल्कि उनके अनुसार इसके माध्यम से समाज में अच्छाई भी लायी जा सकती है। इसी प्रकार आज के राजनीतिज्ञों के व्यवहार के कारण राजनीति के प्रति नकारात्मक भाव का भी उन्होंने खंडन किया है। उनकी मान्यता है कि जब राजनीति अपरिहार्य है, तो समाज के अच्छे लोगों को इसमें आगे बढ़ कर हिस्सा लेना चाहिए। आज के राजनीतिक अवमूल्यन का महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि समाज के अच्छे लोग इससे अपने को अलग रख रहे हैं, परिणाम स्वरूप बुरे लोगों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। आज समाज के सभी अच्छे लोग अगर गाँधीजी के विचार पर ध्यान दें तो उनकी राजनीतिक सहभागिता बढ़ सकती है और राजनीति स्वच्छ तथा सभी के लिए हितकर हो सकती है। गाँधीजी के अनुसार, I felt compelled to come into the political field because I found that I could not do even social work without touching publics. Further, I felt that political work must be looked upon in terms of social and moral progress.[९]

राजनीतिक अवमूल्यन का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि राजनैतिक शक्ति को राज्य के संदर्भ में देखा जाता है, सामाजिक व्यवहार के संदर्भ में नहीं देखा जाता है। कोई व्यक्ति छुआछूत के विरुद्ध, दलितोत्थान, नारी सशक्तीकरण, साक्षरता, पर्यावरण, जन स्वास्थ्य आदि के क्षेत्र में कार्य करता है, तो उसके महत्त्व को मान्यता दी जानी चाहिए। उनके व्यवहार भी सामाजिक व्यवहार हैं तथा कल्याणकारी संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। वैसे लोग भी अपने व्यवहार से दूसरे को सकारात्मक रूप में प्रभावित करते हैं। ऐसे लोगों की सेवा को समाज स्वीकार करे तथा इनके नेतृत्व को 'रोल मॉडल' के रूप में अपनाये ऐसा करने से शक्ति का नकारात्मक स्वरूप कमजोर होगा तथा राजनीतिक अवमूल्यन में अपेक्षित सुधार

हो पायेगा। ऐसी गाँधीवादी मान्यता को अपनाये जाने की आवश्यकता है।

'नेतृत्व संकट' भी राजनीतिक अवमूल्यन का एक प्रमुख कारण है, क्योंकि आज का नेतृत्व वर्ग लोगों के बीच अनुकरणीय व्यवहार प्रस्तुत नहीं कर रहा है, जबकि स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधीजी के विचारों से प्रभावित होकर हर स्तर पर गाँधी जैसे अनुकरणीय नेता मौजूद थे। इसका भी समाधान गाँधी दर्शन में देखा जाना चाहिए।

IV

राजनीतिक अवमूल्यन के मूल में कुशल राजनीतिक नेतृत्व का अभाव है। राजनीतिक नेतृत्व के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान देना होगा, जो गाँधी दर्शन पर आधारित है- प्रथम, गाँधी जी के विचारों के अनुसार नेतृत्व वर्ग को जनता के प्रति सकारात्मक- यथा, कल्याणकारी, सहयोगात्मक, शांतिपूर्ण भावना रखनी चाहिए। द्वितीय, नेतृत्व वर्ग को वंशवाद में नहीं कार्यक्रम तथा सिद्धांतनिष्ठा में विश्वास करना चाहिए। तृतीय, नेतृत्व का विकास नीचे से ऊपर की ओर होना चाहिए अर्थात नेतृत्व थोपा हुआ नहीं होना चाहिए। चतुर्थ, नेतृत्व को कथनी और करनी में साम्यता रखनी चाहिए। पंचम, नेतृत्व को अधिकार; शक्ति से अधिक कर्तव्य पर बल देना चाहिए। षष्ठ, नेतृत्व के व्यक्तित्व में चारित्रिक और नैतिक गुणों का समावेश होना चाहिए। सप्तम् गाँधी जी ने नेतृत्व के लिए सेवक की भूमिका के निर्वाह का सुझाव दिया है। उनके अनुसार कानून बनाने वाले नेताओं के स्थान पर लोकसेवकों की आवश्यकता है, जो लोगों को शिक्षित कर सकें, जिससे वे स्वायत्तता का अनुभव कर सके। उन्होंने कांग्रेस पार्टी को भंग कर 'लोक सेवक संघ' बनाने का सुझाव दिया था, जो सरकार पर आवश्यकतानुसार नियंत्रण रख सके, गाँधी जी का यह सुझाव नहीं माना गया।

गाँधी जी ने अच्छी राज्य-व्यवस्था (good policy) के लिए निम्न बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो मूल्ययुक्त राजनीति का आधार बन सकता है-

प्रथम, सरकार को विकेन्द्रीकरण, सरलीकरण और जनकल्याण के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। द्वितीय, ऐसी नागरिक शिक्षा जिससे नागरिक शक्तियों के दुरुपयोग को समझ सके तथा उनमें उसके प्रतिरोध की क्षमता विकसित हो। तृतीय, व्यक्ति अनावश्यक रूप से सरकार पर निर्भर न हो तथा उनम स्वशासन की क्षमता विकसित हो। चतुर्थ, लोगों में राजनीतिक सक्रियता बढ़े तथा आवश्यकता पड़ने पर सरकार के कार्य का विकल्प प्रस्तुत कर सके। पंचम, राजनीतिक गतिविधियों में अहिंसा का स्थान हो, षष्ठ, पवित्र साधन के द्वारा सत्ता की प्राप्ति हो। गाँधीजी की मान्यता है कि अच्छे साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी उतना ही उत्तम होना चाहिए। सभी प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं को वे मूलतः नैतिक समस्या मानते थे। अतः गाँधी के अनुसार इनका समाधान तभी हो सकता है जब व्यक्ति पवित्र आचरण एवं साधन की शुद्धता पर ध्यान दे।

V

लोकतंत्र में राजनीतिक सहभागिता की अनिवार्यता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। गाँधी जी स्वयं स्वतंत्रता संग्राम में राजनीतिक सहभागिता को व्यापक आधार प्रदान किया था, किन्तु आजादी के बाद धीरे-धीरे अच्छे लोग राजनीति से अलग हो रहे हैं, सही राजनीतिक चेतना के अभाव में राजनीतिक दल जनता की भावनाओं को उभारकर अपना उल्लू सीधा करने में सफल हो रहे हैं। परिणाम स्वरूप राजनीतिक सहभागिता के स्थान पर राजनीतिक उदासीनता का संकट उत्पन्न हो गया है। इस संदर्भ में रोनाल्ड का विचार है कि, राजनीतिक सहभागिता के संदर्भ में गाँधीजी ने नई व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसमें व्यक्ति कई क्षेत्रों से सक्रिय भूमिका निभा सकता है।'[१०] उन्होंने सहभागिता को तीन संदर्भों में रखा है- प्रथम, सामान्य रूप में लोगों को इस रूप में जागरुक करना कि उनके दैनिक जीवन में लगातार राजनीति का हस्तक्षेप होता रहता है। अतः वे इससे अलग नहीं रह सकते हैं। बल्कि इसमें सहभागी होकर अपना, अपने समुदाय का तथा राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं। अर्थात् लोगों में राजनीति के प्रति सकारात्मक सोच की भावना विकसित करना।

द्वितीय, गाँधीजी की मान्यता है कि राजनीतिक रूप से व्यक्ति तभी सक्रिय हो सकता है, जब उसमें सेवा का भाव हो अर्थात् वह कहीं न कहीं अपनी सेवा देता हो। सेवा का अर्थ कल्याणकारी कार्य से है, केवल शक्ति या सत्ता के पद की प्राप्ति से नहीं। तृतीय, सहभागिता का तीसरा स्वरूप नेतृत्व के लिए है, जो अपना जीवन अपने समुदाय के हित में कार्य करने के लिए समर्पित करते हों, तथा जो सेवा के माध्यम से अपनी राजनीति को अभिव्यक्त करते हों।

शक्ति के संदर्भ में गाँधीजी की मान्यता है कि राज्य की शक्ति से कम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति की अपनी शक्ति नहीं है। अत: उनके अनुसार शक्ति के दृष्टिकोण से शक्ति के संस्थागत आधार की व्याख्या के साथ-साथ शक्ति के दुरुपयोग के प्रतिरोध की व्याख्या भी प्रमुखता के साथ किया जाना चाहिए। उनके अनुसार ऐसी कोई आदर्श व्यवस्था कभी नहीं आयेगी जब शक्ति लुप्त हो जायेगी या राज्य स्वत: समाप्त हो जायेगा। वे इस बात को पूरी तरह समझते थे कि अच्छी से अच्छी राजनीतिक व्यवस्था में भी शक्ति का दुरुपयोग किये जाने की संभावना रहेगी इसलिए शक्ति के ऐसे दुरुपयोग के विरुद्ध प्रतिरोध करना होगा।[११] गाँधीजी राज्य के स्थान पर व्यक्ति को सशक्त करने के पक्षधर थे। उनके अनुसार व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता है, इसलिए वह स्वतंत्रता का अधिकार रखता है तथा वह स्वयं अन्तिम रूप से शक्ति का स्रोत है। यही कारण है कि शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध गाँधी दर्शन में व्यक्ति को प्रतिरोध का नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है। वे शक्ति की प्रकृति, उसके आयाम, उसके खतरे तथा उसके दुरुपयोग से बचने के उपाय के संदर्भ में लोगों को शिक्षित करने के पक्षधर हैं। उन्होंने लिखा था, Swaraj is to be attained by educating the masses to a sense of their capacity to regulate and control authority.[१२]

गाँधीजी ने लोकतंत्र में बहुमत की अवधरणा को हर परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करने से इनकार किया है। इनके अनुसार अन्तरात्मा की आवाज के संदर्भ में बहुमत का कानून कोई अर्थ नहीं रखता है।[१३] इसी प्रकार उन्होंने उल्लेख किया है कि योजनाओं के क्रियान्वयन में अल्पमत को बहुमत का निर्णय स्वीकार करना होगा, किन्तु जहाँ सिद्धांत का प्रश्न अन्तर्निहित हो अल्पमत विपक्ष के रूप में खड़ा रहेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर व्यवहार में इसकी अभिव्यक्ति करेगा।[१४] उन्होंने अपनी मूल कृति 'हिन्द स्वराज्य' में संसदीय लोकतंत्र की कटु आलोचना की है। उनके अनुसार संसदीय लोकतंत्र में दलगत राजनीति कार्य करती है जिसमें जनता के प्रतिनिधि होते हैं परन्तु वास्तव में उनकी कर्तव्यनिष्ठा या तो अपने परिवार या अपनी पार्टी तक ही सीमित रहती है। जनता के कल्याण के लिये वे कुछ भी नहीं कर पाते। अत: उनकी स्थिति उस वेश्या और बांझ महिला की स्थिति है जो क्रमश: न तो किसी के प्रति वफादार होती है और न जिसमें सृजन की क्षमता ही होती है। गाँधीजी के मत में यह पद्धत्ति हिंसापूर्ण है। प्रजातंत्र की आड़ में राजतंत्र और तानाशाही को पोषण मिलता है। अत: प्रजातंत्र उपयोगी राज्य पद्धत्ति नहीं है।

आज की प्रजातांत्रिक व्यवस्था वंशानुगत राजनीति, लोकतांत्रिक प्रक्रिया में प्रदूषण, भ्रष्टाचार, शक्ति का केन्द्रीकरण, अधिकार की प्रधानता, कथनी और करनी में अंतर, साधन-साध्य की पवित्रता को नकारना, नैतिकता की उपेक्षा आदि अनेक संदर्भों में देखा जा सकता है। हम जोर देकर कह सकते हैं, कि इन सभी संदर्भों में गाँधी जी के दृष्टिकोण की जानकारी रहने के बावजूद जानबूझकर उसकी उपेक्षा की जाती रही है जिसका परिणाम हमारे सामने है। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि भारत के संदर्भ में किसी भी समकालीन नेताओं की तुलना में गाँधी जी के विचार ज्यादा व्यावहारिक तथा परिपक्व थे। उनका दृष्टिकोण भारतीयता पर आधारित था, जबकि यहाँ की राजनीति पश्चिमीकृत हो गई है। क्योंकि आज की राजनीति कर्तव्य से अधिक अधिकार केन्द्रित है। गाँधीजी की मान्यता थी कि कर्तव्य पालन ही अधिकार का मूल स्रोत है।'[१५]

गाँधीजी राजनीतिक अवमूल्यन के समाधन हेतु कोई नई और मौलिक बात न कहकर, भारतीय परम्परा व धर्मग्रंथों में प्रस्तुत विचार के संदर्भ ही प्रस्तुत किए हैं। यही कारण है कि उनके विचारों को 'Modernity in Tradition' की संज्ञा दी जाती है। बहुत संभव है कि अगर उनके विचारों के अनुसार चलने का प्रयास किया जाये तो राजनीति के दल-दल से,

अवमूल्यन से, विलगाव से, नकारात्मक सोच से निकलने में सहायता मिल सकती है। राजनीति सकारात्मक तथा सही दिशा की ओर अग्रसर हो सकती है, जिसमें अच्छे लोगों की सहभागिता होगी, शक्तियों का सदुपयोग होगा तथा नीतिगत प्रतिरोध को मान्यता दी जायेगी। ऐसी राजनीति पर आधारित कोई भी व्यवस्था निश्चित रूप से मजबूत, संगठित, एकीकृत तथा विकसित होगी। उस व्यवस्था में हर व्यक्ति राज्य से तथा राज्य हर व्यक्ति से भावनात्मक रूप से जुड़ा होगा।

VI

अतः हमारी दृष्टि में मूल्ययुक्त राजनीति ही राजनीति का आदर्श है। राजनीति में राज्य की नीति या राजकाज की नैतिकता अन्तर्निहित है। लेकिन वर्तमान राजनीति इसके विपरीत है। वर्तमान राजनीति मानव सेवा, अहिंसा के स्थान पर आत्मलाभ व हिंसा पर आधारित है। इसलिए वर्तमान राजनीतिक अवमूल्यन के दौर में गाँधी जी का विचार ही निर्विवाद रूप से मार्गदर्शक हो सकता है। कृपलानी क अनुसार, गाँधी जी का विचार था कि यदि हम राजनीतिक क्रियाकलापों को नियंत्रित करने के लिए किसी स्थाई नैतिक मूल्य की स्थापना नहीं करेंगे तो मानवता के सम्पूर्ण विनाश का ही खतरा उत्पन्न हो सकता है।[१६] गाँधीजी के जीवन का महान् उद्देश्य राजनीति में नैतिकता को प्रतिष्ठित कर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन लाना था सचमुच यदि हम राजनीति से 'नीति' को दूर कर देंगे, तो फिर हम अवसरवाद तथा सुविधावाद के दुष्चक्र से नहीं निकल पायेंगे। वास्तविक राजनीति वस्तुतः भ्रातृत्व का विस्तार है, शोषित ओर संत्रस्त व्यक्तियों की सेवा है। इसलिए गाँधी जी राजनीति के माध्यम से आजीवन विश्वमानवता के लिए संघर्षरत रहे। मानवता के लिए अदम्य प्रेम और सम्पूर्ण जीवन को समग्रता में देखने के कारण ही गाँधीजी को एक आदर्श राजनीतिज्ञ के रूप में देखा जाता है। कृपलानी ने ठीक ही कहा है कि 'गाँधी जी ने राजनीति को सत्य और अहिंसा पर आधरित करके, साधनों की पवित्रता द्वारा अध्यात्मीकरण करके, अन्याय एवं निरंकुशता का सत्याग्रह द्वारा सामना करके, रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में परस्पर सहयोग एवं समन्वय लाकर एवं न्याय और समानता पर आधारित समाज की नींव डालकर विश्वशांति के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।'[१७] वस्तुतः गाँधी जी के विचारों के अनुकूल कथनी और करनी के अन्तर को मिटा दिया जाए, अधिकार के स्थान पर कर्तव्य का पालन हो, मूल्यों एवं मर्यादाओं की सीमाओं में हम रहना सीख लें, साध्य-साधन की पवित्रता पर ध्यान दें तो सही राजनीतिक सहभागिता एवं कुशल राजनीतिक नेतृत्व उत्पन्न हो सकता है तथा प्रायः सभी राजनीतिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो सकती हैं। इसलिए गाँधीजी की राजनीतिक शैली का अनुसरण ही राजनीतिक अवमूल्यन को निरस्त कर सकता है।

संदर्भः

१. *डॉ. रामजी सिंह, गाँधी दर्शन मीमांसा, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, १९८६, पृ. १६०*

२. *पी. सोरोकिन, रिकन्सट्रक्शन ऑफ हयूमैनिटी, भारतीय विद्या भवन, १९६०, पृ. १७*

३. *जे. बन्द्योपाध्याय, सोशल ऐण्ड पालिटिकल थॉट ऑफ गाँधी, एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, १९६९, पृ. ४*

४. *ए. ब्रेचट, पोपुलेशन थ्योरी, द फाउन्डेशन ऑफ ट्वेनटियेथ सेन्चुरी थॉट, प्रिसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९, पृ. ११*

५. *जय प्रकाश नारायण, ए प्ली फार रिकन्सट्रक्शन ऑफ इंडियन पॉलिसी, पृ. ३*

६. *गाँधीजी ने राज्य को शोषण का यंत्र माना है, किन्तु मार्क्स की तरह वे राज्य को समाप्त होने की बात नहीं करते। एक आवश्यक बुराई के रूप में उसे बने रहने की बात करते हैं। हिन्द स्वराज में उनका यह संदेश स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।*

७. *वर्तमान समय में राजनीति को शक्ति पर आधारित व्यवहार के रूप में ही समझा जाता है राजनीति के लिए शक्ति ही केन्द्रीय विषय वस्तु है। इस संदर्भ में हेराल्ड लासवेल की रचना 'पॉवरः हू गेट्स, व्हाट व्हेन एन्ड हाऊ?' काफी चर्चित और महत्त्वपूर्ण है।*

८. महात्मा गाँधी, यंग इंडिया, जुलाई, २, १९३१

९. महात्मा गाँधी, हरिजन, अक्टूबर, ६, १९४६

१०. रोनाल्ड जे. टरचेक, गाँधी : स्ट्रगलिंग फॉर ऑटोनोमी, विस्तर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, १९९८, पृ. १६२

११. वही पृ. १६७

१२. महात्मा गाँधी, यंग इंडिया, जनवरी, २९, १९२५

१३. वही, अगस्त, ४, १९२०

१४. महात्मा गाँधी, हरिजन, अगस्त, ११, १९४०

१५. महात्मा गाँधी, यंग इंडिया, ०८, जनवरी, १९२५, पृ. १९५

१६. जे. वी. कृपलानी, गाँधीयन थॉट, वोर एण्ड कम्पनी, बाम्बे, पृ. १११

१७. वही, हीज लाइफ एण्ड थॉट, वोर कम्पनी, बाम्बे, १९३८, पृ. ३४६

***

भारतीय चिन्तन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में परात्पर एवं सामाजिक मुक्ति

दिलीप चारण

भारतीय तत्त्वचिन्तन की परम्परा अमूर्त विचार परम्परा नहीं है, अपितु आत्मचिंतनपूर्ण और एक खुली हुई शोध-प्रक्रिया है। भारतीय दर्शन की परम्परा ईहवादी भी है जैसा कि हमें चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य के चिंतन में प्रतिध्वनित होती दिखाई देती है। वेदांत और अनुवेदांत की चिन्तन परम्परा परात्पर अपने में संजोए रखती है। इस तरह भारत की चिन्तन परम्परा वैचारिक वार्तालाप होते हुए भी उसी विचार को अस्तित्व में चरितार्थ करने में सक्षम है। इसीलिए भारतीय दर्शन को केवल विचारदर्शन न कहते हुए जीवन-दर्शन कहना उपयुक्त होगा। जो विचार जीवन के धरातल पर खरे उतरे हैं उन्हें भारतीय दर्शन ने स्वीकृति प्रदान की है। भारतीय चिन्तन को जीवन से असंपृक्त समझना भारतीय दर्शन की यथार्थ संकल्पना की अवहेलना करना है। केवल वैचारिक शुष्कता भारतीय चिन्तन का हार्द नहीं है। चिन्तन का हार्द जीवन में प्राप्त विमर्श है। इसीलिए भारतीय दर्शन में कहा गया है कि 'विमर्शरूपिणी विद्या'। जीवन के धरातल पर जो चिन्तन किया जाए वही भारतीय चिंतन का स्वीकार्य स्वरूप है। हिन्दुस्तान की प्रत्येक परम्परा तात्त्विक रूप से भिन्न होते हुए भी पारस्परिक विमर्श के लिए खुली है।

वादविद्या भारतीय विचार परम्परा का हार्द है, जिसके होते हुए भारतीय चिन्तन आत्मचिन्तन क्षमता और पारस्परिक विवेचन से जीवन्त सम्बन्ध बनाए रखता है। भिन्न मतावलम्बिता होते हुए भी वादी और प्रतिवादियों के बीच गोष्ठी या संवाद उभय के लिए श्रेयस्कर माना गया है। पारस्परिक सम्मान पारस्परिक समीक्षा से असंगत नहीं है। परम्परा का सम्मान विवेचनात्मक चेतना से अन्वित होना चाहिए। परात्पर को समझने का व्यवसाय अन्य (Other) की स्वीकृति और सम्मान के बिना नहीं हो सकता। संवाद अपने में अन्य को संजोए रखता है। यह संवाद का व्याकरण है, या उसका स्थापत्य है, परन्तु यह स्थापत्य आत्मविगलन की अपेक्षा नहीं रखता। संवाद अन्य मत को समझने का उपक्रम है, परन्तु इसमें स्वमत का विस्थापन नहीं है, अपितु स्वमत सम्मान है। इससे यह प्रतीत होता है कि भारतीय चिन्तन सिद्धान्तों से भरा हुआ संदूक न होते हुए एक प्रवहमान और प्रवहण करनेवाली विचार परम्परा है जिसमें हमें तीन प्रमुख परम्पराएं प्राप्त होती हैं। ये तीन परम्पराएं हैं- जैन, बौद्ध और हिन्दू। तीनों के बीच परस्पर विचार विनियोग से वे स्वयं को दृष्टिसम्पन्न करती हैं। प्रत्येक संवाद एक अपनी चिन्तन-प्रणाली को पुनः प्रेषित करने में सक्षम दिखाई देता है। संवाद का हेतु निजी पूर्वधारणाओं का पुनःपरीक्षण एवं पुनःसमर्थन है। वैचारिक गतिशीलता भारतीय चिन्तन-प्रणाली का प्रधान धर्म है। इस प्रधान धर्म को निभाते हुए उस चिन्तन को जीवन में अनुस्यूत करना और जीवन द्वारा उसे सुदृढ़ बनाना ही भारतीय चिन्तन परम्परा है। इसलिए भारतीय चिन्तन परम्परा शुष्क विचार परम्परा न होते हुए विचार से उठने का सामर्थ्य रखती है। भारतीय तत्त्वचिन्तन में परात्पर का विचार निहित है। अतः वैचारिक संक्रांति ही भारतीय चिंतन परम्परा का लक्ष्य नहीं, जीवन को परात्पर से सम्मिलित रखना, जीवन में परात्पर का संचय करना ही भारतीय दर्शन परम्परा की माँग है। भारतीय चिन्तन परात्पर की माँग और परात्पर का साक्षात्कार दोनों को अपने में संजोए रखता है। इसीलिए वह विचारक्रांति भी है और जीवनक्रांति भी। भारतीय चिन्तन परम्परा की यह पूर्वशर्त है कि विचार और अस्तित्व दोनों को ऊपर उठाना है। वह

वैचारिक संक्रांति होने के साथ-साथ जीवन की भी संक्रांति है। जीवन के भौतिक परिवेश को तात्त्विक परिवेश में परिवर्तित करना भारतीय चिन्तन परम्परा की माँग है। चिन्तन में जो स्वीकृति प्राप्त होती है उसको अस्तित्व में रूपायित करना भारतीय चिन्तन परम्परा का विशिष्ट एवं सनातन आयाम है।

भारतीय चिन्तन परम्परा के परिवेश में यह सुस्थिर करना अत्यावश्यक हो जाता है कि इच्छाविहीन होना संभव है या नहीं? क्या इच्छा से परे होना या इच्छा से मुक्त होना संभव है? यह अपने आप में एक विकट प्रश्न है। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न के उत्तर में हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वेद से आज तक भारतीय चिन्तन परम्परा स्वीकार करती आयी है कि इच्छामुक्ति संभव है और इच्छामुक्त होना एक तात्त्विक यथार्थ (Ontological Fact) है। भारतीय चिन्तन परम्परा में इच्छामुक्ति के अनेक आयाम दिखायी देते हैं। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्पराएं अपनी वैचारिक परिधि में रहकर भी उसी विचार से सम्बन्धित इच्छामुक्ति की तकनीक अवश्य देती हैं। भारतीय चिन्तन परम्परा यह स्वीकार करती है कि मानव इच्छाओं से परे हो सकता है और यह एक संभावना नहीं, बल्कि एक हकीकत है। पाश्चात्य परम्परा से यह विचार अलग है। The Philosophy of desire in Indian Philosophical tradition is quite contrary to western tradition. इस विचार को हमें भलीभाँति समझना चाहिए। पाश्चात्य इच्छादर्शन का आरंभ हमें प्लेटो के विचारों में मिलता है। प्लेटो के अनुसार इच्छा के अलग-अलग चार हेतु हैं जिन्हें १. इरोस, २. फिलीया, ३. नोमोस और ४. थियोरीया कहा गया है। इरोस का अर्थ है- शारीरिक इच्छा। फिलीया का अर्थ है- मैत्री-सम्बन्ध जो इरोस से हटकर है। तृतीय नोमोस का अर्थ है- बौद्धिक अनुराग और चतुर्थ थियोरीया का अर्थ है- रूपतत्त्व या आदर्शतत्त्वों के साथ एकता एवं संवादिता। प्लेटो के अनुसार मानव के क्षुधित और प्राणित अंश का नियमन बुद्धि के द्वारा होना चाहिए। प्लेटो के अनुसार by knowing good one becomes good । अरस्तू इसमें एक परिमाण जोड़ते हैं और वह है doing good । अरस्तू के अनुसार इच्छा मानव कर्मों को गहनता प्रदान करती है। ईसाई इच्छा-विचार में इच्छा का हेतु महत्त्वपूर्ण है। बुरे विचार बुरे हेतु से ग्रसित होते हैं। अत: गलत हेतु पाप हैं। इसीलिए सन्त ऑगस्टीन कहते हैं कि मानव को केवल ईश्वर प्रेम की ही इच्छा रखनी चाहिए। इसके सिवाय कोई भी इच्छा विकृति है। सन्त एक्विनस इच्छाओं को नियंत्रित करने का आग्रह रखते हैं। नवजागृति काल में ज्ञान की इच्छा प्रधान है। इस ज्ञान की इच्छा से हम ब्रह्माण्ड को, शरीर को, बाह्यप्रकृति को, स्वर्ग को, मानव व्यक्तित्व एवं समाज को जान सकते हैं। मेकीयावेली के अनुसार राजकीय इच्छा या वर्चस्व एवं आधिपत्य को स्वीकार किया गया। आधिपत्य के द्वारा अन्य व्यक्ति पर नियंत्रण और प्रकृति पर नियंत्रण करने की इच्छा प्रभावक रही। देकार्त और ह्यूम दोनों के अनुसार तर्क ही इच्छनीय है और भावना का कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत रोमेन्टीसीज्म के अनुसार इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति भावना के द्वारा होती है। रूसो के अनुसार मानव को भावना का स्तुतिगान करना ही इष्ट है। काण्ट के अनुसार इच्छा सर्वश्लेषि है जिसमें सत्ता की इच्छा और स्वतंत्रता दोनों निहित हैं। उन्नीसवीं सदी के इच्छा-दर्शन में इच्छाओं की मर्यादा को स्वीकार नहीं किया गया है। इच्छा की निर्बाधता की स्वीकृति है।

बीसवीं सदी में इच्छा की दो धारायें प्रकट होती हैं- एक जातीयता की इच्छा और दूसरी सत्ता की इच्छा। बीसवीं शताब्दी का यूरोपीय इच्छा-चिंतन इन दो विचारधाराओं से प्रवाहित है। वस्तुत: बीसवीं सदी का इच्छा-विचार इन दोनों धाराओं के विरोधों और पूर्णता का इतिहास है। बीसवीं के अन्त में डेल्युज और गटारी ने इच्छा-विचार विषय पर गहन चिन्तन किया है। व्यक्ति और उसकी प्रकृति यांत्रिक प्रक्रिया से दमित होती है और व्यक्ति का अपना अर्थ और स्व-सम्बन्ध बिखर जाता है और ह्यूमन ओन्टोलॉजी में इच्छा का विशेषाधिकार- विशेष वर्चस्व रखता है। व्यक्ति को एक वांछित (desire) मशीन के रूप में देखा गया है और इस इच्छा-यंत्र ने मानव को आश्रित बना दिया है। यह एक प्रकार का स्क्रजोफेनीया है। इच्छा की मशीन से जातीयता की इच्छा और सत्ता की इच्छा दोनों उत्पन्न होती हैं। इन दोनों का अपना नियमन है, शासन और संगठन है। मानव का समग्र व्यवहार इच्छामशीन और इच्छा के उत्पादन के इर्द-गिर्द घूमता है। व्यक्ति का निजी केन्द्र नहीं है। आत्मा (Self) परिधि पर है और उसकी निश्चित पहचान नहीं है। 'आत्मा' की व्याख्याएं विकेन्द्रित हैं। अत: व्यक्ति परिस्थिति से परे व्याख्यायित ही नहीं होता। व्यक्ति का आत्म अपदस्थ है, विकेन्द्रित है,

अशाश्वत है, परिधाकार है और इच्छायंत्र उसको भी अस्वीकृति देता है। इच्छा का ज्ञाता निश्चित नहीं है और ज्ञाता को निश्चित करने के लिए दमन अनिवार्य है। It is rather the subject that is missing in desire. विषय के अभाव में इच्छा स्वैरविहार (Fantasy) का रूप लेती है जिससे दो प्रकार की सत्ता का सृजन होता है- एक वास्तविक सत्ता और दूसरी स्वैरविहारी सत्ता। इच्छा विधायक, उत्पादक, सृजनशील और सक्रिय बने तब दमन से मुक्ति मिलने की संभावना है। सांस्कृतिक दमन से हम मुक्त हो सकते हैं। तभी मानवजाति ओडीपस ग्रंथि और स्क्रीजोफेनीया से बच सकती है।

भारतीय इच्छा-दर्शन

सृष्टि के आरम्भ में इच्छा की स्वीकृति उपनिषद् में मिलती है। इच्छा सृष्टि में गर्भित रूप से निहित है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है- 'कामान काम्यते'। अर्थात् मन ही कामना करता है। जो कामनावान है वह सतत् इच्छा के अवलंबन में रहता है। मन और इच्छा का सम्बन्ध आत्मा तक विस्तीर्ण है। आत्मा की इच्छा ही 'सत्यकाम' है, इच्छनीय है, यह छान्दोग्योपनिषद् का मत है। 'सएव विजिज्ञासितव्यम्' अर्थात् इच्छनीय आत्मा ही है, अतः ऐसी आत्मा को जानने की इच्छा होनी चाहिए तथा आत्मा कृतात्मन है। आत्मा ही 'मृत्युंतित्वांअमृतऽश्नुते'। सत्ता का कोई असत्य प्रत्यक्ष नहीं है या न ही कोई कामना है। अज्ञान इच्छा को प्रवाहित करता है। इच्छा इस जगत् का आधार होते हुए भी इच्छा का अनुसरण दुःख की ओर अभिमुख करता है। इच्छा स्वयं में संतृप्त नहीं है। इच्छा में कमी का अनुभव निश्चित है। इच्छा का निषेध भारतीय इच्छा-दर्शन में स्वीकार्य है। इतना ही नहीं इच्छानिषेध को एक तात्त्विक यथार्थ के रूप में भारतीय दर्शन में स्वीकृति भी प्रदान की गई है। इच्छामुक्ति संभव है। इसके लिए भारतीय परम्परा में जो तकनीक विकसित की गई है जिससे Inner core of Fascism, शोषण, वर्चस्व और विसंवाद पर विजय प्राप्त हो सकती है। भारतीय परम्परा की यही शक्ति है। इसके द्वारा इस 'टेकनोलॉजी ऑफ द सेल्फ' के आयाम से व्यक्ति आत्मा को मुक्त कर सकता है। इतना ही नहीं, समाज को भी मुक्त कर सकता है और यह केवल विचार नहीं है, अपितु जीवन-दर्शन है, जो 'टेकनोलॉजी ऑफ द सेल्फ' द्वारा परात्पर और सामाजिक दोनों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जीवन की गहराई में रोप सकता है।

समकालीन भारतीय परम्परा में गाँधी और अम्बेडकर ने जो राह दिखाई, वह भी इच्छामुक्ति की एक तकनीक ही है जिसके द्वारा परात्पर और सामाजिक मुक्ति संभव बन सकती है। गाँधीजी ने एकादश व्रत, सत्याग्रह और ट्रस्टीशिप के द्वारा स्वराज्य की स्थापना की। टेकनोलॉजी के द्वारा व्यक्ति किसी भा व्यवधान के बिना अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है। He can sake hand with his own self. इच्छामुक्ति की धरोहर गाँधीजी की टेकनोलॉजी ऑफ द सेल्फ द्वारा जीवन के नए व्याकरण से लिखी गई है जिस जीवन व्याकरण के द्वारा व्यक्ति एवं समाज नैराश्य और शोषण से मुक्त हो सकता है।

ऐसा ही प्रयास बाबा साहब अम्बेडकर ने भी बौद्ध धर्म के अनुशीलन द्वारा प्रस्थापित किया है। यह बौद्ध तकनीक हमें फासीवाद और शोषण दोनों से ऊपर उठाती है।

मार्क्सवाद एक विचारधारा के रूप में फासीवाद और शोषण के विरुद्ध है और वह सामाजिक मुक्ति की कामना रखता है। मार्क्स का कहना है कि यदि श्रमजीवी एक हो जाएं तो हमें फासीवाद और शोषण से मुक्ति मिल सकती है। यह प्रमुख रूप से सत्ता की इच्छा है और सत्ता अपने में अन्य को संजोए रखती है। सत्ता का व्याकरण अन्य से बँधा हुआ है। दमन और नियंत्रण करने वाले अस्तित्व मात्र को निर्मूल करना है। इस प्रकार मार्क्स का सामाजिक विचार सत्ता की इच्छा पर भलीभाँति निर्भर है। इच्छा से परे होना पश्चिमी संस्कृति में असंभव है। इसके कारण सामाजिक मुक्ति केवल Utopian Social Construct ही है। मिथक या पुराकल्पना मात्र है, क्योंकि उनकी 'स्व' (Self) की संकल्पना सर्वश्लेषि नहीं है।

पश्चिम में 'स्व' प्राप्ति की कोई तकनीक नहीं है ऐसा कहना फूको (Foucault) के विचार में अनुचित होगा। फूको के अनुसार पश्चिम में 'स्व' प्राप्ति की दो तकनीक उपलब्ध हैं। जिनका परिचय हमें उनके अन्तिम वर्कशॉप जो टेकनोलॉजी ऑफ द सेल्फ से ऊपर था, उसमें देखने को मिलता है। ये दो तकनीक फूको के अनुसार- १. सोक्रेटीज के संवाद में और २. कन्फेशन या प्रायश्चित्त में प्राप्त होती है। परन्तु इस टेकनोलॉजी के द्वारा 'स्व' का परिचय क्षणिक होता है और उसमें

मुक्ति की संभावना नहीं है। पश्चिम का आत्मदर्शन सर्वश्लेषि नहीं है। इसलिए परात्पर और सामाजिक मुक्ति के लिए भारतीय दार्शनिक परम्परा का अनुसरण करना इष्ट है। भारतीय तात्त्विक परम्परा में भौतिक (Physical) और तात्त्विक (Metaphysical) दोनों की संभावना और सह-अस्तित्व की अनुभूति संभव है। उसकी एकता केवल वैचारिक नहीं अपितु अस्तित्वलक्षी एकता है और एकरागता के कारण अन्य और स्वयं के अंतर को मिटाया जा सकता है। इसीलिए इस शोध-पत्र के अन्त में यह कहना चाहूँगा कि :

१. भारतीय विचार परम्परा का अनुमोदन किया जाए।

२. भारतीय इच्छा-दर्शन को स्वीकार किया जाए।

३. भारतीय आत्म-दर्शन को स्वीकार किया जाए।

संभवतः इस स्वीकार से प्रमाणित जीवन-दर्शन अन्य को स्वयं के रूप में अनुभव करने का साहस जुटा पाए। इससे प्रभावित- आग्रहित जीवन-दर्शन निश्चित रूप से फासीवाद और शोषण से मुक्त होगा। भारतीय विचार परम्परा ही सही आशाबिन्दु है, क्योंकि उसमें मानवजाति को आश्वस्त करने का सामर्थ्य है, जो सामर्थ्य हमें गाँधी और अम्बेडकर के प्रयोग में स्वानुभव के स्तर पर मिलता है। 'Gandhi & Ambedkar are the apostle of non-oppressive and non-exploitative society. They are also against fascism in us all in our heads and in our everyday behaviour.' गाँधी और अम्बेडकर दोनों शोषणविहीन, दमनविहीन समाज के अग्रदूत हैं। क्योंकि उनका आधार इच्छामुक्ति और इच्छामुक्ति के लिए आवश्यक टेकनोलॉजी ऑफ द सेल्फ से आश्वस्त है जो स्वयं में निहित फासीवाद से लड़ने का साहस जुटा सकता है।

सन्दर्भः

1. *Contrary Thinking, Selected Essays of Daya Krishna, Edited by Naini Bushan, Jay L. Gaurfield, Daniel Raveh, Oxford University Press, 2011*

2. *Luther H, Martin, Huck Gutman and Patric H, Hutton, Eds. Technologies od the self : A Seminar with Michel Foucault, London, Tavistock, 1988, p. 11*

3. *Social Reality and Tradition, Edited by Bijoy H. Boruah & Ramashankar Mishra, Jaipur, Rawal Publication, 2006*

4. *भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएं, by Daya Krishna, Deptt. of Philosophy, University od Rajasthan, Jaipur, 2006*

***

प्रजातांत्रिक राज समाज-व्यवस्था की न्याय की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में समाजवादी विश्लेषण

आभास कुमार

प्रजातांत्रिक राज समाज–व्यवस्था की चर्चा करने से पूर्व विभिन्न प्रकार के राज समाज–व्यवस्थाओं का संक्षिप्त चित्रण अनिवार्य हो जाता है। यहाँ कुछ ऐसी राज समाज–व्यवस्थाओं का संक्षिप्त चित्रण किया जा रहा है, जो मात्र आदर्श या विचार ही नहीं इन्हें व्यवहार में भी लाया जा चुका है। यह अन्य बात है कि इनमें कुछ अच्छाइयाँ एवं कुछ बुराइयाँ भी देखी गयी हैं।

अधिनायकवाद सेनानायकों द्वारा संचालित राज समाज–व्यवस्था है, जहाँ किसी राज्य का सैन्य प्रमुख सत्तासीन हो जाता है तथा अन्य सेनानायक उसके अधीन कार्य करते हैं। सम्पूर्ण राज्य सैन्य नियंत्रण में होता है। कठोर अनुशासन की आड़ में सेनाप्रमुख, जनता से अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण कराने हेतु समर्थन एवं सहयोग की मांग करता है। ऐसी शासन–व्यवस्था में सेना निरंकुश हो जाती है और जनता पर अन्याय करती है। जनता यदि राज्यादेश अथवा राज्य के अनुचित कानून का विरोध करती है, तो उनके विरोध को निर्दयता और कठोरता से कुचल दिया जाता है। यह सर्वाधिकारवादी दर्शन से प्रेरित है।

अधिनायकवाद से साम्रज्यवाद का गहरा सम्बन्ध है। साम्राज्यवाद से तात्पर्य है राज्य की सीमा बढ़ाने हेतु अन्य राज्यों की संप्रभुता को भंग करते हुए उन्हें अधिनस्थ करना।[१] साम्राज्यवाद का दर्शन है, राज्य की सीमाओं का विस्तार करो तथा अधिनस्थ राज्यों के संसाधनों का उपयोग अपने राज्य की समृद्धि के लिए करो।[२] साधारण भाषा में अन्य राज्यों को सैन्यशक्ति से जीत कर अपने यहाँ फल–फूल रहे उद्योग धंधों का विकास जीते हुए राज्यों में करना, जिससे राज्य समृद्ध हो सके। अधिकांश अधिनायकवादी शासकों, ने २०वीं सदी ए. डी. तक साम्राज्यवादी नीतियाँ अपनायी हैं। इस प्रकार की शासन–व्यवस्था में साम्राज्य विस्तार हेतु सैन्य शक्ति में विस्तार की आवश्यकता होती है, जिसके लिए आवश्यक धन कर के रूप में जनता से वसूले जाते हैं।

राजतंत्र भी स्वयं में अधिनायकवाद एवं साम्राज्यवाद को आत्मसात करता है। राजतंत्र में भी एक व्यक्ति अर्थात् राजा संप्रभु होता है। वह भी अपने साम्राज्य का विस्तार आर्थिक समृद्धि हेतु करता है। यहाँ भी जनता को राज्य की ओर से किये जाने वाले युद्धों के लिए खर्च उठाना पड़ता है। जनता पर अनावश्यक युद्धकर लादे जाते हैं।[३] राजतंत्र में जन–भावना को पूरी तरह शक्ति से कुचले जाने के उदाहरण मिलते हैं। राजतंत्र का दर्शन भी एक शक्तिशाली व्यक्ति, अर्थात् जिसके नियंत्रण में सैन्य शक्ति होती है, के द्वारा अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करना है तथा जनता से किसी प्रकार भी सहयोग लेना है। यह दर्शन राजा की समृद्धि से सम्बन्धित है।

धर्मतंत्र में विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित मूल धर्मग्रंथों में वर्णित आचार संहिताओं के अनुरूप ही शासन चलाया जाता है। धर्मों में से कोई एक राजधर्म के रूप में स्वीकार किया जाता है। यहाँ की शासन–व्यवस्था अधिनायकवाद और प्रजातांत्रिक शासन–व्यवस्था के मध्य की व्यवस्था है, जहाँ अन्य धर्मावलम्बियों के धार्मिक हित की अवहेलना की जाती

है। समाज में भी उनका महत्त्व कम होता है। कहीं-कहीं तो उन पर अत्याचार भी होते हैं। इस प्रकार यह तंत्र भी स्वीकार योग्य नहीं है।[४]

अंततः प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था को ही सर्वमत से स्वीकार किया जाता है। यहाँ जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन होता है, ऐसी अब्राहम लिंकन स्वीकारते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष मतदान प्रणाली का प्रावधान है, जहाँ जनता अपने प्रिय उम्मीदवारों का चयन करती है, जो उन पर या पूरे राज्य पर, शक्ति एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण के आधार पर कार्य करते हैं।[५]

लोकतांत्रिक या प्रजातांत्रिक राज समाज-व्यवस्था को दो रूप में स्वीकार किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि इसके दो प्रकार होते हैं- प्रथम, समाजवादी लोकतांत्रिक राज समाज-व्यवस्था एवं द्वितीय उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था। समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकतांत्रिक या संसदीय विधि से समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रतिबद्धता होती है। समाजवादी लक्ष्य के सदंर्भ में यही कहा जा सकता है कि यह समानता के सिद्धांत पर आधारित है यहाँ भौतिक एवं मानसिक संसाधनों के समान वितरण का लक्ष्य रखा जाता है। मौलिक रूप में यहाँ स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व के लक्ष्य को आत्मसात किया जाता है। समानता पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। समाजवाद की मान्यता है कि पूँजीवाद में समाज के मूलतः तीन वर्ग बन जाते है- पूँजीपति, बुर्जुवा और सर्वहारा। पूँजीपति, जिनकी संख्या कुल राज्य की जनसंख्या का केवल करीब-करीब दस प्रतिशत होती है, समाज के अधिकतम संसाधनों पर अधिकार कर लेते हैं। अतः समाजवादी लक्ष्य, पूँजीवाद का अंत तथा सर्वहारा वर्ग का अधिकार समाज पर कायम करने की संकल्पना से प्रेरित होता है।[६] कारण, सर्वहाराओं की संख्या ९० से ९५ प्रतिशत तक होती है। साम्यवाद भी एक राज समाज-व्यवस्था है, जहाँ समाजवादी लक्ष्य खूनी क्रांति द्वारा प्राप्त करने से सम्बन्धित हो जाती है, लोकतांत्रिक समाजवाद में यही लक्ष्य संसदीय विधि या जनतांत्रिक प्रक्रिया अथवा मतदान प्रक्रिया द्वारा प्राप्त करने की संकल्पना की जाती है। यही संकल्पना श्री बी.एन. राव ने भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्वीकार की थी, जिसे पंडित जवाहर लाल नेहरू ने संविधान निर्माण करने वाली सभा को १९४९ ई० में अभिभाषण के दौरान सुनाया था तथा इसके अनुपालन का संदेश दिया था।

उदारवादी लोकतांत्रिक राज समाज-व्यवस्था के आवश्यक माने जाने वाले उपरोक्त वर्णित तीन मूल्यों- स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व में केवल स्वतंत्रता पर अत्यधिक बल दिया जाता है। यहाँ अर्थ (धन) संग्रहण की पूर्ण स्वतंत्रता की वकालत की जाती है। समानता यहाँ गौण होती है। बंधुत्व का भी औपचारिक समावेश यहाँ किया जाता है। ऐसी व्यवस्था के कारण, सामाजिक संसाधन, पूँजी का रूप लेकर समाज की कुल जनसंख्या के कुछ प्रतिशत लोगों के हाथ में सीमित हो जाती है, और जिन व्यक्तिओं के हाथ में यह सीमित होता है वे पूँजीपति कहे जाते हैं। यहीं से पूँजीवाद प्रभाव में आता है। वैसे तो पूँजीवाद अधिनायकवादी राज समाज-व्यवस्था में प्रभावशाली रूप में गतिमान रहा है, परन्तु उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी यह अपना प्रभाव बनाये रखा है।[७] पूँजीवाद, वर्तमान समय में, उदारवादी लोकतंत्र में ही विश्वास रखता है जहाँ यह दलील दी जाती है कि जो योग्य होंगे, वे अधिक आर्थिक उन्नति कर पायेंगे और जो आयोग्य होंगे वे कम आर्थिक उन्नति कर पायेंगे। अतः यहाँ समान अवसर दिये बगैर योग्यता की बातें की जाती है। इस प्रकार चलायमान राज समाज-व्यवस्था उदारवादी लोकतंत्र के नाम स वर्तमान समय में विश्व भर में प्रचलित है। यहाँ पूँजी के समान वितरण का सैद्धान्तिक रूप से विरोध करते हुए, असमानता को समाज की नियति मान लिया जाता है। समाज में, मानसिक बौद्धिक संसाधनों के संग्रहण के अवसर की असमानता के कारण केवल कुछ प्रतिशत लोगों का ही आर्थिक एवं बौद्धिक विकास हो पाता है, जिसके कारण समाज के सम्पूर्ण आर्थिक एवं बौद्धिक संसाधनों का अधिकतम प्रतिशत कुछ व्यक्तियों के हाथ में सीमित हो जाता है।[८] संसाधनों के इस असमान वितरण से समाज में कई वर्ग बन जाते हैं। मार्क्स ने तो इस संदर्भ में, केवल तीन वर्गों-पूँजीपति, बुर्जुवा और सर्वहारा की बात की थी, परन्तु वर्तमान समय में उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था, जो भारत समेत कई देशो में प्रचलित है, का अवलोकन करने पर निम्नलिखित वर्ग बने हुए प्रतीत होते हैं- उद्योगपतियों का वर्ग, असाधारण व्यापारी वर्ग, सामान्य व्यापारी वर्ग, उच्च-मध्य वर्ग, मध्यवर्ग, निम्न वर्ग तथा पूर्ण उपेक्षित वर्ग।

इस प्रकार से वर्ग विभाजन के कारण समाज में आर्थिक रूप से उन्नति करने की होड़-सी लग जाती है। उपेक्षित वर्ग कम से कम निम्न वर्ग, मध्यम वर्ग, उच्च मध्य वर्ग और व्यापारी वर्ग उद्योगपतियों के वर्ग की आर्थिक स्थितियों की प्राप्ति के प्रयास में जुट जाते हैं। इस प्रयास में ये वर्ग अनैतिक तरीकों को भी अपनाने से परहेज नहीं करते और परिणामस्वरूप समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाता है। वास्तव में, उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार का यही कारण है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विषय वस्तु को उजागर करना आवश्यक हो जाता है कि कुछ महान् समाजशास्त्रीय दार्शनिकों ने उदारवादी लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में ही समानता अथवा सामाजिक न्याय के प्रावधान करने हेतु और भ्रष्टाचार को दूर करने हेतु अपने विचार व्यक्त किये। कारण, असमानता इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में विचार किया जाता है। इनमें उपयोगितावादियों मिल, बेंथम तथा जॉन रॉल्स एवं अमर्त्य सेन जैसे विचारकों का नाम प्रमुख है।

इनसे पूर्व अरस्तू ने राजतंत्र में सामाजिक न्याय की संभावना तलाश करने सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये जो उल्लेखनीय हैं। उनके न्याय सम्बन्धी सिद्धांत को वितरणात्मक न्याय और संशोधनात्मक न्याय के रूप में व्यक्त किया जाता है। उनके अनुसार सभी लोगों को राजकीय पद देना अनुचित है। राज्य एवं समाज में पद तथा पुरस्कार व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुपात में मिलना चाहिए। अरस्तू संशोधनात्मक न्याय के द्वारा समानता की स्थापना करना चाहते हैं। यह गणितीय अनुपात पर आधारित है। यह अति लाभ और अति हानि का मध्यवर्ती विचार है। यह नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियंत्रित करता है। यह नागरिकों में उत्पन्न होने वाले दोषों को ठीक करके उनका संशोधन करता है।[९]

अरस्तू की दृष्टि में वितरणात्मक न्याय इस सिद्धांत पर आधारित है कि 'बराबर के लोगों में बराबर का विभाजन होना चाहिए। उनकी दृष्टि में अन्याय वहीं उत्पन्न होता है जहाँ समान के साथ असमान व्यवहार किया जाता है।'[१०]

इसे और अधिक स्पष्ट किया जाय तो इसका अर्थ यही उजागर होता है कि असमान के साथ समान व्यवहार तथा समान के साथ असमान व्यवहार अन्याय है। अर्थात् असमान के साथ असमान व्यवहार न्याय है तथा समान के साथ समान व्यवहार न्याय है। यही अरस्तू के न्याय सम्बन्धी विचार का सारांश है। अरस्तू के इस न्याय सिद्धांत में व्यापक दोष है। यहाँ असमान एवं समान के सप्रत्यय को स्पष्ट करना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। कोई यह कहे कि सभी मानव ही है तो सभी समान हो जाते हैं, अतः इन सभी के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। परन्तु, अनुचित राज समाज-व्यवस्था में सभी मनुष्य होते हुए भी समान नहीं हो सकते। यद्यपि सभी मनुष्य एक अनुचित राज समाज-व्यवस्था में भी मानव होने से समान होते हैं, परन्तु कुछ मनुष्यों के पास सामाजिक संसाधनों की अत्यधिक मात्रा होने से वे आम मनुष्यों से भिन्न हो जाते हैं। उनकी जीवन शैली आम मनुष्यों से भिन्न होती है। वे लगातार तरक्की करते जाते हैं, और तरक्की या प्रगति के इस प्रवाह में सामाजिक संसाधनों के अधिकांश भाग पर अधिकार करते जाते हैं, वही बहुजन की स्थिति बद से बदतर होती जाती है। ऐसी स्थिति में समाज यदि बदतर हालात वाले व्यक्तियों के प्रगति की विशेष व्यवस्था नहीं करता है, तो वे संघर्ष की स्थिति में आ जाते हैं और सामाजिक क्रांति प्रारम्भ हो जाती है। यही सामाजिक क्रांति रक्तमय होकर समाज में अव्यवस्था पैदा करती है। सामाजिक क्रांति तो देर से आती है, उससे पूर्व समाज में व्यापक भ्रष्टाचार कायम हो जाता है। अधिकांश व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति को अतिशीघ्र सबल बनाने के लिए भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाते हैं। अतः अरस्तू का न्याय सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण है। प्रतिफलात्मक न्याय, वितरणात्मक न्याय की ही अगली कड़ी है। अरस्तू के प्रतिफलात्मक न्याय (Retributive Justice) के अनुसार, समाज के लिए जो व्यक्ति उपयोगी हैं, उसे सकारात्मक पुरस्कार तथा जो अनुपयोगी हैं, उसे नकारात्मक पुरस्कार देय होना ही न्याय है।[११] परन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसा भी कहा जाता है कि समाज के हित के लिए, अनुपयोगी व्यक्ति को भी प्रोत्साहित करने हेतु, उसके साधारण कार्य के लिए भी अच्छा पुरस्कार दिया जाये; जिससे उसे समाज हित में कार्य करने की प्रेरणा मिले। तभी सम्पूर्ण सामाजिक न्याय की अवधारणा को मूर्त रूप दिया जा सकता है। इस प्रकार अरस्तू की न्याय-सम्बन्धी अवधारणा सम्पूर्ण नहीं मानी जा सकती है। यहाँ विवाद के बिन्दु स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।

उपरोक्त विवादों से स्वयं को बचाने हेतु अरस्तू संशोधनात्मक न्याय (Rectificatory Justice) की अवधारणा को प्रकाश में लाते हैं। इसमें वे न्यायालयों की महत्ता को स्वीकार करते हैं। न्यायालय जो दण्ड या पुरस्कार निर्धारित करते हैं, समाज में एक व्यक्ति के लिए वही ठीक है।

परन्तु भारत जैसे देश का उदाहरण लिया जाये, जो उदारवादी लोकतंत्र को पूर्ण रूप से आत्मसात् करने के लिए अग्रसर है, के न्यायालय भी कई बार अनुचित न्याय देते हैं, और कभी-कभी भ्रष्टाचार की शिकायतें यहाँ भी सुनने को मिलती हैं। अतः अरस्तू का यह न्याय-सिद्धांत भी विवाद से परे नहीं है।

प्लेटो का न्याय-सिद्धांत बहुत ही सामान्य और साधारण है, जिसमें समाजवादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। प्रसिद्ध सामाजिक राजनैतिक दार्शनिक सेबाइन कहते हैं- 'प्लेटो का न्याय-सिद्धांत यह कहता है कि प्रत्येक को समाज में उसका प्राप्य उपलब्ध हो जाना ही न्याय है', अर्थात् व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार, जो कार्य उसे सौंपा जाय, वह उसे पूरी ईमानदारी से करें। ऐसे में समाज से भ्रष्टाचार का उन्मूलन संभव है। परन्तु जहाँ तक उदारवादी लोकतंत्रिक राज समाज-व्यवस्था का प्रश्न है, तो इस प्रकार की व्यवस्था में कई व्यक्तियों को उसकी योग्यतानुसार काम नहीं मिल पाता है। संसाधनों एवं अवसर के असमान वितरण से व्यक्ति कुंठा का शिकार हो जाता है और समाज द्वारा सौंपे गये कार्य को लगन से नहीं सम्पादित कर पाता है। अतः उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्लेटो के न्याय-सिद्धांत से भ्रष्टाचार का उन्मूलन असंभव है। भारतीय समाज का ही उदाहरण लिया जाये तो कई व्यक्ति महाविद्यालयों में शिक्षण कार्य हेतु स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल करते हैं, परन्तु उन्हें व्यापार करने या किसी व्यापारिक संस्था में कुछ अन्य कार्य करने का काम मिलता है, जिससे कुंठावश वे उस कार्य का सही सम्पादन नहीं कर पाते।

सोफिस्टों ने न्याय सम्बन्धी उग्रवादी सिद्धांत (Agrassive Principle of Justice) को जन्म दिया। उनकी दृष्टि में न्याय का संप्रत्यय शक्तिशाली व्यक्तियों के हित की पूर्ति का हेतु बना है। ऐसा न्याय सिद्धांत तो कभी भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। ग्लौकोन, न्याय का संविदावादी (Convenant Principal of Justice) के प्रवक्ता हैं। इनके विचार में प्राकृतिक अवस्था में जब राज्य नहीं थे, तो शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल को सताते थे। निर्बलों ने शक्तिशालियों के अन्याय से बचने के लिए, समझौता करके मानव-आचार तथा परस्परिक व्यवहार के कुछ नियमों का निर्माण किया, जिनका अनुपालन न्याय और अवहेलना अन्याय है। यहाँ न्याय को कोई शाश्वत व्यवस्था या मूल्य नहीं माना जाता है। परन्तु प्लेटो न्याय को किसी समझौते का परिणाम नहीं मानते है। न्याय, उनके विचार में एक शाश्वत मूल्य है।

न्याय सम्बन्धी ये सारी व्यवस्थाएँ या विचारधारायें राजतंत्र के समय की थीं। उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार उन्मूलन से इनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

जब राज्य का जन्म हुआ तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था प्रकाश में आयी तो समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के मध्य एक वैचारिक द्वन्द प्रारम्भ हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था को पोषित करने वाली उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के समर्थक विद्वानों ने इस व्यवस्था में भी सामाजिक न्याय की गुंजाइस होने सम्बन्धी अपने तर्क देने प्रारंभ किये जिसमें सर्वप्रथम उपयोगितावादियों (Utilitarians) के विचारों को अभिव्यक्त करना संदर्भानुकूल होगा।

उपयोगितावादियो में बेंथम, मिल रूसों का नाम लिया जाता है। उपयोगितावाद (Utilitarian Theory of Justice) में उपयोगिता (Utility) शब्द प्रधान है। यहाँ उपयोगिता शब्द का अर्थ अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख के रूप में ग्रहण किया जाता है। इससे अधिकतम व्यक्तियों का अधितम हित भी कह सकते हैं। ऐसे विचारक न्याय को उपयोगिता के आधार पर विकसित 'सद्गुण' के रूप में स्वीकार करते हैं। उपयोगितावादियों के अनुसार वह समाज न्यायपूर्ण होगा, जिसमें अधिकतम लोगों के बेहतरी का उपाय किया गया हो। यह निश्चित रूप से, व्यक्तिवादी न्याय-व्यवस्था जिसमें समाज किसी व्यक्ति के साथ न्याय करना चाहता है, तो उसे वह प्राकृतिक अर्थ में स्वतंत्रता प्रदान करे, से बेहतर है। इस

सिद्धांत के अनुसार प्रकृति व्यक्ति को स्वतंत्र रूप में जन्म देती है, परन्तु सामाजिक नियम उसे बंधन में बांध कर परतंत्र कर देते हैं और उसके व्यक्तित्व का उसकी इच्छा के अनुरूप स्वतंत्र रूप से विकास नहीं हो पाता है। यह उस व्यक्ति के साथ अन्याय है। व्यक्ति को अपने हित में, स्वतंत्र रूप से अपने विकास करने के प्रयास की पूरी छूट मिलनी चाहिए।

परन्तु इस व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में स्वेच्छाचारिता की बू आती है। यह समाज के अन्य सदस्यों के हित की अवहेलना करते हुए व्यक्ति विशेष के स्वार्थपूर्ण विकास की वकालत करता है। एक व्यक्ति विशेष की स्वेच्छाचारिता अन्य व्यक्तियों का अहित भी कर सकती है। इसी कारण सामाजिक नियम बनते हैं, जिससे व्यक्ति विशेष का विकास हो परन्तु, अन्य व्यक्तिओं के विकास में बाधा नहीं पहुँचे। यही कारण है कि उपयोगितावादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमा निर्धारण की वकालत करते हुए अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित को न्याय मानते हैं। परन्तु इस सिद्धांत के विरोध में यह कहा जाता है कि यदि दास-प्रथा से अधिकतम व्यक्तियों का समाज में अधिकतम हित होता है, तो क्या दास-प्रथा को उचित एवं न्याय पूर्ण ठहराया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से नकारात्मक है। यही कारण है कि अमेरिकी राज-समाज दार्शनिक जॉन रॉल्स इस उपयोगितावादी सिद्धांत का विरोध करते हैं।

जॉन रॉल्स उदारवादी लोकतांत्रिक ढाँचे के प्रबल समर्थक हैं तथा इसी राजनैतिक-सामाजिक ढांचे में समानता एवं सामाजिक न्याय की संभावना तलाश करते हैं।[१२] वे उपयोगितावादी न्याय-सिद्धांत के विकल्प के रूप में अपना सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। रॉल्स के मस्तिष्क में इस सिद्धांत की उत्पत्ति संभवत: समाजवादियों द्वारा उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के विरुद्ध लगाये गये आरोप के कारण उत्पन्न हुई है, जहाँ समाजवादी ऐसी व्यवस्था में समानता का सर्वथा अभाव स्वीकार करते हैं, और इसी कारण इस व्यवस्था को न्यायसंगत व्यवस्था नहीं मानते हैं।

रॉल्स अपने न्याय-सिद्धांत को तार्किक आधार पर स्थापित करते हैं। इसके लिए वे व्यक्तियों की मूल स्थिति (Original Position) की कल्पना करते हैं। इस प्रकार की कल्पनाएं किसी सिद्धांत को तार्किक आधार पर स्थापित करने की विधियाँ हैं। उनके द्वारा कल्पित मूल स्थिति हॉब्स, लॉक और रूसों आदि संविदावादी विचारकों की प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) से मेल खाती है। किन्तु उससे रॉल्स का विचार नितांत भिन्न है। उन्होंने यह कल्पना की कि मूल स्थिति वह है, जिसमें व्यक्ति को उसकी वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से पृथक् कर दिया जाता है। उन्हें समाज में प्रचलित भेदभाव का भी ज्ञान नहीं है। उनके अनुसार यह एक काल्पनिक स्थिति है, जिसमें व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं, हितों एवं गुणों का ज्ञान नहीं होता है। उसे अपनी बुद्धि योग्यता और क्षमता का भी ज्ञान नहीं होता है। किन्तु इस स्थिति में भी उसे न्याय का बोध (Sense of Justice) होता है। इस स्थिति में व्यक्ति केवल अपने लिए प्रारंभिक वस्तुओं, अधिकार, स्वतंत्रता, शक्ति, अवसर, आय और सम्पदा तथा आत्म-सम्मान की अधिकतम वृद्धि चाहता है। व्यक्ति को इस बात की परवाह नहीं होती है कि वे वस्तुएँ लोगों को कितनी मात्रा में मिलती है। इस प्राकृतिक अवस्था में न्याय हेतु व्यक्ति न्यूनतम असमानता का ही चयन कर सकता है। अत: रॉल्स के विचार में सामाजिक न्याय वास्तव में न्यूनतम असमानता से ही संभव है। उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार रहित समाज निर्माण करने के लिए उनके विचार में व्यक्तियों के बीच न्यूनतम असमानता होनी चाहिए। यह न्यून असमानता, पूर्णरूपेण समानता की अपेक्षा अधिक संभव है। उनके विचार में समाज में न्यूनतम असमानता का सृजन कर लोकतांत्रिक सामाजिक ढाँचे को कायम रखा जा सकता है।

उनका मत है कि जब असमानता न्यूनतम होगी तो व्यक्तियों के बीच समाज में पारस्परिक सहमति होगी और वे सामाजिक नियमों को स्वीकार करेंगे, क्योंकि तभी उनके हितों की अधिकतम वृद्धि हो सकेगी। रॉल्स के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए तब यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति जब सामाजिक नियमों का अक्षरश: अनुपालन करेंगे तो भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सकेगा।

रॉल्स इस बात पर बल देते हैं तो विशेष योग्यता वाले व्यक्ति पुरस्कार के पात्र केवल तभी होंगे जब वे अपनी योग्यता

से असमानता की खाई को कम कर सकेंगे।

रॉल्स का मत सामाजिक न्याय की संकल्पना को साकार करने हेतु, उदारवादियों की दृष्टि में श्रेष्ठतम सिद्धांत माना जाता है। इनके न्याय-सिद्धांत को शुद्ध प्रकियात्मक न्याय (Pure Procedural Justice) भी कहा जाता है, जहाँ संसाधनों के वितरण की प्रक्रिया को न्याय-संगत बनाने का प्रयास किया जाता है।

रॉल्स के न्याय-सिद्धांत के प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवादी अथवा साम्यवादी कह सकते हैं कि सामाजिक संसाधनों (मानसिक एवं बौद्धिक) के वितरण पर समाज के सभी व्यक्तियों का समान अधिकार होता है, फिर न्यूनतम असमानता के सिद्धांत को क्यों स्वीकारा जाय। यदि पूर्ण समानता के सिद्धांत को स्वीकारा जाय, तो उदारवादी लोकतांत्रिक राज-समाज ढांचा ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि तब समाजवादी अथवा साम्यवादी राज समाज-व्यवस्था अपना पाँव जमा लेगी, क्योंकि तब पूँजीवाद समाप्त हो जायेगा। परन्तु दुर्भाग्यवश वर्तमान वैश्विक समाज इस व्यवस्था के कठोर संविदाओं अथवा नियमों को अपनाने से कतराता है और पूँजीवाद की पूणरूपेण समाप्ति नहीं चाहता है। यही नहीं वर्तमान वैश्विक समाज तो पूँजीवाद को बढ़ावा देता है। ऐसी स्थिति में रॉल्स के ही न्याय-सिद्धांत से विश्वजनमत को काम चलाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कुछ समानता एवं न्यूनतम भ्रष्टाचार को नियति मान लेना होगा अथवा प्रकृति की देन मान लेना होगा।

इस संदर्भ में अमर्त्य सेन के विचार को नजरअंदाज कर देना अनुचित होगा, जिनके न्याय-सम्बन्धी विचार रॉल्सवाद एवं उपयोगितावाद के मध्यवर्ती प्रतीत होते हैं। उन्होंने अपनी न्याय-सम्बन्धी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए यह संकेत किया है कि तीसरी दुनिया के देशों में बेरोजगारी और भ्रष्टाचार का कारण यह है कि जो व्यक्ति जिस काम में निपुण है, उसे वह काम यदि लंबे समय तक नहीं मिलता है, तो अपनी निपुणता अथवा हुनर खो देता है, जिससे वह बेरोजगार हो जाता है और समाज में बेकारी बढ़ती है। बेरोजगारी से परेशान वह अनुचित तरीके से अपनी आजीविका चलाने को बाध्य हो जाता है और समाज में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति की विशेष कार्य में निपुणता का समाज को उसे काम देकर, सामाजिक विकास के लिए उपयोग करना चाहिए। यही भ्रष्टाचार उन्मूलन का वर्तमान समय में उपाय अमर्त्य सेन की दृष्टि में है और यही वास्तविक न्याय है।

संदर्भः

१. ओ. पी. गावा, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल थियोरी, मैकमिलन पृ. ३४१

२. वही, पृ. ३४५

३. डॉ. रमेन्द्र, समाज और राजनीतिक दर्शन, पृ. संख्या २९२-९३

४. वही, पृ. २८३-८४

५. आर. सी. वरमानी, समकालीन राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय, पृष्ठ ३१९

६. डॉ. रमेन्द्र समाज और राजनीति दर्शन, पृ. २४०/३४८

७. ओ. पी. गावा, ऐन इन्ट्रोडक्सन, टू पॉलिटिकल थियोरी, मैकमिलन पृ. २५६

८. वही, पृ. २००

९. राममूर्ति पाठक, सामाजिक राजनैतिक दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ सं-१९६

१०. वही, पृ. २००

११. वही, पृ. २०६

१२. जॉन रॉल्स, आउट लाइन ऑफ अ डिवीजन एण्ड प्रोसिजर फॉर इथिक्स, पॉलिटिक्स लिबरलिज्म एण्ड अ थिरोरी ऑफ जस्टिस

***

वसुधैवकुटुम्बकम् और जैनधर्म

सुनीता कुमारी

भारतीय संस्कृति मूल्यपरक सिद्धांतों एवं विकारों से परिपूर्ण है जिनका मूल मंतव्य लोकमंगल रहा है। वसुधैवकुटुम्बकम् भारतीय संस्कृति का वह उद्घोष है जो सम्पूर्ण वसुधा को 'एक परिवार' मानकर चलने का संदेश देता है जिसका अपना एक अर्थ है, और उस अर्थ का विस्तार भी। इस सम्बन्ध में जैन मंतव्य द्रष्टव्य है।

वसुधैवकुटुम्बकम्, लोकमंगल और जैनधर्म

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज परस्पर सहयोग से चलता है। इस परस्परता में जब तक लोकमंगल की भावना निहित रहती है, समाज में व्यवस्था बनी रहती है। इस हेतु जनमत का सम्मान एवं सामाजिक-न्यायायिक-व्यवस्था में विश्वास आवश्यक है। क्योंकि ये दोनों ही सन्दर्भ विश्व-व्यवस्था के लिए अपेक्षित हैं। यही 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का निहितार्थ है। यह सत्य है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ व्यक्तिगत गुणों का भी धारक है। सम्बन्धों के कारण यदि वह सामाजिक है तो जन्मजात वैयक्तिकता (Native Individuality) के कारण व्यक्ति है।[1] अतः सामाजिक और वैयक्तिक दोनों पहलुओं में समन्वय अपेक्षित है जिसके लिए कुछ आदर्श निर्धारित करने होते हैं। 'लोकमंगल' की भावना को इस दिशा में प्रभावशाली माना गया है जिसका आधार 'वसुधैवकुटुम्बकम्' में निहित है।

मनुष्य में मानवीय गुणों के साथ-साथ कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं जो उसे आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक आदर्श से विरत रख सकते हैं। मनुष्य में त्याग के साथ-साथ राग या आसक्ति का आवेश है, जिसके कारण वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता है। उसमें लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। उसमें क्रोध और अहंकार का आवेश है, इसलिए वह क्रूर व्यवहार करता है।[2] अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु आवेश है जिसके कारण व्यक्ति के आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्य में गिरावट आने लगती है। मनुष्य जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद जैसे संकीर्ण आवरण से स्वयं को जकड़ लेता है। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना उसके चित्त से समाप्तप्राय हो जाती है। मूल्यों का आकलन आर्थिक, राजनैतिक, भौतिक-समृद्धि की परिधि में होने लगता है। लोकमंगल के भाव बदल जाते हैं। चारों तरफ विषमता का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। कौटुम्बिक-भावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। मानव स्वयं के साथ संघर्ष करने लगता है जिसके दुष्परिणाम सम्पूर्ण संसार को भोगना पड़ता है।

अतः आज आवेश को नियंत्रित कर व्यवहार को मर्यादित रखने की आवश्यकता है। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की आधारशिला को पददलित न करके, जन-कल्याण के भाव को पुनर्जागरित करने की आवश्यकता है। कर्तव्यनिष्ठा और स्वावलंबन जैसे सामाजिक मूल्य को परिष्कृत कर सत्य, समन्वय, सम्प्रदाय-निरपेक्षता एवं मानवीय एकता जैसे बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य को व्यवहार के धरातल पर उतरना होगा। इस हेतु करुणा, सह-अस्तित्व जैसे नैतिक मूल्य को धारण कर धैर्य जैसे मानसिक मूल्य का अभ्यास करना होगा। मैत्री, मृदुता और आत्मानुशासन जैसे आध्यात्मिक मूल्य इस दिशा में पाथेय बन सकते हैं। वस्तुतः ये सभी मानव को मानवीय सम्बन्धों की वस्तुस्थिति का बोध कराते हैं इनकी पृष्ठभूमि में 'वसुधैवकुटुम्बकम्' जैसी उदात्त भावना लोकमंगल के रूप में संचरित होती रहती है।

वसुधैवकुटुम्बकम्, मैत्री-भावना और जैनधर्म

मैत्री-भावना 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का आधार है। मैत्री-भावना अपने आप में अनेक समस्याओं को समाहित कर लेती है। प्रतिदिन मानव मन में अनेक मल जमा होते जा रहे हैं। उनमें सबसे क्लिष्ट मैल है शत्रुता का, द्वेष का। इस दुनिया का अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नहीं है। इस संसार में रुचि और चिंतन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है, रीति-रिवाजों का भेद है- ये सब भेद नहीं रहे, यह कभी संभव नहीं है। इन भेदों के कारण हमारे मन में शत्रुता और द्वेष का भाव पनपता है, यह अवांछनीय है।

यह भेद ही दूसरों के अनिष्ट का कारण बनता है। इसका निवारण मैत्री-भावना को विकसित करके ही किया जा सकता है। मेरा सबके साथ मैत्री-भाव रहे। कोई मेरा शत्रु नहीं है।[३] मानव-अन्तस् में जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता जाएगा 'वसुधैवकुटुम्बकम्' को अर्थ मिलते जाएंगे। मनुष्य-मनुष्य के बीच खाई समाप्त होने लगेगी। जीवन सरस और निष्कंटक लगने लगेगा। मानव शक्ति का प्रयोग विघटन में होकर निर्माण में लगेगा। व्यक्ति में सहिष्णुता के गुण विकसित होंगे जिसके कारण कलुषता का नामोनिशान मिट जाएगा। संसार में पुनः ऐसे वातावरण का निर्माण हो जाएगा जहाँ मानव-चित्त में लोकमंगल की भावना स्वतः प्रस्फुटित होगी और 'वसुधैवकुटुम्बकम्' को अर्थ मिल जाएगा।

वसुधैवकुटुम्बकम्, कर्तव्यनिष्ठा और जैनधर्म

'वसुधैवकुटुम्बकम्' मानव सदाचरण की प्रेरक शक्ति है वहीं कर्तव्यनिष्ठा उस सदाचरण का प्रयुक्त व्यवहार। अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कर्म से विरत रहता है। जब कभी उसके चरण प्रमाद की ओर बढ़ते हैं, कर्तव्य की प्रेरणा उसे सावधान करती है और वह सत्संकल्प कर लेता है। मानवीय एकता का संघाटक ही कर्तव्य हो सकता है। उसकी प्रेरणा समानता है। जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की भिन्नता में भी मानवीय अभिन्नता है। वस्तुतः यह 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का आधार है। यही जन-कल्याण का मूलमंत्र है। इसी में मानव संघर्ष के शमन का बीज अभिहित है। यही व्यक्तिगत आकांक्षा और अहम् का नाश कर विश्व-बन्धुत्व का भाव जागृत करता है और मानव कौटुम्बिक प्रेम और सौहार्द्र के वातावरण में जीवन-यापन करता है।

व्यक्तिगत समृद्धि और बड़प्पन में एक रस है, वह एक सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है। किन्तु जब वह दूसरों को संकट में डालने लगता है तब सर्वमान्य न्याय-संगत धरातल के नीचे उतर जाता है।[४] अध्यात्म के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार और व्यवहार के स्तर पर जीने वाले व्यक्ति का व्यवहार भिन्न होता है। व्यवहार से मुक्त कोई नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है वह व्यवहार करता है। व्यवहार के बिना वह जी नहीं सकता है। उसका जीवन चल नहीं सकता है। परन्तु व्यवहार में इस संसार में मनुष्य को 'अन्यथा' शब्द का अर्थ समझकर 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना को अपनी संकल्पना का आधार बनाना ही पड़ेगा, क्योंकि यही सामाजिकता का आधार है। इस हेतु मनुष्य को कर्तव्यनिष्ठ होना पड़ेगा। उसे कर्तव्य के लिए कर्तव्य के मूल्य को समझना पड़ेगा।

व्यवहार दो रूपों में प्रयुक्त होता है-[५] क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक। क्रियात्मक व्यवहार स्वतः उद्भूत होता है जबकि प्रतिक्रियात्मक व्यवहार किसी व्यवहार की अपेक्षा के फलस्वरूप व्यवहृत होता है। जैसे उसने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया है तो मैं उसके प्रति ऐसा ही व्यवहार करूँ, प्रतिक्रियात्मक व्यवहार है। जबकि कर्तव्य के लिए कर्तव्य होना चाहिए यह क्रियात्मक व्यवहार है। यह स्वतंत्र कर्म है जिसका अपना मूल्य है। कोई व्यक्ति दया का पात्र है और कोई उस पर दया करता है तो यह कोई स्वतंत्र क्रिया नहीं है। यह प्रतिक्रिया है। कर्तव्य-बोध तो स्वतःक्रिया है जो सामाजिक संरचना के लिए आवश्यक है। इस कर्तव्य-बोध में दायित्व-बोध का भाव निहित रहता है जो मनुष्य में मंगलकामना का भाव जगाए रहता है। व्यक्ति 'वसुधैवकुटुम्बकम्' को मानव के अन्तरतम् की चेतना समझकर सर्वदा उस पथ पर अग्रसर होने के कर्तव्य-बोध से बंधा रहता है। उसके सभी कार्य स्वतः कार्यान्वित होते हैं, दंड अथवा यंत्रणा के भय से नहीं।

वसुधैवकुटुम्बकम्, समन्वय और जैनधर्म

मानव अनेक हैं। अनेकता ने स्वतंत्रता को जन्म दिया, स्वतंत्रता ने संघर्ष को और संघर्ष ने समन्वय को और समन्वय ने 'वसुधैवकुटुम्बकम्' को। समन्वय ने अनेकता को समाप्त नहीं किया, बल्कि उसके साथ जुड़े हुए एकता को प्रदर्शित किया। परिवार में अनेकता अपरिहार्य है, परन्तु उस अनेकता में एकता के ही तत्त्व निहित हैं। यही 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का भाव है। क्योंकि अनेकता विहीन एकता और एकताविहीन अनेकता शायद ही संभव हो। जो केवल अनेकता को देखता है, वह निरपेक्ष स्वतंत्रता को देखता है। जो निरपेक्ष स्वतंत्रता को देखता है, वह संघर्ष का निर्माण करता है। संघर्ष मनुष्य को त्रास देता है। इसलिए मनुष्य उसको समाप्त करना चाहता है। परन्तु उसे एकता और अनेकता के समन्वय के बिना समाप्त नहीं किया जा सकता है। एकता-अनेकता का अपना-अपना मूल्य है। यह मूल्य दोनों की सापेक्षता में निहित है, निरपेक्षता में नहीं।

मनुष्य-मनुष्य के बीच संघर्ष है। जाति, भाषा, सम्प्रदाय, प्रादेशिकता आदि के आधार पर मनुष्य के बीच उत्पन्न यह संगर्ष चलता रहता है। क्योंकि जहाँ भी भेद की रेखा खिंचती है वहीं संघर्ष का आरम्भ हो जाता है। निमित्त मिलते ही भीतर का सोया हुआ राग-द्वेष का सर्प फुफकार उठता है। समन्वय की पृष्ठभूमि में वीगरागता का दर्शन होता है। राग और द्वेष के उपशम का, चित्त की निर्मलता का तथा अहिंसा और मैत्री का मूल्य समझ लेने पर ही समन्वय का सिद्धांत समझ में आता है। इस अवस्था में 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की भावना का अर्थ स्वयंमेव स्पष्ट हो जाता है। इसकी उपयोगिता मानव के लिए स्वयंसिद्ध हो जाती है। यहाँ व्यक्ति इस आशय से भलीभाँति विज्ञ हो जाता है- एकता-सापेक्ष अनेकता संघर्ष की जनक नहीं है तथा अनेकता-सापेक्ष एकता इस परिस्थिति की उपयोगिता को विनष्ट नहीं करती है।

समन्वय, समानता की आधारशिला है। यह राग-द्वेष से विमुक्ति की अवस्था है। सामान्य और विशेष के मध्य उत्पन्न विवाद को समाप्त करने का अभिनव साधन है। यह बताता है कि जिसे हम नीचा दिखाना चाहते हैं अथवा जिसे मारना चाहते हैं अथवा जिसे परिताप देना चाहते हैं, वस्तुतः वे सभी हमसे 'भिन्न' अथवा 'अलग' अथवा 'अन्य' नहीं वरन् हम ही हम हैं।[६] समन्वय की यह भावना 'वसुधैकुटुम्बकम्' की एक नई व्याख्या है जो मानव-संघर्ष को समाप्त कर उसके अन्तस में सत्य एवं अहिंसा की ज्योति जलाती है।

वसुधैकुटुम्बकम्, सम्प्रदाय-निरपेक्षता और जैनधर्म

सम्प्रदायवादी व्यवस्था ने 'वसुधैकुटुम्बकम्' की भावना को सबसे अधिक हानि पहुँचायी है। सम्प्रदायवाद की अग्नि ने मानव की मानवीयता को समाप्तप्राय कर दिया है। इसका मूल कारण धर्म और सम्प्रदाय के बीव व्याप्त अंतर का घालमेल है। धर्म व्यक्ति का स्वभाव है जबकि सम्प्रदाय परिणति। एक व्यक्ति धर्म को जब सम्प्रदाय समझने लगता है तभी परेशानी उत्पन्न हो जाती है। सम्प्रदाय एक साधन है, जीवन-यापन की परस्परता या सहयोग है। वह व्यक्ति को प्रेरित कर सकता है, किन्तु स्वयं धर्म नहीं बन सकता। सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानने वालों के लिए सम्प्रदाय धर्म-प्रेरक होता है, साधक नहीं।[७]

सम्प्रदायवाद ने मनुष्य कर जन्मजात विशेषता को छिन्न-भिन्न कर डाला। इसी के कारण मनुष्य यह भूल गया कि जन्मना मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं है। फिर भी यही कहा जाता है कि धर्म-सम्प्रदाय मनुष्यों में मैत्री स्थापित करने के लिए प्रचलित हुए। जब मनुष्य में जन्मना शत्रुता नहीं है तो फिर उनमें मैत्री स्थापित करने की आवश्यकता क्यों कर उत्पन्न हुई? वस्तुतः मानव-मानव के बीच किसी प्रकार की शत्रुता नहीं है। सभी मनुष्य परिवार की भाँति प्रेमपूर्वक रहना चाहते हैं। सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानकर मानव-सम्प्रदाय की बात करना चाहते हैं। परन्तु पता नहीं कब और कैसे कुछ निहित स्वार्थी लोगों के स्वार्थ एवं अहं ने इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला और परिणाम हमारे सामने है।

सम्प्रदायवाद के इस रोग का निदान सम्प्रदाय-निरपेक्षता ही है। विश्व में अनेकता है। यहाँ हर व्यक्ति को धर्म-सम्प्रदाय

में आस्था रखने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। क्योंकि यहाँ विविध भाषाएं, विविध जातियाँ हैं जिनके अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय हैं। किन्तु इन विविधताओं के बावजूद भी उनमें परस्पर एकता होनी चाहिए। वे सब एक इस अर्थ में हैं कि वे मानव हैं। संभवतः यही भावना 'वसुधैकुटुम्बकम्' में निहित है जो व्यक्ति के मन और आत्मा दोनों को मार्ग प्रदान करती है।

वसुधैकुटुम्बकम्, सह-अस्तित्व एवं जैनधर्म

सामान्य धारणा यह है कि दो विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। परन्तु सह-अस्तित्व का सिद्धांत यह मानता है कि दो विरोधी धर्म एक साथ रह सकते हैं। नित्य, अनित्य का और अनित्य नित्य का विरोधी है, सामान्य विशेष का और विशेष सामान्य का विरोधी है। परन्तु ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। इनका सह-अस्तित्व है। इसे इस प्रकार समझाया गया है- जिन्हें हम विरोधी मानते हैं, वे वस्तुतः विरोधी नहीं हैं। इस जगत् में एक भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसे हम कह सकें कि यह इसका सर्वथा विरोधी है या सर्वथा अविरोधी। जिसे हम विरोधी मानते हैं, वह अविरोधी भी है। जिसे हम अविरोधी मानते हैं, वह विरोधी भी है। दोनों धर्म एक साथ चलते हैं। दोनों का सह-अस्तित्व है। वस्तुतः सह-अस्तित्व का यह सिद्धान्त मानव-विविधता के विरोधाभासों को समाप्त कर विश्वबंधुत्व का मार्ग प्रशस्त करता है जो 'वसुधैकुटुम्बकम्' की मूल भावना के अनुरूप है।

सह-अस्तित्व के सामंजस्यवादी मान्यता के आधार पर विचार-भेद जनित संघर्ष को कम किया जा सकता है। विचार-भेद की ज्वाला को शांत कर विरोध के बीच भी अविरोध का वातावरण बनाया जा सकता है। अनेक व्यक्ति रहें, अनेक विचार रहें और उनके रहते हुए भी विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, कौटुम्बिक-सौहार्द्र बना रहे और यह सब संभव है, सह-अस्तित्व के सिद्धान्त द्वारा। सह-अस्तित्व परस्परता का संदेश देता है। यह बताता है कि जीव स्वभावतः एक-दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखता है।[८] इस सहयोग में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। विरोध तो तभी उठता है जब हम सह-अस्तित्व के नियम को भूल जाते हैं। जहाँ सह-अस्तित्व है वहीं 'वसुधैकुटुम्बकम्' भी है।

वसुधैकुटुम्बकम्, प्रामाणिकता और जैनधर्म

प्रामाणिकता मानव-व्यवहार का वह उज्ज्वल पक्ष है जो 'वसुधैकुटुम्बकम्' की भावना एवं परम्परा को अक्षुण्ण रख सकता है। यह मनुष्य के नैतिक आचरण का दर्पण है। मनुष्य का वचन उसकी वाचिक प्रामाणिकता का द्योतक है, वहीं जीवन-निर्वाह हेतु धन-अर्जन की शुचिता भी मनुष्य के नैतिक आचरण का चित्रण करती है।[९] इस अवस्था में व्यक्ति किस प्रकार अपने व्यवहार पर दृढ़ बना रहता है यह उसके व्यवहार की प्रामाणिकता है। प्रामाणिकता के ये सारे सन्दर्भ धर्मनीति, राजनीति, अर्थनीति को तो मान्य हैं ही सामाजिक-व्यवस्था के निर्माण के भी प्रमुख कारण हैं।

'वसुधैकुटुम्बकम्' के लिए वचन की प्रामाणिकता सबसे अधिक अनिवार्य अपेक्षा है। वचन की प्रामाणिकता को ही 'आप्त' और 'श्रुति' कहा गया है। यही आप्तवाक्य 'श्रुति' के रूप में साक्ष्य की तरह व्यहृत होता है। जीवन-यापन हेतु धन आवश्यक है और इसका अर्जन मनुष्य करता है। अर्थोपार्जन हेतु प्रामाणिक एवं नैतिक नियम का परिपालन व्यक्ति को प्रामाणिक बनाता है। समाज में ऐसे व्यक्ति को आदरपूर्ण स्थान मिलता है। इनकी बातों को महत्त्व प्रदान किया जाता है। प्रामाणिक विचार, व्यवहार से युक्त व्यक्ति द्वारा निर्मित समाज विकास करता है, उन्नत्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। जिस समाज में प्रामाणिकता नहीं होती उस समाज का भाग्य खतरे में झूलता रहता है। यहाँ 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का कोई अर्थ नहीं रहता। अनाचार, व्यभिचार, संघर्ष, कलह ही यहाँ पनपते हैं जिसमें सारी मानवता झुलस जाती है।

वसुधैवकुटुम्बकम्, मानवीय एकता और जैनधर्म

मानव मात्र के लिए ही नहीं अपितु 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के लिए भी मानवीय-एकता अनिवार्य है। यह सत्य है कि मनुष्य जाति एक है। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद नहीं है। मनुष्य केवल मनुष्य होता है। जाति, सम्प्रदाय, धर्म, वर्ण, लिंग आदि व्यावहारिक विभेदक हैं जो सांसारिकता के लिए स्वयं मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। इस विभिन्न की स्वीकृति मानवीय

एकता की स्वीकृति में ही सन्निहित है। हम अनेकता को द्वेष का आधार बनाते हैं, क्योंकि एकता में हमें प्रेम दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि धर्मज्ञों ने मनुष्य जाति की एकता का उद्घोष किया।[१०] जन्मना-जाति-व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी इसे ऊँच-नीच, छुआछूत जैसी घृणास्पद एवं अकल्याणकारी व्यवस्था का कारण माना। इस स्थिति से मनुष्य को सदैव मुक्त रहने का परामर्श दिया। मानव जाति की एकता का नारा देकर एक वैश्विक-ग्राम की व्यवस्था का सूत्रपात किया जिसकी पृष्ठभूमि 'वसुधैवकुटुम्बकम्' है।

मानव केवल मानव परिवार का सदस्य है। जाति-व्यवस्था इस मानव परिवार को विखंडित नहीं कर सकती। गुण, कर्म के आधार पर वह वर्गीकृत हो सकती है जो सामाजिक-व्यवस्था के लिए आवश्यक भी है। परन्तु इस व्यवस्था का यह अर्थ नहीं है कि विशेष गुणधारक व्यक्ति ऊँचा है, कोई निम्न है, कोई अछूत है, कोई सम्भ्रांत है। वस्तुतः जब मानव विद्याजीवी होता है तब ब्राह्मण हो जाता है। वही व्यक्ति उसा जीवन में रक्षाजीवी होकर क्षत्रिय, व्यवसाय जीवी होकर वैश्य और सेवाजीवी होकर शूद्र हो सकता है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच में ऊँच-नीच और छुआछूत की दीवार खड़ी नहीं करती।

वस्तुतः 'वसुधैवकुटुम्बकम्' मनुष्य को यह संदेश देती है कि इस विश्व में सभी प्रकार के अनर्थों एवं संघर्षों का मुख्य कारण यह अपना है, यह पराया है का बोध है। जो व्यक्ति इस दुर्भावना से मुक्त होकर सम्पूर्ण वसुधा को ही अपना समझने लगता है उसके मन में उदार भावना पनपने लगती है।[११] वह सबके सुख की कामना करने लगता है। सब प्राणी के कल्याण हेतु उद्यत हो जाता है। कोई भी प्राणी दुःखी न रहे यही भावना उसके चित्त में उत्पन्न हो जाती है। विश्व के सारे प्राणी उसके अपने हो जाते हैं।[१२] अंततः सारी वसुधा ही एक परिवार बन जाता है जिसमें न कोई भय है, न त्रास है, न संघर्ष है, बस प्रेम है और सद्भाव है।

सन्दर्भः

१. *युवाचार्य महाप्रज्ञ, जीवन-विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, पृ. ३ (प्रस्तुति), १९९२*

२. *वही, पृ. ५*

३. *मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ, उत्तराध्ययन, ६/२*

४. *युवाचार्य महाप्रज्ञ, अमूर्त-चिन्तन, तुलसी अध्यात्म नीडम्, पृ. १०५, १९९२*

५. *वही. पृ. १०६, १०५*

६. *तुमंसि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि,*
तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, आचारांग, १/५/५/१०१, अमूर्त-चिन्तन, पृ. १३५

७. *अमूर्त-चिन्तन, पृ. १४३, १४४*

८. *परस्परोपग्रहो जीवानाम्, तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१*

९. *मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम् ।*
मनस्यन्यद वचनस्यन्यन् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

१०. *एक्कामणुस्सजाई, आचारांगनिर्युक्ति, १९*

११. *अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।*
उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम् ।। हितोपदेश, १/६९

१२. *सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।*
सर्वे भद्रानि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्।।

***

सर्वोदय की संकल्पना एवं वर्तमान संदर्भ

आभा अखौरी

सर्वोदय की संकल्पना भारतीय संस्कृति के मूल में है। 'सर्वभूत हितेरताः' वसुधैवकुटुम्बकम्' या 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' 'समं सर्वभूतेषु' आदि उद्गारों में वस्तुतः सर्वोदय की ही भावना है। उपनिषद्, वेदान्त और गीता में 'आत्मौपम्य', 'साम्य' या 'एकत्व' की भावना में सर्वोदय की झलक मिलती है। बौद्ध संस्कृति 'बोधिसत्त्व' की परिकल्पना का आधार भी सर्वोदय की भावना है। किन्तु इनमें 'सर्वोदय' शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। किन्तु दो हजार वर्ष पूर्व के जैनाचार्य श्री समन्तभद्र ने सर्वोदय तीर्थ का प्रयोग किया है। 'सर्वापदामन्तकरं निरन्त सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।'[१] (युक्त्यानुशासन, ६२)। वर्तमान काल में गाँधीजी को रस्किन की पुस्तक 'अनटू दिस लास्ट' से प्रेरणा मिली और उन्होंने उस पुस्तक का अनुवाद किया। उस अनुवाद का नाम उन्होंने सर्वोदय रखा।[२] सर्वोदय के 'सब' के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ग, समुदाय, रंग, प्राणी आ जाते हैं।[३] यह व्यापकता का संकेतक है, इसलिए इसमें केवल बहुसंख्या का नहीं, अपितु 'सब' का समावेश हो जाता है। यह विचार सिर्फ वर्ग-हित तक सीमित नहीं है, बल्कि यह अखंडता या समग्रता के विचार का परिचायक है। सर्वोदय का 'सर्व' केवल संख्यात्मक नहीं, गुणात्मक भी है। यह सर्वांगीण विकास या उदय का या आत्मपूर्णता का विचार है। यह सब के विकास का अभिप्राय सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास से है। मनुष्य में अनेक क्षमताएँ या सामर्थ्य हैं। उन क्षमताओं का अपनी मर्यादा के अनुसार पूर्ण विकास का विचार भी सर्व-विकास में निहित है। अतः 'सर्व' शब्द की व्यापकता में परिणाम और गुण दोनों समाविष्ट हो जाते हैं।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व 'स्वराज्य' शब्द का जो महत्त्व था, वही महत्त्व सर्वोदय शब्द का आज है। आज सर्वोदय का सम्पूर्ण शास्त्र विकसित हो रहा है, उसकी राजनीति, अर्थनीति, शिक्षानीति, धर्म-दर्शन आदि सब विकसित हो रहे हैं। 'सर्वोदय' का अर्थ समाज के सभी अंगों का सर्वतोमुखी या समग्र विकास या उदय है। सर्वोदय की संकल्पना में व्यक्ति और समाज दोनों का सर्वांगीण उदय समाविष्ट है। सर्वोदय खंडित व्यक्तित्व की संकल्पना नहीं करता। व्यक्तित्व तो समग्र होता है। अतः समग्र व्यक्तित्व के विकास या उदय का अर्थ है 'व्यक्ति का भौतिक और आध्यात्मिक विकास।' सबके जीवन को सम्पन्न बनाना या जीवन सर्वत्र सम्पन्न बनाना शारीरिक और आध्यात्मिक सम्पन्नता का आदर्श ही सर्वोदय है।[४]

मानव विकास की परिकल्पना में सीमांत नैतिकता की योजना एक सारभूत तत्त्व है। सीमांत नैतिकता का अभिप्राय सामंत वर्ग व सरकार को सीमांतकों के भौतिक व आध्यात्मिक विकास में अपनी भूमिका का निर्धारण करना है। सामंत वर्ग व सरकार को सीमांतकों के सर्वांगीण विकास में ईमानदारी से पहल करनी होगी। लेकिन आज रक्षक ही भक्षक बन गए हैं। इसलिए भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच दीर्घकृत असमान विकास ने उसकी एकता और अखण्डता को एक गंभीर चुनौती दी है। इसी कारण, यह बेहद जरूरी है कि तरक्की से सम्बन्ध रखने वाले मुद्दे भी सही तरीके से उठाए जाएं। स्थानीय, राष्ट्रीय तथा वैश्विक स्तरों पर चल रहे विकास कार्यों सम्बन्धी अनुभव यह बताते हैं कि विकास अनिवार्यतः एक विवेकचारी गतिविधि है। लोग हर जगह चाहते हैं कि विकास लोकतांत्रिक अधिकारों तथा उनके द्वारा भोगी जानेवाली स्वतंत्रता के प्रति एक न्यूनतम गारंटी के रूप में स्थापित हो।[५]

विभिन्न समस्याओं से जूझता हुआ जनजातीय समाज जब बाहरी संस्कृतियों से प्रभावित होने लगा तो उसमें एक ओर अपने अधिकारों के प्रति चेतना पैदा हुई तो दूसरी ओर नेतृत्व ने उन्हें संगठित होकर अपने अधिकारों की माँग करने की प्रेरणा देना शुरू कर दिया। भारत में लम्बे समय तक सीमांत जातियाँ अपनी विषम समस्याओं की भौगोलिक पृथक्ता के कारण अपने असंतोष भी व्यक्त नहीं कर सकीं।

जनजातीय आन्दोलन परिवर्तन का एक विशेष प्रतिमान है जिसके द्वारा जनजातीय समूह संगठित होकर अपनी सामाजिक, आर्थिक व्यवहार के तरीकों में इस तरह परिवर्तन लाने का प्रयास किया है जो उनकी वर्तमान आवश्कताओं के अनुकूल हों। आज दलितों के उत्थान के लिए दलित बुद्धिजीवी के द्वारा पहल की जा रही है। इसके अन्तर्गत '२१ सूत्रीय दलित एजेण्डा' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है।[६]

जीवन की एक नयी व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से किये जाने वाले आन्दोलन लोगों की जागरूकता, सामूहिकता तथा रूपान्तरण के लिए प्रोत्साहन देते हैं। वे असहाय और दुर्बल समुदाय के रूप में नहीं, बल्कि वे राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ जुड़ती जा रही है। राष्ट्रीय प्रगति के लिए एक सबसे बड़ा अवरोध हिन्दू समाज के अंदर से ही उभरा है। अल्पसंख्यक अपनी अलग धार्मिक आस्था और सभ्यता बनाए रखते हुए बहुसंख्यक समुदायों के साथ सहयोग करते हैं इन देशों के सर्वजीवन तथा प्रशासन में स्वयं भी रचा-बसा लेते हैं।[७]

गाँधीजी चाहते थे कि उनके सपनों के भारत में गरीब व्यक्ति का जीवन आनन्दमय हो जैसे सामान्य रूप से धनवान बिताते हैं। भारत का संविधन ऐसा हो जिसमें कोई भी सीमांत व्यक्ति भोजन और वस्त्र के अभाव से ग्रस्त न हो। विश्व स्तर पर आधारभूत अनिवार्य उत्पादनों का प्रबंधन जनसमूह के हाथों में हो। प्रत्येक व्यक्ति को इतना काम मिले कि वह अपनी दो वक्त की रोटी सरलता से कमा सके। महिला विमुक्ति सुधार भी महात्मा गाँधी का बहुत प्रिय विषय था। उन्होंने महिलाओं को सम्पूर्ण सामाजिक क्रांति प्रक्रिया से जोड़ने की वकालत की थी। गाँधीजी ने सामाजिक बंधन, आर्थिक अधीनता तथा राजनीतिक उपेक्षा से नारियों को विमुक्त कराने का जोरदार आह्वान किया है।[८] भारत में महिलाएँ आज भी दो राहों पर खड़ीं हैं। अज्ञानता, अशिक्षा एवं शोषण की शिकार महिलाओं को मुख्यधारा में लाना सर्वोदय समाज का उद्देश्य है।

भारतीय समाज में दलितों के उत्थान के लिए आन्दोलन होते रहे हैं। दलित वर्ग को समाज की मुख्यधारा में लाने हेतु ईमानदार पहल की आवश्यकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के ६६ वर्षों के बाद भी आज दलित वर्ग सामाजिक दासता, शोषण और उत्पीड़न से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। गाँधी जी का सर्वोदय की परिकल्पना दलितों को आर्थिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के पक्षधर हैं। तिलक का यह मानना था कि स्वराज प्रत्येक मनुष्य और समूह के लिये एक नैतिक और धार्मिक आवश्यकता है। अपने-अपने नैतिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करने के लिए मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त करना जरूरी है। मानव समाज को अपने विकास की प्रक्रिया में तीन चरण से होकर गुजरना पड़ता है पहला चरण सहजता का चरण होता है। दूसरा स्वयं के प्रति सचेत होने का चरण होता है। तीसरा चरण तर्क की जीत और हार दोनों का प्रतिनिधित्व करता है।[९]

गाँधी जी का विश्वास था यदि लोगों को अपने हितों की रक्षा तथा उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए तो वे धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक एकात्मकता के रूप में अपने हितों को खोज लेगें। सर्वोदय से उनका तात्पर्य, एक अच्छी सरकार के शासन से नहीं, बल्कि इसका सम्बन्ध सरकार के स्वतंत्रता और सत्ता के विकेन्द्रीकरण से था। जयप्रकाश नारायण ने गाँधीवादी सर्वोदय राजनीति के विचार को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीय नेता के रूप में जयप्रकाश नारायण मुख्यतः भारत के स्वयं सत्ता के विकेन्द्रीकरण के प्रबल पक्षधर थे तथा उन्होंने ही दल रहित राजनीति के विचार का प्रचार-प्रसार किया।[१०]

एक सामाजिक सुधार आन्दोलन के माध्यम से जाति-व्यवस्था व सभी प्रकार के सामाजिक दमनों के उन्मूलन हेतु संघर्ष लोकतांत्रिक संकल्पना का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। यदि भारत को अहिंसा के राह पर चलना है तो उसे विकेन्द्रीकरण का मार्ग अपनाना होगा। विनोबा भावे ने सर्वोदय विचारधारा के शीर्ष प्रवक्ता के रूप में अपना विचार प्रस्तुत किया। मानव जीवन के सभी पहलुओं को बदल देने वाली समग्रक्रांति की कल्पना एक नए मानव समाज की रचना को इंगित करता है।

उनका लक्ष्य मनुष्य जीवन को बदलना और एक नये विश्व का निर्माण करना था। एक सामाजिक आन्दोलन के माध्यम से जाति व्यवस्था व सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन हेतु संघर्ष लोकतांत्रिक संकल्पना का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। मानव समाज में समानता एवं स्वतंत्रता को स्थापित करना सर्वोदय समाज का एक आवश्यक अभिलक्षण है। इसलिए सर्वोदय विचार की यह मान्यता है कि 'चाहे वकील का काम हो या नाई का, दोनों का मूल्य बराबर हैं'। इसका एक कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आजीविका चलाने का समान अधिकार है। लेकिन आज श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच वेतन की भारी विषमता बनी हुई है। यही काल है कि वर्ग-निराकरण कठिन हो गया है।

गाँधी प्रणीत सर्वोदय-विचार भारती विचारकों के लिए कोई मौलिक धारणा या दर्शन नहीं है। उन्होंने मौलिकता का कोई दावा भी नहीं किया है। लेकिन उनकी मौलिकता इस समस्या के सामाजीकरण में है। 'सर्व-उत्कर्ष' के विचार से स्वार्थवादी का भी विरोध नहीं हो सकता है, क्योंकि 'सर्व' में ही 'स्व' भी सम्मिलित है। वस्तुतः गाँधी का सर्वोदय सम्बन्धी विचार अद्वैत दर्शन को विचारों के धरातल पर उतारने का प्रयत्न है, जीवन का कोई भी क्षेत्र, आर्थिक, धर्मिक, राजनीतिक या सामाजिक, इससे अछूता नहीं है। मानव जीवन एक है, पृथक् टुकड़ों में बँटा हुआ नहीं, अतः जीवन का कोई भी आदर्श, न मानव विशेष का आदर्श हो सकता है और न जीवन के विभिन्न क्षेत्र विशषों का। अत: सर्वोदय सम्पूर्ण मानव समाज का आदर्श है।

गाँधीजी पूर्णतया आधुनिक समाज सुधारक नेता थे। उन्होंने अपने देशवासियों को परिवार व समुदायवाद की संकीर्ण भावना से बाहर निकलकर देश की संयुक्त शक्ति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से सबको राष्ट्रीय समाज में सम्मिलित हो जाने की प्रेरणा दी। सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विषमता से मुक्त वर्ग समन्वय ही सर्वोदयी समाज का आदर्श है।

गाँधी का सर्वोदय विचार 'वर्ग-संघर्ष' में नहीं 'वर्ग-निराकरण' में आस्था रखता है। वर्ग-समन्वय से वर्ग-निराकरण तो होता ही है, साथ-साथ मानवता का भी विकास होता है। सर्वोदय सम्पूर्ण मानव-समाज का आदर्श है। आदर्श समाज के विचार के रूप में सर्वोदय-विचार से किसी को असहमति नहीं हो सकती। वास्तव में सर्वोदय-विचार व्यावहारिक तत्त्व-दर्शन है। सत्य और अहिंसा सर्वोदय की आधारशिलाएँ हैं। आदर्श के रूप में या जीवन के परम मूल्य के रूप में सर्वोदय न्यायसंगत ही नहीं, बुद्धिसंगत भी है।

संदर्भ:

१. *धर्माधिकारी, दादा, सर्वोदय दर्शन; अ.भा. सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, १९५८ पृ. ५*

२. *वही, पृ. ३*

३. *वही, पृ. ५२*

४. *वही, पृ. ५८*

५. *सिंह डॉ. जगपाल, भारत में राष्ट्रीय राजनीति, इग्नू, मार्च २००५, पृ.-८४*

६. *अग्रवाल डॉ. गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन आगरा, पृ. ३६१*

७. *पन्निकर प्रो. के. एन, आधुनिक भारत में राजनीति और धर्म, इग्नू, जनवरी २००४, पृ. २४*

८. *मुखर्जी, प्रो. सुब्रतो, गाँधी और समकालीन विश्व पर जागरूकता पाठ्यक्रम, इग्नू, जनवरी २००९, पृ. १०६*

९. *पन्निकर प्रो. के. एम ., आधुनिक भारतीय राजनीति विचारधारा, इग्नू जनवरी २००४, पृ. ४३*

१०. *वही, पृ. ३४*

***

नारी सशक्तिकरण की प्रासंगिकता

विद्यासागर सिंह

अभी हम सभ्यता के विकास की जिस मंजिल पर पहुँचे हैं, वह प्रकृति एवं प्राकृतिक नियमों पर शोध एवं चिन्तन का विषय है। जहाँ एक ओर विश्व के अधिकांश विकासशील एवं विकसित राष्ट्राध्यक्षों तथा सजग एवं प्रबुद्ध नागरिकों का ध्यान इस पर केन्द्रित नजर आता है; वहीं दूसरी ओर मनुष्य के यानी नर एवं नारी के आत्मिक अलगाव, विषमता, विच्छिन्नता, एकाकीपन और टूटन का भी समय है। यों कहा जाय कि आज का समय मनुष्य एवं मनुष्यता पर विचार करने का है। चूँकि पिछली पूरी सदी हिंसा की सदी थी और महिलाओं पर अत्याचार एवं हत्या का मामला (दहेज एवं बाह्य सौन्दर्य की कमी के सन्दर्भ में और अधिक) कहर ढाता हुआ महसूस हो रहा है। आज की दहेज-प्रथा प्राचीनकाल की दहेज-प्रथा का ही विकृत रूप है।

आज दहेज माता-पिता के स्नेह एवं वात्सल्य का स्वरूप न होकर वर-पक्ष द्वारा शोषण एवं अपमान का साधन बन गया है। आजकल कन्या के विवाह के पूर्व वर-पक्षवाले विवाह के शर्त के रूप में बड़ी-बड़ी राशि वसूल करते हैं। साथ ही साथ वे टी. वी., स्कूटर, मोटरकार, फ्रिज, वीडियों आदि की भी मांग करने से नहीं चुकते हैं और चुकती नहीं होने पर उन्हें अपमानित करना, तरह-तरह की यातनाएँ देना और यहाँ तक कि इसके लिए उसकी हत्या भी कर देते हैं। कुछ ऐसे भी उदाहरण अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य साधनों के द्वारा उपलब्ध हो रहे हैं।

आज महिलाओं की प्रतिष्ठा, उनका मान-सम्मान, उनके माता-पिता के द्वारा दहेज में दी गई राशि के आधार पर ही होता है। उनका यौवन, उनकी आकांक्षाएँ सभी दहेज की अग्नि में जलकर भस्म हो जाते है। बेमेल विवाह और विलम्ब से विवाह दहेज-प्रथा के स्पष्ट दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि आने वाली पीढ़ियाँ उन्हें ऐसे ही याद करेंगी। रामधारी सिंह दिनकर जी ने यूरोप की कुमारी युवतियों की दयनीय स्थिति की मार्मिक चर्चा की है। निरालाजी, पन्तजी, आदि ने भी विषमता पर चिन्ता व्यक्त की है और उन्हें (नारियों को) समाज की मुख्यधारा में जुट जाने की सलाह भी दी है।

युद्ध, आतंकवाद, सम्प्रदायवाद, जातीय तथा नस्ली और सफलतापूर्वक महिलाओं पर अत्याचार एवं संहार पिछली सदी की पहचान रही है। यह मानवीय हिंसा का एक अद्भुत रूप का उदाहरण ही कहा जायेगा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अपना अहंकार तुष्टि एवं आर्थिक विषमता इसका मूल कारण है। इन्हीं दोनों कारकों ने हिंसा को एक नवीन संस्था, नवीन तकनीक, मनोवैज्ञानिक योग्यता और अद्भुत रचनात्मकता का रूप दे दिया है। वस्तुतः उपर्युक्त समस्यायों के मूल में राजसिक एवं तामसिक अहंकार की तुष्टि के लिये ही आर्थिक मोर्चाबन्दी की गई है और आर्थिक विषमता की बढ़ोतरी से भयावह स्थिति उत्पन्न होती रही है। इस होड़ ने हमारे पूरे अस्तित्व को मार डालने की बेहतर क्षमता के साथ जोड़ दिया है। इस बात की पुष्टि इस बात से और अधिक युक्तिसंगत ढंग से की जा सकती है कि दुनिया के सभी देशों के रक्षा बजट में बढ़ोतरी एवं लोक कल्याण के बजट में कटौती कर दी गई है। इससे भी और अधिक चिन्ता का विषय यह है कि विश्व के लगभग साठ प्रतिशत वैज्ञानिक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रक्षा अनुसंधान में लग गये अथवा लगाये गये हैं। संसार में महिला और पुरुष के बीच असमानता ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आज महिलाओं के प्रति ओसामा बिन लादेन का प्रतिबंध दुनिया को चौकाने वाला रहा है। यों अफगानिस्तान में तालिबान के पतन के बाद गठित सरकार ने महिलाओं को बराबरी के अवसर देने की प्रतिबद्धता बतायी है। इससे पहले तालिबान शासनकाल में महिलाओं को शिक्षा एवं रोजगार से वंचित रखा जाता था और घर से बाहर निकलते समय बुर्का पहनना उनके लिए अनिवार्य शर्त थी। अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर आठ मार्च को संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक विशेष समारोह आयोजित किया गया जिसमें अफगानिस्तान की महिलाओं की स्थिति पर विशेष रूप से चर्चा की गई। सुश्री लारा बुश ने अपने भाषण में भी अफगानिस्तान की महिलाओं के बारे में विशेष चर्चा की है।[१] और तब से अन्यत्र भी इनकी विशेष चर्चाएँ हो रही हैं।

अफगानिस्तान में ही नहीं, बल्कि अन्य देशों में भी विषमता दृष्टिगत होती है। पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं को उनका वास्तविक अधिकार देने के चाहे जितने भी बयान दिये जाएं, पखवारे और महिला सशक्ति वर्ष मनाया जाय, लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि हमारे समाज में समस्त सुधारों के बावजूद बेटे के जन्म पर जैसी खुशियाँ और जश्न मनाये जाते हैं, बेटी के जन्म पर वैसा कुछ देखने में प्रायः नहीं आता। संतानहीन दंपत्ति भी वैद्य, हकीम और डॉक्टर से इलाज के दौरान पुत्ररत्न प्राप्ति की ही मंशा जाहिर करते हैं। यह मात्र अफगानिस्तान की ही बात नहीं है, बल्कि पाकिस्तान, ईरान, इराक, इटली आदि राष्ट्रों में भी लगभग यही स्थिति है।

उदाहरण के लिए न्याय और समानता के लिए ईरान की महिलाओं ने १९७९ में क्रांति की जिसमें ईरान के शाह का तख्ता पलट गया था। उस आंन्दोलन में महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। उन्हें उम्मीद थी कि शाह के दमनकारी शासन के पश्चात् उन्हें समान नागरिक अधिकार मिलेंगे। लेकिन बात उल्टी हो गई। सत्ता में आये इस्लामिक रिपब्लिक ने पिछले दशकों में मिले अधिकारों को भी छीन लिया। उनके पास सिर्फ वोट देने का अधिकार रह गया, जो उन्हें १९६३ के अन्त में मिला था। अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में इस्लामिक सरकार ने महिलाओं से सम्बन्धित अनेक कानून रद्द कर दिये और यह निर्णय लिया गया कि कोई महिला न्यायधीश अथवा जज नहीं हो सकती है। इसे १९६७ में लागू किया गया और परिवार संरक्षण कानून भी रद्द कर दिया गया।

इतना ही नहीं लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु कम करके नौ वर्ष और लड़कों की न्यूनतम आयु चौदह वर्ष कर दी गयी। लड़कों की अधिकतम आयु पर कोई विचार नहीं हो पाया और लड़कियों के लिये बुर्का पहनना अनिवार्य बना दिया गया। समुद्री तट जैसे सार्वजनिक स्थलों पर महिलाओं का प्रवेश वर्जित कर दिया गया और उन्हें खेलों में भाग लेने पर भी पाबंदी लगाई गई। ईरान में महिला आन्दोलन के अध्ययन के लिए होमा हुदफार ने एसोसियेशन फॉर वूमन इन डेवलपमेंट (www.awid.org) के सहयोग से मिडियावालों ने प्रमाण प्राप्त किया है। जहाँ तक तलाक का प्रश्न है वह २०, ३० और ४० वर्ष बाद भी दिया जाता है। १९९७ में एक और उदार नेता मोहम्मद खातमी के सत्ता में आने के पश्चात् महिलाओं की उपस्थिति और उभरकर सामने आई।

जनाब खातमी के राष्ट्रपति काल में महिलाएँ संगठित हुई हैं और उन पर लगी अनेक पाबंदियां हटा ली गई हैं। किन्तु अभी भी उनकी हालत अच्छी नहीं है, असमानता दृष्टिगोचर हो ही रही हैं। पाकिस्तान के न्यायालय में तो एक पुरुष के बदले दो और उससे भी अधिक महिला को गवाही देना पड़ता है। अर्थात् दो या उससे अधिक महिला मिलकर एक पुरुष के बराबर होते हैं।

जहाँ तक प्राचीन भारत का प्रश्न है यहाँ की महिलाओं का इतिहास गौरवमय था। वैदिक युग में भारतीय समाज-व्यवस्था की धूरी महिला ही थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी सक्रिय भूमिका रही है। शास्त्रों के सृजन से लेकर महत्त्वपूर्ण फैसला लेने सम्बन्धी प्रत्येक प्रक्रिया और हर मोड़ पर वे मौजूद रही हैं। इसलिए समाज में सौहार्दपूर्ण वातावरण था। प्रत्येक क्षेत्र में देश की श्रेष्ठता दृष्टिगत होती थी। सम्पूर्ण संसार विशेष रूप से एशिया, भारत की प्रगति और चिंतन शैली से गम्भीर रूप से प्रभावित था। लेकिन इस विकास-प्रक्रिया में विदेशी हमलावरों ने बाधा पहुँचायी। इन विदेशियों

ने आपसी भेद-भाव लाकर इनकी सभ्यता एव संस्कृति को नष्ट करने का हर संभव प्रयास किया और आपसी वैमनस्यता का लाभ उठाकर भारत को एक बार नहीं अनेक बार रौंदा। देश राजनैतिक रूप से पराधीन हो गया। सामाजिक दृष्टि से पतन के गर्त में गिरा। मिथ्या धारणाओं और अप्रासंगिक रूढ़ियों के बल पर उसे मात्र गृहिणी बना दिया गया।

गृहिणी के रूप में भी उसके केवल कर्तव्य ही निर्धारित किये गये। अधिकार के नाम पर तो उनके पास सिर्फ 'जननी' बनना ही शेष रहा। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों ने भी कहना प्रारम्भ कर दिया कि 'स्वां प्रसूति चरित्रं च कुलमात्मानमेव च, स्वं च धर्म प्रयत्नेन जायां रक्षण ही रक्षति।' अर्थात् सभी पुरुषों को चाहिये कि अपनी स्त्रियों को स्वतंत्र न होने दें, किसी विषय में आसक्त होने पर भी उन्हें अपने वश में रखें। कुमारी अवस्था में पिता, युवा अवस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र उसी रक्षा करता है।

इस भयावह स्थिति के कारणों का एहसास होते ही आधुनिक समाज सुधारकों ने इन कुरीतियों से महिला समाज को मुक्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, महर्षि करवे, महात्मा फुले जैसे समाज सुधारक समूची स्थिति के आकलन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महिलाओं को समाज की मुख्यधारा से बाहर रखने के कारण देश में जड़ता और उदासीनता का प्रसार हुआ। पर्दा-प्रथा और अशिक्षा प्रमुख जकड़नें थी। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का डटकर विरोध ही नहीं किया, बल्कि पर्दा-प्रथा जैसे कुरीतियों को बन्दकर शिक्षा पाने के लिए उन्हें प्रेरित भी किया। शिक्षा के माध्यम से वे अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों को समझ पायेंगी और देश का विकास संभव होगा।

दरअसल भारत की आत्मा ने कभी भी इस विषमता एवं वैमनस्यता को स्वीकार नहीं किया। भारतीय इतिहास में तो अभेद दृष्टि की ही पूजा होती रही है। जैन दर्शन ने भी मनुष्यों की समानता एवं स्वतंत्रता को स्वीकार किया है। बौद्धों ने भी इसे स्वीकार किया है। बुद्ध ने स्वयं अपने शिष्यों को आदेश दिया है कि 'सब देशों में जाओं और इस धार्मिक सिद्धान्त का उपदेश करो। उन्हें बताओ कि निर्धन एवं नीच जाति के व्यक्ति और धनी एवं उच्च घराने वाले सब एक हैं, और यह कि इस धर्म में सब जाति मिलकर एक हो जाते हैं जैसे कि समुद्र में पड़कर सब नदियाँ एक हो जाती हैं।''[२]

जैन दर्शन में श्वेताम्बरों ने एवं बौद्धो में महायानियों ने समानता एवं स्वतंत्रता का खुलकर प्रचार किया है। और, हिन्दुओं का इतिहास जिसे पुराण कहा जाता है, में बतलाया गया है कि परोपकर ही पुण्य है और दूसरे को पीड़ा पहुँचाना ही पाप है। इस बिन्दु पर अठारह पुराण एकमत हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में तो 'सर्वभूत हितेः रताः' की बात बतलाई गई है। इसलिये नारियों को निम्न कहना अथवा उनका शोषण करना अथवा उन्हें उत्पीड़ित करना हास्यापद ही है। अन्य ग्रन्थों में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है।

आज का भारत भले ही कुछ अंश में इसका उदाहरण बन जाय अथवा बनाया जाय किन्तु पहले इसकी स्थिति वर्तमान से बेहतर थी। आज भी सुप्रीम कोर्ट को महिला अधिकार अथवा परेशानी के सम्बन्ध में कोई अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। चूँकि भारत की आत्मा पहले भी कबूल कर रही थी और आज भी कबूल करने को तैयार है। हिन्दूशास्त्र में महिला और पुरुष दोनों को समान महत्त्व दिया गया है। डॉ. जयशंकर मिश्र ने भी लिखा है कि 'हिन्दू विचारकों की दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं था।'[३] और यदि था तो वह प्राकृतिक मामलों में ही। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से दोनों को समान सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता था। इन हिन्दुओं ने तो यहाँ तक कहा कि जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती उस कुल के सर्वकर्म निष्फल हो जाते हैं।

हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ स्मृतिग्रन्थ मनुस्मृति में तो स्पष्ट कहा गया है कि 'यत्र नार्यस्तु, पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया।। शोचयन्ति जामयो यत्र विनश्चत्याश तत्कुलम। न शोचवन्ति तु यत्रैतावर्धते। तद्वृद्धि सर्वदा।। (मनु ३.५६-५७)४ यहाँ तो घोषणा के तौर पर स्वीकार किया गया है कि जिस कुल में घर की स्त्रियाँ

(जामि) शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और जिस कुल में या वंश में वे शोक नहीं करती वह वंश सर्वदा उन्नति करता है। आगे एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि उन्नति चाहने वाले मनुष्यों को स्त्रियों के प्रति आदर-सत्कार की भावना एवं क्रिया से सम्पन्न होना चाहिए।[५]

रवीन्द्र नाथ टैगोर ने तो लिखा है- True womanliness is regarded in our country as the saintliness of love. It is not merely praised there, but literally worshipped; and she who is gifted with it is called Devi, as one revealing in herself Woman, the Divine."[6] (क्रियेटिव यूनिटी पृ. १६२) सरस्वती, दुर्गा, काली आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसलिये कहा गया है- "In India, our mind is familiar with the idea of god in an eternal feminine aspect. Thus the Eastern woman, who is deeply aware in her heart of the sacredness of her mission, is a constant education to man."

वस्तुतः भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में अमीर या सभ्य अथवा सामाजिक दृष्टि से उच्च जाति की महिला हीं नहीं, बल्कि सम्पूर्ण नारी समाज सृष्टि के प्रारम्भ से ही अनन्त गुणों की भण्डार रही है। इसलिये तो रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पुस्तक 'क्रियेटिव यूनिटी' में लिखा है कि भारत की औरतें हमेशा से त्याग और बलिदान के लिये तैयार रही हैं। उन्हीं के शब्दों में "Woman has to be ready to suffer... women of India, like women everywhere, have their share of suffering but it radiates through the ideal, and becomes, like sunlight, a creative force in their world." (क्रियेटिव यूनिटी, पृ. १६३) सावित्री ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर दिखा दिया है। और, सीता स्वयं ने लव-कुश का पालन-पोषण कर पूर्व मानव रूप प्रदान कर दिखा दिया है, अर्थात् वे पुरुषों से किसी दृष्टिकोण से कम नहीं थीं।

गरीब और अमीर अथवा उच्च एवं निम्न का मामला बाद में चलकर बना है। दरअसल शुरू में पृथ्वी जैसी क्षमता, सूर्य जैसा तेज, समुद्र जैसी गम्भीरता, चन्द्रमा जैसी शीतलता, पर्वतों के सादृश्य मानसिक उदात्तता अथवा उच्चता हमें एक साथ महिलाओं के हृदय में दृष्टिगोचर होती है। वह दया, ममता, प्रेम और करुणा की मूर्ति है और समय पड़ने पर प्रचण्ड-चण्डी भी बनती रही है। आधुनिक आतंकवादी संगठनों में इसलिए तो महिलाओं को शामिल किया जा रहा है। संगठनकर्ता की स्पष्ट सोच है कि जहाँ कोई और न पहुँच सके वहाँ ये झट से बिना रोक-टोक के आसानी से पहुँच जाती हैं।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी के शरीर के चिथड़ें उड़ गये और चेहरे का पता नहीं चला। वह रूप भी महिला का ही था। पहले ताड़का, सुरसा, शूर्पणखा आदि राक्षसी की बात की जाती थी या बौद्ध धर्म में मार को विघ्न डालने वाली शक्ति बतलाया गया है। गौतम की तपस्या के क्रम में बुद्धत्व से पूर्व ही सांची के तोरण पर 'मार-विजय' का दृश्य खुदा है। ... राक्षसी सेना प्रस्तर तथा वृक्ष की शाखाएँ फेंक कर (बुद्ध की) तपस्या में विघ्न उपस्थित कर रही हैं। अन्ततः बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली।[७] फिर सुजाता जो उन्हें खीर खिलाती है वह भी दृश्य नारी का ही है। अर्थात् वहाँ नारी ने ही उद्धारक का काम किया है। अर्थात् सबलिमिटी या उदात्त चरित्र के साथ ही साथ क्रूरता को धारण करने का भी उन्हें सामर्थ्य प्राप्त था। कौटिल्य ने भी उनमें नर से छः गुणा अधिक साहसी माना है।

अतः वह पुरुषों की तरह अवतार भी लेती रही हैं। वह मनुष्य के जीवन की जन्मदात्री भी हैं। माँ लक्ष्मी, सरस्वती एवं पार्वती को जगत्-जननी माना जाता रहा है। श्री लक्ष्मीजी का अवतार श्री सीताजी के सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है कि 'सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत् जननि अतुलित छवि भारी।। अर्थात् सीताजी के नवल शरीर पर सुन्दर साड़ी सुशोभित है। जगत्-जननी की महान् छवि अतुलनीय है। उधर जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि पुरुषों में यदि राक्षसों की तो महिलाओं में राक्षसियों की तथा पुरुष में यदि देव हैं तो महिलाओं में देवियों की भी कम महत्ता नहीं है। लंकिनी को पहरे पर रखना फिर आकाश में उड़ने वाले जीवों को चटकर जाने वाली राक्षसी का भी जिक्र आता है।[८]

इससे यह पता चलता है कि महिला स्वतंत्र एवं शोषण मुक्त थी। वह काली, दुर्गा अथवा ताड़का की तरह युद्ध कर

सकती थी और अपनी इच्छानुसार किसी खास पुरुष का वरण कर सकी थी। पुरुष का विरोध करना उनके लिए प्राण-घातक सिद्ध हो सकता था। उदाहरण के लिए शूर्पणखा कहती है मेरे योग्य पुरुष जगत् भर में नहीं है, मैंने तीन लोकों को खोज लिया है। इसी कारण मैं अब तक कुमारी (अविवाहित) रही। अत: तुमको देखकर कुछ मन माना है और उनके नहीं मानने पर भयभीत करती है।

अत: महिलाओं का परतन्त्र एवं शोषित होने की बात थी ही नहीं। हालांकि देव एवं दानवों के चरित्र का अध्ययन नीतिशास्त्र नहीं करता है। यह साधारण सामाजिक व्यक्तियों के आचरण का ही अध्ययन करता है। वह भी ऐच्छिक कार्यों का ही। व्यावहारिक नीतिशास्त्र के साथ यही सिद्धान्त लागू होता है।

विवाह के प्रसंग में मनुस्मृति की तुलना में नारद एवं याज्ञवल्क्य स्मृति अधिक व्यावहारिक दृष्टिगत होता है। जहाँ तक विधवा-विवाह का प्रश्न है नारदस्मृति की तरह या याज्ञवल्यस्मृति में भी इसकी अनुमति दी गई है, और उसमें जो शर्त या व्यवस्था दी गई है वह मनुस्मृति की तुलना में अधिक व्यावहारिक है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय जिस तरह पुरुष पत्नी की मृत्यु अथवा बाँझ होने अथवा किसी खास बीमारी से ग्रसित होने पर, दूसरी शादी कर लेते थे; वैसे पत्नी भी खास परस्थितियों में दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर पुत्र उत्पन्न कर सकती थी या विवाह कर सकती थी। यों महिलाओं के त्याग और बलिदान को कौन नहीं जानता है। लोकमंगल के लिए किए गये कार्य ऐच्छिक कर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। काम करना या नहीं, यह उनकी इच्छा पर निर्भर करता था। जैसे आज समाज द्वारा थोपी गई परम्परा का विरोध हो रहा है वैसे पहले भी घटनाएं घटती रही हैं।

महाभारत काल में द्रौपदी का कर्ण के साथ विवाह अस्वीकृत कर देना एवं युद्ध करने के प्रसंग में आनाकानी करने पर पतियों को धिक्कारना तथा युद्ध में स्वयं भाग लेने की बात भी उनकी स्वतंत्रता एवं पुरुषार्थ का ही प्रमाण सिद्ध होता है। वह पुरुषों की तरह वीर, साहसी एवं पराक्रमी भी रही है। कैकयी की मदद को कौन नहीं जानता कि राजा दशरथ को उसने कैसे मदद दी थी। फिर शुभद्रा भी रण कौशल से परिचित थी। आधुनिक युग में महारानी लक्ष्मी बाई तथा बेगम हजरत महल आदि महिलाओं ने जिस वीरता के साथ अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया है, उससे भारतीय नारियों को एकबारगी फिर अहसास हुआ कि समाज और देश के प्रति उनका दायित्व 'एक मां, एक बहन और एक पत्नी के दायित्व से कम नहीं है।'

जैन श्वेताम्बर परम्परा में तो नारियाँ भिक्षुणी हो सकती हैं, किन्तु जैन दिगम्बर परम्परा ने घोषणा कर दी थी मुक्ति नारियों के लिए नहीं है। नारियों को चाहिए कि वे सीमित धर्म का पालन करें, जिससे अगले जन्मों में वे पुरुष का जन्म ग्रहण कर सकें। क्योंकि मोक्ष-लाभ के समीप आने पर उन्हें पुरुष होकर जन्म लेना ही पड़ेगा। किन्तु, बुद्ध के जीवन में ही इस नीति के दुष्परिणाम दिखायी पडे- 'आनन्द! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच हजार वर्ष तक टिकने वाला था, लेकिन अब वह सिर्फ पाँच सौ वर्ष चलेगा, क्योंकि हमने स्त्रियों को संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी है।' हिन्दू-मन्दिरों में भी जो देवदासी की प्रथा चल पड़ी, वह बौद्धों की इस भिक्षुणी-प्रथा की ही देन थी।[९]

किन्तु हिन्दू शास्त्रों के साथ ऐसी बातें नहीं हैं श्रीमद्भगवद्गीता में उन्हें क्षमा, घृति, विद्यास्वरूपा आदि बतलाया गया है- 'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा घृतिः क्षमा।'[१०]

(Among women, I am kirti, Sri, Vak, Smriti, Medha, Dhriti and Kshama (The goddesses presiding over glory, prosperity, speech, memory, intelligence, steadfastness and forbearance respectively)

अन्यत्र शूद्र और महिला के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत बतलाया गया है: स्त्रियों वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्।।

(Arjuna Women! Vaisyas, Sudras as well as those of vile birth, whoever they may be taking refuge in

me they too attain the supreme goal.)[११] अर्थात् शूद्र और नारियाँ दोनों परम पुरुषार्थ प्राप्त कर सकती हैं। यानी पुरुषार्थ की दृष्टि स सभी समान हैं।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने भी नर और नारी की गैर-बराबरी को खत्म करने की सीख दी है। इनकी दृष्टि में इसको समाप्त किये बिना दूसरी भी गैर-बराबरी खत्म (समाप्त) करना असंभव है और यह गैर बराबरी खत्म तभी होगी जब कि नारी को शायद हमेशा के लिए संगठन के मामले में ज्यादा मौका अथवा विशेष अवसर दिया जाए। भीमराव अम्बेडकर की भी यही मान्यता रही है। यही कारण है कि आज नारियों के सशक्तिकरण के लिये प्रयास किये जा रहे हैं। यहाँ पहले से ही वे शास्त्रार्थ में भाग लेती रही हैं। लोपामुद्रा, घोषा, भारती (मण्डन मिश्र की पत्नी) आदि विदुषी महिला को कौन नहीं जानता है। इस तरह की श्रद्धामयी महिला के विषय में जयशंकर प्रसाद की कृति कामायनी, जो कि भारतीय समाज का प्रतिनिधि महाकाव्य की बराबरी रखता है, में बतलाया गया है – 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग तल में। पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।'

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि 'श्रद्धा' त्याग और तपस्या की आधारशिला पर ही वह अवस्थित रह सकती है। याज्ञवल्य की पत्नी का चरित्र इसका ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने आध्यात्मिक सम्पत्ति के समक्ष सांसारिक धन को तुच्छ बतलाकर विश्व में अपना आदरणीय स्थान प्राप्त किया है। वह आज भी श्रद्धापूर्वक याद की जाती है। इस आदर्श एवं तपस्या के बल पर ही पुरुषोपार्जित द्रव्य के व्यय और संचय की वह स्वामिनी बनी रही। बिना गृहणी के गृह की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कहा गया है- 'न गृह गृहमित्याहुः गृहिनी गृहमुच्यते। गृहं हि गृहिणीहीनम् अरण्यसदृशं मृतम्।।' इतना ही नहीं नारी का इतना महत्त्व था कि साधारण पुरुषों की तो क्या देवों के देव महादेव को भी अपनी गृहिणी के गृह पर भिक्षाटन करते दर्शाया गया है।

इससे उस समय की महिलाओं का महत्त्व एवं वर्चस्व का पता चलता है। कहीं पुरुष प्रधान थे तो कहीं महिला, दोनों में किन्हीं को निम्न बतलाना उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में अरस्तू का संदेश स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। उनका कहना है कि वासना, क्रिया, बुद्धि आदि का समन्वय कर विवेक उत्पन्न कर सकते हैं तथा विवेक के कारण सद्गुणी होकर न्याय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये हमें मध्यम-मार्ग का अनुसरण करना होगा। मध्यम-मार्ग व्यावहारिक नैतिकता का सूचक है। इसमें समझौता का सिद्धान्त अहम् भूमिका अदा करता है। यही समझौते का सिद्धान्त दोनों को बराबरी की भी सीख देता रहा है। किन्तु यह सीख भारत की परतन्त्रता के कारण मिटने लगी और नारी परतन्तत्र होने लगी। मेकियावेली फिक्टे, नित्शे आदि की अवधारणा भी इस के लिये कम जिम्मेदार नहीं है। शक्ति पाने की होड़ में यह सब घटना घटने लगी है।

अब स्पष्ट है कि भारत की परतन्त्रता के साथ-साथ महिलाओं की परतन्त्रता का भी श्रीगणेश हुआ है। एक-दूसरे के लिए प्रेम, करुणा और बलिदान की भावना ने कालान्तर में विष अथवा घृणा एवं द्वेष का रूप धारण कर लिया। उनका पुरातन सेवाभाव उन्हीं के लिये घातक बन गया। खासकर इब्राहिम लोदी एवं मुगलों के शासन काल में निर्दयी पुरुषों ने उन्हें बन्धनों में जकड़ लिया और तभी इन्हें व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में चिता भी सजानी पड़ी। राखी की सहायता लेनी पड़ी और ऐसी दयनीय स्थिति में ही गोस्वामी तुलसीदास को कहना पड़ा होगा कि 'पुरुष के बिना नारी की वह स्थिति बन जाती है जो स्थिति पानी के बिना नदी की बन जाती है। या फिर समुद्र के माध्यम से यह कहना कि 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।'[१२] या अनसूयाजी का यह कहना, स्त्री जन्म से ही अपवित्र होती है और पति ही परमेश्वर है, यह कहना अतिशयोक्ति है।

दरअसल उसी समय में तीन तरह की स्त्रियों की चर्चा करके उन्होंने उनकी स्वतंत्रता का भी प्रमाण दे दिया है। विशेष सावधानी एवं प्रतिबंध की बात जो कुछ दृष्टिगत होते हैं वह इस्लाम के कारण हैं। इस्लाम में नारी को न पहले स्वतंत्रता थी न आज ही है। पहले नारी को खेत और अंगूर का बगीचा कहा गया है।[१३] फिर उन्हें धरती कहा गया है और भूमि की

उर्वरा शक्ति को पुरुष के अधीन बतलाया है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि नारी की स्थिति बराबर एक-सी नहीं रही। अनेक बार महिलाओं की स्थिति अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति व संस्था द्वारा कमजोर बनाई गई है, और कमजोर बनाने की बातें चलती रही है।[१४] बाबर और उससे पूर्व इब्राहिम लोदी आदि मुसलमानों का शासन ही इसके लिए उत्तरदायी है। कुछ शासकों ने इसे महसूस भी किया। इसलिए अकबर ने अपने सिद्धान्तों में नरमी का रुख अपनाया। किन्तु फिर औरंगजेब के समय और फिर उनके बाद के शासकों के समय उनकी स्थिति फिर वही हो गई। उनके शासनकाल में जिन राज्यों में सैनिक अधिनायक रहे या एक ही नायक के हाथों में सारी शक्ति रही, उनमें महिलाओं को कभी भी विशेष सुविधाएँ नहीं मिली।

भारत में सबसे रोचक बात यह है कि अति प्राचीन काल से अभी तक एक सांस्कृतिक निरंतरता देखने में आती है जो अन्य कहीं दृष्टिगत नहीं होती। यदि कहीं कुछ मामलों में दृष्टिगत होती भी है तो अव्यवस्थित रूप में। यह निरंतरता केवल भूमिक अवशेषों से ही प्रमाणित नहीं होती, बल्कि इससे भी होती है कि मेहरगढ़ से मुगल काल तक की जीवन-दृष्टि में भी एक निरंतरता है जो अपने आस-पास के दूसरे देशों सं बिल्कुल पृथक् अस्तित्व रखती है। इसमें पशुओं-पक्षियों तक को कहीं क्रूर नहीं दिखाया गया है।

इतना हीं नहीं वे एक-दूसरे पर झपट्टा मारते या दूसरे का शिकार करते नहीं दिखाई पड़ते। उनके चित्रण में भी एक गरिमा है। मानव कृतियों के अंकन में भी एक सभ्यता और शांति की संस्कृति है, न कि तनाव, घृणा या आक्रोश का बोलबाला है। पहली बार यह परम्परा मुगलकाल में खण्डित होती है जब हाथी सहित दूसरे जानवरों को एक-दूसरे पर प्रहार करते दिखाया जाता है। इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। मुस्लिम शास्त्र में भी इन्हें (नारी को) निम्न स्थान दिया गया है।

कुरान में नारी को उत्पत्ति का गौण कारण बतलाया गया है। उसमें पौरुषीय सिद्धान्त को ही सृष्टि का प्रधान कारण अथवा उसका जनक बतलाया गया है। इसका प्रचार-प्रसार भारत में जमकर हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि इन विदेशियों के कारण अन्य विदेशियों का भी आगमन होता रहा। कुछ ने तो लूट-पाट मचाकर इसे नष्ट करने की कोशिश की, तो कुछ ने सांस्कृतिक विरासत को मिटाने का भरसक प्रयास किया। इसी प्रयास के कारण एचिलस, अरस्तू एवं हिपोक्रेटिस के सिद्धान्त का भी जमकर प्रचार-प्रसार हुआ। इनकी दृष्टि में महिला पृथ्वी और पुरुष बीज रूप, फिर दूसरे स्थल पर महिला को जल और पुरुष को अग्नि बतलाया गया है। एक अन्य जगह पुरुष की तुलना सूर्य से भी की गई है और महिला की तुलना पृथ्वी और समुद्र से की गई है।[१५]

इस्लाम की तरह ईसाई धर्म में भी सृष्टि की प्रत्येक काल्पनिक कथा में महिला की गौण स्थिति का जिक्र किया गया है। ईसाई धर्म में जो सृष्टि सिद्धान्त है उसे पाश्चात्य चिंतकों ने मान्यता दे दी। यों कहा जाय कि पाश्चात्य सभ्यता इस सिद्धान्त को मान्यता देती है।[१६] अंग्रेजों ने भी भारत की सांस्कृतिक विरासत को तोड़ने का ही काम किया है। महिलाओं का सबसे बड़ा अभिशाप तो यह हुआ कि युद्धस्तरीय सारी घटनाओं या दुर्घटनाओं से उसे बिल्कुल वंचित रखा गया। मुसलमानों का इतिहास रक्तरंजित रहा है। अन्य को अपने कब्जे में लेना तो आम बात हो गई थी। इतना ही नहीं औरंगजेब ने तो सत्ता के लिए पिता (औरंगजेब का अपने पिता शाहजहां के साथ जो व्यवहार रहा वह इतिहास में अनोखा है) को भी नहीं छोड़ा। उन्हें भी जेल में रखा एवं दाने-दाने के लिये तड़पाना इस बात का सबूत है।

फिर मुगलकाल के बाद अंग्रेजों का शासन आया। उन्होंने भी इस दिशा में कुछ काम किया और स्वतंत्रता के बाद गाँधी, नेहरू, लोहिया, अम्बेडकर आदि ने भी नारियों की शिक्षा एवं स्वतंत्रता पर ध्यान दिया। चार सितम्बर १९९५ में विश्व का सबसे बड़ा चौथा विश्व महिला सम्मेलन मनाया गया है। उसमें महिलाओं की दयनीय स्थिति पर भी विचार किया गया। श्रीमती नजमा हेपतुल्ला ने श्रीमती भुट्टो के वक्तव्य का जवाब देते हुए कहा है कि पाकिस्तान को खुद अपने से यह सवाल करना चाहिए कि आतंकवाद और महिलाओं की स्थिति के मामले में उसका क्या इतिहास रहा है?

पाकिस्तान में अभी भी महिलाओं की दयनीय स्थिति अन्य देशों से अधिक है। पाकिस्तान की 'हकीकत' नामक पुस्तक से भी इस बात की पुष्टि होती है। ऐसे अन्य मुल्कों में भी उनकी स्थिति दयनीय है। उन मुल्कों के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि सत्ता के मद में पुरुष भोग-विलास में लीन रहते थे। गुलामों पर आत्याचार और वेश्याओं से व्यभिचार उनकी नियति बन गई थी। इसी क्रम में बहुरंग और बहुविवाह के अधिकार भी पुरुषों ने प्राप्त किए। वह आर्थिक दमन से उपजे सामाजिक दमन का शिकार हुई। शायद इसीलिए सीमेन द् बोउवार ने बेबर की उक्तियों को उद्‌धृत किया है कि 'औरत और सर्वहारा दोनों ही दलित हैं और दोनों के सामाजिक जागरण की संभावना यांत्रिक सभ्यता में अधिक पायी जाती है।'[१७]

मिखाइल दुर्खीम की रचनाओं में भी इस बात की पुष्टि की गई है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के लोभ से पुरुष में स्वामित्व की भावना विकसित हुई तथा वह जमीन का मालिक बनने लगा और तब गुलामों का भी मालिक बन बैठा अर्थात् उस समय वह गुलामों का मालिक था और तब बना स्त्री का मालिक। यहीं से महिला की गुलामी की कहानी शुरू होती है।[१८] मिखाइल दुर्खीम, पैरेटो, मैक्स वेबर एवं कार्ल मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं से भी इस बात की सम्पुष्टि होती है। होली फैमली के अध्ययन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

महिलाओं की समस्या, उसके श्रम की क्षमता की समस्या से न्यूनीकृत की जा सकती है। किन्तु आधुनिक विकसित यांत्रिकी ने क्षमता के स्तर पर भी कुछ मामलों में महिलाओं को पुरुषों के बराबर खड़ा कर दिया है और आगे अन्य समस्याओं के समाधान के लिए वे प्रयत्नशील हैं।

महिलाओं में निम्न भावनाओं का आगमन निजी सम्पत्ति की अवधारणा से भी हुआ है। यह अवधारणा हिन्दुस्तान की अपनी नहीं, बल्कि दूसरे जगहों से प्राप्त हुई है। नहीं तो दुर्गा, काली की तरह लक्ष्मीबाई अंग्रेजों से लोहा क्यों लेती? इसलिए तो रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है- "This is why, in India, Woman has been described as the symbol of shakti, the creative power."[१९] रजिया बेगम, नूरजहाँ, इन्दिरा गाँधी आदि को सृजनात्मक शक्ति मानने से किसको इन्कार हो सकता है?

श्रीमती इन्दिरा गाँधी बंगलादेश की स्वतंत्रता के सन्दर्भ में विश्व के राजनीतिज्ञों को सबक देकर गई है। अतः महिलाओं पर अत्याचार अथवा उन्हें गौण स्थान प्रदान करना हिन्दुस्तान की गरिमा के प्रतिकूल ही कहा सकता है। आज जो हिन्दुस्तान में भी कुछ उदाहरण देखने को मिल जाते हैं वे पाश्चात्य सभ्यता एवं अन्य पूँजीपत्तियों और सामंती व्यवस्था के कारण ही दिखते हैं।

निजी सम्पत्ति की अवधारणा ने ऐतिहासिक विकास-क्रम में सामाजिक स्तर पर स्त्री को निरंतर हीनतर स्थिति में पहुँचाया है।[२०] पितृसत्तात्मकता समाज तथा संस्थाओं की मौलिक संरचना में निजी सम्पत्ति का मालिक भी वैयक्तिकता को हस्तान्तरित और अलगावित करके मात्र अपनी सम्पत्ति को प्यार करता है। उसकी सम्पत्ति हस्तान्तरित होकर पुत्र के हाथ होती है पुत्री के हाथ नहीं। उनका अस्तित्व तक पुरुष की कृपा यानी पिता की कृपा पर निर्भर था। पिता को पूरा अधिकार था कि वह चाहे जहाँ और जिससे बेटी का विवाह करे।[२१]

किन्तु अब तो भारत में इन्हें कानूनी तौर पर समान अधिकार प्राप्त हो गया है। प्रधानमंत्री के बाद अब प्रथम नागरिक अर्थात्, महामहिम राष्ट्रपति का पद भी नारी को प्राप्त हुआ है। उच्च या उच्चतम न्यायालय में भी उनकी प्राथमिकता की बात चल रही है। फिर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह बिल्कुल बराबर हो गई है। इसका ऐतिहासिक कारण है। इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों की तरह ईसाईयत ने भी महिलाओं के दमन की प्रक्रिया को कम बढ़ावा नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि बाइबिल में कोढ़ियों और औरतों पर समान दयाभाव रखने के लिए कहा गया है। ऐसा कहना गौण स्थान प्रदान करना ही है। यह ठीक है कि प्रारम्भिक ईसाई सभ्यता के समय औरतों को चर्च से काफी इज्जत मिली और वे पुरुषों के समान ही ईसाईयत के प्रचार में शहीद भी हुई, किन्तु पूजा में उनका स्थान हमेशा पुरुष की तुलना में गौण रखा गया।[२२] जॉन स्टुअर्ट मिल और स्टेनडाल ने माना है कि किसी क्षेत्र में स्त्री को कभी कोई सुविधा मिली ही नहीं।[२३]

आज महिलाओं के ऊपर सबसे बड़ा बोझ विवाह का है। दहेज प्रथा उनका अपमान है। गर्भ निरोध के कारण आज मातृत्व का बोझ कुछ कम हुआ है, लेकिन घर गृहस्थी और बच्चों की देखभाल का पूरा बोझ स्त्री के ऊपर बना हुआ है। यदि वह बच्चों पर अधिक ध्यान देती है तो पति को आकर्षित करने में अक्षम महसूस करने लगती है। कुछ पुरुष तो उन्हें अपनी सम्पत्ति ही बना लेते हैं। पोशाक में पत्नी स्त्री के रूप में बदल जाती है। वह सभी पुरुषों को आनंद प्रदान करती है और अपने स्वामी के गर्व को सन्तुष्ट करती हैं।[२४]

यों रसेल ने विवाह के नियमों के उल्लंघन करने पर दोनों को दण्डित करने की बात को स्वीकार किया है। दोनों की पवित्रता का ख्याल रखते हुए रसेल ने लिखा है- 'As for marriage, both men and women are sharply punished if not virgin when they marry; ... There is divorce for adultery or intolerable waywardness of either party, but the guilty party cannot remarry. Sometimes divorce is grouted solely because both parties desire it.' यही सिद्धान्त पतन का कारण बना। शाश्वत सम्बन्धों की खिल्लियाँ उड़ायी गई। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा, किन्तु भारत की अपनी सोच कभी भी नहीं रही है।

इसलिए भारत में उनकी प्रशंसा करते कवि लोग भी संकोच का अनुभव करने लगते हैं। यहाँ महिला का इतना महत्त्व रहा है कि श्रीराम ने बालि से कहा है कि 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।'[२५] अर्थात् तूने अपनी स्त्री की सीख पर भी कान (ध्यान) नहीं दिया। भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में अदिति सब की माता है, साधारण जीवों की बात क्या वह देवताओं की भी माता मानी जाती है।[२६] अथर्ववेद में भी कहा गया है – पृथिव्या विश्वरूपम्।[२७] पृथ्वी को मातृरूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात् नारियों का मातृ रूप सबसे अधिक पूज्य रहा है। अन्य रूप में भी उनका कम महत्त्व नहीं है। कृष्ण ने बहन और बुआ के लिये क्या नहीं किया अर्थात् उनके लिये स्वयं को न्योछावर किया। उनकी मदद के लिये तैयार हो गये। जहाँ तक भ्रूण हत्या का प्रश्न है? भारत की सरकार उसको रोकने के लिये प्रयत्नशील नजर आ रही है।

आज भारत के न्यायालय ने तो फैसला दिया है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा पाया गया जो भ्रूण का पता लगाने की कोशिश कर रहा हो तो भी वह दोषी सिद्ध होगा और दण्ड का भागी बनेगा। अतः बच्ची समझकर भ्रूण हत्या की बात तो दूर रही उसे पता लगाने वाले भी दोषी माने जायेंगे। यह अन्य बात है कि यदि महिलाओं का जीवन समाप्त होने या उनसे जबर्दस्ती यौन व्यवहार के कारण गर्भपात करना न्याय संगत प्रतीत होता है।

इस समबन्ध में 'एपलाइंग ह्यूमनिटेरियन एथिक्स टू द् मोरल प्रोब्लेम ऑफ एबोरसन' शीर्षक के अन्तर्गत 'द ह्यूमनिटेरियन एथिक्स एपरोच टू द् प्रोवलेम' में ठीक ही कहा गया है कि "In general, humanitarian Ethics has an inherent bias favour of protecting human life. Even unborn human life, since the value of life principle is of primary importance in this ethical system. This would mean then, that abortion should be a last resort to be used only when there is strong justification"[२८]

बॉक्स ने भी इस बात की सम्पुष्टि की है। बॉक्स ने इस क्राइटेरिया का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि "I believe that if abortions cannot be avoided and women should try to avoid then to the best of their ability they should be allowed on request up to the twelfth week. In other words, We agree with Box's criteria for when taking a human life is most serious and also for when later abortions can be allowed"[२९]

इस नियम एवं नैतिकता को सभी देशों ने समान रूप से कबूल नहीं किया है। यानी इसमें विश्व का प्रत्येक चिन्तक एकमत नहीं है। कोई धार्मिक मान्यताओं को अधिक महत्त्व देते हैं तो कोई सामाजिक, तो कोई राजनैतिक तो कोई शुद्ध नैतिक पक्ष को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। भारत में दर्शन, धर्म एवं नैतिकता में कोई झगड़ा रहा ही नहीं। इसलिये इस समस्या

को सुलझाने में सुप्रीम कोर्ट को कोई अधिक कठिनाई नहीं हुई। यह समस्या अभी भी पाश्चात्य समस्या है, भारतीय नहीं। राय चौधरी ने भी बतलाया है कि 'आज की तरह वैदिकयुग में भी महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता थी।'[३०] कौशिक सूत्र ऑफ द् अथर्ववेद में भी कहा गया है कि महिलाओं को सन्तान प्राप्त करने का अधिकार था। वह अपनी इच्छानुसार पति का वरण कर सकती थी।[३१] ऋग्वेद में भी बतलाया गया है कि ऋषि पुत्री घोषा ने साठ वर्ष की आयु में अपनी इच्छानुसार पति प्राप्त कर पुत्र पैदा किया।[३२] अत: यहाँ तो महिलाओं को पुरुष के समान ही माना गया है। यदि कहीं पुरुष को अधिक महत्त्व दिया गया है तो कहीं महिलाओं को। यथास्थान दोनों का समान महत्त्व है।

मनु और सतरूपा में किसी को गौण बतलाना न सामाजिक दृष्टिकोण से उचित है, न जैविक दृष्टिकोण से, न धार्मिक, न राजनैतिक और न ही नैतिक दृष्टिकोण से ही किसी को कम या अधिक बतलाया गया है। यहाँ असमानता का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि ऐसा होता तो जगत् गुरु शंकराचार्य यह नहीं कहते पुत्र कुपुत्र हो सकता है, किन्तु माता कुमाता कभी नहीं हो सकती। पुत्र भले ही कुपुत्र बन जाय कहना पुरुषों के खिलाफ है न कि औरतों के खिलाफ। यहाँ नारियों की ही प्रशंसा की गई है। अद्वैतवादी होने के बावजूद इन्होंने देवी की वन्दना, पूजा-अर्चना की है। आज भी यह मान्य है। लोक-कल्याण एवं लोकसंग्रह के लिए ही ऐसा किया गया है। बच्चे एवं बच्चियों में, युवक एवं युवतियों में तथा बूढ़े एवं बूढ़ियों में समानता का भाव जागृत करने के उद्देश्य से ही उन्होंने दुर्गा सप्तसती का पाठ किया है। न्यायालय की दृष्टि से दोनों समान ही रहे हैं। अन्याय किसी के द्वारा हो, उसकी भर्त्सना की जानी चाहिए।[३३]

समकालीन भारतीय चिन्तकों का तो कहना है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास विभिन्न चरणों में आयु पर्यन्त होता है। अत: इस कारण गर्भ से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य के शरीर और आत्मा पर उत्तम संस्कार डालना और शुभ संकल्प लेना, व्यक्ति और समाज, पुरुष और महिला के हित में आवश्यक है। यदि महिलाओं में असमानता का भाव जागृत होगा तो उसका प्रभाव उनके बच्चे एवं बच्चियों पर पड़ेगा ही। इसलिए उनमें हीन भावना का उदय होना या उनमें हीन भाव पैदा करना नैतिकता के विरुद्ध है। उनका उचित सम्मान करने में ही राष्ट्र और विश्व का कल्याण संभव हो सकता है। चूंकि किसी भी व्यक्ति का शोषण कर अपना उल्लू सीधा करना अनैतिकता ही है। परस्पर सहयोग एवं एक दूसरे का महत्त्व स्वीकार कर ही शांतिपूर्ण एवं सुखी जीवन व्यतीत किया जाना संभव है और यही श्रेयस्कर भी है। इसलिए कहा गया है कि 'It is my contention, then, that morality has come about because of human needs and through recognition of the importance of living together in a co-operative and significant way. I am not trying to suggest that all human beings can be convinced that they should be moral, or even that it will always be in each individual's interest to be moral. I do believe, however, that the question" Why should human beings be moral?" generally can be best answered by the statement that adhering to moral principles unable human being to live their lives as peacefully, happily, creatively and meaningfully as is possible.'[३४]

१९७५ई. में अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष का भारत में उद्घाटन करते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने १६ फरवरी १९७५ई. को नई दिल्ली में राष्ट्रीय महिला दिवस पर कहा था-'ऐसा कोई काम नहीं है जिसे महिलायें पुरुषों के साथ कंधे से कन्धा मिलाकर नहीं कर सकती। भारत की महिला श्रीमती सोनिया गाँधी और भारत की पूर्व राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवी सिंह पाटील यह साबित करके दिखा चुकी हैं। श्रीमती राबड़ी देवी, सुषमा स्वराज, शीला दीक्षित, श्रीमती अमरजीत कौर, तस्लीमा नसरीन, ममता बनर्जी, मायावती, सोनिया गाँधी, वसुन्धरा राजे सिंधिया और इनसे भी पहले राजमाता सिन्धिया आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

आज भी भारत इंग्लैण्ड, अमेरिका और रूस को छोड़कर विश्व के अन्य भागों में जितना अधिक शोषण महिलाओं का हो रहा है उतना किसी अन्य का नहीं होता है। वैसे तो यह शोषण राजनैतिक एव सांस्कृतिक स्तर पर भी है, किन्तु सर्वाधिक शोषण सामाजिक स्तर पर है। कार्ल मार्क्स, मिखाइल दुर्खीम, नित्शे, मैक्स वेबर आदि ने भी इस बात की पुष्टि

की है। दुर्भाग्य की बात यह है कि महिला ही महिला की सबसे बड़ी शत्रु बनती जा रही है। दहेज का मामला हो, राजनैतिक मामला हो या सामाजिक, सभी में महिला का हस्तक्षेप रहता ही है। और कम से कम उन देशों में, जो विकसित और विकासशील हैं।

परम्पराओं के साथ महिला को जितना अधिक जोड़ दिया गया है या महिला उनसे कितनी अधिक जुड़ी हुई है, उसके कारण न केवल उनके अधिकारों का हनन होता है बल्कि वह शोषण का एक जरिया भी बन जाती है। यदि इस समस्या का समाधान खोजना है, तो विश्व को इस बात पर विचार करना ही होगा कि महिलाओं को राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्तर पर स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। इसके लिए उन्हें शिक्षित करना अनिवार्य है। उन्हें व्यावहारिक नैतिकता की सीख लेनी चाहिए। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, श्रीअरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, डॉ. राममनोहर लोहिया आदि की इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण देन है। डॉ. अम्बेडकर, सरोजनी नायडू, कस्तूरबा, कमला नेहरू आदि को भुलाया नहीं जा सकता है। अर्थात् उनसे भी प्रेरणा लेने की जरूरत है। सामाजिक विषमता के क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकरजी की सोच गाँधीजी से भी गहरी थी। इस बिन्दु पर कहीं-कहीं वे गाँधी से असहमत हो जाते थे और गाँधीजी को इनकी बातें कबूल करनी पड़ती थी।

भारत की सरकार ने कानूनी तौर पर इस दिशा में संतोषजनक कोशिश की है। स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिये भागीदारी सुनिश्चित कर एक ठोस और रचनात्मक कदम उठाया है। सम्पूर्ण देश में अब स्थानीय निकायों के चुनावों में महिलाओं ने भाग लिया और महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सक्रिय भूमिका अदा कर रही है। यह विश्व के लिए अनुकरणीय है। राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि एवं आम लोगों के जीवन स्तर को उन्नत बनाने के लिए महिलाओं को आत्मनिर्भर बनना होगा। इसके लिए बिना किसी भेदभाव के रोजगार का अवसर उपलब्ध कराने के साथ-साथ उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक रूप से और अधिक जागरूक बनाने की आवश्यकता है।

चूँकि इसके अभाव में महिलाओं की ऊर्जा एवं प्रतिभा का अवमूल्यन होता रहेगा एवं व्यावहारिक नैतिकता की बात पागलों का प्रलाप बनकर रह जायेगी। व्यावहारिक नैतिकता को जमीनी एवं कारगर सिद्ध करने के लिए परस्पर विश्वास एवं विवेक का समुचित उपयोग करना आवश्यक है। ईमानदारी से साथ देना और ईमानदारी से साथ लेना दोनों के लिए अनिवार्य है और ईमानदारी से परिश्रम करना इसका सबसे बेहतर उपाय है। और यह हमेशा स्मरण रखना होगा कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं समानता का सिद्धान्त कारगर सिद्ध हो रहा है या नहीं। इसके लिए ठीक ही बतलाया गया है कि "The principle which states that human beings ought to be free to pursue their own values and morality as long as they do not seriously conflict with or violate the other four basic principles- Value of life, Goodness, Justice and Truth telling or Honesty."[३५]

इस दिशा में राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र विद्यासागर महात्मा गाँधी, स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी, श्रीमती सुसन ब्राऊन मिलर (अगेंस्ट आवर विल: मेन, विमेन एंड रेप), श्रीमति डायना, ई. एच. रसेल (फोनोग्राफी: विमेन वाइलेंस एंड सिविल लिबर्टीज), सीमेन द बोउवार, डॉ. प्रभा खेतान, श्रीमति मारग्रेट थैचर, इस्राईल की भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती गोल्डा मायर, श्रीलंका की राष्ट्रपति श्रीमती चंद्रिका तुंगे, बंगलादेश की भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती खालिंदा जिया, श्रीमति शेख हसीना, पाकिस्तान की पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती बेनजीर भुट्टो, मैत्रेयी पुष्पा (इदन्नम) आदि का प्रयास स्मरणीय है। ऐसी प्रतिभा सम्पन्न महिलाओं एवं पुरुषों के द्वारा ही वर्तमान युग में महिलाओं को बराबरी का अधिकार मिल पाया है।

३० मई, १९९१ को आर्थिक सामाजिक नियम द्वारा १९९१/१८ के निर्णायक प्रस्ताव पारित हुए, जिसमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं को सुरक्षा एवं बराबरी का दर्जा देने हेतु अधिकार प्रदान किये गये। इस संदर्भ में उल्लिखित धारा-१ में महिलाओं को प्रताड़ना के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार दिया गया है। धारा-२ के अन्तर्गत समाज एवं परिवार में महिला सम्बन्धी प्रताड़नाओं पर प्रतिबंधात्मक कदम उठाए गये हैं, जिसमें बालिका-भ्रूण-हत्या, दहेज-प्रताड़ना, विवाहोपरांत

बलात्कार, महिला शोषण एवं अन्य सामाजिक बुराईयाँ प्रमुख हैं। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि इसके लिए मात्र कानून बनाना पर्याप्त नहीं है। इसके लिए ईमानदारी से प्रयत्न करना भी जरूरी है।

अत: अध्ययन से पता चलता है कि इस क्षेत्र में जितनी ईमानदारी के साथ स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर, महात्मा गाँधी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर, मदर टरेसा, सहजो बाई, मीरा, सरोजिनी नायडू, श्रीमती इन्दिरा गाँधी इत्यादि ने प्रयास किया है और उसे व्यावहारिक नैतिकता में जोड़ने का काम किया, उतना अन्य से संभव नहीं हुआ है। भारत में पहले भी बतलाया गया है कि 'अहम् ब्रह्मास्मि तत् त्वम् असि।' इसलिए इन महान् व्यक्तियों ने नारी को अपना खोया हुआ अतीत दिलाने की दिशा में गम्भीर प्रयास किया है। शायद इन्हीं महान् व्यक्तियों के प्रभाव के कारण ही व्यापक प्रभाव से प्रभावित होकर इस दिशा में विश्व के सभी प्रबुद्ध नागरिक सजग हो रहे हैं। सफलता के लिए उन सबको एकजुट होना पड़ेगा, जो बेहतर समाज के हिमायती हैं और जो गैर बराबरी के आगे बढ़ने में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। उनके मनसूबे को तोड़ देना है।

इस सन्दर्भ में, गाँधी की अन्त्योदय अथवा सर्वोदय की अवधारणा ने बहुत हद तक सफलता हासिल की है। कुछ आधुनिक विचारकों की नजर में गाँधीजी प्रबल समर्थक नहीं दीखते हैं। दरअसल आधुनिक नारीवादियों की नजर में गाँधी के महिला सम्बन्धी कुछ बयान मुक्तिदायी नहीं दिख सकते। वे गर्भ निरोधक उपायों के विरोधी थे और कार्यस्थल पर महिलाओं की भूमिका के बारे में दुविधा ग्रस्त थे। किन्तु उसी के साथ वे महिलाओं के चरित्र और अच्छाई की बड़ी तारीफ करते थे और कौटिल्य की तरह उन्हें पुरुषों से ज्यादा साहसी मानते थे।

प्रारम्भ में भले ही वे महिलाओं को सत्याग्रह में भागीदार बनाने में झिझक रहे हों परन्तु स्वर्गीय कमलादेवी वन्द्योपाध्याय एवं सरोजिनी नायडू जैसी स्वतंत्र एवं निष्ठावान महिला के सम्पर्क में आने के बाद सोच में बदलाव आया था। अर्थात् धैर्यवान, निष्ठावान एवं स्वतंत्र सोच की महिला ने उनकी सोच में बदलाव लाया और इसी बदलाव के कारण १९३०ई. के नमक सत्याग्रह और १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान हजारों महिलाओं ने गिरफ्तारी दी। इसलिये मधुकेश्वरजी ने एक बार कहा था कि आधुनिक इतिहास के किसी पुरुष के नेतृत्व में हुए आन्दोलन के मुकाबले महात्मा गाँधीजी के नेतृत्व में हुए आन्दोलनों में ज्यादा महिलाओं ने हिस्सेदारी दी है। अत: यह कहना उचित ही है कि इस सिलसिले में आधुनिक मजदूरों के मसीहा कहे जाने वाले मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ, होचीमिन्ह और मंडेला स्पष्ट तौर पर ज्यादा सफल रहे हैं। यही कारण है कि आज की महिला पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रही हैं और सर्वोच्च पद को भी प्राप्त कर दिखला दिया है कि महिलायें भी परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर सकती हैं। इस बात की सम्पुष्टि राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर ने भी की है। उन्होंने अपने महाकाव्य का शीर्षक 'उर्वशी' अर्थात् महिलाओं के नाम से किया है। इससे यह और स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं महापुरुषों के सतत् प्रयासों से महिलाओं को कई अधिकार प्राप्त हो सके हैं। अधिकार संरक्षण अधिनियम की धारा-३ में महिलाओं को क्षेत्रीय कार्यों में स्वतंत्रता व समानता के प्राप्त अधिकार निम्नलिखित है-

(१) जीवनाधिकार (यूनीवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स, इंटरनेशेनल कोवनेंट ऑन सिविल एंड पोलिटिकल राइट्स, धारा- ६)

(२) समानता का अधिकार (इंटरनेशनल ऑन सिविल एंड पोलिटिकल राइट, धारा-२६)।

(३) स्वतंत्रता एवं नागरिक संरक्षण अधिकार (यूनिवर्सल डिक्लरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स धारा-३ इंटरनेशनल कोवनेंट ऑन सिविल एंड पोलिटिकल राइट्स, धारा-९)

(४) वैधानिक सुरक्षा अधिकार (धारा-२६)

(५) कार्य में अनुकूल परिस्थितियों का अधिकार (धारा-३) (इंटरनेशनल कॉवनेंट ऑन इकोनोमिक, शोशल एंड

कल्चरल राइट्स धारा- ६ एवं ७)

(६) सभी प्रकार के अंतर से स्वतंत्रता का अधिकार (धारा-२६)

(७) उच्च स्तरीय शारीरिक - मानसिक स्वास्थ्य का अधिकार (इंटरनेशनल कॉवनेंट आन इकोनोमिक, सोशल एंड कल्चरल राइट्स, धारा-१२)

(८) शारीरिक-मानसिक प्रड़ताड़ना सुरक्षा का अधिकार (यूनीवर्सल डिक्लेरेशन आफ ह्यूमन राइट्स धारा-५, इंटरनेशनल कोवनेंट ऑन सिविल एवं पोलिटिकल राइट्स धारा-७ एवं कनवर्शन अगेंस्ट टार्चर एवं अदर क्रूएल इन ह्यूमन आर डिग्रेशन ट्रीटमेंट आर पनीशमेंट)

भारतीय संविधान ने महिला संरक्षण हेतु कवच प्रस्तुत किये हैं। हमारे यहाँ रूल ऑफ लोकहित में महिलाओं का बराबर का प्रतिनिधित्व एवं अधिकार प्राप्त है-

(१) हिंदू विवाह अधिनियम (१९६५)- हिंदुओं के लिये द्विविवाह एक अपराध है जो इस अधिनियम की सेक्शन-१७ में दंडनीय है।

(२) वर्तमान ज्वलंत समस्या दहेज के संदर्भ में भी अनेक दहेज निरोधक अधिनियमों यथा १९६१, १९८४, ८६ अधिनियम इसके उदाहरण हैं।

(३) हिंदू आवश्यकता व अभिभावना अधिनियम, ९५६ के अंतर्गत महिलाओं को पुरुष के बाद बच्चों का अभिभावक घोषित करना है।

(४) महिला का शील भंग करने वाले को धारा - ३५४, २ वर्ष की सजा या जुर्माने का प्रावधान है।

(५) धारा-३६१ के तहत १८ वर्ष से छोटी बालिका को फुसला कर ले जाने वाला अपहरण का दोषी माना जायगा।

(६) महिला इच्छा के विरुद्ध गर्भपात कराने वाले को धारा-३१३ तहद दंडित किया जायगा।

'नेहरू के शब्दों में यूरोप में उन्नीसवीं सदी में यह सहकारी आन्दोलन बहुत बढ़ा। यह सबसे ज्यादा सफलता इसे डेनमार्क के छोटे-से देश में मिली।' नेहरू ने यह भी कहा है राजनीतिक मैदान में लोकतन्त्रवादी विचारों की बढ़ोतरी हुई और अपनी-अपनी पार्लियामेंटो व विधान-सभाओं के लिए वोट देने के हक दिन-पर-दिन ज्यादा लोगों को मिलते गये। पर यह मताधिकार सिर्फ पुरुषों के लिए ही या स्त्रियों के लिये भी? चाहे वे दूसरी तरह से कितनी ही लायक क्यों न हों, इस हक को पाने के लिए ठीक या काफी समझदार नहीं मानी गई। ... बीसवीं सदी के शुरू में इंग्लैण्ड में स्त्रियों ने एक जबर्दस्त आन्दोलन खड़ा किया। यह नारी मताधिकार आन्दोलन कहलाया ... मार-पीट के तरीके अपनाये। ... बहुत-सी स्त्रियाँ जेलों में डाल दी गई, ... फिर कैद कर दिया गया। ... महायुद्ध के शुरू होने के बाद, स्त्रियों को वोट देने का हक मंजूर कर लिया गया। विश्व इतिहास की झलक नामक पुस्तक में यह भी बतलाया गया है कि ... वोट का ही हक नहीं माँगती था। उसकी माँग थी पुरुषों के साथ हरेक बात में बराबरी का हक। कुछ दिन पहले तक पश्चिम में स्त्रियों की दशा बहुत बुरी थी। उन्हें कोई हक नहीं था। आखिर १८८०-९० ई. के बीच में इंग्लैंड में स्त्रियों को जायदाद रखने के कुछ हक दिए गए ... कारखानेदार इसके पक्ष में थे।[३३]

भारत में ब्रिटिश शासन काल से लेकर आज तक नारी कल्याण हेतु जो भी सामाजिक विधान राज्य के द्वारा पारित किये गये हैं। इनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित हैं-

(१) सती प्रथा निरोधक अधिनियम, १८२९

(२) हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, १८५६

(३) बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, १९२९

(४) हिंदू स्त्रियों का संपत्ति अधिकार अधिनियम, १९३७

(५) पृथक् रहने और भरण-पोषण हेतु स्त्रियों का अधिनियम, १९४६

(६) हिंदू विवाह अधिनियम, १९५५

(७) हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, १९५६ (अब पुत्री के रूप में, पत्नी के रूप में तथा मां के रूप में बराबर का अधिकार प्रदान कर दिया गया है।)

(८) हिंदू नाबालिग तथा संरक्षकता अधिनियम, १९५६

(९) हिंदू गोद लेना तथा भरण-पोषण अधिनियम, १९५६

(१०) स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम, १९५६

(११) दहेज निरोधक अधिनियम, १९६१

नानकचंद (द्वारा सम्पादित) समाज कल्याण (केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की मासिक पत्रिका) वर्ष: ४२, अंक: ६ जनवरी १९९७ पृ. ३७-३८ में भी इस बात की सम्पुष्टि की गई है। आधुनिक भारतीय चिन्तकों ने इसके लिये ईमानदारी से प्रयास किया है। टैगोर ने परम पुरुषार्थ के लिये भी उन्हें योग्य समझा है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक ही लिखा है- "But such a state of things can never have the effect of changing woman into man. On the contrary, it will lead her to find her place in the unlimited range of society, and the guardian spirit of personal in human nature will extend the ministry of Woman over all developments of life ... At last the present age has sent its cry to women. Asking her to come out from her segregation in order to restore the spiritual supremacy of all that is human in the world of humanity ... It is like that vital health, which not only imparts the bloom of beauty to the body, but Joy to the mind and perfection to life."[३६] अर्थात् सत्यम, शिवम् और सुन्दरम् की अवधारणा के मुताबिक सब समान है।

किन्तु वर्तमान भारत में अभी भी उन पर आपतियाँ या विपत्तियाँ बरकरार हैं। राष्ट्र कवि रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है- विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएं रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।[३७] एक बार स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य ने पूछा 'महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थी। इसलिए तो देश में अनाचार फैल गया।' स्वामीजी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु वे बोले, 'पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा निवास करती है। ... संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही उन्नति कर सकी हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी और न आगे उन्नति कर सकेगी।'[३८] यह हमेशा लड़कियों, नारियों अथवा महिलाओं को ध्यान रखना होगा कि 'केवल लड़कों की तरह आजादी पाना और कपड़े पहनना नहीं है, बल्कि उनकी तरह परिवार का दायित्व भी निभाना होगा। इस दायित्व की भावना से ही लड़का-लड़की औरत और मर्द के प्रति समानता का भाव जागेगा और इतना ही नहीं उन्हें लड़कों को अथवा मर्दों की तरह स्वतंत्र, शिक्षित और आत्मनिर्भर व्यक्तित्व गढ़ने का मौका दिया जाय, और मौका मिलने पर वे स्वयं सक्षम हो जायेंगी। भीमराव अम्बेडकर आदि ने भी इस बात की पुष्टि की है। स्वामी विवेकानन्द ने भी हमें सचेत किया है।

सन्दर्भ:

१. *डॉ. हृदय नारायण मिश्र, जैन दर्शन, किताबघर कानुपर, १९८८ ई०, २३४-३५*

२. उद्धृत, डॉ. एस. राधाकृष्णन (अनु. नन्दकिशोर गोभिल) भारतीय दर्शन भाग एक, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, १९७३, पृ. ४३९

३. डॉ. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना १९८३ ई०, पृ. १९

४. उद्धृत, वही

५. रवीन्द्र नाथ टैगोर, क्रियेटिव यूनिटी, पृ. १६२

६. डॉ. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७२, पृ. ४१

७. गोस्वामी तुलसीदास, (टीकाकार हनुमानप्रसाद पोद्दार) श्रीरामचरित मानस (सचित्र, सटीक मोटा टाइप) गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०५४, बालकाण्ड, पृ. २२५

८. वही, सुन्दरकाण्ड, पृ. ७००

९. रामधारी सिंह 'दिनकर', संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद १९९७ ई०, पृ. ५०८

१०. श्रीवादरायण (वेदव्यास) श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय दस का ३४वां श्लोक

११. वही अध्याय नवां

१२. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरित मानस, सुन्दरकाण्ड, पृ. ७५१ (सचित्र सटीक मोटा टाइप)

१३. सीमोन द् बोउवार (अनु. डॉ. प्रभा खेतान) स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकिट बुक्स, दिल्ली १९९१, पृ. ७२

१४. वही

१५. वही. पृ. ७४

१६. वही, पृ. ७१

१७. वही, पृ. ४४

१८. वही, पृ. ४

१९. रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्रियेटिव यूनिटी, मैकलिन एण्ड कम्पनी लि. लंदन, पृ. १५७

२०. सीमेन द् वोउवार (अनुवादक डॉ. प्रभाखेतान) स्त्री उपेक्षिता, पृ. ५७

२१. वही, पृ. ५९

२२. वही, पृ. ६७

२३. वही, पृ. २३४

२४. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड, पृ. ६७५

२५. डॉ. राधाकष्णन हिस्ट्री ऑफ फिलॉसॉफी, ईस्टर्न एन्ड वेस्टर्न वोल्यूम I, पृ. ३३

२६. सायणाचार्य (भाष्यकर्ता) अथर्ववेद, वोल्यूमन I, गवर्मेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, दिल्ली, १९९५, पृ. १

२७. जेक्स पी. थिरोक्स (कॉपीराइट), एथिक्स : थ्योरी एण्ड प्रेक्टीस, कोलियर मैकमिलन पब्लिशर्स लंदन १९७७, पृ. ३४४

२८. वही, (द मोर मोड्रेट पोजिसन ऑन एबोरसन), पृ. ३३६

२९. एच. चौधरी, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एनसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, १९३८, पृ.० १३६

३०. मूरिस ब्लूमफिल्ड (एडिटर) कौशिक-सूत्र ऑफ द अथर्व वेद विथ कॉमेन्ट्री ऑफ
दुरिला एण्ड केकव बाटिमोर, १९८९, पृ० LXY

३१. ए. ए. मैकडोनल, ए समरी ऑफ डिटिज एण्ड ऑफ द् ऋग्वेद वोल्यूम VI, पार्ट II, यूनिवर्सिटी लंदन १९०१ पृ० २५१

३२. पं. रामकिंकर उपाध्याय, मानस चिन्तन, तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र, कानपुर सं० २०४२, पृ. ३

३३. पं. जवाहरलाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृ. ३८४

३४. जैविक्स पी. चिरोक्स, थ्योरी एण्ड प्रेक्टीश, पृ. २५

३५. पं. जवाहर लाल नेहरू, (अनुवादक चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय), विश्व इतिहास की झलक, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली १९९८, पृ. ८५५-५६

३६. रविन्द्रनाथ टैगोर, क्रियेटिव यूनिटी, पृ. १६५-६६

३७. राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ५०८

३८. उद्धृत, वही

***

वर्तमान विश्व के सन्दर्भ में सर्वोदय की प्रासंगिकता

अभय कुमार सिंह

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्व भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्।

संस्कृत का यह श्लोक सर्वोदय की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यह सामाजिक आदर्श का संप्रत्यय है जिसमें सबके उदय का विचार निहित है।

महात्मा गाँधी ने जॉन रस्किन की सुप्रसिद्ध पुस्तक Unto the Last को पढ़कर काफी प्रभावित हुए तथा उन्होंने इसे गुजराती भाषा में अनुवाद किया तथा इसका नामकरण 'सर्वोदय' किया। इस पुस्तक में कहा गया है सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। एक नाई का कार्य भी अधिवक्ता के कार्य के समान ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपने कार्य में स्वयं की आजीविका प्राप्त करने का अधिकार होता है। श्रमिक का जीवन ही एकमात्र जीने योग्य जीवन है। गाँधी पर रस्किन के इस विचार का विशेष प्रभाव पड़ा, जिसमें कहा गया था कि सम्पत्ति जल की ही भाँति निर्धनों की ओर बहनी चाहिए। गाँधीजी ने इसे जीवन का मूलमन्त्र बना लिया और इन विचारों को व्यक्त करने के लिए 'सर्वोदय' नामक मासिक पत्रिका निकाली।

सर्वोदय समाज की स्थापना के बारे में एक विस्तृत योजना २० जनवरी १९५० को प्रकाशित हुई। सर्वोदय समाज का यह अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए समाज में स्वतंत्रता और समानता होगी। ऐसे समाज में जीवन सामूहिक होगा, ताकि साहित्य, कला और विज्ञान की उन्नति हो सके और मनुष्य के व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास हो सके। सर्वोदय समाज में समानता के साथ ही साथ शोषण और अत्याचार के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

अपने सामाजिक चिंतन में गाँधी ने जन्म पर आधारित हिन्दू वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है, लेकिन वर्ण-व्यवस्था की उनकी व्याख्या मनुस्मृति जैसे हिन्दू धर्मशास्त्रों में दी गयी वर्ण-व्यवस्था की व्याख्या से कुछ अलग थी। गाँधी के अनुसार वर्ण-व्यवस्था 'जन्म पर आधारित श्रम का स्वस्थ विभाजन' है। गाँधी के शब्दों में 'वर्ण-व्यवस्था हमें सिखाती है कि हम में से प्रत्येक को अपने खानदानी पेशे द्वारा रोजी कमानी चाहिए।'[१]

गाँधी के राजनीतिक चिंतन में मार्क्सवाद-साम्यवाद की तरह अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। उनके अनुसार सर्वोदय राज्य विहीन समाज होगा। वैसे राज्य का विनाश एकाएक नहीं होकर धीरे-धीरे होगा। सर्वोदय समाज के समर्थक प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र के पक्ष में नहीं है, क्योंकि ऐसे लोकतंत्र में राजनीतिक दल होते हैं जो कि भ्रामक प्रचार में लगे रहते हैं। उसी प्रकार सर्वोदय विचारक ग्राम-राज की अवधारणा का विकास करते हैं। उनके अनुसार इसके बाद ही रामराज्य की स्थापना हो सकती है। वे राज्य विहीन समाज को आदर्श मानते थे, लेकिन व्यवहार में इसे पूरी तरह प्राप्त करना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने अमेरिकन विचारक थ्यूरो की इस युक्ति को अपनाया कि 'वह सरकार सर्वश्रेष्ठ है

जो कम-से-कम शासन करे।'[२]

सर्वोदय शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'सबका उदय या सबका उत्थान या सबकी भलाई या सबका कल्याण अन्य राजनीतिक सिद्धांत जैसे साम्यवाद, संघवाद और उपयोगितावाद आदि समाज के किसी वर्ग-विशेष के कल्याण पर बल देती है, किन्तु सर्वोदय का लक्ष्य समाज के सभी वर्गों का कल्याण है। साम्यवाद, पूँजीवाद और बुर्जुआ तत्त्वों से घृणा करना है और उचित-अनुचित हिंसक-अहिंसक सभी प्रकार के प्रयत्नों के आधार पर सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करता है सर्वोदय की विचारधारा उपयोगितावादियों की अधिकतम 'संख्या के अधिकतम सुख' वाली विचारधारा के बिल्कुल पृथक् विचारधारा है। श्री विनोबा भावे ने गाँधी जी के सर्वोदय के सिद्धांत को उनके देहावसान के बाद स्वतंत्र भारत की नवीन परिस्थितियों में लागू करने का प्रयास किया और कुछ अंशों में अपना नवीन योगदान भी दिया है। भूदान गंगा, भूदान यज्ञ, भूदान ग्रामदान स्वराज्य शास्त्र आदि उनकी बहुमूल्य कृतियों में उनके राजनीतिक विचारों का परिचय मिलता है।

सर्वोदय का आदर्श भारतीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशिष्टता रही है। भारतीय संस्कृति में स्वीकार किया गया 'सर्वापदामन्तकरं निरन्त सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' (युक्त्यानुशासन, ६२)है, संसार के समस्त लोग सुखी हों, निष्कपट तथा निःस्वार्थ हो। सब व्यक्ति दूसरों को सज्जन समझे। इस प्रकार सबके हित की कामना, सबके कल्याण की इच्छा, सबको सुखी देखने का सपना तथा सबके उत्थान, उन्नति और विकास का संकल्प ही सर्वोदय का आदर्श है। आज से १५०० वर्ष पूर्व जैनाचार्य समन्तभद्र ने इसी प्रकार के आदर्श का उल्लेख इस प्रकार किया था-

'सर्वापदामन्तकरं निरन्त सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' (युक्त्यानुशासन, ६२) अर्थात् सर्वोदय अन्त निहित और सब आपत्तियों का विनाशक है, यह तेरा तीर्थ निस्तारक ही है। श्रीमद्भगवद्गीता भी 'सर्वभूत हिते रताः' के द्वारा सर्वोदय का आदर्श ही प्रतिपादित करती है।

विनोबा भावे का कथन है कि सर्वोदय अधिकतम वन उत्थान नहीं करता, हम तो उसकी भलाई से ही संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द उत्कृष्ट और सर्वव्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है। सर्वोदय और उपयोगितावाद में यह अन्तर है कि जहाँ उपयोगितावाद का लक्ष्य व्यक्तियों का भौतिक कल्याण है, वहाँ सर्वोदय का लक्ष्य व्यक्तियों का भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक कल्याण है। एक जर्मन प्राध्यापक और चिंतक कार्ल मैनहीम ने अपनी पुस्तक Man and Society में लिखा था कि 'केवल व्यक्ति की पुनः रचना द्वारा ही समाज का पुनर्निमाण संभव है।'[३] मैनहीम की यह बात गाँधी तथा उनके सर्वोदय सिद्धांत के ऊपर भी चरितार्थ होता है। गाँधीजी का उद्देश्य मानव और समाज का निर्माण करना था।

एक अन्य सर्वोदयी विचारक शंकरदेव ने सर्वोदय के आदर्श की अभिव्यक्ति निम्नवत की है- 'अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्गविहीन और जातिविहीन तथा जिसमें किसी का, कोई शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह को अपना सर्वांगीण विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदयी समाज का साध्य है।' इसी संदर्भ में गाँधीजी के अनन्य समर्थक और सर्वोदयी विचारक जयप्रकाश नारायण का विचार भी उल्लेखनीय है। उनके अनुसार सर्वोदय सामाजिक परिवर्तन लाने का एक प्रमुख साधन है। इसका आदर्श एक अहिंसात्मक शोषण रहित सहकारिता के आधार पर स्थापित समाज है। सर्वोदय योजना में वर्तमान प्रतियोगी अर्थव्यवस्था के स्थान पर सहयोग पर आधारित सामाजिक अर्थव्यवस्था स्थापित की जायगी। उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किया जायगा। श्री कुमारप्पा ने कहा है 'सभी के कल्याण के रूप में सर्वोदय गाँधीजी के अनुसार आदर्श सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। इसका आधार सभी के लिए प्रेम है। इसमें बिना किसी अपवाद के सभी के लिए स्थान है। किसी व्यक्ति या समुदाय को दबाने, शोषित करने या भंग करने का इसमें भाव नहीं है। सभी इस सामाजिक व्यवस्था में समान रूप से भागीदार होंगे, सभी अपने श्रम का प्रयोग करेंगे, सबल निर्बलों की रक्षा और उनके संरक्षक के रूप में कार्य करेंगे और सबके कल्याण का कार्य करेंगे। एस. पी. वर्मा ने अपनी पुस्तक आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के पृ. सं.

३९२ में गाँधी के सर्वोदय के सम्बन्ध में उद्देश्य की चर्चा करते हुए कहा है-

'गाँधीजी का प्रमुख लक्ष्य हिंसा और शोषण के आधार पर स्थापित राजनीतिक व्यवस्था को अहिंसात्मक साधनों के द्वारा, धीरे-धीरे तोड़ना और उसके स्थान पर एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के इच्छापूर्ण सहयोग पर आधारित हो और जिसका लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण है।'[४]

उपरोक्त विचारधाराओं के आधार पर कह सकते हैं कि सर्वोदय के अन्तर्गत विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के उत्थान और उन्नति की इच्छा की गयी है। अन्य राजनीतिक सिद्धांत शोषित दलित तथा दुर्बल का ही उत्थान और कल्याण चाहते थे, जबकि सर्वोदय नेता शोषित, दलित तथा दुर्बल के साथ धनिकों, सबलों बुद्धिमानों तथा उच्च स्तर के लोगों का भी उत्थान चाहते थे। शोषितों तथा दलित वर्ग के लोगों का नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान अपेक्षित है। इस प्रकार विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के हितों का ख्याल सर्वोदयी विचारधारा में रखा गया है।

सर्वोदय व्यक्तिगत हित को सर्वोच्च महत्त्व न देकर सार्वजनिक हित को अधिक महत्त्व देता है। यह सब के उदय को अपना लक्ष्य स्वीकार करता है। गाँधीजी का आदर्श समाज वह है जिसमें पूँजीपतियों और श्रमिकों सबका हित साधन होता है। इसके पूर्व पूँजीवादी और साम्यवादी डार्विन के वर्ग-संघर्षवाद पर आधारित थी। गाँधीजी इन दोनों विचारधाराओं को एकांगी मानते थे।

विनोबा भावे सर्वोदय समाज की रचना में स्त्री-पुरुष समानता, अपृश्यता निवारण स्वदेशी-व्रत तथा सर्वधर्म समभाव आदि को समन्वित चाहते हैं। वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए उन्होंने भूदान, श्रमदान और ग्रामदान की अवधारणाओं को विकसित किया।

सर्वोदय नवीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मूल्यों को जन्म देता है। इसमें स्वामित्व की प्रवृत्ति के स्थान पर प्रन्यास की प्रवृत्ति को अपनाने पर जोर दिया गया है। इसके अन्तर्गत स्वतंत्रता, समानता और प्रजातंत्र के आदर्शों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है।

विनोबाजी ने ग्रामदान को स्पष्ट करते हुए कहा कि ग्रामदान में जो लोग ग्राम को दान में देते हैं वहाँ पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाता है और सारे गाँव पर समाज का स्वामित्व स्थापित हो जाता है। इस तरह से ग्राम में मार्क्स के साम्यवादी सिद्धांत अथवा हिन्दू संयुक्त परिवार का आदर्श चरितार्थ होता है। विनोबाजी आज के समाज में व्याप्त असमानता के कटु आलोचक थे। एक विचारक ने ठीक ही कहा है 'भौतिकता प्रधान व्यावसायिक चिन्तन को युग की वैचारिक चोटी पर आसीन करके कोई भी क्रांति व्यक्ति की गुर्राती प्रवृत्तियों की दांत नहीं निकाल सकती। यदि बिना साधन के क्रांति चलायी गई तो वह कुछ दिन बाद सर्वहारा क्रांति का रूप धारण कर लेगी और फिर इसे कोई सर्वसेवा संघ रोक न पायेगा। अहिंसक क्रांति कही लाल न हो जाय, इस खतरे को नजरअंदाज न किया जाय।'[५]

गाँधी एक समाजवादी थे, क्योंकि वे व्यक्तिगत असमानता का पूर्ण विरोध करते थे। पर गाँधीजी का समाजवाद स्वदेशी था, वह मार्क्स और एंजिल्स के समाजवाद से भिन्न है। उनका समाजवाद वस्तुतः उनकी अहिंसा का परिणाम है। गाँधीजी सम्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध थे और इसे वे समाज का अभिशाप मानते थे। उनके अनुसार सम्पत्ति चाहे व्यक्ति में और चाहे राज्य में केन्द्रित हो, दोनों बुराइयाँ उत्पन्न करती हैं। गाँधीजी के अनुसार धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समानता तक का कोई अर्थ नहीं है, जब तक कि देश के सभी वर्गों में आर्थिक समानता न लायी जाय। इसके लिए भारतीय दर्शन का अपरिग्रह, गाँधी का Trustiship और इस्लाम का जकात और खैरात की अवधारणा का सही रूप में जब तक इस्तेमाल न किया जायगा। तब तक सर्वोदय किताब मात्र एक शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा। इसके लिए सर्वप्रथम हमारी सोच में परिवर्तन लाना होगा। हमारे जीवन की सच्चाई को पहचानना होगा। जीवन की सच्चाई यह है कि जिसे मैं अपना शरीर समझने की भूल करता हूँ। वह भी मेरा नहीं है तो फिर हम इस भौतिक वस्तुओं के पीछे पागल क्यों हों। इसी भौतिकता के पीछे पागल होने के कारण मनुष्य नाना प्रकार की गलती करता है। शोषण, अत्याचार, खून, चोरी,

डकैती, ये सब इसी के कारण हैं। फिर हम कैसे एक सर्वोदय समाज की कल्पना कर सकते हैं। अत: आज की परिस्थिति में जबकि, घूस, घोटाले का दौर चल पड़ा है जो जितना शक्तिशाली है वह उतना बड़ा चोर है। नित्शे की नैतिकता के सम्बन्ध में कथन है कि समाज में दो ही Morality है।

(i) Master morality

(ii) Slab morality

आज के समाज में यही देखने को मिल रहा है। अत: समाज को और मानवता को बचाने के लिए हमें सर्वप्रथम अपनी सोंच में परिवर्तन लाना होगा, तभी सर्वोदय समाज का निर्माण हो सकता है। परन्तु आज तक सर्वोदय ऐसा कोई आन्दोलन नहीं बन सका जो कि देश के वर्तमान सामाजिक आर्थिक ढ़ांचे में कोई बुनियादी परिवर्तन ला सके। सर्वोदय का लक्ष्य और उसके उद्देश्य अवश्य महान् और अनुकरणीय थे। लेकिन उसे आज तक व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सका।

संदर्भः

1. *Nirmal Kumar Bose, Selection drom Gandhi, p. 265.*
2. *D. M. Datta, The Philosophy of Mahatma Gandhi, University of Calcutta, 1968, p. 153.*
३. *कार्ल मैनहीम : Man and Society.*
४. *एस. पी. वर्मा : आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, पृ. ३९२.*
५. *डा. के. एन. वर्मा : राजनीति शास्त्र के सिद्धांत, भाग २, पृ. ३४३.*

***

समाजवादी आन्दोलन एवं पंडित नेहरू

पीयूष कुमार सिंह

पं. जवाहर लाल नेहरू सन् १९२८ में झारिया में हुये आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नवें अधिवेशन में अध्यक्ष चुने गये थे। इन्होंने ३० नवम्बर १९२९ में नागपुर में हुये दसवें अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में अपनी समाजवादी सोच को लोगों के सामने प्रस्तुत करते हुये कहा कि -

'हमें गरीबी ने अधमरा कर दिया है। एक बहुत बड़ी ताकत हमें अपना गुलाम बनाये हुये है। हमें रोजी रोटी की दिक्कत रोजाना झेलनी पड़ती है। हम बड़े-बड़े मसलों के बारे में कैसे सोच सकते हैं? लेकिन हम इनकी ओर से अपनी आँखे तो बंद नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा भविष्य इन मसलों से पूरी तरह से जुड़ा है। मजदूर की हालत खैरात देकर नहीं सुधारी जा सकती और न वह किसी की हमदर्दी दिखाकर, चाहे वह मालिक की या सरकार की ही क्यों न हो। यह मर्ज काफी पुराना है। खराबी तो व्यवस्था में है, यह व्यवस्था थोड़े से लोगों द्वारा किये जा रहे शोषण और उनके द्वारा मजदूरों से नाजायज काम कराने पर टिकी हुई है। यह वह व्यवस्था है जो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की वजह से बनी है और अगर आप इस व्यवस्था से छुटकारा पाना चाहते हैं तो आपको पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों को जड़ से मिटाना पड़ेगा। पूँजीवाद और साम्राज्वाद ने अपनी नीति और तरीकों से अधिकांश मानव जाति को मजदूरी देकर गुलाम बना रखा है। जिनकी हालत पुराने जमाने के गुलामों से भी बदतर है। वर्ग-संघर्ष हमारे दिमाग की उपज नहीं है। यह पूँजीवाद की देन है। यह तभी तक रहेगा जब तक पूँजीवाद है। वर्ग-संघर्ष पहले भी रहा है और आज भी मौजूद है। शुतुरमुर्ग की तरह सिर छिपा कर इससे बचने की कोशिश करने से हम छुटकारा नहीं पा सकते। इसके कारणों को दूर कर ही हम शांति ला सकते हैं।'[१]

सन् १९३० के लगभग नेहरू ने महसूस किया कि 'जमींदार' शब्द लोगों को धोखे में डालने वाला शब्द है, क्योंकि जमींदार शब्द से एक ऐसे व्यक्ति का भान होता है जो किसानों-मजदूरों से लगान वसूल कर पैसे वाला बन गया है तथा अंग्रेजी सरकार का पक्षधर है। लेकिन नेहरू के अनुसार जमींदार में ऐसे लोगों की तादाद कहीं ज्यादा है जो छोटे-मोटे जमींदार हैं और जिनकी हैसियत मामूली काश्तकार से ज्यादा अच्छी नहीं है। दूसरे शब्दों में नेहरू के अनुसार अधिकांश जमींदार गरीब हैं। यदि जमींदार की यह स्थिति है तो वे लोग जो जमींदार नहीं है अर्थात् किसान हैं या भूमिहीन मजदूर हैं उनकी क्या हालत होगी? नेहरू जी जानते थे कि यही गरीब गैर-जमींदार लोग कांग्रेस की असली ताकत हैं, क्योंकि यही लोग लगानबंदी की मुहिम छेड़ते हैं।

नेहरू जी चाहते थे कि स्वतंत्रता के बाद इंग्लैण्ड और आयरलैंड की तरह जमींदारियों के टुकड़े कर दिये जायं। बड़े-बड़े राष्ट्रीय फार्मों की स्थापना की जाय। किसान मालिक की तरह अपने-अपने फार्मों में खेती करेंगें, लेकिन वे वास्तविकता में इनके मालिक नहीं बनेगें, क्योंकि यदि ऐसा न हुआ तो जमींदारियां दुबारा बन जायेगीं। नेहरू जी का मत था कि जिनकी जमींदारियां समाप्त की जाय उन्हें उसका मुआवजा दिया जाय। लेकिन वे यह भी मानते थे कि जो जमींदार राष्ट्रीय आंदोलन में विरोधियों का साथ देगें उन्हें मुआवजा पाने का कोई हक नहीं रहेगा।

जवाहर लाल नेहरू की इस विचारधारा पर दो तरह के आदर्शों का प्रभाव पड़ा था- १. राष्ट्रीयता और राजनीतिक आजादी २.सामाजिक आजादी। पहले की नुमाइंदगी कांग्रेस करती है और दूसरे की नुमाइंदगी समाजवाद करता है, क्योंकि इसके बगैर

कोई भी सामाजिक और आर्थिक आजादी मुमकिन नहीं है। नेहरू जी का मानना था कि हिन्दुस्तान की समस्या का हल यहाँ तक कि दुनिया की समस्या का हल समाजवाद में है। कार्ल मार्क्स की तरह नेहरू भी समाजवाद शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ में करते हैं। नेहरू जी हिन्दुस्तान की गरीबी, व्यापक बेरोजगारी, भुखमरी और मुल्क की गुलामी को दूर करने के लिये समाजवाद को ही एक मात्र रास्ता मानते थे। इसके लिये वे मानते थे कि हमारे राजनैतिक और सामाजिक ढांचे में व्यापक और क्रांतिकारी परिवर्तन की जरूरत है, जमीन और उद्योग-धन्धों की मौजूदा व्यवस्था का खत्म होना जरूरी है। अतः समाजवादी व्यवस्था में निजी सम्पत्ति रखने की प्रणाली खत्म होगी और मुनाफा कमाने की मौजूदा प्रणाली के बदले सहकारिता का ऊँचा आदर्श अपनाया जायेगा। इसका मतलब होगा एक नयी सभ्यता जो मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था से बुनियादी तौर पर भिन्न होगी। नेहरू जी का दृढ़ निश्चय था कि अगर कोई विश्वव्यापी संकट नहीं हुआ तो यह नयी सभ्यता दूसरे देशों में भी फैलेगी और उन लड़ाइयों और संघर्षों को खत्म कर देगी, जिनसे पूँजीवाद को खुराक मिलती है।[२]

स्वयं नेहरू ने एक स्थान पर अपने भाषण में कहा था कि 'मार्क्सवाद दर्शन मोटे तौर पर मुझे पसंद है। यह मुझे इतिहास की प्रक्रिया को समझने में मदद देता है। लेकिन मैं कोई कट्टर मार्क्सवादी नहीं हूँ और न मुझे कोई और ही तरीके का कट्टरवाद पसंद है। आज सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना के लिये समाज को संगठित किया जाना आवश्यक है और ऐसा संगठन सिर्फ समाजवाद के रास्ते ही संभव है।'

नेहरू के अनुसार पूँजीवाद अपने वर्तमान स्वरूप में करीब १५० वर्ष पहले आया। इसने उत्पादन के अपने तरीकों से हैरत अंगेज काम किये। इसने दौलत पैदा की और जिंदगी के रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया। इसने दुनिया में अनाज में बेहद बढ़ोतरी की। अतः हमें यह नहीं समझना चाहिये कि पूँजीवाद हमेशा बुरा ही रहा है। इसने एक मकसद पूरा किया। लेकिन अब यह कोई मकसद पूरा नहीं कर रहा है। अतः हमें पूँजीवाद की अच्छी बातों को ध्यान में रखते हुये इन्हें नये ढांचे में जोड़ देना चाहिये जिससे वह समाज को नये तरीकों से फायदा दे सके। पूँजीवाद ने दौलत पैदा करने का सवाल तो हल कर दिया लेकिन इस दौलत को बांटने का काम पूरा नहीं किया। अतः नेहरू के अनुसार समाजवाद ही वह तरीका है जिससे इस दौलत को बांटने का काम न्यायसंगत ढंग से हल हो सकता है।

स्पष्ट है कि नेहरू जी विज्ञान के समर्थक थे। वे विज्ञान का उपयोग समाज के लिये करने के पक्षधर थे। उनके अनुसार विज्ञान का उद्देश्य समाज की बुराइयों को दूर करना होना चाहिये। विज्ञान के सामने एक सामाजिक उद्देश्य होना चाहिये। नेहरू जी का कहना था कि वैज्ञानिक स्वयं को युद्ध से सम्बन्धित होने वाले शोधों और आविष्कारों से अपने को अलग कर ले। दिल्ली में ३ जनवरी १९४७ को 'इण्डियन साइंस कांग्रेस' के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुये नेहरू ने कहा था कि हिन्दुस्तान के वैज्ञानिक यहाँ की ४० करोड़ जनता (जो भूखी एवं गरीब है) की खुशहाली के लिये काम करें। वे हिन्दुस्तान में और सारी दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय शांति और सहयोग के अग्रदूत बनें।

जहाँ तक हिन्दुस्तान का सम्बन्ध है तो स्वतंत्रता के पहले यह एक अजीब स्थिति में था। अंग्रेजों के यहाँ आने से पश्चिम की बहुत-सी बातें यहाँ आयीं, लेकिन तत्कालीन हिन्दुस्तान में पूंजीवाद अभी पूरी तरह नहीं पनप पाया था। हिन्दुस्तान में जिस भी स्तर पर पूँजीवादी व्यवस्था पनप चुकी थी उसे समाप्त करने के लिये एक विशाल योजना प्रणाली की जरूरत थी और नेहरू का मानना था कि यह सिर्फ समाजवाद के जरिये हासिल हो सकता था और हिन्दुस्तान में समाजवाद तब तक नहीं आ सकता था जब तक यहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद बना रहता है। इसीलिये स्वराज का सवाल पैदा होता है जिसका अर्थ है हिन्दुस्तान से ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटाना और हिन्दुस्तान की आम जनता के हाथ में सरकार की बागडोर को सौंपना।

जब प्रांतीय लेजिस्लेटिव एसेंबलियों के चुनाव के बाद जुलाई १९३७ में छः प्रांतों में कांग्रेस ने अपनी सरकार बनायी तो किसानों और मजदूरों की जमीन से जुड़ी समस्या को कुछ हद तक दूर करने के लिये प्रशासनिक आदेश जारी किये गये। चूँकि कांग्रेसी सरकारों पर तमाम ब्रिटिश बंदिशे और रूकावटें लगी हुई थीं जिनकी वजह से उन्हें तंग दायरे में काम करना पड़ता था।

जहाँ तक कल-कारखानों में काम करने वालें मजदूरों का सवाल है तो कांग्रेस ने तब तक कोई ब्यौरेवार कार्यक्रम नहीं तैयार किया था। इसका मुख्य कारण देश में किसानों की समस्या को प्राथमिकता देना था। फिर भी चुनावी घोषणा-पत्र में कुछ सिद्धान्त तय कर दिये गये थे जैसे- यूनियन बनाने और हड़ताल करने का मजदूरों का अधिकार, निर्वाह-योग्य मजदूरी वेतन इत्यादि। नेहरू का मानना था कि इससे मजदूरों को संगठित होने में मदद मिलेगी। तत्कालीन बम्बई सरकार ने मजदूरों के बारे में अपनी पॉलिसी के घोषणा-पत्र में कहा था- 'उसे पूरा यकीन है कि कोई भी कानून मजदूरों के संगठित ताकत की बराबरी नहीं कर सकता और जब तक मजदूरों के संगठन असली ट्रेड यूनियनों की तरह काम नहीं करने लगते और रोजगार के मुख्तलिफ क्षेत्रों में नहीं फैल जाते हैं, तब तक कोई भी स्थायी लाभ नहीं हो सकता। इसलिये सरकार इस तरह के संगठनों के विकास में जो असली रूकावटें हैं, उन्हें दूर करना और रोजगार सम्बन्धी सभी मामलों में मालिक और मजदूरों के बीच संगठन के स्तर पर बातचीत को प्रोत्साहन देना चाहती है। वह मजदूरों को उनके अपने-अपने संगठन के साथ सम्बन्ध रखने और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी कानूनी गतिविधियों में हिस्सा लेने पर सताने की कार्रवाइयों को रोकने के लिये उपाय करेगी।'

सन् १९३८ के आखिरी दिनों में कांग्रेस ने नेहरू की अध्यक्षता में एक नेशनल प्लानिंग कमेटी बनायी। इसमें १५ सदस्य थे। इस सदस्यों में जाने-माने उद्योगपति, पूँजीपति, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, ट्रेड यूनियन कांग्रेस और ग्रामोद्योग संघ के प्रतिनिधि थे। कांग्रेस शासित राज्य और कुछ बड़ी रियासतें जैसे हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावणकोर, भोपाल इस कमेटी के साथ थी।[३] कमेटी के अध्यक्ष के रूप में नेहरू ने महसूस किया कि कोई भी सार्थक योजना एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार के तहत ही बन सकती है जो आजाद और मजबूत हो, जिससे सामाजिक और आर्थिक ढ़ाचे में बुनियादी परिवर्तन लाया जा सके। अत: योजना की पहली शर्त यह थी कि पहले आजादी हासिल की जाय। स्पष्टत: यह योजना वर्तमान के लिये उतनी नहीं थी जितनी की आने वाले भविष्य के लिये। योजना बनाने के काम में नेहरू ने जितना ज्यादा सोच विचार किया उसका दायरा उतना ही बढ़ता गया, क्योंकि हर एक चीज दूसरी चीज से जुड़ी हुयी थी और किसी एक चीज को या एक दिशा में की जाने वाली प्रगति को दूसरी दिशा में की जाने वाली प्रगति की योजना से अलग-थलग रखना मुमकिन नहीं था।

इस योजना के निर्माण में नेहरू ने सामाजिक उद्देश्य को सर्वोपरि रखा। उनके अनुसार- 'खेती की जमीन, खानें, नदियां और जंगल राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, जिस पर हिन्दुस्तान की आम जनता का सामूहिक रूप से पूरा कब्जा होना चाहिये। खेती की जमीन का इस्तेमाल करने के लिये सहकारिता का सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिये।' तत्कालीन स्थिति में हिन्दुस्तान के लिये कोई शुद्ध समाजवादी योजना नहीं बनायी जा सकती थी। लेकिन नेहरू यह महसूस कर रहे थे कि जैसे-जैसे योजना का स्वरूप विस्तृत हो रहा था वैसे-वैसे वह उन्हें समाजवादी दिशा की ओर ले जा रही थी। इस प्लानिंग कमेटी द्वारा रिपोर्ट बनाने का काम शुरू ही होने वाला था कि अक्टूबर १९४० में जवाहर लाल नेहरू को गिरफ्तार कर लिया गया और लम्बी अवधि के लिये जेल की सजा दे दी गयी। इसका प्रभाव यह हुआ कि रिपोर्ट तैयार करने का काम अधर में लटक गया।

सन् १९४७ में देश के स्वतंत्र होने के बाद जब पं० जवाहर लाल नेहरू देश के प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने अपनी समाजवादी सोच के अनुरूप देश का विकास करने का ढांचा तैयार किया। उनके प्रयासों से देश के दूर-दराज के इलाकों में कल-कारखाना का विकास हुआ जिसका लाभ उसके आस-पास रहने वाले लोगों को भी मिला। देश अभी इस राह पर विकास कर ही रहा था कि नेहरू के नारे 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के आधार पर हिन्दुस्तान के भाई चीन ने सन् १९६२ में हिन्दुस्तान पर जबरदस्त आक्रमण कर दिया और हिन्दुस्तान को पराजित कर दिया। इस घटना ने साबित कर दिया कि नेहरू का समाजवादी मॉडल देश के अंदरुनी मसलों में तो कारगर रहा लेकिन इसका अंतर्राष्ट्रीय पहलू निहायत ही कमजोर साबित हुआ।

संदर्भ:

१. *सेलेक्टेड वर्क्स - Vol. ४, पृ० ४९-५१*

२. *सेलेक्टेड वर्क्स - Vol. ७, पृ० १८०-१८२*

३. *दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ० ४१८-४२७*

आधुनिक सभ्यता की गाँधीय पर्यालोचना : एक विमर्श

सुधांशु शेखर

१. भूमिका : आधुनिक सभ्यता तथाकथित भौतिक विकास की बुलंदियों पर है। आकाश को मुँह चिढ़ाती गगनचुंबी इमारतें, हवा से तेज दौड़ते वायुयान, धरती की दूरियों को खत्म कर देने वाले संचार साधन आदि- इसकी पहचान हैं। महामारियों से लड़ने वाले अचूक टीके, शल्य-चिकित्सा के अत्याधुनिक उपकरण, यौन-क्षमता से लेकर बौद्धिकता तक को बढ़ाने वाली दवाइयाँ- इसके आभूषण हैं। इसके पास है कृत्रिम गर्भाधान, परखनली-शिशु, अंग-प्रत्यारोपण एवं मानव-क्लोनिंग की तकनीक। झाड़ू लगाने एवं खाना बनाने से लेकर प्रेम एवं सेक्स करने तक में दक्ष मशीनें (रोबोट)- इसकी उपलब्धियाँ हैं। आज यह समुद्र की अतल गहराइयों में खेल रही है, अंतरिक्ष की सैर कर रही है, ढूँढ रही है चाँद एवं मंगल पर बस्तियाँ बसाने की संभावनाएँ और देख रही है- अमरता के सपने भी।

लेकिन, तस्वीर का दूसरा पहलू बड़ा ही भयानक है। इसी आधुनिक सभ्यता के कारण पूरी दुनिया बम एवं बारूद की ढेर पर खड़ी है और रिमोट का एक बटन दबाने मात्र से पूरी सृष्टि के नष्ट होने की आशंका पैदा हो गई है। चारों ओर नफरत, द्वेष, हिंसा एवं युद्ध की राजनीति चल रही है और विषमता का ग्राफ बढ़ता जा रहा है। साथ ही बाढ़-सुखाड़, भूकम्प, सुनामी, एसीड-रेन, ग्लोबल-वार्मिंग, ग्लोबल कूलिंग और ओजोन परत के क्षरण का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। प्राकृतिक सम्पादाएँ नष्ट हो रही हैं और विकराल ऊर्जा-संकट दरवाजे पर खड़ा है। इतना ही नहीं मिट्टी अपनी उर्वरता खो रही है, शुद्ध पेयजल स्रोत खत्म हो रहे हैं और आने वाले दिनों में साँस लेने के लिए स्वच्छ हवा मिलनी भी मुश्किल होने वाली है।

जाहिर है कि आधुनिक सभ्यता का तथाकथित विकास-अभियान, वास्तव में सम्पूर्ण मानवता के लिए महाविनाश का आख्यान बनने वाला है। ऐसे में दुनिया भर में इस सभ्यता के विकल्प की तलाश हो रही है और इस क्रम में पूरी दुनिया गाँधी के सभ्यता-दर्शन की ओर आशा भरी निगाहों से देख रही है।

२. आधुनिक सभ्यता की गाँधीय पर्यालोचना : महात्मा गाँधी कृत आधुनिक सभ्यता की पर्यालोचना विशेष रूप से उनकी कालजयी कृति 'हिंद स्वराज' (१९०९) में सामने आती है, जो उनके विचारों की तहरीर है।[१] इसे आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की सटीक एवं प्रामाणिक भारतीय आलोचना भी कह सकते हैं।[२] वस्तुतः यह एक 'सभ्यतामूलक विमर्श'[३] है, जिसे 'शैतानी सभ्यता का वैकल्पिक दस्तावेज'[४] कहा जा सकता है। गाँधी का सारा आर्थिक चिंतन (अन्य चिंतन भी) और सोच-विचार संस्कृति और सभ्यतामूलक[५] प्रश्नों से जुड़ा है और हिंद स्वराज में उन सभी प्रश्नों का उत्तर बीज रूप में मौजूद है।

गाँधी ने 'हिंद स्वराज' में यह दिखाने का प्रयास किया है कि हिन्दुस्तान पश्चिमी सभ्यता के कारण ही गुलाम हुआ है और हिन्दुस्तान की दुर्दशा के लिए अंग्रेजी राज से अधिक अंग्रेजी (पश्चिमी) सभ्यता जिम्मेदार है। इसलिए, यदि हम भारतीय पश्चिमी सभ्यता के मायाजाल से निकलकर हिन्दुस्तानी सभ्यता के मूल्यों को आत्मसात कर लें, तो हमें आजाद होने में देर नहीं लगेगी। एंथनी जे. परेल मानते हैं- 'गाँधी अपने देशवासियों से कहना चाहते थे कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद

उनका असली दुश्मन नहीं, वरन् असली दुश्मन तो पाश्चात्य सभ्यता है। जब तक वे पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से चौंधियाते रहेंगे, तब तक परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े रहेंगे, चाहे भले ही वे राजनैतिक आजादी क्यों न हासिल कर लें।'[५]

गाँधी के अनुसार, आधुनिक (पश्चिमी) सभ्यता 'बिगाड़ करने वाली' और 'अधर्म' का पर्याय है। यह हमें भौतिकवादी दृष्टिकोण देती है और हमारे विचारों को शरीर एवं ऐंद्रिक सुख की वृद्धि के साधनों पर केंद्रित करती है।[७] इसमें लोग बाहरी (दुनिया) की खोजों एवं शारीरिक सुखों में धन्यता-सार्थकता और पुरुषार्थ मानते हैं।[८] वास्तव में यह एक 'शैतानी सभ्यता' है, जो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', 'योग्यतम की रक्षा' या 'दूसरों को मारकर जीओ' के सिद्धांत पर आधारित है। यह भौतिकवाद की पूजक है, जिसके दुष्परिणाम स्वरूप शक्तिशाली शक्तिहीनों का शोषण करते हैं।[९] इसकी वजह से लोगों के नैतिक विकास की गति अवरुद्ध हो गई है और प्रगति का मापदंड रुपया ही हो गया है। इस कथित सभ्यता के निर्माण के लिए स्त्री-पुरुषों और बालकों की लाशों पर बड़े-बड़े कल-कारखाने खड़े किए गए हैं।[१०] यह हमें सिखाती है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाकर ही प्रगति कर सकता है। इसलिए, इसमें मनुष्य मुख्यतः शरीर के लिए ही उद्योग करता है।[११]

गाँधी ने 'हिंद स्वराज' में इसके कई उदाहरण दिए हैं। मसलन, यूरोप के लोग अच्छे घरों में रहने को सभ्यता की निशानी मानते हैं। अच्छे कपड़े पहनने और पाँच गोलियाँ छोड़ सके ऐसी चक्र वाली बंदूक के इस्तेमाल को सभ्यता की निशानी मानते हैं। भाप के यंत्र से हल चलाकर एक आदमी बहुत सारी जमीन जोत सकता है और बहुत-सा पैसा जमा कर सकता है, यह भी सभ्यता की निशानी है।[१२] गाँधी आगे कहते हैं- 'पहले लोग कुछ ही किताबें लिखते थे और वे अनमोल मानी जाती थीं। आज हर कोई चाहे जो लिखता है, छपवाता है और लोगों के मन को भरमाता है। पहले लोग बैलगाड़ी से रोज बारह कोस की मंजिल तय करते थे। आज रेलगाड़ी से चार सौ कोस की दूरी तय कर लेते हैं।... पहले लोग लड़ना चाहते थे, तो एक दूसरे से शरीर-बल आजमाते थे। आज तो तोप के एक गोले से हजारों जानें ली जा सकती हैं।... पहले जैसे रोग नहीं थे, वैसे रोग आज लोगों में पैदा हो गए हैं।'[१३] दुर्भाग्य से, यही सब सभ्यता की निशानी मान ली गई है, जबकि वास्तव में यह घोर असभ्यता है।

गाँधी मानते थे कि पश्चिमी सभ्यता में नीति या धर्म की बात नहीं है।[१४] यह सभ्यता तो अधर्म है और यह जहाँ-जहाँ फैल रही है, वहाँ के लोग आधे पागल जैसे देखने में आते हैं।[१५] इस सभ्यता की खूबी यह है कि लोग इसे अच्छा मानकर इसमें कूद पड़ते हैं और फिर वे न तो घर के होते हैं, न घाट के। वे सच बात को भी भूल जाते हैं।[१६] यह सभ्यता स्वार्थ से भरी, दंभपूर्ण और ईश्वर को भी भूलाने वाली है। इसमें अपने (पश्चिम के) अलावा अन्य लोगों को तुच्छ एवं असभ्य माना जाता है।[१७] यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद भी नाशवान है। इसलिए, इस सभ्यता की चपेट में आए लोग खुद की जलाई हुई आग में जल मरेंगे।[१८]

जाहिर है कि पश्चिमी सभ्यता न केवल भारत, वरन् पूरी मानवता के लिए घातक है। इसलिए, गाँधी इसका पूरजोर विरोध करते हैं। वे साफ-साफ कहते हैं- 'मैं तो यूरोप की आधुनिक सभ्यता का शत्रु हूँ। 'हिंद स्वराज्य' में मैंने अपने इसी विचार को निरूपित किया है। यह बताया है कि भारत की दुर्दशा के लिए अंग्रेज नहीं बल्कि हमलोग ही दोषी हैं, जिन्होंने आधुनिक सभ्यता स्वीकार कर ली है। यदि हम इस सभ्यता को छोड़कर सच्ची धर्म-नीति से युक्त अपनी प्राचीन सभ्यता को पुनः अपना लें, तो भारत आज ही मुक्त हो सकता है।'[१९] इस तरह गाँधी भारतीयों से अपनी जड़ों की ओर लौटने की अपील करते हैं और भारतीय सभ्यता-संस्कृति को बचाने एवं अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

गाँधी के अनुसार- 'सभ्यता वह आचरण है, जिससे आदमी अपना फर्ज अदा करता है। यहाँ फर्ज अदा करने का मतलब है- नीति का पालन और नीति के पालन का अर्थ है- अपने मन एवं इंद्रियों को बस में रखना। ऐसा करते हुए व्यक्ति अपने आपको (अपने असली स्वरूप को) पहचानता है।'[२०] हिन्दुस्तान की सभ्यता में ये सारी बातें मौजूद हैं और उसका झुकाव नीति को मजबूत करने की ओर है, इसलिए यह सच्ची सभ्यता है। इसमें हमारा ध्यान जीवन की ऊँची प्रवृत्तियों, ईश्वर के प्रति प्रेम, पड़ोसियों के प्रति शिष्टता और आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति पर जाता है।[२१]

प्राचीन भारतीय सभ्यता संयम प्रधान है। वह हमें बताती है कि मनुष्य ज्ञानपूर्वक अपनी आवश्यकताओं को जितना कम करता है, वह उतना ही आगे बढ़ता है। इसमें बाह्य वृत्तियों की अपेक्षा आंतरिक प्रवृत्तियों को ज्यादा महत्त्व दिया गया है।[२२] सच्ची सभ्यता का लक्षण भी अपरिग्रह है, परिग्रह को विचार एवं इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटता है, त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा संतोष और सेवा-शक्ति बढ़ती है।[२३]

गाँधी लिखते हैं- 'जो सभ्यता हिंदुस्तान ने दिखाई है, उसको दुनिया में कोई नहीं पा सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोए हैं, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी कोई चीज देखने में नहीं आई। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्त्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिकंजे में फँस गया और चीन का कुछ भी कहा नहीं जा सकता। लेकिन, गिरा-टूटा जैसा भी हो, हिन्दुस्तान आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।'[२४] उन्होंने पाश्चात्य विचारकों द्वारा हिंदुस्तानी सभ्यता को जड़ एवं दकियानूस बताने का प्रतिकार किया है। वे कहते हैं- 'भोग भोगने से भोग की इच्छा ही बढ़ती है। इसलिए, हमारे पुरखों ने भोग की हद बाँध दी। ऐसा नहीं था कि हमें यंत्र वगैरह की खोज करना ही नहीं आता था। बल्कि, हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग अगर यंत्र आदि की झंझट में पड़ेंगे, तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे।'[२५]

यहाँ गाँधी द्वारा हिन्दुस्तानी सभ्यता के गौरवगान को सुनकर हमारे मन में इसकी विसंगतियों से सम्बन्धित कई सवाल उठ सकते हैं। मसलन, हिन्दुस्तान में हजारों बाल-विधवाएँ हैं, बाल-विवाह प्रचलित है, देवदासी-प्रथा है, बलि-प्रथा है, अस्पृश्यता है इत्यादि। गाँधी स्वीकार करते हैं कि ऐसे कई दोष हिन्दुस्तानी सभ्यता में हैं, लेकिन उन दोषों को इसकी पहचान नहीं कहा जा सकता है। यहाँ उन्हें दूर करने के प्रयत्न हमेशा हुए हैं और होते ही रहेंगे। हमें भी अपनी सभ्यता की बुराइयों को दूर करने का हरसंभव प्रयास करना चाहिए। लेकिन, उन बुराइयों के बहाने अच्छाइयों से भी मुँह मोड़ लेना कदापि उचित नहीं है। गाँधी तो यहाँ तक कहते हैं- 'हिंदुस्तान के हित चिंतकों का हिंदुस्तानी सभ्यता से ऐसे ही चिपटा रहना चाहिए जैसे बच्चा माँ से चिपटा रहता है।'[२६] जाहिर है कि गाँधी भारतीय जनमानस में अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रति प्रेम एवं स्वाभिमान[२७] जगाना चाहते थे।

गाँधी पश्चिमी सभ्यता के बजाय पूर्वी सभ्यता के हिमायती थे। उनका कहना है- 'पश्चिमी सभ्यता विनाशक है और पूर्वी सभ्यता विधायक है। पश्चिमी सभ्यता केंद्र से दूर ले जानेवाली और पूर्वी सभ्यता केंद्र की तरफ ले जानेवाली है। इसलिए, पश्चिमी सभ्यता तोड़नेवाली और पूर्वी सभ्यता जोड़नेवाली है। मैं यह भी मानता हूँ कि पश्चिमी सभ्यता का कोई लक्ष्य नहीं है और पूर्वी सभ्यता के सामने सदा लक्ष्य रहा है।'[२८] यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि गाँधी पश्चिमी सभ्यता को मूलतः अनैतिक और विनाशकारी मानने के बावजूद उसकी अच्छाइयों को अपनाने से गुरेज नहीं करते थे। वे कहते हैं- 'यद्यपि मैं पाश्चात्य भौतिकवाद से बराबर सशंकित रहता हूँ। फिर भी, पश्चिमी सभ्यता में जो अच्छाई है, उनका मैं सदैव स्वागत करूँगा।'[२९]

३. निष्कर्ष : इधर, भूमंडलीकरण के इस दौर में पूरा भारत पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण में लगा है। हमारी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक नीतियों एवं व्यवहारों पर पश्चिम का दुष्प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आजादी के ६६ वर्षों में भी भारत ने गाँधी की मूल भावानाओं को नहीं अपनाया है। इसी का दुष्परिणाम है कि आज देश में गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी, विषमता, हिंसा एवं भ्रष्टाचार चरम पर है। हमारी राष्ट्रीय संप्रभुता एवं सुरक्षा पर भी आंतरिक एवं बाह्य दोनों तरह के खतरे मंडरा रहे हैं। ऐसे में आज गाँधी के सभ्यता-दर्शन को अपनाने की जरूरत है।

संदर्भ :

१. चटर्जी, मारग्रेट; गाँधीज रिलिजियस थॉट, मेकमिलन प्रेस, लंदन, १९८३, पृ. ८०.

२. जोशी, प्रभाष; 'गाँधी की पोथी पूजा के काम', द पब्लिक एजेंडा, कार्यकारी संपादक- मंगलेश डबराल, ४ मार्च २००९, पृ. ५३.

३. शर्मा, अमित कुमार; हिंद स्वराज्य की प्रासंगिकता, कौटिल्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- २००५. (द्रष्टव्य)

४. डॉ. योगेन्द्र; 'शैतानी सभ्यता का वैकल्पिक दस्तावेज', युवा संवाद, संपादक- डॉ. ए.के. अरुण, नई दिल्ली, अक्टूबर, २००६. (द्रष्टव्य)

५. पटनायक, किशन; विकल्पहीन नहीं है दुनिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, २०००, पृ. १४.

६. मिश्रा, अनिल दत्त; 'हिंद स्वराज्य : विषय और संदर्भ', गाँधी : एक अध्ययन, संपादक- सुरजीत कौर जौली, कंसैप्ट पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००७, पृ. ५२.

७. गाँधी, मो.क.; संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड- १०, पृ. २९८-९९.

८. गाँधी; हिंद स्वराज्य, अनुवादक- अमृतलाल ठाकोरदास नानावटी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वारणसी (उत्तर प्रदेश), आठवाँ संस्करण-२००९,, पृ. ३८.

९. गाँधी, मो.क.; संपूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड- २३, पृ. २११.

१०. वही, खंड- २३, पृ. २११.

११. गाँधी, मो.क.; इंडियन ओपिनियन, २ जुलाई, १९१०.

१२. गाँधी; हिंद स्वराज्य, पूर्वोक्त, पृ. ३८.

१३. वही, पृ. ३८-३९.

१४. वही, पृ. ३६.

१५. वही.

१६. वही, पृ. ४०.

१७. गाँधी, मो.क.; नवजीवन, २९ दिसंबर, १९२०.

१८. गाँधी; हिंद स्वराज्य, पूर्वोक्त, पृ. ३६.

१९. गाँधी, मो.क.; इंडियन ओपिनियन, २९ अप्रैल, १९१४.

२०. गाँधी, मो.क.; हिंद स्वराज्य, पूर्वोक्त, पृ. ५५.

२१. गाँधी, मो.क.; सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खंड- १०, पृ. २९८-९९.

२२. गाँधी, मो.क.; नवजीवन, २९ दिसंबर, १९२०.

२३. गाँधी, मो.क.; यरवदा जेल, २६ अगस्त, १९३०.

२४. गाँधी; हिंद स्वराज्य, पूर्वोक्त, पृ. ५४.

२५. वही, पृ. ५५.

२६. वही, पृ. ५७.

२७. शर्मा, अम्बिकादत्त; 'हिंद स्वराज और कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का पुनर्पाठ, उन्मीलन, सम्पादक- यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर (राजस्थान), वर्ष-२३, अंक-२, जुलाई २००९, पृ. ८०.

२८. गाँधी, मो.क.; इंडियन ओपिनियन, ६ जून, १९०८.

२९. गाँधी, मो.क.; यंग इंडिया, २६ दिसंबर, १९२४.

***

पर्यावरण संरक्षण में यज्ञ (अग्निहोत्र) का महत्त्व

नागेन्द्र तिवारी

आज हमारे समक्ष पर्यावरण प्रदूषण की समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। सभी वैज्ञानिक इस समस्या से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं परन्तु, उचित समाधान ढूँढ नहीं पा रहे हैं। इसका एकमात्र विकल्प हमारे पूर्वज प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने यज्ञ को ही बतलाया था। यज्ञ भारतीय मनीषियों की ऐसी महत्त्वपूर्ण देन है, जिसे सर्वाधिक फलदायी एवं समग्र 'इको सिस्टम' को ठीक बनाए रखने का आधार माना जा सकता है। दैवी प्रकोपों एवं आपत्तियों से बचने का वैज्ञानिक आधार है- यज्ञ।

यज्ञ में निहित पर्यावरण-संरक्षण जैसी मंगलभावना के पूर्ण प्रकाशन के पूर्व यह आवश्यक है कि हम 'यज्ञ' शब्द के विवेचन-विश्लेषण का प्रयास करें।

'यज्ञ' शब्द का सम्बन्ध 'यज्' धातु से है। आचार्य पाणिनी के अनुसार, इसके तीन अर्थ हैं- देवपूजा, संगतिकरण और दान।

'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु।' -धातुपाठ १ (७२८)

क. **देवपूजा**- जड़ प्राकृतिक तत्त्व हो अथवा चेतन, सभी के साथ यथायोग्य व्यवहार करना तथा अग्नि, जल, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थों का प्राणिमात्र के कल्याण के लिए उचित उपयोग ही देवपूजा है।

ख. **संगतिकरण**- संगतिकरण का तात्पर्य है किसी पदार्थ का प्राणियों के कल्याण एवं उत्कर्ष हेतु यथोचित मात्रा में संयोग करना, मनीषियों एवं विद्वानों से सत्संग करना आदि। इस संगति के कारण शिल्प एवं विज्ञान भी यज्ञ की श्रेणी में आते हैं।

ग. **दान**- दान का तात्पर्य है उपार्जित धन, विद्या आदि का प्राणिमात्र के कल्याण हेतु उपयोग।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, संसार के श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ की श्रेणी में आते हैं। शतपथब्राह्मण कहता है- 'यज्ञो वै श्रेष्ठम कर्म।'

यजुर्वेद के उपक्रम के अनुसार भी श्रेष्ठतम कर्म ही यज्ञ है-श्रेष्ठतमाय कर्मणे (१/१) और उपसंहार में तो यह यज्ञ निष्काम कर्म का संकेत करने लगता है-'कुर्वननेवेह कर्मणे' (४०/२)।

गीता के अध्याय चार के श्लोक संख्या अठाइस से तैंतीस तक में अनेक प्रकार के लोक-कल्याणकारी कार्यों के साथ 'यज्ञ' शब्द का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

कात्यायन के श्रोतसूत्र में यज्ञ शब्द में द्रव्य, देवता और त्याग का सहभाव दिया गया है- 'द्रव्यं देवता त्यागः' (१/२/२)

यज्ञ शब्द के भीतर जो कल्याण भावना छिपी हुई है, उसके सर्वाधिक महत्त्व का प्रकाशन करने वाला ग्रन्थ यजुर्वेद है। इतना ही नहीं, विश्व कल्याण-भावना के साथ एकात्म दर्शन की भावना का सुन्दर निदर्शन भी यजुर्वेद में है-

'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे।।' (३६/१८)

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति सहृदयता का परिचय देना ही जीवन का सही लक्षण है। आज जिसे हम पारिस्थितिकी-तंत्र कहते हैं, उसमें भी तो रचना तथा कार्य की दृष्टि से विभिन्न जीवों और वातावरण की मिली-जूली इकाई का ही स्वरूप-विश्लेषण किया जाता है।

अग्निहोत्र- 'अग्निहोत्र' शब्द अग्नि के आह्वान का वाचक है। यह अग्नि यज्ञाग्नि, द्युलोकाग्नि, भौमाग्नि भेद से तीन प्रकार का है। यज्ञाग्नि में हवि का प्रक्षेप किया जाता है जिसके द्वारा वायु की शुद्धि होती है। जल एवं आकाश में पवित्रता आती है। द्युलोकाग्नि का कार्य रसों का लेना और देना है सूर्य या चन्द्र जल का आकर्षण करते हैं, तथा सहस्रधा बनाकर पृथ्वी को ही प्रदान कर देते हैं। इस दिव्य गुण के कारण ही सूर्य, चन्द्र आदि देव कहलाते हैं। देवों का कार्य परहित साधन है, यज्ञ का भी यही अर्थ है। यज्ञ के द्वारा देवताओ की पूजा की जाती है। पूजा का अर्थ रोली या चावल चढ़ाना ही नहीं, किन्तु उस पदार्थ का सदुपयोग करना है। जल को मैला करना या जल में मलमूत्र का प्रक्षेप करना या विष आदि हानिकारक वस्तुओं का जल में मिलाना जल की पूजा करना नहीं, बल्कि जल की निन्दा करना है। इसी प्रकार अग्नि में अवांछनीय तत्त्वों आदि को जलाना और उसको अपवित्र करना अग्नि की पूजा नहीं बल्कि अग्नि की निन्दा है।

यज्ञ का मुख्य उद्देश्य वातावरण को शुद्ध तथा पवित्र करना होता है। वेदो के अनेक मंत्रों में ऋषि बार-बार प्रार्थना करते हैं-

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्नि
प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता'' -अथर्ववेद, १९.५५.३

प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्नि
सायं सायं सौमनस्य दाता'' -अथर्ववेद, १९.५५.४

अर्थात् सायंकाल का किया हुआ हवन प्रातःकाल तक वातावरण को शांत, सुगंधित एवं सौम्य रखता है और प्रातःकाल का किया हुआ हवन सायंकाल तक वातावरण को शांत, सुगंधित एवं सौम्य रखता है। यहाँ भी स्पष्ट शब्दों में यज्ञ का उद्देश्य पर्यावरण शुद्धि एवं संतुलन बताया गया है।

यज्ञ से अनन्त लाभ है। यज्ञीय धूम में वायु के विषैले तत्त्वों को नष्ट करने की विलक्षण क्षमता है। ऋषि इस बात को अच्छी तरह जानते थे। अथर्ववेद में कहा गया है- वायु अंतरिक्ष स्थाधिपति (५/२४/८) अर्थात् वायु अंतरिक्ष का अधिपति है। वायुर्याजर्विद अर्थात् वायु ज्ञान से सम्बन्धित विज्ञान ही यजुर्वेद है। वेद शास्त्रों में स्थान-स्थान पर इस बात का उल्लेख किया गया है कि यज्ञ वायु का शोधन करने वाला मनुष्य का प्राणदाता है और वायु को शुद्ध रखने के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ में आहुति की गई औषधियाँ केवल दूषित तत्त्वों, कृमि, कीटकों को ही नहीं मार भगाती वरन् पौष्टिक तत्त्वों का अभिवर्धन भी करती है। अस्तु, वायुमंडल को दूषित होने से बचाने और जीवधारियों एवं वृक्ष वनस्पतियों की जीवन रक्षा के लिए यज्ञ ही एक मात्र साधन है। वायुशुद्धि के अतिरिक्त हवन-गैस से स्थान, जल, मिट्टी आदि अनके तत्त्वों की शुद्धि भी हो जाती है, मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ जाती है और पोषक अणुओं को बढ़ाने वाले तत्त्व उसमें बढ़ जाते हैं। इसी कारण अग्निहोत्र धूम से पूरित पर्जन्य से युक्त मेघ अणु और औषधियों को निर्मलता और पुष्टि प्रदान करते हैं।

यज्ञ से व्यक्ति, वनस्पति एवं जीव-जन्तु मात्र लाभान्वित नहीं होते, वरन् अभीष्ट वातावरण के निर्माण में भी असाधारण योगदान मिलता है। प्रकृति के असंतुलनों, प्रकोपों के निवारण एवं अनुकूलन में यज्ञ प्रक्रिया सहायक बनाती है। 'पर्जन्य' अर्थात प्राणयुक्त वर्षा। इकॉलाजिकल संतुलन के निर्माण में इस पर्जन्य के कारण वैदिक युग में प्रकृति सहायक थी एवं जो खाद्यान्न इस धरती पर उगाये जाते थे, उनमें एक विशिष्टता समाहित रहती थी। आज भी भारतीय खाद्यान्न में जो स्वाद एवं मिठास देखने में आता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। यह न्यूनाधिक रूप में अग्निहोत्र परम्परा का ही परिणाम है।

यज्ञ से वर्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ की अग्नि में अगर (सुगंधित लकड़ी वाला एक वृक्ष), तगर (मदन वृक्ष का

औषध), चन्दन, कपूर, इलायची, जावित्री (जायफल का छिलका जो मसाले और दवा के रूप में काम में लाया जाता है) शक्कर, घी, दूध, मधु आदि की आहुति दी जाती है। यह आहुति सूर्य की ओर जाती है। सूर्य के प्रभाव से मेघमंडल के साथ मिश्रित होकर हवि (यज्ञ में अर्पित की हुई सामग्री) नीचे उतरकर वर्षा करती है, जिससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्रजा की रक्षा होती है। यज्ञ से सृष्टि के नियम को सहायता मिलती है। इस प्रकार, पर्यावरण के सरंक्षण तथा संवर्धन में यज्ञ का महत्त्व उजागर होता है।

यज्ञ की प्राकृतिक प्रकोपों के निवारण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। पिछले तीन दशक में संसार को प्राकृतिक प्रकोपों के बीच से गुजरना पड़ा है। सूखा, बाढ़, भूकम्प की घटनाओं में तीन-चार वर्षों से जितनी वृद्धि हुई है उतनी पहले कभी नहीं देखी गयी। मौसम में इतना अप्रत्याशित परिवर्तन शायद ही कभी हुआ हो। वातावरण इतना असंतुलित हो गया है कि यह ठीक पता नहीं कि मौसम में कब क्या परिवर्तन हो जाय। कहीं ठण्ड बढ़ी है तो कहीं गर्मी, अभी हाल ही में प्रकाशित समाचार के अनुसार सहारा के रेगिस्तान में ओले पड़े तथा भयंकर वर्षा हुई है। इस रेगिस्तानी इलाके में ओले पड़ना एक आश्चर्यजनक, अद्भुत एवं अप्रत्याशित घटना है। प्रकृति को इतना क्रुद्ध पहले कभी नहीं देखा गया है। मौसम की विचित्रता तथा प्राकृतिक असंतुलन को देखने से लगता है कि कहीं हम प्रलय काल के निकट तो नहीं हैं। तथ्य चाहे जो भी हो प्रकृति के असंतुलन से इनकार नहीं किया जा सकता। अप्रत्याशित प्रकोप यह सोचने पर बाध्य करते हैं कि इस असंतुलन का कारण क्या है? दैवीय प्रकोप या मनुष्य की स्वयं की विनिर्मित परिस्थितियाँ। अध्यात्म तत्त्वदर्शन के अनुसार इस प्रकार के प्रकृति प्रकोप को दैवी आक्रोश समझा जा सकता है और उसका कारण मनुष्य की उस संकीर्ण स्वार्थपरता को माना जा सकता है जिसके कारण देवता रुष्ट होते हैं। ऐसे प्रसंग न आने पाये उसके लिए मनुष्य और देवो के बीच परस्पर सद्भाव सम्पन्न आदान-प्रदान बना रहना चाहिए। यह कार्य यज्ञ परम्परा को बनाये रखने से ही सम्पन्न हो सकता है। गीता का कथन है- 'देवान्यावयतानेन ते देवा भावयन्तु व:।' तुम सब यज्ञीय कर्मों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करो। देवता प्रसन्न होकर अपने अनुग्रह की वर्षा करेंगे।

देवताओं को प्रसन्न रखने से अभिप्राय यहाँ प्रकृति को संतुलित एवं सुव्यवस्थित रखने से भी है। प्रकृति दैवी शक्तियों की क्रीड़ाभूमि है। उसके अनुदानों से ही यह वसुन्धरा पुष्पित-पल्लवित होती तथा समुन्नत बनती है। विभिन्न दैवी शक्तियाँ ही अपना स्थूल परिचय प्रकृति की हलचल बनकर देती है, जिनका आलंकारिक वर्णन पौराणिक उपाख्यानों में आता है। इनमें वर्णन है कि देवता मनुष्य के सत्कर्मों से प्रसन्न होकर अनुदान बिखेरते हैं। इन देवताओं के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए इन्हें प्रसन्न रखना होता है। प्रसन्न रखने का अभिप्राय यहाँ उन्हें प्रसाद, उपहार देने से नहीं, न उनकी आवश्यकता ही देवी-देवताओं को है। वे शक्तियाँ मात्र अनुनय-विनय पर प्रसन्न नहीं होती, मानवीय मर्यादा के नियमों पर चलकर तथा आदर्शवादी परम्परा अपनाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

इन दिनों अन्यान्य प्रदूषणों के साथ एक प्रदूषण और आ जुड़ा है वह है चिन्तन का प्रदूषण। स्रष्टा ने वायुमंडल और वातावरण की संरचना अनुकूलताओं और उपयुक्तताओं से भरी पूरी बनाई है। इन्हें विकृत तो मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। धुआँ, घुटन, वायु, प्रदूषण, कोलाहल, विकरण उसी की देन है। वृक्षों को धराशायी उसी ने किया है। इसी प्रकार भ्रष्ट चिन्तन, दुष्ट आचरण और निकृष्ट व्यवहार से विषाक्तता अदृश्य वातावरण को बिगाड़ती है इसी के फलस्वरूप प्रकृति प्रकोप उभरते और दुष्प्रवृतियों के प्रवाह उफनते हैं। दुष्टता से अदृश्य जगत् में संव्याप्त वातावरण विक्षुब्ध होता है। वातावरण के विक्षोभ से अवांछनीयता की बाढ़ आती है और विनाश विभीषिकाओं की बिजली कड़कती है। इन दिनों यही हो रहा है। परिणाम सामने है- विभिन्न प्रकार के प्रकृतिक विक्षोभ। निस्संदेह वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थितियों का उत्तरदायी मनुष्य स्वयं है। इस विषाक्तता के परिशोधन की व्यवस्था तो बनाई ही जानी चाहिए। वातवरण की विषाक्त के परिशोधन में सनातन परम्परा ही सफल हो सकती है। यज्ञीय दर्शन को जनसामान्य के चिंतन में उतारा जा सके तो सत्प्रवृत्तियों के विकास में असामान्य योगदान मिलेगा। चिन्तन की भ्रष्टता एवं कर्तृत्व की निकृष्टता का परिष्कार भी इसी प्रकार संभव है। इस बात से कोई विचारशील इंकार नही कर सकता। सतयुग में जब सत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य था तो प्रकृति की अनुकूलता से सभी सुखी थे। अब जब लोकमानस में निकृष्टता बढ़ने से दुष्ट-भ्रष्ट आचरण बढ़ चले हैं तो प्रतिकूलता अपनी

भयानकता दर्शाने लगी है। इस विषम समस्या के समाधान हेतु सभी धर्म-प्रेमियों, शिक्षकों एवं मूर्धन्य लोगों को अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी तभी 'स्वर्गकामो यज्ञेत' अर्थात् स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष यज्ञ करने की परिकल्पना साकार कर सकेगा।

यज्ञों की भौतिक और आध्यात्मिक महत्ता असाधारण है। भौतिक और आध्यात्मिक जिस क्षेत्र पर भी प्रकाश डाले उसी में महत्त्वपूर्ण उपयोगिता दृष्टिगोचर होती है। वेद में ज्ञान, कर्म, उपासना तीन विषय हैं। कर्म का अभिप्राय कर्मकांड से है, कर्मकांड यज्ञ को कहते हैं। वेदों का लगभग एक तिहाई मंत्र भाग यज्ञों से सम्बन्ध रखता है। यो तो सभी मंत्र ऐसे हैं जिनकी शक्ति को प्रस्फुटित करने के लिए उनका उच्चारण करते हुए या करने की आवश्यकता होती है। यज्ञों की सफलता मंत्रों पर निर्भर करती है।

यज्ञ में प्रयुक्त सभी तत्त्वों में मंत्र की शक्ति सर्वोपरि है। यज्ञ में सन्निहित शक्ति का आधार मंत्र ही है। मंत्र यज्ञ की आत्मा है। यज्ञ की सत्ता मंत्र में है। मंत्र की शक्ति महान् है। इसलिए इसे वज्र या ब्रह्मास्त्र भी कहते हैं। मंत्रों का गठन ऐसे चमत्कारी ढंग से हुआ है कि उनके विधिपूर्वक शुद्ध उच्चारण करने से आकाश में विशेष प्रकार की ध्वनि तरंगें पैदा होने लगती हैं। इन अद्‌भुत दिव्य ध्वनि तरंगों के फलस्वरूप रुग्णता का निवारण, मनोविकारों का निवारण, कुसंस्कारों का उन्मूलन एवं दूर-दूर तक वातावरण परिष्कृत होता है।

वैदिक काल से ही यज्ञ हमारे जनजीवन का अभिन्न हिस्सा रहा है। शास्त्रों, धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से यज्ञीय परम्परा की ओर ध्यान आकर्षित होता है। पर्वों, उत्सवों, संस्कारों एवं अन्य सामूहिक आयोजनों में यज्ञ का कार्यक्रम निश्चित रूप से जुड़ा रहता है। यज्ञ के ज्ञान एवं विज्ञान के सिद्धान्त की अवधारणा से ही स्वर्गीय परिस्थितियों का सृजन कर सकना संभव हो सका था।

भारतीय संस्कृति में यज्ञीय परम्परा के पीछे समग्र वैज्ञानिक आधार है। इसका प्रमाण अब वैज्ञानिक परीक्षणों से मिल रहा है। आज जब रेडियोधर्मी धूल की मारक शक्ति बड़ी गम्भीर समस्या बनकर संसार के सामने खड़ी है तब उसे यज्ञ जैसे महान् अनुष्ठान से ही सुधारा जा सकता है, ताप और दाब को नियंत्रित रखने के साथ आकाश को इन दूषित तत्त्वों से बचाने के लिए कोई औषधि या उपचार काम न करेगा। इन गंभीर परिस्थितियों में से एक बार पुनः ऋषियों की मंत्रणा की ओर लौटना पड़ेगा-

'मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय, कमज्ञातयक्ष्मादुत।
ग्राहिजंग्राह यद्येतदेनं तथ्या इंद्राग्नी प्रभुमुक्त मेनम्।' अथर्ववेद, ३/११

अर्थात् मेरी संतानों, तुझे अज्ञात और क्षय रोगों से मुक्ति दिलाने के लिए इन्द्राग्नि, विद्युत, अग्नि, वायु, सूर्य ही समर्थ है 'अर्थात् शुद्ध वायुमण्डल से ही तू स्वस्थ रह सकता है।' इसलिए हवन कर, इन शक्तियों को जागृत कर और निरोग बन।

यह अग्नि (किरणें) वायु (गैसें) निकलकर वही रेडियो गति (रेडियो एक्टिविटी) पैदा करती है, जो बमों में होती है पर उसमें प्रयुक्त पदार्थों के सभी आइसोटोप विषैले और दूषित होते हैं, जबकि यज्ञों में प्रयुक्त होने वाला हविष्यान्न का प्रत्येक भाग पुष्टिवर्धक, रोग निरोधक और प्राणवर्धक होता है। यह वायु और गन्ध भी इतनी सूक्ष्म और प्रतिक्रियावादी होती है कि कुछ ही समय में सारे वायुमंडल में फैलकर जीव, मनुष्य और वनस्पति सबको प्रभावित करते हैं। इस विज्ञान को समझे बिना भावी संस्कृति को बचाया नहीं जा सकता। भारतीय यज्ञ प्रणाली की ओर अब वैज्ञानिकों का ध्यान किए गये सर्वेक्षण के उपरान्त विशेष रूप से हुआ है। चेचक के टीके के आविष्कारक डॉ. हैफकीन (फ्रांस) का कथन है-

'यज्ञों में जलाई जाने वाली विभिन्न पौष्टिक वस्तुओं से जो धुआँ वायुमंडल में मिलता है, वह रोग कीटाणुओं को नष्ट कर देता है तथा विशेष स्वास्थ्यवर्धक होता है। यज्ञ की सूक्ष्मतम गैस-अवस्था अणु विकिरणों को प्रभावहीन करती है।'[१]

आधुनिक वैज्ञानिक हवन की महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी प्रक्रिया को मानव मात्र के लिए आवश्यक बताते हैं। डॉ. टायलिट ने एक प्रयोग किया। किसमिश, धृत, शक्कर को जलाने के उपरान्त निकलने वाले यज्ञीय धूम्र को एक नलिका

द्वारा टाइफाइड से भरी परखनली में प्रवाहित किया। परीक्षण के उपरान्त देखा कि टाइफाइड के सभी कीटाणु मर गये हैं। डॉ. टायलट ने कहा कि 'विश्व के समक्ष आणविक परीक्षणों से उत्पन्न रेडियो सक्रियता से मानवीय अस्तित्व का जो संकट पैदा हो गया है उसके निवारणार्थ भारतीय हवन पद्धत्ति में पूरी संभावना है। इस क्षेत्र में गहन अध्ययन एवं शोध की आवश्यकता है।'[२]

कैलीफोर्निया में अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी में यज्ञ पर अनुसंधान कार्य हुए हैं और प्रायोगिक परीक्षणों में यह पाया गया है कि वृष्टि, जल एवं वायु की शुद्धि पर्यावरण संतुलन एवं रोग निवारण में यज्ञ की अहम् भूमिका है।[३] कैंसर रिसर्च ईंस्टीट्यूट, जर्मनी के एक वैज्ञानिक का निजी अनुभव इस प्रकार है- After I tested Agnihotra myself it really seems that with Agnihotra you have a wonder weapon (against polution) in your hand. अर्थात् 'अग्निहोत्र यज्ञ' का स्वयं परीक्षण करने के बाद मैंने पाया कि मानो सचमुच अग्निहोत्र द्वारा आपके हाथ में प्रदूषण के विरुद्ध एक अद्भूत शस्त्र आ गया है।' इसका प्रत्यक्ष प्रभाव १९८४ के भोपाल गैस कांड में देखा गया था। जहरीली गैस मिथाइल अइसो साइनेट के रिसाव का अनुभव होने पर अपने-अपने घरों में यज्ञ-हवन करने वाले दो परिवारों में उस जहरीली गैस के दुष्प्रभाव से लोगों के प्राण की रक्षा करने वाला यज्ञ निश्चित रूप से पर्यावरण शुद्धि का कारगर उपाय सिद्ध हुआ है।[४]

हरिद्वार के एक शोध संस्थान ने यज्ञशाला में २० मीटर के दायरे में हवन से पूर्व तथा उसके दौरान और बाद में जल एवं वायु के नमूने एकत्रित किये। यज्ञ से पूर्व हवा में सल्फर डाई-आक्साइड की मात्रा ३.३६ प्रतिशत थी, जो हवन के दौरान घटकर मात्र २.८२ प्रतिशत रह गयी तथा हवन के पश्चात् ०.८० प्रतिशत रह गयी। नाइट्रोजन की मात्रा पहले १.१६ प्रतिशत थी, जो हवन के दौरान १.१४ प्रतिशत रह गयी तथा हवन के पश्चात् १.०२ प्रतिशत मापी गयी। इसी प्रकार पानी के नमूनों में जीवाणुओं की मात्रा पहले ४५०० थी, जो हवन के दौरान २४७० रह गयी, लेकिन बाद में यह महज १२५० रिकार्ड की गयी। माना जा रहा है कि यह हवन में अर्पित समाग्री के सूक्ष्मीकरण का प्रभाव है। अर्थात् पदार्थ को जितना अधिक सूक्ष्म रूपों में लाया जायेगा, उसके गुणधर्म का प्रभाव उतना उच्चस्तरीय हो जाता है।[५]

मुम्बई स्थित आई.आई.टी के स्कूल ऑफ नाइओ मेडिकल इंजिनियरिंग में कार्यरत एक एसोशिएट प्रोफेसर द्वारा सन्-२००० ई. में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार वेदों में निर्दिष्ट हवन सामग्री 'अग्निहोत्र' विधिवत प्रयोग करने पर यज्ञ/हवन क्रिया भौतिक तत्त्वों में विद्यमान अतिसूक्ष्म ऊर्जा उपयोग की उच्चस्तरीय विधि है। हवन-सामग्री को अग्नि में अर्पित करने पर दहन तथा आसवन 'कम्बश्चन तथा डिस्टिलेशन' क्रिया साथ-साथ होती है और इससे उत्पन्न, प्रसारित धुआँ (मेथिल और ऐथिल ऐलकोहल, फार्म ऐल्डिहाइड, ऐसेट ऐल्डिहाइड, फार्मिक एसिड और ऐसीटिक एसिड आदि का मिश्रण) यज्ञ स्थल के आस-पास के पर्यावरण को शुद्ध करने की क्षमता रखता है। हवन की धीमी दहन-क्रिया के दौरान वायुमंडलीय ऑक्सीजन का उपयोग बहुत कम होता है और कार्बन-डाइ-आक्साइड प्रजनन स्तर इतना ही होता है कि आस-पास की वनस्पतियाँ उसे आसानी से ग्रहण करते हुए 'कार्बन डाइ आक्साइड-चक्र' को समृद्धता प्रदान करती है। इन प्रयोगों से जो प्रतिफल सामने आये हैं वे आशाजनक एवं उत्साहवर्धक हैं।[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म का धार्मिक कर्मकांड यज्ञ अथवा अग्निहोत्र एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसकी पर्यावरण शुद्धि तथा संतुलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अत: पर्यावरण प्रदूषण की जटिल समस्या के समाधान हेतु यज्ञ का सर्वत्र प्रचार होना चाहिए। इससे मानव ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र लाभान्वित होगा।

संदर्भ:

१. *यज्ञ : एक समग्र उपचार, पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, पृ०-४.४०।*

२. *वही*

३. *अग्निहोत्र प्रकाश, डॉ. धर्मेन्द्र शास्त्री, पृ०-३८२* ४. *वही, पृ०-३८३*

५. *कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर, संख्या-९, आलेख- हवन यज्ञ-पर्यावरण-शुद्धिकरण जैव प्रौद्योगिकी, श्री शिवेन्द्र कुमार जी पाण्डे, पृ०-८६२* ६. *वही*

मानवता, लोकतन्त्र और राजतन्त्र

महामहोपाध्याय साधना जनसारी

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन।।[१]

'मनुते इति मानवः' अर्थात् जो मनन कर सकता है, वह मानव है और विचारयुक्त, सद्विचार-समर्थित, सौहार्द्रपूर्ण आचरण मानवता है। इस प्रकार मानवता आचार में निवास करती है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम वर्णोचित व आश्रमोचित आचारधर्म से अभिहित होते हैं। अतः मानवता के समुद्धार हेतु आचार-विचार पर ध्यान देना आवश्यक है-

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो पुरुषः प्रेत्य चेह च।।[२]

ऐतरेयब्राह्मण[३] में नौ प्रकार के राज्यों के उल्लेख-क्रम में स्वराज्य, जनराज्य व गणराज्य का भी उल्लेख है। ऋग्वेद में मन्त्र है-

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।।[४]

इसमें 'व्यचिष्ट' पद का भाव है जो राज्यशासन जनता के प्रत्येक मनुष्य को सुख प्रदान करने का प्रयत्न करता है, सभी में समान्यतया ईश्वर भाव दृष्टिगत रखकर व्यवहार करता है। बहुमत की सम्मति से पालन होने वाला राज्य श्रेष्ठ होता है। इसकी 'बहुपाय्य' संज्ञा है। 'स्वराज्य' जनप्रतिनिधियों द्वारा संचालित शासन-व्यवस्था का नाम है।[५] यजुर्वेद में जनतन्त्रराज्य या जनराज्य का उल्लेख है।[६] इसमें श्रेष्ठ शासनशक्ति प्रजा में होती है। अथर्ववेद में इस प्रकार के २० जनराज्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।[७] महाराज्य का स्वरूप गणराज्य तुल्य था। इसमें कई छोटे राज्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त करके महाराज्य का अंग होते थे। समस्त राजा परस्पर संयुक्त हो एक मित्र-राष्ट्र का निर्माण करते थे। आवश्यकता पड़ने पर पारस्परिक सहयोग लेते थे।[८] इनकी शासन-पद्धत्ति संघ-शासन के समान थी।

महाभारत में वर्गहीन लोकतन्त्र की स्थिति का कथन है-

'न वै राज्यं न राजाऽऽसीऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।[९] तथा

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्या प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः।।[१०]

महाभारत में ही यथास्थान कुलतन्त्र तथा गणतन्त्र की दुर्बलताओं का दिग्दर्शन भी है।

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप्।।[११]

इसी क्रम में कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी द्रष्टव्य है।[१२] आचार्य मनु ने इनके अन्न को ग्रहण करना भी पापकर्म कहा है।[१३]

आधुनिक राजनीतिज्ञों द्वारा भी लोकतन्त्र की कटु आलोचना की गई। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति श्री लिंकन ने लोकतन्त्र को इस रूप में परिभाषित किया था- 'जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन। यहाँ जनता द्वारा शासन व्यावहारिकता से पृथक् बात है। वास्तविक रूप में शासन कतिपय लोगों के हाथ में ही होता है। फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो (Rousseau) से १७६२ में अपनी पुस्तक 'सोशल कंट्राक्ट' (Social Contract) में लोकतन्त्र के दोषों को रेखांकित किया है। रूसो लिखते हैं कि सच्चा लोकतन्त्र न तो कभी रहा है, न होगा। अल्प लोगों पर बहुत से लोग शासन करें, यह सर्वथा असंभव है, यह तो मनुष्य-स्वभाव के ही प्रतिकूल है।'

वस्तुतः 'जनतन्त्र' शब्द की रचना ही जनता को भ्रमित करने हेतु हुई है। व्यावहारिक दृष्टि से कोई एक दल या व्यक्ति, जो स्वयं को जनता का प्रतिनिधि बतलाता है, शासन करता है। यहाँ समानता का तात्पर्य है एक ओर महामहोपाध्याय, महातार्किक तथा दूसरी ओर महामूर्ख के मत का एक ही मूल्य है। इस स्थिति में जो बहुमत है, वही उचित है। इस प्रकार हजार मूर्खों के मत के समक्ष पाँच बुद्धिमानों के मत का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ जॉन स्टुअर्ट मिल स्वतन्त्रता के कट्टर पक्षधर थे। अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता' (Liberty)में लिखते हैं कि 'निर्वाचन में सबको समानाधिकार नहीं मिलना चाहिए।' विद्वान् के मत का मूल्य मूर्ख के मत से अधिक है। पूर्णशिक्षित को कम से कम चार, उससे कम को तीन, उसके कम को दो तथा साधारण शिक्षित को एक मत प्रदान करने का अधिकार होना चाहिए।'

वस्तुतः राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनता को विविध प्रलोभन दिये जाते हैं। यह स्थिति स्वतन्त्र निर्वाचन व जनतन्त्र हेतु घातक है। कुछ देशों की सरकार निर्वाचन-व्यय तथा प्रचार पर नियन्त्रण रखती है, पर इसमें विशेष सफलता नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में प्रतिनिधि शासन मात्र सारहीन ही नहीं, अपितु कभी-कभी अयोग्य व्यक्तियों का समुदाय बन जाता है।

जनतन्त्र में वस्तुतः 'ईश्वरीय' वस्तु नहीं रहती। मानव की प्रकृतिप्रदत्त दुर्बलता है कि वह नवीनता के आवेग में कभी-कभी अवांच्छित तत्त्वों को भी सहर्ष स्वीकार कर लेता है और पुरातन श्रेष्ठ वस्तु का परित्याग कर देता है। इसी प्रकार अराजकता का कितना स्वागत किया जाय, वह हलाहल विष ही है। भारत जैसे देश के लिए यह विपत्तिकारक व अनुपयुक्त है, क्योंकि यहाँ की जनता ईश्वर व अध्यात्म के प्रति आस्थावान है, किन्तु वर्तमान में यह विचारधारा विगलित होती जा रही है आज भौतिकता से जनसामान्य इतना प्रभावित हो गया है कि ईश्वर व अध्यात्म का कथन करने वाला या अनुभवी हास्य का पात्र बन जाता है। नैतिकता का ह्रास अपने चरमोत्कर्ष पर है। व्यक्ति को अवांच्छित कृत्य करने पर पश्चाताप नहीं होता, अपितु वह अपने कृत्यों को स्वयं विस्तारपूर्वक, गर्वयुक्त होकर वर्णित करता है।

पुरातन काल में सर्वत्र अराजकता के प्रभाव से भय तथा उपद्रवों का साम्राज्य स्थापित होने पर परमेश्वर द्वारा विश्व-रक्षार्थ राजा की सृष्टि की गई थी-

'अराजके हि लोके ऽस्मिन् सर्वतोविद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।।'[१४]

देवी भागवत में राजा को 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः'[१५] विष्णु का अंश[१६] तथा अन्य स्थलों[१७] में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, कुबेर, चन्द्रमा के सारभूत अंशों से प्रादुर्भूत बताया गया है।

'राजा' तथा 'राजतन्त्र' शब्द की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण महाभारत, शान्तिपर्व के ५९ वें अध्याय में द्रष्टव्य है। वहाँ वर्णन है कि 'प्रथमतः सृष्टि में लोकतन्त्र शासन था। किसी प्रकार का शासक, राज्य राजा या दण्डविधान नहीं था। कालान्तर में सभी लोग पारस्परिक संरक्षण में कष्ट का अनुभव करने लगे। सभी पर मोह का आवरण पड़ गया। सभी कर्तव्यज्ञान से शून्य, धर्मरहित, लोभ, राग-द्वेष, काम-क्रोध से युक्त हो गये। उनमें अगम्यागमन, वाच्यावाच्य, भक्ष्याभक्ष्य,

दोषादोष का विचार समाप्त हो गया। चराचर जगत् उत्पात व भयग्रस्त हो गया। वैदिक कर्मों का ह्रास हो गया। ऐसी स्थिति में देवताओं द्वारा ब्रह्मा से प्रार्थना करने पर दण्डनीति का प्रणयन हुआ और भगवान् विष्णु ने एक शासक प्रदान किया। 'अतः मनुस्मृति कहती है– जहाँ राजा ईश्वर का अंश है, उसके भवन में पद्मा श्री है, क्रोध में मृत्यु का वास है, वहीं राजा प्रजा का पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु तथा सेवक भी है।'

'यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हिसः।।'[१८]

राजा पर जितना नियन्त्रण है, उतना संसार के अन्य प्राणी पर नहीं। उसका सम्पूर्ण समय सुनियन्त्रित है। जिस प्रकार अश्वनियामक अश्व का ध्यान रखता है, उसी प्रकार राजा अपने नियमों तथा कर्तव्यों का ध्यान रखे।[१९] महाभारत, अनुशासन पर्व में स्पष्ट लिखा है कि 'यदि राजा लुटेरा हो, रक्षा न करता हो, धर्म का लोप करता हो, तो दयारहित होकर उसका हनन कर देना चाहिए।'[२०]

इसी क्रम में आचार्य याज्ञवल्क्य का कथन है कि प्रजापीड़न के संताप से उद्दीप्त अग्निज्वाला राजा के ऐश्वर्य, प्राण तथा कुल को जलाये बिना शान्त नहीं होती–

'प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणन्नादग्ध्वा विनिवर्तते।।[२१]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है– 'सम्पूर्ण राजनीतिशास्त्र का तात्पर्य राजा के इन्द्रियजय में है। राजा जितेन्द्रिय न होकर इन्द्रिय–तर्पण–परायण है और सम्पूर्ण पृथिवी का अधिपति है, तब भी तत्काल नष्ट हो जाता है–

'कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः।
तद्विरूद्धवृत्तिखशेन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।।'[२२]

इसी क्रम में काम के कारण भोजवंशीय राजा दाण्डक्य, मिथिला–नरेश कराल, क्रोध के कारण जनमेजय, लोभ के वशीभूत सौवीर–नरेश अजबिन्दु के नाश का उल्लेख है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही प्रजा को वश में रख सकता है। मनु का कथन है–

'जितेन्द्रियों हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।'[२३]

नीतिवेत्ता विदुर का वचन है कि जो ऐश्वर्यों का स्वामी है, पर इन्द्रियों का स्वामी न होकर दास है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य से भी च्युत हो जाता है–

'अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वार्यद्भ्रश्यते हि सः।।'[२४]

महर्षि कात्यायन का मत है कि राजा अनाथों का नाथ, गृहविहीनों का गृह, पुत्रहीनों का पुत्र तथा पितृहीनों का पिता है–

'अनाथस्य नृपो नाथस्त्वगृहस्य नृपो गृहम्।
अपुत्रस्य नृपः पुत्रो अपितुः पार्थिवः पिता।।'[२५]

ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा अन्य धर्मशास्त्रों में राजा को पुरोहित तथा मन्त्रियों के अधीन रहने का कथन उल्लिखित है।[२६] कौटिल्य के अनुसार प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, स्वयं के सुख में नहीं। उसके लिए आत्मप्रिय हितकर न होकर प्रजा का प्रिय कार्य करना ही श्रेयस्कर है–

'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।'[२७]

जिसके राज्य में सर्वत्र प्रजाजनों को चोर-डाकू प्रताड़ित करते हैं, वह राजा जीवित न होकर मृत है।[२८]

इस प्रकार राजतन्त्र का मूल सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष है, उसके परिपालन में ही प्रमाद हुआ है। उचित राजतन्त्र के अभाव में सम्पूर्ण विश्व भीषण अराजकता के क्लेश से ग्रसित है और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। चौर्यकर्म, लूट, दीनता, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, प्रकृति की विभीषिका- ये सभी प्राचीन सिद्धान्तों के उपहनन के परिणाम हैं। वर्ण-धर्म का पालन न होने के कारण अन्न-वस्त्र का भीषण अभाव है। सभी को नाममात्र की, बेकार बनाने वाली शिक्षा प्रदान कर मात्र शिक्षित होने का व्यर्थ मद उत्पन्न कराकर आलस्य व प्रमादपूर्ण, पंगु बना दिया गया है।

वर्तमान समय में मानव-जाति को अहंकार, स्वार्थ, लोभ, शक्ति की लालसा-मर्यादा, पद-लोलुपता ने आक्रान्त कर रखा है। बुद्धिभ्रमित मानव विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। वैज्ञानिक रचनात्मक कार्य एक ओर जीवन के विकास को गति प्रदान कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर सृष्टि के विध्वंस हेतु प्राणघातक शस्त्रास्त्र, परमाणु-बम, रॉकेट, प्रक्षेपास्त्र आदि के निर्माण में प्राकृतिक शक्तियों का दोहन कर रहे हैं। यही मानवता के ह्रास का चरमोत्कर्ष है।

हमारी राजनीति उदरपूर्ति की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती और उच्चता की आकांक्षा इसका नेतृत्व करती है। सम्पूर्ण विकास और वैज्ञानिक-विधि से जीवन-यापन करते हुए भी दारिद्रय हम पर प्रभावी है। अकाल, मूल्यवृद्धि, हड़ताल, श्रमिक वर्ग की कार्यक्षमता में न्यूनता, कृषि-कार्य में उदासीनता, सरकारी नौकरी की लालसा, जातिगत ईर्ष्या आदि बुद्धिजीवी वर्ग का दमन कर रही हैं। शिक्षित जनों को योग्यतानुरूप कार्य न मिलने पर बुभुक्षित वृद्धि कर रहे हैं। आत्महत्या की प्रवृत्ति हताशा को सूचित करती है और ये दुर्घटनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ रहीं है। वर्ण-धर्म उपहास का विषय हो गया है। युवावर्ग में व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विरोध बढ़ गया है। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मन्दिरों तथा धार्मिक संस्थाओं का दुरुपयोग हो रहा है। देश सामाजिक और आर्थिक संकटासन्न है। राजनीति पारस्परिक विनाश की ओर गति कर रही है। अर्थशास्त्र शोषण की दिशा में अग्रसर है। व्यापार की गति चोर-बाजार में है। शासन की नीतियाँ मन्त्रिमण्डल के पदों के चारों ओर नर्तन कर ही है। शिक्षा का ह्रास हो रहा है। संस्कृति में विलासिता/भौतिकता का समावेश हो रहा है। मानवता उपेक्षित है और मानव मात्र इन्द्रियतुष्टि हेतु आहार की आकांक्षा कर रहा है।

अस्तु, विभिन्न देशों में जनमानस जाग्रत हो गया है। वह अपने कर्तव्यों और अधिकारों की परिभाषा समझने लगा है। उसी का परिणाम है कि विगत ४-५ वर्ष में जनमत संगठित होकर अराजक राष्ट्रनेता से विद्रोह करके उसे पदच्युत करने में समर्थ हो गया है। अपने अधिकार हेतु वह संघर्ष करता है। इस अधिकारबोध और वर्चस्व के युद्ध में वह सफल भी हुआ है। इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है- सन् २००६ में इराक के तानाशाह शासक सद्दाम हुसैन का अन्त। सन् २०११ में लीबिया के आक्रान्ता गद्दाफी का नाश। मिस्र के राष्ट्रपति होस्नी मुबारक का सन् २०१२ में अन्त। भारत में राजतन्त्र के शासकों द्वारा किये गये भ्रष्टाचार से आक्रान्त जनता द्वारा आदरणीय अन्ना हजारे महोदय के नेतृत्व में विश्व का महनीय अहिंसात्मक आन्दोलन इसका शान्तिपूर्ण, प्रबल विरोध-नीति का प्रकृष्ट उदाहरण है, यहाँ जनतन्त्र की जागरूकता दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार मानवता के ह्रास के परिणामस्वरूप ही सम्पूर्ण भूमण्डल में मानवजीवन अराजकता की ओर अग्रसर हुआ है। मानवता के नाश के कारण ही पारस्परिक सामंजस्य में विषमता की उत्पत्ति हुई है और यह वैषम्यता न्यून होने की अपेक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि कर रही है। अतः सम्प्रतिकाल में मानवता की रक्षा ही परम कर्तव्य है।

सन्दर्भः

१. *ऋग्वेद - ५/५६/६*

२. *मनुस्मृति - १/१०८*

३. *ऐतरेय ब्राह्मण - ८/१५*

४. *ऋग्वेद - ५/६६/६*

५. ऐतरेय ब्राह्मण – ८/१५
६. यजुर्वेद – ९/४०, १०/१८
७. अथर्ववेद – २०/२१/९
८. वही – १९/५७/२
९. महा. शान्तिपर्व – ५९/१४
१०. भागवत – ११/१७/१०
११. महा. शान्तिपर्व – १०७/१०-३२
१२. कौटिल्य अर्थशास्त्र– १/११
१३. मनुस्मृति – ४/२०९
१४. वही – ७/३
१५. देवीभगवत – ६/१०/२४
१६. श्रीमद्भगवद्गीता – १०/२०
१७. मनुस्मृति – ७/४ शुक्रनीति – ४७१, वाल्मीक रामायण – ३/४४, मत्स्यपुराण- २२६/९, विष्णुधर्मो.- २/७१, महा. शान्ति- ६८/४०-४६, देवीभागवत- ६/१०/२५-२७
१८. मनुस्मृति – ७/११
१९. बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र – १/६६-६८
२०. महाभारत, अनुशासन पर्व – ६१/३२
२१. याज्ञवल्क्यस्मृति – १/३४१
२२. अर्थशास्त्र – १/६/४-५
२३. मनुस्मृति – ७/४७
२४. महाभारत, उद्योगपर्वः विदुरप्र. ३४/६३
२५. कात्यायन स्मृति – राजप्रकरण
२६. वृहदारण्यकोपनिषद् – अ. १/४-५
२७. अर्थशास्त्र – १/१९/३९
२८. मनुस्मृति – ७/१४३

***

समाज दर्शन में डॉ. भीमराव अम्बेडकर की भूमिका

बिनोद कुमार सिंह

भारत के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक इतिहास में डॉ. भीम राव अम्बेडकर ऐसे प्रमुख सामाजिक विचारक रहे हैं, जिन्होने तत्कालीन भारतीय समाज की धारा को एक नया मोड़ देकर अपना नाम अमर कर दिया। डॉ. अम्बेडकर का चिंतन बहुमुखी रहा है। यहाँ के राष्ट्रीय जीवन में महान् योगदान करने के साथ ही उन्हें एक प्रतिभाशाली लेखक, पत्रकार, अर्थशास्त्री, सफल वक्ता, संविधान विशेषज्ञ और समाज सुधारक के रूप में भी जाना जाता है। भारत के दलित वर्गों को समाज में एक सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने में उनकी भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण रही की उन्हें दलितों का मसीहा कहा जाने लगा। डॉ. अम्बेडकर तत्त्वचिन्तक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक राजनीतिक चिन्तक ही नहीं थे, अपितु एक कर्मयोगी थे- भारतीय दलित वर्गों के राजनीतिक नेता थे। अत: भारत की विशिष्ट राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपने विचार प्रकट किए। उनके राजनीतिक विचारों का अध्ययन करते समय यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक परिस्थितियों एवं सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में ही उनका अध्ययन अपेक्षित है। संसदीय लोकतंत्र के प्रशंसक होते हुए भी अम्बेडकर अमेरिकी ढाँचे की अध्यक्षीय शासन प्रणाली को अधिक उपयुक्त मानते थे, क्योंकि उसका आधार लॉक तथा माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त था। इसमें शासन की शक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य एक संतुलन रहता है। उनके अनुसर कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के मध्य शक्ति का पृथक्करण होना चाहिए। उनके अनुसार अच्छी कार्यपालिका के कार्य हैं- प्रशासन में अल्पसंख्यकों को समुचित आदर देना बहुसंख्यकों की निरंकुशता को रोकना, अल्पसंख्यकों के ऐसे प्रतिनिधियों को प्रशासन में हिस्सेदार न बनाना जिन्हें अल्पसंख्यक समुदाय का विश्वास प्राप्त न हो कुशल और सुशासन के लिए स्थिर कार्यपालिका का निर्माण करना।

भारतीय दलित समाज के मसीहा डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म इंदौर के पास महू छावनी में १४ अप्रैल, १८९१ को महार परिवार में हुआ था। महार मूलत: महाराष्ट्र की एक प्रमुख जाति है, जिसे देश की दूसरी अछूत जातियों की तरह शिक्षा प्राप्त करने, धार्मिक आचरण करने तथा ऊँची जाति के लोगों से किसी भी तरह का सम्पर्क रखने की अनुमति नहीं थी। इसी कारण डॉ. भीम राव अम्बेडकर को जीवन की प्रारंभिक अवस्था में अनेक कष्ट सहने पड़े। डॉ. भीम राव अम्बेडकर आरंभिक स्तर पर ही संस्कृत की शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे, लेकिन संस्कृत के किसी ब्राह्मण शिक्षक ने उन्हें एक शिष्य के रूप में इसलिए स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह जन्म से अछूत थे । विवश होकर उन्हें फारसी भाषा का अध्ययन करना पड़ा। इसके बाद भी उनके शिक्षक न तो उनकी कॉपी और कलम को छूते थे और न ही दूसरे बच्चों की तरह उन्हें शिक्षा प्राप्त हो पाती थी। एक ईसाई मिशनरी द्वारा संचालित स्कूल में छुआछूत की कोई भावना न होने के कारण वहीं से उन्हें अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिला। अपनी प्रतिभा के कारण ही उन्हें महार जाति का वह पहला व्यक्ति होने के गौरव मिला, जिसने अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् १९१५ में डॉ. अम्बेडकर ने इसी विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। उन्हें विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध संस्था लंदन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइन्स में भी अध्ययन करने का मौका मिला। मई १९१६ में उन्होंने भारत में 'जाति' विषय पर शोध-पत्र प्रस्तुत किया, जिसकी काफी प्रशंसा की गई। इसके पश्चात् वे लन्दन चले आए। यहाँ उन्होंने

कानून के अध्ययन के लिए 'ग्रेज इन' तथा अर्थशास्त्र के अध्ययन हेतु लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइन्स में प्रवेश लिया। सन् १९१७ में कोलंबिया विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उनके पिता का नाम रामजी सकपाल तथा माता का नाम श्रीमती भीमाबाई था। उनके पूर्वजों के गाँव का नाम अम्बावाद था। इसी कारण उन्होंने अपने नाम के साथ 'अम्बेडकर' उपनाम स्वीकार कर लिया। भीमराव बाल्यावस्था में ही बहुत परिश्रमी, संयमी और धर्मनिष्ठ थे। वह मोरोपन्त, मुक्तेश्वर तथा तुकाराम जैसे महान् सन्तों के अनुयायी थे। अगस्त १९१७ में वे भारत लौट आए और महाराजा बड़ौदा के सैनिक सचिव के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। बड़ौदा राज्य में उच्च पद पर होने के बावजूद उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था। चूँकि वे अछूत थे इसलिए चपरासी तक उनकी ओर फाइल फेंक देते थे। अत: निराश होकर बड़ौदा राज्य की नौकरी छोड़कर वे बम्बई चले गए। नवम्बर १९१८ में उन्हें सिडनहम कॉलेज में राजनीतिक अर्थशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। अप्रैल १९२३ में अम्बेडकर बम्बई में वकालत प्रारम्भ की। उन्होंने हिन्दू समाज के कलंक 'छुआछूत' के विरुद्ध संघर्ष करने का संकल्प लिया।

बत्तीस वर्ष की आयु में डॉ. अम्बेडकर लंदन में रहते हुए ही वैयक्तिक स्वतंत्रता, उदारवाद तथा संसदीय जनतंत्र जैसे मूल्यों की प्रकृति और आवश्यकता को बहुत विस्तार से समझना आरंभ कर दिया था। जब वे भारत वापस आये तब यहाँ स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ चुका था। अपने बचपन में एक अछूत जाति से सम्बन्धित होने के कारण उन्होंने जिन कठिनाईयों का समाना किया था। उसके फलस्वरूप उन्होने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने की अपेक्षा अस्पृश्य जातियों की स्थिति में सुधार करना अधिक आवश्यक समझा। अपने पहले प्रयास के रूप में उन्होंने सन् १९२३ में ही बम्बई से एक बहिष्कृत भारत आरम्भ किया, जिसका उद्देश्य अस्पृश्य जातियों के रूप में भारत के उस बड़े वर्ग की दशाओं को स्पष्ट करना था जो भारत में रहते हुए भी भारतीय समाज द्वारा बहिष्कृत था। १९३० में उन्होंने अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ का अध्यक्ष पद ग्रहण करके उसके माध्यम से दलित वर्गों के लिए संघर्ष करना आरम्भ कर दिया। भारत में जाति-प्रथा की संरचना, उत्पति और विकास आलेख में अम्बेडकर कहते हैं कि जाति की समस्या सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से एक विकराल समस्या है। वे जाति-प्रथा की उत्पत्ति के लिए भारत के विधि निर्माता मनु को जिम्मेदार ठहराते हैं। उनके शब्दों में 'मनु ने जाति के विधान का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकते थे। जाति-प्रथा मनु से पहले विद्यमान थी।' अम्बेडकर के अनुसार, प्रारम्भ में अन्य समाजों के समान भारतीय समाज भी चार वर्णों में विभाजित था। ये चार वर्ण हैं- १. ब्राह्मण या पुरोहित वर्ग २. क्षत्रिय और सैनिक वर्ग ३. वैश्य या व्यापारिक वर्ग ४. शूद्र या शिल्पकार। इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि आरम्भ में यह अनिवार्य रूप से वर्ग विभाजन के अन्तर्गत व्यक्ति दक्षता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था और इसीलिए वर्णों को व्यक्तियों के कार्य की परिवर्तनशीलता स्वीकार्य थी। जाति-समस्या के सम्बन्ध में अम्बेडकर ने अपने आलेख में चार पक्ष उजागर किए हैं-

१. हिन्दू जनसंख्या में विविध तत्त्वों के सम्मिश्रण के बावजूद इसमें दृढ़ सांस्कृतिक एकता है
२. जातियाँ इस विराट सांस्कृतिक इकाई के अंग हैं,
३. शुरू में केवल एक ही जाति थी, और
४. इन्हीं वर्गो के देखा-देखी या बहिष्कार से विभिन्न जातियाँ बन गई।

सामाजिक सुधारों से पूर्व राजनीतिक सुधारों के समर्थक हिन्दुओं के सामने अम्बेडकर ने प्रश्न किया- जब आप अपने ही देश के अछूतों जैसे एक बहुत बड़े वर्ग को सार्वजनिक स्कूल का प्रयोग नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य है? जब आप उन्हें सार्वजनिक कुँओं का प्रयोग, सड़कों का प्रयोग, उन्हें अपनी पसन्द का भोजन नहीं करने देते तो क्या आप राजनीतिक सत्ता के योग्य है? अम्बेडकर के शब्दों में 'प्रत्येक कांग्रेसी को, जो जे. एस. मिल के इस सिद्धान्त को मानता है कि एक देश दूसरे देश पर शासन करने योग्य नहीं है, यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर भी शासन करने के योग्य नहीं है।' भारत में समाज सुधार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए अम्बेडकर का मत है कि हिन्दू

परिवार के सुधार के अर्थ में समाज सुधार और हिन्दू समाज के पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण के अर्थ में समाज सुधार, इन दोनों में अन्तर किया जाए। पहले प्रकार के समाज सुधार का सम्बन्ध विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि से है, जबकि दूसरे प्रकार के समाज सुधार का सम्बन्ध जाति-प्रथा के उन्मूलन से है। अम्बेडकर के अनुसार भारत में जाति-प्रथा का समर्थन सर्वप्रथम इस आधार पर किया जाता है कि जाति एक श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम ही है। यदि श्रम का विभाजन प्रत्येक सभ्य समाज का एक अनिवार्य नाम है, तो यह दलील दी जाती है कि जाति-प्रथा में कोई बुराई नहीं है। अम्बेडकर इस विचार के विरुद्ध तर्क देते हुए कहते हैं कि जाति-प्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है, यह श्रमिकों का विभाजन भी है। यह एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरे क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश में श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता। अम्बेडकर का स्पष्ट मत है कि जाति-प्रथा एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो हिन्दू समाज के ऐसे विकृत समुदाय की झूठी शान और स्वार्थ की प्रतीक है, जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार इतने समृद्ध थे कि उन्होंने इस जाति-प्रथा को प्रचलित किया और इस प्रथा को अपनी जबरदस्ती के बल पर अपने से निचले तबके के लोगों पर लागू किया। अम्बेडकर के अनुसार जाति-प्रथा से असामाजिक तत्त्वों को बढ़ावा मिलता है।

एक जाति के लोग आनन्द लेकर ऐसे गीत गाते हैं, जिनमें दूसरी जाति के प्रति नफरत छिपी रहती है। हिन्दुओं के साहित्य में जाति विद्वेषों के उद्‌गमों के सम्बन्ध में ऐसे अनेक गीत आदि हैं जिनमें एक जाति को सर्वोच्च और दूसरी को निन्दा का पात्र बनाने का प्रयास किया गया है।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान डॉ. अम्बेडकर कभी भी कांग्रेस तथा महात्मा गाँधी द्वारा दलितों की परिस्थिति में सुधार करने के प्रश्न पर स्पष्ट नहीं रहे। एक बार डॉ. अम्बेडकर ने यहाँ तक कह दिया कि उन संगठनों और व्यक्तियो को अछूतों का पक्ष रखने का कोई अधिकार नहीं है जो स्वयं अछूते नही हैं। कांग्रेस के बारे में उनका विचार था कि कांग्रेस ने कभी भी अछूतों की निर्योग्यताओं को दूर करने में ईमानदारी का परिचय नहीं दिया है। दलितों को सामाजिक न्याय दिलाने के उद्देश्य से डॉ. अम्बेडकर ने सन् १९३६ में एक इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी की स्थापना की तथा सन् १९३७ में बम्बई प्रदेश से इसी पार्टी के अन्तर्गत चुनाव भी लड़ा। विधान सभा के सदस्य के रूप में उन्होंने किरायदारी कानून, एंटी स्ट्राइक बिल आदि की खुलकर आलोचना की, क्योंकि यह सभी निम्न जातियों के विरुद्ध थे।

अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू धर्म प्रचार धर्म था या नहीं, यह विवादास्पद है। असली सवाल यह है कि हिन्दू धर्म प्रचारमूलक क्यों नहीं रह पाया? मेरे पास इसका यह जवाब है कि हिन्दू धर्म तब से प्रचारमूलक धर्म नहीं रह गया, जब से हिन्दुओ में जाति-प्रथा का उद्‌गम हुआ। जाति-प्रथा धर्म-परिवर्तन नहीं होने देती। धर्म-परिवर्तन में सिर्फ यह समस्या नहीं होती कि नई धारणाएं और नए सिद्धान्त अपना लिए जाएं, बल्कि दूसरी और सबसे बड़ी समस्या इसमें यह पैदा होती है कि धर्म परिवर्तित व्यक्ति को किस जाति में स्वीकार किया जाए? जो भी हिन्दू अन्य धर्मियों को अपने धर्म में शामिल करना चाहता है, उसे यह समस्या अनिवार्य रूप से झेलनी पड़ती है। अम्बेडकर स्पष्ट कहते हैं कि हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति-प्रथा का प्रभाव अत्यधिक सोचनीय है। जाति-प्रथा ने जनचेनता को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति-प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है।

डॉ. अम्बेडकर ने जाति-प्रथा के दुष्प्रभावों की चर्चा करने के साथ-साथ एक आदर्श समाज की संकल्पना भी प्रस्तुत की। उनका कहना था 'मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो, आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए।' अम्बेडकर के शब्दों में जब तक भारत के लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे, तब तक कोई प्रगति नहीं होगी। जाति-व्यवस्था की नींव पर आप शब्द का निर्माण नहीं कर सकते, आप नैतिकता का निर्माण नहीं कर सकते। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में सुधार कैसे किया जाए? जाति-प्रथा को कैसे समाप्त किया जाए। अम्बेडकर के

अनुसार जाति-प्रथा उन्मूलन में समाज के बुद्धिजीवी वर्ग की महती भूमिका होगी। बुद्धिजीवी वर्ग वह है, जो दूरदर्शी होता है, सलाह दे सकता है और नेतृत्व प्रदान कर सकता है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि किसी देश का सम्पूर्ण भविष्य उसके बुद्धिजीवी वर्ग पर निर्भर होता है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग सम्पन्न स्वतन्त्र और निष्पक्ष है तो उस पर भरोसा किया जा सकता है लेकिन भारत का बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मण जाति का ही दूसरा नाम है, अत: जाति-प्रथा समाप्त करने वाले आन्दोलन का सफल होना असंभव दिखाई देता है।

डॉ. अम्बेडकर की दलितोद्धार की भावना उन्हें सार्वजनिक जीवन और राजनीति में ले आई। उनके समस्त सार्वजनिक जीवन का सर्वप्रमुख और संभावना का एक मात्र लक्ष्य था, दलितोद्धार। डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवन के प्रथम ३५ वर्षों में पग-पग पर घोर अपमान अमानवीय व्यवहार और भारी यंत्रणा की स्थितियों को भोगा था। यंत्रणा की इन स्थितियों से गुजरते हुए ही उन्होंने 'दलितोद्धार' का संकल्प धारण कर लिया था। वे दलितों के रक्षक बन गए। इस समय अछूतों में बहुत धीरे-धीरे जागृति आ रही थी। वे समानता की स्थिति को प्राप्त करने के लिए सवर्णों से लड़ाई प्रारम्भ कर चुके थे। ३० वर्ष से भी अधिक समय तक इस अहिंसक लड़ाई का नेतृत्व डॉ. अम्बेडकर ने किया।

डॉ. अम्बेडकर द्वारा लड़ी गई इस लड़ाई में उच्च हिन्दू जातियों के प्रति गहरी विरोध भावना निहित है। इस विरोध भावना के कारण ही उन्होंने घोषणा की 'उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को अछूतों की बात कहने का हक नहीं है, जो स्वयं अछूत नहीं है।' डॉ. अम्बेडकर ने एक ओर हिन्दुओं की यातनाएं भोगी तथा हिन्दू धर्म ग्रन्थों को पढ़कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दुओं की नीयत शूद्रों को उठाने की नहीं है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन शूद्रों के उत्थान के प्रति उदासीन है। इस पृष्ठभूमि में उन्होंने समझ लिया कि अछूत सभी प्रकार से कमजोर हैं और वे सामाजिक , राजनीतिक, धार्मिक पहलू पर सवर्णों का मुकाबला नहीं कर सकते। अत: वे अछूतों के उत्थान के लिए अहिंसात्मक संघर्ष में जुट गए और जीवन पर्यन्त इसी कार्य में लगे रहे। डॉ. अम्बेडकर ने भारत के इन करोड़ो लोगों को अमानवीय व्यवस्थाओं से छुटकारा दिलाने में जो अविश्वसनीय भूमिका निभाई, उसी के कारण उन्हें भारत का लिंकन कहा जाने लगा तथा उन्हें बोधिसत्त्व की उपाधि से भी सम्मानित किया गया। एक अर्थशास्त्री तथा विधिवेत्ता होने के बाद भी अम्बेडकर की जाति-प्रथा उन्मूलन सम्बन्धी विचार, सामाजिक समानता तथा सामाजिक न्याय की अवधारणा उन्हें प्रमुख समाज दार्शनिक की श्रेणी में ला खड़ा किया।

समाज दर्शन में डॉ. भीम राव अम्बेडकर की भूमिका से निष्कर्ष रूप में यह ज्ञात होता है कि डॉ. अम्बेडकर दलित वर्ग के एक ऐसे नेता थे जिनके जीवन का उद्देश्य दलितों के लिए सामाजिक समानता तथा सामाजिक न्याय का अधिकार दिलाना था। एक धार्मिक नेता न होते हुए भी वह अच्छी तरह जानते थे कि भारतीय जनजीवन पर स्मृतिकालीन हिन्दू धर्म का कितना अधिक प्रभाव है। इसी कारण उनका यह विश्वास था कि जब तक इन सड़ी गली धार्मिक मान्यताओं के प्रभाव को सामप्त नही किया जाता तब तक निम्न जातियों की दशा में सुधार नही किया जा सकता है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा कि धर्म व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति धर्म के लिए नहीं। धर्म मनुष्य के बीच भेदभाव पैदा करता है, वह धर्म नहीं मानवता का अपमान है । उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्मृतियों में दिये गये धार्मिक नियमों के कारण हिन्दू समाज का हीं एक वर्ग दूसरे का अमानवीय शोषण कर रहा है। इसलिए ऐसे नियमों को धार्मिक कहना स्वयं अधर्म होगा । सन् १९५५ में डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म में अपनी पुरी आस्था व्यक्त करते हुए इस धर्म के प्रचार के लिए भारतीय बुद्ध महासभा की स्थापना की। सन् १९५६ में महात्मा बुद्ध की ढ़ाई हजारवीं जयन्ती के अवसर पर १४ अक्टूबर को नागपुर में अपने ५ लाख अनुयायियों के साथ डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इस धर्म-परिवर्तन का उद्देश्य जहाँ एक ओर सम्पूर्ण वंचित वर्ग को समाज में अपनी अलग पहचान बनाने की प्रेरणा देना था, वहीं दूसरी ओर सरकार को दलितों के बारे में अपनी नीतियों के प्रति चेतावनी देना था। दलित समाज के लिए सदैव संघर्ष करते रहने के कारण ही डॉ. अम्बेडकर को दलितों का मसीहा कहा जाता है। अंतत: ६ दिसम्बर १९५६ को ६५ वर्ष की आयु में दिल्ली में अलीपुर रोड स्थित अपने

निवास पर इस महान् आत्मा का महाप्रयाण हो गया। डॉ. अम्बेडकर की समाजिक न्याय के कारण ही दलित वर्ग के लोग समाज की मुख्य धारा में जुड़कर देश के राष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, गृहमंत्री एवं अनेक प्रतिष्ठित तथा संवैधानिक पदों पर काबिज हैं। देश इन्हें 'भारतरत्न' की उपाधि से सम्मानित करकर अपने को गौरवान्वित महसूस कर रहा है।

सन्दर्भ:

१. *डब्ल्यू. एन. कुबेर, अम्बेडकर ए क्रिटिकल स्टडी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली*

२. *सुशमा गर्ग- भारतीय राजनीति चिन्तन, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ०- ३०४-३०८*

३. *डॉ. अग्रवाल, समाजशास्त्र*

४. *धनन्जय कौर, अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन*

५. *डी. आर. निम, अम्बेडकर जीवन दर्शन*

६. *सी. एम. सरस्वती, भारतीय राजनैतिक विचारक, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, १९९७*

७. *डॉ. वी. के. लाल-समकालीन भारतीय दर्शन*

***

दण्ड के रूप में मृत्युदण्ड का औचित्य : एक विमर्श

मनोज कुमार

दण्ड के प्रावधान के विषय में सोचने पर बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि के शुरूआत से ही समाज में इसके अस्तित्व में शंका नहीं है। चाहे वो आदम और हौवा का विषय रहा हो या भारतीय संस्कृति में दुष्टों का उत्पात, ईश्वर अवतार लेकर दुष्टों का संहार करते रहे हैं। 'यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।' इस प्रकार समाज में दण्ड की अवधारणा प्राचीन काल से है। विश्व में हर एक समाज में किसी न किसी रूप में दण्ड व्यवस्था रही है और आज भी हमारे समाज में वर्तमान है, भले इसके स्वरूप में परिवर्तन होता रहा है। पाश्चात्य देशों में Old Testament में जहाँ दण्ड के प्रावधान का जिक्र है, वहीं भारतीय राजनीति शास्त्रों में, मनुस्मृति में, गीता में, रामायण में तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। किसी भी समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को बनाये रखने में दण्ड की भूमिका निर्विवाद रही है। प्राचीन भारतीय राजनय में राज्य के स्वरूप के विषय में प्रतिपादित 'सप्तांग राज्य सिद्धान्त' में दण्ड की गणना, दण्ड की आवश्यकता एवं महत्त्व को स्पष्ट करती है। इसी कारण मनु की दृष्टि में 'दण्ड' सामाजिक प्रहरी है जो प्रतिक्षण जाग्रत अवस्था में समाज की रक्षा में तत्पर रहता है। कौटिल्य भी अपने अर्थशास्त्र में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति की गणना विद्या के रूप में करते हैं। (आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्ड नीतिश्चेति विद्या:)। इस तरह हम पाते हैं कि दण्ड के सिद्धांत का समाजदर्शन, नीतिदर्शन एवं राजदर्शन में समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं सिद्धान्तों को संरक्षित करने के लिए सामाजिक दण्ड की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है जो सामाजिक अंकुश का कार्य करती है। समाज द्वारा स्थापित मूल्यों व आदर्शों का जो व्यक्ति स्वेच्छा से उल्लंघन करता है, उसे दण्ड का भागी होना पड़ता है। उसी प्रकार नीति दर्शन के क्षेत्र में दण्ड का सम्बन्ध संकल्प की स्वतंत्रता और नैतिक उत्तरदायित्व से है। जब कोई व्यक्ति अपनी संकल्प की स्वतंत्रता का दुरुपयोग करता है, जब वह अनुचित, अनैतिक और असंगत कार्य करता है या ऐसा कार्य करता है जो नैतिक उत्तरदायित्व विहिनता की श्रेणी में आता हैं, जिन्हें वह चाहता तो न करता, तो वह दण्ड का भागी है। नैतिक दृष्टि से उसे दण्डित किया जाना परमावश्यक है। अच्छे कार्यों के लिए पुरस्कार, बुरे कार्यों के लिए दण्ड पाना नैतिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित है। व्यक्ति को दण्डित इसलिए किया जाना चाहिए, क्योंकि उसने अपनी स्वेच्छा से बिना किसी बाह्य दबाव के अनैतिक एवं अनुचित कार्य किया है और अपने नैतिक उत्तरदायित्व को पूरा नहीं किया है। राजदर्शन में राज्य का प्रमुख कर्तव्य कानून का संरक्षण और इसके उल्लंघन करनेवालों को दण्ड देना है। दण्ड-व्यवस्था का संचालन न्यायिक व्यवस्था के द्वारा होता है। राज्य द्वारा कानून बनाया जाता है, व्यक्तियों को अधिकार दिया जाता है और अपने अधिकार का उल्लंघन करनेवाले तथा कानून को तोड़नेवाले नागरिकों को न्यायालयों द्वारा दण्ड दिया जाता है। दण्ड के द्वारा ही राज्य दुष्टों, असमाजिक तत्त्वों, आतंकवादियों, अनैतिक मनुष्यों एवं दुराचारियों को नियंत्रित करता है।

दण्ड के प्रकृति-परिभाषा को उजागर करते हुए वेस्टर मार्क ने कहा कि 'दण्ड उस पीड़ा तक सीमित है जो किसी

समाज द्वारा अपने हित में एक निश्चित विधि द्वारा अपराधी को उसका स्थायी या अस्थायी सदस्य है, दिया जाता है' Rouck के अनुसार 'दण्ड को जानबुझकर दी पीड़ा के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसका उद्देश्य किसी व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाना है।'

टैफ्ट का कथन है 'दण्ड एक जागरूक दबाव है जो सामाजिक शांति भंग करनेवाले व्यक्ति को अवांछनीय कष्ट देता है। यह कष्ट हमेशा उस व्यक्ति के हित में नहीं हो सकता।

दण्ड के अनिवार्यता के सम्बन्ध में अरस्तू से लेकर कान्ट, हेगेल और ब्रेडले जैसे आधुनिक दार्शनिकों ने दण्ड की आवश्यकता पर पूरजोर बल दिया है। अरस्तू एवं हेगेल ने दण्ड को परिभाषित करने हुए इसे निषेधात्मक पुरस्कार या ऋणात्मक पुरस्कार कहा है। 'दण्ड व्यक्ति का पारितोषिक है जो उसे मिलना चाहिए Bradley के शब्दों में We pay the penalty we owe it, and for no other reason whatever than because it is merited by wrong, it is a gross immorality a crying injustice, punishment is inflected for the sake of punishment. सरजेन्ट स्टीफेन ने लिखा है 'दण्ड विधान और प्रतिकार का वही सम्बन्ध है जो विवाह और प्रेम का है।'

दण्ड के सिद्धान्त का सम्बन्ध दण्ड के उद्देश्य से है। सामाजिक-राजनीतिक दर्शन की दृष्टि से दण्ड विषयक मुख्य समस्या यह है कि दण्ड का वास्तविक उद्देश्य क्या है? और उसे किस आधार पर नैतिक दृष्टि से उचित माना जाए? इस विषय में समाज-राज-विचारकों के दो दृष्टिकोण मिलते हैं। प्रथम 'दण्ड स्वतः साध्य' है, अतः उसके प्रति क़िसी चिकित्सकीय एवं निवारक दृष्टिकोण की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय दण्ड साधन स्वरूप है। इस दृष्टि से कभी-कभी दण्ड को निवारक माना जाता है तो कभी उसे चिकित्सकीय या सुधारात्मक माना जाता है। उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों के आलोक में हम कह सकते हैं कि दण्ड एक उद्देश्यपूर्ण संस्था है जो अपराधी को अपराध करने तथा अपराध की ओर उन्मुख व्यक्तियों को उनके समाज विरोधी व्यवहार के कष्टों को दिखाकर हतोत्साहित करती है। दण्ड का उद्देश्य किसी अपराधी को कष्ट देना नहीं है, बल्कि व्यक्ति को अपराध करने से रोकना है। नैतिकता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को उसके शुभ कर्मों के लिए पुरस्कार एवं अशुभ कर्मों के लिए दण्ड दिया जाए। पुरस्कार प्राप्त करने के लिए और दण्ड से बचने के लिए व्यक्ति नैतिक नियमों का पालन करता है। बेन्थम और मिल जैसे उपयोगितावादी भी दण्ड को भी आवश्यक मानते हैं तथा उनका कथन है कि 'दण्ड एवं पुरस्कार एक नैतिक प्रेरणा है और दण्ड एक प्रकार से नैतिकता की बाह्य निषेधात्मक स्वीकृति है।'

दण्ड के प्रचलित सिद्धांतों में तीन सिद्धांतों का बहुधा उल्लेख किया जाता है १. प्रतिशोध का सिद्धांत- इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड के न्यायोचित व्यापार है। दण्ड का लक्ष्य नैतिक नियम की उच्चता तथा प्रभुता की रक्षा और दोषी को दण्डित करना है। जब कोई अपराधी नैतिक नियमों का उल्लंघन करता है तब न्याय का तकाजा है कि उसे सजा मिलनी चाहिए और नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा एवं प्रभुता कायम रहनी चाहिए। नैतिक नियम सर्वोच्च प्रभुसता है। इसलिए इसे भंग करनेवाला निश्चित रूप से दण्ड का अधिकारी है। यदि अपराधी को सजा नहीं दी जाती, तो इससे नैतिक नियमों की प्रभुसता और गरिमा पर आंच आती है। इसे एक प्रकार से बदला लेने का सिद्धांत भी कहा जाता है। "Old Testament" में इस सिद्धांत को आँख के बदले आँख और दाँत के लिए दाँत कहकर बतलाया गया है। इस सिद्धांत के समर्थक का कहना है कि यदि अपराधी के अपराध के बदले पूरा दण्ड नहीं दिया जाए तो न्याय की प्रक्रिया अधुरी रह जाएगी, और हम न्याय न कर एक अन्याय पुनः कर देते हैं। न्याय में साम्य होना चाहिए। न्याय की मांग है कि जो जैसा करे वैसा फल चखे। (२) निवर्तनवादी सिद्धांत के अनुसार किसी अपराधी को सजा देने का यह लक्ष्य रहता है कि उस अपराध की पुनरावृत्ति उस अपराधी या अन्य व्यक्ति द्वारा न हो। इस सिद्धांत की मान्यता है कि दूसरों को सबक सिखाने के लिए तथा उन्हें अपराध करने से रोकने के लिए दण्ड देना आवश्यक है। दण्ड देने का उद्देश्य अपराधों का निवर्तन या रोक लगाना है। 'तुम्हें भेड़ चुराने के लिए दण्डित नहीं किया जाता है बल्कि इसलिए कि भेड़ की चोरी न हो' मैकेन्जी का कथन है 'दण्ड का लक्ष्य

है अन्य व्यक्तियों को उसी प्रकार का अपराध करने से रोकना।' दूसरों को भयभीत करने के लिए दण्ड दिया जाना आवश्यक माना जाता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि दण्ड किसी अपराध की दवा नहीं है, किन्तु उसका परहेज है। अपराधी को केवल अपराध करने के लिए दण्डित नहीं किया जाता है अपितु इसलिए भी किया जाता है जिससे कि समाज के अन्य लोग अपराध को न करें। (३) सुधारात्मक दण्ड सिद्धात अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन प्रवृत्ति है। इस सिद्धांत का विकास विगत दो शताब्दियों में हुई है जो वैज्ञानिक प्रगति एवं एवं तत्पश्चात् हुए सुधारात्मक आन्दोलन के प्रभाव में हुआ। पश्चिम में समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र के विचारक "EAHRING" को इसका जनक कहा जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड का प्रयोजन एक ओर अपराधी को सुधारना है और दूसरों ओर समाज को भी सुधारना है। आधुनिक मनोविज्ञान एवं आधुनिक समाज विज्ञान इस सिद्धांत के मुख्य आधार है। फ्रायड, एडलरयुंग आदि मनोविश्लेषकों का मत है कि अपराध का कारण व्यक्ति का समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में विफलता है। जिन व्यक्तियों का व्यक्तित्व किन्हीं विकृतियों या ग्रंथियों से युक्त रहता है, वे ही अपराध करते हैं। इन विचारकों पर मंतव्य है कि अपराधी को सुधारना हमारा ध्येय होना चाहिए, उसके व्यक्तित्व में वे व्याप्त विसंगतियों एवं स्वभाव में व्याप्त ग्रंथियों को विनष्ट करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

उपरोक्त तीनों सिद्धांतों पर विचार करने पर जब ऐसा लगता है कि अपराधी जानबूझकर अपने उत्तरदायित्व से विमुख होकर, अपने स्वतंत्र संकल्प का दुरूपयोग कर यदि अपराध करता है तो उसे निश्चित दण्ड मिलना चाहिए। यदि कोई खीरा चुराता है वह अवश्यक ही चोरी करता है, पर इतना बड़ा अपराध नहीं करता है, जिस कारण उसे कड़ी-से-कड़ी सजा मिले, पर यदि कोई किसी का प्राण लेता है, किसी कन्या का चीरहरण करता है, उसे मौत के घाट उतारता है, तो यह अपराध अक्षम्य है। किसी भी धर्मशास्त्र, किसी भी सिद्धांत, किसी भी न्यायशास्त्र में यह बिल्कुल क्षम्य नहीं है। इस प्रकार के अपराध के लिए निश्चित रूप से संतुलित दण्ड मिलनी चाहिए। इसलिए तो पुरातन जमाने में भी मृत्युदण्ड की परिपाटी शुरू से ही रही है। राजा को कौन कहे स्वयं अवतार लेकर दुष्टों का संहार ईश्वर करते रहे हैं जो आज भी उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है। सृष्टि के आरम्भ से ही राजनियम, ईश्वरीय नैतिक नियम तथा धर्मनियम के उल्लंघन करनेवाले को कड़ी-से-कड़ी सजा मिली है जिसमें मृत्यु दण्ड विशेष रूप से रही है। जहर देना, पत्थर मारना, पर्वत से फेंकना, हिंसक पशुओं से मरवाना, हाथ के पैर से कुचलवाना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज के समय में वैज्ञानिक तरीके से मृत्युदण्ड दिया जाता है, यह बदला 'मृत्युदण्ड' का स्वरूप है। आधुनिक समय में 'मृत्यु दण्ड' जहरीली गैस-इंजेक्सन से, बिजली कुर्सी से तथा फांसी से दिया जाता है। यह निवर्तक दण्ड के रूप में होता है। प्रतिफलात्मक सिद्धांत के अनुयायी भी मृत्युदण्ड की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इसे अवांछित समाज विरोधी तत्त्वों को समूल नष्ट करने का प्रभावकारी उपाय माना जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि मृत्युदण्ड का औचित्य क्या है? क्या मृत्युदण्ड को समाप्त करना उचित है? आधुनिक समय में ये प्रश्न विवादग्रस्त है। हम इस ज्वलंत समस्या का समीक्षात्मक हल ढूंढेंगे, क्योंकि आज का समय राजशाही न होकर प्रजातंत्र है और मानव अधिकार आयोग एक प्रहरी का काम करती है। तो भी सामाजिक-राजनीतिक विचारकों का एक वर्ग आज भी मृत्युदण्ड को बनाए रखने के पक्ष में है। अनेक अपराध शास्त्रियों तथा दण्ड के प्रतिफलात्मक एवं निवर्तक सिद्धांतों के समर्थकों का विचार है कि समाजहित में मृत्युदण्ड को बनाए रखना आवश्यक है। प्रतिफलात्मक सिद्धांत के विचारकों का कहना है कि सामाजिक शांति-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए तथा हत्या जैसे गंभीर अपराधों की स्थिति में अपराधी को मृत्यदण्ड देना न्यायसंगत है। यदि उसे मृत्युदण्ड न देकर उसके अपराध का बदला नहीं लिया जाएगा तो उसके अपराध से पीड़ित पक्ष उससे बदला लेने का प्रयास करेगा, परिणामस्वरूप समाज में अराजकता उत्पन्न होने की संभावना बनी रहेगी। वास्तव में यदि अपराधी अन्य व्यक्तियों को जीवन के अधिकार से वंचित करता है तो उसे भी जीवित रहने का अधिकार नहीं रह जाता। जो जैसा करता है, उसे उसका फल अवश्य मिलना चाहिए।

निवर्तक सिद्धांत के विचारक पूणरूपेण मृत्युदण्ड को उचित मानते हैं। उनका कहना है कि समाज में लोगों के मन में हत्या जैसे गंभीर अपराधों के लिए भय उत्पन्न करके उन्हें रोकने में सफलता मिलेगी। जैसा कि ग्रीन का विचार है 'दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराध में अपराध करने से रोकना नहीं है, बल्कि उन व्यक्तियों के मन में अपराध के प्रति भय उत्पन्न करता है जो प्राय: अपरोधी व्यवहार के लोभ में पड़ने की इच्छा करते हैं? तात्पर्य यह है कि निर्वतनवादी उपरोक्त आधार पर साधारण अपराध के लिए मृत्युदण्ड सदृश कठोरतम दण्ड की व्यवस्था को आवश्यक मानते हैं। इसके अलावा समाज में कुछ लोग सामाजिक-बेमेल होते हैं जो सामाजिक रूप में समायोज्य नहीं होते अपराध की परम्परा बना डालते हैं। ऐसे लोगों के लिए निवारक दण्ड के रूप में मृत्युदण्ड उचित है जिससे उनके कृत्यों से समाज को बचाया जा सके।

ऐसे तो विश्व समुदाय में सामाजिक-राजनीतिक विचारकों का एक अन्य वर्ग ऐसा भी है जो मृत्युदण्ड को समाप्त करने के पक्षधर हैं, सुधारवादी विचारक भी 'मुत्युदण्ड' को समाप्त करने के पक्ष में है। एमनेष्टी इन्टरनेशनल, संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे विश्व संगठन इस दिशा में ठोस प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में आजकल अपराध और दण्ड के प्रति मानवीय दृष्टिकोण उभरकर सामने आया है जो इस बात पर बल देता है कि एक न्यायोचित दण्ड-व्यवस्था का उद्देश्य अपराधी में सुधार होना चाहिए। इस दृष्टिाकोण के समर्थक मृत्युदण्ड को अनैतिक एवं बर्बर, क्रुर अपमानजनक और अमानवीय मानते हैं। वे इसे असामान्य एवं जीवन के अधिकार के लिए घोर अपमानजक कहते हैं। उनके अनुसार मृत्युदण्ड विधि-सम्मत तो हैं किन्तु मानवीय मूल्यों के विपरित है। भारत सहित विश्व के अनेक देशों में मृत्युदण्ड प्रचलित है तथा विश्व के अनेक ऐसे देश भी हैं, जहाँ राजद्रोह, राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित अपराधों के अलावा अन्य अपराधों के लिए मृत्युदण्ड का विधान नहीं है। यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो पाया जा सकता है कि भारत से बेहतर उन देशों में अपराधों में कमी का रिकॉर्ड है। अत: मृत्युदण्ड की समाप्ति वांछनीय है।

दूसरी बात यह है कि ऐसा भी देखने का मिलता है कि निर्दोष व्यक्ति को फांसी हो जाती है यह त्रुटिवश होती है। क्या कोई किसी कीमत पर ऐसे व्यक्ति का प्राण लौटा सकता है जिसे निर्दोष रूप में फांसी दी गई हो? क्या निर्दोष व्यक्ति को फांसी की सजा न्यायोचित है? इन प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर कठिन है। मानवीय मूल्यों पर विचार करने पर दृष्टिगोचर होता है कि नैतिक दृष्टि से मृत्युदण्ड अनुचित है।

उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों का निष्पक्ष एवं सूक्ष्म समीक्षा करने पर कहा जाता सकता है कि मृत्युदण्ड को समाप्त करना मूर्खतापूर्ण है। आज का समाज जिन गंभीर अपराधों से आक्रांत है, उसमें मृत्युदण्ड के उन्मूलन का विचार ख्याली पुलाव है, स्वप्नलोकीय है। संसार का कोई भी स्थान आज के परिवेश में शेष नहीं है जहाँ शांति से रहा जा सके। चारों तरफ आतंकवाद, अलगाववाद, सम्प्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद के लिए निर्दोष लोगों की नृशंस हत्या की जा रही है। पूरे विश्व में एक-एक पल में कितने बलात्कार तथा कन्या की हत्या की जा रही है। यदि मृत्युदण्ड का विधान ऐसे लोगों में अपराधों के प्रति भय नहीं उत्पन्न कर रहा है, अपराधों को नहीं रोक पा रहा है तो मृत्युदण्ड का उन्मूलन हो जाने पर उसके गंभीर परिणामों की सहज कल्पना की जा सकती है।

साथ ही मुत्युदण्ड की समाप्ति इसलिए भी अवांछनीय है, क्योंकि आज भी इसका कोई समुचित विकल्प नहीं है। पेशेवर एवं उग्र अपराधियों में सुधार करके समाज को अपराधी व्यवहारों से मुक्त करने का विचार कपोलकल्पना है। आधुनिक समाज को कौन कहे, पुरातन काल से ही मृत्युदण्ड की परिपाटी है, अवांछनीय अपराधी को फांसी अवश्य होनी चाहिए जिससे सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व रूप में समाज में रखा जा सके। वर्षों से हमारे समाज में कहावत के रूप में प्रचलित यह उक्ति रही है "As you sow so you reap" 'जैसी करनी वैसी भरनी'। यदि हम अपराधी को उसके किये के अनुरूप दण्ड नहीं देते हैं तो एक और अन्याय उस निर्दोष पर कर बैठते हैं। इसलिए मृत्युदण्ड वांछनीय है। इसे हर हाल में बनाये रखा जाना चाहिए। तुलसीकृत रामचरितमानस में इस दृष्टिकोण पर स्वीकारात्मक मुहर लग जाती है जहाँ तुलसी की यह उक्ति 'करम प्रधान विश्वकरी राखा, जो जस करहीं सो तस फल चाखा।'

संदर्भः

१. समाज एवं राजदर्शन, लेखक-डा. अशोक कुमार

२. भारतीय संस्कृति एवं राजनीतिक विचार, लेखक-डा. उमेश प्रसाद सिंह

३. नीतिशास्त्र, लेखक-केदार प्रसाद

४. नीतिशास्त्र, लेखक-डा. वात्स्यान

५. नीतिशास्त्र, लेखक-बी.एन. सिंह

६. सामाजिक, राजनीतिक दर्शन की रूपरेखा, लेखक-राममूर्त्ति पाठक

७. समाज दर्शन का परिचय, लेखक-भानू सिंह

***

मनुस्मृति में वर्णित आश्रम-व्यवस्था एक अवलोकन

राजेश कुमार

भारतीय धार्मिक साहित्य में स्मृतियों का प्रमुख स्थान है। संस्कृत साहित्य में वेदों के पश्चात् स्मृतियों का स्थान आता है। स्मृति साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। स्मृतिकारों ने प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक-सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है। इसलिए स्मृतियों को धर्मशास्त्र कहा जाता है। श्रुति के पश्चात् धार्मिक कार्यकलाप में स्मृतियों की ही मान्यता है जिनमें मनुस्मृति की प्रमुखता है। महत्ता की दृष्टि से मनुस्मृति के पश्चात् याज्ञवल्क्यस्मृति का स्थान आता है।

यदि हम सामाजिक दृष्टि से भी देखें तो स्मृतियों का बहुत महत्त्व है। भारतीय समाज वर्णाश्रम के सिद्धान्त पर व्यवस्थित किया गया था। इनका पूर्व स्वरूप जानने के लिए भी धर्मशास्त्र ही हमारा पथप्रदर्शक है। अत: भारतीय व्यवहार को समझने के लिए स्मृतियों का अनुशीलन अनिवार्य है। भारतीय समाज की व्यवस्था करना स्मृतिकारों का प्रधान उद्देश्य रहा है। समाज पर ही व्यक्ति निर्भर करता है। समाज की उन्नति होने पर ही व्यक्ति की उन्नति होती है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी के अभ्युदय की कामना करने वाले स्मृतिकारों ने समाज के नियम तथा अभ्युदय के निमित्त अनेक व्यापक एवं उपादेय नियमों का निर्माण किया है। विश्व में जितने भी समाज हैं उनका अस्तित्व किसी न किसी संगठन पर आधारित है। यही कारण है कि व्यवस्थित समाज के स्वरूप का वर्णन स्मृतियों का मुख्य उद्देश्य रहा है।

विषय की दृष्टि से आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त स्मृतियों का मुख्य केन्द्र-बिन्दु रहा है। आचार के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म का समावेश किया गया है जिसके अन्तर्गत संस्कार भी आ जाता है। इनके अतिरिक्त विवाह, दान, राजा के कर्तव्य, राजा की दिनचर्या, न्याय, दण्ड तथा पापों के प्रायश्चित्त आदि का विधिवत विवेचन मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो इन तत्त्वों की प्राचीनता के प्रमाण विशेषत: स्मृति ग्रन्थों तथा वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलते हैं। इसके व्यवस्थित रूप का सांगोपांग विवेचन स्मृतिग्रन्थों का वर्ण्य विषय रहा है।

वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म वैदिक संस्कृति की मेरुदण्ड हैं। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में इनका आशस्त स्वरूप देखने को मिलता है। वैसे तो प्राय: सभी सभ्य समाज में ये दोनों व्यवस्थाएं किसी न किसी रूप में देखने को मिलती हैं।

'आश्रम' शब्द 'श्रम' अर्थात् 'कष्ट' से बना है। 'आश्राम्यन्ति अस्मिन् अननेन वा इति।' अर्थात् जिसमें या जिसके द्वारा (मनुष्य को) श्रम- यथा तप, स्वाध्याय आदि करना होता है, अथवा जिसके आधार से कर्तव्य पालन हेतु सब प्रकार का परिश्रम करना होता है, वह 'आश्रम' है।

'आश्रम' शब्द के अन्य भी अर्थ हैं- वसतिस्थान, मठ, देवालय आदि। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।[१]

ये चारों आश्रम पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के सोपान हैं। एक साधक इन आश्रमों में निर्धारित साधना करता हुआ

क्रमशः उत्तरोत्तर विकास और विस्तार के पथ पर अग्रसर होता है। वह अर्थ, काम और धर्म का ही सम्पादन नहीं करता, अपितु मोक्ष के सत्व पद को भी प्राप्त करता है। इनमें प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में साधक स्वयं के निर्माण में प्रवृत्त होकर शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, प्राणिक और आत्मिक शक्ति का अर्जन करके स्वयं को सर्वविध कार्य करने में सक्षम बनाता है और शेष तीन आश्रमों में वह स्व के विस्तार की साधना में आवृत्त होकर क्रमशः आगे बढ़ता है।

ब्रह्मचर्याश्रम

गुरुकुल में आवेश के लिए ब्राह्मण बालक का उपनयन प्रायः जन्म से अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में होता था, क्षत्रिय तथा वैश्य बालकों का उसके बाद के वर्गों में होता था। किन्तु बालक को अधिक तेजस्वी बनाने हेतु क्रमशः पाँचवें छठे और आठवें वर्ष की आयु में होता था।[२] उपनयन के उपनन्तर जब बालक आचार्य के कुल (गुरुकुल) में आवेश करता था, तब वह ब्रह्मचारी कहलाता था।

मनु ने ब्रह्मचारी को तीन वर्गों में विभक्त किया है- प्रथम वर्ग में उन ब्रह्मचारियों को रखा है जो अखण्डित ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए तीनों वेदों का उसके समस्त शाखाओं के साथ अध्ययन कर उसमें पारंगत हो जाते हैं। दूसरे वर्ग में वे ब्रह्मचारी आते हैं जो अखण्डित ब्रह्मचर्य का धारण तो करते हैं किन्तु तीनों वेदों के अध्ययन करने में समर्थ न होने के कारण दो वेदों का अध्ययन उनकी समस्त शाखाओं के साथ करते हैं। तीसरे वर्ग में वे ब्रह्मचारी आते हैं जो अखण्डित ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, किन्तु दो वेदों के अध्ययन में भी समर्थ नहीं होते इसलिए वे केवल एक ही वेद का अध्ययन उसकी समस्त शाखाओं के साथ अध्ययन करते हुए क्रम से दक्षता को प्राप्त करते हैं।[३]

गृहस्थाश्रम

वेदों का अध्ययन पूर्ण करके ब्रह्मचारी गुरु की अनुमति से समावर्तनपूर्वक स्नातक होकर योग्य सवर्ण कन्या से विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते रहे हैं।[४] मनु अथवा उनके उत्तरवर्ती विद्वानों की मान्यता रही है कि गृहस्थ जीवन में जहाँ पति-पत्नी परस्पर संतुष्ट और एक-दूसरे के वश में रहते हैं उस कुल में निश्चय ही नित्य कल्याण विराजमान रहता है, साथ ही धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि भी होती है।[५] गृहस्थ को सामान्य गृहकार्य के साथ पाँच महायज्ञों का सम्पादन प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। ये पाँच महायज्ञ हैं- ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ। आज सामान्यतः ब्रह्मयज्ञ से तात्पर्य सन्ध्योपासन अर्थात् ईश्वर की उपासना से सम्बन्धित कुछ निर्धारित मंत्रों का अथवा अपने इष्ट देवता की स्तुति सम्बन्धी पद्यों का एकाग्रतापूर्वक पाठ अथवा जप समझा जाता है, और बलिवैश्वदेव मानना उचित नहीं है। उनके अनुसार स्वाध्याय और अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है और विविध प्राणियों के लिए आहार-अर्पण भूतयज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ है।[६]

वानप्रस्थ आश्रम

गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व पूर्ण होने के बाद साधक वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। मनु के अनुसार गृहस्थ साधक जब अपने केशों मे श्वेत केश देखे और अपने पुत्र को भी पुत्र हो जाए तब वह वन में प्रस्थान करे।[७] वन के लिए प्रस्थान करते समय ग्राम-नगर के लिए जाने वाले सामान्य आहार और वेश-भूषा आदि को छोड़कर अपनी पत्नी को पुत्रों को सौंपकर, यदि पत्नी साथ चलना चाहे तो साथ लेकर वन के लिए प्रस्थान करे।[८] गृहत्याग करते समय प्रहवन्नीय और गार्हपत्य अग्नियों और उनके परिच्छेदों को साथ लेकर ग्राम से निकले एवं वन में जितेन्द्रिय होकर रहे अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषय-भोगों को त्याग दे।[९] वन में नित्य स्वाध्यायशील रहें, इन्द्रियों को संयत रखें, देने की इच्छा करे लेने की नहीं और सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पावान् रहे।[१०]

संन्यास आश्रम

चतुर्थ आश्रम जिसे मनु ने संन्यास के नाम से विभूषित किया है, में सठ के त्याग की बात कही है। 'त्यक्त्वा

सठान्परिव्रजेत' अर्थात् लोभ-मोह को और उसकी सन्तति काम, क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि को छोड़कर आत्मभाव के विस्तार के हेतु साधनारत रहे। सठ अर्थात् लोभ-मोह की पूर्णतया निवृत्ति कैसे होगी? इस प्रश्न के समाधान के लिए शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में दो मंत्र ऐसे हैं जिनमें इनका समाधान दृष्टिगोचर होता है। पहला चालीसवें अध्याय का छठा श्लोक जिसमें कहा गया है कि जो सभी प्राणियों को अपने में देखता है और सभी प्राणियों में स्वयं को देखता, दूसरे शब्दों में जिसने आत्मभाव का इतना विस्तार कर लिया है कि प्राणिमात्र में उसका आत्मभाव बन गया है, सभी प्राणियों का सुख-दुःख उसका अपना सुख-दुःख बन गया है, उसे अपने कर्तव्य कर्म के लिए कभी कोई विचिकित्सा (संदेह) नहीं होती।[११] और, दूसरा मंत्र है चालीसवें अध्याय का ही सातवां श्लोक[१२] जिसमें कहा गया है कि जिस साधक में ज्ञानपूर्वक (आगमकाल, स्वाध्यायकाल, आवचनकाल और व्यवहारकाल चारों सोपानों से प्रतिष्ठित ज्ञानपूर्वक) सभी प्राणियों में आत्मभाव स्थिर हो गया है उस साधक में सर्वत्र आत्मभाव के कारण मोह और शोक हो ही कैसे सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। मोह और शोक की निवृत्ति सभी प्राणियों में आत्मभाव की प्रतिष्ठा से स्वतः हो जाती है। संन्यास आश्रम में आवेश के सम्बन्ध में मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- वेदाध्ययन, संतानोतपत्ति एवं तीन ऋणों से मुक्त हो जाने के पश्चात् साधक को मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। यदि कोई ऐसा नहीं करता है तो उसकी अधोगति निश्चित है।[१३] संन्यास आश्रम में आवेश की आयु पचहत्तर वर्ष मानी गई है। संन्यास पूर्णतः त्याग का जीवन है, वहाँ न तो कोई अपना है और न कोई पराया। यहाँ तक कि घर-बार, पत्नी, पुत्र एवं सम्पत्ति का त्याग कर इस आश्रम में प्रवेश करना पड़ता है।

आश्रम-व्यवस्था का प्रणयन बहुत सोच-समझकर किया गया है। जीवन में दो ही प्रकार की उन्नतियाँ होती हैं- इहलौकिक और पारलौकिक। आश्रम-व्यवस्था दोनों प्रकार की उन्नतियों का मूल है। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास का एक मात्र किन्तु सुदृढ़ साधन है। समस्त मानव जाति का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना है। यह हो सकता है कि संसार के कुछ देश या लोग मोक्ष को अपना लक्ष्य नहीं समझते हों तथा धर्म को भी प्रमुखता न देकर केवल अर्थ एवं काम को ही जीवन का लक्ष्य मानते हों। इनके लिए भी आश्रम-व्यवस्था उतनी ही उपादेय है जितनी की चतुर्वर्ग को मानने वालों के लिए।

वर्तमान परिवेश में इस आश्रम की सबसे अधिक उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति ने अध्यापक, डॉक्टर, व्यवसायी, इंजीनियर आदि के रूप में वैतनिक कर्मचारी/अधिकारी बनकर जो सेवा की है उसी सेवा को अवकाशप्राप्त करने के पश्चात् निःशुल्क कर सकता है। इस आश्रम के अभाव का ही परिणाम है कि आज वृद्धाश्रमों की संख्या बढ़ती जा रही है।

सन्दर्भः

१. *ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।*
एते गृहस्थप्रभावाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः।। मनुस्मृति, ६/८७

२. *वही, २/३६-३७*

३. *वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।*
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।। वही, ३/२

४. *गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।*
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम्। वही, ३/१-२

५. *वही, ३/६०, ३/६१*

६. *वही, ३/७०, ३/८१, ३/७५*

७. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। वही, ६/२

८. सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। वही, ६/३

९. अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चापि परिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।। वही, ६/४

१०. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्राः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।। वही ६/८

११. ओं यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।। यजुर्वेद, ४०/६

१२. ओं यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु पश्यतः।। वही, ४०/७

१३. वही, ६/३५-३७

***

बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था में नारी-शिक्षा

अरविन्द विक्रम सिंह

शिक्षा का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है कि इस संसार में ज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है।[१] मनुष्य के जीवन में शिक्षा का विशिष्टि महत्त्व है। शिक्षा के बिना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित और बोझिल हो जाता है। अशिक्षा अंधकार को संदेश है इसलिए जो अशिक्षित होते हैं, उनके जीवन में अंधकार ही अंधकार रहता है। अशिक्षित व्यक्ति के कर्मों का कोई महत्त्व नहीं होता। शिक्षित और अशिक्षित दोनों प्रकार के व्यक्ति कर्म करते हैं किन्तु दोनों के कर्मों में अंतर होता है। शिक्षा मनुष्य का तीसरा नेत्र है, जो उसे सभी तत्त्वों के मूल को समझने में सक्षम बनाता है और उसे सही मार्ग की ओर प्रेरित करता है। निश्चित रूप से शिक्षा के बिना जीवन और जगत् के रहस्यों को साक्षात्कार कर पानें में असमर्थ है शिक्षा से मनुष्य को मोक्ष एवं शाश्वत ज्ञान की प्राप्ति होती है। समस्त संसार की समृद्धि और अभिष्ट की प्राप्ति शिक्षा से ही संभव है। शिक्षा से मनुष्य की सारी बाधाएँ और कठिनाईयों की समाप्ति हो सकती है। यही कारण है कि इसे नेत्र की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[२]

शिक्षा से मनुष्य को जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों और आचरणों को समझने में आसानी होती है। उसका शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत एवं पवित्र होता है इसलिए इसे अप्रतिम कहा गया है – 'ज्ञानेनाप्रतिमेन'।[३] पूर्ववैदिक युग में भी शिक्षा का उतना ही महत्त्व था, जितना आधुनिक युग में है। उस युग तक शिक्षा अथवा ज्ञान का समुचित महत्त्व स्थापित हो चुका था। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य के शिक्षा को अप्रतिम और अनुपम माना जाता रहा है। इसलिए ऋग्वेद में शिक्षा को मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार माना गया है।[४]

शिक्षा और ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है और उत्तम माना जाता है। शिक्षा माता की तरह मनुष्य की रक्षा करती है, पिता के समान शुभकार्यों में लगाती है, पत्नी के समान दुखों का नाश करती है और कल्पतरु के समान प्रसन्नता प्रदान करती है अतः समस्त सुखों की प्राप्ति शिक्षा से ही संभव है।

शिक्षा से मनुष्य का जीवन समृद्ध होता है उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ एवं प्रखर होती है। कोई भी मनुष्य उसी अवस्था में महान होता है, ऊँचा उठता है, जब उसकी बुद्धि और दिमाग शिक्षा के द्वारा तीव्र और उच्च होता है यही कारण है कि अशिक्षित मनुष्य को पशु के समान माना जाता है।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपना जीवन सार्थक करता है। इसके बिना उसका जीवन निरर्थक और सारहीन हो जाता है। शिक्षा से युक्त व्यक्ति की बुद्धि प्रखर, अद्‌भुत और विकसित बोधगम्यता एवं विवेक सम्पुष्ट होता है। शिक्षा एक ऐसे मार्ग को प्रशस्त करती है जिससे मनुष्य पथभ्रष्ट होने से बच जाता है और सम्यक् मार्ग का अनुसरण करते हुए वह अपना इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन सफल एवं सुखमय बनाता है। इस तरह शिक्षा का आदर्शात्मक योगदान मनुष्य को क्रियाशील एवं विवेकी बनाना है जिसके द्वारा वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति कर सके। मनुष्य के लिए आत्मज्ञान के साथ-साथ जगत् का ज्ञान भी अपेक्षित माना जाता है। प्राचीन काल में तो शिक्षा पर ही ब्राह्मणों की आजीविका निर्भर करती थी। इस सम्बन्ध में अत्रि का कथन है कि ब्राह्मण जन्म से अब्राह्मण होता है, जब उसके सभी संस्कार होते हैं, तब वह द्विज कहलाता है। विद्या प्राप्त करने पर वह 'विप्र' कहलाता है और जब वह इन तीनों से युक्त होता है, तब वह 'श्रोत्रिय'

कहलाता है। जो वेदों एवं शास्त्रों को पढ़ता है और शास्त्रों के अर्थ सेवन करता है, वह वेदावित अर्थात वेदों का ज्ञाता कहा जाता है।[५]

प्राचीन काल में अशिक्षित ब्राह्मण अपनी जीविका चलाने में असमर्थ होते थे। इसलिए प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के इतिहास को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा मनुष्य के जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसकी महत्ता का सही आकलन करना एक दुष्कर कार्य है। यह मनुष्यों को संतुलित और श्रेष्ठ जीवन प्ररदान करने में पूर्णत: सक्षम है। मनुष्य का आत्मिक विकास सांसारिकता से आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति, गुण-अवगुण परखने की शक्ति शिक्षा से ही उत्पन्न होती है।

शिक्षा न केवल मनुष्य के जीवन को परिष्कृत करती है, बल्कि यह समाज को भी सन्मार्ग पर लाकर उसे विकसित करती है। शिक्षा और ज्ञान ही मानव जाति को धर्म प्रवण, नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्चादर्शों से युक्त बहुमुखी व्यक्तित्व का स्वामी बनाती है, शिक्षा से व्यक्ति न केवल आत्मनिर्भर बनता है। बल्कि परिवार, समाज और देश के निर्माण में भी अपना योगदान करता है मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों, उसके चरित्र, व्यक्तित्व इत्यादि का उत्थान शिक्षा से ही संभव है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपने को पूर्णता प्रदान कर समाज तथा देश का भी कल्याण करता है। इस तरह, शिक्षा के महत्त्व मनुष्य के लिए अतुलनीय हैं। यह शिक्षा ही है जो मानव को पशु से मिलकर सम्मान एवं प्रतिष्ठा दिलाती है। अत: इसका मानव के जीवन में अतुलनीय एवं महत्त्वपूर्ण योगदान है। बुद्ध के अनुसार उसके माता-पिता शत्रु के समान हैं, जो अपने सन्तानों को शिक्षित नहीं करते हैं। वे लोगों के बीच शोभा नहीं पाते हैं जैसे कि हंसो के बीच बगुला नहीं शोभता है।

स्त्री-शिक्षा – स्त्री और पुरुष सृष्टि के आरम्भ से ही समाज के एक अभिन्न अंग रहे हैं। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में स्त्रियों का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों का रहा है। यह बड़ी ही विडम्बना की बात है कि स्त्रियों की स्थिति युग के अनुरूप परिवर्तित होती रही है। उसकी अवस्था में वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक अनेक उतार-चढ़ाव हुए हैं तथा उसके अधिकारों में भी, उसी के अनुरूप परिवर्तन होते रहे हैं। वैदिक काल में स्त्री जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समान रूप से आदृत थी। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में उसका महान् योगदान था। पुरुषों की तुलना में वह किसी भी प्रकार से निम्न नहीं थी। किन्तु मध्यकाल तक आते-आते उसके अधिकारों में परिवर्तन हुए। इस युग में उसके अधिकार सीमित हो गये। धर्म एवं समाज की रक्षा के नाम पर अनेक ऐसी अवस्थाओं का नियमन हुआ, जिससे स्त्रियों की दशा निरंत दयनीय होती गई। इस युग में उसका व्यक्तित्व अनेक बंधनों के घरे में सिमट चुका था। प्रस्तुत संदर्भ में सिर्फ स्त्री-शिक्षा के क्षेत्रों में, हुए परिवर्तनों एवं अधिकारों के विषय में वैदिक काल से आधुनिक काल तक चर्चा करनी है।

वैदिक युग में स्त्री-शिक्षा अपनी चरम सीमा पर थी। वह बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थी। उसे यज्ञ-सम्पादन और वेदाध्ययन का भी पूरा अधिकार था। दर्शन और तर्कशास्त्र में भी स्त्रियाँ निपुण थीं। ऋग्वेद के वर्णनानुसार कुछ स्त्रियों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के निर्माण में भी भरपूर योगदान दिया था।

ऐसी बीस कविंत्रियाँ थीं जिनमें रोमाणु, अपाला, उर्वशी, विश्ववासा, सिकता, निवावरी, घोषा, लोपामुद्रा आदि के नाम प्रमुख हैं। पति के साथ वे समान रूप से यज्ञ में सहयोग करती थीं।

महाभारत से भी ज्ञात होता है कि पांडवों की माता कुन्ती अथर्ववेद में पारंगत थी।[६] इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में भी स्त्रियाँ विषयों की जानकार होती थीं। उस युग में कन्याएँ ब्रह्मचर्य[७] का अनुगमन करते हुए उपनयन संस्कार भी कराती थीं।

कन्या के लिए उपनयन का विधान मनु ने भी किया है।[८] वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे, एक 'सधोवधू' और दूसरा 'ब्रह्मवादिनी' सधोवधू वे छात्रायें थीं जो विवाह के पूर्व तक वेदमंत्र और याज्ञिक प्रार्थनायें पढ़ लेती थीं तथा ब्रह्मवादिनी वे होती थीं जो शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विवाह करती थीं। कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ थीं जो आजीवन अध्ययन में लीन रहती थी और विवाह नहीं करती थी। ऋषि कुशध्वज की कन्या वेदवती ऐसी ही कन्या थी।[९]

बौद्धयुग में भी स्त्रियाँ शिक्षित और विद्वान् हुआ करती थीं। धर्म-दर्शन के प्रति उनकी अगाध रूचि थी। बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में भी उन्होंने ख्याति प्राप्त की थीं। थेरीगाथा की भिक्षुणियों में बत्तीस आजीवन ब्रह्मचरिणी और अठारह विवाहिता थीं। उनमें शुभा सुमेधा और अनोपमा उच्चवंश की कन्याएं थीं जिससे विवाह करने के लिए राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के सपुत्र उत्सुक थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में साधारणतः स्त्रियाँ ज्ञान पिपासुणी तथा उसके अन्वेषण और प्राप्ति में तल्लीन रहती थीं। ब्रह्मचर्य का जीवन यापन करके वे अत्यंत सुंदर ढंग से ज्ञानार्जन करती थी। एक जातक से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए लोगों को दर्शनशास्त्र पर वाद-विवाद करने के लिए चुनौती दी थी।[१०]

अनेक महिलाएँ अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थीं और अपना शिक्षण कार्य उत्साह और लगन के साथ निष्ठापूर्वक करती थीं। ऐसी स्त्रियाँ उपाध्याया कहलाती थीं। 'उपेत्याधीते अस्या:सा उपाध्याया।' संभवतः ये छात्राओं को पढ़ाया करती थीं तथा उन्हें अनेक विषयों का ज्ञान प्रदान करती थीं। इनकी अलग शिक्षाशालाएँ होती थीं जहाँ महिलाएँ जाकर शिक्षा ग्रहण करती थीं। ऐसी महिला शिक्षण संस्थाओं का प्रबंध उपाध्याए किया करती थी। पाणिनि ने महिला शिक्षाशाला का उल्लेख किया है। 'छात्रायादयः शालायाम्।'[११]

यद्यपि उस युग में भी आज की तरह ही सहशिक्षण की भी व्यवस्था थी। छात्र-छात्राएँ एक साथ शिक्षा प्राप्त करती थी। वाल्मीकि आश्रम में आत्रेयी ने लव और कुश के साथ शिक्षा प्राप्त की थी। पुराणों से विदित होता है कि नारी-शिक्षा के दो रूप आरम्भ से ही रहे हैं। एक आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में वृहस्पति भगिनी, अपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी संनति, शतरूपा, महाप्रजापति गौतमी, पटाचारा, कृशा गौतमी, नन्दा आम्रपालि, शुभा, उर्वसी, उब्बिरी, वाशिष्ठी, चन्दा, रोहिणी, सुन्दरी, चापा, शीर्षोपचाला, बड्ढमाता, सुमेधा, धम्मदिन्ना, मुत्ता, गुप्ता, सुजाता, पूर्णिका, शुक्ला, अनोपमा, सोमा, कुण्डल केशा, ऋषिदासी भद्राकापिलामिनी, पूर्णा, श्यामा, अभयमाता, विमला जैसी असंख्य स्त्रियों ने वैदिकयुग से लेकर बौद्ध युग तक आध्यात्मिक सेवा में अग्रसर होकर अपने को सांसारिक बाढ़ से मुक्त कर दुःखों का नाश किया।

थेरीगाथा में आये वर्णनों से यह ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध ने न केवल भिक्षुओं को बल्कि भिक्षुणिओं को, उपासिकाओं को भी अनेक प्रकार से आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर करने में सहायता प्रदान की। आध्यात्मिक क्षेत्र में वे इतनी आगे निकल गई थीं कि वे किसी भी प्रकार से भिक्षुओं से कम नहीं थी। उनका मानना है कि जब चित्त सुसमाहित है तो स्त्री भाव इसमें बाधक नहीं हो सकता है- 'इत्थि भावो नो किं कयिरा चिन्तम्हि सुसमाहिते।'[१२] फलतः उनलोगों ने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर परम सुख निर्वाण का भी साक्षात्कार किया, जिसकी साक्ष्य थेरीगाथा की गाथाएँ हैं। बुद्ध युग में स्त्रियों का आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में इतना झुकाव हुआ कि नाना कुलों और नाना जीवन की अवस्थाओं को प्राप्त स्त्रियाँ शाक्यमुनि के पादमूल में बैठकर, साधना का कठिन मार्ग स्वीकार किया। थेरीगाथा में स्त्रियों की आध्यात्मिक शिक्षा की पुष्टि अनेक जगह मिलती है। अक्सर 'आज मेरी भव रज्जु कट गई,' 'तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गई।' 'मैं सब मलों से विमुक्त हूँ,' 'मैं सर्वथा शांत हूँ, निष्पाप हूँ आदि अनेक उद्गार अपना गंभीर और शांत प्रभाव लिये हुए तत्कालीन नारी के आध्यात्मिक ज्ञान को पूर्णतः प्रस्तुत करते हैं। एक भिक्षुणी पटाचारा का यह उपदेश वाक्य 'बुद्ध शासन को पूरा करो जिसे करके पछताना नहीं होता, अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त ध्यान में बैठ जाओ, कितना प्रेरणादायक है जिससे यह लगता है मानों हम किसी आध्यात्मिक जगत् में पहुँच गये हैं।' व्यावहारिक शिक्षा में स्त्रियों को नृत्य, संगीत, चित्रकला, गृहस्थी को संभालने, व्यक्ति विशेष अथवा स्थान विशेष में कैसा व्यवहार करना चाहिए इत्यादि कि शिक्षा दी जाती थी। बुद्ध को भी अनेक स्थानों पर बौद्ध उपासिकाओं एवं भिक्षुणियों को व्यावहारिक ज्ञान देते हुए देखते हैं। ऐसी व्यावहारिक शिक्षा स्त्रियों को बाल्यकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त, अपने से बड़े लोगों द्वारा मिलती रहती थी।

कुल कन्याओं को शिल्प एवं कला की शिक्षा देने की प्रथा कम थी। आगमों में पुत्र को तो कलाचार्य के पास भेजने के उल्लेख मिलते हैं।[१३] किन्तु कन्या के सम्बन्ध में ऐसे उल्लेखों का आभाव है। इसका प्रमुख कारण यह है कि शिल्पादि

के शिक्षण का महत्त्व पुरुषों के लिए ही था, स्त्रियों के लिए नहीं। उस समय स्त्री के भरण-पोषण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। शिल्प एवं कला से विहीन व्यक्ति घर बसाने के अयोग्य समझा जाता था। अतः माता-पिता पुत्र को उसके भावी जीवन के हित की दृष्टि से शिल्प एवं कला में विशारद बना देते थे। इसके विपरित कुल स्त्रियाँ प्रायः जीविकोपार्जन का कार्य नहीं करती थीं। यद्यपि जैनागमों में कुछ ऐसी सार्थवाहियों (यावच्चा, भद्दा) के उल्लेख मिलते हैं। जो व्यापारादि की देख-रेख स्वतः करती थीं किन्तु इन उल्लेखों को अपवाद ही कहा जा सकता है अतः कन्याओं को जीविकोपार्जन में आधारभूत शिल्पादि कि शिक्षा नहीं दी जाती थी।

कन्याओं के भावी जीवन को सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें प्रतिकुल के आचार-विचार के अनुरूप आचरण करने में निपुण कर दिया जाय। अतः कन्याओं को प्रतिकुल के योग्य सदाचरण की शिक्षा दी जाती थी।[१४]

स्त्रियों के लिए निर्धारित ६४ कलाओं पर दृष्टिपात करने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।[१५] ऐसी शिक्षा को अधिक प्रभावशाली ब..ाने के लिए कभी-कभी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा भी शिक्षा दिला दी जाती थी।[१६]

बौद्ध साहित्य के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध ने समाज में फैली स्त्रियों के प्रति हीन मनोभावना को दूर करने का प्रयत्न किया। एक बार जब भगवान बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे तो उस समय कोसल नरेश प्रसेनजित की रानी मल्लिका ने पुत्री जन्म का प्रसव किया। राजा भवान के पास बैठा उपदेश सुन रहा था वहीं एक दूत ने राजा को पुत्री का जन्म का समाचार दिया। समाचार सुनते ही राजा उदास हो गया। वह कुछ चिन्तित भी हो गया, इसे देखकर तथागत ने राजा को समझाया और कहा कि जो वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं उनकी जननी भी स्त्रियाँ ही होती हैं। स्त्रियाँ ही श्वसुर, सास एवं पति की सेवा करती हैं। अतः इनसे कभी भी घृणा नहीं करनी चाहिए।

सन्दर्भ:

१. *गीता १/४/१५.*

२. *ब्रह्मपुराण १/४/१५.*

३. *वही १/४/१५.*

४. *अश्वण्तः कर्णवन्तः सरवायो मनोजषेषु असमावभूवः।। ऋग्वेद, १०/७/७.*

५. *अत्रिस्मृति, १/१४०-४१.*

६. *महाभारत - ३/३०५-२.*

७. *अथर्ववेद११/५/१८.*

८. *मनुस्मृति - २/६६.*

९. *रामायण ७/१७.*

१०. *जातक संख्या ३०१.*

११. *पाणिनी - ६/२/४६.*

१२. *थेरीगाथा, गाथा, ६१.*

१३. *भगवतीसुत्र ९३३.*

१४. *थेरीगाथा १५/१/४०९.*

१५. *जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २/३०.*

१६. *अंगुत्तरनिकाय २/३०३*

***

दयानंद का शिक्षा-दर्शन

हिमांशु शेखर सिंह

भूमिका : अंग्रेजी भाषा में 'शिक्षा' को एजूकेशन (Education) कहते हैं। 'एजूकेशन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के चार मिलते-जुलते शब्दों, यथा- एडूकेयर (Educare), एडूकीयर (Educere), एडूकेटस (Educatus) और एडूको (Educo) से मानी जाती है। तदनरूप एजूकेशन का अर्थ क्रमशः संवर्द्धन करना (To nourish) या पालन-पोषण करना (To bring up), विकसित करना (To develop) या बाहर निकालना (To lead up), पढ़ाना (To teach) या प्रशिक्षित करना (To train) और अंदर से निकालना (To lead out) या आगे बढ़ना (To move forward) है। हिंदी शब्द 'शिक्षा' की उत्पत्ति संस्कृत के 'शिक्ष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है– 'सीखना', 'ज्ञान प्राप्त करना' अथवा 'अध्ययन करना'। इसी तरह शिक्षा के अनुरूप अथवा समान अर्थ वाला शब्द 'विद्या' संस्कृत के 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'जानना' या 'ज्ञान प्राप्त करना'।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय मनीषियों ने जीवन के चरम लक्ष्य के अंतर्गत वैयक्तिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक मुक्ति (सामूहिक मुक्ति) को भी प्रमुखता दी है। 'शिक्षा' या 'विद्या' भी हमारे यहाँ सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति में सहायक मानी गई है। इसलिए, हमारे मनीषियों ने 'ज्ञान को क्रिया से' और 'आदर्श को व्यवहार से' जोड़ने की कोशिश की है। स्वामी दयानंद ऐसे ही संत, ऋषि एवं दार्शनिक हैं। इनका नाम भारतीय संस्कृति के उन्नायकों और पुनर्जागरण के दूतों में अग्रगण्य है। इन्होंने वैदिक धर्म की पुनर्व्याख्या के बहाने भारतीय समाज में व्याप्त तात्कालीन बुराइयों (जो कमोवेश आज भी विद्यमान हैं) पर करारा प्रहार किया और गुलामी की बेड़ियों में जकड़े भारतवासियों के सोए हुए स्वाभिमान को जगाने में अहम भूमिका निभाई। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने ठीक ही कहा है, '...संस्कृति के क्षेत्र में भारत का स्वाभिमान स्वामी दयानंद सरस्वती के रूप में प्रस्फुटित एवं प्रत्यक्ष हुआ है।'

स्वामी दयानंद का सत्यार्थ प्रकाश : स्वामी दयानंद के सम्पूर्ण दर्शन पर विश्वगुरु भारत की गौरवशाली सभ्यता-संस्कृति की अमिट छाप है। उन्होंने वैदिक सभ्यता-संस्कृति, शिक्षा एवं समाज-व्यवस्था को अपना आदर्श मानते हुए 'वेदों की ओर लौटो' का संदेश दिया है। उन्होंने अपने 'शिक्षा-दर्शन' में भी वेद एवं वेदाधारित ग्रंथों में इससे सम्बन्धित व्यक्त विचारों को व्यावहारिक रूप देने की कोशिश की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जो-जो विद्या एवं धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं वे प्रथम करने में विष के तुल्य और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं।[1] इसी तरह हमारे अन्य ऋषि-मुनियों ने भी कहा है कि सर्वदा सत्य की विजय और असत्य की पराजय होती है। सत्य से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। अतः, देव लोग कभी भी परोपकार करने से उदासीन होकर 'सत्यार्थ प्रकाश' का नहीं छोड़ते। ये दोनों कथन दयानंद के शिक्षा-दर्शन का आधार स्तम्भ हैं। अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ पकाश' की भूमिका में वे लिखते हैं- 'मेरा इस ग्रंथ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या प्रतिपादित करना ही सत्य अर्थ का प्रकाश (सत्यार्थ प्रकाश) है। वह सत्य नहीं कहलाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए। लेकिन, जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे

विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। पक्षपाती व्यक्ति सत्य मत को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि वे उपदेश या लेख द्वारा सभी मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे।'[२]

पढ़ाई शुरू करने की उम्र : आम तौर पर पाँच वर्ष की उम्र से पढ़ाई की शुरूआत मानी जाती है। लेकिन, भारत में सम्पूर्ण जीवन (गर्भाधान काल से ही) को एक पाठशाला माना गया है। यहाँ बच्चों की नैतिक शिक्षा गर्भधारण के समय से ही शुरू हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक कथा उल्लेखनीय है। एक बार एक महिला अपने ५ साल के बच्चे को एक गुरु के यहाँ ले गई और विनयपूर्वक उसे आचार की शिक्षा देने का अनुरोध किया। गुरु ने कहा- 'बहुत विलम्ब हो चुका है।' फिर जब उस महिला को दूसरा बच्चा हुआ, तो वह तुरन्त अपने नवजात शिशू को गुरु के पास नैतिक शिक्षा हेतु ले गई। मगर इस बार भी गुरु ने अपना पुराना उत्तर ही दुहराया- 'बहुत विलम्ब हो चुका है।' तीसरी बार वह महिला गर्भाधान के साथ ही उस गुरु के पास गई तब गुरु ने प्रसन्नतापूर्वक उस गर्भस्थ भ्रूण को माँ के माध्यम से उपदेश दिया। गर्भावस्था में शिक्षा-प्राप्ति से जुड़ी महर्षि अष्टावक्र और वीर अभिमन्यु की कथा सुप्रसिद्ध है। स्वामी दयानंद ने उत्तम संतान की प्राप्ति हेतु दंपतियों को संयम एवं सदचरित्रता का पालन करने का निर्देश दिया है। उन्होंने माता-पिता के लिए गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गंध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों आदि को वर्जित बताया है। साथ ही इस अवधि में शांति, आरोग्य, पराक्रम, सुशीलता एवं ज्ञान-बुद्धि बढ़ाने वाले पदार्थों, यथा- घृत, दुग्ध आदि के सेवन पर बल दिया है।[३]

शिक्षा में माता-पिता और गुरु की भूमिका : शतप्रथब्राह्मण में कहा गया है कि जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य हो तभी मुनष्य ज्ञानवान होता है। अर्थात् बच्चों की शिक्षा में माता-पिता की महति भूमिका होती है। इसलिए, 'वह संतान बड़ा भाग्यवान है, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों।' जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। कहा भी गया है कि जितना माता अपने संतानों का हित करना चाहती है, उतना कोई अन्य नहीं।

दयानंद ने कहा है कि माता-पिता सदा उत्तम शिक्षा करें ताकि संतान सभ्य एवं सुसंस्कृत बनें और किसी प्रकार की कुचेष्टा न करने पाएँ। बच्चे-बच्चियों को प्रारंभ से ही सत्य-असत्य एवं नैतिक-अनैतिक का भेद कराना माता-पिता का अनिवार्य कर्तव्य है। जब बच्चे-बच्चियाँ पाँच वर्ष के हों, तब उन्हें सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा हिंदी (देवनागरी) और अन्य देशी भाषाओं (जो भी बच्चे-बच्चियों की मातृभाषा हो) के अक्षरों की पहचान कराई जाए। उसके पश्चात् बच्चे-बच्चियों को परिवार-समाज का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना चाहिए और प्रचलित अंधविश्वासों के प्रति सचेत करना चाहिए।[४] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वह माता-पिता अपने संतानों का वैरी है जिसने उसे समुचित शिक्षा नहीं दिलाई। क्योंकि, अनपढ़ लोग विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत होते हैं, जैसे हंसों के मध्य में बगुला। यही कारण है कि दयानंद ने वैसे राजनियम की वकालत की है कि माता-पिता पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे लड़के-लड़कियों को अनिवार्यतः पाठशाला भेजें। जो ऐसा न करें, उन्हें दंडित किया जाए।[५]

दयानंद का कहना है कि जन्म से ५वें वर्ष तक बच्चों को माता और ६-८ वर्ष तक पिता शिक्षा दें। फिर जब बच्चों को ९वें वर्ष में उत्तम आचार्यकुल में भेजा जाए, जहाँ विद्वान् एवं विदुषी पुरुष-स्त्री विद्यादान में लगे हों। उनका मानना है कि जो माता-पिता और आचार्य विद्याध्यन के दौरान विद्यार्थियों से अनावश्यक दुलार करते हैं वे अपने संतानों और शिष्यों को विष-पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट करते हैं। लेकिन, माता-पिता और गुरु अनुचित ताड़न न करें और बच्चों के प्रति समुचित प्रेम एवं कृपादृष्टि बनाए रखें। सचमुच सच्चा गुरु वही है, जो बाहर से तो कठोरता दिखाता है, लेकिन अंदर से दयालु होता है। इसलिए, दयानंद ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने के अधिकारी हैं। अतः, जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी एवं भ्रष्ट हों उनसे शिक्षण का काम नहीं कराया जाए।

पाठशालाएँ : दयानंद ने पाठशालाओं के सम्बन्ध में भी आवश्यक निर्देश दिए हैं और वहाँ अनुशासन एवं

सद्चरित्रता पर जोर दिया है। उनके अनुसार लड़के एवं लड़कियों के लिए अलग-अलग पाठशालाएँ रहे। उन पाठशालाओं को ग्राम एवं नगर से एक योजन (चार कोश) दूर किसी एकांत स्थान पर होना चाहिए। वहाँ सभी विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। सबों के वस्त्र, आसन एवं खान-पान एक जैसा सादगीपूर्ण होने चाहिए। चाहे राजकुमार-राजकुमारी हो या दरिद्र की संतान सबों को तपस्वी का जीवन व्यतीत करना चाहिए।[६] यहाँ आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों की शब्दावली में एक तरह से 'कॉमन स्कूल सिस्टम' का आदर्श व्यक्त किया गया है, जिसमें 'राष्ट्रपति का बेटा हो या भंगी की संतान सबको शिक्षा एक समान' का आदर्श है। दयानंद का कहना है कि पाठशालाओं में विद्यार्थियों को सांसारिक चिंता से पूरी तरह मुक्त रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। सामान्यतः विद्यार्थी ब्रह्मचर्य आश्रम में अपनी माता-पिता से न मिलें और न ही कोई पत्र व्यवहार करें। जब वे आचार्यकुल से बाहर भ्रमण को जाएँ, तो उनके साथ प्राध्यापक रहें, ताकि वे किसी भी प्रकार की कुचेष्टा नहीं कर सकें। उन्होंने कहा है कि बालकों की पाठशाला के लिए सभी अध्यापक एवं अनुचर पुरुष रहें और बालिकाओं की पाठशाला में स्त्रियाँ। बालकों की पाठशाला में कोई पाँच वर्ष की बालिका और बालिकाओं की पाठशाला में पाँच वर्ष का बालक भी न जाने पाए। जब तक विद्यार्थी ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मचारिणी रहें तब तक क्रमशः स्त्री एवं पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकांतसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा विषय का ध्यान और संग इस आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।[७] अध्यापक-अध्यापिकाएँ इस कार्य में बालक-बालिकाओं की मदद करें। जिससे उत्तम विद्या, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा की वृद्धि हो और शिक्षार्थी 'सा विद्या या विमुक्तए' का लक्ष्य प्राप्त कर सके।

पाठ्यक्रम : दयानंद का कहना है कि जो भी चीज पढ़ना-पढ़ाना हो, वह अच्छी प्रकार से परीक्षा करके तय करना चाहिए। यह परीक्षा पाँच[८] प्रकार से होती है- प्रथम, जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो, वह सत्य और उसके विरुद्ध असत्य है। द्वितीय, जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो वह असत्य है। तृतीय, 'आप्तवचन' अर्थात्, धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी एवं निष्कपटियों के कथन ग्राह्य है और जो-जो उनके विरुद्ध हैं, वे अग्राह्य हैं। चतुर्थ, जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों के बारे में भी सोचना चाहिए। पंचम, हमें आठों प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, एतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

दयानंद ने आचार्यों को तैत्तिरीय उपनिषद् की तरह यह निर्देश दिया है कि वे अपने शिष्य एवं शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करें कि तू सदा सत्य बोल। धर्माचार कर। प्रमाद रहित होकर पढ़। 'मनुस्मृति' के अनुसार भी कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि हम वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करें। क्योंकि, जो व्यक्ति धर्माचरण से रहित है, वह वेद प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता। उसके विपरीत जो विद्या पढ़कर धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।[१०]

शूद्रों को शिक्षा का अधिकार : दयानंद का कहना है कि सभी स्त्री और पुरुष, अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। उन्होंने इस बात का खंडन किया कि श्रुतियों में स्त्रियों एवं शूद्रों के लिए विद्याध्यन का निषेध किया गया है।[११] इसके विपरीत उन्होंने जोर देकर कहा कि श्रुतियाँ 'सा विद्या या विमुक्तए' का आदर्श प्रस्तुत करती हैं और यहाँ सबों को विद्याध्यन का अधिकार दिया गया है। अपनी बातों के समर्थन में उन्होंने यजुर्वेद के २६वें अध्याय का दूसरा मंत्र प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेश्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम) इस (कल्याणीम्) कल्याण, अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वायम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ वदानि) उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।[१२] इस मंत्र के आधार पर दयानंद इस बात पर जोर देते हैं कि परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियों और अतिशूद्रों सभी के लिए वेदों का प्रकाश किया है। सभी मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुना सकता है। अतः, जो लोग शूद्रों एवं स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन का निषेध करते हैं, दयानंद उनकी आलोचना करते हैं। वे सवाल उठाते हैं- क्या परमेश्वर शूद्रों का भला नहीं करना चाहता? क्या ईश्वर

पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् एवं श्रोत इंद्रिय क्यों रचता? संक्षेप में, जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चंद्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबों के लिए प्रकाशित किए हैं, वैसे ही वेद (ज्ञान) भी सबों के लिए प्रकाशित किए गए हैं।[१३] वेदों के साथ ही सभी वर्णों के लोगों को अपने 'स्वधर्म' से सम्बन्धित कर्मों की भी समुचित शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

दयानंद ने सभी वर्णों के लिए विद्याध्यन को आवश्यक बताया है। उन्होंने लिखा है कि आचार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास कराएं। क्योंकि यदि केवल ब्राह्मण ही विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म एवं धनादि की वृद्धि नहीं हो सकती। ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के अधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत परीक्षक दंडदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखंड ही में फँस जाते हैं। जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखंड, झठ आदि का सहारा नहीं ले पाते हैं। उसके विपरीत जब क्षत्रियादि अविद्वान होते हैं, तो ब्राह्मण अपनी मनमानी करते एवं कराते हैं।१४ अतः क्षत्रियादि सभी वर्णो का विद्याध्ययन करना ब्राह्मणों सहित पूरे समाज के हित में है।

स्त्री-शिक्षा : दयानंद ने स्त्री-शिक्षा की पुरजोर वकालत की है। मालूम हो कि प्राचीन भारतीय स्त्रियां ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ धनुर्विद्या एवं युद्धविद्या में भी प्रवीण होती थी। मैत्रायी, गार्गी, भारती आदि स्त्रियों की विद्वता सुप्रसिद्ध है। साथ ही हम जानते हैं कि कैकयी ने एक बार अपनी कुशलता से युद्धभूमि में राजा दशरथ के प्राणों की रक्षा की थी।

अथर्वेद में कहा गया है कि जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने प्रिय विद्वान (युवानम्) और पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विंदते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या ग्रहण करनेका अधिकार है।१५ इसी प्रकार 'श्रौतसुत्रादि' में कहा गया है कि स्त्रियाँ यज्ञ में मंत्रा पढ़ें। यहाँ दयानंद सवाल उठाते हैं कि यदि स्त्रियां वेदादि शास्त्रों को नहीं पढ़ी हो तो वह यज्ञ में स्वरसहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषण कैसे कर सकेगी? अतः, स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, गणित, पाककला, शिल्पकला आदि का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए।१६

वर्तमान संदर्भ एवं निष्कर्ष : हमारे देशभक्त स्वतंत्राता सेनानियों ने यह सपना देखा था कि आजादी के साथ ही भारत गुलाम एवं कलर्क पैदा करने वाली मैकाले की शिक्षा नीति से मुक्त हो जाएगा। लेकिन, ऐसा नहीं हुआ। स्वतंत्रा भारत की सरकारों ने भी अक्षर-ज्ञान एवं पश्चिमी विज्ञान को ही अपना आदर्श माना और तथाकथित प्रगतिशिलता के नाम पर नीति एवं धर्म से शिक्षा का संबंध-विच्छेद कर दिया। यह स्थिति आज भी कायम है। हमारी केंद्रीय एवं प्रांतीय सरकारें दर्शनशास्त्र एवं साहित्य आदि के अध्ययन-अध्यापन की उपेक्षा कर एमबीए, मैनेजमेंट आदि पाठ्यक्रमों को बढ़ावा दे रही है। हाल ही में लागू किए गए 'अनिवार्य शिक्षा अधिकार कानून' में भी नीति शिक्षा को बढ़ावा देने की बात नहीं है। साथ ही अंग्रेजी का भूत भी इसमें मौजूद है और राष्ट्रभाषा हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं के साथ सौतेला व्यवहार हुआ है।

कुल मिलाकर प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में सूचनाओं के बोझ से लदे 'गधे', लाखों रुपये महीने कमाने वाली 'मशीनें' पैदा करने की व्यवस्था भले हों। लेकिन, सही मायने में शिक्षित, संवेदनशील एवं सृजनशील 'मनुष्य' बनने-बनाने की कोई संभावना नहीं है। इसलिए, अब मनुष्य एवं मनुष्यता की रक्षा के लिए प्रचलित शिक्षा व्यवस्था पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। इस दिशा में हमें स्वामी दयानंद के शिक्षा दर्शन से मदद मिल सकती है। आइए हम मनुष्य बनें,१७ देव हितकारी, दिव्य-मानव को उत्पन्न करें।

संदर्भः

१. श्रीमद्‌भागवदगीता (यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'।)
२. सरस्वती, महर्षि दयानंदः सत्यार्थ प्रकाश, आर्य प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. २.
३. वही, पृ. २०.
४. वही, पृ. २१.
५. वही, पृ. २७.
६. वही, पृ. २६.
७. वही.
८. वही, पृ. ३७.
१०. मनुस्मृति
११. सरस्वती, महर्षि दयानंदः सत्यार्थ प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. ३७.
१२. यजुर्वेद, अध्याय-२६, मंत्रा- २.
१३. सरस्वती, महर्षि दयानंदः सत्यार्थ प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. ५०.
१४. वही, पृ. .
१५. अथर्वेद, अनु-३, प्र.- २४, का. ११, मं.- १८.
१६. सरस्वती, महर्षि दयानंदः सत्यार्थ प्रकाश, पूर्वोक्त, पृ. ३७ एवं ५०.
१७. ऋग्वेद, १०/५३/६. ('मनुर्भव जनमा दैव्यं जनम्'।)

***

शंकराचार्य एवं प्लेटो के अनुसार शिक्षा का अर्थ एवं उद्देश्य

गीता वी. पाल

दर्शन की सर्वदेशिता

तत्त्वचिन्तन एक जीवन चेतना, एक अन्तर्दृष्टि है। काल परम्परा की दृष्टि से अनादित्व इसका एक सिरा है तो अनन्तता दूसरा। यह पुरातन एवं नवीन, प्राच्य एवं पाश्चात्य से सर्वथा परे है, जीवन के परम यथार्थ को जानने का प्रयत्न है, परमसत्य और मानवीय चेतना में सहज सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है।

मानव जाति मूलतः एक है और यह किन्हीं गहरे मूल्यों से बँधी है। इसके बीच के अन्तर बाहरी और अस्थायी हैं। क्षेत्रवादी विभाजन एक सीमित दृष्टिकोण का परिचायक है। इस सन्दर्भ में पूर्व और पश्चिम शब्द भौगोलिक अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं और वैचारिक जगत् को दो भिन्न-भिन्न विभागों में विभाजित नहीं करते। यह हमारा भ्रममात्र है कि पश्चिमी दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और पूर्व दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। एक तर्कपरक, तो दूसरा धार्मिक है। परन्तु विज्ञान और धर्म हर संस्कृति के अंग होते हैं। केवल अन्तर अलग-अलग समय में इनकी प्रमुखता का है।

शिक्षा की सार्थकता का संकट

मनुष्य मूलतः पुनः रचयिता है और वह एक ही पद्धत्ति से कभी संतुष्ट नहीं रहता। शिक्षा एक पुनर्रचना का आधार है। शिक्षा का उद्देश्य कला एवं विज्ञान में प्रवीण बनाना ही नहीं, परन्तु उसका उद्देश्य मानव में जीवनादर्शों एवं निष्ठाओं के प्रति अनुराग जगाना भी है। वर्तमान में शिक्षा का कार्यक्षेत्र सीमित कर दिया गया है। नवीन विश्व समाज की संरचना को देखते हुए उसकी संगति न तो मानवतावादी भावना से बैठती है और न चिरन्तन मनस्विता से बैठती है। मूल्यहीन एवं दिशाहीन शिक्षा अपनी सार्थकता खो बैठी है। मनुष्य की पुनः प्रतिष्ठा नैतिक पतन की स्थिति में संभव नहीं है। अतः शिक्षा द्वारा आवश्यकता है मूल्य उद्भावना की, मानव-आत्मा को संस्पर्स करने की तथा ऐसे आदर्शों, प्रवृत्तियों और भावनाओं का संस्कार करने की जो क्षुद्र स्वार्थों से परे हो।

शिक्षा में मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न केवल वर्तमान युग का नहीं है परन्तु यह तो मानव के समक्ष चिरकाल से रहा है इसलिए प्रत्येक देश एवं काल के चिन्तक एवं विद्वान् इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। जिन महान् आचार्यों एवं विचारकों ने इस हेतु प्रयास किया है उनमें शंकराचार्य एवं प्लेटो का नाम अग्रगण्य है। दोनों ही चिन्तक इस मत के समर्थक हैं कि मानव आत्मा को खन्ड-खण्ड में नहीं, परन्तु सम्पूर्ण रूप में जानने की आवश्यकता है।[1]

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा की अवधारणा

शंकराचार्य की शिक्षा का मूलाधार वेदान्त का सिद्धान्त है। ज्ञान का अत्यन्त महत्त्व अद्वैतवेदान्त में है। आचार्य शंकर विचार और ज्ञान को अलग-अलग मानते थे। आचार्य ने विचार और ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि विचार

की प्रक्रिया में ज्ञान-साधक, 'मैं कौन हूँ?', 'यह जगत् कैसे बना?' आदि के उत्तर ढूँढ़ता है और कुछ निष्कर्षों को अपनी बुद्धिवृत्ति पर चढ़ाकर दृढ़ करता है जब कि ज्ञान वस्तु का साक्षात् बोध या उपलब्धि है।

आचार्य शंकर के अनुसार शिक्षा से अज्ञान दूर होता है और व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति होती है और वही उसके लिए मोक्षकारिका है।[२] केवलाद्वैत के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन विचार ही है। विचार अकलुष सात्त्विकी बुद्धि का परिणाम है अतः वह स्वप्रकाश नहीं है। अद्वैतवादी ज्ञान की स्थिति विचार से परे मानते हैं। उपनिषद् में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि यह आत्मा का बोध बड़े-बड़े प्रवचनों, तीव्र बुद्धि या चिह्न धारण करने से प्राप्त नहीं होता, यह तो आभ्यन्तर प्रकाश के क्षणों में प्राप्त होता है। बुद्धि की इन्हीं सीमाओं को देखकर अद्वैतवादियों ने तर्क के स्थान पर अन्तर्ज्ञान और वैज्ञानिकता के बजाए संश्लिष्ट अनुभूति, जिसे स्वयं वेद्य कहा गया है, पर बल दिया है।

ज्ञान का तात्पर्य शांकर दर्शन में केवल भौतिक पदार्थों को जानना नहीं है, परन्तु ब्रह्मात्मा को जानना ज्ञान है।[३] शांकर शिक्षा-दर्शन में ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मविद्या अथवा आत्मविद्या समानार्थक शब्द हैं। इस दृष्टि से शिक्षा वह है जिससे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, जगत्, स्थिति तथा लय के कारणीभूत ब्रह्म का ज्ञान होता है।

ज्ञान से आस्था आदि दोषों का निराकरण होता है और वह व्यक्ति के शोक-मोह आदि की भी निवृत्ति करता है। इसलिए जिससे मनुष्य के अज्ञान, शोक, मोह आदि की निवृत्ति होती है वह शिक्षा है।

ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध ही शांकर दर्शन के अनुसार ज्ञान है, अतः शिक्षा वह है जो आत्मा को परमात्मा और नर को नारायण बनाती है। आचार्य शंकर के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो मानव-समाज में व्याप्त नाना प्रकार की विषमताओं तथा विभिन्नताओं का शमन कर ऐक्य स्थापित करता हो।

शंकर के अनुसार मनुष्य मूलतः एक आध्यात्मिक प्राणी है। भ्रमवश वह स्वयं को मन, बुद्धि तथा शरीर आदि में सीमित मानता है। उसका यह वास्तविक स्वरूप नहीं है। वस्तुतः वह तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म है। इसी यथार्थ स्वरूप का अनुभव करना मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिए।[४] शिक्षा जहाँ मनुष्य को उसके यथार्थ स्वरूप की अनुभूति कराती है, वहाँ मन, बुद्धि, शरीर आदि में आत्मभाव की भ्रमपूर्ण कल्पना का निराकरण भी करती है।

गीताभाष्य में शंकराचार्य कहते हैं- शास्त्र और आचार्य के उपदेश से आत्मा-अनात्मा और विद्या-अविद्या आदि का जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है। इसका जो विशेष रूप से अनुभव होता है, वह विज्ञान है।[५] इसी ज्ञान और विज्ञान तक पहुँचाने वाली क्रिया शिक्षा है।

ज्ञान के सम्बन्ध में अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया ही शिक्षा है। अतः शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा एक मुक्तिपर्यन्त चलने वाली आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य में निहित ब्रह्मभाव का जागरण होता है, उसे अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है, जीव व जगत् के प्रति उसके व्यवहार तथा विचारों में निरन्तर परिवर्तन, परिमार्जन तथा संशोधन होता है और वह ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति के योग्य होकर सर्वत्र समदर्शन करने में समर्थ होता है।[६]

प्लेटो के अनुसार शिक्षा की अवधारणा

प्लेटो के अनुसार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो सम्पूर्ण जीवन को आवेष्टित कर जीव-पर्यन्त चलती रहती है। शिक्षा को मानव-कल्याण की भलाई के अभिन्न अंग के रूप में रिपब्लिक में स्वीकार किया गया है। प्लेटो निम्नलिखित शिक्षा-पद्धति का समर्थन करते हैं-

१. जो विकासशील आत्मा को पोषण दे सके तथा

२. वातावरण को उच्च आवश्यकताओं के अनुकूल समायोजित कर सके।

प्लेटो ने 'फिलोसॉफी' की मुख्य विशेषता ज्ञान या विवेक के प्रति प्रेम बताया है। शिक्षा केवल उस बुद्धि के सिद्धान्त को स्थापित करती है जो सहस्त्रों से अच्छा है- (Education, as he says, will implant a principle of intelligence which is better than thousand eyes.)[७]

रिपब्लिक में यह स्पष्ट किया गया है कि दुर्गुणों का कारण अज्ञानता है और इस अज्ञानता को शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है। प्लेटो ने शिक्षा को आत्मचक्षुओं को प्रकाश की ओर उन्मुख करने के रूप में व्यक्त किया है। (Education is represented by him not as the filling of vessel, but as the turning the eyes of the soul towards light)[८]

प्लेटो ने रिपब्लिक में 'फिलोसॉफी' को मस्तिष्क एवं अन्तिम सत्य की एकात्मकता के रूप में वर्णित किया है- (It is in the nature of the real love of learning to be ever struggling up to being and not to abide and not to be abide amongst the manifold and limited objects of opinion, he will go on his way, and the edge of his love will not grow dull and nor its force abate, until he has got hold of the nature of being with the part of his soul to which it belongs so to do, and that is the part which is akin to being: with this he will draw near and mingle being with being, and beget intelligence and truth, and find knowledge and true life and nourishment, and then not till then, he will cause from his travail.)[९]

प्लेटो के अनुसार 'Logos' अन्तिम वैचारिक सत्य केवल तर्क तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह शिव एवं सौन्दर्य पक्ष से भी सम्बद्ध है जैसा कि 'चार्मिडिज' के निम्नलिखित संवाद से स्पष्ट है- (Knowledge is not that which makes men act rightly and be happy, not even if knowledge include all sciences, but one science only, that of good and evil.)[१०]

प्लेटो ने अपनी शिक्षा-सिद्धान्त में एथेंस और स्पार्टा दोनों की प्रमुख विशेषताओं को सम्मिलित किया है। उनके अनुसार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है। (Education is indeed a social process, as such it is intended to adjust the individual to his society but is also a way to vision of the absolute truth, and that vision is the vision of the individual soul.)[११]

प्लेटो शिक्षा द्वारा मनुष्य का नैतिक विकास कर उसे आत्मा की अनुभूति करना चाहता था। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को पूर्णत: प्रदान करना था।

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का महत्त्व

यथार्थ मानव का निर्माण शिक्षा द्वारा होता है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य ऐसे सर्वप्रथम दार्शनिक विचारक थे, जिन्होंने मोक्ष को ज्ञानमूलक घोषित कर ज्ञान की सर्वोच्चता को इन शब्दों में स्थापित किया है- 'कोई व्यक्ति भले ही गंगासागर की तीर्थयात्रा करे, उपवास का आचरण करे अथवा दान करे किन्तु ज्ञान बिना सैकड़ों जन्मों में भी इन क्रियाओं से मोक्ष नहीं पा सकता।'[१२] विद्याबल अमर होता है। विद्या की श्रेष्ठता इस कारण भी है कि संसार में जितने सुन्दर पदार्थ हैं, उनमें विद्या सर्वाधिक सुन्दर है।

शांकर वेदान्त में शिक्षा का साधन होने से समाज तथा व्यक्ति के लिए वांछनीय तथा उपादेय है। मुक्ति का तात्पर्य केवल व्यक्ति के कल्याण तक ही सीमित नहीं है, परन्तु समाज का हित भी मुक्ति में निहित है। यही कारण है कि मोक्ष के साधन रूप में महापुरुष शिक्षा को अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त करते हैं जिससे अन्य लोग शिक्षा के उपार्जन में आदरपूर्वक प्रवृत्त हों।[१३]

शिक्षा का महत्त्व मनुष्य-निर्माण के लिए है। शिक्षा का प्रकाश व्यक्ति में तभी होता है जब उसके पापकर्म क्षीण हो जाते हैं। अत: दुष्कर्मों के क्षीण होने पर व्यक्ति सदाचारी बन जाता है, जिससे समस्त समाज में नैतिक मूल्यों का विकास होता है।

प्लेटो के अनुसार शिक्षा का महत्त्व

शिक्षा को प्लेटो ने एक महान् वस्तु माना है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा प्रथम तथा श्रेष्ठ वस्तु है जिसे सर्वोत्तम मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है। अपने शिक्षा-दर्शन में प्लेटो ने एक ओर समाज की सम्यक् उन्नति एवं स्थायित्व के लिए सुयोग्य नागरिकों के निर्माण में शिक्षा को सर्वोत्तम साधन माना है वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं यथा शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, सामाजिक, चारित्रिक, नैतिक एवं ाध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षा को सर्वोत्तम स्थान प्रदान किया है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा के बिना व्यक्ति कोई विकास नहीं कर सकता। निश्चित रूप से शिक्षा ही व्यक्ति को स्वशासन के योग्य बनाती है- यह दुर्गुण के जड़ पर प्रहार करती है। यह जीवन के प्रति सम्पूर्ण दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देती है। यही वह साधन है जिससे न्याय के सिद्धान्त की रक्षा होती है। यह व्यक्ति को सम्मति के आधार पर नहीं, बल्कि ज्ञान के आधार पर अपने कर्तव्यों की पूर्ति में सक्षम बनाती है। प्लेटो का विश्वास था कि दुर्गुण का कारण अज्ञानता है, अतः उसका उपचार शिक्षा ही है। प्लेटो ने अक्षमता को नष्ट करने तथा दक्ष लोगों द्वारा राज्य के संचालन हेतु शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की स्थापना के लिए शिक्षा में पूर्ण आस्था व्यक्त की है। प्लेटो को विश्वास था कि अच्छी शिक्षा द्वारा सभी प्रकार के सुधार संभव हैं। शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायता मिलती है।(Learning is always an extension of the organism self motion, an inner growth of self-mastery, from control over its environment, physical, social, moral and intellectual.)[१४]

संरक्षक वर्ग के लिए प्लेटो ने शिक्षा के महत्त्व पर सबसे अधिक बल दिया है। यही वह वर्ग है जिसके लिए जीवन-पर्यन्त शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। उनका कार्य पूर्णरूपेण शिक्षा पर निर्भर है। अतः अपने ज्ञान को अद्यतन बनाने के लिए प्लेटो ने उनके लिए निरन्तर ज्ञानार्जन आवश्यक बताया है। (' ... there is a conception that as the human soul is capable of growth, the work of education ought to go on. Education should be co-extensive with life, for education simply means keeping the soul alive.)[१५]

शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

शंकराचार्य के ग्रंथों में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों के निदर्शन होते हैं-

१. नित्यानित्य विवेक- हमारे अनुभव का जगत् वेदान्त के अनुसार दो वर्गों में बँटा हुआ है- १. अनात्मा और २. आत्मा।

शंकराचार्य के शब्दों में (ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका) युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचर विद्या आत्मा के ज्ञान की सूचक है, जबकि अविद्या के ज्ञान का सूचक है, विकासशील जगत् का और मर्त्य का सूचक है। शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा सर्वप्रथम व्यक्ति को आत्मा और अनात्मा का विवेक देती है। इसी को नित्यानित्य-विवेक शांकर दर्शन में कहा गया है। ब्रह्म नित्य है और जगत् अनित्य है। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चय है वही नित्यानित्यवस्तु विवेक कहलाता है।[१६] शिक्षा व्यक्ति को आत्मा तथा अनात्मा का यथावत् विवेक कराए तथा यह निश्चय कराए कि आत्मा का स्वरूप नित्य है और दृश्य वस्तु इसके विपरीत अनित्य होने से अनात्मा है, यह शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है।

यथार्थ तथा अयथार्थ की शिक्षा विभेदीकरण करती है। इस तथ्य को आचार्य शंकर मानते हैं और यह मत प्रकट करते हैं कि आत्मा यथार्थ है और आत्मा के अतिरिक्त शरीर, मन, बुद्धि तथा प्राण आदि एवं समस्त जगत् अयथार्थ है। इस प्रकार व्यक्ति में शिक्षा द्वारा ऐसी क्षमता का विकास होता है कि वह आत्मा को आत्मा के रूप में पहचानता है और अनात्मा को अनात्मा के रूप में पहचानता है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य है वस्तुतः यथार्थ को यथार्थ रूप में जानना और अयथार्थ को यथार्थ के रूप में जानना।

आत्मा तथा अनात्मा दो नहीं हैं। 'आत्मैवेदं सर्वं', यह सब केवल आत्मा ही है। इसलिए शिक्षा को व्यक्ति में ऐसी समझ का विकास करना होता है कि वह उपर्युक्त अनात्मा में निहित आत्मा को पहचान सके। यह तभी होगा जबकि व्यक्ति को शिक्षा द्वारा यह अनुभव हो जाए कि पदार्थों की जो प्रतीति होती है उनमें आत्मा का ही प्रकाशत्व है। आत्मा और अनात्मा के

विवेक में निश्चित ज्ञान होता है। अतः शंकराचार्य इसी आत्मा और अनात्मा के विवेक को ज्ञान की संज्ञा देते हैं और उनके अनुसार यही शिक्षा का उद्देश्य है।[१७]

२. ब्रह्म-साक्षात्कार

ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ है वृहत् अर्थात् महान् होने के कारण निरपेक्ष परम तत्त्व ही है। आचार्य शंकर तैत्तिरीयोपनिषद् का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि ब्रह्म जिसका लक्षण है वह महान् है। उसे जो जानता है वह ब्रह्मविद् कहलाता है। ब्रह्मतत्त्व ही वास्तविक है इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्मज्ञान है।

वेदान्त में ब्रह्म विचार का महत्त्व होने से ब्रह्मजिज्ञासा का अत्यधिक महत्त्व है। प्रथम ब्रह्मसूत्र के भाष्य में जिज्ञासा शब्द पर विचार करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है- 'अवगतिपर्यंत ज्ञानम् सनुवाच्याया इच्छायाः कर्म' अर्थात् जिज्ञासा शब्द का अर्थ वस्तु की अवगति उपलब्धि पर जाकर पूरा होता है। आचार्य कहते हैं- 'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवयन्तुमिष्ट ब्रह्म।' अतः आचार्य शंकर शिक्षा को ब्रह्मविद्या कहते हैं।[१८] शिक्षा का उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है। ब्रह्म एक समष्टिगत भाव है। व्यक्तिगत संकीर्णता, क्षुद्रता तथा ससीमता आदि सभी परिसमाप्ति ब्रह्म से हो जाती है। अतः आचार्य शंकर ब्रह्म को ही मोक्ष मानते हैं। 'ब्रह्म भावश्च मोक्ष'। व्यक्ति के समष्टि रूप में विकसित करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए जिससे ब्रह्म-साक्षात्कार और समष्टि विकास संभव हो सके।

३. आत्म-साक्षात्कार

आत्मा की व्युत्पत्ति करते समय शंकराचार्य निम्नलिखित श्लोक का उल्लेख करते हैं-

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान्तिह।
यच्चास्य संततोभावास्वस्यादात्मेतिं कीर्त्यते।।[१९]

अर्थात् यह सबको व्याप्त करती है (आप्नोति), ग्रहण करती है, (आदत्ते), इस लोक के विषयों को भोगती है (अत्ति) इसीलिए इसे आत्मा कहा जाता है। कठोपनिषद् भाष्य में वे कहते हैं कि आत्मा शब्द इस लोक में प्रत्येक अर्थात् सम्पूर्ण विषयों को जानने वाले के अर्थ में ही दृढ़ है। यह आत्मा स्वतःसिद्ध एवं स्व-प्रकाश है। इसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि निराकर्ता स्वयं आत्मस्वरूप है। अतः इसका साक्षात्कार शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। इस आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, इसका मनन करना चाहिए और निदिध्यासन द्वारा इसका साक्षात्कार करना चाहिए।

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।[२०]

अतः शांकर दर्शन में शिक्षा का यह प्रमुख लक्ष्य है।

४. अद्वैत भावना

'आत्मा च ब्रह्म'- ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य ही शिक्षा है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मां ब्रह्म' आदि महावाक्य ब्रह्म और आत्मा के एकत्व को बतलाते हैं। यही ब्रह्म और आत्मा का समन्वय अद्वैत कहलाता है। आचार्य केनोपनिषद् भाष्य में अद्वैत के स्वरूप पर लिखा है- 'इस प्रकार गुण-दोष को जानने वाले धीर ब्राह्मण लोग प्राणी-प्राणी में अर्थात् ममता अहंता रूप इस अविद्यात्मक लोक से उपरत होकर सबमें आत्मैक स्वरूप अद्वैतभाव को प्राप्त होकर अमर अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं। यह ब्रह्मात्मवाद आचार्य शंकर की शिक्षा का सार है। यही मोक्ष है यही उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है।[२१]

५. धार्मिकता

धर्म मनुष्य के समग्र अनुभव की महानतम उपलब्धि है। यह मानव-जीवन का वह गंभीरतम रूप है, जिसमें मानव-

जीवन के विभिन्न जटिल और संघर्षशील स्वरूप प्रतिबिम्बत होते हैं। धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। शिक्षा से धर्म का प्रचार-प्रसार होता है और धर्म से शिक्षा को मार्गदर्शन प्राप्त होता है। आचार्य शंकर के अनुसार धार्मिकता या आध्यात्मिकता से भिन्न कोई शिक्षा है ही नहीं। धर्म सामान्यतः कर्तव्य का पालन है। प्राणियों के सुखप्राप्ति का विधान धर्म है और शिक्षा मनुष्य को उसी विधान द्वारा सुखी बनाने का साधन है। शंकराचार्य के अनुसार धर्म जगत् की स्थिति तथा प्राणियों की उन्नति एवं मोक्ष का साक्षात् हेतु है। कल्याण की कामना करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी पुरुषों द्वारा इसका आचरण किया जाता है। शिक्षा का उद्देश्य वर्णाश्रम धर्मों के शिक्षण द्वारा मनुष्यों का धार्मिक विकास करना है। आचार्य शंकर की मान्यता है कि अपने वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करने से मनुष्य भगवान् को प्रसन्न कर लेता है और इसी से उसे वैराग्यादि साधन चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

आचार्य शंकर वेद प्रतिपादित आचार-व्यवस्था को धर्म मानते हैं। उनके अनुसार धर्म के तीन भाग हैं-

१. यज्ञ, अध्ययन और ज्ञान

२. तप और

३. आचार्यकुल में निवास करना।

यही उसका धार्मिक विकास है। इसी के लिए आचार्य ने अपनी शिक्षा को धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है।[२२]

६. मोक्षप्राप्ति

अपने हृदय और प्रेम, अपने मन और बुद्धि तथा अपनी इच्छा और शक्ति द्वारा सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिए आन्दोलन करना ही मनुष्यत्व की उच्च भावना है। आचार्य शंकर के अनुसार समस्त विचार चिन्तन तथा ज्ञान की प्रक्रिया का उद्देश्य मोक्ष है। शिक्षा द्वारा जब व्यक्ति की अविद्या का अपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा हो जाती है तो उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। यही सर्वात्मभाव व्यक्ति का मोक्ष है। शांकर-दर्शन में शिक्षा को ब्रह्मविद्या की संज्ञा प्राप्त है। ब्रह्मज्ञान की प्रवृत्ति का भी मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है।

शिक्षा का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति का विकास है। व्यक्ति से ऊँचा कुछ नहीं है, यह उपनिषद् हमें बताते हैं। परन्तु मनुष्य जिस शरीर को अपना रूप समझ लेता है वह तो आत्मा के प्रयोग का साधन मात्र है। आत्मा ही मनुष्य का सच्चा अस्तित्व है। जीवन को आत्मा की शक्ति और सच्चाई पर आधारित कराना ही मोक्ष या आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। शिक्षा व्यक्ति के अज्ञान का निराकरण कर उसमें आत्मज्ञान का विकास करती है। भ्रमजन्य अज्ञान का आवरण दूर करना ही मुक्ति है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में निहित मुक्तावस्था का प्रकाशन है, अतः ज्ञान को साक्षात मोक्षप्राप्ति का साधन माना जाता है।[२३]

प्लेटो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

१. आत्मानुभूति- प्लेटो के अनुसार परिस्थितियों की दो श्रेणियाँ हैं- क. अदृष्ट जो सब प्रकार के परिवर्तन से परे होता है और ख. दृष्ट जो निरंतर बदलता रहता है।

आत्मा अमर है, ऋजु है, अविच्छेद्य है, अमृत है- (The soul through all her being is immortal, for that which is ever in motion is immortal, but that which moves another and is moved by another, in ceasing to moves ceases also to live. Only the self moving, never leaving self, never ceases to move, and is the fountain and beginning of motion to all that moves besides.)[२४]

शरीर विच्छेद्य है, जटिल है, मर्त्य है। जब आत्मा संवेदनाओं में घूल-मिल जाती है, तब वह परिवर्तनशील जगत् में खो जाती है, जब वह अपने को संवेदनाओं से, ज्ञानेन्द्रियों से हटा लेती है, तब वह शुद्ध चिरन्तन, अपरिवर्तनीय जगत् के दूसरे क्षेत्र में चली जाती है। फीडो नामक ग्रंथ में प्लेटो शाश्वत जीवन का एक वर्णन देता है जब आत्मा अपने आत्मस्वरूप

में लौट आती है और ध्यानस्थ होती है, तब वह एक-दूसरे ही क्षेत्र में चली जाती है, वह क्षेत्र शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अमर तथा अपरिवर्तनीय होता है, वहाँ रहते हुए आत्मा अनुभव करती है कि मानो वह अपने ही सगोत्र लोगों के बीच हो, वहाँ वह अपने ही नियंत्रण में रहती है और अपने भटकने से विश्राम मिल जाता है, वहाँ वह अपने आप में स्थिर तथा एक हो रहती है, ठीक वैसे ही जैसे वे वस्तुएं होती हैं जिनसे उनका पाला पड़ता है।[२५]

२. आध्यात्मिक उद्देश्य- प्लेटो मानव जाति की तुलना उन मनुष्यों से करते हैं जो बेड़ियों से जकड़े हुए गुफा में बैठे हैं, प्रकाश की ओर उनकी पीठ है और छाया दीवार पर पर रही है, अपनी उन छायाओं को देखकर वे सोच रहे हैं कि वे छाया नहीं वास्तविक वस्तुएं हैं। हम सभी गुफा के अंधकार में रहते हैं और उसमें से निकलकर सत्य के प्रकाश में आने का इंतजार करते रहते हैं। सामान्य हमारी आत्माएं जकड़ी हुई हैं। यदि हम किसी चीज का विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें देह-धारण से अपना पिण्ड छुड़ाना होगा।' ज्ञानेन्द्रियों का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है। जब आत्मा स्थूल शरीर से अपने को हटा लेती है और ज्ञानेन्द्रियों से अबाधित होकर अपने आप में डूबकर विचार करती है, तब वह अदृष्ट सत्य को पकड़ पाती है। विवेक (ज्ञान) का अनुशीलन 'आत्मा को शरीर के बन्धन से शिथिल करना है या बिल्कुल मुक्त करना है। यही शिक्षा का उद्देश्य है। फीडो में आद्यन्त यही विचारधारा व्याप्त है कि शरीर भारस्वरूप है और बुराई का साधन है। अत: आत्मा को इससे अपने को छुड़ाने के लिए विशुद्ध बनने की चेष्टा करनी चाहिए। यह बात यूनानी भावना से बुनियादी तौर पर विपरीत है। यूनानी लोग इन सारी चीजों में आनन्द लेने की चेष्टा करते थे जिनसे इन्द्रियों को सुख मिलता था और संवेगों को संतुष्टि प्राप्त होती थी।

प्लेटो की आदर्शवादी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन की समृद्धि पर बल देना है। शिक्षा द्वारा आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व पर इस प्रकार बल दिया जाए जिसको प्राप्त करने पर मनुष्य केवल यही न समझ सके कि मैं अस्थिचर्मयुक्त शरीरधारी मात्र हूँ, परन्तु यह अनुभव करे कि मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ और देवत्व प्राप्त करने की निस्सीम शक्तियों से परिपूर्ण हूँ।[२६]

३. सत्यं शिवं सुन्दरं- प्लेटो जिन चिरन्तन सत्यों को आदर्श रूप में स्वीकृत करते हैं वे सत्य, शिव तथा सुन्दर हैं। इनका आधार आध्यात्मिक है। इनकी प्राप्ति एक प्रकार से ईश्वर की प्राप्ति है। सत्यं शिवं सुन्दरं की अनुभूति द्वारा व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त करता है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य वातावरण के मध्य आत्मा का विकास है। शिक्षा का चरम लक्ष्य आत्मा के समक्ष शिव के विभिन्न पक्षों को उपस्थित करना है, क्योंकि सौन्दर्य एक निश्चित रूप में कल्याणकारी है उसी प्रकार सत्य भी। शिव प्रकाश का सर्वोच्च स्रोत है। इस विश्व में सत्य एवं सुन्दर उसका प्रकाशन है और शिक्षा अपने महानतम रूप में इसी शिवं का ज्ञान है। नेटिलशिप ने रिपब्लिक में प्लेटो द्वारा प्रस्तुत शिवं की व्याख्या इस प्रकार की है-('... the good' is regarded from an ethical, a logical or a metaphysical and a religious point of view. And firstly, the good is that which every soul pursues, and for the sake of which all men more or less feel themselves ti have, but which very few could clearly conceive or could clearly express, it is that which makes everything which we seem worth doing, and everything which we seem worth processing, that about which no one would willingly deceive himself but of which everyone says or think, this at least is something is real, and this is what I really live for.)[२७]

प्लेटो ने शिवं को केन्द्रीय गुण माना है, सत्यं एवं सुन्दरं भी अपने अस्तित्व के लिए शिव पर ही आश्रित हैं। अत: सत्यं शिवं सुन्दरं वह शाश्वत मूल्य है जो शिक्षा का अभिप्रेत है और शिवं का मूल्य इन सबके केन्द्र में है।

४. नैतिकता का उद्देश्य- प्लेटो सभी शुभों को एक ही उद्देश्य का पूरक मानते हैं और वह उद्देश्य जीवन की पूर्णता है। फिलेक्स में वह पूर्णता को नैतिक गुण की प्रकृति मानते हैं। प्लेटो द्वारा वर्गीकृत शुभों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि प्लेटो बौद्धिक संतुलन को मानव जीवन का मुख्य ध्येय अथवा परम शुभ मानते हैं। संतुलित मन से योग्यायोग्य का विचार कर लिए जाने वाले कार्य नैतिक आचरण के अन्तर्गत आते हैं। प्लेटो की नैतिकता का केन्द्र-बिन्दु भी शिव है। यह

नैतिकता आचरण और ज्ञान दोनों में अपेक्षित है। (It is the perception of 'the good', and then which is required to complete the morality, to do away with the vagueness, aimlessness, the blindness, the fragmentariness of life, and to give it unity, completeness and decision. But Plato sees it in the condition, not only of conduct, but of knowledge also, what the sum is in the world of visible objects, that he conceived the 'good' in the sphere of intelligence.)[२७]

प्लेटो के अनुसार न्याय विवेक, साहस एवं आस्वाद का मिश्रित गुण है। प्लेटो का विश्वास है कि शिक्षा व्यक्ति को उसकी अभिक्षमता के अनुसार शिक्षित कर सकती है। अतः प्लेटो के अनुसार शिक्षा का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य सत्य, ज्ञान एवं मूल्यों के प्रति समुचित दृष्टिकोण उत्पन्न करना होना चाहिए। यही प्लेटो की नैतिकता का मुख्य अभिप्रेत है।

५. सामरस्य का उद्देश्य- प्लेटो की सम्पूर्ण शिक्षा-प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति और समाज का सामरस्यपूर्ण विकास करना है। वह शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार निश्चित करना चाहते हैं कि गुणी व्यक्ति में और अधिक गुण का विकास हो। उनका विश्वास था कि गुणी व्यक्ति ही नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। मनुष्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय उन्होंने इच्छा भावना और कार्य के अनुसार मनुष्य के तीन गुणों की ओर संकेत किया। अपने विशालतम रूप में मनुष्य बुभुक्षा या अस्वाद है, द्वितीय तत्त्व के रूप में उसमें स्वाग्रह या आत्मचेतना है जो विविध विशेषताओं यथा साहस या क्रूरता, उच्चाकांक्षा या प्रतिद्वन्द्विता और कभी-कभी अधमता जैसी अतार्किक प्रवृत्ति को जन्म देता है। अन्तिम तत्त्व के रूप में उसमें आकर्षण एवं सम्मान की क्षमता है जो एक ओर प्रेम, नम्रता, सामाजिकता और दूसरी ओर परिष्कृति, संस्कृति एवं प्रज्ञा के रूप में प्रतिफलित होता है। इच्छा या बुभुक्षा का गुण आत्मसंयम है। बिना आत्मसंयम के मनुष्य अपनी इच्छा या तृष्णा का दास हो जाता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य आत्मसंयम का विकास होना चाहिए। भावना, जिसका कि सम्बन्ध हृदय से है, उसका प्रधान गुण साहस और सहनशीलता है। बिना साहस, धैर्य और सहनशीलता के व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति के इन गुणों का भी विकास होना चाहिए। मनुष्य के ज्ञान से सम्बन्धित गुण विवेक या विचार है। अतः शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को विचारशील या विवेकी बनाना होना चाहिए। (The Education is a method for providing the natural and proper nurture for the souls in question … and its main object is to predispose of which it does not as yet understand the full bearing but upon which it will afterwards find that the welfare of itself and society depends.)[२९]

इस प्रकार प्लेटो की शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति एवं समाज के विभिन्न तत्त्वों में संतुलन स्थापित कर दोनों का सामंजस्यपूर्ण विकास करना है।

६. राज्य के हितों की रक्षा- प्लेटो की सम्पूर्ण शिक्षा योजना राज्य की उन्नति के लिए है। सोफिस्टों ने यूनान में व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया था। प्लेटो ने व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों का सुन्दर विवेचन किया और राज्य को अवयवी तथा व्यक्ति को उसका अवयव बताया। उन्होंने आत्मा के तीन वर्गों के आधार पर राज्य के लोगों का विभाजन किया है- १. तृष्णा, २. संकल्प और ३. विवेक।

प्लेटो का मत है कि 'तृष्णा' की विशेषता वाला वर्ग उत्पादकों का है जिसमें किसान, दुकानदार तथा व्यापारी आदि आते हैं, 'संकल्प' की विशेषता वाला वर्ग सैनिकों का है जिसका कार्य सुरक्षा एवं शांति स्थापना है। विवेक की विशेषता वाला वर्ग संरक्षकों का है- यह राज्य का प्रथम वर्ग है। इस वर्ग का कार्य शासन एवं राज्य की सेवा करना है। प्लेटो का कथन है कि राज्य की एकता हेतु इन तीनों वर्गों में सामंजस्य आवश्यक है, क्योंकि जब ये तीनों वर्ग एक-दूसरे के साथ मिलकर कार्य करेंगे तो राज्य की उन्नति होगी। प्लेटो के इस विचार पर प्रकाश डालते हुए डीवी ने लिखा है कि किसी ने भी प्लेटो की अपेक्षा इस बात को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट नहीं किया कि समाज उस समय स्थायी रूप से संगठित होता है जब प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का कार्य करता है कि दूसरों को लाभ पहुँचे। प्रत्येक व्यक्ति में ऐसे कार्य करने की मनोवृत्ति

पाई जाती है। अतः शिक्षा का कार्य है कि वह उन मनोवृत्तियों की खोज करे और उन्हें सामाजिक कार्य हेतु प्रशिक्षित करे। इस प्रकार प्लेटो ने तत्कालीन सोफिस्टों के प्रभाव से युवकों में बढ़ते आत्यन्तिक व्यक्तिवाद एवं स्वार्थसाधना का विरोध किया तथा शिक्षा द्वारा सहयोगी एवं सामुदायिक जीवन के विकास पर बल दिया जिसके लिए राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा-पद्धत्ति को उसने प्रमुख साधन बताया है। प्लेटो के अनुसार 'शिक्षा सामाजिक पवित्रता और सत्य की अनुभूति का साधन है जिससे कि मनुष्य के मस्तिष्क पर छाए हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान की ज्योति जलाई जा सकती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक वर्गों का कर्तव्य-पथ प्रशस्त और प्रकाशित होता है और समाज की एकता और व्यवस्था को निरन्तर बनाए रखा जा सकता है।[३०]

इस प्रकार प्लेटो ने शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों को महत्त्व देकर समाज एवं व्यक्ति के सामंजस्यपूर्ण विकास का पथ प्रशस्त किया है। शंकराचार्य के शैक्षिक दर्शन में वैयक्तिक उद्देश्यों का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है तथा प्लेटो की शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया गया है, तथापि शंकराचार्य ने शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की तथा प्लेटो ने वैयक्तिक उद्देश्य की उपेक्षा नहीं की है। प्लेटो ने आदर्श नागरिक के विकास में आत्मानुभूति एवं आध्यात्मिक के पक्षों को भी ध्यान में रखा है। इसी प्रकार जब आचार्य शंकर मनुष्य में मुक्ति की क्षमता एवं ऐक्य की भावना को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में निरूपित करते हैं तो उनमें सामाजिक उद्देश्यों की उदभावना भी स्पष्ट हो जाती है। शिक्षा द्वारा जब व्यक्ति की अविद्या का अपकर्ष तथा विद्या की पराकाष्ठा हो जाती है तो उसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। सर्वात्मभाव त्याग एवं संन्यास भावना पर आधारित है। इस दृष्टि से प्लेटो का आदर्श भगवद्गीता के कर्मयोग के आदर्श के निकट है। यद्यपि जब शंकराचार्य शरीर में ही मुक्ति की कल्पना करते हैं तो उनका आशय मानव की समाजनिष्ठा से ही है। अतः दृष्टिभेद होने पर भी दोनों मनीषियों ने शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों पर बल दिया है।[३१]

सन्दर्भ:

१. *शर्मा किरण, शंकराचार्य एवं प्लेटो : एक शैक्षिक दृष्टि, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, सं. २००७, पृ. १-२*

२. *शांकरभाष्य, केनोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर पृ. ८३*

३. *शांकरभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०२९, पृ. २४१*

४. *स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, सं. २०२८, गोविन्दमठ, टेड़ीनीम, वाराणसी, पृ. २९*

५. *गोयन्दका हरिकृष्णदास, श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०२८, पृ. १०४*

६. *वैदिक वेदवती, श्वेताश्वतर उपनिषद्, शांकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. १९८४, पृ. १२६*

७. *जावेट बी., द वर्क्स ऑफ प्लेटो, ट्यूडर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, सं १९५३, पृ. २६३*

८. *वही, पृ. २६४)*

९. *नेटलिशिप आर. एल. द थ्योरी, प्लेटो एण्ड हिज प्रेडीसेसर्स, सं. १९१९, द मैकमिलन कं. लंदन, पृ. २५*

१०. *चार्मिडीस, ग्रेटबुक्स ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड, वाल्यूम VII, सं. १९७७, जावेट बी द्वारा अनूदित, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ. १२)*

११. *बार्कर अर्नेस्ट, ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी, प्लेटो एण्ड हिज प्रेडीसेसर्स, सं. १९६९ ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १८२)*

१२. *भगवत एच. आर, श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ संग्रह, सं. १९२५, पूना, पृ. ९४)*

१३. *शांकर भाष्य, मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. २०१३, पृ. २२*

१४. *लाज, पृ. १८७*

१५. नेटलिशिप आर. एल., लेक्चर्स ऑन द रिपब्लिक ऑफ प्लेटो, सं. १९६८ लार्ड चर्नबुड मैकमिलन पृ. २९२)

१६. श्री शंकराचार्य विवेकचूड़ामणि, सं. २०१०, गीता प्रेस, गोरखपुर, श्लोक २०

१७. भगवत एच. आर, श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ संग्रह, सं. १९२५, पूना, पृ. ४२)

१८. शांकरभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, सं. २०२९, गीता प्रेस, गोरखपुर पृ. २४१

१९. जोशी वसुदेव, कठोपनिषद्, शांकरभाष्य, सं. १९५८, गीता प्रेस गोरखपुर २.१.१

२०. शांकरभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, सं. २०२९, गीता प्रेस, गोरखपुर १.४.१०

२१. शांकरभाष्य, केनोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. ९१)

२२. शांकरभाष्य, छान्दोग्योपनिषद्, सं. २०२९, गीता प्रेस, गोरखपुर पृ. १५५

२३. भगवत एच. आर., श्री शंकराचार्य विरचित प्रकरण ग्रंथ संग्रह, सं. १९२५, पूना, पृ. ४३

२४. चार्मिडीस, ग्रेटबुक्स ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड, वाल्यूम इइ, सं. १९७७, जावेट बी. द्वारा अनूदित, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ. १२४

२५. चार्मिडीस, ग्रेटबुक्स ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड, वाल्यूम II, सं. १९७७, जावेट बी द्वारा अनूदित, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ. ३८९-३९०

२६. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विचारक, पृ. १६३

२७. नेटलिशिप आर. एल. द थ्योरी, प्लेटो एण्ड हिज प्रेडीसेसर्स, सं. १९१९, द मैकमिलन कं. लंदन पृ. २५

२८. वही, १४९

२९. वही, पृ. १९

३०. बार्कर अर्नेस्ट, ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी, प्लेटो एण्ड हिज प्रेडीसेसर्स, सं. १९६९ ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १८२

३१. राठौर कुसुम लता, शंकराचार्य व समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिकों की शैक्षिक विचारधारा, अनु बुक्स, शिवाजी रोड, मेरठ, पृ. १३७

***

लेखकीय संदर्भ

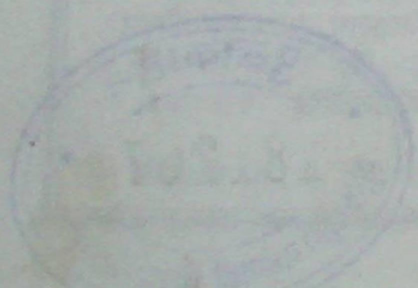
* **अनुभव द्विवेदा**, शोध छात्र (जे.आर.एफ., नेट), बी. एन. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा (झारखण्ड)
* **अभय कुमार सिंह**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, आर. एन. कॉलेज, हाजीपुर (बिहार)
* **अमिता पाण्डेय**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
* **अरविन्द विक्रम सिंह**, असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)
* **अरुण कुमार सिंह**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. कालेज, कानपुर (उ.प्र.)
* **अविनाश कुमार श्रीवास्तव**, आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, नालन्दा कालेज, बिहारशरीफ, नालन्दा (बिहार)
* **अशोक कुमार जैन**, अध्यक्ष, जैन एवं बौद्ध दर्शन विभाग, सं.वि.धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **आचार्य कनकनन्दी**, दिगम्बर जैन आचार्य
* **आभा अखौरी**, एसोसिएट प्रोफेसर दर्शनशास्त्र विभाग, गंगा देवी महिला कॉलेज, पटना (बिहार)
* **आभा सिंह**, प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, ए. एन. कालेज, पटना (बिहार)
* **आभास कुमार**, व्याखाता, दर्शनशास्त्र विभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय, नालंदा (बिहार)
* **आर. के. देसवाल**, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
* **आशीष कुमार**, शोधछात्र, संस्कृत विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **कमला कुमारी**, प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, बी. आर. ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)
* **किरन वरूण**, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
* **किस्मत कुमार सिंह**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, एच. डी. जैन कालेज, आरा (बिहार)
* **गीता मेहता**, निदेशक, के. जे सोमैया सेंटर फॉर स्टडीज इन जैनिज्म, मुम्बई (महाराष्ट्र)
* **गीता वी. पाल**, शोध छात्रा, दर्शनशास्त्र विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)
* **चन्द्रभूषण सिंह**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कालेज, सीवान (बिहार)
* **जयन्त उपाध्याय**, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **दिलीप चारण**, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)
* **दिव्या राय**, शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.)

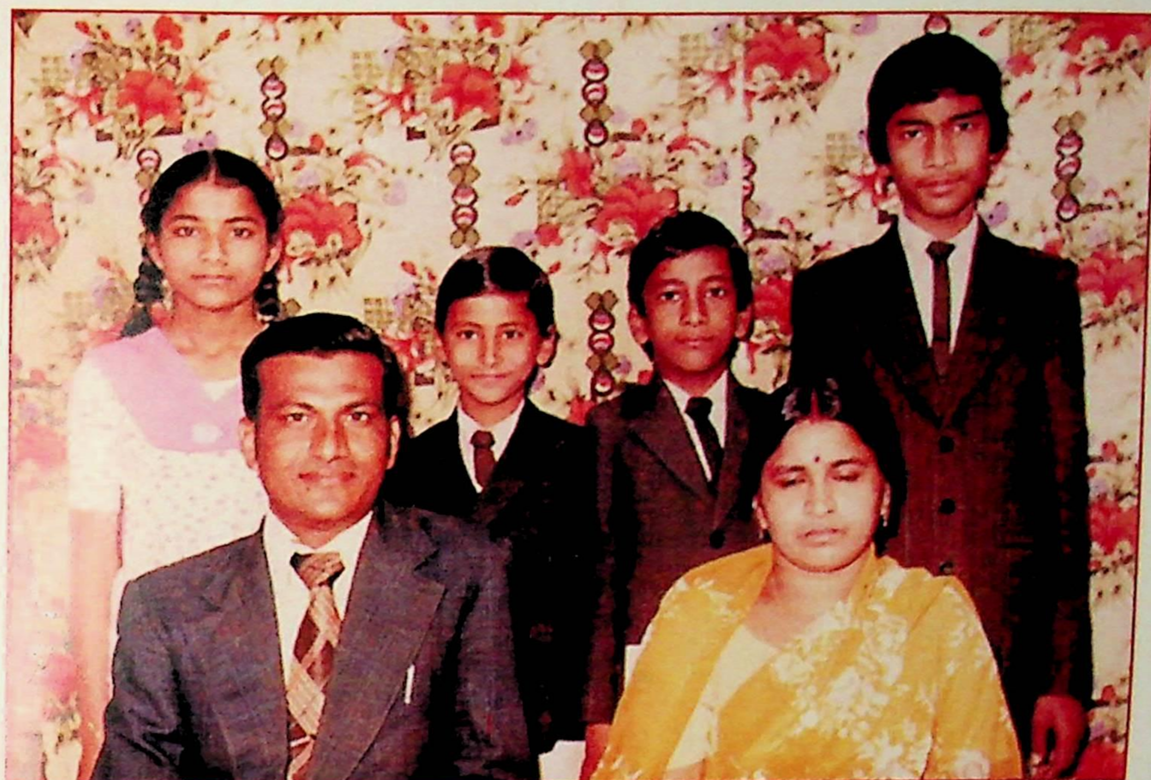
* **दीपक रंजन**, जेनरल फेलो, (आई.सी.पी.आर.) दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसा (उ.प्र.)
* **धीरज कुमार दुबे**, शोधछात्र, धर्मागम विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **नवीन कुमार श्रीवास्तव**, शोध सहायक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (उ.प्र.)
* **नागेन्द्र तिवारी**, सहायक प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, मुरारका कॉलेज, सुलतानगंज (बिहार)
* **नागेन्द्र मिश्र**, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग रामेश्वरदास पन्नालाल महिला महाविद्यालय पटना सिटी (बिहार)
* **परमेश तिवारी**, शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कलासङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **पीयूष कुमार सिंह**, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
* **बच्चा प्रसाद**, शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)
* **बिनोद कुमार सिंह**, प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, शिब्ली नेशनल पी. जी. महाविद्यालय, आजमगढ़ (यू.पी.)
* **भूपेन्द्र एम. गजेरा**, दर्शनशास्त्र विभाग, नलिनी-अरविन्द आर्ट्स कालेज, वल्लभ विद्यानगर (गुजरात)
* **मनोज कुमार**, मोतोहारो
* **मनोज कुमार तिवारी**, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग सिन्दरी कॉलेज, सिन्दरी (झारखण्ड)
* **मुकुल राज मेहता**, प्रोफेसर, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **मृत्युंजला कुमारी सिन्हा**, जेनरल फेलो, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली
* **रंजय प्रताप सिंह**, एसोसियेट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, दयानन्द एग्लों-वैदिक कालेज, कानपुर (उ.प्र.)
* **रज्जन कुमार**, अध्यक्ष, अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मा ज्योति राव फूले विश्वविद्यालय, बरेली (उ.प्र.)
* **रमेश चन्द्र सिन्हा**, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार)
* **राजेश कुमार**, शोध छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)
* **रामनारायण मिश्र**, शोध-छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **ऋषभचन्द्र जैन, 'फौजदार'** निदेशक प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार)
* **ऋषि कान्त पाण्डेय**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
* **लालती मेहता**, असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, ए. एन सिन्हा कालेज, औरंगाबाद (बिहार)
* **विजय कान्त दुबे**, एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, काशी नरेश राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, ज्ञानपुर, सन्त रविदासनगर, भदोही (उ.प्र.)
* **विजय कुमार**, निदेशक, आर.एस. शोध संस्थान, एन.४/४बी-४आर, कृष्णपुरी, करौंदी, वाराणसी (उ.प्र.)

* **विश्वनाथ चौधरी**, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राकृत-जैनशास्त्र विभाग, हरप्रसाद दास जैन महाविद्यालय, आरा (बिहार)
* **शालिगराम अहिरवार**, शोध-छात्र, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
* **शैल कुमारा**, सह उपाचार्या, दर्शनशास्त्र विभाग, लंगट सिंह महाविद्यालय मुजफ्फरपुर (बिहार)
* **श्रीकान्त मिश्र**, अद्वैत वेदान्त दर्शनशास्त्र विभाग अ. प्र. सिंह विश्वविद्यालय, रीवां (म.प्र.)
* **श्याम रंजन प्रसाद सिंह**, एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.एम.डी. कॉलेज, दयालपुर, वैशाली (बिहार)
* **श्यामल किशोर**, एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, टी.पी.एस. कॉलेज, पटना (बिहार)
* **सचिन खोकले**, अध्यक्ष, तत्त्वज्ञान विभाग, कला वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, गंगाखेड़, परभणी (महाराष्ट्र)
* **समणी संगीत प्रज्ञा**, एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन विश्वभारती विश्वद्यिालय, लाडनूं
* **सरिता कुमारी**, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, योध सिंह नामधारी महिला महाविद्यालय, नीलाम्बर-पिताम्बर वि.वि., पलामू (झारखण्ड)
* **सरोज कुमार वर्मा**, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.आर.ए.बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार)
* **सागरमल जैन**, संस्थापक निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
* **साधना जनसारी**, अतिथि व्याख्याता संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)
* **सोमनाथ नेने**, आचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)
* **सुधा चौधरी**, सह आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)
* **सुधा जैन**, संयुक्त निदेशक, आर.एस. शोध संस्थान, वाराणसी (उ.प्र.)
* **सुधांशु शेखर**, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)
* **सुनन्दा कुमारी**, वरिष्ठ व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, एस.एस.एल.ए.टी. महिला महाविद्यालय, धनबाद (झारखण्ड)
* **सुनीता कुमारी**, विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, बी.एस. एम. (पी.जी) कॉलेज, रूड़की (उ.प्र.)
* **सुनील कुमार सिंह**, असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, राज नारायण महाविद्यालय, हाजीपुर (बिहार)
* **सुभाष चन्द्र शाक्य**, अतिथि-व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
* **हिमांशु शेखर सिंह**, दर्शनशास्त्र विभाग, बी. आर. ए. बी. यू., मुजफ्फरपुर (बिहार)
* **हिमांशु शेखर सिंह**, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार)
* **ज्ञानञ्जय द्विवेदी**, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.एस. कालेज, सुपौल (बिहार)

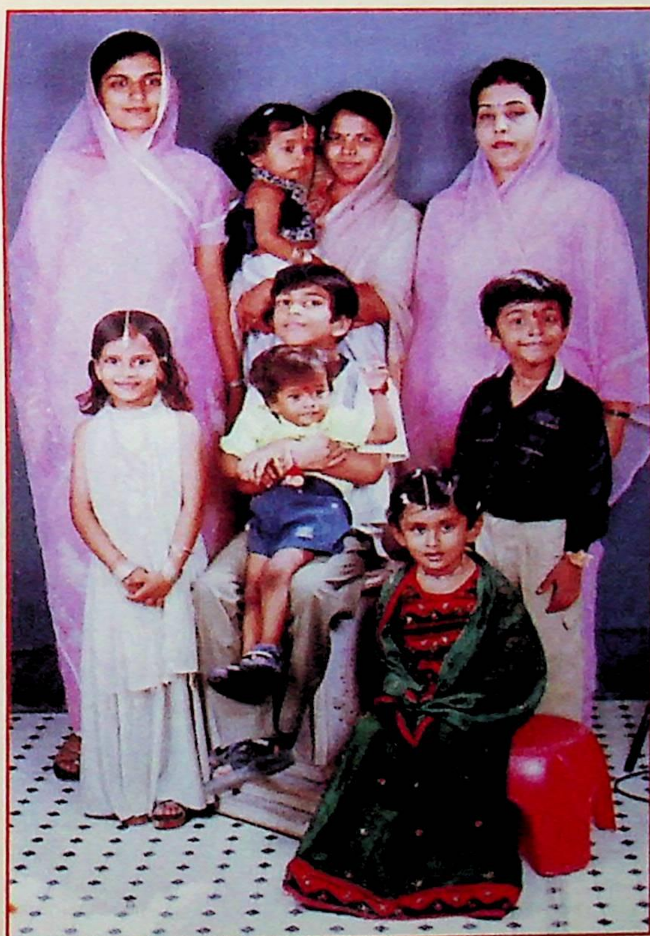
***







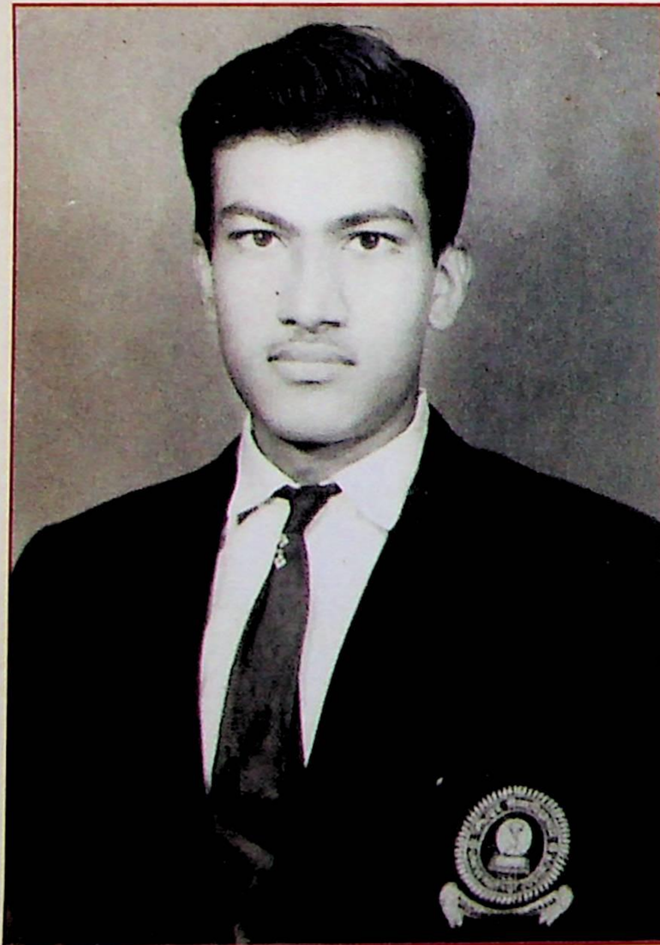
Young Sohan Raj Tater with his Wife and Children



Daughter in Laws
and
Grand Sons,
Grand Daughters
of
Sohan Raj Tater



Sohan Raj Tater as Secretary of Student Union
Mahesh Higher Secondary School, Jodhpur with Principal
& other Members of Student Union in the year 1961-62



Sohan Raj Tater
While Pursuing Engineering
at M.B.M. Engineering College,
Jodhpur (Raj.) during 1964



Engineer Sohan Raj Tater in the Final Year of Mechanical Engineering of M.B.M. Engineering College, Jodhpur (Group Photo) Year 1969



Sohan Raj Tater Assistant Engineer P.H.E.D. with his higher officers at Bikaner in 1974



Sohan Raj Tater Assistant Engineer P.H.E.D. with his higher officers Chief Engg., Supdt. Engg. during serious discussion in 1975 at Bikaner



Sohan Raj Tater With Shri Khetsingh Rathore, P.H.E.D. Minister Raj. during inspection in 1976 at Bikaner (Raj.)



Engineer Sohan Raj Tater with other Engineers & employees of P.H.E.D. Bikaner in the Year 1976



Sohan Raj Tater getting Govt. Award for excellent services as Executive Engineer P.H.E.D. from Collector, Churu on 15-8-1985



Engineer Sohan Raj Tater with other Engineers & employees of P.H.E.D. Churu in the Year 1981



Engineer Sohan Raj Tater in the farewell of Shri Surjeet Singh Executive Engineer, P.H.E.D. Churu in the year 1983



Sohan Raj Tater during a function of House opening at Jasol (Raj.) in 1990



Sohan Raj Tater being Farewelled by his P.H.E.D. Staff and officials as Executive Engineer, Jodhpur (Raj.) in June 1990



Sohan Raj Tater as Executive Engineer P.H.E.D. with Collector Barmer Joining his duty by helicopter at Balotra (Raj.) during heavy flooding on 07-07-1990



Sohan Raj Tater With his Award "Yuvak Ratna" felicitated at New Delhi on 1987 with his Father in presence of H.H. Acharyashri Tulsi



Sohan Raj Tater With his father & two uncles during a programme at his birth place Kanor for handing over Secondary School built by his family to Govt. in 2000



Sohan Raj Tater delivering speech in Seminar organized by A.B.T.Y.P. at Jaipur in May 2005



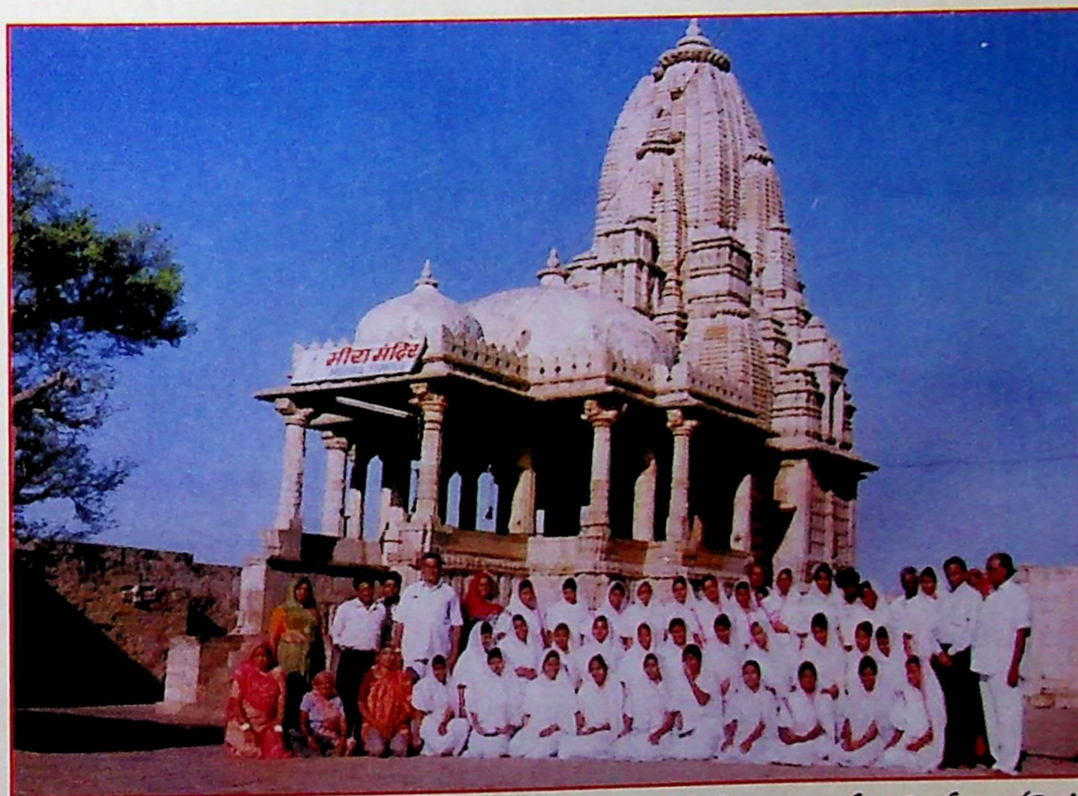
Sohan Raj Tater presenting 'Preksha dhyan' Magazine as Editor to Acharyashri Mahapragyaji at Ladnun on Feb. 2005



Sohan Raj Tater as Secretary of J.V.B., Ladnun delivering speech during Award Ceremony in presence of H.H. Acharyashri Mahapragya at Ladnun on 11-09-2005



Sohan Raj Tater as Convener of Parmarthik Shikshan Sanstha, during initiation Ceremony of Mumukshus at Bhiwani in 2006



Sohan Raj Tater as Convener Parmarthik Shikshan Sanstha, Ladnun (Raj.) with Mumukshu family at Meera Temple during 2007



Sohan Raj Tater as Member, Board of Management J.V.B.U., Ladnun, with President of India H.H. A.P.J. Abdul Kalam during University Convocation 2007



Book written by Sohan Raj Tater being innaugrated by Acharyashri Mahapragya at Ladnun in June, 2009



Book written by Sohan Raj Tater being innaugrated by Yuvacharyashri Mahashraman at Ladnun, June 2009



Sohan Raj Tater With D.Litt. Degree.



Sohan Raj Tater With other Professors at 'Sahid Smark' Seoul, South Korea, during World Philosophical Congress, Aug. 2008



Sohan Raj Tater with Samaniji and other Professors at Temple, Seoul, South Korea, during World Philosophical Congress, Aug. 2008



Sohan Raj Tater Preaching as Senior Upasak to Terapanth Jain Community at Barrely (U.P.) during Paryushan on 22-08-09



Sohan Raj Tater being Honoured by president Akhil Bharthiya Terapanth Yuvak Parishad in holy presence of Yuvacharyashri Mahashraman, May 2005



Sohan Raj Tater delivering speech as secretary of Jain Vishva Bharati during J.V.B. meeting at Bhivani, 2006



Sohan Raj Tater with President of India H.H. A.P.J. Abdul Kalam as Member B.O.M., J.V.B.U., Ladnun in 2005



Sohan Raj Tater Participating in Interim World Philosophical Congress at New Delhi 15-20- Dec. 2006 with Samniji



Sohan Raj Tater opening Research book as Guest of honour with V.C. of Anamalai Universtiy during Innaugration of Conference Oct. 2011



Sohan Raj Tater delivering speech in the holy presence of Yuvacharyashri in June 2009 at Landun during his book opening



Sohan Raj Tater presiding as Guest of Honour in 18th International Conference & Convocation Cermony, 21 Feb. 2010 at Kolkata organized by I.B.A.M.



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater getting Innaugrated his Research books in Akhil Bhartiya Darshan Parishad conference at Ambedkar University, Muzaffarpur (Bihar) on 19.12.2010



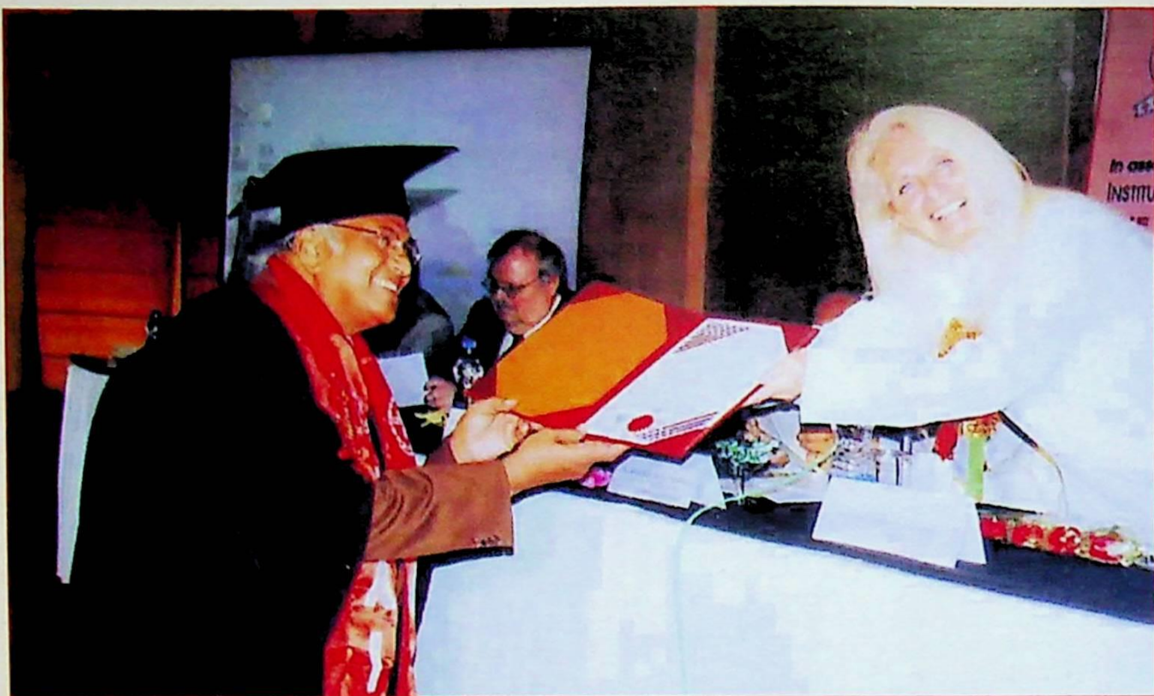
Books written by Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater on Yoga being innaugrated by Former Chief Minister, Former Governer of Uttar Pradesh and V.C. during International Seminar of Yoga at Lucknow University on 20th November, 2010



Sohan Raj Tater presenting Research paper in the International Conference held by "The Open International University For Complementary Medicines" at Colombo (Sri Lanka) on 13th November, 2010



Sohan Raj Tater being Honoured in Rastrapati Bhawan, New Delhi, 2011



Sohan Raj Tater receiving his D.LITT. (Education) Degree from New Age International University, U.S.A., Convocation at Kolkata on 21.02.10



Research books written by Prof (Dr.) Sohan Raj Tater are being innaugrated by Ambassador of India in Nepal at Russian Embassy, Kathmandu (Nepal) during International Conference on 1st October, 2010



Sohan Raj Tater With I.C.P.R. Chairman Shri K.Ramkrishna Rao



Sohan Raj Tater, Patron Indo-Nepal Samrasta International Honouring H.H. Vice-President of Nepal, Shri Parmanand Jha at President Bhawan, Kathmandu (Neapl) during International Conference on 1st October, 2010



Sohan Raj Tater presiding the International Conference held by "The Open International University For Complementary Medicines" at Colombo (Sri Lanka) on 13th November, 2010



Sohan Raj Tater getting "Gem of Naturopathy" Award from Former Chief Minister of Uttar Pradesh during International Seminar on Yoga at Lucknow University on 30th November, 2010



Sohan Raj Tater in the innaugral session of
National Seminar in Patna University at Patna (Bihar)
as Guest of Honour on 15.12.2010



Sohan Raj Tater With Shri Jogender Singh, Fomer C.B.I. Director
as Guest of Honour during Conference at New Delhi



Sohan Raj Tater Presiding First Asian Philosophical Congress as Vice President of Akhil Bhartiya Darshan Parishad on 7 March 2010



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater being awarded with "Indo-Nepal Harmony Award" by Ambassador of India in Nepal at Russian Embassay, Kathmandu (Nepal) during International Conference on 1st October, 2010



Sohan Raj Tater being honoured as Guest of Honour during 18th International Conference and Convocation Ceremony on 21 Feb. 2010 at I.B.A.M. Kolkata



Sohan Raj Tater Demonstrating Yoga techniques at U.P.R.I.M.S.R., Saifai (Etavah-U.P.)



Sohan Raj Tater presenting Research paper in the International Conference held by "The Open International University For Complementary Medicines" at Colombo (Sri Lanka) on 13th November, 2010



Sohan Raj Tater being Honoured in Rastrapati Bhawan, New Delhi, 2011



Sohan Raj Tater receiving "Indo-Bhutan Harnomy Award" from Advisor of Royal Bhutan King and Indian Ambassador at Thimpu (Royal Bhutan) on 01st May 2011



Sohan Raj Tater delivering Lecture as Senior Upasak during Jain Paryushan Parva at Bhayander (Mumbai) from 26.08.2011 to 03.09.2011



Sohan Raj Tater being Honoured in Scientist Meet Conference at Bangalore in presence of H.H. Acharyashri Gyansagarji Nov. 2011



Sohan Raj Tater being Felicitated as 'Gem of Yoga' during National Conference by V.C., Lucknow University at Lucknow on 30.11.11



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater, Chairing Academic session on 03.12.2011 at Jagannath University, Dhaka, Bangaldesh during International Conference, organized by International Congress Social Philosophy



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater with Kumau University Vice Chancellor delivering Presidential address during opening session of Gandhian Study Seminar sponsored by UGC, New Delhi at Kumau University, Nainital (Uttrakhand) on 16 March, 2011



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater getting innaugrated books written by him from Dasho Meghraj Gurung, Advisor Royal Bhutan King on 1st May 2011 at Thimpu (Royal Bhutan)



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater in the meeting with University Grant Commission New Delhi authorities as UGC Panel Member on 8th February, 2011



Sohan Raj Tater, Presenting his Research paper during 49th World Congress on 26th Nov. 2011 at The Open International University for Complementry Medicines, Colombo (Sri Lanka).



Sohan Raj Tater Innaugrating Poster with G.V.G. Krishnamurthy, Former Election Commissioner of India, 5th June 2011



Sohan Raj Tater in his book releasing function with Shri Ramnareshji Yadav, Former Chief Minister of Uttar Pradesh, at Lucknow, 04th June, 2011



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater heading railly of "Samrasta International Congress" at boarder of Royal Bhutan on 30th April, 2011



Sohan Raj Tater being honoured by G.V.G. Krishnamurthy, Former Election Commissioner of India in Kalinga Vaisya Samaj function at New Delhi on 12.12.2010



Sohan Raj Tater with his Family Members on pilgrimage at Hill of Darjeeling during Tirth Yatra Sept. 2011



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater participating as Guest of Honour in "Samrasta International Congress" summit conference at Thimpu (Royal Bhutan) with Advisor Royal Bhutan King & Indian Ambassador on 1st May 2011



Sohan Raj Tater getting Bharat Excellence Award with Gold Madel from Shri G.V.G. Krishna murthy, Former Election Commissioner, Govt. Of India in the conference of Friendship Forum of India at New Delhi on 20th July 2011



Sohan Raj Tater delivering Lecture as Resource person at L.D. Institute of Indology, Ahemdabad Oct. 2011



Research books written by Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater are being innaugrated by V.C. Shrisomnath Sanskrit University and president A.B.D.P. at Veraval, (Gujarat) on 7th February, 2012 during A.B.D.P. conference



Sohan Raj Tater being honoured in second Global Seientists and Engineers Conference as Guest of Honour at Mumbai on 7-8 January, 2012



Sohan Raj Tater is being Felicitated by Gujarat State Governer for excellent services in literature & education field

Sohan Raj Tater presenting Research paper in second Global Scientists and Engineers Conference as Guest of Honour at Mumbai on 7-8 January, 2012





Sohan Raj Tater demonstrating Meditation techniques to the children of Ramgad Village of Udaipur District, March 2012



Sohan Raj Tater presenting Research paper during International Congress Social Philosophy Conference at Dhawad (Kr.) on 28 May, 2012



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater chairing Adileela Foundation annual funcion at Andhra Pradesh Bhawan, New Delhi as Guest of Honour with respected Girdhar Gomango Former Central Minister & Ex. Chief Minister of Orrisa on 29.04.2012



Sohan Raj Tater getting "Yoga Padmabhushan Award" during 21st International Cenference and convocation ceremony organized by Indian Board of Alternative Medicines, Kolkata (W.B.) on 20 March, 2013



Prof (Dr.) Sohan Raj Tater delivering Keynote address as Chief Guest during conference organized by Vedanta Research Centre, Ranchi (Jharkhand) from 23-24 March, 2013



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater awarding Degree to student as Emeritus Professor during convocation of Trinity World University, U.K, at Kolkata (W.B.) on 20 March, 2013



Prof. (Dr.) Sohan Raj Tater presiding Round Table International Conference on "JAINISM" at Seoul (South Korea)


75.1,VIJ-P
181267

प्रज्ञा के आयाम

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़ अभिनन्दन–ग्रन्थ : परिचय

चिन्तन की अभिव्यक्ति मानव का विशेष लक्षण है। इसी विशेष लक्षण का परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति, समाज और सम्प्रदाय का अपना दर्शन है। एक किसान का भी अपना दर्शन होता है। क्योंकि वह भी अपने जीवन के यथार्थ पर चिन्तन करता है। वस्तुत: चिन्तन और कर्म मानव जीवन की ऐसी प्रक्रिया है जो उसके अन्तिम श्वांस तक चलती रहती है। वह अपने को दुनियावी पदार्थों से घिरा हुआ पाता है, वह सोचता है कि इन चीजों से मेरा कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य जुड़ा हुआ है। उसकी यही जिज्ञासा उसके दर्शन को जन्म देती है। वह अपनी बौद्धिक एवं वैचारिक शक्ति का उपयोग प्रत्येक तत्व की गहराई तक पहुँचने में करता है। वह चाहता है कि उसके अन्दर निहित रहस्यों का उद्घाटन हो। लेकिन जीवन के रहस्य को समझने के लिए आवश्यक है कि वह जीवन की सभी दिशाओं की ओर अग्रसर हो। केवल आन्तरिक जगत् अथवा बाह्य जगत के एकाकी ज्ञान से मानव का पूर्ण विकास असंभव है। उसे विचार-शक्ति की सभी शाखाओं और ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराओं का अवलोकन करना होगा, तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इस अभिनन्दन शोध-ग्रन्थ में मानव जिज्ञासा के विभिन्न आयामों— दर्शन, धर्म, साधना, समाज और संस्कृति को अपनी ज्ञान राशि द्वारा चिन्तकों ने आलोकित किया है जो निस्संदेह जिज्ञासु विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है।

सम्पादक परिचय

डॉ. विजय कुमार, सम्प्रति रवीन्द्र शान्ति शोध संस्थान, वाराणसी में निदेशक है। जैन एवं बौद्ध दर्शन आपके अध्यवसाय का विशेष क्षेत्र है। जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन, स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास, समकालीन दर्शन, पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त आदि आपकी लेखकीय कृतियाँ हैं। जैन विद्या के विविध आयाम (धर्म एवं साधना खण्ड), समाधिमरण, जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन, ज्ञाताधर्मकथांग का सांस्कृतिक अध्ययन आदि पुस्तकों का आपने सम्पादन किया है।

डॉ. दिलीप चारण, सम्प्रति दर्शन विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद में अध्यक्ष पद पर आसीन हैं।

यू.जी.सी. द्वारा शोध पुरस्कार से सम्मानित डॉ. किस्मत कुमार सिंह, सम्प्रति दर्शन शास्त्र विभाग, एच.डी.जैन कॉलेज, आरा (वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय) में एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं। आपकी विशेषज्ञता सौन्दर्य दर्शन एवं पर्यावरणीय सौन्दर्य दर्शन में है।